पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

हरिदत्त वेदालंकार

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

(प्लेटो से बर्क तक की प्राचीन और मध्यकाल की पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन)

लेखक

हरिदत्त वेदालंकार, एम० ए०

प्राध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(अन्तर्राष्ट्रीय कानून, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि के प्रणेता तथा मोतीलाल नेहरू, कौटिल्य, बंगाल हिन्दी-मण्डलादि विविध पुरस्कार विजेता)

प्रकाशक

सरस्वती सदन,

७-यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७

[मूल्य : १३ रुपये ५० पैसे

१९६६]

प्रकाशक
सरस्वती सदन, मसूरी एवं
७-यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७

द्वितीय संशोधित संस्करण, १९६९

मुद्रक
भारत मुद्रणालय
नवीन शाहदरा, दिल्ली—३२

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस संस्करण में पुस्तक को पूर्ण रूप से संशोधित किया गया है और आवश्यकतानुसार प्लेटो (पृ० १४३), मेकियावेली, (पृ० ३६३-४), हॉब्स (पृ० ४३४), लॉक (पृ० ४४६-७, ४५०-५१), रूसो (पृ० ४६३-४, ४८१–४८४), मांतेस्क्यू (पृ० ४६५-६) तथा बर्क (पृ० ५०७-८) के संबंध में नई सामग्री दी गई है। इस संस्करण की एक बड़ी विशेषता इसमें पाश्चात्य जगत् के प्रमुख विचारकों—प्लेटो, अरस्तू, दांते, मेकियावेली, सन्त आगस्टाइन आदि के चित्र हैं तथा विषय को स्पष्ट करने के लिए विचारकों के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के आवरणपृष्ठों के चित्र दिये गये हैं, उदाहरणार्थ, हॉब्स के लेवियाथन के तथा सन्त आगस्टाइन की देवनगरी के मुखपृष्ठों के चित्र इनके विषय को सुबोध रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन चित्रों से प्रतिपाद्य विषय को पाठकों के लिये अधिक आकर्षक, रोचक और हृदयंगम बनाने का प्रयास किया गया है। ये सभी चित्र श्री नरसिंह ने तय्यार किये हैं और इनको तय्यार करवाने में उदिता तथा उमा ने सहायता की है, प्रूफ-संशोधन में श्री राजेन्द्र कुमार जी एवं श्री रमेश वेदी जी ने बहुमूल्य सहयोग दिया है। लेखक इस संस्करण को उपयोगी एवं आकर्षक बनाने के लिये इन सब का तथा श्री विश्वरंजन जी का तथा भारत मुद्रणालय का बहुत आभारी है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, **—हरिदत्त**

गुरुकुल कांगड़ी

प्रथम संस्करण की भूमिका

पश्चिमी जगत् की राजनीतिक विचारधारा का अध्ययन हमारे लिए कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखता है। पिछले दो सौ वर्षों में हमारे देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण पर और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम के आन्दोलन पर पश्चिमी विचारकों का गहरा प्रभाव पड़ा है। १९वीं शताब्दी में अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों के विचारों का मूल प्रेरणा स्रोत फ्रेंच राज्यक्रान्ति की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की तथा राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की एवं ब्रिटिश उदारवाद (Liberalism) और सुधारवाद की भावनाएँ थीं। बीसवीं शताब्दी के मध्य में स्वतन्त्र होने के बाद बनाये गये नवीन भारतीय संविधान पर ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, रूस, कनाडा, आस्ट्रेलिया और आयर्लैण्ड के संविधानों और राजनीतिक विचारों का प्रभाव पड़ा है। १९५० ई० के हमारे संविधान की प्रस्तावना पर और राज्य की नीति का संचालन करने वाले सिद्धान्तों (Directive Principles of State) पर पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा की स्पष्ट छाप है। अतः अपने देश के संविधान और राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को भली भाँति समझने के लिए पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा का अनुशीलन आवश्यक है।

इस पुस्तक में इसी महत्त्वपूर्ण विचारधारा का संक्षिप्त, सुबोध, प्रामाणिक मनोरंजक, सरस और सरल विवेचन का विनम्र प्रयास है। जिस प्रकार हमारे देश के ज्ञान-विज्ञान का आदिस्रोत वेद समझे जाते हैं, उसी प्रकार पश्चिम में समस्त ज्ञान की गंगोत्री ग्रीस या यूनान है। पश्चिमी जगत् का समूचा तत्त्वचिन्तन सुकरात, प्लेटो और अरस्तू से आरम्भ होता है। अतः पहले अध्याय में राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप और विकास पर प्रकाश डालने के बाद दूसरे अध्याय में यूनान में राजनीतिक चिन्तन के प्रादुर्भाव का वर्णन किया गया है और इस क्षेत्र में सोफिस्टों तथा सुकरात की महत्त्वपूर्ण देनों का प्रतिपादन है। तीसरे अध्याय में पश्चिम के दार्शनिक शिरोमणि प्लेटो के तथा चौथे अध्याय में यूनान में राजनीति-शास्त्र को सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप देने वाले अरस्तू के राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय इनके मूलग्रन्थों के आधार पर दिया गया है। पाँचवें अध्याय में यूनान के एपीक्योरियन और स्टोइक दार्शनिकों के राजनीतिक सिद्धान्तों का तथा छठे अध्याय में रोम के राजनीतिक विचारों का विवेचन किया गया है। आठवें तथा नवें अध्यायों में ईसाइयत की तथा मध्ययुग की राजनीतिक विचारधारा का वर्णन है। मध्ययुग के योरोपियन विचार की एक प्रधान विशेषता यह है कि इसमें चर्च और राज्य का अपने अधिकारक्षेत्र और प्रभुसत्ता के लिए उग्र संघर्ष हुआ था। नवें अध्याय में इसका प्रतिपादन करने के बाद दसवें अध्याय में मध्ययुग के एक्विनास, दांते आदि प्रमुख विचारकों के राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना है। ग्यारहवें अध्याय में पोप के स्थान पर चर्च की सामान्य परिषद् को प्रधानता देने वाले कांसिलियर आन्दोलन का तथा बारहवें अध्याय में इटली के सुप्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ मेकियावेली के विचारों का प्रतिपादन है। १६वीं शताब्दी के धर्मसुधार आन्दोलन के नेताओं लूथर, कैल्विन आदि ने धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र पर भी प्रभाव डाला था, १३वें अध्याय में इसी का वर्णन है। १४वें अध्याय में वर्तमान राज्यों की एक प्रधान विशेषता समझी जाने वाली सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) का सर्वप्रथम

विशद प्रतिपादन करने वाले फ्रेंच विचारक बोदँ का तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता ग्रोशियस के विचारों का परिचय दिया गया है। इसके बाद १५वें से १७वें अध्याय तक विभिन्न रूपों में सामाजिक संविदा (Social Contract) का प्रतिपादन करने वाले हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों का तथा अन्तिम दो अध्यायों में मांतेस्क्यू और बर्क के विचारों का विवेचन है।

इस पुस्तक में पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा के विकास का प्रतिपादन करते हुए कुछ बातों पर विशेष ध्यान रखा गया है और लेखक का सदैव यह प्रयास रहा है कि विचारकों के मूल ग्रन्थों के आधार पर तथा उन्हीं के शब्दों में उनके सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जाय। इस विषय में लेखक ने मल्लिनाथ की 'नामूलं लिख्यते किंचित्' की प्रतिज्ञा का पालन किया है, सर्वत्र पादटिप्पणियों में मूल ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों के स्थान का निर्देश कर दिया गया है। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें राजनीतिक विचारकों के सिद्धान्तों का ही नहीं, अपितु उनकी ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का भी परिचय दिया गया है। प्रत्येक विचारक अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही चिन्तन करता है, इन परिस्थितियों को समझे बिना उसके विचारों को पूर्णरूप से नहीं समझा जा सकता। अतः यहाँ प्रत्येक विचारक के समय की राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों का स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया है। उदाहरणार्थ, प्लेटो यह मानता था कि आदर्श राज्य की आबादी ५०४० तक ही होनी चाहिए (पृ० १३४)। आजकल यह जनसंख्या भारत के बड़े गाँवों की है और इन्हें कोई राज्य मानने को तय्यार नहीं होगा। अरस्तू ने ऐसे अल्प आबादी वाले नगर-राज्यों को राजनीतिक विकास का अन्तिम रूप माना था। इन दोनों विचारकों की ऐसी मान्यता का कारण यूनान के तत्कालीन नगर-राज्य (City States) थे, इनकी पृष्ठभूमि को समझे बिना प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों का यथार्थ ज्ञान संभव नहीं। अतः यहाँ नगर-राज्यों का तथा इनके प्रसिद्ध उदाहरण एथेन्स और स्पार्टा का परिचय दिया गया है तथा इनके कारण राजनीतिक चिन्तन पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन किया गया है (पृ० ४७–५७)। रोम के राजनीतिक विचारों की पृष्ठभूमि को समझने के लिए रोम के राजनीतिक विकास का भी संक्षिप्त उल्लेख किया गया है (पृ० २१४)। इसी प्रकार मध्यकालीन योरोप की विचारधारा को समझने के लिए रोमन कैथोलिक चर्च की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

इस पुस्तक में पश्चिम के प्रमुख विचारकों की चिन्तनधारा का वर्णन करते हुए इससे सादृश्य रखने वाले भारतीय विचारों को भी पादटिप्पणियों में प्रदर्शित किया गया है। दोनों विचारधाराओं का इस प्रकार विचारोत्तेजक और रोचक तुलनात्मक अध्ययन का विवरण प्रस्तुत करने का यह प्रथम प्रयास है। उदाहरणार्थ, अरस्तू और कौटिल्य लगभग समकालीन विचारक हैं। अरस्तू यदि विश्वव्यापी साम्राज्य के निर्माता सिकन्दर का गुरु था तो कौटिल्य मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त का। दोनों के पॉलिटिक्स तथा अर्थशास्त्र में अनेक मनोरंजक साम्य हैं। यहाँ दोनों के राज्य के उद्देश्य संबंधी (पृ० १६०), दासप्रथा विषयक (पृ० १६५) और आदर्श राज्य की परिस्थितियों के विचारों की तुलना की गयी है। प्लेटो के न्याय (पृ० ८६), समाज व्यवस्था (पृ० ६४), दार्शनिक राजाओं की शिक्षा पद्धति (पृ० १०४) तथा इनकी वीतराग

वृत्ति (पृ० ११०) की तुलना इनसे सादृश्य रखने वाले भगवद्गीता, मनुस्मृति, महाभारत, कामन्दकीय नीति, शुक्र नीति आदि के विचारों से की गयी है। मेकियावेली की तुलना प्रायः कौटिल्य से की जाती है, यहाँ उसके विचारों का मनोरंजक साम्य धृतराष्ट्र को राजशास्त्र का उपदेश करने वाले कणिक के कूटनीतिक सिद्धान्तों के साथ दिखाया गया है (पृ० ३६२)। मध्यकाल में पोपों की धार्मिक सत्ता तथा सम्राटों की राजसत्ता के द्वन्द्व की तुलना भारतीय विचारधारा के ब्रह्म क्षत्र के विचार (पृ० ३११, पृ० ३३७) से की गयी है। प्रथम अध्याय में भारत के प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा का योरोप के इतिहास तथा धर्म के साथ घनिष्ठ संबन्ध है। सामान्यतः भारतीय पाठकों के लिये इसकी अनेक परिभाषाएँ और शब्द सर्वथा अपरिचित होने के कारण अस्पष्ट और दुरूह होते हैं। इन्हें स्पष्ट करने के लिये पुस्तक में यथास्थान पादटिप्पणियाँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ, बेबीलोनियन बन्धन (पृ० २९९), देववाणी (Oracle) पृ० ६७, मानीमत (पृ० २४८), एरियनवाद (पृ० २४५), सामन्त पद्धति (पृ० २६४) आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इनके स्पष्टीकरण द्वारा विषय को यथासंभव अधिक से अधिक सुबोध और सरल बनाया गया है।

योरोप के भौगोलिक तथा संज्ञावाची नामों का देवनागरी में शुद्ध रूप देना बड़ी टेढ़ी खीर है। रोमन लिपि में समान अक्षरों से लिखे जाने वाले एक ही नाम का उच्चारण विभिन्न देशों में विविध प्रकार से किया जाता है। उदाहरणार्थ, Henry को इंगलैण्ड में हेनरी तथा फ्रांस में आनरी कहा जाता है। समूचे योरोप में रोमन वर्णमाला प्रचलित होते हुए भी उसके विभिन्न वर्णों तथा वर्णसमूहों के उच्चारण में बहुत भिन्नता है। Ch का उच्चारण सामान्यतः अंग्रेजी में च, फ्रेंच में श और जर्मन में क़ होता है। संभवतः Plato का शुद्ध उच्चारण प्लातोन तथा Machiavelli का माक्यावेली है। इन उच्चारणों को देने से पुस्तक बड़ी दुर्बोध, पाण्डित्यपूर्ण और जटिल हो जाती। अतः यहाँ प्रसिद्ध नामों का प्रचलित उच्चारण गलत होने पर भी स्वीकार किया गया है, क्योंकि 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्।' Plato को प्लातोन न लिखकर प्लेटो लिखा गया है, किन्तु अप्रचलित नामों को वैबस्टर के सुप्रसिद्ध कोशों Webster's Biographical Dictionary, Webster's Geographical Dictionary के आधार पर यथासंभव शुद्ध रूप में देने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक की पारिभाषिक शब्दावली भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा स्वीकृत और प्रकाशित शब्द-सूचियों के आधार पर रखी गयी है। इनमें न आने वाले शब्दों के लिये नये हिन्दी पर्याय निश्चित करते हुए भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि का पूरा ध्यान रखा गया है और यथासम्भव प्राचीन साहित्य से ही शब्द ग्रहण किये गये हैं। उदाहरणार्थ, यूटोपिया (Utopia) के लिये महाभारत में प्रयुक्त गन्धर्वनगर शब्द (पृ० १२२) का व्यवहार किया गया है; इसी प्रकार (Digest) के लिए भारतीय धर्मशास्त्र के निबन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है।

३१ अक्तूबर, १९६१
गुरुकुल कांगड़ी

—**हरिदत्त**

विषय-सूची

चित्र-सूची

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

प्रथम अध्याय

राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप तथा विकास

राज्य मानवसमाज में सबसे महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली संगठन है। मनुष्य सर्वत्र अपने को राज्य के नियमों से बंधा हुआ पाता है। रूसो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सामाजिक संविदा (Social Contract) के आरम्भ में ही घोषणा की है, "मनुष्य स्वतंत्र रूप में जन्म लेता है, किन्तु वह सर्वत्र अपने को शृंखलाओं में बंधा हुआ पाता है।" उसे बंधन में डालने वाली राजनीतिक सत्ता के संबंध में मनुष्य कई हज़ार वर्ष से विचार कर रहे हैं। इसी का परिणाम राजनीतिक या राज्यविषयक चिन्तन है। इस का प्रमुख उद्देश्य राज्य के स्वरूप, संगठन और प्रयोजनों के संबंध में विचार करना है। पूर्वी एवं पश्चिमी विचारक कई सहस्राब्दियों से इन प्रश्नों पर विचार करते आ रहे हैं— राज्य क्या है ? राज्य के आदेशों का पालन क्यों करना चाहिए, राज्य के अधिकारों की सीमा या मर्यादा क्या होनी चाहिए, राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है, राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता कहाँ तक सीमित करनी चाहिए ? राज्य संबंधी मौलिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श और मीमांसा करना ही राजनीतिक या राजशास्त्रीय चिन्तन है।[1]

महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ५६—१३०) में इस विषय पर विस्तृत विचार किया गया है। शर-शय्या पर लेटे हुए भीष्म ने युधिष्ठिर की राज्य-संबंधी सभी जिज्ञासाओं

---

१. अंग्रेजी के Political शब्द का बड़ा मनोरंजक इतिहास है। यह यूनानी के Polis (नगर राज्य) से बना हुआ विशेषण है तथा संस्कृत पुरम् का सजातीय है। दूसरे अध्याय में Polis का परिचय दिया जायगा। यूनानियों में राज्य का यही रूप प्रचलित था, अतः Political शब्द का वास्तविक अर्थ राज्यसंबंधी है। राज्य विषयक समस्याओं पर विचार करने वाले शास्त्र को प्राचीन भारत में राजशास्त्र कहते थे। शान्तिपर्व (५८—१—३) में बृहस्पति आदि आचार्यों को इसी अर्थ में राजशास्त्र का निर्माण करने वाला (राजशास्त्रप्रणेतारः) कहा गया है। अतः Political thought का सही अनुवाद राजशास्त्रीय चिन्तन है। किन्तु राजशास्त्र का वास्तविक अर्थ है राजा का शास्त्र और राजनीतिक का अर्थ है राजा की नीति। वस्तुतः यहाँ राज्यविषयक समस्याओं का विवेचन होगा। अतः इसे राज्यविषयक चिन्तन कहना अधिक शुद्ध और समीचीन प्रयोग है। राजनीतिक शब्द अधिक प्रचलित है, राजशास्त्र प्राचीन शब्द है, अतः यहाँ तीनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।

और प्रश्नों का समाधान किया है और पश्चिम में प्लेटो के समय से इन प्रश्नों का अनुशीलन और मनन हो रहा है। विभिन्न विचारकों ने अपने देश, काल, परिस्थिति और दृष्टिकोण के अनुसार इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। किन्तु ये उत्तर अब तक मनुष्य को संतुष्ट नहीं कर सके। शायद भविष्य में भी कभी इनका अन्तिम संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। इसका कारण यह है कि विचारकों में राज्य के प्रयोजन और व्यक्ति के जीवन के साथ उसके संबंध में गहरा मतभेद रहा है। उदाहरणार्थ, प्राचीन यूनानी विचारक राज्य को एक सजीव शरीर या अवयवी (Organism) मानते थे, व्यक्ति उसका अवयव मात्र था। उनकी दृष्टि में राज्य एक स्वाभाविक तथा प्राकृतिक संगठन था। किन्तु १७-१८वीं शताब्दियों के योरोपियन विचारकों ने राज्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाया गया एक सर्वथा कृत्रिम यंत्र या मशीन माना। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार विचारक इस प्रश्न पर सहमत नहीं हो सके कि राज्य का स्वरूप और लक्ष्य क्या होना चाहिए। राज्य संबंधी प्रश्नों पर उनके विचार-विमर्श और ऊहापोह से राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख समस्याओं पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख समस्यायें—पौरस्त्य और पाश्चात्य विचारकों ने राज्यविषयक जिन प्रश्नों की गंभीर मीमांसा की है, उनमें **पहला** प्रश्न राज्य के प्रादुर्भाव का है। इस विषय के दो प्रमुख सिद्धान्तों में पहला दैवी उत्पत्ति (Divine origin) का सिद्धान्त है। इसके अनुसार राज्य की संस्था का निर्माण भगवान् ने किया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा न होने की दशा में जब प्राणी भयभीत होने लगे तो इनकी रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।[1] दूसरा सिद्धान्त सामाजिक संविदा (Social Contract) का है। कुछ हिन्दू और बौद्ध विचारकों का तथा हॉब्स (Hobbes), लॉक (Locke) और रूसो का यह मत है कि राज्य की उत्पत्ति अराजकता के निवारण और सुशासन के लिए राजा और प्रजा के मध्य हुए समझौते (Contract) द्वारा हुई है। महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ५९) में भीष्म ने युधिष्ठिर को राज्य की उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि कृतयुग के प्रारम्भ में न राजा था, न दण्ड-व्यवस्था थी, न कोई दण्ड देने वाला था, सब लोग धर्म का पालन करते हुए एक-दूसरे की रक्षा करते थे।[2] किन्तु इसके बाद उनका पतन हुआ, उनमें मोह, लोभ और काम की प्रवृत्ति प्रबल हुई, धर्म का नाश हुआ, बलवान् निर्बल को

---

१. अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥—मनुस्मृति ७।३।

२. नियतस्त्वं महाव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥१३॥
नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥१४॥
पाल्यमानास्तथान्योऽन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥१५॥

—शान्तिपर्व ५९।१३-१५,

सताने लगा, मनुष्यों ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि वे इस स्थिति से उनका उद्धार करें। ब्रह्मा ने यह अनुभव किया कि मानवसमाज की रक्षा तभी हो सकती है, जब कुछ नियम बनाये जाएं और राजा द्वारा उनका पालन कराया जाय। ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों वाले नीतिशास्त्र के नियमों की संहिता तैयार की, **विरजत्** नामक मानस-पुत्र को उत्पन्न किया, उसका राज्याभिषेक किया तथा मनुष्यों को उसके आदेशों का पालन करने को कहा। बौद्ध साहित्य के दीघनिकाय में राज्य की उत्पत्ति के संबंध में दिये गये एक वर्णन में कहा गया है कि सुदूर स्वर्णिम अतीत में मनुष्य देवताओं की भाँति आनन्दपूर्वक रहते थे। किन्तु बाद में लोभ के कारण अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। जनता इस दशा का अन्त करने के लिए उत्सुक थी, उनमें 'महासम्मत' (अधिकांश जनसमुदाय द्वारा स्वीकरणीय) नामक बुद्धिमान्, धर्मात्मा और योग्य व्यक्ति का आविर्भाव हुआ। जनता ने उससे राजा बनकर इस अराजकता का अन्त करने की प्रार्थना की। उसने उनकी प्रार्थना स्वीकार की, जनता ने उसे राजा चुना और उसकी सेवाओं के बदले उसे उत्पन्न होने वाले शालि (अनाज) का कुछ भाग देना स्वीकार किया।[1] १८वीं शताब्दी में फ्रांस में रूसो ने राजा-प्रजा के समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति होने का सिद्धान्त अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सामाजिक समझौते (Social Contract) में रखा। उस समय योरोप में निरंकुश दैवी राजसत्ता के नियंत्रण के लिए यह सिद्धान्त बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ। किन्तु १९वीं शताब्दी में ऐतिहासिक ज्ञान में वृद्धि होने से, विकासवाद के सिद्धान्तों के प्रसार से तथा ऐतिहासिक अनुशीलन में आलोचनात्मक पद्धति का विकास होने से इस सिद्धान्त को काल्पनिक और अमान्य समझा जाने लगा। अब विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य को न तो भगवान् द्वारा बनाई गई दैवी संस्था माना जाता है और न ही इसे इतिहास के उषाकाल में मनुष्यों में हुए किसी सामाजिक समझौते का परिणाम समझा जाता है; इस समय राज्य का प्रादुर्भाव शनैः-शनैः मानवसमाज में व्यवस्था और संरक्षण की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए हुआ समझा जाता है।

राजनीतिक चिन्तन का दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राज्य का क्या स्वरूप है और उसके आदेशों का पालन कहाँ तक होना चाहिए। यदि राज्य भगवान् द्वारा बनायी गई संस्था है तो ईश्वरीय आदेशों की भाँति राजा की आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य है। किन्तु यदि वह मनुष्यों के आपसी समझौते का परिणाम है तो यदि राजसत्ता अपने दायित्वों का पालन नहीं करती तो यह समझौता टूट जाता है और प्रजा राजसत्ता के आदेशों के पालन के लिए बाध्य नहीं रहती। एक ओर माइकेल बाकूनिन जैसे विचारक राजसत्ता को मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों को और स्वतंत्रता को सीमित करने वाला समझते हैं और इसलिए इस संस्था के उन्मूलन पर बल देने वाले अराजकतावाद (Anarchism) का समर्थन करते हैं। दूसरी ओर मनु और भीष्म जैसे विचारक समाज में अराजकता और अव्यवस्था का अन्त करने के लिए राज्य की दण्डशक्ति (Coercive authority) को अनिवार्य समझते हैं। कुछ विचारक राज्य की सत्ता का आधार कोरा पाशविक बल ही समझते हैं, कुछ इसे भगवान् की इच्छा मानते हैं। अरस्तू जैसे कुछ विचारक राज्य की सत्ता को नैतिक आधार पर सुप्रतिष्ठित मानते हैं। उनका

---

१. दीघनिकाय ३।४ अग्गञ्जसुत्त।

यह मत है कि मानवीय व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए राजनीतिक जीवन अत्यावश्यक है, अतः व्यक्ति को राज्य के आदेश शिरोधार्य करने चाहिएं। उपयोगितावादी उपयोग के आधार पर राजसत्ता के आदेशों का पालन आवश्यक समझते हैं। राज्य अधिकतम व्यक्तियों के सुख की व्यवस्था करता है, अतः उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिए।

राज्य-संबंधी प्रश्नों पर विचार करते हुए राजनीतिक विचारकों ने मानव-प्रकृति का विवेचन करना आवश्यक समझा है। विभिन्न युगों में इस विषय में विभिन्न विचार प्रकट किये गए हैं। कुछ विचारक इसे बुद्धिमान् और विवेकशील प्राणी मानते हैं, उनके मतानुसार राज्य को नियम भंग करनेवाले प्रजाजनों को समझा-बुझा कर, उनमें विवेक बुद्धि जागृत करके सत्पथ पर लाना चाहिए। अन्य विचारकों के मतानुसार मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी, लोभी, पापी और भावावेश में विवेकशून्य होकर कार्य करने वाला है, उसका निरोध केवल राजकीय दण्ड-शक्ति से हो सकता है। राजशास्त्र का **चौथा प्रश्न** राज्य के आकार का है। पुराने यूनानी विचारकों के अनुसार राज्य का आकार क्षेत्रफल और जनसंख्या बहुत ही सीमित होनी चाहिए। प्लेटो ने **लाज** में अपने आदर्श नगर राज्य के निवासियों की संख्या ५०४० निश्चित की थी (देखिए तीसरा अध्याय)। रोमन साम्राज्य की स्थापना के बाद छोटे राज्यों का स्थान विशाल राज्यों ने ले लिया। मध्य युग के अन्त में राष्ट्रीय राज्य (National State) का जन्म हुआ और अब अणु बमों की विभीषिका से संत्रस्त विश्व के विचारक राष्ट्रीय राज्य को अभिशाप समझते हुए विश्व-राज्य की स्थापना पर बल दे रहे हैं। **पाँचवाँ प्रश्न** सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) का है। मध्ययुगीन योरोप में निरंकुश राजसत्ता (Absolute monarchy) का प्राबल्य होने पर राजा को सर्वोच्च प्रभु माना गया। लुई १४वाँ कहा करता था —राज्य क्या है? मैं ही तो राज्य हूँ *(L' Etat c'est moi)*। राज्य की समूची प्रभुसत्ता राजा में निहित समझी जाती थी। किन्तु फ्रेंच राज्य-क्रान्ति से पहले रूसो ने इस पर प्रबल आक्षेप करते हुए प्रभुसत्ता को राज्य की समूची जनता में निहित माना और सर्वजनवासिनी प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। १९वीं शती में लिखित संविधानों द्वारा राज्य के विभिन्न अंगों में शक्ति का विभाजन होने पर विचारकों ने इस प्रश्न पर बड़ा ऊहापोह किया कि प्रभुसत्ता राज्य के किस अंग में निवास करती है। आस्टिन ने अखण्ड अविभाज्य प्रभुसत्ता का प्रतिपादन किया। बीसवीं शताब्दी की नवीन परिस्थितियों ने प्रभुसत्ता के मध्ययुगीन विचार की सत्ता में गंभीर सदेह उत्पन्न कर दिये हैं।

छठा प्रश्न राज्य-व्यवस्था को संचालित करने वाले कानून के स्वरूप का है। भारतीय विचारकों ने कानून का मूल स्रोत धर्मशास्त्रों की व्यवस्था तथा रीति-रिवाज (आचार) को माना है। कौटिल्य ने राजा की आज्ञा को भी कानून माना है। पश्चिमी विचारक १२वीं शती तक कानून का प्रधान स्रोत रीति-रिवाज (Custom) ही समझते थे। १३वीं शताब्दी से वहाँ यह नया विचार शुरू होता है कि कानून किसी कानून बनाने वाली सत्ता की इच्छा को अभिव्यक्त करता है, राजा द्वारा प्रजा के प्रतिनिधियों के साथ परामर्श करके बनायी गयी व्यवस्था कानून है। १६वीं शताब्दी में कुछ विचारकों ने रोमन कानून के आधार पर यह सिद्ध किया कि राजा कानून का एकमात्र मूल

स्रोत है। किन्तु अब आधुनिक लोकतन्त्रों के विकास के कारण यह विचार सर्वमान्य हो गया है कि कानून राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति है और इसका निर्माण जनता द्वारा निर्वाचित विधान-सभाओं द्वारा होना चाहिए, नई सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार इसमें समयानुकूल संशोधन होने चाहिएं।

सातवाँ प्रश्न राज्य के विभिन्न प्रकारों का है। भारतीय ग्रन्थों में विविध प्रकार की शासन प्रणालियों का उल्लेख है।[1] महाभारत (१२।८१) में भीष्म ने गणराज्यों के गुण-दोषों का विस्तृत वर्णन किया है। प्लेटो और अरस्तू के समय से पश्चिमी विचारक राजतन्त्र, लोकतन्त्र आदि शासन के विविध प्रकारों की विस्तृत मीमांसा करते रहे हैं और यह बताते रहे हैं कि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में, कुलीन वर्ग के कुछ व्यक्तियों में या समूची जनता में निहित होनी चाहिए।

इसी प्रकार एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न जनता के अधिकारों का तथा उसके शासन में भाग लेने का है। एथेन्स में पाँचवीं तथा चौथी शताब्दी ई० पू० में यद्यपि लोकतन्त्र की प्रणाली प्रचलित थी, किन्तु अधिकांश जनता दासवर्ग की थी और उन्हें शासन में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं था। दास सभी प्रकार के नागरिक अधिकारों से वंचित थे। अरस्तू आदि यूनानी विचारकों ने दास-प्रथा का समर्थन इस आधार पर किया था कि प्रकृति ने मनुष्यों को समान नहीं बनाया (देखिये चौथा अध्याय)। रोमन लोगों का यह मत था कि विजेता को यह अधिकार है कि विजितों को दास बनाये। योरोप में मध्य-युगीन ईसाइयत ने दो प्रकार के तर्कों से दास-प्रथा का औचित्य सिद्ध किया था, दासत्व की व्यवस्था भगवान् ने पापों का दण्ड देने के लिए की है तथा ईसाइयों को यह अधिकार है कि वे ईसाइयत न स्वीकार करनेवाली (Heathen) जनता को दास बनायें। दासत्व के विरुद्ध यह तर्क किया जाता था कि सब मनुष्य भगवान् की संतान होने से भाई-भाई हैं, स्वाभाविक रूप से वे स्वतन्त्र और समान हैं, किसी भी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को दास बनाने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार राज्य के कार्य-क्षेत्र (Scope) के बारे में विचारकों में गहरा मतभेद रहा है। व्यष्टिवादी विचारक राज्य का कार्य केवल यही समझते हैं कि वह प्रजा की आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें। किन्तु समाजवादी राज्य द्वारा अधिक-से-अधिक कार्य किये जाने का प्रबल समर्थन करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राजशास्त्रीय चिन्तन की प्रधान समस्यायें— राज्य का स्वरूप, इसकी उत्पत्ति, प्रयोजन, लक्ष्य, कार्य-क्षेत्र, मानव-प्रकृति का स्वरूप और राज्य से इसका संबंध, विविध प्रकार की शासन-प्रणालियाँ, जनता के अधिकार, राज्य का कार्य, प्रभुसत्ता का स्वरूप, विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंध के अन्तर्राष्ट्रीय नियम तथा राज्य और शासन-प्रणाली से संबंध रखने वाले सभी प्रकार के प्रश्न हैं। इसका क्षेत्र बहुत ही विशाल और व्यापक है। पिछले तीन-चार हजार वर्ष से विद्वान् मनीषी इन प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं और विविध प्रकार के उत्तर देते रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इनके दृष्टिकोण और आदर्शों में बहुत अन्तर था और इनकी सामाजिक परिस्थितियाँ भी एक-सी नहीं थीं। परिस्थितियाँ राजनीतिक चिन्तन पर कितना प्रभाव डालती हैं, यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२।६; ८।३।१३; ७।३।१४।

राजनीतिक परिस्थितियाँ और विचारक—सामान्य रूप से राजनीतिक परिस्थितियाँ विचारों पर गहरा प्रभाव डालती हैं। ये विचारक शून्य में विचार नहीं करते, किन्तु अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए इनके गंभीर चिन्तन और मन्थन से कुछ परिणाम निकालते हैं। उदाहरणार्थ, प्लेटो को इस बात से गहरा धक्का लगा था कि उसके गुरु और उस समय के सब से बुद्धिमान् व्यक्ति सुकरात को एथेन्स के लोकतन्त्र ने विष-पान का दण्ड दिया। उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' (Republic) पर इसकी गहरी छाप है, इसमें उसने तत्कालीन लोकतन्त्र की कटु आलोचना करते हुए ऐसी आदर्श नगर-व्यवस्था प्रस्तुत की है, जिसमें शासन करने वाले व्यक्ति एक निश्चित ढंग से प्रशिक्षित दार्शनिक हों। कार्ल मार्क्स ने १९वीं शताब्दी में योरोप में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न नवीन परिस्थितियों में साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

राजनीतिक सिद्धान्त सदैव परिस्थितियों से उत्पन्न होते हों, सो बात नहीं है। ये नवीन राजनीतिक परिस्थितियों को उत्पन्न भी करते हैं। नैपोलियन कहा करता था यदि रूसो न होता तो फ्रेंच राज्यक्रान्ति न होती। रूसो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Social Contract में सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादन किया था, इसने फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय राजसत्ता के प्रति घोर असन्तोष उत्पन्न किया। इससे यह स्पष्ट है कि राजनीतिक सिद्धान्त नवीन परिस्थितियों को उत्पन्न करने का कारण भी होते हैं, और कई बार इन परिस्थितियों का परिणाम भी होते हैं।

राजनीतिक परिस्थितियों से गहरा संबंध होने के कारण राजनीतिक चिन्तन कभी किन्हीं प्रश्नों के अन्तिम उत्तर नहीं दे सकता। प्रत्येक विचारक अपने समय की परिस्थितियों और समस्याओं की पृष्ठभूमि में ही चिन्तन करता है और तत्कालीन प्रश्नों का समाधान करता है। ये परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, इनसे समस्याओं का समाधान भी बदल जाता है, समस्याओं के आपेक्षिक महत्व में भी अन्तर आ जाता है। मध्ययुग में धर्म का जनता पर बड़ा प्रभाव था, योरोप में लाखों व्यक्ति रोमन पोप में गहरी आस्था रखते थे, उस समय पोप की तथा राजा की प्रभुता और अधिकार-क्षेत्र का विवाद एक ज्वलन्त प्रश्न था। आज धर्म की प्रभुता क्षीण हो जाने से इस प्रश्न का कोई महत्व नहीं रहा। एक ही युग की समस्याओं के समाधान और चिन्तन में बड़ा वैविध्य होता है। बुद्धिमानों और विद्वानों में मतभेद होना स्वाभाविक है। एक प्रश्न पर विभिन्न राजनीतिक दलों से संबंध रखने वाले व्यक्ति विभिन्न विचार रखते हैं।

अतः राजनीतिक चिन्तन सदैव सापेक्ष और अपूर्ण होता है। उसके जटिल प्रश्नों के कोई अन्तिम और पूर्ण उत्तर नहीं दिये जा सकते। आज के युग में जो उत्तर ठीक प्रतीत होते हैं, पचास वर्ष बाद सर्वथा नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर वे उत्तर अपूर्ण और भ्रान्त हो सकते हैं। इस अवस्था में यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि ऐसे राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की क्या उपयोगिता है, जो हमारी समस्याओं का समाधान करने में सहायक नहीं हो सकता।

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता और महत्व—ऐसे विचारकों की कमी नहीं है, जो इसे सर्वथा निरर्थक, निष्फल, अनावश्यक और हानिप्रद समझते हैं। बेकन (Bacon) ने कहा था कि यह "भगवान् को अर्पित की हुई कन्या के समान बांझ" है। बर्कली (Berkley) के कथनानुसार राजनीतिक तत्व-चिन्तन करने वाले दार्शनिक

उन व्यक्तियों के समान हैं, जो पहले तो पैरों से धूल उड़ाते हैं और बाद में यह कहते हैं कि उन्हें कुछ दिखाई नहीं देता। बर्क ने इस चिन्तन की तुलना डालमेशिया और कैसियस पर्वतमाला के मध्य में अवस्थित उस दलदल से की थी, जिसमें समूची सेनायें धंसती रही हैं। लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen) ने लिखा था—"वे देश सौभाग्यशाली हैं, जिनके पास कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है, क्योंकि ऐसा तत्व-चिन्तन प्रायः निकट भविष्य में होने वाली क्रान्ति का सूचक होता है।" बर्क ने कहा था—"जब लोगों में राजनीतिक सिद्धान्त बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो यह समझ लेना चाहिए कि राज्य का संचालन ठीक तौर पर नहीं हो रहा।" डनिंग का यह मत है कि जब कोई राजनीतिक पद्धति राजनीतिक दर्शन का रूप धारण करती है तो यह समझना चाहिए कि उसके विनाश की घड़ी आने वाली है।

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन को निरर्थक सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं। यह कहा जाता है कि राजनीतिक दर्शन कोरा विचारात्मक और काल्पनिक होता है, वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करता है, अतः इसका कोई क्रियात्मक उपयोग नहीं है। पहले यह समझा जाता था कि राजनीतिक चिन्तन का इतिहास राजनीतिज्ञों के लिए उसी प्रकार पथ-प्रदर्शन करता है, जिस प्रकार मूर्तिकला, चित्रकला या काष्ठकला पर विशेषज्ञ द्वारा लिखा गया ग्रन्थ इन कलाओं का अनुशीलन करने वाले को लाभ पहुँचाता है। प्लेटो, अरस्तू, मेकियावेली के ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये थे कि ये शासन करने वालों के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। किन्तु अब इस धारणा का भली-भाँति खण्डन हो चुका है। राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन और शासन-कार्य का संचालन दो विभिन्न कार्य हैं। यह देखा गया है कि प्रायः प्रसिद्ध विचारक उत्तम शासक नहीं होते, अच्छे शासक उत्तम विचारक नहीं होते। अच्छे शासकों की सफलता का कारण उनका राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रगाढ़ ज्ञान नहीं, किन्तु व्यावहारिक ज्ञान होता है। प्लेटो की गणना विश्व के उच्चतम विचारकों में की जाती है, किन्तु आगे यह बताया जायगा कि उसे अपने आदर्श के अनुसार सिराक्यूज़ (Syracuse) के शासन को ढालने में सफलता नहीं मिली। शासक के लिए पुराने राजनीतिक विचार इसलिए भी उपयोगी नहीं होते कि समाज की परिस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। जो राजनीतिक परिस्थितियाँ प्लेटो और अरस्तू के समय में एथेन्स में थीं, वे आज नहीं हैं। इसलिए वर्तमान परिस्थितियों में उनका चिन्तन हमारा पथ-प्रदर्शन कैसे कर सकता है?

पहले यह बताया जा चुका है कि राजनीतिक चिन्तन विवादास्पद प्रश्नों के निश्चित उत्तर नहीं दे सकता। राज्य संबंधी मौलिक सिद्धान्त नैतिक सिद्धान्तों की भाँति हैं, इन्हें कभी तर्क द्वारा अन्तिम रूप से सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इनका निर्माण विचारकों के आदर्श, दृष्टिकोण और मनोभावनाओं द्वारा होता है। इनमें बड़ी विभिन्नता होती है। सर अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा है, "राजनीतिक विचार का प्रत्येक प्रोफेसर यह अनुभव करता है कि उसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रोफेसर कुछ संदिग्ध बातों को स्वयंसिद्ध तथ्य मानकर उनके आधार पर तर्क कर रहे हैं, उनके युक्तिक्रम की सत्यता संदिग्ध है और इनसे वे जो परिणाम निकालते हैं, वे निश्चित रूप से गलत हैं।" राजनीतिक चिन्तन को निरर्थक बनाने वाले कुछ अन्य दोष इसका पक्षपातपूर्ण और एकांगी होना है।

किन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता और महत्व में कोई संदेह नहीं है। पहले यह बताया जा चुका है कि राज्य और सरकार हमारे सामाजिक जीवन की बड़ी महत्वपूर्ण संस्थायें हैं, इनका हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव है, हमारे अधिकांश कार्य राजकीय नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि हम राज्य संबधी प्रश्नों पर विचार करें। इनका हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है, अतः यह हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। महाभारत में इनकी महिमा का बखान करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है— "जैसे हाथी के पांव में सब प्राणियों के पांव समा जाते हैं, वैसे ही राजधर्म में सब धर्म समा जाते हैं। अन्य सब धर्म अल्प फल देने वाले हैं, राजधर्म बहुत कल्याण करने वाला है। राजधर्म सब धर्मों में मुख्य है। (राजधर्म में ही सब विद्याओं का समावेश है, राजधर्म में ही सब लोक समाविष्ट हैं।) राजशास्त्र (दण्डनीति) के न होने पर तीनों वेद लुप्त हो जाते हैं, सब धर्म नष्ट हो जाते हैं, आश्रमों के सब धर्म क्षीण हो जाते हैं।...सब प्राणियों का अन्तिम आश्रय राजधर्म है।"[1]

राजनीतिक विचारों ने मानव इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है, मनुष्यों को महान् सामाजिक क्रान्तियाँ करने के लिए प्रेरित किया है। १८वीं शती की फ्रेंच राज्य-क्रान्ति तथा २०वीं शती की बोल्शेविक क्रान्ति इसके सुन्दर उदाहरण हैं। किन्तु राजनीतिक विचारों के अध्ययन की उपयोगिता इसलिए नही घट जाती कि वे ऐसी क्रान्तियों को जन्म देते हैं। ये क्रान्तियाँ मानवसमाज की उन्नति में सहायक सिद्ध हुई हैं, इनसे लोकतन्त्र, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और मानवीय समानता तथा बन्धुत्व की भावनाओं में वृद्धि हुई है। अतः ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तनों को उत्पन्न करने वाले विचारों का अध्ययन अतीव उपयोगी प्रतीत होता है।

इसके अध्ययन का एक बड़ा लाभ यह है कि इससे हमें दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली राजनीतिक परिभाषाओं तथा शब्दों के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। हम लोकतन्त्र (Democracy), राष्ट्रीयता (Nationalism), प्रभुसत्ता (Sovereignty) आदि शब्दों का प्रतिदिन प्रयोग करते हैं, किन्तु इनका सही अर्थ

---

१. यथा राजन्हस्तिपदे पदानि, संलीयन्ते सर्वसत्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्, सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोधत ॥२५॥
अल्पाश्रयानल्पफलान्वदन्ति। धर्मानन्यान्धर्मविदो मनुष्याः।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥२६॥
सर्वे धर्माः राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमानाः भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम् ॥२७॥
मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां, सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः, क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥२८॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः।
—महाभारत, शान्तिपर्व, ६३। २५-२९
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्।—शान्तिपर्व ५६।३

नहीं जानते। राजशास्त्र के इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि इन परिभाषाओं का कब, कैसे और किन अर्थों में प्रयोग हुआ, इनके साथ कौन-सी भावनायें जुड़ी हुई थीं, इनके अर्थों में किस प्रकार परिवर्त्तन होता रहा और आजकल इनका क्या अर्थ है। इसका एक बड़ा लाभ यह भी है कि हम जोशीले राजनीतिक वक्ताओं के प्रचारात्मक वाग्जाल में फंस कर बेवकूफ नहीं बन सकते। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय एक वक्ता ने अपने श्रोताओं से पूछा था—"क्या तुम यह अनुभव नहीं कर रहे हो कि प्रभुसत्ता (Sovereignty) तुम्हारी नस-नाड़ियों में प्रवाहित हो रही है?" राजनीतिक विचारों का अध्येता प्रभुसत्ता का स्वरूप अच्छी तरह जान जाता है और यह समझ लेता है कि यह नस-नाड़ियों में बहने वाली वस्तु नहीं, इनमें तो केवल रक्त ही प्रवाहित होता है। पुराने राजनीतिक दार्शनिकों के विचारामृत का पान करने से कोई व्यक्ति भले ही अधिक विद्वान् और बुद्धिमान् न बन सके, शासन करने की दक्षता प्राप्त न कर सके, किन्तु वह गलतियों और मूर्खताओं से बच सकता है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास से वह यह जान जाता है कि इसमें किस प्रकार अनेक एकांगी और असत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता रहा है, परवर्ती विचारकों ने इनकी किस प्रकार धज्जियाँ उड़ायी हैं, शब्दों का किस प्रकार गलत प्रयोग होता रहा है, ये सचाई को किस प्रकार ढकते रहे हैं और लोगों को बेवकूफ बनाते रहे हैं। जिस तरह हैज़े और प्लेग से बचने के लिए टीके आविष्कृत हुए हैं, उस तरह अभी तक मूर्खता से बचने के लिए कोई टीका ईजाद नहीं हुआ। हॉब्स ने कहा था कि बेवकूफी करना मनुष्य अपना विशेषाधिकार समझते हैं। राजनीतिक चिन्तन का इतिहास राजनीतिक परिभाषाओं के यथार्थ ज्ञान द्वारा ऐसी मूर्खताओं पर प्रकाश डालता है और उनसे बचने के लिए हमें सचेत कर देता है।

राजनीतिक विचारों का अध्ययन इस दृष्टि से भी उपयोगी है कि इससे हमें अतीतकालीन इतिहास की घटनाओं और आन्दोलनों की व्याख्या करने में बड़ी सहायता मिलती है। इससे हमें भूतकाल के बौद्धिक वातावरण का ज्ञान होता है और महत्वपूर्ण राजनीतिक आन्दोलनों और घटनाओं के प्रेरक मूल कारणों और शक्तियों का परिचय मिलता है। अतीत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि हम यह जानें कि मनुष्यों ने क्या किया, किन्तु यह जानना भी जरूरी है कि उनको प्रेरित करने वाले विचार, विश्वास, आकांक्षायें, इच्छायें और अभिलाषायें क्या थीं। उदाहरणार्थ, फ्रेंच राज्य क्रान्ति को समझने के लिए बैस्टाइल के विध्वंस का, राष्ट्रीय असेम्बली द्वारा पास किये गये प्रस्तावों का तथा अन्य रक्तरंजित घटनाओं का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु इन घटनाओं को करने के लिए प्रेरणा प्रदान करने वाले रूसो, वाल्तेयर आदि के क्रान्तिकारी विचारों का ज्ञान आवश्यक है। मनुष्य के सब कार्य इच्छाशक्ति से होते हैं, इच्छा को कार्य के लिए प्रेरित करने वाले कुछ विचार और आदर्श होते हैं। मानव इतिहास की सभी घटनायें विचारों से अनुप्राणित और संचालित होती हैं, अतः इनको समझे बिना इतिहास का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। योरोप के मध्ययुग के इतिहास को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक हम पवित्र रोमन सम्राट् और पोप के अधिकारों का समर्थन करने वाले राजनीतिक विचारों का अध्ययन न करें। विचार ही सब महत्वपूर्ण घटनाओं का मूल कारण होते हैं, ये मनुष्यों के मस्तिष्क में क्रान्ति उत्पन्न करने के बाद समाज में क्रान्ति और परिवर्तन को जन्म देते हैं, पुरानी संस्थाओं का विध्वंस और नवीन संस्थाओं का

निर्माण करते हैं। अतः प्राचीन इतिहास और घटनाओं का मर्म समझने के लिए इनका पारायण आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के लिए दिव्य-दृष्टि प्रदान की थी, इतिहास के समग्र रूप को देखने के लिए आवश्यक दिव्य-दृष्टि हमें राजनीतिक चिन्तन के इतिहास से उपलब्ध होती है।

वर्तमान इतिहास की घटनाओं तथा समस्याओं के समझने में भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास से बहुमूल्य सहायता मिलती है। हमारी वर्तमान समस्यायें अतीत की परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हैं और इनका समाधान करने के लिए लागू किये जाने वाले सिद्धान्त भूतकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। अतः वर्त्तमान को समझने के लिए पिछले ज़माने के राजनीतिक सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है। इस समय भारत में उत्पन्न होने वाले राजनीतिक विवादों और समस्याओं पर पश्चिम के राजनीतिक सिद्धान्तों—लोकतन्त्रवाद, राष्ट्रीयता, समाजवाद और साम्यवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। इन सिद्धान्तों को समझे बिना हम आधुनिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। भारत के नवीन संविधान पर ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र अमरीका, रूस, कनाडा, आस्ट्रेलिया, आयर्लैण्ड के संविधानों और राजनीतिक विचारों का प्रभाव पड़ा है। भारतीन संविधान का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन देशों के राजनीतिक विचारों का परिचय होना बड़ा लाभदायक है। सं० रा० अमरीका के विधान निर्माताओं ने सरकार के तीन अंगों—कार्यपालिका (Executive), विधानपालिका (Legislative) तथा न्यायपालिका (Judiciary) के पार्थक्य (Separation) पर बहुत बल दिया था। वहाँ शासन के संचालन में आजतक शक्तिपार्थक्य के सिद्धान्त का बड़ा महत्व है। इसे भलीभाँति समझने के लिए हमें इस सिद्धान्त को जन्म देने वाले तथा इसका प्रतिपादन करने वाले विचारकों का परिचय होना चाहिए।

प्रत्येक देश के कुछ अपने विशेष राजनीतिक मन्तव्य, विचार और सिद्धान्त होते हैं। राजनीतिज्ञ कुछ विशेष सिद्धान्तों के आधार पर राज्य का संचालन करते हैं और इसके उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान के चौथे भाग में (धारा ३६–४५) उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, जिनके अनुसार राज्य की नीति का संचालन होगा। ये सिद्धान्त जनकल्याण, सामाजिक और आर्थिक न्याय, समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुभाव, आर्थिक विषमता का निराकरण, पिछड़े हुए तथा निर्बल वर्गों का संरक्षण तथा उन्नति, शोषण का अन्त, लोकतन्त्र और गांव पंचायतों का विकास, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रतिष्ठा बढ़ाना, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का पंचों द्वारा निर्णय कराना है। इनमें अधिकांश सिद्धान्त पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा से ग्रहण किये गये हैं। यदि इस विचारधारा के इतिहास के अध्ययन से इन सिद्धान्तों का स्वरूप भलीभाँति समझ लिया जाय तो हमारे देश के राजनीतिज्ञ शासन का संचालन अधिक क्षमता के साथ कर सकेंगे और देश के भविष्य को उज्ज्वल बना सकेंगे। अतः हमारी भावी राजनीतिक प्रगति तभी सुदृढ़ रूप से हो सकती है, जब वह वर्तमान समस्याओं और आवश्यकताओं पर लागू होने वाले उपयुक्त राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित हो। राजनीतिक विचारों के इतिहास का अध्ययन न केवल अतीतकालीन इतिहास के रहस्यों और मर्मों को उद्घाटित करने की महत्वपूर्ण कुंजी है, अपितु वर्त्तमान

राजनीतिक समस्याओं के समाधान में तथा स्वर्णिम भविष्य के निर्माण में सहायक है।

यदि राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन का कोई क्रियात्मक उपयोग या मूल्य न हो तो भी स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा, बौद्धिक विकास और आनन्द के लिए अन्य दार्शनिक विषयों के समान राजनीतिक विषयों का चिन्तन आवश्यक है। बुद्धिमान् व्यक्तियों में स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि राज्य का प्रादुर्भाव और विकास कैसे हुआ, उसके लक्ष्य और प्रयोजन क्या हैं ? राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करना चाहिए, इसके विभिन्न अंग कौन-से हैं और राज्य की सर्वोत्तम प्रणाली कौन-सी है। ये जिज्ञासायें और शंकायें मनुष्य को सदैव व्यथित करती रहती हैं। इनका उत्तर सोचना ही राजनीतिक चिन्तन है। महाभारत युद्ध के बाद शान्तिपर्व के राजधर्मानुशासन पर्व में राजर्षि भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर की ऐसी शंकाओं और जिज्ञासाओं का उत्तर दिया है। कौटिल्य, मनु, प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, सैण्ट आगस्टाइन, थामस एक्विनास, मेकियावेली, लॉक, रूसो और मार्क्स के ग्रन्थों में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर हैं। मानवसमाज के सर्वोत्तम विचारक सहस्रों वर्ष से इसी चिन्तन में संलग्न हैं। यही तथ्य इस विषय के अध्ययन की महत्ता का सुन्दर प्रमाण है। इन विचारकों में चिन्तन का परिचय स्वयमेव अलौकिक बौद्धिक आनन्द की अनुभूति प्रदान करने वाला तथा हमारा दृष्टिकोण विशाल, व्यापक और उदार बनाने वाला है।

मानवसमाज में राज्य की स्थापना होने के बाद से इसकी समस्याओं पर विचार करने वाले दार्शनिकों की कमी नहीं रही। यह विचार बड़ी विभिन्न परिस्थितियों में तथा विभिन्न प्रकार के उद्देश्यों से, विशेष सिद्धान्तों और पक्षों को पुष्ट करने की दृष्टि से होता रहा है। शासन-सत्ता के प्रादुर्भाव का और स्वरूप का, इसके विभिन्न रूपों, अगों, अधिकारों, कर्त्तव्यों, उद्देश्यों तथा प्रयोजनों का विवेचन और मीमांसा प्रायः विशेष स्वार्थों और पक्षों के समर्थन करने के उद्देश्य से हुई है। इससे राजनीतिक सिद्धान्तों की सत्यता पर प्रकाश पड़ने के स्थान पर अन्धकार का आवरण बढ़ता रहा है, इनके संबंध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। फिर भी इन सिद्धान्तों के अध्ययन से हमें अतीत का ज्ञान, वर्त्तमान का परिचय और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का सामर्थ्य मिलता है, राजनीतिक प्रश्नों को समझने और समाधान करने की दिव्यदृष्टि मिलती है, प्रसिद्ध विचारकों के विचारों के अनुशीलन से अपूर्व बौद्धिक आनन्द उपलब्ध होता है, अतः इसका अध्ययन बहुत उपयोगी एवं आवश्यक है।

राजनीतिक चिन्तन का प्रादुर्भाव और विकास – अधिकांश पश्चिमी विद्वानों का यह विश्वास है कि राजशास्त्र का प्रादुर्भाव प्राचीन यूनान में हुआ और उसका विकास पश्चिमी जगत् में ही हुआ, पूर्वी देशों में सदैव धर्मप्रधान निरंकुश राजतन्त्रों का प्राधान्य रहा है और उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में कोई नया विचार नहीं दिया। अर्नेस्ट बार्कर के शब्दों में "राजनीतिक चिन्तन यूनानियों से आरम्भ होता है। इसका प्रादुर्भाव यूनानी मन के शान्त और स्पष्ट बुद्धिवाद (Rationalism) से होता है। यूनानी भारत और जूडिया (पैलेस्टाइन) के लोगों की भाँति धर्म के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़े, उन्होंने इस दुनियाँ को विश्वास के आधार पर ग्रहण नहीं किया, श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा, किन्तु वे चिन्तन के क्षेत्र में आगे बढ़े, दृश्यमान वस्तुओं पर आश्चर्य करने का साहस करते

हुए उन्होंने बुद्धि (Reason) के प्रकाश में विश्व पर विचार करने का प्रयत्न किया।"[१] डनिंग ने लिखा है—"पौरस्त्य आर्यों (Oriental Aryans) ने अपनी राजनीति को धर्मशास्त्रीय तथा आध्यात्मिक पर्यावरण (Theological and metaphysical environment) से कभी मुक्त नहीं किया।...सेमिटिक यहूदियों तथा अरबों (Sarcens) ने कई बार ऐसी अवाप्ति की, किन्तु उनकी अवाप्ति (achievement) स्थायी नहीं थी। तूरानी चीनियों ने नैतिक सिद्धान्त के विकास में विलक्षण रूप से ऊंची स्थिति प्राप्त की, किन्तु सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में उन्होंने कभी ऐसा अग्रगामी और निश्चयात्मक पग नहीं उठाया, जिससे नैतिक और राजनीतिक विचारों में विभेद किया जा सके। योरोप के आर्य (यूनानी) ही केवल ऐसी जनता है, जिनके साथ "राजनीतिक चिन्तन करने वाले' का विशेषण जोड़ा जा सकता है।"[२] विलोबी (Willoughby) ने यह मत प्रकट किया है कि पूर्व की पुरानी सभ्यताओं में कानून और धर्म में कोई भेद नहीं किया जाता था, इसलिए वे राजनीति विज्ञान का स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास करने में असमर्थ रहे।[३] हेगल, जेनेट, रालिन्सन, मुइलर आदि के मत का अनुसरण करते हुए विलोबी ने यह भी लिखा है कि योरोपेतर प्राचीन सभ्यताओं की राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक ही बड़ी देन है—साम्राज्य का विचार[४] (Imperialistic Idea)। भारत के संबंध में मैक्समूलर से लिखा है "भारतीय दर्शन और धर्मसंबंधी प्रश्नों के चिन्तन में इतने अधिक डूबे रहते थे कि उन्हें राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने का अवकाश ही न था। "उनका राष्ट्र दार्शनिकों का राष्ट्र था। उनके संघर्ष (Struggles) विचारों के संघर्ष, उनके अतीत के, सृष्ट्युत्पत्ति के, भविष्य के और जीवन की सत्ता की समस्या के संघर्ष थे। अतः, न्यायोचित रूप से यह कहा जा सकता है कि विश्व के राजनीतिक इतिहास में भारत का कोई स्थान नहीं है।"[५]

किन्तु पिछली आधी शताब्दी में पुरातत्वज्ञों तथा ऐतिहासिकों के नवीन अनुसन्धान से ऐसे नये तथ्य प्रकाश में आये हैं जिनसे पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त मंतव्य की यथार्थता में संदेह होने लगा है। अब यह सत्य नहीं माना जा सकता कि पूर्वी देशों में कभी कोई राजनीतिक चिन्तन नहीं हुआ, यह केवल पश्चिमी जगत् में हुआ है। पूर्वी सभ्यताओं के संबंध में इस समय हमारा ज्ञान इतना बढ़ गया है कि अब यह कहना सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है कि प्राचीन योरोपेतर सभ्यताओं ने राजनीतिक चिन्तन नहीं किया, शासन और राजनीति के संबंध में महत्वपूर्ण विचारों को जन्म नहीं दिया। वस्तुतः, इन सभ्यताओं में ऐसे अनेक विचार मिलते हैं, जिनका बाद में पश्चिमी जगत् में विकास हुआ, यद्यपि ये विचार पश्चिमी जगत् के विचारों की भाँति सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और विशद नहीं हैं।

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियरी—प्लेटो एण्ड हिज़ प्रेडीसेसर्ज, पृ० १।
२. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियरीज़, पृ० XIX—XX
३. विलोबी—नेचर ऑफ दी स्टेट, पृ० ४२।
४. विलोबी—दी पोलिटिकल थियरीज़ ऑफ दी एंशेण्ट वर्ल्ड, पृ० २०।
५. मैक्समूलर—हिस्टरी ऑफ ए शेण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३,
फ्रेंच तथा इटालियन विचारकों के विचारों के लिए देखिए—उपेन्द्रनाथ घोषाल—ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पोलिटिकल आइडियाज़ (१९५९), पृ० १४।

वस्तुतः इन सभ्यताओं में राज्यों के विकास के साथ शासन की जटिल समस्यायें उत्पन्न हुईं और मनुष्य ने राजनीतिक प्रश्नों की मीमांसा आरम्भ की। यहाँ पूर्व की प्राचीन सभ्यताओं में से भारत, मिश्र, मेसोपोटामिया, चीन और यहूदियों के राज्यविषयक कुछ मुख्य विचारों का परिचय दिया जायगा।

भारत में राजशास्त्र का विकास—पहले यह बताया जा चुका है कि मैक्समूलर आदि कुछ पश्चिमी विद्वानों की यह धारणा है कि भारतीय आत्मा, परमात्मा और सृष्ट्युत्पत्ति की समस्याओं के चिन्तन में इतने तल्लीन रहते थे कि उन्हें राजनीतिक प्रश्नों पर विचार का अवकाश ही नहीं था, इसलिए भारत में इन पर प्रकाश डालने वाले साहित्य का विकास नहीं हुआ। इस शताब्दी के आरम्भ से भारतीय इतिहास और पुरातत्व के क्षेत्र में हुए अनुसन्धानों से यह धारणा सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो चुकी है।

भारत में राज्य-संबंधी समस्याओं के चिन्तन की परम्परा बहुत पुरानी है, वैदिक-युग से वर्तमान समय तक अविच्छिन्न रूप से यहाँ राजशास्त्र के प्रश्नों की मीमांसा होती रही है। धर्मशास्त्रों के विशाल वाङ्मय में राजधर्म का निरूपण हुआ है और इसके लिए एक स्वतन्त्र शास्त्र का भी विकास हुआ है। निम्नलिखित ग्रन्थों में राजधर्म का प्रतिपादन है—आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।६।२५।१), महाभारत (वनपर्व अध्याय १५०, सभापर्व ५, उद्योगपर्व ३३-३४, शान्तिपर्व १–१३०, आश्रमवासिक पर्व ५–७), रामायण (अयोध्याकाण्ड अध्याय १५, ६७, १००, युद्धकाण्ड १७-१८, ६३), मनुस्मृति अध्याय ७–६), कौटिलीय अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्य स्मृति (१।३०४–३६७), वृद्ध हारीत स्मृति (अ० ७, श्लोक १८८–२७१), बृहत्पराशर (अ० १०, श्लोक २७७–२८५), विष्णुधर्मसूत्र (खण्ड ३), कामन्दकीय नीतिसार, अग्नि पुराण (अ० २१८–२४२), गरुड़ पुराण (अ० १०८–११५), मत्स्य पुराण (अ० २१५–२४३), विष्णुधर्मोत्तर (खं० २), मार्कण्डेय (अ० २४), कालिकापुराण (अ० ८७,), वैशम्पायन की नीतिप्रकाशिका, शुक्रनीतिसार, सोमेश्वर का मानसोल्लास (पहली चार विंशतियाँ), राजा भोज का युक्तिकल्पतरु, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत (६५६ ई०), बार्हस्पत्यसूत्र, कृत्यकल्पतरु का राजनीतिकाण्ड, चण्डेश्वर (१२६०–१३७० ई०) का राजनीति–रत्नाकर, मित्रमिश्र (१६१५–१६५४) का राजनीतिप्रकाश, नीलकण्ठ (१६१५–१६४५ ई०) का नीतिमयूख, अनन्तदेव (१६५०–१६८० ई०) का राजधर्म कौस्तुभ, शम्भाजी (१६७५–१६८० ई०) का बुधभूषण, केशव पंडित की दण्डनीति। इस परम्परा में संभवतः अन्तिम ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर मल्हार रामराव चिटनीस का मराठी में लिखा गया (१८१० ई०) राजनीति नामक ग्रन्थ था।[1] चौथी शताब्दी ई० पू० में धर्मसूत्रों के समय से १६वीं शताब्दी तक राजधर्म के ग्रन्थ हमें अविच्छिन्न रूप से उपलब्ध होते हैं। किन्तु इससे पहले वैदिक संहिताओं के समय से यह चिन्तन आरम्भ हो जाता है, यद्यपि इसका विशद विवेचन धर्मशास्त्रों के विकास के साथ हुआ।

राजनीतिक साहित्य—वर्तमान समय में हमें राजधर्म संबंधी साहित्य बहुत कम उपलब्ध होता है। महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में इस विषय पर अनेक आचार्यों ने विशालकाय ग्रन्थों और अनेक शास्त्रों

---

१. विनयकुमार सरकार—क्रियेटिव इंडिया, पृ० २३४।

का निर्माण किया। अनुशासनपर्व (३९।८) में बृहस्पति और उशना द्वारा प्रणीत शास्त्रों का उल्लेख है। शान्तिपर्व (५८। १-३) में सात राजशास्त्र प्रणेता आचार्यों का वर्णन है— बृहस्पति, विशालाक्ष, काव्य, महेन्द्र, प्राचेतस मनु, भारद्वाज और गौरशिरा[२]। अन्यत्र (शान्तिपर्व १०२।३१-३२) शम्बराचार्य के मत का खण्डन किया गया है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने ५३ बार दूसरे आचार्यों के मत का वर्णन करते हुए उनसे असहमति प्रकट की है। उसने राजशास्त्र के पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख किया है —मानव, बार्हस्पत्य, औशनस, पराशर और आत्रेय। कौटिल्य ने इन सात आचार्यों का नामोल्लेख किया है—बाहुदन्ती-पुत्र, दीर्घचारायण, घोटमुख, कणिक भारद्वाज, कात्यायन, किंजल्क, पिशुन-पुत्र, (अधिकरण १, अध्याय ८, तथा ५।५)। निम्नलिखित छः आचार्यों का मत कौटिल्य कई बार उद्धृत करता है —भारद्वाज, कौणपदन्त, पराशर, पिशुन, वात-व्याधि और विशालाक्ष। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजशास्त्र पर विचार करने वाले आचार्यों की संख्या पर्याप्त थी।

महाभारत (शान्तिपर्व अ० ५९) में राजधर्म के स्वतन्त्र ग्रन्थों की उत्पत्ति का बड़ा मनोरंजक इतिहास बताया गया है। पहले कृतयुग के स्वर्णिम अतीत में सब लोग धर्मपूर्वक रहते थे, कोई राजा या दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। बाद में मोह, लोभ, काम, राग आदि उत्पन्न होने से लोगों का पतन तथा धर्मनाश हुआ। तब धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पर १ लाख अध्यायों का ग्रन्थ बनाया (१२।५९।३०, ७७)। इसे शंकर विशालाक्ष ने दस हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया (श्लोक ८१, ८२)। इन्द्र ने इसे पांच हजार अध्यायों में संक्षिप्त करके बाहुदन्तक का नाम दिया, बृहस्पति ने इसका पुनः ३००० अध्यायों में, काव्य या उशना ने १००० अध्यायों में संक्षेप किया (१२।५९।८५)। कामसूत्र के आरम्भ (१।५–८) में एक ऐसी ही कथा में प्रजापति द्वारा बनाये १ लाख अध्यायों के शास्त्र में से अर्थशास्त्र के संक्षेप का श्रेय बृहस्पति को दिया गया है। नीतिप्रकाशिका के अनुसार ब्रह्मा के एक लाख अध्यायों वाले शास्त्र को ब्रह्मा, महेश्वर, स्कन्द, इन्द्र, प्राचेतस, मनु, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, वेदव्यास और गौरशिरस् क्रमशः संक्षिप्त करते गये। अन्त में गौरशिरस् ने ५०० तथा व्यास ने ३०० अध्यायों में इसका संक्षेप किया। शुक्रनीतिसार (१।२–४) में भी ब्रह्माकृत मूल राजशास्त्र के वसिष्ठादि द्वारा संक्षिप्त किये जाने का उल्लेख है।

राजशास्त्र के प्राचीनकाल में अनेक नाम थे और इसके अनुशीलन पर बहुत बल दिया जाता था। महाभारत ने बृहस्पति, विशालाक्ष आदि आचार्यों को **राजशास्त्र** का प्रणेता (राजशास्त्रप्रणेतारः १२।५८।३) कहा है। अश्वघोष ने बुद्धचरित (१।४६) में इसको यही नाम दिया है। इसका दूसरा नाम **दण्डनीति** है। शान्तिपर्व में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है —इस संसार को दण्ड (की व्यवस्था) द्वारा ही (सत्पथ

---

२. बृहस्पतिर्हि भगवान् न्याय्यं धर्मं प्रशंसति।
विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः॥
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः।
भरद्वाजश्च भगवाँस्तथा गौरशिरा मुनिः।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः।—महाभारत शान्तिपर्व ५८।१—३

पर) ले जाया जाता है, अथवा यह (शास्त्र) दण्ड के चलाने की व्यवस्था करता है, अतः यह दण्डनीति कहलाता है। अन्यत्र (शा० ५६।७८) में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि दण्डनीति चार वर्णों से उनके धर्मों का पालन कराती है और राजा द्वारा ठीक तरह प्रयुक्त होने पर चारों वर्णों को अधर्म के कार्यों से रोकती है।"[1] कौटिल्य के मतानुसार दण्ड, आन्वीक्षकी (सांख्य, योग, चार्वाक दर्शन), त्रयी (ऋक्, यजुः, सामवेद), वार्त्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य की वृत्ति) को बनाये रखने का तथा बढ़ाने का साधन है, इसका विवेचन करने वाले नियम दण्डनीति कहलाते हैं। अप्राप्त को प्राप्त करना, प्राप्त वस्तु की रक्षा करना, रक्षित की वृद्धि करना तथा वृद्धि किये हुए को सुपात्र में देना दण्डनीति का कार्य है। लोकयात्रा दण्डनीति पर निर्भर है"[2] (१।३)। राजशास्त्र का तीसरा नाम **अर्थशास्त्र** है। अनुशासनपर्व (३६–१०–११) में बृहस्पति द्वारा बनाये गये शास्त्र को अर्थशास्त्र कहा गया है। कौटिल्य ने कहा है—मनुष्यों की वृत्ति अर्थात् जीविका अर्थ है, मनुष्ययुक्त भूमि का नाम भी **'अर्थ'** है। इस पृथिवी को प्राप्त करने तथा सुरक्षित बनाये रखने के उपायों को बताने वाला अर्थशास्त्र है।[3] इसका चौथा नाम **नीतिशास्त्र** है क्योंकि इसमें बताये उपायों से लोग धर्ममार्ग की ओर ले जाये जाते हैं और उससे विचलित नहीं होते।[4] कामन्दक के राजशास्त्र संबंधी ग्रन्थ का नाम ही नीतिसार है।

राजशास्त्र का अनुशीलन प्राचीन भारत में बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता था। कौटिल्य ने चार प्रधान विद्याओं में दण्डनीति की गणना की है। किन्तु कामन्दक (२।५) के मत में 'उशना सम्प्रदाय वाले केवल एक विद्या—दण्डनीति को मानते थे और यह कहते थे कि इसी से अन्य सब शास्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं।'

प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक विचार

(क) कानून की सर्वोच्च सत्ता—प्राचीन काल में राजशास्त्र के गम्भीर अनुशीलन और चिन्तन के परिणामस्वरूप अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण हुआ।

---

१. दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्त्तते॥
दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति॥—शान्तिपर्व ५६।७८ मि० शान्तिपर्व ६६।७६

१. आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिः।
अलब्धलाभार्थाज़ब्धपरिरक्षिणी रक्षितविवर्धिनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च।
—कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण १, अध्याय ४।

२. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः। तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।—कौ० अ०, अधिकरण १५, अध्याय १

३. यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः।
तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम्॥—शान्तिपर्व ५६।७४।

४. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।—कौ० अ० १।१।
कामन्दकीय नीतिसार २।५।

यहाँ इनमें कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का ही निरूपण किया जायगा। पहला सिद्धान्त सामाजिक व्यवस्था में धर्म (कानून) की सर्वोपरि सत्ता (Sovereignty of law) है। इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन सवप्रथम बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।११–१४) में मिलता है, वहाँ यह कहा गया है —चार वर्ण उत्पन्न करने के बाद प्रजापति ने स्थिरता लाने के लिए "धर्म को उत्पन्न किया, वह बलवान् क्षत्रियों से भी प्रबल है। धर्म से अधिक ऊंची वस्तु कोई नहीं है। धर्म के कारण निर्बल व्यक्ति बलवान् को जीतने की आशा रखता है। जैसे धर्मात्मा व्यक्ति राजा की सहायता से (अधर्म करने वाले पर) विजय प्राप्त करता है, जो धर्म है, वस्तुतः वही सत्य है। अतः लोग यह कहते हैं कि जो व्यक्ति सत्य कहता है, वह धर्म कहता है; जो धर्म कहता है, वह सत्य कहता है। ये दोनों (धर्म और सत्य) (एक) हैं।"[1] यहाँ धर्म का प्रयोग समाज को बनाये रखने तथा संचालित करने वाले सभी नियमों के लिए व्यापक रूप में हुआ है। धर्म शब्द धारण करने का अर्थ देने वाली धृ धातु से बनता है और समाज को धारण करने वाले सभी नियमों के लिए प्रयुक्त होता है। महाभारत में कहा गया है कि (समाज को) धारण करने से ही इसे धर्म कहते हैं, इसने सब प्रजाओं को धारण कर रखा है।[2] राजा का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह धर्म का पालन कराये। जो राजा धर्म का पालन नहीं कराता, शास्त्रकारों ने प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने तथा सिंहासन च्युत करने का अधिकार दिया है। शान्तिपर्व (९२।१९) में कहा गया है कि धर्म की हत्या करने वाला राजा प्रजा द्वारा वध योग्य है (वध्यो लोकस्य धर्महा)।

(ख) **धर्म का स्वरूप**—इस प्रसंग में धर्म का अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। धर्म का प्रयोग प्रधान रूप से निम्न अर्थों में होता है—(१) वेदों, धर्मसूत्रों, स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपादित किये गये नियम, (२) कानून या विधि (Law), (३) न्याय (Justice), (४) कर्त्तव्य (Duty), (५) सदाचरण। राजा का यह कर्त्तव्य था कि उसके राज्य में इन सभी अर्थों में धर्म का पालन हो। आजकल पश्चिमी जगत् में कानून या विधि (Law) की सर्वोच्च सत्ता और महत्ता पर बहुत बल दिया जाता है और इसे कानून निर्माण करने का अधिकार रखनेवाली किसी शक्ति–पार्लियामेंट, विधान सभा आदि का कार्य समझा जाता है। यह विचार योरोप में १३वीं शती से प्रारम्भ हुआ। १९वीं शती में आस्टिन ने कानून को उच्च सत्ता का आदेश माना। इससे पहले योरोप में कानून को भगवान् की देन या प्राकृतिक नियम समझा जाता था। अरस्तू का यह विचार था कि कानून ईश्वर तथा बुद्धि का नियम है। सिसरो और सेनेका ऐसा मानते थे कि कानून मनुष्यों के हृदयों में रहता है। गेयस आदि रोमन विधिशास्त्रियों ने इसे स्वाभाविक कानून (Natural law) के रूप में माना था, यह प्राकृतिक रूप से मनुष्यों में विद्यमान है और रिवाज या रूढ़ि (Custom) के रूप में मिलता है। इस प्रकार

---

१. असृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राजा। एवं यो वै स धर्मः। सत्यं वैतत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।—बृह० उप० १।४।१४।

२. धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः॥—शान्तिपर्व १०९।११

पश्चिम में कानून के स्वरूप के संबंध में दो सिद्धान्त थे। पहला और पुराना सिद्धान्त कानून को ईश्वरीय, स्वाभाविक और रिवाज के रूप में चला आने वाला समझता था और १३वीं शती से उत्पन्न होने वाला दूसरा नया सिद्धान्त कानून को विधान निर्माण कराने की शक्ति रखने वाली किसी सत्ता की इच्छा की अभिव्यक्ति मानता था। पहले यह समझा जाता था कि राजा को अपने राज्य के बड़े आदमियों की सलाह और सहमति से कानून बनाना चाहिए, बाद में रोमन कानून के नवीन अध्ययन के प्रभाव से यह नया विचार उत्पन्न हुआ कि राजा ही कानून का मूलस्रोत है।[1] १६वीं शताब्दी में निरंकुश राजतन्त्र का प्रबल समर्थन करने वाले लेखकों ने इस मत को पुष्ट किया। बाद में निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध आन्दोलन होने पर कानून का स्रोत जनता द्वारा निर्वाचित पार्लियामेंट और विधानसभायें समझी जाने लगीं।

(ग) **कानून के स्रोत**—प्राचीन भारत में धर्म (कानून) के मूल स्रोत ये थे—(१)वेद या श्रुति, (२)परम्परा या स्मृति, (३)वेद जानने वालों का आचरण[2]; इसके साथ ही स्मृतिकारों ने विभिन्न देशों, जातियों, कुलों, कृषकों, व्यापारियों आदि के वर्गों में चले आने वाले पुराने रीति-रिवाजों को बड़ा महत्व दिया था।[3] इस प्रकार कानून के दो मुख्य स्रोत —वेद और रीति-रिवाज थे। चौथी शताब्दी ई० पू० में कौटिल्य ने दो अन्य स्रोतों का भी निर्देश करते हुए कानून के चार स्रोत बताये[4]—धर्म (धर्मशास्त्रों के विधि निषेध), व्यवहार (कानून प्रतिपादन करने वाले अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में बतायी गयी कानूनी प्रक्रिया), चरित्र (देशाचार, कुलाचार, लोकाचार, जनता में प्रचलित रीति-रिवाज) और राजशासन अर्थात् राजा की आज्ञा (राज्ञामाज्ञा तु शासनम्)। इन चारों में पिछला पहले से अधिक शक्तिशाली होता है।

कौटिल्य का राजशासन वर्त्तमान कानून से कुछ मिलता है। किन्तु भारत में मध्यकालीन योरोप की भाँति राजा को कभी कानून का एकमात्र स्रोत नहीं माना गया। धर्म राजशासन से ऊपर था, राजा की आज्ञा धर्मानुकूल होनी चाहिए, कौटिल्य के शब्दों में विवादास्पद प्रश्नों में 'धर्म से ही अर्थ का निर्णय करना चाहिए' (धर्मेणार्थं विनिश्चयेत् ३।१ कौ० अर्थशास्त्र)।[5] राजा धर्म से ऊपर नहीं है, किन्तु धर्म के अधीन

---

१. कार्लाइल ए. जे.—हिस्टरी आफ मिडीवल पोलिटिकल थियरी इन दी वैस्ट, खंड ५, पृ० ८०-८३।

२. गौतमधर्मसूत्र १।१-२ वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां स्मृतिशीले च।
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥—मनु० १।६, मि० याज्ञ० १।७

३. जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेद्॥—मनु ८।४१

४. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥
अत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्॥—कौटिलीय अर्थशास्त्र—३।१।

५. नारद ने भी कहा है कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के विरोध में धर्मशास्त्र को प्रधानता देनी चाहिए—१।३६, यत्र विप्रतिपत्तिःस्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः। तत्रार्थशास्त्रमुत्सृज्य

है। यदि वह धर्म से विचलित होता है तो दण्डरूपी धर्म बन्धु-बांधवों सहित उसे नष्ट कर देता है।[1] ब्रिटिश कानून का एक सिद्धान्त है—राजा कभी अपराध नहीं कर सकता (King can do no wrong)। किन्तु कौटिल्य ने (अधि० ४, अ० ११) राजा द्वारा अपराध किये जाने पर प्रदेष्टा द्वारा उसे अन्य अपराधियों की भाँति दण्डित करने का विधान किया है। यह कानून की सर्वोपरि सत्ता का सुन्दर प्रमाण है।[2]

(घ) **राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त**—राज्य की उत्पत्ति के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) में यह कहा गया है कि सैनिक आवश्यकता के कारण इसका प्रादुर्भाव हुआ। देवासुर संग्राम में देवताओं ने असुरों से हारने पर यह अनुभव किया कि उनके हारने का यह कारण है कि उनका कोई राजा नहीं है, अतः उन्होंने अपना एक राजा चुन लिया।[3] किन्तु अधिकांश ग्रन्थों में अराजकता और मात्स्यन्याय की स्थिति से रक्षा के लिए राज्य की उत्पत्ति मानी गयी है। कौटिल्य ने लिखा है कि दण्ड-व्यवस्था न होने पर मात्स्यन्याय उत्पन्न हो जाता है, बलवान् निर्बल को, बड़ी मछली छोटी मछली को खाने लगती है। इससे परेशान हुई प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया।[4] महाभारतकार की राज्य उत्पत्ति की कल्पना का पहले उल्लेख हो चुका है (देखिये ऊपर पृ० १८-९)।

धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्।) इस व्यवस्था को कौटिल्य की राजशासन को प्रधानता देने वाली व्यवस्था का विरोधी नहीं समझना चाहिए। वह वस्तुतः कानूनी प्रक्रिया (Judicial proceeding) के संबंध में है, प्रत्येक न्यायालय न्याय कार्य के संचालन के संबंध में कुछ नियम बनाता है, इनका आधार उपर्युक्त चार प्रकार का होता है, यदि किसी विषय में राजा की स्पष्ट आज्ञा है तो न्यायाधीश निर्णय करते समय स्वाभाविक रूप से उसे सबसे प्रबल मानेंगे (रंगास्वामी आयंगर—एसपैक्टस ऑफ दी सोशल एण्ड पोलिटिकल सिस्टम ऑफ मनुस्मृति, पृ० १८४)। धर्म को कानून का प्रधान स्रोत मानते हुए भी शास्त्रकारों ने इसकी बड़ी उदार व्याख्या की है और यह कहा है कि इसे तर्क और बुद्धि द्वारा समझा जाना चाहिए (यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः)। बृहस्पति ने कहा है—केवल शास्त्र को आधार बनाकर निर्णय नहीं करना चाहिए, युक्ति (Reasoning) रहित विचार करने से धर्म का नाश होता है (केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो हि निर्णयः। युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते'। व्यवहारमयूख, पृ० ७ पर उद्धृत)।

१. दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥
तं धर्मं न विचालयेत्॥ मनुस्मृति ७।२८ तथा ७ १३

२. पुरुषं चापराधं च कारणं गुरु लाघवम्।
अनुबन्धं तदात्वं च देशकालौ समीक्ष्य च।
उत्तमावरमध्यत्वं प्रदेष्टा दण्डकर्मणि।
राज्ञश्च प्रकृतीनां च कल्पयेदन्तरास्थितः॥ कौ० अर्थ० ४।११

३. ऐतरेय ब्राह्मण १।१४ देवासुरा वा लोकेषु समयतन्त।···तांस्ततोऽसुरा अजयन्··· देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति, राजानं करवामहा इति तथेति।

४. (दण्डः) अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। —कौ० अर्थ० १।४; कौ० १।१३ मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे॥ मिलाइये रामायण अयोध्याकाण्ड ६७।३१ मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥ मि० शान्तिपर्व १५।३०, ६७।१३, कामन्दक २।४०, मत्स्यपुराण २२५।६, मानसोल्लास २।२०।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मुख्य रूप से दो प्रकार के सिद्धान्त हैं। पहला तो यह कि इसे भगवान् ने उत्पन्न किया और दूसरा यह है कि यह राजा और प्रजा में हुए समझौते का परिणाम है। पहला दैवी उत्पत्ति (Divine origin) का सिद्धान्त है और दूसरा संविदा (Contract) का सिद्धान्त। भारतीय साहित्य में दोनों सिद्धान्त पाये जाते हैं। पहले मनुस्मृति के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख हो चुका है (देखिये ऊपर पृ० १८)। कौटिल्य ने दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है, प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाने के बाद यह निश्चय किया कि अनाज का छठा हिस्सा, बेची जानी वाली वस्तुओं का दसवाँ हिस्सा और नकद कर राजा का हिस्सा है।[१] राजा इसे लेकर प्रजा के कल्याण (योगक्षेम) की व्यवस्था करेगा। दीघनिकाय के इस प्रकार के सिद्धान्त का पहले (पृ० १९) वर्णन हो चुका है।

दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के कारण राजा को दिव्य माना जाना स्वाभाविक है। मनुस्मृति के अनुसार (७।४-७) वह इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर आदि देवताओं के अंश लेकर बनाया गया है।···वह मनुष्य के आकार में इस पृथिवी पर देवता के रूप में विद्यमान है (मनु ७।८, शान्तिपर्व ६८।४०)। नारद ने राजा की दिव्यता का प्रबल समर्थन करते हुए कहा है—'राजा इस पृथिवी पर साक्षात् इन्द्र के रूप में संचरण करता है। गुणहीन होने पर भी प्रजा को उसकी पूजा करनी चाहिए। राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और कुबेर के कार्य करता है।[२]

किन्तु राजा की दिव्यता का यह अभिप्राय नहीं था कि वह मनमाना कार्य कर सकता है, उसके पास निरंकुश शासन के अधिकार हैं। वह तभी तक देवता समझा जाता था, जब तक धर्मानुसार शासन करता था। यदि राजा देवता था तो प्रजा भी विष्णु का रूप समझी जाती थी।[3] शुक्राचार्य के मतानुसार धार्मिक राजा में देवता के अंश थे, अधार्मिक राजा में राक्षसों के अंश थे (शुक्रनीति १।७०-यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्)। अनुशासन पर्व (६१।३२-३३) में प्रजा को ऐसे राजा को 'पागल कुत्ते की तरह मारने का अधिकार दिया गया है, जो उसकी रक्षा नहीं करता, जो उससे जबर्दस्ती कर वसूल करता है, उसकी सम्पत्ति छीनता है, उसका समुचित नेतृत्व नहीं करता। मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा, ऐसा वचन देकर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता।"[४]

---

१. धान्यषड्भागं, पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं कल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः।—कौ० अर्थ० १।१३

महाभारत में पृथु द्वारा कराई हुई प्रतिज्ञा के लिए देखिये महाभारत शान्तिपर्व ५८।११५-१९।

२. नारदस्मृति प्रकीर्णक २०, २२ राजेति संचरत्येष भूमौ साक्षात्सहस्रदृक्। प्रजानां विगुणोऽप्येवं पूज्य एव प्रजापतिः॥ पंच रूपाणि राजानो धारयत्यमितौजसः। अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च॥ मि० मनुस्मृति ७।८—महती देवता ह्येषा नररूपेण संस्थिता।

३. अद्य रभ्य न मे राज्यं राजानं रक्षतु प्रजाः। इति सर्वं प्रजा विष्णुं साक्षिणं श्रावयेन्मुहुः।—राजनीतिरत्नाकर, पृ० ८२

४. अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम्।
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः॥—अनुशासनपर्व ६१।३२-३३

प्राचीन भारत में ऐसे राजाओं के मारे जाने के उदाहरणों की कमी नहीं है। मनुस्मृति (७-४१) में वेन, नहुष, सुदास, पैजवन, सुमुख और निमि के इस प्रकार नष्ट होने का उल्लेख है।[1] महाभारत (शान्तिपर्व ५६।६३-६५) और भागवत पुराण (४।१४) में वेन के अधार्मिक होने पर ऋषियों द्वारा उसके नष्ट किये जाने का उल्लेख है। शुक्र-नीति (२।२७४-७५) के अनुसार अधार्मिक और राष्ट्र-विनाशक राजा को गद्दी से उतार कर प्रजा की सहमति से उसके स्थान पर नये व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाना चाहिए। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि राजा उसी समय तक देवताओं की तरह पूजा जाने का अधिकार रखता था, जब तक वह धर्मानुकूल शासन करता था, प्रजा में सुशासन, व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म का पालन करता था।

(ङ) मनुष्य की प्रवृत्ति—भारतीय विचारक मनुष्य को स्वाभाविक रूप से स्वार्थी, दुष्ट, दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने वाला समझते थे। मनु ने कहा है कि दोषहीन व्यक्ति बड़ी कठिनता से उपलब्ध होता है। (दुर्लभो हि शुचिर्नरः ७।२१-२४)। कामन्दक (२।४२) का मत है कि मनुष्य स्वभावतः वासनाओं के वश में होते हैं और दूसरों के धन और स्त्रियों की चाह करते हैं।[2] इन विषय में भारतीय दृष्टिकोण रोमन विचारक सेनेका, ईसाइयत के आरम्भिक आचार्यों (Church Fathers) सैण्ट आगस्टाइन और सैण्ट ग्रेगोरी तथा ब्रिटिश विचारक हॉब्स (Hobbes) से मिलता है कि मनुष्य स्वभावतः दुष्ट प्रकृति का है।

(च) दण्डशक्ति का विचार—मनुष्य की स्वाभाविक दुष्टता के दुष्परिणामों का निरोध करने के लिए ही राज्य का जन्म होता है और राज्य अपनी दण्डशक्ति द्वारा दुष्टों का दमन करता है। मनु के (७।१७, १८) शब्दों में "दण्ड ही प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही सब की रक्षा करता है।" (दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।) शान्तिपर्व (१५।३०) में यह कहा गया है "यदि दण्ड न हो तो सभी प्रजा नष्ट हो जाय, पानी में मछलियों के समान बलवान् निर्बल को खाने लगे।[3] दण्ड-शक्ति को इतना महत्व दिया गया है कि इसे राजा (स राजा पुरुषो दण्डः मनु ७।१७) तथा धर्म (७।१८ दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः) कहा गया है। दण्ड राजा से भी ऊपर है, धर्म से विचलित होने पर दण्ड राजा का भी हनन करता है (मनु ७।२८)। ऐयंगर के शब्दों

---

१. वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः। सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखोनिमिरेव च।—**मनु० ७।४१**

२. कामन्दकीयनीतिसार २।४२, इदं प्रकृत्या वशीकृतं परस्परं स्त्रीधनलोलुपं जगत्। सनातने वर्त्मनि साधुसेविते प्रतिष्ठिते दण्डभयोपपीड़ितम्॥ पश्चिम में जेरेमी टेलर ने लिखा है, "भेड़ियों के एक झुण्ड में मनुष्यों से अधिक शान्ति और एकता होती है।" सालमण्ड ने लिखा है, "मनुष्य स्वभावतः लड़ने वाला पशु है।" (काणे द्वारा उद्धृत—हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, खं० ३, पृ० २३८)।

३. शान्तिपर्व १५।३०—दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः। जले मत्स्यानिवाभक्षयन्दुर्बलं बलवत्तराः। मिलाइये कामन्दक २।४० दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते। शुक्र ५।२३ राजदण्डभयाल्लोकः स्वस्वधर्मपरो भवेत्। शान्तिपर्व १५।३४ सर्वो दण्डजितो लोको **दुर्लभो हि शुचिर्नरः॥**

में दण्ड न केवल ग्रास्टिन के मतानुसार कानून का पालन कराने वाली शक्ति है, अपितु यह राजा के निरंकुश अधिकारों पर प्रबल अंकुश है।[1] यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, बोदिन के Majlstas से तथा ग्रोशियस के Summa potestas से और प्रभुसत्ता के वर्तमान विचार से गहरा सादृश्य रखती है।[2]

प्राचीन मिश्र की राजनीतिक विचारधारा

नील नदी के वरदान—मिश्र में तीन हजार वर्ष तक एक उन्नत एवं उत्कृष्ट सभ्यता फली-फूली। यह किसी एक राज्य, साम्राज्य, युग, जाति या जनता की कहानी नहीं है, किन्तु अनेक राज्यों, साम्राज्यों, युगों, जातियों और जनताओं की अतीव रोचक कथा है। ३५०० ई० पू० के लगभग नील नदी के तट पर बसे हुए अनेक लघु नगर-राज्य एक राजनीतिक संगठन में संगठित हुए। इसे **प्राचीन राज्य** (Old kingdom) कहा जाता है। इसके बाद चौथी शताब्दी ई० पू० में सिकन्दर द्वारा मिश्र की विजय करने तक यहाँ तीस राजवंशों ने शासन किया। मिश्र में राजा ईश्वर का अवतार नहीं, किन्तु साक्षात् देवता माना जाता था, वह सत्य को और दैवी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए धरा पर अवतीर्ण होता था, अपने जीवन काल में वह सूर्य देवता का पुत्र होरस माना जाता था और मृत्यु के बाद ओसिरिस देवता बन जाता था। किन्तु इस विश्वास के बावजूद मिश्र का राजतन्त्र निर्जीव, गतिशून्य देवतन्त्र (Theocracy) नहीं था, किन्तु बड़ा सजीव राजनीतिक संगठन था। वहाँ तीन सहस्राब्दियों में "केन्द्रीय तथा स्थानीय सत्ता में, राजा तथा अमीरों में अनेक संघर्ष हुए, चर्च और राज्य के विशेष वर्गों तथा साधारण जनता में कई विवाद हुए। अनेक क्रान्तियाँ और प्रति-क्रान्तियाँ हुईं, सुधार के और कट्टरता के युग आये। इनमें अनेक नये राजनीतिक विचारों का जन्म होना स्वाभाविक था। किन्तु हमें इनका विशद ज्ञान इसलिए नहीं है कि मिश्र के ध्वंसावशेषों में अधिकांश मन्दिर और समाधियाँ ही मिली हैं, इनमें केवल धार्मिक साहित्य ही सुरक्षित है, राजनीतिक साहित्य और विचार काल के गाल में समा चुके हैं। फिर भी इस धार्मिक साहित्य से मिश्र के राजनीतिक विचारों की बड़ी सुन्दर झलक मिलती है, इनमें राज्य की नीति और शासन संचालन के उदात्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। तूतेनखामेन तथा आखेटन (Akhaton) के धार्मिक विवाद से उत्पन्न अराजकता को दूर करने वाले शक्तिशाली होरेमहेब (Horemheb) के राज्य के जन-कल्याणकारी लक्ष्य की घोषणा करते हुए कारनाक (Karnak) के मन्दिर के एक प्रस्तर-स्तम्भ (Stele) पर यह लेख अंकित कराया था—"महाराज मिश्र के लिए ऐसा कानून बना रहे हैं कि इसके निवासियों का जीवन समृद्ध हो।" यह बीसवीं शताब्दी के कल्याण-कारी राज्य (Welfare State) के आदर्श से भिन्न नहीं है। इस आदर्श को क्रियात्मक रूप देने के लिए उसने करपद्धति में अनेक सुधार किये, कर-संबंधी अनेक नये नियम

---

१. ऐयंगर रंगास्वामी—एस्पैक्टस् ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल सिस्टम ऑफ मनु-स्मृति, पृ० १७४।

२. विनय कुमार सरकार—क्रियेटिव इंडिया, पृ० २५६।

बनाये, मालगुजारी की मात्रा और दर निश्चित की, कर वसूल करने वालों को जबर्दस्ती अधिक वसूली करने से रोकने के लिए कठोर दण्डों की व्यवस्था की।

प्राचीन मिश्रियों के कानूनों का कोई पूरा संग्रह ग्रन्थ हमें आजकल उपलब्ध नहीं होता। किन्तु इन कानूनों के जो थोड़े-बहुत उदाहरण मिलते हैं उनमें सार्वजनिक अधिकारियों को धैर्य, शान्ति तथा निष्पक्ष भाव से न्याय और शासन करने के जो आदेश दिये हैं, उनसे यह सूचित होता है कि मिश्र में राजनीतिक चिन्तन उच्चतम आदर्शवाद से अनुप्राणित था। इसका एक सुन्दर उदाहरण **'प्ताह-होतेप के उपदेश'** (Precepts of Ptah-Hotep) हैं। इसकी लोकप्रियता इसी से स्पष्ट है कि इसकी पाँच प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इसमें कादम्बरी के शुकनास जैसे एक वृद्ध मंत्री ने मंत्रि-पदाभिलाषी अपने पुत्र को शासन संचालन के संबंध में उपदेश देते हुए कहा है, "यदि तुझे नेता के रूप में बहुत-से मनुष्यों के आचरण के संबंध में निर्णय करना हो तो तुम इसे ऐसी उत्तम रीति से करो कि तुम्हारे आचरण पर कोई लांछन न लगाया जा सके।··· कानूनों के कार्य में बाधा डालना हिंसा का मार्ग खोल देना है। प्रार्थना करने वाले की बात बड़े ध्यान से सुनो, उसके साथ जल्दबाजी न करो, इससे वह क्षुब्ध और खिन्न होगा।···किसी मामले की स्पष्ट व्याख्या पाने के लिए इसे बड़े ध्यान और दयालुता (Kindness) से सुनना चाहिए।···तुम्हें बहुत विचार करना चाहिए, किन्तु अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए।" इसी उदात्त मानवीय भावना का दर्शन हमें राजा द्वारा नवनियुक्त मंत्री को दिये गये निम्न लिखित प्रवचन में होता है—"न्याय करना कभी मत भूलो। पक्षपात प्रदर्शित करना देवताओं का अभिशाप (Abomination) लेना है। यह उपदेश है। इसका पालन करना चाहिए। तुम परिचित को उसी दृष्टि से देखो, जिस दृष्टि से अपरिचितों को देखते हो, राजा के पास रहने वालों तथा दूर रहने वालों को समान दृष्टि से देखो। ऐसा करने वाला राजकुमार ही इस पद पर स्थायी रूप से बना रह सकता है।"[१]

संभवतः मिश्र में क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित राजनीतिक चिन्तन का विकास नहीं हुआ। किन्तु विलोबी का यह मत नहीं माना जा सकता कि राजा को देवता मान लेने के कारण वहाँ राजनीतिक सत्ता के उपयोग और शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर कोई विचार नहीं हुआ।[२] कहा जाता है कि हेलियोपोलिस में एक महाविद्यालय था, यहाँ प्राचीन मिश्रियों के ज्ञानभण्डार से लाभ उठाने के लिए यूनानी दार्शनिक थेलस (Thales), सोलन (Solon), पाइथागोरस (Pythagorus) और प्लेटो आये थे तथा यूनानी दर्शन के अनेक सिद्धान्त इन्होंने यहाँ से ग्रहण किये थे। यह अनुश्रुति भले ही सत्य न मानी जाय, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि यूनानी सभ्यता नील नदी की सभ्यता से समृद्ध हुई थी और उसने मिश्र के तीन हजार वर्ष के राजनीतिक विचारों से कुछ शिक्षा ग्रहण की थी।

मेसोपोटामिया के राजनीतिक विचार—दजला और फरात नदियों के सस्य-श्यामल दोआब में ३,००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक सुमेरियन, बेबीलोनियन,

---

१. आई० ए० विंग—दी बिल्डिंग ऑफ आवर सोशल स्ट्रक्चर, २८—३०।
२. विलोबी—दी पोलिटिकल थियरीज़ ऑफ दी एंशेण्ट वर्ल्ड, पृ० १९।

असीरियन, खाल्दियन (Chaldean) आदि अनेक सभ्यताओं का उत्थान और पतन हुआ। इनके संबंध में भी यह माना जाता है कि यहाँ राजा को देवता मानकर देवतन्त्रीय सिद्धान्तों (Theocratic principles) के आधार पर शासन होता था। इस दशा में राजा की सत्ता के स्वरूप, मर्यादाओं तथा उद्देश्यों पर विचार करने वाले राजनीतिक चिन्तन का प्रादुर्भाव संभव ही न था। किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। मध्ययुगीन योरोप में यद्यपि विचारक राजा को देवता मानते थे, धर्मशास्त्रीय समस्याओं के चिन्तन में लगे रहते थे, फिर भी उन्होंने राजनीतिक प्रश्नों की मीमांसा की, थामस एक्विनास ने De Regimine Principium, मारसिगलियो ने Defensor Pacis तथा दान्ते ने De Monarchia, के ग्रन्थ लिखे। इससे स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रीय चिन्तन राजनीतिक चिन्तन में बाधक नहीं होता था। प्राचीन मेसोपोटामिया में राजनीतिक समस्याओं पर इस प्रकार का विचार हुआ। इसका सर्वोत्तम प्रमाण बेबीलोन के शासक हम्मूरब्बी का २१०० ई० पू० के लगभग बनाया हुआ कानूनों का संग्रह (Code) है। यह वस्तुतः कई पीढ़ियों के राजनीतिक अनुभव, विचारों और परम्पराओं का परिणाम था। ब्रेस्टेड ने लिखा है कि इस महान् राजा ने यह अनुभव किया कि देश में प्रचलित विविध प्रकार के एवं परस्परविरोधी कानूनों और व्यापारिक नियमों को एकरूपता प्रदान की जानी चाहिए। इसलिए उसने सब पुराने कानूनों एवं व्यापारिक तथा सामाजिक जीवन के नियमों का संग्रह कराया, अपने विवेक के अनुसार इनका संशोधन किया, नये नियमों का निर्माण किया और इस प्रकार कानूनों की महान् संहिता तैयार की।[1]

इस संहिता के कुछ नियमों से यह स्पष्ट हो जायगा कि बेबीलोनियावासियों का राजनीतिक चिन्तन कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका था। इसमें कहा गया है— "यदि कोई व्यक्ति किसी अभियोग में झूठी गवाही देता है या अपने वक्तव्य को प्रमाणित नहीं करता तो यदि हत्यासंबंधी अभियोग हो तो ऐसे व्यक्ति को मरवा देना चाहिए। यदि दीवानी कानून के मामले में किसी व्यक्ति ने झूठी गवाही दी हो तो उसे इस अभियोग में हर्जाना देना पड़ेगा।...यदि किसी धनी व्यक्ति ने मन्दिर से या घर से कोई बैल, भेड़, गधा, सूअर या किश्ती चुराई हो तो उसे (वस्तु के मूल्य से) तीस गुना जुर्माना देना पड़ेगा। यदि वह निर्धन (Plebian) हो तो उसे दस गुना जुर्माना देना होगा। यदि चोर यह जुर्माना अदा नहीं कर सकता तो उसे प्राणदण्ड दिया जायगा। यदि कोई व्यक्ति बटमारी करते हुए पकड़ा जाय तो उसे प्राणदण्ड होगा। यदि बटमार डाकू पकड़ा न जा सके तो लूटा जाने वाला व्यक्ति शपथ खाकर लूटी गई वस्तुओं का विवरण देगा और जिस शहर या जिले की सीमा में यह चोरी हुई है, उसका शासक उसे चुराये माल को वापिस दिलायेगा।...यदि किसी मनुष्य ने कोई स्त्री रख ली है और वैवाहिक संविदा (Marriage Contract) नहीं की है तो वह स्त्री उसकी पत्नी नहीं हो सकती। यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी को तलाक देता है, उसकी कोई सन्तान नहीं हुई तो वह उसका वधू-शुल्क (Bride price) तथा शादी के समय कन्या के पिता के घर से लायी गई सम्पत्ति वापिस लौटा देगा और तब उसे तलाक देगा। यदि किसी व्यक्ति ने किसी स्त्री से शादी की है, सन्तान होने के बाद वह मर जाती है तो कन्या का पिता शादी के

---

१. ब्रेस्टेड—एंशेण्ट टाइम्ज पृ० १३०।

समय कन्या को दी गई सम्पत्ति में से कोई हिस्सा नहीं मांग सकता। यह धन उसके बच्चों की सम्पत्ति होता है।"

इन नियमों से यह स्पष्ट है कि बेबीलोनिया में राजनीतिक चिन्तन धार्मिक प्रभाव से मुक्त हो चुका था। यदि वहाँ पुरोहितों की तथा धर्म की प्रधानता होती तो मन्दिर से वस्तु चुराने वाले को घर से द्रव्य चुराने वाले की अपेक्षा अधिक कठोर दण्ड दिया जाता, विवाह धार्मिक विधि से ही पूरा समझा जाता, उसके लिए संविदा की कानूनी कार्यवाही आवश्यक न मानी जाती। तलाक देने वाली स्त्री की पितृ-गृह से लायी हुई सम्पत्ति के सम्बन्ध में की गयी व्यवस्था यह सूचित करती है कि उनमें दीवानी न्याय (Civil Justice) का विचार परिपक्व हो चुका था।

यहूदियों के राजनीतिक विचार—यहूदियों के प्राचीन विचारों का परिचय बाइबल के पूर्वार्द्ध - पुराने अहदनामे (Old Testament) की छत्तीस पुस्तकों से मिलता है। यहूदी राज्य को भगवान् द्वारा स्थापित किया हुआ मानते थे, कानून को अपने ईश्वर— जिहोवा (Jehovah) का दिया हुआ समझते थे, यह दैवी कानून राजा-प्रजा पर समान रूप से लागू होता था। किन्तु दैवी सत्ता में विश्वास के साथ ही यहूदियों में 'जनता की सहमति' (Popular Consent) का विचार भी प्रचलित था। जनता ने जिहोवा का शासन स्वेच्छापूर्वक एक समझौते के अनुसार स्वीकार किया, जिसमें भगवान् से दैवी कृपा पाने के बदले में उसके आदेशों का पालन करने की बात मानी गई थी। जब वे कानून को तोड़ते थे तो न केवल जिहोवा की इच्छा की अवहेलना करते थे, अपितु अपने समझौते को भी भंग करते थे। यद्यपि यहूदियों का राज्य देवतन्त्रीय आधार पर प्रतिष्ठित था, फिर भी वहाँ पुरोहितों की पूरी प्रभुता नहीं थी। राजा और न्यायाधीश पुरोहितों के वर्ग से भिन्न होते थे।

यहूदियों के राज्य में लोकतन्त्र के अनेक विचार मिलते हैं। जिहोवा को कई बार लोकमत के आगे नतमस्तक होना पड़ता था। यह सेमुअल की पहली पुस्तक में साल (Saul) को राजा बनाने की कथा से स्पष्ट है। सेमुअल उनका महापुरोहित था, किन्तु यहूदी उसकी तथा जिहोवा की व्यवस्था और शासन-संचालन से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने सेमुअल से कहा "तुम बूढ़े हो चुके हो, तुम्हारे बेटे तुम्हारे मार्ग पर नहीं चल रहे। अतः अब अन्य राज्यों की भाँति तुम हमारा एक राजा बना दो।" सेमुअल ने जब जिहोवा को यह समाचार दिया तो वह बड़ा रुष्ट हुआ, उसने कहा, "जनता ने तुझे नहीं, किन्तु मुझे अस्वीकार किया है, तुम लोगों को समझाओ कि वे ऐसा न करें।" साल ने जनता के सामने राजतन्त्र के अत्याचारों का भीषण चित्र उपस्थित किया और उसे राजा बनाने का विचार छोड़ने को कहा। किन्तु जनता अपनी ज़िद पर अड़ी हुई थी। अन्त में जिहोवा को झुकना पड़ा, उसने सेमुअल को आदेश दिया कि साल का राज्याभिषेक किया जाय "ताकि वह मेरी जनता की फिलिस्तीनों से रक्षा कर सके।" लोकमत की विजय का इससे अधिक क्या प्रमाण हो सकता है कि जिहोवा को उसके आगे सिर झुकाना पड़ा।

यहूदी अपने राजाओं की आलोचना करने में संकोच नहीं करते थे। डेविड की पैगम्बर नाथन (Nathan) ने तथा अहब (Ahab) की एलिजा (Elejah) ने बहुत भर्त्सना की थी। सुलेमान के कठोर शासन, सैनिक सेवा, बेगार और करों को जनता ने बहुत नापसन्द किया और उसकी मृत्यु के बाद उत्तरी जातियों ने उसके बेटे को उस

का उत्तराधिकारी न मानते हुए अपने लिए नया राजा चुन लिया। पैगम्बरों (Prophets) ने राजाओं के वैभव की कटु आलोचना की, निर्धन और करभारपीड़ित व्यक्तियों के दुःखों के निवारण के लिए प्रबल आन्दोलन किया तथा सब मनुष्यों में भ्रातृभाव की भावना पर बहुत बल दिया।

यद्यपि यहूदियों ने राजनीतिक विचारों का कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखा, तथापि उनका धर्मग्रंथ बाइबल सभी प्रकार के राजनीतिक विचारों का अक्षय स्रोत रहा है। इसका उपयोग "राजाओं के दैवी अधिकार की पुष्टि और खण्डन के लिए, लोकतन्त्र के समर्थन और विरोध के लिए, चर्च की राज्य पर प्रभुता सिद्ध और असिद्ध करने के लिए, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार देने या न देने के लिए, दास-प्रथा के पोषण और विरोध के लिए, क्रान्ति और साम्यवाद के समर्थन तथा आलोचना के लिए हुआ है।"[1] बाइबल वेदों के समान ऐसा कल्पवृक्ष रहा है, जिससे हर प्रकार के सिद्धान्त का समर्थन करने की युक्तियाँ विचारकों को मिलती रही हैं। बाइबल के राजनीतिक विचारों के वैविध्य का यह बड़ा सुन्दर प्रमाण है।

चीन के राजनीतिक विचार

चीन के विषय में डनिंग, जेनेट आदि अधिकांश पश्चिमी विद्वानों का यही विचार है कि नैतिक विचारों के इतिहास के क्षेत्र में चीन का स्थान बहुत ऊंचा है, किन्तु राजनीतिक विचारों की दृष्टि से चीन की कोई बड़ी देन नहीं है। उसके नैतिक विचारों ने राजनीतिक विचारों को पूरी तरह अभिभूत कर दिया था।[2] किन्तु चीन में राजनीतिक विचारकों की कमी नहीं रही। हसुन त्जे (३०५–२३५ ई० पू०) नामक चीनी दार्शनिक ने भारतीय विचारकों की भाँति इस बात पर बल दिया कि मानव प्रकृति स्वाभाविक रूप से दुष्ट है, उसकी दुष्टता और दुर्वृत्तता (Depravity) पर नियन्त्रण रखने के लिए कानून और व्यवस्था की आवश्यकता है। चीनियों ने मानवीय समानता, लोकतन्त्र और निरंकुश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार पर बल दिया। चीन में स्थानीय संस्थायें सदैव प्रबल बनी रहीं और ये स्वशासन के लक्ष्य पर बल देती रहीं। चीन के राजनीतिक दार्शनिकों में कन्फूशियस (५५७–४७९ ई० पू०), लाओत्से (६०४–५३१ ई० पू०), मेन्शियस (३७२–२८९ ई० पू०) और मो-ती उल्लेखनीय हैं।

कन्फूशियस के विचारों में हमें सुकरात और प्लेटो की शिक्षाओं के अनेक तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। वह अपने जीवन में अनेक राजकीय पदों पर रह चुका था, अतः उसे शासन का क्रियात्मक अनुभव था। उसका यह मत था कि शिक्षा द्वारा मनुष्य को उसकी स्वाभाविक प्रकृति के अनुकूल बनाना चाहिए। शासन का आधार वह दैवी सत्ता रखने वाले सम्राट् की इच्छा को नहीं, किन्तु स्वाभाविक बुद्धि और सद्गुणों को मानता था। राजा भले ही देवपुत्र हो, वह प्रजा का उपकार करनेवाला पिता है और यदि वह अपकार करता है तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। उसने उत्तम शासन

---

१. डैवसी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० १८।

२. ई० डी० थामस—चाइनीज़ पोलिटिकल थाट, पृ० ७९।

के लिए तीन बातें आवश्यक मानी हैं—(१) राजा प्रजा की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करे। (२) जनता की रक्षा के लिए आवश्यक सैनिक शक्ति रखे। (३) जनता का समर्थन और विश्वास बनाये रखे।" राज्य का कर्त्तव्य पिता की तरह से जनता की सब आवश्यकतायें पूरा करना है। "धरती माता सबके लिए पुष्कल मात्रा में अन्न सामग्री प्रदान करती है। यदि सबको अन्न नहीं मिलता तो यह राज्य का दोष है।"

चीन के 'वृद्ध दार्शनिक' कहे जाने वाले लाओ त्से (Lao Tze) में रूसो और बाकुनिन के राजनीतिक विचारों के दर्शन होते हैं। रूसो की भाँति वह एक ऐसे स्वर्णिम अतीत में विश्वास रखता है, जब सब मनुष्य बड़े धर्मात्मा थे और प्रेमपूर्वक रहते थे, मानवसमाज में किसी प्रकार का दुःख द्वन्द्व नहीं था। बाकुनिन की भाँति वह अराजकवादी था। उसका विचार था कि "प्राचीनतम काल में लोग यह नहीं जानते थे कि उनके कोई शासक भी हैं।"[1] आदर्श और उत्तम शासन वही है, जो प्रजा के जीवन में कम-से-कम हस्तक्षेप करता है। "हस्तक्षेप करने वाला तथा प्रत्येक वस्तु का स्पर्श करने वाला शासन कभी ठीक नहीं चल सकता और निराशाजनक होता है।"[2] वह मानव की स्वाभाविक प्रकृति पर प्रतिबन्ध लगाने वाली राजसत्ता का घोरविरोधी है क्योंकि यह उसके स्वाभाविक विकास में बाधा डालती है।

मेन्शियस (३७२–२८६ ई० पू०) कन्फूशियस के प्रसिद्ध शिष्यों में माना जाता है। उसने इस बात पर बल दिया कि "राज्य में सबसे महत्वपूर्ण तत्व जनता है, उसके बाद राष्ट्रीय देवताओं के पूजा-स्थान हैं और सबसे कम महत्वपूर्ण राजा है।" राजा की आकांक्षाओं को समझने से ही हम भगवान् की इच्छा जान सकते हैं।" इस प्रकार उसने पंच परमेश्वर या जनता की इच्छा को ईश्वर की इच्छा (Vox populai vox dei) के सिद्धान्त को प्रबल रूप से स्थापित किया। सम्राट् की दिव्यता का खण्डन करते हुए उसने कहा, "सम्राट् शुन (चीन का पृथु-जैसा पुराना पौराणिक राजा) एक मनुष्य था, मैं भी एक मनुष्य हूँ। जो भी अपने को अच्छा बनाने का प्रयत्न करता है, वह शुन जैसा हो सकता है।" सम्राट् की दिव्यता का खण्डन करने के साथ उसने यह भी प्रतिपादित किया कि जो शासक बुद्धि और सच्चरित्रता (Virtue) के मार्ग को छोड़ कर मृत्यु-दण्ड योग्य कार्य करता है, वह सामान्य व्यक्तियों जैसा है। राजा प्रजा के प्रति अपने शासन के लिए उत्तरदायी है और शासन ठीक न होने पर प्रजा को उसे दण्ड देने का अधिकार है। चीनी इतिहास में इस प्रकार मारे जाने वाले राजाओं और सम्राटों के उदाहरणों की कमी नहीं है।

पश्चिमी जगत् में राजनीतिक चिन्तन का विकास—पश्चिम में राजशास्त्र के विकास को तीन युगों में बाँटा जाता है: (१) ३०० ई० पू० तक का प्राचीन युग, (२) ३०० ई० पू० से १५०० ई० तक का मध्ययुग, (३) १५०० ई० से वर्त्तमान समय तक का अर्वाचीन युग। यह युग-विभाजन प्रत्येक काल की कुछ विशेषताओं के आधार पर है। प्राचीन युग यूनानी विचारकों का है और इसमें प्लेटो, अरस्तू आदि विचारक

---

१. जेम्ज़ लेगी—दी टैक्स्ट्स ऑफ टाओइज़्म—सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट सीरीज़ (१८९१) पृ०, ६०।

२. वही, पृ० १०२।

नगर-राज्य (Polis) को ग्रादर्श राजनीतिक संगठन मानते थे, उनका सारा राजनीतिक चिन्तन इसी पर केन्द्रित था। ४थी श० ई० पू० में सिकन्दर द्वारा यूनानी नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता का ग्रपहरण करने तथा विश्वव्यापी साम्राज्य स्थापित होने से राजनीतिक विचारों के जगत् में भी क्रान्ति हुई। विश्वव्यापी साम्राज्य को ग्रादर्श राजनीतिक संगठन समझा जाने लगा ग्रौर इसी को ग्राधार मान कर राजनीतिक चिन्तन ग्रारम्भ हुग्रा। सिकन्दर के, रोम के तथा शार्लमेगन के साम्राज्यों तथा ईसाई चर्च के विकास से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। चर्च का प्रभाव बढ़ने के साथ राजनीतिक चिन्तन पर धर्म का गहरा ग्रसर पड़ने लगा। मध्ययुग के समूचे चिन्तन पर राज्य ग्रौर चर्च के विवादों की गहरी छाप है। १६वीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्यों के ग्रभ्युत्थान के साथ तीसरे युग का श्रीगणेश होता है। ग्रब राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रबिन्दु राष्ट्रीय राज्य बन गया। ग्रगले ग्रध्यायों में इनका प्रतिपादन किया जायगा।

दूसरा अध्याय

यूनान में राजनीतिक चिन्तन का अभ्युदय सोफिस्ट और सुकरात

पश्चिम में राजनीतिक चिन्तन का मूलस्रोत—भारत में सब विद्याओं का आदि मूल वेद माना जाता है, पश्चिम में समूचे ज्ञान-विज्ञान की गंगोत्री यूनान है। राजनीतिक चिन्तन के संबंध में यह बात विशेष रूप से सत्य है। पश्चिमी जगत् में जिस प्रकार कानून के सृजन का श्रेय रोम को दिया जाता है, उसी प्रकार राजशास्त्र के प्रादुर्भाव का गौरव यूनान को प्रदान किया जाता है। बार्कर ने लिखा है –"राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ यूनानियों से होता है।"[1] मैकिलवेन के मतानुसार "राजनीतिक संबंधों पर विचार-विमर्श की जो धारा योरोपियन जगत् में तथा योरोपियन संस्कृति से प्रभावित देशों में बह रही है, उसका आरम्भ यूनानियों से हुआ।"[2] इसका एक बड़ा मनोरंजक प्रमाण यह है कि राजनीति से संबंध रखने वाले अनेक महत्वपूर्ण शब्द और परिभाषायें—राजनीतिक (Political), लोकतन्त्र (Democracy), कुलीनतन्त्र (Aristocracy), यूनानी भाषा की हैं। यूनानी अपने वैयक्तिक कार्यों में (Idios) लगे रहने वाले व्यक्ति को निन्दा की दृष्टि से देखते थे और उसे मूर्ख (Idiot) समझते थे। उन्होंने सर्वप्रथम राज्यों का तथा शासन की विभिन्न प्रणालियों का वर्गीकरण किया, प्रजातन्त्र, अल्पतंत्र (Oligarchy), निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny), कुलीनतन्त्र (Aristocracy) आदि विभिन्न शासनों के स्वरूप का अन्वेषण व मूल्यांकन किया तथा इनके विश्लेषण के आधार पर यह परिणाम निकाला कि ऋतुओं के चक्र की भाँति समाज में विभिन्न प्रकार के राज्यों का परिवर्तनचक्र चलता है, सबसे पहले राजतन्त्र होता है, इसके बाद क्रमशः इसके स्थान पर निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny), कुलीनतन्त्र, अल्पतन्त्र और प्रजातन्त्र स्थापित होते हैं। शासन-प्रणालियों में परिवर्तन का चक्राकार नियम (Cyclical law) यूनानियों की बहुत बड़ी खोज थी। उनका परिवर्तन का उपर्युक्त क्रम भले ही सत्य न हो, किन्तु शासन-प्रणालियों में परिवर्तन होने का विचार सर्वथा सत्य था। इसी प्रकार यूनानियों ने राज्य के उद्देश्य, प्रयोजन, स्वरूप एवं अधिकार के बारे में मौलिक चिन्तन किया। उनका यह मत था कि व्यक्ति का सर्वोच्च विकास राज्य द्वारा ही संभव है, वे शिक्षा के और राजनीतिक (Political) दायित्वों के तथा कानून के स्वरूप के गम्भीर और क्रमबद्ध चिन्तन का श्रीगणेश करने वाले थे। उन्होंने राज्य की सभी समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने की परिपाटी आरम्भ की। अतः जिमर्न ने लिखा है कि

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १।

२. मैकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थाट इन दी वैस्ट, पृ० ३।

"यूनानियों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने राजनीतिक चिन्तन का आविष्कार किया।"[1]

यूनान में राजनीतिक चिन्तन का सर्वोत्तम रूप हमें चौथी शताब्दी ई० पूर्व के एथेन्स में प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं में मिलता है। यूनान की सभ्यता से पहले क्रीट, मिश्र, बेबीलोन, असीरिया आदि की अनेक सभ्यतायें विकसित हो चुकी थीं, अनेक राज्यों और साम्राज्यों का उत्थान एवं पतन हो चुका था। इनमें राजनीतिक चिन्तन का ऐसा क्रमबद्ध विकास क्यों नहीं हुआ ? इसके यूनान में ही प्रादुर्भूत और ऐथेन्स में विकसित होने के कुछ विशेष कारण थे। इनको समझे बिना यूनान के राज्य-संबंधी विचारों को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता।

यूनान में राजनीतिक चिन्तन के प्रादुर्भाव के कारण– (क) उन्मुक्त जिज्ञासावृत्ति– १२०० ई० पू० के लगभग आर्यभाषाभाषी फिरन्दर जंगली यूनानी जातियों ने बाल्कान पर्वतमाला के उत्तर से तथा कृष्णसागर से ईजियन सागर के विभिन्न प्रदेशों—वर्त्तमान यूनान, क्रीट और लघु एशिया (टर्की) पर आक्रमण करके शनैः-शनैः इन्हें जीतना शुरू किया था। ५०० ई० पू० तक ये इस प्रदेश के स्वामी बन गये और इन्होंने अनेक छोटे-छोटे नगर-राज्यों की स्थापना की। इन आक्रान्ताओं का कोई अपना सुनिश्चित धर्म संस्कृति और परम्परा नहीं थी। इनमें कोई बड़े राजा, पुरोहित और पुजारी नहीं थे, विचारों को नियन्त्रित करने वाली पुरानी धार्मिक या राजनीतिक परम्परायें नहीं थीं। इसके साथ ही इनमें अदम्य जिज्ञासावृत्ति थी। क्रीट और मिश्र की पुरानी अत्युन्नत सभ्यताओं के साथ सम्पर्क में आने से इनमें नई वस्तुओं को जानने का कुतूहल तथा अदम्य जिज्ञासावृत्ति जागृत हुई। अरस्तू ने कहा था --"सब मनुष्य जानना चाहते हैं। आश्चर्य की भावना उन्हें दार्शनिक बनाती है, दर्शन का एकमात्र स्रोत यही है।" यूनानी इस भावना से प्रेरित होकर सत्यान्वेषण करने वाले थे। इसी लिए थेलस (६३६–५४६ ई० पू०), एनेक्सीमेण्डर (६१०–५४७ ई० पू०), पिथागोरस (छठी श० ई० पू०), हिराक्लिटस (छठी शताब्दी ई० पू०) ने विश्व के प्रादुर्भाव की समस्याओं पर चिन्तन किया था। हिरोडोटस (जन्म ४८४ ई० पू०) ने अनेक देशों में भ्रमण करके अपने सुप्रसिद्ध इतिहास का प्रणयन किया और प्लेटो (४२८–३४७ ई० पू०) तथा अरस्तू (३८४–३२३ ई० पू०) ने राज्यविषयक प्रश्नों की मीमांसा की।

(ख) बुद्धिवाद -अदम्य जिज्ञासा के अतिरिक्त यूनानियों में प्रबल बुद्धिवाद (Rationalism) था। प्रायः धर्म मनुष्य की बुद्धि को कुण्ठित कर देता है। उदाहरणार्थ, मध्ययुग में योरोप में ईसाइयत का प्रभाव प्रबल होने पर बाइबल में बताया गया सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन सर्वथा सत्य और प्रामाणिक समझा जाने लगा। इसके अनुसार यह माना जाता था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, इस सिद्धान्त पर स्वतंत्र बुद्धि से विचार एवं तर्क करने वालों को न केवल निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था, अपितु ईश्वर-निन्दक एवं नास्तिक होने के कारण उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। खलीफा उमर की सिकन्दरिया के विशाल पुस्तकालय को जलवाने के संबंध में यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि इन ग्रन्थों में यदि कुछ बातें कुरान शरीफ के अनुकूल हैं तो इन ग्रन्थों की आवश्यकता

---

१. लिविंगस्टोन—दी लीगेसी ऑफ ग्रीस, पृ० ३३१।

नहीं, यदि इनमें कुछ बातें उसके प्रतिकूल हैं तो इनका विनाश होना ही चाहिए।" यूनानी इस दृष्टि से सौभाग्यशाली थे कि उनके स्वतन्त्र चिन्तन को अवरुद्ध करने वाले कोई धार्मिक विचार और विश्वास नहीं थे। उन्हें बुद्धि एवं तर्क में बहुत श्रद्धा थी। उनकी यह आस्था थी कि विश्व की व्यवस्था का तथा समाज का संचालन कुछ नियमों के अनुसार होता है, मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इनका अन्वेषण करे। राज्य-संबंधी नियमों के अनुसन्धान से वहाँ राज्यशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ।

इसके साथ ही आलोचना (Criticism) तथा सामूहिक वादविवाद और विचारगोष्ठियों को यूनानी बहुत महत्व देते थे। जीवन की समस्याओं के संबंध में निरन्तर निरीक्षण, विचार और मीमांसा करना उन्हें बहुत प्रिय था। वे प्रमाणवाद (Authoritarianism) में विश्वास नहीं रखते थे, प्रत्येक वस्तु को संदेह की दृष्टि से देखते हुए उसे सम्यक् रीति से जाँचने और तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ग्रहण करते थे। वे मनुष्य को मननशील मानते थे और प्रत्येक शब्द का यथार्थ लक्षण और स्वरूप जानना चाहते थे। सुकरात आजीवन सामान्य लोकव्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले न्याय आदि प्रसिद्ध शब्दों के चिन्तन में लगा रहा। विचारगोष्ठियों में स्वतन्त्रतापूर्वक किये जानेवाले वादविवादों को यूनानी बड़ा महत्व देते थे। पेरीक्लीज ने कहा था "किसी देश की जनता के लिए सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि वह वाणी की स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित कर दी जाय।" युरीपाइडीज़ (Euripides) के शब्दों में 'सच्ची स्वतन्त्रता इसी में है कि स्वतन्त्र व्यक्ति जनता को सलाह देने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक भाषण कर सकें।' अरस्तू का यह मत था कि वैयक्तिक चिन्तन की अपेक्षा सामूहिक विचार—कई मनुष्यों का मिलकर किसी प्रश्न की मीमांसा करना अधिक लाभदायक होता है। यूनानी 'वादे वादे जायते तत्वबोधः' के सिद्धान्त में गहरी आस्था रखते थे। सुकरात को इस प्रकार के विवाद बहुत प्रिय थे, प्लेटो की सभी रचनायें इसी प्रकार की संवाद शैली में लिखी गयी हैं, संवादों के माध्यम से राजनीतिक प्रश्नों का तत्वचिन्तन किया गया है। सत्यान्वेषण का अनुराग, बुद्धिवाद, तर्क, विचारों की स्पष्टता और आलोचक वृत्ति ने यूनानियों में उच्चकोटि के चिन्तन की क्षमता उत्पन्न की। बार्कर के कथनानुसार यूनान में राजनीतिक चिन्तन का प्रादुर्भाव यूनानी मन के शान्त और स्पष्ट बुद्धिवाद के कारण हुआ।[1]

(ग) मानवीयता और व्यष्टिवाद (Humanism and individualism)—यूनान में राजशास्त्र के विकसित होने का एक बड़ा कारण यूनानियों में इन दोनों विशेषताओं का होना था। यूनानियों के विचार का मुख्य विषय मानव था। पहले यह बताया जा चुका है कि उन में धर्म का विशेष महत्व नहीं था, अतः उनका चिन्तन धर्म-मूलक नहीं था। वे इतने मानववादी (Humanist) थे कि उन्होंने देवताओं की कल्पना भी मनुष्यों के रूप में की। होमर के समय से उनके काव्य का मुख्य विषय मनुष्य था। दर्शन में उनकी मुख्य समस्या विश्व की व्यवस्था में मानव का स्थान था। सुकरात का कहना था कि 'सर्वश्रेष्ठ अनुसंधान इस विषय का अध्ययन करना है कि मनुष्य को क्या बनना चाहिए और उसे किन बातों का अनुसरण करना चाहिये।" महाभारत में

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १।

कहा गया है कि इस सृष्टि में मनुष्य से बढ़ कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यूनानी कवि सोफोक्लीज़ (Sophocles) का कहना था, "मनुष्य कितना आश्चर्यजनक है? उससे अधिक विस्मयजनक कोई दूसरी वस्तु नहीं है।" अतः मनुष्य के अध्ययन का सर्वोत्तम विषय मनुष्य ही है। राज्य मानवीय संगठन है, अतः वह उनके अध्ययन का विशेष विषय बना।

मनुष्य के अध्ययन में इतना गहरा अनुराग रखने के कारण यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे उसके अधिकारों का प्रबल समर्थन करने वाले व्यष्टिवादी (Individualist) हों। वे यह समझते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने का, सामूहिक रूप से इन विचारों को प्रकट करने का, अपने अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने का अधिकार होना चाहिए, बशर्ते कि यह अधिकार, दूसरे व्यक्तियों के कल्याण को हानि पहुँचाने वाला न हो। इसका एकमात्र बड़ा अपवाद सुकरात का विषपान है, किन्तु सुकरात का ७० वर्ष की आयु तक स्वतन्त्रतापूर्वक विचारों का अभिव्यक्त करना उनके व्यष्टिवाद का प्रबल प्रमाण है।

यूनान के राज्य स्वशासक समुदाय (Self-governing communities) थे, इनमें प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने वाला स्वतन्त्र नागरिक था और अपना पृथक् महत्व रखता था। यूनानी इस बात पर गर्व करते थे कि उनके राज्यों में व्यक्ति का महत्व उसकी योग्यता के अनुरूप होता है, वह सामुदायिक जीवन पर अपना प्रभाव डालता है, किन्तु पूर्वी राज्यों और साम्राज्यों में केवल निरंकुश राजा का महत्व होता है, उसके हित के लिए सारी प्रजा के अधिकारों की बलि दे दी जाती है। राजा और प्रजा में स्वामी-सेवक का संबंध होता है, उनमें किसी प्रकार के हितों की समानता नहीं होती, व्यक्तियों के कोई अधिकार नहीं होते। यूनान में राज्य स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर एकत्र होकर संगठन बनाने वाले व्यक्तियों के समुदाय थे, अतः इनमें व्यक्ति का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण था।

किन्तु व्यष्टिवादी होते हुए भी यूनानी राज्य एवं समाज को बहुत गौरवपूर्ण स्थान देते थे। उनका यह विश्वास था कि राज्य में ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है, राज्य व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक है, व्यक्ति को राज्य के पुराने नियमों (Nomos) का पालन करना चाहिए। व्यक्ति की महत्ता पर बल देते हुए भी वे राज्य को सजीव संगठन (Organism) मानते थे।

(घ) पोलिस (Polis) **या नगर-राज्य**—यूनानियों के राजनीतिक चिन्तन पर सबसे अधिक प्रभाव पोलिस का था। प्रायः इसका अनुवाद नगर-राज्य (City State) किया जाता है किन्तु अगले वर्णन से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह वर्त्तमान नगर (City) और राज्य (State) दोनों से कई महत्वपूर्ण भेद रखता है। हिन्दी में इसका शुद्ध अनुवाद पुरःसंगठन ही प्रतीत होता है। यह उनका सबसे बड़ा राजनीतिक और सामाजिक संगठन था। इसके प्रादुर्भाव और विकास की कथा से इसकी मुख्य विशेषतायें स्पष्ट हो जायंगी।

यूनान की भौगोलिक परिस्थिति इन नगर-राज्यों के विकास में सहायक सिद्ध हुई। प्राचीन यूनान में वर्त्तमान यूनान के अतिरिक्त ईजियन सागर के सभी द्वीप और लघु एशिया (टर्की) का पश्चिमी भाग सम्मिलित था। मानचित्र पर दृष्टि डालने से

प्रतीत होगा कि यहां समुद्र में छोटे टापुओं की भरमार है और स्थलीय प्रदेश को खाड़ियों, आखातों, पर्वतमालाओं, उपत्यकाओं, घाटियों और नदियों ने विभक्त कर रखा है। इस प्रकार यहाँ प्रकृति ने इस प्रदेश को सैकड़ों छोटे खण्डों में बाँट कर मनुष्य के सामने इसके खण्डीकरण (Fragmentation) का उदाहरण रखा।[१] इसका अनुसरण करते हुए यूनानी आक्रान्ता शनैः-शनैः टापुओं, पर्वतमालाओं, खाड़ियों और घाटियों द्वारा पृथक् किये हुए भूप्रदेशों में अपने स्वतन्त्र लघुराज्य बसाने लगे। इनमें बसने वाले व्यक्तियों की तीव्र प्रतिद्वन्द्विता और स्थानीय अभिमान के कारण ये बस्तियाँ आपस में कभी नहीं मिल सकीं और ४थी श० ई० पू० में सिकन्दर के आक्रमण तक पृथक् राज्यों के रूप में बनी रहीं।

एक पोलिस में एक छोटी-सी बस्ती और उसके आस-पास कृषि-कार्य के लिए आवश्यक भूमि होती थी। शहर और उसके पास का देहाती प्रदेश मिलकर पोलिस कहलाता था। जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से ये वर्त्तमान काल के छोटे-से-छोटे राज्यों की अपेक्षा अधिक छोटे थे। केवल तीन नगर-राज्यों की जनसंख्या २० हजार से अधिक थी; ये थे एथेन्स, सिराक्यूज़ (Syracuse) तथा एक्रागस (Acragas)। दस हजार की आबादी वाले नगर-राज्यों की संख्या बहुत कम थी। ईजिना (Aegina) जैसे सुप्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र की आबादी कभी २५०० से अधिक नहीं हुई। इसी प्रकार इन राज्यों का क्षेत्रफल भी वर्त्तमान राज्यों से बहुत कम था। एथेन्स (१००० व० मी०) तथा स्पार्टा (३००० व० मी०) के अपवादों को छोड़कर किसी भी नगर-राज्य का क्षेत्रफल ४०० व० मी० से अधिक नहीं था, अपोलो की पूजा के प्रसिद्ध केन्द्र डीलोस (Delos) का क्षेत्रफल कुल दो वर्गमील था। कई बार १०० वर्गमील के क्षेत्र में चार नगर-राज्य होते थे।

यूनानी दार्शनिक और शासक इन नगर-राज्यों की बस्ती जानबूझ कर छोटा रखना चाहते थे। उनके मतानुसार एक राज्य के सब निवासियों में एकता, घनिष्ठता और आत्मीयता होनी चाहिए, संख्या-वृद्धि के साथ यह घनिष्ठता संभव नहीं है। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में लिखा था कि राज्य को उसी हद तक बढ़ने देना चाहिए, जहाँ तक उसकी एकता बनी रहे।[२] उसने लाज़ (Laws) में राज्य के निवासियों की संख्या ५०४० निश्चित की है।[३] अरस्तू का कहना था कि पोलिस के लिए दस की संख्या बहुत कम है और १ लाख की संख्या बहुत अधिक है। बड़ी संख्या में नियन्त्रण रखना असंभव हो जाता है। अरस्तू ने संख्या कम करने का तर्क देते हुए कहा था —बहुत बड़ी जनसंख्या का सेनापति कौन हो सकता है ? ऐसी सेना का अग्रदूत (Herald) कौन बन सकता है, बशर्ते कि उसकी आवाज स्टैण्टर (Stentor —ट्राय के युद्ध में ५० व्यक्तियों के तुल्य ऊँची आवाज रखने वाला अग्रदूत) जैसी न हो।[४] यूनानी शासक यह समझते थे कि जनसंख्या बढ़ने से राज्य में एकता नहीं रहेगी, प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy)

---

१. विक्टर एहरेनबर्ग—ग्रीक सिटी स्टेट (१९६०), पृ० ६।
२. डायलाग्स ऑफ प्लेटो—रैण्डम हाउस संस्करण, खं० १, पृ० ६८५।
३. वही, खं० २, पृ० ५०७।
४. बार्कर—पालिटिक्स ऑफ अरिस्टाटल, पृ० २९२।

का संचालन असंभव हो जायगा, अतः वे आबादी को घटाने के अनेक प्रयत्न करते थे। ४५१ ई० पू० में एथेन्स की बढ़ती जनसंख्या को कम करने के लिए पेरीक्लीज़ ने यह नियम बनाया था कि एथेन्स के नागरिक वही होंगे, जिनके माता एवं पिता दोनों वहाँ के नागरिक हों। जनसंख्या के नियन्त्रण की दृष्टि से यूनानी गर्भपात, बाल-वध एवं बच्चों को जंगलों में छोड़ देने को बुरा नहीं समझते थे, अरस्तू के कथनानुसार क्रीट के कुछ राज्यों में जन संख्या कम बनाये रखने के लिए समलिंगी संबन्धों की प्रथा भी प्रचलित थी।[1] इस प्रकार उनके नगर-राज्य का यह आदर्श था कि यह जनसंख्या इतनी कम भी न हो कि सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन असंभव हो जाय और इतनी अधिक भी न हो कि नागरिक शासन में भाग न ले सकें।[2] सामान्य रूप से यूनानी नगर-राज्यों की आबादी भारत के वर्त्तमान कस्बों जितनी और क्षेत्रफल परगनों तथा तहसीलों जितना होता था।

नगर-राज्य की आबादी और क्षेत्रफल कम होने का एक बड़ा परिणाम यह था कि यह बड़ा सुदृढ़ और प्रगाढ़ संगठन था, इसका नागरिकों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। नगर में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की व्यवस्था होने से प्रत्येक नागरिक असेम्बली का सदस्य होता था, लाटरी द्वारा वह कभी भी जज या सेनापति चुना जा सकता था, राज्य के प्रत्येक कार्य में दिलचस्पी लेना अपना कर्तव्य समझता था। उसमें सच्चे अर्थों में सामुदायिक जीवन (Communal life) था। अरस्तू ने इनमें सामुदायिक जीवन की भावना को बढ़ाने के लिए यह कहा कि इनमें न केवल खानपान और शिक्षा की व्यवस्था, किन्तु भगवान् की पूजा की व्यवस्था भी सामुदायिक होनी चाहिए और इसका व्यय राज्य की ओर से वहन किया जाना चाहिए। पोलिस उनके जीवन में इतना महत्व-पूर्ण था कि व्यक्ति के जीवन का विकास इसी में संभव था, इसी लिए अरस्तू ने मनुष्य को पोलिस में जीवन बिताने वाला प्राणी (Political animal) माना था। यूनानी भाषा में जीवन बिताने का अर्थ देने वाले शब्द का अर्थ 'सामुदायिक जीवन में भाग लेना था' और पोलिस में दिलचस्पी न लेने वाले व्यक्ति को यूनानी मूर्ख (Idiot) कहा करते थे। उनके मतानुसार मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता पोलिस में रहना था, यदि वह पोलिस में नहीं रहता तो वह मनुष्य नहीं है। पोलिस में रहते हुए ही वह सब मान-वोचित गुणों को सीखता था। सिमोनिडीज़ (Simonides) के शब्दों में पोलिस मनुष्य का सबसे बड़ा शिक्षक था। यही उसका विद्यालय, चर्च, क्लब और समाज था। यह उसके समूचे जीवन में ओतप्रोत था।

राज्य को आजकल राजनीतिक संगठन माना जाता है। यूनानियों की दृष्टि में पोलिस मुख्य रूप से नैतिक संगठन था। अरस्तू के राज्य का संविधान केवल 'राजकीय पदों की व्यवस्था नहीं था, किन्तु यह एक जीवन पद्धति भी थी'। राज्य केवल कानूनी रचना ही नहीं, किन्तु नैतिक भावना भी है, इसका लक्ष्य मनुष्यों के जीवन को पूर्ण बनाना है। अतः राज्य का चिन्तन करते हुए हमें नैतिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए, यह सोचना चाहिए कि राज्य का लक्ष्य क्या होना चाहिए, इसे प्राप्त करने तथा

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ८२।
२. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६।

ठीक 'जीवन-पद्धति' को बिताने के लिए किन साधनों को प्रयोग करना चाहिए। राजनीतिशास्त्र वस्तुतः समूचे समाज का नीतिशास्त्र है, उसे समाज के हित का तथा इसे प्राप्त करने के साधनों का चिन्तन करना चाहिए। राजनीतिशास्त्र मनुष्य के अन्य मनुष्यों के तथा समाज के प्रति दायित्वों और कर्त्तव्यों का विवेचन करने वाला शास्त्र है।

प्राचीन और अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन के मौलिक अन्तर—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यूनान का राजनीतिक चिन्तन और नगर-राज्य दोनों वर्त्तमान चिन्तन और राज्य से कई मौलिक भेद रखते थे। ये निम्नलिखित हैं।

(१) **नैतिक जीवन से संबंध**—आजकल राज्य का नैतिक (Moral) जीवन से कोई सीधा संबंध नहीं माना जाता, राज्य कानूनी (Legal) संगठन समझा जाता है। यूनानी इसे नैतिक संगठन मानते थे।

(२) **भावात्मक दृष्टिकोण**—आजकल राज्य का लक्ष्य व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं को दूर करना, उसकी बाह्य शत्रुओं से तथा आन्तरिक उत्पातियों से रक्षा करना है, अतः यह अभावात्मक (Negative) है। यूनानियों के मतानुसार राज्य का लक्ष्य भावात्मक (Positive) अर्थात् भलाई में वृद्धि करना तथा नागरिकों के जीवन को पूर्ण बनाना है।

(३) **राज्य तथा व्यक्ति का संबंध**—आजकल पश्चिमी लोकतन्त्रों में व्यक्ति को महत्वपूर्ण समझा जाता है, उसके कुछ अधिकार माने जाते हैं। राज्य का कर्त्तव्य इन अधिकारों की रक्षा करना माना जाता है। यूनानियों में व्यक्ति के अधिकारों पर कोई बल नहीं दिया जाता था, क्योंकि उससे आशा रखी जाती थी कि वह सामूहिक जीवन पर अपना प्रभाव डाले। आजकल व्यक्ति राज्य से अनेक अधिकारों की रक्षा की आशा रखता है, यूनानी अपने नगर-राज्य से कोई ऐसी अपेक्षा नहीं रखता था।

(४) **राज्य का कार्यक्षेत्र**—पश्चिमी लोकतन्त्रों में राज्य २०वीं शताब्दी के आरम्भ तक ऐसे कार्य बहुत कम करता था, जिनसे नागरिकों द्वारा नये कार्य करने की शक्ति कुण्ठित हो, उसके मतानुसार मनुष्यों को सभी अच्छे कार्य अपनी प्रेरणा से स्वयमेव करने चाहिएं, वे उन पर राज्य की ओर से ठूंसे नहीं जाने चाहिएं। यूनानी राज्य द्वारा नागरिकों की भलाई के लिए किये जाने वाले कार्यों के प्रबल समर्थक थे। उनके मतानुसार मनुष्य राज्य द्वारा ही उच्चतम विकास कर सकता था, अतः वहाँ राज्य के कार्यों का क्षेत्र सीमित नहीं किया जा सकता था। मनुष्य के हित के लिए राज्य कोई भी सार्वजनिक कार्य कर सकता था और नागरिकों के दैनिक जीवन की छोटी-से-छोटी बातों पर नियन्त्रण रख सकता था। आजकल राज्य का एक निश्चित कार्यक्षेत्र समझा जाता है, सामान्यतः राज्य इस मर्यादा का पालन करते हैं। यूनान में राज्यों का कार्यक्षेत्र अपरिमित और असीम था।

(५) **सार्वजनिक कानून**—आजकल सार्वजनिक कानून (Public law) के विचार का विकास हो चुका है, यह राज्य और व्यक्ति के संबंध निश्चित करता है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए रोमन लोगों ने वैयक्तिक कानून (Private law) का विकास किया था, १८वीं शताब्दी में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) का सिद्धान्त विकसित हुआ था। किन्तु यूनान में राज्य को नागरिकों के जीवन के पूर्ण विकास का साधन मान लिये जाने के कारण राज्य और व्यक्ति के अधिकारों में

कोई संघर्ष नहीं था। अतः वहाँ वैयक्तिक कानून का विचार उत्पन्न नहीं हुआ।

(६) **राज्य के कार्य में व्यक्तियों का भाग लेना**--राज्य की यूनानी धारणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को राजकीय कार्यों में गहरी दिलचस्पी लेनी चाहिए। यह लोकतन्त्र में ही संभव था क्योंकि इसमें सब व्यक्ति सर्वोत्तम जीवन का विकास करने के लिए राजनीतिक सत्ता का प्रयोग कर सकते थे। यातायात और परिवहन के साधनों का अधिक विकास न होने से ऐसा लोकतन्त्र छोटे प्रदेश में और थोड़ी जनसंख्या में सफल हो सकता है। यूनानियों का आदर्श राज्य एक ऐसा छोटा किन्तु सुगठित समुदाय था, जिसमें सब व्यक्ति एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे और एक स्थान पर एकत्र हो सकते थे। उस समय वर्त्तमान काल के प्रतिनिध्यात्मक (Representative) शासन की कोई कल्पना नहीं थी।

नगर-राज्य (Polis) और वर्त्तमान राज्य के प्रमुख भेद—ये निम्नलिखित हैं—(१) पोलिस का अनुवाद यद्यपि नगर-राज्य किया जाता है, किन्तु यह आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से न नगर थे और न राज्य। आजकल नगर (City) का तात्पर्य १ लाख या उससे अधिक आबादी का शहर समझा जाता है, थोड़े ही क्षेत्र में बने हुए मकानों में बहुत घनी आबादी बसी होती है। इस प्रकार नगर की दो बड़ी विशेषताएं हैं—जनसंख्या की अधिकता और मकानों का घना बसा होना। यूनानी नगर-राज्यों में ये दोनों विशेषताएं नहीं थीं। यूनानी नगर-राज्यों में सबसे अधिक आबादी एथेन्स की थी। बार्कर ने लिखा है कि इसके सम्बन्ध में यह अनुमान किया जाता है कि यह ३ से ४ लाख के बीच में थी, किन्तु नवीनतम अनुसंधानों के अनुसार जर्मन विद्वान् एहरेनबुर्ग ने ४३२ ई० पू० में इसकी जनसंख्या २,१५,००० से ३ लाख के बीच में मानी है।[१] इसी प्रकार स्पार्टा की आबादी १,९०,००० से २,७०,००० के बीच में थी। १० हजार की आबादी वाले नगर-राज्य बहुत कम थे। अधिकांश नगर-राज्यों की जनसंख्या इससे भी कम थी, अतः इन्हें नगर कहना नगर-शब्द का उपहास करना है। केवल ये बड़े गाँव या कस्बे थे। इनके मकान भी घने नहीं बने हुए थे, एथेन्स की केवल आधी आबादी ही मुख्य नगर में रहती थी, शेष जनसंख्या १००० व० मी० के विस्तृत देहाती प्रदेश में बसी हुई थी। इसी प्रकार अन्य नगर-राज्यों में भी मुख्य बस्ती के साथ खेती की भूमि होती थी और कृषक वर्ग अपने खेतों पर ही रहता था। ऐसी बस्तियाँ आजकल नगर नहीं कहला सकतीं।

(२) क्षेत्रफल की दृष्टि से इन्हें वर्त्तमान परिभाषा में राज्य नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः एथेन्स (१००० व० मी०) व स्पार्टा (३००० व० मी०) के अपवाद को छोड़ कर पोलिसों का क्षेत्रफल ४०० व० मी० से अधिक नहीं था, वे बीस मील से ज्यादा लम्बे-चौड़े नहीं थे, कुछ महत्वपूर्ण नगर-राज्य ४० व० मी० से अधिक के नहीं थे। कुछ प्रसिद्ध नगर-राज्यों का क्षेत्रफल इस प्रकार था[२]—कोरिन्थ (३४० व० मी०), समोस (१८० व० मी०), ईजिना (३३ व० मी०), डेलोस (२ व० मी०), रेनिया (Rhenia ८½ व० मी०) ३३०० व० मी० के क्रीट में १०० नगर-राज्य बसे

---

१. विक्टर एहरेनबुर्ग—दी ग्रीक स्टेट (१९६०), पृ० ३३।

२. विक्टर एहरेनबुर्ग—वही, पृ० २९-३०।

हुए थे। यदि उत्तर प्रदेश की तहसीलों से इनकी तुलना की जाय तो यह ज्ञात होगा कि इनका क्षेत्रफल इनसे बहुत छोटा है; उदाहरणार्थ, सहारनपुर जिले की चार तहसीलों -- देवबन्द, नकुड़, रुड़की और सहारनपुर का क्षेत्रफल क्रमशः ३८६, ४२९, ७०६ तथा ६२६ व० मी० है। सहारनपुर जिले का कुल क्षेत्रफल २,१३२ व० मी० तथा आबादी १३,५३,६३६ है। यह क्षेत्रफल में एथेन्स से दुगना तथा आबादी में चौगुने से अधिक है। यह उत्तर प्रदेश का एक जिला है और उत्तर प्रदेश भारतवर्ष का एक प्रान्त है। अधिकांश नगर-राज्य क्षेत्रफल की दृष्टि से वर्त्तमान भारत में शासन की सबसे छोटी इकाइयों —गाँवों और परगनों से भी छोटे थे। इन्हें वर्त्तमान परिभाषा में राज्य कहना ठीक नहीं प्रतीत होता।

क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से वर्त्तमान राज्यों की दृष्टि से अत्यन्त क्षुद्र होने पर भी यूनानी नगर-राज्य कई अंशों में वर्त्तमान राज्यों से अधिक शक्तिशाली था। आजकल राज्य कानूनी संस्था है, वह अपने नागरिकों के राजनीतिक और कानूनी सम्बन्धों का ही नियन्त्रण करता है, किन्तु नगर-राज्य व्यक्ति के समूचे जीवन को उसके सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करता था। आजकल राज्य और समाज में भेद है, उस समय ये दोनों एक थे। अतः जब अरस्तू यह कहता है कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी (Political animal) है, तो उसका आशय राज्य एवं समाज दोनों में रहने वाले से है। १३वीं शताब्दी में थामस एक्विनास ने अरस्तू के इस कथन की व्याख्या करते हुए कहा —मनुष्य 'सामाजिक और राजनीतिक प्राणी' (Political animal) है। उस समय राज्य (पोलिस) से बाहर व्यक्ति का कोई क्रियाकलाप नहीं माना जाता था, अतः उस समय का समूचा सामाजिक जीवन राजनीतिक जीवन में निहित था। महाभारत की परिभाषा में वह हाथी का पैर था, उसमें समाज के अन्य सभी अंग समाये हुए थे। अतः अरस्तू और यूनानियों की दृष्टि से 'राजनीतिक' शब्द बहुत विस्तृत था, उसमें मनुष्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य सम्मिलित होता था।

यूनानी पोलिस को इतना महत्वपूर्ण समझते थे कि वे इसे राजनीतिक संगठन का चरम विकास मानते थे, वे इससे आगे या दूर के राज्यों के पारस्परिक सम्वन्ध या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की समस्या को विचार योग्य नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि कभी नगर-राज्य के ऊपर नहीं उठ सकी। अरस्तू यद्यपि एथेन्स के साम्राज्य (Athenian Empire) से परिचित था, विश्व-विजयी सिकन्दर का गुरु रहा था, किन्तु उसने अपनी कृति 'पालिटिक्स' में राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई वर्णन नहीं किया। यूनानी राजनीतिक चिन्तन का एक बड़ा दोष यह था कि इसकी दृष्टि नगर-राज्य तक ही सीमित थी।

एथेन्स और स्पार्टा—यूनान के प्रसिद्धतम नगर-राज्य थे। इनका यूनान के राजनीतिक चिन्तन पर कई कारणों से बड़ा प्रभाव पड़ा। इनमें विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं, इनमें अनेक परिवर्तन होते रहे और इनसे विचारकों को राजनीतिक चिन्तन की प्रचुर सामग्री मिली। यूनान के दो प्रमुख राजनीतिक विचारक प्लेटो तथा अरस्तू ने एथेन्स में रहकर ही अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे। इनके इतिहास से हमें नगर-राज्यों की आन्तरिक शासन-प्रणाली और समस्याओं को समझने में बड़ी

सहायता मिलती है, अतः यहाँ दोनों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

एथेन्स—यह आदर्श नगर-राज्य था। समुद्रतट के पास, समीपवर्ती मैदान से १८० फीट ऊंची उठी हुई एक छोटी पहाड़ी (११०० फी० — ५०० फी०) पर एन्थेस की पहली बस्ती बसी, शत्रु का आक्रमण होने पर यहाँ दुर्ग बनाकर सुगमता से अपनी रक्षा की जा सकती थी और आबादी बढ़ने पर इस पहाड़ी के चारों ओर बस्तियाँ बसने लगीं, बीच की पहाड़ी एक्रोपोलिस (Acropolis—नगर की चोटी) कहलायी। ८वीं शताब्दी से पहले एथेन्स के आस-पास के प्रदेश एट्टिका (Attica) में कई छोटे नगर-राज्य थे। ७०० ई० पू० के लगभग ये आपस में मिल गये। आरम्भ में यहाँ का शासक राजा होता था, वह पुरोहित का भी कार्य करता था, नगर की अधिष्ठात्री देवी एथीना (Athena) थी। ८वीं शताब्दी ई० पू० में यूनान के सभी राज्यों में राजा की सत्ता क्षीण होने लगी, कुलीन वर्ग का प्रभाव बढ़ने लगा, धोखाधड़ी, अवैध उपायों व समुद्री डकैती से इन्होंने अपनी भूमि तथा सम्पत्ति को बढ़ा लिया, राज्य के ऊंचे पदों पर एकाधिकार स्थापित कर लिया और सारी शासन-सत्ता अपने हाथ में ले ली। ७५० ई० पू० में राजा का अधिकार नाममात्र ही रह गया। एथेन्स में राजा की सहायता के लिए एक सेनापति तथा एक आर्खन (Archon) नामक शासक कुलीनों में से चुना जाने लगा। एथेन्स में राजा का कार्य केवल धार्मिक कार्यों में प्रजा का नेतृत्व करना रह गया। वास्तविक शक्ति आर्खन के हाथ में थी। इस प्रकार कुलीनतन्त्र (Aristocracy) स्थापित होने पर किसानों तथा कारीगरों पर कुलीन मनमाने ढंग से शासन करने लगे। उस समय एथेन्स में कोई लिखित कानून न थे, इनके अभाव में जनता को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था। उसने कानूनों के लेखबद्ध करने की माँग की और एक आर्खन ड्रेको (Draco) ने ६२१ ई० पू० में इन्हें लिखित रूप दिया। ये कानून बहुत कठोर थे।

इसी बीच में एथेन्स में उद्योग और व्यापार में बड़ी उन्नति हुई। एट्टिका में चांदी की और संगमरमर की खानों का विकास हुआ, मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ, सुन्दर गुलदस्ते और पात्र बनने लगे, शराब और ज़ैतून का तेल महत्वपूर्ण उद्योग बने। एथेन्स के कुलीनों के लिए मिलेटस शहर से ऊनी चोगे, कोरिन्थ से प्याले, कैल्सिस (Chalsis) से कांसे के बर्त्तन तथा अन्य विलास-सामग्री आने लगी। जहाज़ों द्वारा गेहूं बाहर से मंगाया जाने के कारण इसका दाम गिर गया, किसानों को बड़ा घाटा उठाना पड़ा, उनकी ज़मीनें महाजनों और अमीरों के हाथ में जाने लगीं, कई बार कर्ज़ अदा न होने के कारण उन्हें अपने को बन्धक (Mortgage) रखना पड़ता था और ये अपने बच्चों को दास के रूप में बेचने को विवश होते थे।

५९५ ई० पू० में आर्खन (Archon) निर्वाचित होने वाले सोलन ने कुछ नये सुधारों और कानूनों द्वारा इस शोचनीय दशा को दूर करना चाहा। वह स्वयं कुलीन एवं धनी होते हुए भी गरीबों के साथ न्याय करना चाहता था। उसने कानूनों द्वारा कर्ज के कारण दास बने व्यक्तियों को मुक्त कर दिया। गिरवी और बन्धक की हुई सब ज़मीनें किसानों को लौटा दीं। उसके सुधारों से दरिद्र वर्ग को कुछ सुख-सुविधा मिली, किन्तु शासन-सत्ता अमीरों और कुलीनों के हाथ में बनी रही। सोलन ने राजनीतिक शक्ति का आधार जन्म के स्थान पर धन को बनाया, असेम्बली और सीनेट के द्वार सब नागरिकों के लिए खोल दिये।

७०० से ५०० ई० पू० तक यूनानी नगर-राज्यों में तानाशाहों या निरंकुश शासकों (Tyrants) का आविर्भाव हुआ। आजकल Tyrant अत्याचारी शासक माना जाता है, किन्तु पुराने यूनान में ये जनता के अधिकारों के प्रबल समर्थक और वेतनभोगी सैनिकों के बल पर कुलीनों से जबर्दस्ती राजसत्ता हस्तगत करने वाले तानाशाह थे। ये बाद में स्वयंमेव निरंकुश शासक बन गये और इनके विरुद्ध कुलीन वर्ग एवं जनता ने विद्रोह करके इनसे सत्ता छीन ली। एथेन्स में ५६० ई० पू० में निरंकुश शासन स्थापित करने वाला पिसिस्ट्रैटस (Piscistratus) था। तीस वर्ष तक वह एथेन्स का सैनिक शासक बना रहा, उसने तथा उसके पुत्रों ने टायरेण्ट के रूप में जनकल्याण के अनेक कार्य किये। किन्तु ५१० ई० पू० में कुलीनों ने स्पार्टा की सहायता से निरंकुश शासन (Tyranny) का अन्त कर पुनः यहाँ अल्पतंत्र (Oligarchy) स्थापित किया।

किन्तु इस समय क्लिस्थेनीज़ के सुधारों के कारण एथेन्स ने लोकतन्त्र का रूप धारण किया, उसने नागरिकता का अधिकार अधिक लोगों को दिया। पुरानी जातियों (Tribes) को नये ढंग से व्यवस्थित किया, पाँच सौ सदस्यों की प्रतिनिधि परिषद् (Boule) को नया रूप दिया, सेना में सुधारों के साथ निर्वासन (Ostricism[1]) की व्यवस्था की, इसके अनुसार राज्य के नागरिक राज्य देश के लिए खतरनाक समझे जाने वाले किसी भी ऐसे व्यक्ति को अपने वोट द्वारा निर्वासन का दण्ड दे सकते थे। क्लिस्थेनीज़ यूनानी लोकतन्त्र का पिता कहा जाता है।

क्लिस्थेनीज़ के सुधारों के कारण एथेन्स ने थेमिस्टोक्लीज़ (Themistocles) के नेतृत्व (४६३–४७३ ई० पू०) में स्पार्टा तथा अन्य यूनानी राज्यों के साथ ईरानी आक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया। ४६० ई० में मैराथान के युद्ध में तथा २३ सितम्बर ४८० को सालामिस (Salamis) के जलयुद्ध में तथा ४७९ ई० में प्लाटिया के स्थलयुद्ध में यूनानियों ने ईरानी सेना को बुरी तरह हराया। इन सफलताओं का एथेन्स और यूनान पर गहरा प्रभाव पड़ा। ईरान के प्रतापी सम्राट् को हरा देने पर उनमें गहरा आत्मविश्वास और स्वाभिमान उत्पन्न हुआ। एथेन्स इस युद्ध में समुद्री सेनाओं का तथा स्पार्टा स्थलीय सेनाओं का नेतृत्व कर रहा था। एथेन्स ने ईरानी आक्रमणों से रक्षा करने, शक्तिशाली बेड़ा बनाने तथा इसके व्यय का वहन करने के लिए एशियाई तट के नगर-राज्यों और टापुओं के साथ मिलकर एक संघ बनाया (४७७ ई० पू०)। यह शनैः-शनैः एथेन्स के साम्राज्य में परिणत हो गया। एथेन्स के व्यापार और वाणिज्य में असाधारण वृद्धि हुई और पेरीक्लीज़ (४६१–४२९ ई० पू०) के नेतृत्व में एथेन्स का स्वर्ण युग शुरू हुआ। इसी समय एथेन्स का स्पार्टा के साथ संघर्ष छिड़ गया। स्पार्टा के लिए एथेन्स का उत्कर्ष असह्य था। उसने दक्षिणी यूनान के राज्यों के साथ मिलकर पेलोपोनेशियन संघ (Peloponessian League) बनाया था। स्पार्टा के साथ पहला युद्ध ४५९–४४६ ई० पू० तक, दूसरा युद्ध ४३१ से ४२१ ई० पू० तथा तीसरा युद्ध

---

१. यह ओस्ट्रेकोन (Ostrakon) शब्द से बना है। इसका अर्थ है कि मिट्टी का ठीकरा। एथेन्स में जब जनता राज्य के हित की दृष्टि से किसी व्यक्ति का नगर-राज्य में रहना ठीक नहीं समझती थी, तो ठीकरों पर उसका नाम लिख देती थी, ऐसा व्यक्ति एथेन्स से निर्वासित कर दिया जाता था।

४१३ ई० पू० से ४०४ ई० पू० तक चलता रहा। इनमें एथेन्स का पूर्ण पराभव हुआ, उसे स्पार्टा के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा, उसकी राजनीतिक प्रभुता सर्वथा क्षीण हो गयी। किन्तु एथेन्स के इस घोर अपकर्ष के बाद वहाँ तीन बड़े विचारक—सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू उत्पन्न हुए। शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने के बाद पतन के गहरे गर्त्त में गिरने पर विचारशील एथेन्सवासियों में उत्थान और पतन के कारणों पर मीमांसा और विचार-विमर्श की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक था।

पेरीक्लीज़ का युग एथेन्स के लोकतन्त्र का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस समय सारी शासन-सत्ता सब नागरिकों की असेम्बली में निहित थी। असेम्बली युद्ध एवं संधि करने तथा सरकारी अधिकारियों को नियुक्त और मुक्त करने का अधिकार रखती थी। इसकी आज्ञायें कानून मानी जाती थीं। शासन के कार्यों का संचालन करने के लिए ५०० व्यक्तियों की एक परिषद् प्रतिवर्ष लाटरी द्वारा चुनी जाती थी। इसके अध्यक्ष भी पर्ची डाल कर चुने जाते थे। जनता १० सेनापतियों का भी चुनाव करती थी, ये सैनिक तथा राजनीतिक मामलों का संचालन करते थे। न्यायालय में ४०१ या ५०१ जज होते थे, ये भी पर्ची डाल कर निर्वाचित होते थे। न्यायाधीश के काम तथा असेम्बली में उपस्थित होने के लिए कुछ वेतन दिया जाता था। एथेन्स में शासन में दिलचस्पी लेना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य समझा जाता था। पेरीक्लीज़ ने ४३० ई० पू० में अपनी एक सुप्रसिद्ध वक्तृता में घोषणा की थी, "हम सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी न लेने वाले व्यक्ति को निकम्मा समझते हैं।"

एथेन्स में लोकतन्त्र स्थापित हो जाने पर यहाँ पार्टीबाज़ी और धड़ेबन्दी का काफी ज़ोर था, निर्धन लोकतन्त्रीय तथा धनिक अल्पतन्त्रीय (Oligarchic) तत्वों में निरन्तर संघर्ष बना रहा। एथेन्स के लोकतन्त्र की एक बड़ी कमी यह थी कि यहाँ शासन का अधिकार केवल नागरिकों को प्राप्त था। बार्कर के कथनानुसार यहाँ की आबादी में नागरिकों की संख्या केवल ४० हजार थी, ८०,००० दास थे और शेष नागरिकता न रखने वाले विदेशी,[1] इस प्रकार इसके ८ या ९ निवासियों में एक नागरिक तथा ४ या ५ व्यक्तियों में एक दास था।[2] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वहां १२% व्यक्ति ही शासन का अधिकार रखते थे और २५% दास थे। इतनी कम संख्या को शासन का अधिकार देने वाली प्रणाली सच्चा लोकतन्त्र नहीं कहला सकती।

स्पार्टा की शासन-व्यवस्था— यह एथेन्स से सर्वथा भिन्न कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के समूह द्वारा संचालित अल्पतन्त्र (Oligarchy) का सुन्दर उदाहरण था। दक्षिणी यूनान में ट्राय के युद्ध के बाद यूनानी योद्धाओं ने यहाँ अपने शासन की स्थापना करके सारी भूमि बड़े सरदारों में बाँट ली और मूल निवासियों को दास बना कर उनसे खेती का काम लेने लगे। जनसंख्या बढ़ने पर जब अधिक भूमि की आवश्यकता हुई तो उन्होंने मिलेटस आदि नगरों की भाँति दूसरे देशों में नई बस्तियाँ नहीं बसायीं, किन्तु समीपस्थ प्रदेशों को अपनी सैनिक शक्ति से पराधीन बनाना शुरू किया। इनमें मेसेनिया (Messenia) का प्रदेश था। ७वीं शताब्दी में स्पार्टा की शक्ति से आशंकित अन्य

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३१।

२. वही, पृ० ३२।

राज्यों के सहयोग से मेसेनिया ने स्पार्टा के विरुद्ध प्रबल विद्रोह किया, इसने स्पार्टा राज्य को इतना परेशान किया कि उन्होंने भविष्य में ऐसे विद्रोह का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए कठोर सैनिक प्रशिक्षण और अनुशासन की व्यवस्था को अपनाया। बच्चा पैदा होते ही, वे उसके निर्बल होने पर उसे पहाड़ की चोटी से फेंक देते थे। केवल सुदृढ़ और बलवान् बच्चों को ही जीने दिया जाता था, सात वर्ष की आयु से सैनिक शिक्षा दी जाती थी। बच्चों के कष्ट सहन करने की शक्ति की परीक्षा के लिए उन्हें साल में एक बार कोड़ों से बुरी तरह पीटा जाता था और उनसे यह आशा रखी जाती थी कि वे इसमें उफ तक न करें। लड़कियों को भी बचपन से ही पहलवानी की शारीरिक शिक्षा दी जाती थी ताकि वे सबल सन्तान उत्पन्न कर सकें। शासक वर्ग के मनुष्य घरों में नहीं, सैनिक कैम्पों में रहा करते थे। प्रौढ़ावस्था तक सैनिक जीवन बिताने के बाद ये शासन संचालन का भार संभालते थे। इनका जीवन सामूहिक ढंग का तथा बड़ा कठोर होता था।

स्पार्टा की जनता तीन वर्गों में बँटी हुई थी, शासक वर्ग के ३० हजार स्पार्टन (Spartiates) सदैव सैनिक प्रशिक्षण तथा क्षत्रियोचित कार्यों में व्यापृत रहते थे। शेष ६ लाख जनता दो वर्गों में विभक्त थी— (१) हेलट (Helot)— ये स्पार्टा तथा आस-पास के प्रदेशों को जीतने के बाद दास बनाये गये वहाँ के मूल निवासी थे, इनका कार्य शासक वर्ग के जमीन्दारों की ज़मीनों पर खेती करना था, ये भूदास (Serf) थे, जमीनों को छोड़कर कहीं नहीं जा सकते थे। (२) दूसरा वर्ग पेरियोएसी (Perioeci) का था। ये व्यापारिक कार्यों और उद्योग-धन्धों में लगे हुए थे। इनसे हेलटों को दबाने तथा आक्रान्ताओं को हराने में मदद ली जाती थी। राज्य की ओर से शासक वर्ग के प्रत्येक स्पार्टन (Spartiate) को भूमि तथा हेलट (दास) खेती करने के लिए दिये जाते थे और वह इनकी सहायता से जीवन निर्वाह करता था।

स्पार्टा की आरम्भिक शासन-व्यवस्था में दो राजा तथा ३० सदस्यों की एक वृद्ध परिषद् (Council of Elders) या Gerosia होती थी। इस परिषद् में दो राजा भी सम्मिलित होते थे। राजा और वृद्ध परिषद् पर नियन्त्रण रखने के लिए पाँच ईफोर (Ephor) भी चुने जाते थे।[१] कानून निर्माण का अधिकार ३० वर्ष से अधिक आयु के सभी स्पार्टनों की असेम्बली को होता था। पेरियोएसी तथा हेलट वर्ग सब प्रकार के राजनीतिक अधिकारों से वंचित था। शनैः-शनैः यहाँ ईफोरों का प्रभाव बढ़ने लगा। स्पार्टन भूमिपतियों में जो व्यक्ति सार्वजनिक भोजन व्यवस्था में अपने खाने का व्यय नहीं दे सकते थे, वे शासन कार्य में भाग लेने से वंचित कर दिये जाते थे। इस प्रकार स्पार्टा की शासन-शक्ति कुछ मुट्ठीभर लोगों के हाथ में केन्द्रित हो गयी और यह

---

१. स्पार्टा ने पेलोपोनेशियन युद्धों में कुछ समय के लिए एथेन्स में भी यह प्रणाली चलाने का प्रयत्न किया था। स्पार्टन सेनापति लिसेण्डर ने क्रिटियास् आदि ३० निरंकुश शासकों (Tyrants) को एथेन्स का नया संविधान बनाने को कहा तथा अल्पतन्त्र (Oligarchy) के समर्थक पांच सौ व्यक्तियों की एक परिषद् बनायी। किन्तु थ्रेसी बुलस के नेतृत्व में जनतन्त्रवादियों ने इसका विरोध किया तथा ४०३ ई० पू० में एथेन्स में पुनः लोकतन्त्र स्थापित हो गया।

अल्पतन्त्र (Oligarchy) बन गया। स्पार्टा को अपनी कठोर सैनिक प्रशिक्षण व्यवस्था के कारण युद्धों में बड़ी शानदार सफलतायें मिलीं, इन में सबसे प्रसिद्ध उदाहरण थर्मापली के दर्रे पर लिओनीडास के नेतृत्व में स्पार्टा के तीन सौ सैनिकों का ईरान के सम्राट् जरक्सीज की विशाल सेना का प्रतिरोध करते हुए आत्मबलिदान करना था। अतः यूनान के राजनीतिक चिन्तन पर स्पार्टा की प्रणाली का गहरा प्रभाव पड़ा। प्लेटो के आदर्श राज्य का एक बड़ा प्रेरणा स्रोत स्पार्टा था।

नगर-राज्यों का राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव—स्पार्टा, एथेन्स तथा यूनान के अन्य नगर-राज्यों ने राजनीतिक चिन्तन के विकास में कई प्रकार से सहयोग दिया। इन राज्यों की शासन-प्रणाली स्थिर या एकरस नहीं थी। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इनमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहे। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, निरंकुश राजतन्त्र और प्रजातन्त्र क्रमशः एक-दूसरे का स्थान लेते रहे। इन प्रणालियों में परिवर्तन दो रूपों में राजनीतिक चिन्तन में सहायक हुआ :

(१) इन परिवर्तनों ने विभिन्न शासन-प्रणालियों के अन्वेषण के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की। यदि ये परिवर्तन न हुए होते तो यूनानियों को विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन एवं विवेचन की सामग्री न मिल पाती।

(२) कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के संघर्ष ने भी राजनीतिक चिन्तन को प्रोत्साहित किया। कुलीन लोगों के पुराने राजनीतिक अधिकार यद्यपि समाप्त हो गये थे, फिर भी धन और जन्म के आधार पर उनके सामाजिक विशेषाधिकार बने हुए थे, उद्योगों के आर्थिक विकास के कारण उनकी सम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। वे अपने पुराने अधिकारों को प्राप्त करना चाहते थे। लोकतन्त्र स्थापित हो जाने पर भी वह पूरी तरह सुदृढ़ नहीं हुआ। एथेन्स में ४११ ई० पू० में तथा ४०४ ई० पू० में जनतन्त्र के स्थान पर अल्पतन्त्र स्थापित करने के विफल प्रयत्न हुए। इस संघर्ष में कुलीन अपना पक्ष पुष्ट करने के लिए कौलीन्य एवं सम्पत्ति के आधार पर अनेक युक्तियाँ देते थे। लोकतन्त्र को इसके विरुद्ध अपने पक्ष का पोषण करने के लिए युक्तियों की आवश्यकता थी। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। इसने वहाँ लोकतन्त्र के पक्ष में राजनीतिक चिन्तन को जन्म दिया। सोलन (६३९–५५९ ई० पू०) के समय से प्लेटो तथा अरस्तू (चौथी श० ई० पू०) के काल तक यूनानी विचार का एक मुख्य विषय कुछ गुणी एवं बुद्धिमान् कुलीनों के तथा लोकतन्त्र के शासन के गुण-दोषों की विवेचना करना रहा है। जिस प्रकार १८वीं शती में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र के संघर्ष से सामाजिक संविदा (Social Contract) जैसे राजनीतिक सिद्धान्तों का विकास हुआ, उसी प्रकार छठी से चौथी शताब्दी ई० पू० में होने वाले कुलीनतन्त्र एवं लोकतन्त्र के संघर्ष ने राजनीतिक चिन्तन को प्रबल प्रोत्साहन दिया।

सोफिस्ट—उपर्युक्त कारणों से पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में एथेन्स में राज्य-विषयक चिन्तन का आविर्भाव हुआ। इसे आरम्भ करने का श्रेय सोफिस्ट विचारकों को है। यूनानी भाषा में Sophistes बुद्धिमान् व्यक्ति को कहते हैं। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में यह नाम एथेन्स में अन्य यूनानी नगरों से आकर वहाँ के धनी और कुलीन युवकों को विभिन्न विद्याओं—अलंकारशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन आदि की शिक्षा देने वाले गुरुओं को दिया जाता था। विविध विद्याओं का आगार होने के कारण ये बुद्धिमान् या

सोफिस्ट समझे जाते थे। ये अपनी शिक्षा सदैव फीस या द्रव्य लेकर ही दिया करते थे। कालिदास के शब्दों में ये ज्ञानपण्यवणिक् थे। इनकी तुलना आजकल के प्रोफेसरों से की जाती है, जो वेतन लेकर विभिन्न विषयों का अध्यापन करते हैं। उस समय के एन्थेस में सार्वजनिक शिक्षा और विद्यालयों की कोई व्यवस्था नहीं थी, ये इस अभाव को दूर करके पैसा देने में समर्थ नागरिकों को शिक्षा प्रदान करते थे। इनके उत्कर्ष का कारण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं।

लोकतन्त्र में भाषण-कला का बहुत महत्व होता है, युद्ध के समय इसका गौरव और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि सभी बड़े निर्णय असेम्बलियों में भाषणों द्वारा ही तय किये जाते हैं। एथेन्स में न केवल नागरिकों की महासभाओं में नीति का निर्धारण होता था, किन्तु शासकों और सेनापतियों पर मुकद्दमे भी चलाये जाते थे। उस समय जिस राजनीतिज्ञ में भाषण-कला द्वारा जनता को मन्त्रमुग्ध और प्रभावित करने की शक्ति नहीं होती थी, वह न तो अपने निर्णयों को जनता से समर्थित करा सकता था और न ही उस पर अभियोग चलने की दशा में वह अपनी रक्षा भी कर सकता था। अतः राजनीतिज्ञों को आत्म-रक्षा के लिए उत्तम भाषण-कला का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। इसके अतिरिक्त उस समय एथेन्स में यद्यपि लोकतन्त्र था, किन्तु यह इंगलैंड के १९वीं सदी के लोकतन्त्र की भाँति था, जिसमें वास्तविक शासन-सत्ता समृद्ध एवं कुलीन वर्ग तक सीमित थी। साधारण जनता इस वर्ग से एक तो धनी होने के कारण बहुत ईर्ष्या रखती थी और दूसरा इसे अधार्मिक और अनैतिक, पुराने विश्वासों का विरोधी एवं लोकतन्त्र के विनाश की इच्छा रखने वाला समझा जाता था। एथेन्स की न्याय-व्यवस्था में जज बहुत बड़ी संख्या में लाटरी डालकर चुने जाते थे, वे कानून का कोई विशेष ज्ञान न रखने वाले साधारण नागरिक होते थे। इनके सामने वही अपना मुकद्दमा जीत सकता था, जो उत्कृष्ट भाषण-कला द्वारा जजों की भावनाओं को भड़का कर अपने पक्ष में कर सके। उस समय राजनीतिज्ञों पर ऐसे मुकद्दमे प्रायः चला करते थे। ४३१ ई० पू० में स्पार्टा के साथ युद्ध छिड़ने पर पेरीक्लीज़ जैसे राजनीतिज्ञ पर १५०१ जजों के न्यायालय में सार्वजनिक द्रव्य के गबन का अभियोग चला तथा उस पर जुर्माना किया गया। फीडियास (Pheidias), एनेक्सेगोरस (Anaxagorus) और एस्पेशिया (Aspasia) पर भी अभियोग चले थे। अतः कुलीन राजनीतिज्ञों के लिए भाषण-कला में दक्षता पाना नितान्त आवश्यक हो गया और इस आवश्यकता को पूरा करने के कारण सोफिस्ट उस समय बड़े लोकप्रिय हुए।

इन सोफिस्टों में आबदेरावासी प्रोटेगोरस (४८०–४११ ई० पू०), किओस-वासी प्रोडिकस, एलिसवासी हिप्पियास तथा तिसियावासी गोर्जियास (Gorgias) उल्लेखनीय हैं। पिछले दो व्यक्ति ४२७ ई० पू० में सिसली के एक राज्य लिओन्तिनी (Leontini) के दूतमण्डल के साथ एथेन्स आये थे और एथेन्सवासी इनकी भाषणशैली और प्रवाह पर मुग्ध थे। गोर्जियास (४८० ई० पू० से ३८० ई० पू० लग०) ने डेल्फी तथा ओलिम्पिया में उत्तम भाषण देकर समूचे यूनान में बहुत ख्याति उपलब्ध की और वह बड़ी ऊंची फीस लेकर ही विद्यार्थियों को पढ़ाया करता था। सोफिस्टों ने ग्रीक गद्य में क्रान्ति उत्पन्न की, भाषा-संबंधी विभिन्न विज्ञानों – व्याकरण, अर्थ-विज्ञान, वाक्य-रचना-विज्ञान, तर्कशास्त्र की उन्नति की। इनका मुख्य उद्देश्य

युक्ति करना एवं तर्क करना सिखाना था, और इसमें इन्होंने इतनी प्रगति की कि अन्त में इन्हें हेत्वाभासपूर्ण कुतर्क (Sophistry) करने के लिए बदनाम किया गया। किन्तु आरम्भ में ये शब्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, गणित, नीतिशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, ज्योतिष, संगीत, कविता आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान देने वाले थे। यहाँ इनके राजनीतिक विचारों का ही परिचय दिया जायगा।

सोफिस्टों के सिद्धान्त— प्रोटेगोरस का मत— (क) सत्य की सापेक्षता : मानव मानदण्डवाद— सोफिस्टों का पहला सिद्धान्त सत्य की सापेक्षता थी। इनके कथनानुसार सत्य का अन्तिम और पूर्ण रूप हम नहीं जान सकते, प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि से किसी बात को सत्य समझता है, यह आवश्यक नहीं कि वह अन्तिम रूप से उसी तरह सत्य हो। पीलिया का रोगी सब वस्तुओं को पीला देखता है, उसके लिए सब वस्तुओं का इसी रूप में देखना सत्य है। किन्तु उन्हीं वस्तुओं को दूसरा स्वस्थ व्यक्ति पीला नहीं देखता, उसके लिए यही सत्य है। प्रसिद्ध सोफिस्ट प्रोटेगोरस ने इस विचार को अपने इस सिद्धान्त में प्रकट किया था कि "मनुष्य सब वस्तुओं का मापदण्ड या नपैना है (Man is the measure of all things)। उन सब वस्तुओं का भी, जो विद्यमान हैं तथा उन सभी वस्तुओं का भी जो नहीं हैं।" इसका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति सब वस्तुओं का मापदण्ड है और जब मनुष्यों के विचारों में भेद हो तो हमारे पास सत्य की ऐसी कोई अनात्मनिष्ठ या वस्तुगत (Objective) कसौटी नहीं है, जिससे किसी एक विचार को सत्य और दूसरे को असत्य ठहराया जा सके। सत्य सब व्यक्तियों की दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं, कोई विचार अन्तिम या ऐकान्तिक सत्य नहीं है। यह सिद्धान्त भारतीय दर्शन में जैनियों के स्याद्वाद से सादृश्य रखता है।

यह व्यष्टिवाद (Individualism) पर बहुत बल देता है। यदि वस्तुतः सब वस्तुयें वैसी ही हैं, जैसी विभिन्न मनुष्यों को प्रतीत होती हैं तो नैतिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त को लागू करने से बड़ी अनभीष्ट स्थिति उत्पन्न हो जायगी। सत्-असत्, न्याय-अन्याय का विवेक समाप्त हो जायगा। बलवान् के लिए यही न्याय होगा कि वह निर्बलों को सताये क्योंकि उसे यही सत्य प्रतीत होता है। आगे यह बताया जायगा कि बाद के सोफिस्ट विचारक शक्ति की न्याय्यता (Might is right) के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। किन्तु प्रोटेगोरस इस हद तक जाने को तय्यार नहीं था। उसका यह कहना था कि कई सत्यों में एक प्रबल हो सकता है और युक्तियों द्वारा इसे सत्य बनाया जा सकता है। यह सामान्य (Normal) व्यक्ति द्वारा नापा गया या ज्ञात किया गया सत्य होता है और इसे सब लोगों की सामान्य बुद्धि (Common sense) द्वारा ज्ञात किया गया होने के कारण अधिक प्रामाणिकता दी जानी चाहिए। ऊपर दिये गये उदाहरण में पीलिया के रोगी द्वारा बताया जाने वाला वस्तुओं का पीला रंग सत्य अवश्य है किन्तु उससे अधिक प्रबल सत्य यह है कि स्वस्थ व्यक्तियों ने श्वेत वस्तुओं को श्वेत रंग में देखा है। यह सब की सामान्य बुद्धि द्वारा निश्चित हुआ है, अतः यह अधिक प्रामाणिक है। प्रोटेगोरस के मानव के मापदण्ड होने (Homo mensura) के सिद्धान्त का यथार्थ अभिप्राय यही है। इस कारण उसे पहला व्यवहारवादी दार्शनिक (Pragmatist) होने का श्रेय दिया जाता है। सत्य की कोई वास्तविक कसौटी न होने के कारण उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार वही वस्तु सत्य मानी जानी चाहिए जिसे

अधिकांश व्यक्ति सत्य समझें। अतः प्रोटेगोरस कानून, रूढ़ि और परम्परागत नैतिकता का कट्टर समर्थक था। यद्यपि देवताओं के विषय में उसने लिखा था कि "मुझे इस बात का निश्चय नहीं है कि वे हैं या वे नहीं हैं या उनका आकार किस प्रकार का है, क्योंकि इस विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्त करने में अनेक वस्तुयें बाधक हैं और यह विषय बहुत दुरूह है।" फिर भी वह देवताओं की पूजा करने का पक्षपाती था। वह राज्य को शिक्षा देने वाली संस्था मानता था। उसका कहना था कि जैसे शिक्षक उत्तम कवियों के सन्दर्भ शिष्यों के आगे प्रस्तुत करके, उन्हें कंठस्थ करा के काव्य-शास्त्र की शिक्षा देते हैं, वैसे ही नगर-राज्य अपने नागरिकों के आगे अच्छे कानून रख कर तथा उनका पालन कराके उन्हें अच्छा बनाता है। समाज और राज्य की उत्पत्ति के संबंध में वह विकास की तीन अवस्थायें मानता है।[1] **पहली अवस्था** में मनुष्य खेती एवं उद्योगों की कला जानते थे, किन्तु नगरों में राजनीतिक संगठन बना कर रहने की कला से अनभिज्ञ थे। शहरों में न रहने से वे जानवरों का शिकार बनते थे। इस प्राकृतिक दशा से रक्षा करने के लिए **दूसरी अवस्था** में उन्होंने नगरों की स्थापना की, किन्तु वे राजनीतिक जीवन की कला नहीं जानते थे, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को हानि पहुँचाता और नष्ट करता था। इन्हें विनाश से बचाने के लिए **तीसरी अवस्था में** ज़्यूस (Zeus) ने हर्मीज़ को मनुष्यों में भेजा, वह अपने साथ आदर और न्याय के सिद्धान्तों को लाया, उसने मनुष्यों में सुशासन एवं व्यवस्था स्थापित की और राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य भगवान् द्वारा स्थापित की गयी आध्यात्मिक संस्था है, शासकों के प्रति आदर और न्याय के आधार पर प्रतिष्ठित है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रोटेगोरस कानून को ऊंचा स्थान देता है, वह परवर्त्ती सोफिस्टों की भाँति कानून और प्रकृति (Nature) में विरोध नही मानता।[2]

(ख) मानवीयता -- सोफिस्टों का दूसरा सिद्धान्त **मानवीयता** (Humanism) था। इसे दक्षिणी इटली के लिओन्तीनी राज्य से ४२७ ई० पू० में एथेन्स में आने वाले गोर्जियास (Gorgias) ने बड़ी प्रबलता से स्थापित किया। उन दिनों यूनान में आयोनिया (लघु एशिया-टर्की) के भौतिकवादी (Physicists) दार्शनिकों का बोल-बाला था। वे जड़ प्रकृति के अध्ययन पर बहुत बल देते थे, भौतिक जगत् को संचालित करने वाले नियमों और इसके मूल तत्वों के अध्ययन में संलग्न थे। गोर्जियास इसे बिल्कुल बेकार और निरर्थक समझता था। उसने प्रबल सदेहवाद (Agnosticism) द्वारा इनका खोखलापन सिद्ध किया। उसका कहना था कि इस संसार में "किसी वस्तु की सत्ता नहीं है, यदि है तो इसे जाना नहीं जा सकता। यदि जाना जा सकता है तो इसे दूसरे पर प्रकट नहीं किया जा सकता।" इस दशा में भौतिक दर्शन का अध्ययन सर्वथा निष्फल है। मनुष्य के अध्ययन का सर्वोत्तम विषय मनुष्य है, अतः मनुष्य से संबंध रखने वाले शास्त्रों और विषयों का चिन्तन होना चाहिए। बार्कर ने लिखा है कि यदि उसने अपने संदेहवाद के कारण यह दावा किया कि इस संसार में कुछ भी सत्य नहीं है तो उसका अर्थ केवल यही था कि आयोनियन दार्शनिक जिस सत्य का वर्णन

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६२।
२. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६१।

करते हैं, उसकी कोई सत्ता नहीं है। उसका यह अभिप्राय नहीं था कि कोई नैतिक सत्य नहीं है अथवा शक्ति ही संसार में न्यायोचित होती है। किन्तु अन्य सोफिस्टों ने ऐसा सिद्धान्त माना।

(ग) कानून और न्याय-संबंधी विभिन्न मत—सोफिस्टों का तीसरा बड़ा सिद्धान्त कानून और न्याय के स्वरूप के संबंध में था। इनमें कुछ लोगों ने यहाँ तक कहा था कि शक्तिशाली जो भी करे, वह ठीक होता है। 'राजा करे सो न्याव, पासा पड़े सो दांव' का मत इन्हें मान्य था। इनमें कई प्रकार के मन्तव्य रखने वाले विचारक थे। सब के सामने मुख्य समस्या न्याय का स्वरूप निर्धारण करने की थी। सोफिस्टों ने अपने प्रबल संदेहवाद के कारण कानून के उद्गम और इसके पालन करने की पुरानी धारणाओं को सर्वथा अमान्य ठहराया। इस विषय में उनका तर्क यह था कि कानून यद्यपि सब देशों में पाये जाते हैं, किन्तु विभिन्न नगरों और देशों के कानूनों में बड़ा वैविध्य है। कई बार एक स्थान के कानून जो विधान बनाते हैं, दूसरे देशों की विधियां उसका खण्डन या निषेध करती हैं। इस अवस्था में इन कानूनों को न तो देवताओं की आज्ञा कहा जा सकता था और न ही मनुष्य के स्वभाव में विद्यमान कुछ सिद्धान्तों का परिणाम समझा जा सकता था। ये वस्तुतः विभिन्न समयों और स्थानों की आवश्यकतायें पूरी करने के लिए कृत्रिम रूप से मनुष्यों द्वारा बनाये जाते हैं। सोफिस्टों में इस प्रश्न पर मतभेद था कि राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों का प्रकृति द्वारा बनाये जाने वाले नियमों के साथ क्या संबंध है और किस कानून को न्यायोचित मानना चाहिए। इस विषय में पाँच प्रकार के मत थे :—

(१) हिप्पियास का मत—सर्वतोमुखी प्रतिभा रखने वाले एलिस के हिप्पियास (Hippias of Elis)[1] ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कानून दो प्रकार के हैं—ईश्वरीय या देवनिर्मित तथा मनुष्यनिर्मित। कुछ ऐसे अलिखित कानून और व्यवस्थायें हैं, जो सब देशों में एक जैसी मिलती हैं। जिन्हें कभी मनुष्यों ने मिलकर एवं सोचकर नहीं बनाया, ये व्यवस्थायें मानव-समाज में देवताओं से आयी हैं। ये सार्वभौम, सार्वकालिक और स्वाभाविक हैं, इनकी तुलना रोमन कानून के Jus Naturale से की जा सकती है। दूसरे प्रकार के कानून प्रत्येक राज्य के व्यक्तियों द्वारा बनाये गये हैं, ये मनुष्य-निर्मित हैं। देवनिर्मित, प्राकृतिक एवं ईश्वरीय कानून मानव-निर्मित कानूनों से उत्कृष्ट एवं प्रबल हैं।

कुछ सोफिस्टों ने प्रकृति (Nature) के और राज्य के कानून (Law) में द्वित्व और स्वाभाविक विरोध मानते हुए नैतिक क्षेत्र में उसी प्रकार का सिद्धान्त निश्चित किया, जैसा लघु एशिया में होने वाले थेल्स आदि आयोनियन दार्शनिक प्राकृतिक जगत् के संबंध में मान चुके थे। आबदेरा (थ्रेस) वासी डेमोक्रीटस (Democritus) ने कहा था कि इस जगत् में यद्यपि हमें रूप और गन्ध दिखाई देती है, किन्तु वस्तुतः ये अणु

---

१. एलिस दक्षिणी यूनान में समुद्र तट पर एक राज्य था। हिप्पियास गणितशास्त्री, पुराणवेत्ता (Mythologist), नीतिशास्त्र, संगीतशास्त्र और कला का विद्यार्थी, ऐतिहासिक, राजनीतिज्ञ तथा अनेक विषयों पर लिखने वाला था तथा ओलिम्पिक के खेलों में अपने हाथ से बनाये हुए वस्त्र पहनकर उपस्थित हुआ था (बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५८)।

तथा शून्य है। इस प्रकार व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य में उन्होंने विरोध स्वीकार करते हुए कहा कि व्यावहारिक जगत् में हमें जो सचाई दीख पड़ती है, वह वास्तव में वैसी नहीं है। इसी प्रकार सोफिस्ट नैतिक जगत् में ऊपर से दिखाई देने वाले सत्य को वास्तविक सत्य का विरोधी समझते हैं।

(२) **एण्टीफोन का मत**—इसने कानून का प्रतिपादन करते हुए लिखा था कि मनुष्यों के लिए प्रकृति के कानून (Law of Nature) का यह स्वरूप है कि वे मृत्यु से बचें और जीवन को सुखपूर्वक बितायें। अतः मनुष्य स्वाभाविक रूप से ऐसी बातें करते हैं, जो जीवन को बढ़ाने तथा आनन्दमय बनाने वाली हों, असुविधा या मृत्यु का निवारण करने वाली हों। हॉब्स (Hobbes) ने भी इसी प्रकार का प्रकृतिवाद माना है, किन्तु वह यह मानता है कि मानव स्वभावतः दूसरे मनुष्यों के साथ सम्पर्क में आने पर उनका प्राणहरण करने वाला होता है, अतः पारस्परिक समझौते द्वारा कानून की बाध्यकारी शक्ति (Coercion) द्वारा उन्हें एक-दूसरे को नष्ट करने से रोका जाता है। किन्तु एण्टीफोन कानून को मनुष्य के प्राकृतिक जीवन का उग्र विरोधी समझता है। मनुष्य स्वभावतः आनन्दपूर्वक रहना चाहता है, किन्तु राज्य का कानून उसकी इस प्रकृति पर प्रतिबन्ध लगाने वाले नियम बनाता है। राज्य के कानून अस्वाभाविक हैं, क्योंकि वे हमें मानवीय स्वभाव के प्रतिकूल और अरुचिकर, जीवन को दुःखी बनाने वाली व्यवस्थाओं का विधान करते हैं, वे हमें यह आदेश देते हैं कि हम अपने पड़ोसियों पर आक्रमण न करें, केवल उनके आक्रमणों से अपनी रक्षा करें। उनकी यह शिक्षा है कि हमारे माता-पिता भले ही हमारे साथ बुराई करें, किन्तु हम उनके साथ भलाई करें। एण्टीफोन इन युक्तियों के आधार पर यह परिणाम तो नहीं निकालता कि राज्य के नियमों की खुल्लम-खुल्ला अवहेलना करनी चाहिए, किन्तु यह अवश्य कहता है कि इन नियमों की उस हद तक उपेक्षा करनी चाहिए, जहां तक मनुष्य इनके उल्लंघन के लिए पकड़ा न जा सके। सामान्य रूप से कानून का पालन करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये प्राकृतिक नियमों के विरोधी हैं और केवल प्राकृतिक नियम ही न्याय्य (Right) हैं।

(३) **ग्लौकोन का मत**—प्लेटो के ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि प्रकृति और कानून के विरोध के संबंध में सोफिस्टों में दो प्रकार के मत थे। **पहला मत** रिपब्लिक में प्लेटो के बड़े भाई ग्लौकोन (Glaucon) ने रखा है, उसने कानून को मनुष्यों में हुए आरम्भिक समझौते का परिणाम होने से न्यायोचित माना है। उसके शब्दों में, "स्वभावतः अन्याय करना अच्छा और अन्याय सहना बुरा है, किन्तु बुराई भलाई से प्रबल होती है, जब मनुष्यों को अन्याय करने और सहने दोनों का अनुभव होता है, तो वे यह सोचते हैं कि वे दोनों के निवारण के लिए आपस में समझौता कर लें, इस कारण कानूनों की उत्पत्ति होती है, आपसी समझौते (Mutual covenants) होते हैं, मनुष्य कानून द्वारा की गई व्यवस्था को वैध तथा न्यायोचित (Just) कहते हैं।"[१] इस सिद्धान्त के अनुसार कानून सब लोगों के स्वेच्छापूर्ण समझौते का परिणाम है, यह इसलिए किया गया है कि समाज में अन्याय का निवारण हो सके। कानून **'बलवानों की**

१. कार्नफील्ड—दी रिपब्लिक ऑफ प्लेटो, पृ० ४२-४३।

शक्ति' से नहीं पैदा हुआ, किन्तु **निर्बल व्यक्तियों के साथ** अन्याय का प्रतिकार करने की इच्छा से उत्पन्न हुआ है। बार्कर के मतानुसार इस प्रकार सामाजिक समझौते के द्वारा कानून की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त डेमोक्रीटस (Democritus) ने भी रखा था। इसमें कानून को प्रकृति से प्रबल माना गया है।

(४) **कैलीक्लीज़ का मत**—किन्तु दूसरी विचारधारा प्रकृति को प्रबल मानती थी। यह सामाजिक समझौते के आधार पर कानून की उत्पत्ति का खण्डन करते हुए केवल मात्र **बलवान् की शक्ति को न्याय और कानून का स्रोत मानती है**, मात्स्य-न्याय के औचित्य पर बल देते हुए यह कहती है कि बलवान् जो करता है, ठीक करता है। इसके **दो रूप हैं**—**पहले** का प्रतिपादन कैलीक्लीज़ (Callicles) ने किया है। उसके अनुसार कानून समझौते का परिणाम नहीं है। कानून वस्तुतः दासत्वपूर्ण नैतिकता का सूचक है। कानून और प्रकृति में से प्रकृति बलवती है। प्राकृतिक नियम ही मानव-जीवन का अनुशासन कर सकते हैं। विषमता प्रकृति का स्वाभाविक नियम है, बलवान् निर्बल की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।[1] बल का आशय केवल शारीरिक बल से नहीं, किन्तु बौद्धिक और मानसिक बल से भी है। बलवान् व्यक्ति की इच्छा ही कानून है, किन्तु वह लोकहित एवं भलाई के लिए होती है। शक्ति का प्रयोग भलाई के लिए किया जाय, तो भले ही वह सामान्य नैतिकता के नियमों के प्रतिकूल हो, किन्तु नैतिकता के उच्च नियमों के अनुकूल होता है। प्राचीन यूनान में इसका सर्वोत्तम उदाहरण हरकुलीज़ है, जिसने अपनी असाधारण शक्ति का प्रयोग मानवीय कल्याण के लिए किया था। यह सिद्धान्त लोकतन्त्र में सबको दी जानेवाली समानता के प्रतिकूल है और वीर महापुरुषों को विशेष गौरव प्रदान करता है। १९वीं शताब्दी में कार्लाइल और नीट्शे ने वीर पूजा और अतिमानव (Superman) के रूप में इसका प्रबल समर्थन किया था। बर्नेट के शब्दों में कैलीक्लीज़ का सिद्धान्त नैतिक शून्यवाद (Ethical Nihilism) नहीं है,[2] यह कुछ विशेष अवस्थाओं में शक्ति को न्यायोचित मानता है।

(५) **थ्रेसीमेकस का मत**—किन्तु केल्सीडोन (Chalcedon) वासी थ्रेसीमेकोस (Thrasymachos) ने शक्ति को ही सब अवस्थाओं में न्यायोचित माना, कानून और न्याय का आधार बल को स्वीकार किया। उसकी दृष्टि में कोई प्राकृतिक अधिकार (Natural Right) नहीं है। शक्तिशाली शासक अपने हित एवं स्वार्थ को सुरक्षित बनाने की दृष्टि से जो व्यवस्था कर दें, वही न्यायपूर्ण एवं उचित (Just) व्यवस्था, अधिकार (Right) तथा कानून बन जाता है। उसके शब्दों में "प्रत्येक सरकार अपने स्वार्थों के अनुकूल कानून बनाती है, लोकतन्त्र लोकतन्त्रीय नियम बनाता है, निरंकुश राजसत्ता निरंकुश कानून बनाती है। इस पद्धति में इन सरकारों ने यह घोषित किया है कि जो बात उनके हितों के अनुकूल है, वह उनकी प्रजा के लिए न्यायोचित (Just) है। इस स्थिति से विचलित होनेवाले को अवैधता तथा अन्याय का दोषी होने के कारण दण्डित किया जाता है। मेरी कल्पना यह है कि उत्कृष्ट शक्ति सदैव सरकार के पक्ष में होती है, अतः उचित तर्क से यही परिणाम निकलता है

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६१।
२. बर्नेट—ग्रीक फिलासफी, पृ० १२१।

कि **शक्तिशाली का हित ही न्यायोचित** है।"[१] 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' का सिद्धान्त और मात्स्य-न्याय का नियम ही ठीक है।

थ्रेसीमेकस अनुभववादी (Empiricist) है, सांसारिक अनुभव के आधार पर उसका यह विश्वास है कि दुनिया में कोई एक, स्थायी, सनातन अधिकार (Right) या न्याय व्यवस्था नहीं है, जो व्यवस्था शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा लागू करा दी जाती है, वही न्यायोचित अधिकार बन जाता है। यदि निर्बल व्यक्ति मिलकर कोई कानून लागू कर देते हैं, तो लागू होने के कारण यह न्याय हो जायगा। कोई वस्तु अपने आप में न्याय्य या अन्याय्य नहीं है, इसका लागू किया जाना इसे न्याय्य बना देता है। इस दृष्टि से आदर्शवादी कैलिक्लीज़ से उसका मतभेद है, क्योंकि वह प्राकृतिक अधिकार को न्यायोचित मानता है। थ्रेसीमेकस हॉब्स की भाँति यह विश्वास रखता है कि सर्वोच्च शक्ति द्वारा बनाई गई व्यवस्था ही न्यायपूर्ण है। यह वस्तुतः नैतिक शून्यवाद (Ethical nihilism) है, क्योंकि यदि मान लिया जाय कि शक्तिशाली जो करता है, वह ठीक है तो निर्बल व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा पर बल देनेवाली नैतिकता का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। बार्कर के मतानुसार यह सोफिस्टों के शून्यवाद का स्वाभाविक परिणाम था।[२] जिस प्रकार गोर्जियास ने बौद्धिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त रखा था कि कोई वस्तु नहीं जानी जा सकती, उसी प्रकार थ्रेसीमेकस ने नैतिक क्षेत्र में संदेहवाद को पुष्ट करते हुए कहा कि हम यह नहीं जान सकते कि कौन-सी वस्तु न्यायपूर्ण और उचित है।

शक्ति को न्याय्य मानने का सिद्धान्त उस समय एथेन्स में बड़ा लोकप्रिय था। सुप्रसिद्ध नाटककार एरिस्टोफेनीज़ के **मेघ** (Clouds) नामक नाटक में स्ट्रैपसियाडीज़ अपने पिता पर प्रहार करता है और इसे न्यायोचित ठहराते हुए कहता है, "मुर्गों तथा अन्य जानवरों को देखो, वे अपने पिताओं को दण्ड देते हैं। वे हमसे इसी बात में भेद रखते हैं कि वे पार्लियामेंट में कानून नहीं बनाते।" राजनीतिक दृष्टिकोण से भी विचारक इसका समर्थन कर रहे थे। एथीनियन साम्राज्य (एथेन्स का यूनान के अन्य राज्यों के साथ ईरान के विरुद्ध बनाया हुआ संगठन) अत्याचारपूर्ण था, अन्य राज्य इसमें सम्मिलित नहीं होना चाहते थे। किन्तु थूसीडाइडीज़ ने इसका समर्थन करते हुए लिखा था कि शक्तिशाली को यह अधिकार है कि वह निर्बल पर शासन करे। ४३० ई० पू० में पेरीक्लीज़ ने कहा था—"एथेन्स का साम्राज्य निरंकुश शासन (Tyranny) है" और ४२७ ई० पू० में क्लिओन (Cleon) ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा था कि "यह तुम्हारी शक्ति पर ही आधारित है, तुम्हारे प्रजाजनों की सद्भावना पर अवलम्बित नहीं है।" ४२५ ई० पू० में एथेन्स के साम्राज्य में सम्मिलित होनेवाले मेलोस (Melos) पर ४१६ ई० पू० में एथेन्स ने इसलिए आक्रमण किया था कि उसने उसे निश्चित किया हुआ कर नहीं दिया है। उस समय एथेन्स के दूतों ने इस सिद्धान्त की घोषणा करते हुए मेलोसवासियों से कहा था, "आप और हम यह जानते हैं कि औचित्य (Right) का प्रश्न समान शक्ति रखनेवालों में ही उत्पन्न होता है। शक्तिशाली जो

---

१. कार्नफील्ड—रिपब्लिक ऑफ प्लेटो, पृ० १८।
२. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ७२।

चाहें कर सकते हैं, निर्बल को सब कुछ सहना पड़ता है।"

सोफिस्टों की विशेषतायें —सोफिस्टों के उपर्युक्त विवरण से उनकी कई विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। **पहली** विशेषता यह है कि उन्होंने यूनान में आध्यात्मिक और प्राकृतिक विषयों के चिन्तन के स्थान पर मानवीय विषयों और राजनीतिक समस्याओं के चिन्तन को प्रधानता दी। उनकी **दूसरी** विशेषता यह है कि वे विशुद्ध बुद्धिवादी और संदेहवादी थे। उनका कोरा बुद्धिवाद पुरानी सब परम्पराओं, धार्मिक एवं नैतिक विश्वासों और मूल्यों पर संदेह करनेवाला तथा पुरानी मान्यताओं पर प्रबल कुठाराघात करनेवाला था। इससे यूनान में तर्कवाद और स्वतन्त्र चिन्तन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यूनानी चिन्तन में उनका कार्य सफरमैना सेना (Sappers and Miners) के समान था जो पुरानी रूढ़ियों और धारणाओं का विध्वंस करनेवाली थी। **तीसरी** विशेषता यह थी कि उनके कोई निश्चित सिद्धान्त या मन्तव्य नहीं थे, वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विचारक थे और सब आचार्यों के मत अलग-अलग थे। **चौथी** विशेषता उनका क्रियात्मक शिक्षा पर बल देना था। वे मुख्य रूप से धनी लोगों से पैसा लेकर उनके लिए उपयोगी भाषण-कला, भाषा-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र आदि की शिक्षा देते थे। **पाँचवीं** विशेषता सोफिस्टों का प्रबल व्यष्टिवाद था, उन्होंने सत्य की कसौटी निर्धारित करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि के अनुसार प्रदान किया।

सोफिस्ट एथेन्स में दो कारणों से कुछ बदनाम भी हुए। **पहला** कारण उनका विदेशी होना था। प्रोटेगोरस थ्रेस के आबदेरा नामक स्थान का, गोर्जियास सिसली में लिओन्तीनी राज्य का, थ्रेसीमेकस कैल्सीडोन का, हिप्पियास एलिस का तथा प्रोडिकस किओस टापू का रहने वाला था। विदेशियों के प्रति तिरस्कार का भाव स्वाभाविक होता है। **दूसरा** कारण यह था कि इनकी शिक्षा का लाभ लोकतन्त्र-विरोधी धनी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उठा रहे थे। वे इनसे शिक्षा इसलिए ग्रहण करते थे कि न्यायालयों में दोषारोपण से अपनी रक्षा कर सकें, चुनावों को नियन्त्रित कर सकें, राज्य में प्रभावशाली बने रहें और लोकतन्त्र को अल्पतन्त्र (Oligarchy) में परिणत कर सकें। उस समय के लोकतन्त्रवादियों को यह प्रतीत होता था कि सोफिस्टों द्वारा भाषण-कला की शिक्षा देने का उद्देश्य अल्पतन्त्र के घातक पक्ष को सुनहले एवं जनकल्याणकारी रूप में चित्रित करना था और सोफिस्ट दार्शनिक राज्य को दक्षतापूर्वक संचालन करने की जिस कला को सिखाने का दावा करते थे, उसका प्रयोजन केवल धनियों को दलबन्दियों के जोड़-तोड़ में दक्ष बनाना था। सोफिस्टों के अनेक शिष्य अल्पतन्त्रवादियों के नेता थे। ४११ ई० पू० की क्रांति का नेता एण्टीफोन थूसीडाइडीज़ के मतानुसार सोफिस्ट था, अतः लोकतन्त्रवादी सोफिस्टों के विरोधी थे।

सोफिस्टों का प्रभाव —सोफिस्टों ने अपने परवर्त्ती विचारकों—सुकरात तथा प्लेटो पर गहरा प्रभाव डाला। सोफिस्टों के प्रभाव के कारण यूनानी दर्शन बहिर्मुख से अन्तर्मुख हुआ, उसने सृष्टि की समस्याओं से अपना ध्यान हटाकर इसे मानवीय समस्याओं पर केन्द्रित किया। प्रोटेगोरस का 'मानव मानदण्डवाद' तथा डेल्फी का सूत्र 'आत्मानं विद्धि' यूनानी दर्शन के मुख्य प्रेरणा-स्रोत बने। मानवीयता पर बल देने के कारण सुकरात को सर्वश्रेष्ठ सोफिस्ट कहा जाता है। अपने अभियोग का उत्तर देते हुए उसने यह घोषणा की थी --"हे एथेन्सवासियो, सचाई यह है कि मैंने कभी भौतिक विषयों पर विचार

(Physical speculations) नहीं किया।" वह मनुष्य का पहला कर्त्तव्य आत्मज्ञान प्राप्त करना समझा करता था। इस विषय में भी वह सोफिस्ट था कि वह समाज के रीति-रिवाजों और कानूनों की परवाह न करते हुए व्यक्ति को विचार की स्वतन्त्रता का अधिकार देने का प्रबल पक्षपाती था। प्लेटो पर भी सोफिस्टों का प्रभाव है, वह उनका प्रशंसक है। उसने अपने प्रोटेगोरस और गोर्जियास नामक दो संवाद सुप्रसिद्ध सोफिस्ट आचार्यों के नाम पर लिखे हैं।

किन्तु इसके साथ ही सुकरात और प्लेटो ने सोफिस्टों के कई विचारों का प्रबल खण्डन किया। सोफिस्ट शब्द के साथ बुरी भावना जोड़ने का श्रेय बहुत-कुछ सुकरात को है। उसका यह कहना था कि उसका नाम ज्ञान को बेचनेवाले सोफिस्टों के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है। सत्य का अन्वेषण वणिग्वृत्ति या व्यवसाय नहीं हो सकता। प्लेटो ने भी सोफिस्टों की इसी कारण तीव्र भर्त्सना की है। सुकरात और प्लेटो का सोफिस्टों से दूसरा बड़ा मतभेद यह था कि वे सत्-असत्, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का विचार प्रत्येक मनुष्य की वैयक्तिक सम्मति और परिस्थिति के अनुसार मानते थे, उनकी दृष्टि में 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' का सिद्धान्त ठीक था। किन्तु सुकरात के लिए नैतिक अराजकता उत्पन्न करने वाला यह सिद्धान्त सर्वथा अमान्य था। वह सत् और असत् के निर्धारण की कसौटी सामाजिक जीवन की स्थिरता केलिए आवश्यक समझता था। सोफिस्टों की तरह वह यह नहीं मानता था कि सचाई के अन्तिम रूप को जाना नहीं जा सकता। उसने सार्वभौम सत्य नियमों के अन्वेषण में अपना जीवन खपा दिया। प्लेटो ने सोफिस्टों की इस लिए भी आलोचना की है कि "वे युवकों के आचार को भ्रष्ट करने वाले हैं, वे केवल जनता के अधिकांश भाग में प्रचलित सम्मतियों का अध्यापन कराते हैं और इसे ही वे अपनी बुद्धिमत्ता कहते हैं।" प्लेटो ने सोफिस्टों की नास्तिकता का भी विरोध किया। अपने जीवन की संध्यावेला में वह घोर आस्तिक बन गया था और उसने प्रोटेगोरस के 'मानव मानदण्डवाद' के स्थान पर ईश्वर को सब वस्तुओं का मानदण्ड बनाने, उसमें विश्वास रखने और अपनी बुद्धि में विश्वास न करने पर बल दिया था।[१]

यद्यपि सोफिस्टों ने यूनान में प्रबल बौद्धिक क्रान्ति उत्पन्न की, तथापि उन्होंने अपने संदेहवाद, बुद्धिवाद, सापेक्ष सत्यवाद से प्रचलित धर्म, राज्य और नैतिकता की जड़ें हिला दी थीं। ज़ैलर (Zeller) के शब्दों में इन्होंने जितनी समस्यायें सुलझायी थीं, उनसे अधिक समस्यायें उत्पन्न कर दी थीं।[२] अब यह आवश्यक हो गया कि मानवीय सम्मतियों की अनिश्चितताओं से मुक्त ज्ञान के निश्चित प्रयोजन की सत्ता स्थापित की जाय तथा मनुष्य की अपनी प्रकृति में से ऐसे आदर्श ढूंढ निकाले जायं, जो उसका पथ-प्रदर्शन कर सकें। सुकरात और उसके शिष्यों ने यही महत्वपूर्ण कार्य किया।

सुकरात (४७०–३९९ ई० पू०)—सुकरात इतिहास के उन सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में से है, जिनके बारे में हम बहुत-कुछ जानते हुए भी प्रामाणिक रूप से बहुत कम जानते हैं। बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है—"कुछ व्यक्तियों के बारे में यह निश्चित होता है कि हम उनके संबंध में बहुत थोड़ा जानते हैं, कुछ व्यक्तियों के विषय में हम निश्चित रूप से

---

१. कार्नफोर्ड—वही, पृ० १९६, बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४८।

२. ज़ैलर—आउटलाइन ऑफ दी हिस्टरी ऑफ ग्रीक फिलासफी, पृ० ९३।

बहुत अधिक जानते हैं, किन्तु सुकरात के संबंध में हमें यह निश्चय नहीं है कि हम अधिक जानते हैं या कम जानते हैं।''[1] इसका मुख्य कारण यह है कि सुकरात के संबंध में प्लेटो, ज़ेनोफन और एरिस्टोफेन्स ने बहुत-कुछ लिखा है, किन्तु इन सबने सुकरात के जो शब्द-चित्र खींचे हैं, वे आपस में नहीं मिलते। प्लेटो उसका शिष्य और परम भक्त है, उसने Apology, Crito, Phaedo तथा Symposium नामक संवादों में उसका बड़ा भव्य और उदात्त चित्र खींचा है, किन्तु उसका बहुत बड़ा दोष यह है कि उसने अपने सब विचार भी सुकरात के मुँह से कहलाये हैं। एरिस्टोफेन्स ने Clouds में उसका हास्यरसपूर्ण चित्र खींचा है। ज़ेनोफन के Memorablia, Symposium तथा Apology के वर्णन प्लेटो के अन्य वर्णनों से भिन्न हैं।[2] ज़ेनोफन स्वयमेव दार्शनिक नहीं था, इसमें संदेह है कि उसने सुकरात के सिद्धांतों का ठीक वर्णन किया है। तीनों वर्णनों में से कोई भी पूरी तरह सही नहीं मालूम होता। यहाँ इनके आधार पर सुकरात के जीवन की कुछ निश्चित बातों का उल्लेख किया जायगा।

सुकरात का जन्म एथेन्स में सालामिस के युद्ध के १० वर्ष बाद संभवत: ४७० ई०पू० में एक प्रस्तर-शिल्पी मूर्त्तिकार के घर में हुआ। उसकी माता फेनरीट (Phainrete) दाई का काम करती थी। सुकरात ने पहले कुछ समय तक पिता का पेशा किया, किन्तु बाद में उसने सारा जीवन तत्वचिन्तन और दार्शनिक विचार-विमर्श में व्यतीत किया। उसका कहना था कि मैं अपनी माता के पेशे का अनुसरण करते हुए नवीन विचारों का जन्म करा रहा हूँ। उसका यौवन पेरीक्लीज़ के स्वर्णयुग में तथा जीवन की संध्या पेलोपोनेशियन युद्धों में बीती। ४३५ ई० तक उसे प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का शौक था, इसमें प्राकृतिक घटनाओं के घटित होने के प्रकार और रीति पर विचार किया जाता था। किन्तु इस भौतिक विज्ञान से उसका सन्तोष न हुआ। ४३५ ई० पू० के बाद उसकी प्रवृत्ति प्राकृतिक घटनाओं को उत्पन्न करने वाले मौलिक प्रश्नों के चिन्तन की ओर हुई, वह प्राकृतिक विज्ञान से विमुख होकर दर्शन और अध्यात्म-शास्त्र का अध्ययन करने लगा।

उसका यह दिशा-परिवर्तन यूनानी चिन्तन में असाधारण महत्व रखता है। इससे यूनानी चिन्तन की धारा ही बदल गई। सुकरात में यह परिवर्तन आने का कारण डल्फी की देव-वाणी[3] (Delphic oracle) कही जाती है। सुकरात के एक प्रशंसक खैरफोन (Chairphon) ने डेल्फी से यह प्रश्न पूछा था कि क्या

---

१. बर्ट्रैंण्ड रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० १०२।

२. बर्नेट—ग्रीक फिलासफी, पृ० १२६।

३. यूनानियों में यह रिवाज था कि वे किसी प्रसिद्ध मन्दिर के पुजारी या पुजारिन के माध्यम से अपने प्रश्न पूछते थे, इन प्रश्नों का उत्तर Oracle या Mentcion कहलाता था। पारनेस्सस (Parnassus) पर्वत की एक गहरी चट्टानी गुहा में डेल्फी नामक स्थान पर अपोलो देवता का प्रसिद्ध मन्दिर था। यहाँ मन्दिर की पुजारिन पिथिया एक तिपाई पर बैठे हुए दिव्य भावावेश (Divine ecstasy) में लोगों द्वारा प्रश्न पूछने पर कुछ अस्फुट शब्द कहती थी। एक अन्य पुजारी उसके इन शब्दों की व्याख्या करता था, यही Delphic oracle कहलाता था।

कोई सुकरात से बढ़कर ज्ञानी है। पिथिया ने यह उत्तर दिया था कि उससे अधिक ज्ञानी कोई नहीं है। जब सुकरात को यह देव-वाणी बतायी गई तो उसने कहा कि मैं तो इतना ही जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता। वह एथेन्स के ज्ञानी समझे जाने वाले व्यक्तियों के पास जाकर उनसे प्रश्न करने लगा। उसने ज्ञानप्राप्ति के लिए ज़ीनो से प्रश्नोत्तर की तथा संवादात्मक (Dialectic) प्रणाली को सीखा था। इसमें ज्ञान पाने के लिए निश्चित विधि से प्रश्न करते हुए सब समस्याओं के मूल तक पहुँचने का तथा उनका उत्तर ढूंढने का प्रयत्न किया जाता था। डेल्फी की देव-वाणी के बाद वह यह समझने लगा कि ईश्वर ने उसे ज्ञान प्रसार का कार्य सौंपा है, वह ज्ञान का अभिमान रखनेवाले व्यक्तियों से मिलता, अपनी प्रश्नोत्तर-प्रणाली द्वारा उनको शीघ्र ही निरुत्तर करके अपनी अज्ञानता स्वीकार करने के लिए बाधित करता था। ज्ञान का दम्भ करने वाले व्यक्तियों का इस दशा में उससे चिढ़ना स्वाभाविक था। अनेक व्यक्तियों से बात करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचा कि देववाणी मिथ्या नहीं है, वह दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, किन्तु इसलिए नहीं कि वह उनसे अधिक जानता है, बल्कि इसलिए कि उसे अपने अज्ञान का ज्ञान है, जबकि अन्य व्यक्ति ज्ञानी न होते हुए भी अपने को बहुत बड़ा ज्ञानी समझते हैं।

एथेन्स के नागरिक के रूप में सुकरात ने अपने सभी कर्त्तव्यों का पालन किया। प्रायः दार्शनिकों का लड़ाई से कोई संबंध नहीं समझा जाता। किन्तु वह थ्रेस में एथेन्स की ओर से सशस्त्र सैनिक (Hoplite) के रूप में लड़ा था। ४२४ ई० में डेलियम (Delium) की लड़ाई में उसके शौर्य की बड़ी प्रशंसा हुई थी। ६५ वर्ष की आयु में वह एथेन्स की परिषद् का सदस्य बना। ४०५ ई० पू० में जब आरगिनुसाई (Arginusae) के नौ-युद्ध में नाविकों को डूबने से बचाने में विफल होने वाले नौ-सेनापतियों पर अभियोग चलाया गया और उन्हें दण्डित किया गया तो सुकरात ने संविधान के एक नियम के प्रतिकूल होने के कारण इस दण्ड-व्यवस्था का अकेले ही घोर विरोध किया। ४०४ ई० में जब ३० निरंकुश शासनकर्त्ताओं (Tyrants) ने एथेन्स में आतंक-राज्य की स्थापना करते हुए एक नागरिक को पकड़ कर लाने की आज्ञा सुकरात को दी तो उसने इस आदेश को अवैध समझते हुए पालन करने से इंकार कर दिया। वह नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भी नागरिक कानून की मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करता था, इस विषय में अपने विवेक के अनुसार स्वतन्त्र सम्मति रखने का नैतिक साहस उसकी बहुत बड़ी चारित्रिक विशेषता थी, इसी के लिए अन्त में उसे विषपान करना पड़ा।

सुकरात के सिद्धान्त – सुकरात का सबसे बड़ा मन्तव्य आत्मज्ञान का था। उसका मूलमन्त्र डेल्फी के मन्दिर पर लिखा हुआ यह वाक्य था — अपने को जानो। सोफिस्टों ने उससे पहले संदेहवाद और सत्य की सापेक्षता पर बल दिया था और कहा था कि सत्-असत्, अच्छाई-बुराई परिस्थितियों पर निर्भर है, यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी वैयक्तिक रुचि और वातावरण से निश्चित होती है। ये मन्तव्य नैतिक अराजकता उत्पन्न करने वाले थे। सुकरात ने सोफिस्टों का विरोध करते हुए **दो प्रकार के ज्ञानों का सिद्धान्त** (The Doctrine of two knowledges) माना। सोफिस्टों की दृष्टि केवल इन्द्रियों से प्रतीत होनेवाले बाह्यजगत् तक सीमित थी, वे इसी को अन्तिम मानते थे। किन्तु सुकरात ने भारतीय वेदान्तियों के व्यावहारिक तथा पारमार्थिक ज्ञान

की भाँति दो प्रकार का ज्ञान माना, बाह्य जगत् का इन्द्रियों द्वारा प्रतीयमान अनिश्चित ज्ञान तथा वास्तविक, सार्वभौम तथा शाश्वत ज्ञान। उदाहरणार्थ, हमें संसार में विभिन्न आकृतियों के बहुत-से मनुष्य दिखाई देते हैं, इनमें कोई निश्चितता नहीं है, ये नश्वर हैं। किन्तु इन मनुष्यों के पीछे सब मनुष्यों की सामान्य विशेषताओं को सूचित करने वाला मनुष्यत्व का ज्ञान सार्वभौम और शाश्वत है। सच्चा ज्ञान सार्वभौम तत्वों (Universals) का ही होता है। मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस ज्ञान को प्राप्त करे। ज्ञान प्राप्ति का एक बड़ा साधन शब्दों और परिभाषाओं का यथार्थ स्वरूप जान लेना है। हम न्याय (Justice) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, किन्तु इनका असली अर्थ नहीं जानते। सुकरात अपने साथियों से ऐसे शब्दों का अर्थ पूछता था, उन द्वारा की गई परिभाषाओं और व्याख्याओं की आलोचना करता था और इस प्रकार इनके यथार्थ स्वरूप पर प्रकाश डालता था। उदाहरणार्थ, प्लेटो को रिपब्लिक का आरम्भ न्याय (Justice) के लक्षण पर विचार से होता है।

सुकरात का दूसरा बड़ा सिद्धान्त यह था कि ज्ञान और साधुता या श्रेय (Virtue) में अभेद था। उसका कहना था ज्ञान ही धर्म है और अज्ञान पाप है (Virtue is knowledge and ignorance is vice)। मनुष्य अज्ञानवश अधर्म करते हैं, यदि उन्हें ज्ञान हो जाय तो वे पाप न करें। जिस व्यक्ति को यह ज्ञान हो गया है कि सत्य बोलना धर्म है, उसे सदैव सत्य बोलना चाहिए। किन्तु व्यावहारिक जगत् में यह सिद्धान्त सत्य नहीं प्रतीत होता, मनुष्य यह जानते हैं कि सत्य बोलना धर्म है, फिर भी असत्य बोलते हैं। महाभारत में दुर्योधन ने कहा है, "मैं धर्म को जानता हूँ, फिर भी मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं है, मैं अधर्म को जानता हूँ, फिर भी उसके करने से बच नहीं सकता हूँ।"[1] सुकरात का यह मत था कि जो सत्य बोलने का ज्ञान प्राप्त करके भी उसे आचरण में नहीं लाता, उसे उसका वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है। मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है, उसे बुद्धि से जो सत्य ज्ञान प्राप्त हो, उस पर सदा आचरण करना चाहिए। आचरण के बिना ज्ञान निष्फल और निरर्थक है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आदर्श की दृष्टि से सुकरात का सिद्धान्त बिल्कुल सत्य है। यदि मनुष्य अपने ज्ञान पर आचरण नहीं करते तो यह सुकरात की गलती नहीं, किन्तु मानवजाति का दुर्भाग्य है।

सुकरात यह समझता था कि विभिन्न कानूनों तथा रीति-रिवाजों के होते हुए भी नैतिकता के कुछ सामान्य एवं सार्वभौम नियम खोजे जा सकते हैं। वह सोफिस्टों की भाँति यह मानता था कि सत्-असत् के विचार का आधार धर्म या रिवाज नहीं, किन्तु तर्क (Reason) होना चाहिए। बुद्धि द्वारा ही सदाचार और न्याय के मौलिक नियमों का अनुसंधान होना चाहिए। सोफिस्टों ने राजनीति में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' तथा मात्स्यन्याय का सिद्धान्त माना था, सुकरात ने नैतिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों में गहरा सम्बन्ध स्थापित किया।

सुकरात को एथेन्स की राजनीति का प्रत्यक्ष अनुभव था। उसने तत्कालीन

---

१. जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥
—महाभारत उद्योगपर्व

लोकतन्त्र की कई दृष्टियों से आलोचना की थी : (१) उन दिनों एथेन्स में सरकारी अधिकारियों, सेनापतियों और न्यायाधीशों के चुनाव लाटरी या पर्ची डालकर होते थे। इस व्यवस्था के कारण अयोग्य व्यक्ति ऊंचे पदों पर पहुँच जाते थे और राज्य के लिए संकट बन सकते थे, अतः वह इस प्रथा का विरोधी था। (२) उस समय की एथेन्स की असेम्बली में मोची, कुम्हार, और दर्जी को वही स्थिति प्राप्त थी, जो सार्वजनिक मामलों की जानकारी रखने वाले राजनीतिज्ञों को थी। दोनों को वोट का समान अधिकार था। सुकरात इसे अवांछनीय स्थिति मानता था। (३) सुकरात तत्कालीन राजनीतिज्ञों से इसलिए भी असन्तुष्ट था कि वे जनता को खुश करने के कामों में लगे रहते थे, किन्तु न्याय-सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्यों की उपेक्षा करते थे। (४) वह शासन के लिए विशेष प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक मानता था। वह यह कहा करता था कि जब हम अपना जूता ठीक कराने के लिए मोची के पास जाते हैं, लकड़ी के सामान की मरम्मत के लिए बढ़ई को बुलाते हैं तो राज्य रूपी पोत का संचालन करने के लिए इस कला में दक्ष व्यक्ति को बुलाना चाहिए। सुकरात के पास जब एक व्यक्ति ने आकर यह इच्छा प्रकट की कि वह लाटरी द्वारा सेनापति चुना जाना चाहता है, तो सुकरात ने उसे यह परामर्श दिया कि सेनापति बनने से पहले उसे युद्ध-विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। राजनीति को वह क्रियात्मक कला समझता था तथा राजनीतिज्ञ को उसकी दृष्टि में इस कला का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही इस क्षेत्र में आना उचित था। वस्तुतः वह प्रजातन्त्र के स्थान पर बुद्धिमान् कुलीन व्यक्तियों द्वारा राज्य को शासित करने की प्रणाली का प्रबल समर्थक था।

सुकरात का विषपान—सत्तर वर्ष की आयु में ३९९ ई० पू० में सुकरात पर अभियोग चलाकर उसे अपराधी घोषित करते हुए ५०१ न्यायाधीशों के न्यायालय ने उसे विषपान द्वारा प्राणदण्ड की व्यवस्था की। उस पर आरोप लगाने वाले तीन व्यक्ति थे—लोकतन्त्रीय राजनीतिज्ञ एनीटस (Anytus), एक कवि मेलेटस (Meletus) तथा एक अलंकारशास्त्री लाइकोन। सुकरात पर दो आरोप लगाए गए। पहला आरोप अधार्मिकता या राज्य द्वारा पूजे जाने वाले देवताओं की पूजा न करने का था और दूसरा आरोप अपनी शिक्षाओं द्वारा युवकों का आचार भ्रष्ट करने का था। अधिकांश विद्वानों का मत है कि सुकरात पर यह अभियोग उसके लोकतन्त्रविरोधी विचारों के कारण चलाया गया।[1] उसने एथेन्स के लोकतन्त्र की तथा उसके प्रसिद्ध नेताओं—पेरीक्लीज़ आदि—की बड़ी कटु आलोचना की थी, उसके प्रभाव में आनेवाले कुछ व्यक्तियों ने एथेन्स के लोकतन्त्र को संकट में डाला। ४११ ई० पू० की क्रान्ति में एल्किबियाडीज़ (Alcibiades) ने एथेन्स के लोकतन्त्र को नष्ट करने का प्रयत्न किया था। ४०४ ई० पू० की क्रान्ति में क्रिटियास ने उसे कुछ समय के लिए समाप्त कर दिया था। यदि उसकी शिक्षा का यही प्रभाव था तो बार्कर के शब्दों में उसने अवश्यमेव युवकों को भ्रष्ट किया था क्योंकि उसने युवकों में ऐसी लोकतन्त्रविरोधी भावना उत्पन्न की, जिससे एथेन्स में अल्पतन्त्रीय (Oligarchical) शासन स्थापित करने वाली क्रान्तियाँ हुईं। इस घटना के पचास वर्ष बाद एस्खिनेस (Aiskhines) ने लिखा था कि एथेन्सवासियों

---

१. बर्नेट—ग्रीक फिलासफी, पृ० १८०-१८१।

ने सोफिस्ट सुकरात की इसलिए हत्या की कि यह विश्वास किया जाता था कि उसने क्रिटियास को शिक्षित किया था। सुकरात के विषपान के १० वर्ष बाद ही सोफिस्ट पोलीक्रेटस (Polykratus) ने उस पर यह आरोप लगाया था कि उसने एल्किबियाडीज़ को शिक्षित किया था। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ३९९ ई० पू० में एथेन्स का गणराज्य बड़ा असुरक्षित और अस्थिर था,[1] ४११ तथा ४०४ ई० पू० की क्रान्तियों की याद अभी ताजा थी, पेलोपोनेशियन युद्ध में विजयी स्पार्टा सर्वत्र अल्पतन्त्र स्थापित कर रहा था, एथेन्स में अल्पतन्त्र से सहानुभूति रखने वालों की कमी नहीं थी। ४११ ई० पू० में क्रान्ति का नेता भलाई की शिक्षा देने वाला एण्टीफोन था। कौन जानता था कि सुकरात उसी तरह की दूसरी क्रान्ति को जन्म देने वाला न हो, अतः एथेन्स के गणराज्य की रक्षा के लिए सुकरात का निरोध आवश्यक था।

सुकरात पर अभियोग चलाने का विशद वर्णन प्लेटो ने अपनी अमर कृति 'Apology' में किया है। सुकरात ने अपनी सफाई पेश करते हुए बड़े ओजस्वी शब्दों में अधार्मिकता के आरोप का खण्डन किया और दूसरे आरोप का निराकरण करते हुए कहा, "मैंने इसके अतिरिक्त कुछ नहीं किया कि मैं बूढ़ों और युवकों को यह शिक्षा देता रहा हूँ कि तुम अपने शरीर और सम्पत्ति की ओर ध्यान न दो, किन्तु मुख्य रूप से आत्मा के सबसे बड़े सुधार पर ध्यान दो। मैं तुम्हें कहता हूँ कि भलाई (Virtue) धन से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु भलाई से धन आता है। यही मेरी शिक्षा है। यदि यह सिद्धान्त युवकों को भ्रष्ट करता है तो मैं दोषी (Mischievous) व्यक्ति हूँ। यदि कोई कहता है कि यह मेरी शिक्षा नहीं है तो वह झूठ बोलता है। हे एथेन्सवासियो, मैं तुम्हें कहता हूँ कि तुम चाहे वैसा करो, जैसा एनिटस कहता है, या वैसा न करो; मुझे मुक्त करो या न करो, किन्तु यह अच्छी तरह समझ लो कि मैं अपना रास्ता कभी नहीं बदलूंगा, भले ही मुझे कई बार क्यों न मरना पड़े।" इस निर्भीक, दृढ़ किन्तु न्यायाधीशों को चुनौती देने वाली सफाई का प्रभाव उन पर विपरीत पड़ना ही था। ५०१ जजों में से २८१ ने सुकरात को दोषी ठहराया। इसके बाद जजों ने दण्ड का निर्णय करना था। यद्यपि सुकरात पर आरोप लगाने वालों ने मृत्युदण्ड का प्रस्ताव किया था, किन्तु उनकी ऐसी इच्छा न थी। एथेन्स के कानून के अनुसार कुछ अपराधों में अपराधी को स्वयमेव दण्ड प्रस्तावित करने का अधिकार दिया जाता था ताकि उसे पर्याप्त दण्ड मिल जाय, किन्तु कठोर दण्ड न मिले, क्योंकि जजों ने इन दोनों दण्डों में से किसी एक का चुनाव करना होता था। अतः अपराधी के लिए ऐसा दण्ड प्रस्तावित करना हितकर होता था, जिसे जज स्वीकार कर लें। कुरात ने सुयदि इस समय निर्वासन, जेल या जुर्माने का दण्ड प्रस्तावित किया होता तो वह अवश्य मान लिया जाता। किन्तु वह अपने को निर्दोष समझता था, इस दशा में कोई दण्ड प्रस्तावित करना अपना अपराध स्वीकार करना होता। अतः उसने यह दण्ड प्रस्तावित किया कि ओलिम्पिक के विजेताओं की भाँति उसे आजीवन सरकारी खर्च पर प्रितेनियम (Prytenium)[2] में रहने की सुविधा दी जाय, अथवा उसे नाममात्र

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९४।

२. प्रितेनियम बड़े यूनानी नगरों का सभा-भवन या टाउनहाल होता था, राज्य के अतिथियों के खानपान और रहन-सहन के लिए यहाँ व्यवस्था की जाती थी।

के लिए एक माइना (लगभग ४५ रुपये के बराबर का यूनानी सिक्का) जुर्माना किया जाय। उसे दोषी ठहराने वाले न्यायाधीशों के लिए यह संभव न था कि वे उसे इतनी हल्की सजा देते, अतः उन्होंने प्राणदण्ड देने का निर्णय किया । इसके बाद सुकरात ने अपने अन्तिम भाषण में जजों को संबोधित करते हुए कहा था, "प्रस्थान की घड़ी आ गयी है, हम अपने रास्ते पर चलते हैं, मैं मृत्यु के मार्ग पर तथा आप जीवन के मार्ग पर—यह भगवान् ही जानता है कि कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि सुकरात ने जानबूझकर मृत्यु का मार्ग वरण किया, किन्तु वह मरकर भी अमर हो गया। उसने जिन सिद्धान्तों के लिए मृत्यु वरण की, वे आज समाज में समादृत हैं। विचार की स्वतन्त्रता एवं अन्तःकरण के आदेशों को पालन करने के लिए उसने विष का प्याला उतना ही शान्ति और आनन्द के साथ पिया, जैसे अमृत का प्याला पिया जाता है। वह यदि चाहता तो इस शर्त पर अपनी प्राण रक्षा कर सकता था कि वह एथेन्स में अपना प्रचार कार्य बन्द कर देगा। किन्तु वह अपने सत्य का प्रकाश करने का अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं था। उसके मित्रों ने उसे जेल से भगाने का षड्यन्त्र भी किया, किन्तु उसने ऐसा करना स्वीकार न किया, क्योंकि यह एथेन्स के नियमों का उल्लंघन था। वह भारतीय विचारों के जीवन्मुक्त का सुन्दर उदाहरण था और अनेक शताब्दियों से मानव जाति के लिए विचार-स्वातन्त्र्य का ज्योति-स्तम्भ बना हुआ है।

सिनिक्स तथा साइनेरेइक्स (Cynics and Cyranaics)—सुकरात की शिक्षाओं, जीवन और बलिदान से प्रभावित होकर दो व्यक्तियों ने सांसारिक समृद्धि को ठुकराने, आत्मनिर्भर स्वतन्त्र जीवन में आस्था रखने और तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देनेवाले दार्शनिक सम्प्रदायों की स्थापना की। थ्रेसवासी एण्टीस्थेनीज़ (Antisthenes) सिनिक सम्प्रदाय का संस्थापक था। यूनानी में सिनिक शब्द का अर्थ है—कुत्ते। यह नाम इस सम्प्रदाय के एक मुख्य समर्थक डायोजिनीस को लोगों ने इसलिए दिया था कि वह कुत्ते की भाँति सभी सामाजिक रूढ़ियों और नियमों की घोर उपेक्षा करता था।[1] दूसरे सम्प्रदाय का संस्थापक एरिस्तिप्पस (Aristippus) उत्तरी अफ्रीका में साइरीनी (वर्तमान ट्रिपोली) नामक

---

१. वैब—ए हिस्टरी ऑफ फिलासफी, पृ० ५८-५६। इंसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स (खण्ड ८ पृ० ३६६) के अनुसार यूनानी में कुत्ते का अर्थ देने वाले सिनिक शब्द को इन दार्शनिकों के नामों के साथ जोड़ने के संभवतः तीन कारण थे—(क) एथेन्स नगर के पूर्व में साइनोसार्गेस (Cynosarges) नामक स्थान में एक शिक्षणालय था, यहाँ इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक एण्टीस्थेनीज़ व्याख्यान दिया करता था। इस स्थान से सम्बद्ध होने के कारण एण्टीस्थेनीज़ का दार्शनिक सम्प्रदाय सिनिक कहलाया। (ख) दूसरा कारण यह था कि ये दार्शनिक आनन्दों के उपभोग को उत्तम जीवन के लिए बाधक समझते थे, तपस्यामय जीवन को आदर्श मानते थे, ये कुत्ते को सरलता, सादगी, तपस्या का प्रतीक समझते हुए उसकी तरह रद्दी खाने, जमीन पर सोने आदि को अच्छा समझते थे, अतः इन्हें यह नाम दिया गया। (ग) तीसरा कारण कोरिन्थवासियों द्वारा डायोजिनीस की स्मृति में खड़े किये गये स्तम्भ के ऊपर उसके आदर्श एवं प्रिय पशु कुत्ते की संगमरमर की मूर्ति स्थापित करना था।

नगर का रहने वाला था, अतः इस नगर के आधार पर इसके अनुयायी साइरेनेइक्स कहलाये।

सिनिक सुकरात के आत्मज्ञान के सिद्धान्त को महत्व देते हुए कहते थे कि आत्मज्ञान प्राप्त करने पर मनुष्य को किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः वे अपनी आवश्यकताओं को न्यून करते हुए दरिद्रता का जीवन यापन करते थे। सुकरात ने लोकतन्त्र की आलोचना की थी, वे समाज की सभी संस्थाओं का खण्डन करते थे, परिवार, सम्पत्ति तथा नगरराज्य के घोर विरोधी थे। सद्‌गुण और ज्ञान आन्तरिक वस्तुयें हैं, इन्हें प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। बाह्य वस्तुयें तथा सांसारिक वैभव ज्ञान की प्राप्ति में बाधक हैं, इस संसार में कुछ भी अपना नहीं है, आदर्श बुद्धिमान् पुरुष को आत्मनिर्भर, आत्मरति और ममत्वबुद्धि से शून्य होना चाहिए। डायोजिनीस (४१२–३२३ ई० पू०) कहा करता था कि "एण्टीस्थेनीज़ ने मुझे यह शिक्षा दी है कि इस संसार में केवल एक ही वस्तु मेरी है – और वह है अपने विचारों का स्वतन्त्र चिन्तन"।[1] वीतराग, तपस्वी भारतीय अवधूतों की भाँति सिनिक बड़ा सादा और कठोर जीवन बिताते थे। सांसारिक विषयों से इनकी विरक्ति डायोजिनीस के जीवन की निम्न घटना से स्पष्ट हो जाएगी। कोरिन्थ में सिकन्दर इसकी प्रसिद्धि सुनकर इसके दर्शन के लिए आया, उस समय डायोजिनीस धूप में बैठा हुआ था। सम्राट् ने अपना परिचय देते हुए कहा —"मैं महान् सिकन्दर हूँ," तो उसे उत्तर मिला —"मैं सिनिक डायोजिनीस हूँ।" जब सिकन्दर ने उससे पूछा कि उसे क्या चाहिए तो सिनिक ने उत्तर दिया —'आप मेरी धूप रोके खड़े हैं, उसे छोड़ दीजिए।"

राजनीतिक विचारों की दृष्टि से सिनिक यूनानी जगत् में कई नये क्रान्तिकारी विचारों को जन्म देने वाले थे। **पहला** विचार विश्व-नागरिकता (Cosmopolitanism) का था। ये अपने को किसी विशेष नगर-राज्य (Polis) का नागरिक नहीं मानते थे, किन्तु सारे विश्व को अपना मानते थे। प्लेटो, अरस्तू तथा अन्य यूनानी विचारक जिस नगर-राज्य को मनुष्य के विकास के लिए अत्यावश्यक मानते थे, ये उसे बाधक समझते थे। प्लूटार्क ने लिखा है कि "सिकन्दर ने विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना करके राजनीति के क्षेत्र में सिनिक लोगों के आदर्श को मूर्त्तरूप प्रदान किया था।" **दूसरा** विचार सब मनुष्यों की समानता और बन्धुभाव का था। आगे यह बताया जायगा कि प्लेटो तथा अरस्तू यूनानियों को अन्य बर्बर जातियों से श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट मानते थे। सिनिकों ने इसका विरोध करते हुए मानवीय समानता और बन्धुत्व का नवीन विचार दिया और इसने आगे ईसाइयत और चर्च पर गहरा प्रभाव डाला। **तीसरा** विचार प्राकृतिक जीवन की ओर लौटने का था। वे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक जीवन को सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक मानते हुए कहा करते थे कि मनुष्य पशुओं जैसा जीवन जितनी अधिक मात्रा में बिता सके, उतना ही वह उसके लिए श्रेयस्कर होगा। उनकी पुकार शहरों, कानूनों और कृत्रिम संस्थाओं को छोड़कर जंगलों में प्रकृति की ओर लौटने की थी। १८वीं सदी में रूसो ने भी इसी प्राकृतिक दशा की ओर लौटने पर बल दिया था। **चौथा** विचार व्यष्टिवाद (Individualism) का

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०६।

था। प्लेटो और अरस्तू का कहना था कि व्यक्ति का विकास नगर-राज्य के बिना नहीं हो सकता। अरस्तू ने संभवतः सिनिक दार्शनिकों के पशुतुल्य जीवनयापन के आदर्श पर व्यंग्य करते हुए लिखा था कि जो मनुष्य यह सोचता है कि वह नगर के बिना रह सकता है, वह या तो पशु है या देवता है। किन्तु सिनिकों का यह कहना था कि व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है, उसे अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए राज्य की कोई आवश्यकता नहीं, उसका चरम लक्ष्य आत्मविकास होना चाहिए।

व्यष्टिवादी साइरेनेइक दार्शनिकों का भी यह विचार था कि मनुष्य के उद्धार और मुक्ति के लिए ज्ञान ही पर्याप्त है। मनुष्य का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है, उसे केवल वर्त्तमान में ही जीवन बिताना चाहिए, भूत और भविष्य की चिन्ताओं से व्यथित नहीं होना चाहिए। सुखी जीवन बिताने के लिए वे राज्य की या उसके नियमों तथा कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। कानून को वे प्राकृतिक नहीं, किन्तु रीति-रिवाजों द्वारा बनायी गयी (Conventional) कृत्रिम व्यवस्था समझते थे।

तीसरा अध्याय

प्लेटो

जीवन-चरित्र - पश्चिमी जगत् में सर्वप्रथम आदर्श काल्पनिक राज्य (Utopia) की योजना प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक-शिरोमणि प्लेटो का जन्म एथेन्स के प्राचीन, प्रथित और समृद्ध कुल में ४२८-२७ ई० पू० में उस समय हुआ[1] जब भारत में भगवान् बुद्ध (५६७–४८७ ई० पू०) का निर्वाण हुए आधी शताब्दी बीत चुकी थी और एथेन्स में एक वर्ष पहले पेरीक्लीज़ की मृत्यु हो चुकी थी और वह पेलोपोनेशियन युद्ध में स्पार्टा के साथ संघर्ष में संलग्न था। उसके पिता अरिस्तौन की वंशावली एथेन्स के प्राचीन राजाओं में होती हुई पोसीदन (Poseidon) देवता तक पहुँचती थी और मातृकुल का संबंध एथेन्स में सुप्रसिद्ध कानूनों का निर्माण करने वाले सोलन के साथ था। उसे सब प्रकार का सौभाग्य —उच्चकुल, वैभव, अद्वितीय सौन्दर्य, शारीरिक स्वास्थ्य और प्रखर बुद्धि प्राप्त थी। उसका वास्तविक नाम अरिस्तोक्लीज़ (Aristoclese) था, किन्तु उसके खूब भरे हुए चौड़े कन्धों के कारण उसके मल्ल-शिक्षक ने उसे प्लेटो[2] का नाम दिया। उसका बाल्यकाल ऐसे कुटुम्ब में बीता, जिसके सदस्य अनेक पीढ़ियों से राजनीति में प्रमुख भाग ले रहे थे। आरम्भ में उसकी इच्छा भी राजनीतिज्ञ बनने की थी। अपने जीवन के सन्ध्याकाल में उसने अपने **सातवें पत्र** (Seventh Epistle) में लिखा था —"अधिकांश युवकों की भाँति यह सोचता था कि मैं बालिग होते ही सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करूंगा।" उसको इसका बड़ा सुअवसर भी मिला। ४०४ ई० पू० में एक क्रान्ति द्वारा एथेन्स में लोकतन्त्र के स्थान पर 'तीस निरंकुशों' (Thirty Tyrants) का शासन स्थापित हुआ। इनमें क्रितियास आदि उसके सम्बन्धी भी सम्मिलित थे, उन्होंने इसे शासन में भाग लेने को कहा, किन्तु प्लेटो के शब्दों में उनके व्यवहार से उसका 'खून खौलने लगा', इन्होंने थोड़े समय में ही अपने काले कारनामों से पुरानी लोकतन्त्रीय सरकार को 'स्वर्ण युग' की घटना बना दिया। शीघ्र ही एथेन्स में एक दूसरी क्रान्ति द्वारा लोकतन्त्रवादियों ने शासनसत्ता हस्तगत की। प्लेटो आरम्भ में उनकी 'उदारता' से प्रभावित हुआ, किन्तु शीघ्र ही उनके कारनामों से विशेषत: सुकरात के मृत्युदण्ड के कारण उसे राजनीति से विरक्ति हो गयी।

१८-२० वर्ष की आयु में प्लेटो सुकरात के सम्पर्क में आया। बाह्य दृष्टि से

---

१. टेलर—प्लेटो, पृ० १।

२. प्लेटो शब्द का शुद्ध यूनानी उच्चारण प्लातोन है, अरबी में इसी का विकृत रूप अफलातून है। श्री भोलानाथ शर्मा ने रिपब्लिक के मूल ग्रीक से हिन्दी अनुवाद में प्लातोन का ही प्रयोग किया है, किन्तु यहाँ अधिक प्रचलित होने के कारण प्लेटो का ही प्रयोग किया गया है।

दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर था। चपटी नाक, मोटे होंठ, भद्दी चाल तथा यूनानी वन-देवता सेटर (Satyr) के समान भद्दी शकल वाले, शुष्क दार्शनिक सुकरात का सुरूप,
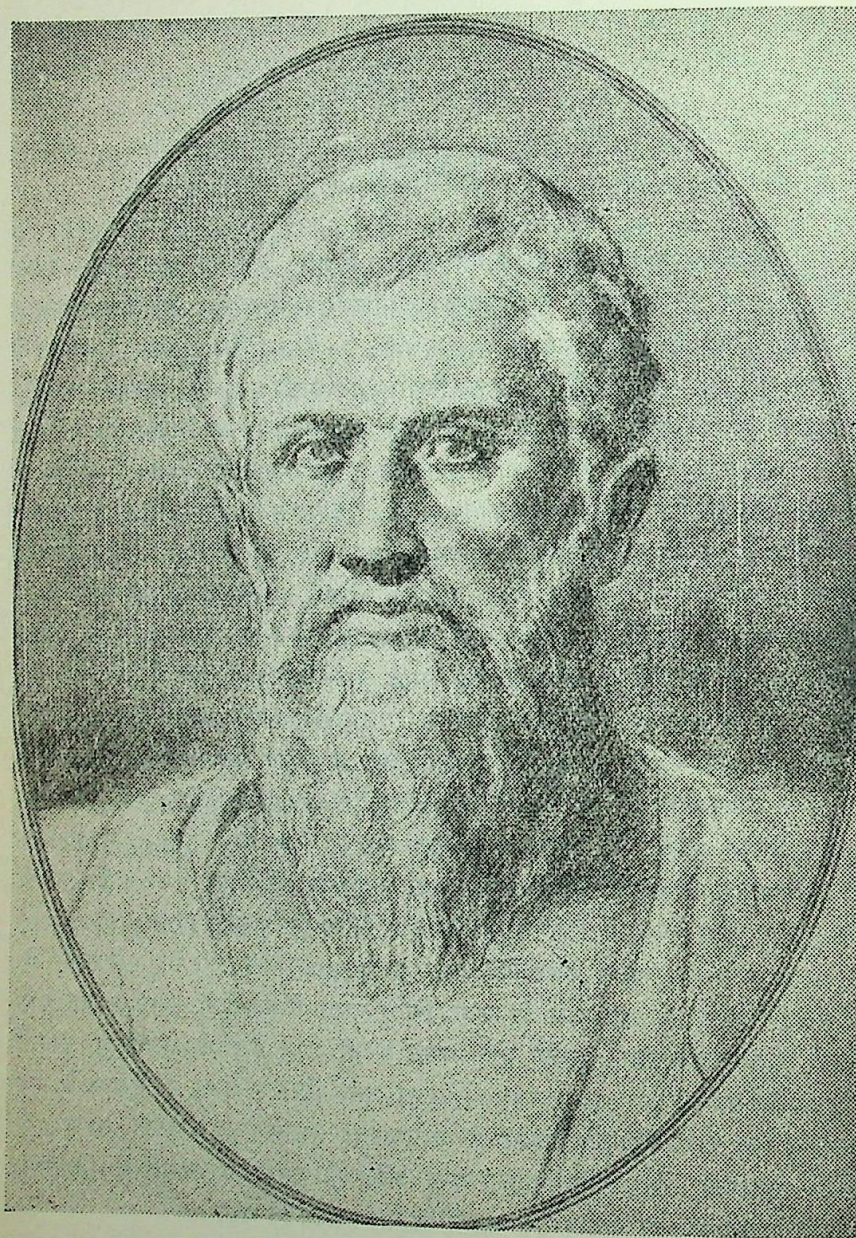
प्लेटो

अभिराम यूनानी देवता अपोलो (Apollo) जैसे सुन्दर, मल्लविद्या और कविता में ख्याति प्राप्त करने वाले, रसिक, सम्भ्रान्त और कुलीन प्लेटो में कोई सादृश्य नहीं था। किन्तु सुकरात की शिक्षाओं ने प्लेटो को आकृष्ट किया क्योंकि एल्किबिआडीज़ के शब्दों में सुकरात एथेन्स के बाजारों में बिकने वाले उन खिलौनों की तरह था, जिनकी बाह्य

आकृति विदूषक (Silenus) की होती है और उन्हें खोलने पर उनके अन्दर देवता की मूर्ति मिलती है। प्लेटो उसका शिष्य बना और जिस समय सुकरात पर अभियोग चलाया गया तो वह वहाँ उपस्थित था और उसने उसके लिए जमानत देने का प्रस्ताव रखा था।

जब सुकरात को विषपान का दण्ड दिया गया तो प्लेटो की आयु २८ वर्ष की थी। प्लेटो पर इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा। इसने उसे राजनीति से पराङ्मुख कर दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी बना दिया। उसने अपने **सप्तम पत्र** में लिखा है कि इसके बाद "मैं दर्शनशास्त्र की प्रशंसा में यह कहने को बाधित हुआ कि केवल इसी से व्यक्ति सार्वजनिक और वैयक्तिक न्याय का स्वरूप समझ सकता है और मैंने यह कहा कि राष्ट्र तब तक उपद्रवरहित नहीं होंगे, जब तक या तो सच्चे और वास्तविक दार्शनिकों की श्रेणी राजनीतिक पदों पर आरूढ़ नहीं होगी या राज्यों के शासक दैवी आदेश से दर्शन-शास्त्र का अध्ययन नहीं करेंगे।"

३९९ ई० पू० में सुकरात के प्राणदण्ड के बाद संभवतः उसका साथी और लोकतन्त्र का विरोधी होने के कारण प्लेटो का एथेन्स में रहना निरापद नहीं था। यह वहाँ से निकटवर्ती मेगरा (Megara) नगर में अपने कुछ अन्य मित्रों के साथ चला गया। इसके बाद उसका १२ वर्ष तक का इतिहास अज्ञात है। उसके इस अज्ञातवास के संबंध में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि उसने ज्ञान प्राप्ति के लिए इस काल में मिश्र, इटली आदि देशों का भ्रमण किया; यहाँ तक कहा जाता है कि उसने गंगा के तट तक भारत की यात्रा भी की थी।[1] १२ वर्ष तक वह देशदेशान्तरों में मतमतान्तरों का अध्ययन करता हुआ भ्रमण करता रहा। यदि वह भौतिक रूप से इतना नहीं घूमा, तो भी मानसिक रूप से उसने इन देशों के विचारकों के सिद्धान्तों का परिचय पाया। पिथागोरस के सिद्धान्तों का ज्ञान पाने तथा दार्शनिकों का शासन देखने के लिए वह ३८७ ई० पू० में इटली और सिसली गया। सिसली के सिराक्यूज़ राज्य में उसकी भेंट दियोन (Dion) नामक अत्यन्त सुसंस्कृत व्यक्ति एवं वहां के राजा दियोनिसियस प्रथम से हुई। उसकी प्रेरणा से वह दियोनिसियस को दार्शनिक शासक बनाने को तय्यार हो गया। किन्तु जब उसने रिपब्लिक के सिद्धान्तों का पाठ पढ़ाते हुए उसके अन्याय और निरंकुश शासन की बड़ी कड़ी आलोचना की तो दियोनिसियस ने उसे स्पार्टा के राजदूत को सौंप दिया[2] और उसने उसे दास के रूप में एजाइना (Aegina) के टापू में बेच दिया। यहाँ उसके एक पुराने मित्र अनीकैरिस ने उसे खरीद कर मुक्त करा दिया और एथेन्स भिजवाया। प्लेटो के भक्तों ने धन एकत्र कर अनीकैरिस को उसका रुपया वापिस लौटाना चाहा, किन्तु उसके इसे स्वीकार न करने पर इस धनराशि से एथेन्स के बाहर अकादीमस (Academicus) की वाटिका मोल ले ली गई और यहाँ प्लेटो ने अपना शिक्षणालय ३८३ ई० पू० में खोला। यही प्लेटो की प्रसिद्ध अकादमी थी, जिसे योरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त है। यह ५२९ ई० में रोमन सम्राट् जस्टीनियन द्वारा बन्द किये जाने तक नौ सौ वर्ष तक चलता रहा। प्लेटो के दास रूप में बेचे जाने

---

१. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० २०।
२. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ११०।

की कथा की प्रामाणिकता में संदेह किया जाता है, किन्तु यह निर्विवाद है कि उसने अपनी आयु के ४०वें वर्ष में अकादमी की स्थापना की थी और उसकी आयु के अगले ४० वर्ष यहीं अध्यापन कार्य में बीते।

यह अकादमी योरोप के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पेलोपोनेशियन युद्ध में परास्त होने के बाद यद्यपि एथेन्स का राजनीतिक गौरव समाप्त हो गया था, किन्तु इसके बदले वह व्यापारिक केन्द्र बना और अकादमी की स्थापना के बाद समूचे यूनान का बौद्धिक केन्द्र बन गया। अब तक एथेन्स को बाहर से आने वाले विदेशी सोफिस्ट ज्ञान प्रदान करते थे, अब एथेन्स की अकादमी में पढ़ने के लिए अन्य यूनानी राज्यों से जिज्ञासु विद्यार्थी आने लगे। अरस्तू इसी प्रकार उत्तरी यूनान के मेसीडोनिया राज्य के स्टैगिरा नामक नगर से अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने यहाँ आया था। एथेन्स अब 'यूनानियों का विद्यालय' (School of the Hellas) बन गया। इस अकादमी में गणितशास्त्र आदि भौतिक विज्ञानों की शिक्षा को बड़ी प्रधानता दी जाती थी। कहा जाता है कि इसके प्रवेश द्वार पर यह वाक्य अंकित था—"गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है।" किन्तु इसके साथ ही यहाँ राजनीतिज्ञ, कानूनवेत्ता और दार्शनिक शासक बनने की शिक्षा भी दी जाती थी। प्लेटो यहाँ व्यक्तियों को उत्तम शासन की शिक्षा देकर तत्कालीन राजनीति के दोषों का सुधार करना चाहता था। यह उसके कुल की देशसेवा करने की पुरानी परम्परा के सर्वथा अनुकूल कार्य था।

३६७ ई० पू० में प्लेटो को दासरूप में बिकवाने वाले दियोनिसियस प्रथम की मृत्यु के बाद ३० वर्षीय **दियोनिसियस द्वितीय** राजगद्दी पर बैठा और वह दियोन की प्रेरणा से दार्शनिक शासक बनने की शिक्षा लेने के लिए तैयार हो गया। दियोन (Dion) ने प्लेटो को सिराक्यूज़ आकर अपने आदर्श को क्रियात्मक रूप देने की प्रार्थना की। प्लेटो इस समय ६० वर्ष का था, उसका सिराक्यूज़ का पहला अनुभव दुःखपूर्ण था, फिर भी वह यह सोचकर वहाँ गया कि उसके वहाँ न जाने से वह और उसका विद्यालय दोनों स्वप्नद्रष्टा, काल्पनिक और अव्यावहारिक समझे जायेंगे, इसके अतिरिक्त वह सिराक्यूज़ तथा सिसली की सब बस्तियों को संगठित करके कार्थेज के खतरे को रोकना चाहता था। उसने लिखा था कि "यदि मैं वहाँ न जाता तो अपनी दृष्टि में स्वयमेव लज्जित होता।"

प्रारम्भ में प्लेटो शासक को दार्शनिक बनाने की प्रक्रिया में कुछ सफल हुआ, उसने उसे भूमितिशास्त्र (Geometry) पढ़ाना शुरू किया, उसकी देखादेखी अन्य दरबारी भी इसे सीखने के लिए रेत में त्रिभुजें आदि विभिन्न आकृतियाँ बनाने लगे, "दरबार में भूमितिभक्ति का ऐसा बवण्डर उठा कि सारा वातावरण धूलिमय हो उठा।" किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही, दियोनिसियस ३० वर्ष का हो चुका था, उसमें स्थिरचित्तता का अभाव था, उसे शीघ्र ही गुरु की शिक्षा नीरस बोझ प्रतीत होने लगी, चाटुकारों ने उसके कान भरे कि दियोन उसे दार्शनिक शासक बनाने के स्थान पर स्वयं शासक बनना चाहता है। दोनों में मनमुटाव यहाँ तक बढ़ा कि राजा ने दियोन को निर्वासित कर दिया, उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली, उसकी पत्नी का दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर दिया और दियोन को यह कहा कि निर्वासन को उसे विदेश में बिताई जाने

वाली छुट्टी समझनी चाहिए और भूमि तथा स्त्री के छिन जाने के कारण अपने को सम्पत्ति और परिवार की चिन्ताओं से मुक्त तथा स्वतन्त्र मानना चाहिए। इस अवस्था में प्लेटो ने निराश होकर एथेन्स लौटना ही श्रेयस्कर समझा। लौटते हुए तारैन्तम (Tarentum) के दार्शनिक शासक अर्खीतास (Archytas) से उसकी भेंट एवं मैत्री हुई और यह बाद में उसे लाभप्रद हुई।

३६१ ई० पू० में दियोनिसियस ने प्लेटो को सिराक्यूज़ आने का निमन्त्रण देते हुए उससे शिक्षा पाने तथा उसके उपदेशों पर चलने का आश्वासन दिया। दियोन अभी तक निर्वासित था। पिछले कटु अनुभव के कारण प्लेटो ६५ वर्ष की आयु में सिराक्यूज़ की तीसरी यात्रा करने को उत्सुक नहीं था। किन्तु तारैन्तम के शासक की प्रबल प्रेरणा पर वह वहाँ गया। उसने दियोनिसियस को दर्शनशास्त्र के अध्ययन की कठिनाइयाँ बतायीं, दियोन के साथ किये गये अन्याय को दूर करने को कहा। इसके परिणामस्वरूप दोनों में इतना वैमनस्य हुआ कि प्लेटो ने शीघ्र ही अपने को प्रतिष्ठित बन्दी की दशा में अनुभव किया, अपने मित्र तारैन्तम राजा के हस्तक्षेप और सहायता से ही वह सकुशल एथेन्स लौट सका। ८१ वर्ष की आयु में वह अपने किसी शिष्य के आग्रह पर रात को एक विवाह समारोह में सम्मिलित हुआ, उसके कोलाहल से परेशान होकर वह विश्राम और निद्रा के लिए एक दूसरे कमरे में चला गया। सबेरे शादी की धूमधाम समाप्त होने पर जब वर ने गुरु से आशीर्वाद लेने के लिए उस कमरे में प्रवेश किया तो वह चिरनिद्रा में विलीन हो चुका था। "दार्शनिकों का राजा और राजाओं को दार्शनिक बनाने वाला मृत्यु की रिपब्लिक में पहुँच चुका था।"

प्लेटो के ग्रन्थ – प्लेटो ग्रन्थ लिखने का विरोधी था, उसका कहना था कि वे चित्र में बनाई हुई व्यक्ति की आकृति की भाँति निर्जीव होते हैं, उनसे हमें अपनी शंकाओं का और जिज्ञासाओं का समाधान नहीं मिल सकता। फिर भी उसके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों की संख्या ३६ या ३८ मानी जाती है, इनमें प्रामाणिक ग्रन्थ केवल २८ हैं। इनमें से रिपब्लिक, नोमोई (Laws) जैसे कुछ ग्रन्थ विशालकाय हैं और इयोन जैसे कुछ ग्रन्थ बहुत छोटे हैं। उसके सब प्रामाणिक ग्रन्थों का बर्नेट द्वारा सम्पादित आक्सफोर्ड से प्रकाशित यूनानी संस्करण २६६२ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। उसके सभी ग्रन्थ संवाद या वार्त्तालाप (Dialogue) शैली में हैं, सब में अन्तिम सिद्धान्त पक्ष रखने वाला व्यक्ति सुकरात है। उसने अपने सब विचार गुरु के मुख से प्रस्तुत किये हैं और अपना व्यक्तित्व अपने गुरु में इतने पूर्णरूप से निमज्जित कर दिया है कि आज यह नीर-क्षीर विवेक करना बहुत कठिन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-से विचार प्लेटो के हैं तथा कौन-से सुकरात के हैं।[1] प्लेटो उत्तम कवि, नाटककार और साहित्यिक था, उसने गूढ़ दार्शनिक

---

१. प्लेटो के ग्रन्थों के प्रामाणिक यूनानी संस्करण के सम्पादक बर्नेट का यह विचार है कि प्लेटो के संवाद वास्तविक ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करते हैं और इनमें सुकरात के नाम से प्रतिपादित विचार वस्तुतः उसी के हैं। यदि इस मत को सत्य माना जाय तो सामान्य रूप से प्लेटो के अपने समझे जाने वाले विचार भी सुकरात के ही मानने पड़ेंगे। इनमें से मुख्य विचार ये हैं—विचारों का सिद्धान्त, साम्यवाद का समर्थन, तीन वर्गों का विचार तथा दार्शनिकों का शासन। किन्तु बार्कर का यह मत है कि ये विचार बीजरूप में भले ही सुकरात के हों, किन्तु इनके पूर्ण

संवादों को ऐसे नाटकीय एवं सजीव रूप में उपस्थित किया है कि इनमें औपन्यासिक रोचकता आ गयी है, उसका गद्य पद्य से अधिक प्रभावशाली और सरस है। इसे उसने प्राकृतिक जगत् के दृष्टान्तों तथा पौराणिक कथाओं के समावेश से मनोरंजक बना दिया है।

उसके ग्रन्थों में राज्यविषयक चिन्तन की दृष्टि से तीन ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) ३७८ ई० पू० के लगभग लिखा गया **पोलितेइया** अपने लैटिन नाम रिपब्लिक से अधिक प्रसिद्ध है। यह उसके आरम्भिक किन्तु परिपक्व विचारों का परिणाम है, इसमें उसकी साहित्यिक शैली परवर्त्ती ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और प्रौढ़ रूप में दिखाई देती है। (२) दूसरा ग्रन्थ **पोलिटिकस** या स्टेट्समैन (Statesman) ३६५ ई० पू० के लगभग लिखा गया था। (३) तीसरा ग्रन्थ **नोमोई** या लाज़ (Laws) ३६० से ३४८ ई० पू० के मध्य का है, इसका अधिकांश भाग उसने ७० वर्ष की आयु के बाद अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में लिखा और इसे उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद उसके शिष्य एवं लेखक ओपिस के फिलिप ने प्रकाशित किया। इसमें रिपब्लिक के विचारों जैसी ऊंची उड़ान नहीं है, सिराक्यूज़ के क्रियात्मक अनुभव के कारण उसके अपने पहले के विचारों में आवश्यकतानुसार संशोधन किया है। यहाँ इन ग्रन्थों के आधार पर उसके राजनीतिक विचारों का परिचय दिया जायगा, किन्तु इससे पहले उसके मौलिक सिद्धान्त जान लेना आवश्यक है।

विचारों का सिद्धान्त (Theory of Ideas)—यह आदर्शवादी (Idealist) प्लेटो के दर्शन का मौलिक मन्तव्य है। उसका यह मत है कि इस दृश्यमान जगत् में हमें विभिन्न परिवर्त्तनशील पदार्थ दिखाई देते हैं, इनमें रहने वाला अतीन्द्रिय बुद्धि-ग्राह्य, एकरस तत्व 'विचार' या आइडिया (Idea) हैं। उदाहरणार्थ, संसार में असंख्य गौएं मिलती हैं, भूत, वर्त्तमान और भविष्य में नाना रंग, स्वभाव की गौएं होती हैं, इनमें परिवर्त्तन होते रहते हैं, इन्हें बताने वाले शब्द सब भाषाओं में अलग-अलग हैं। किन्तु इन सब भिन्नताओं के होते हुए भी गौओं की कुछ स्वाभाविक विशेषतायें तीनों कालों में एक-जैसी रहेंगी। इन सब में सामान्य रूप से पाया जाने वाला एक आदर्श (Ideal) गोस्वरूप या गोत्व है, वह सब प्रकार के भेदों और परिवर्त्तनों से परे तथा स्वतन्त्र है। हमारे प्रत्यक्षानुभव में आने वाली गौएं इस आदर्श गो-स्वरूप की अधूरी आकृति हैं, सब गौएं इस आदर्श गो-स्वरूप की कुछ विशेषतायें रखने के कारण ही गौएं हैं। इस प्रकार गोत्व एक आदर्श स्वरूप है। विभिन्न गौओं के आकार नष्ट होते रहते हैं, किन्तु यह कभी नष्ट नहीं होता, अतः इसे Archetype या यूनानी भाषा में अर्खैति-यान का नाम दिया गया है, इसका अर्थ है—श्रेष्ठ आकार। भारतीय दर्शन की परिभाषा में इसे 'जाति' कहा जा सकता है। प्लेटो सभी दृश्यमान पदार्थों के आदर्श स्वरूप मानता है। ये आदर्श रूप अपने पृथक् जगत् में रहते हैं, इसे आदर्श जगत् कहा जाता है। यह क्षणभंगुर संसार नित्य वास्तविक आदर्श जगत् की अनुकृति, प्रतिलिपि या

विकास का श्रेय प्लेटो को है। सुकरात के अपने विशेष विचार केवल दो ही हैं—ज्ञान की सर्वोच्च सत्ता तथा राजनीतिज्ञता या शासन संचालन को कला समझने का विचार। (बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ९८-९९)।

छाया मात्र है। इन सब आदर्श विचारों का अन्त में सत् के विचार (Idea of Good) में एकीकरण होता है। यह आदर्श जगत् का सर्वोच्च, नित्य एवं शाश्वत रूप है। इसीसे सब विचारों का प्रगटीकरण और स्पष्टीकरण होता है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में सूर्य सब वस्तुओं का रूप देखने योग्य बनाता है, उसी प्रकार सत् का विचार सब वस्तुओं को समझने योग्य बनाता है। प्लेटो ने अपनी शिक्षा व्यवस्था में इस सिद्धान्त के अध्यापन पर बहुत बल दिया है।

प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव—प्लेटो ने यद्यपि अपनी आयु के १२ वर्ष विभिन्न देशों की यात्रा में बिताये थे, पिथागोरस के सिद्धान्तों का उस पर काफी प्रभाव पड़ा था, किन्तु सबसे अधिक प्रभाव सुकरात का पड़ा। प्लेटो की रचनाओं में हमें सुकरात के विचार सर्वोत्कृष्ट रूप में मिलते हैं। यह कहा जा सकता है कि उसकी दृष्टि से अपने गुरु की आकृति कभी ओझल नहीं हुई। वस्तुतः उसके ग्रन्थों में सुकरात और प्लेटो के विचार नीर-क्षीर की भांति ऐसे मिले हुए हैं कि इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता (देखिए पृ० ७७)। फिर भी प्लेटो कुछ बातों के लिए सुकरात का ऋणी है। यह बताया जा चुका है कि सुकरात साधता (Virtue) और ज्ञान को अभिन्न समझता था।[1] मेयर के शब्दों में "यदि हम ज्ञान तथा आचरण को एक मानें, तभी आचरण का एक स्थायी मानदण्ड बना सकते हैं। जिस ज्ञान का आचरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जो ज्ञान केवल ज्ञान के लिए सम्पादित किया जाता है, ऐसा ज्ञान इस यूनानी दार्शनिक की दृष्टि में निरर्थक है। ज्ञान केवल कुछ सूचनाओं का संकलन मात्र नहीं है, इसका चरित्र निर्माण के साथ गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान बुद्धि के माध्यम से समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह इच्छाशक्ति और भावनाओं का निर्माण करता है, साहस, संयम, न्याय आदि सभी गुणों (Virtues) की उत्पत्ति ज्ञान से होती है। साहसी व्यक्ति वही बन सकता है, जो भय तथा निर्भीकता का ज्ञान रखता हो।" प्लेटो ने इस विषय में सुकरात के विचारों का अनुसरण किया है।

(२) प्लेटो साधुता या भलाई (Virtue) के स्वरूप के सम्बन्ध में सुकरात के मत का अनुसरण करता है। इसके लिए मूल यूनानी शब्द अरैती (Arete) है, इसका अर्थ उत्कृष्टता है। प्रत्येक वस्तु की भलाई या उत्कृष्टता इस बात में है कि वह जिस प्रयोजन के लिए बनाई गई है, उसे पूरा करने का गुण उसमें हो। चाकू का गुण काटना है, इसका अच्छा या बुरापन इस पर निर्भर है कि वह कितनी अच्छी या बुरी तरह काट सकता है। इस प्रकार एक मनुष्य अन्य मनुष्यों की तुलना में अच्छा या बुरा हो सकता है, इसकी अच्छाई या बुराई दो प्रकार की होती है—(क) अपनी वृत्ति या व्यवसाय संबंधी —कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा चित्रकार, मूर्तिकार, बढ़ई, इंजीनियर या डाक्टर हो सकता है। (ख) किन्तु वस्तुतः, वही मनुष्य अच्छा हो सकता है, जिसमें मनुष्य को अच्छे बनाने वाले गुण अधिक मात्रा में हों। अच्छा आदमी अच्छे डाक्टर, वकील या इंजीनियर से सर्वथा भिन्न है। प्लेटो सुकरात के कथनानुसार मनुष्य के अच्छा होने के लिए उसमें चार गुणों का होना आवश्यक समझता है। ये गुण हैं— बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और

---

१. भगवद्गीता १३।११ में अमानित्व आदि गुणों को ज्ञान और इनसे विपरीत वस्तुओं को अज्ञान कहा गया है—एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

न्याय। ये चार गुण मिलकर मानवीय गुण (Human virtue) या भलाई (Goodness) का निर्माण करते हैं।[१]

(३) प्लेटो ने सुकरात से यह विचार भी ग्रहण किया कि शासन संचालन डाक्टरी, नौ-चालन आदि की भांति एक कला है और इसका ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञ व्यक्तियों को ही शासन का अधिकार दिया जाना चाहिए। सुकरात शासक की उपमा डाक्टर से देता है, उसका कहना है "जनता बीमार है, हमें अपने स्वामियों का इलाज करना चाहिए।"[२] डाक्टर को कई बार रोगी को ठीक करने के लिए कड़वी दवाइयां भी देनी पड़ती हैं। सुकरात आदर्श शासक का यह आवश्यक काम समझता है कि वह ऐसी दवाइयां भी दे; वह पेरिक्लीज़ आदि यूनानी राजनीतिज्ञों की भांति जनता की इच्छाओं को पूरा करने वाला चाटुकार नहीं, किन्तु कुशल चिकित्सक होना चाहिए।

(४) कोकर (Coker) के अनुसार प्लेटो की दार्शनिक पद्धति का आधार भी सुकरात की सत्ता (Reality) का सिद्धान्त है।[३] सुकरात के इस सिद्धान्त का यह आशय है कि सत्ता वास्तव में वस्तुओं के विचारों में रहती है, ये पूर्ण, स्थायी, अपरिवर्तनशील और स्वयंभू सत्तायें हैं और इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील, अपूर्ण पदार्थों के मूल में रहती हैं। प्लेटो ने इसी सिद्धान्त को पहले बताये गए विचारों के सिद्धान्त में प्रकट किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्लेटो ने सुकरात के विचारों को बीजरूप में ग्रहण किया और अपने चिन्तन द्वारा उन्हें विकसित, पुष्पित एवं पल्लवित किया।

रिपब्लिक का स्वरूप—यह प्लेटो की सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृति है। पश्चिम के दार्शनिकशिरोमणि द्वारा लिखे गये ग्रन्थों में यह मुकुटमणि का स्थान रखती है। इसे प्लेटो ने ४० वर्ष की अवस्था में अपने विचार परिपक्व और प्रौढ़ होने पर लिखा था। विषय वैविध्य और शैली की दृष्टि से यह उस का अनुपम ग्रन्थ है। प्लेटो की समग्र रचनाओं का प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद करने वाले बेंजमिन जोवेट ने लिखा है—"प्लेटो के ग्रंथों में अन्यत्र कहीं इससे अधिक तीखा व्यंग्य, परिहास, कल्पनायें अथवा नाटकीयता नहीं मिलती।" आकार की दृष्टि से रिपब्लिक प्लेटो के अन्य सब ग्रन्थों से बड़ा होता हुआ भी लाज़ (Laws) से छोटा है, किन्तु महत्व की दृष्टि से उससे बढ़ा चढ़ा है। रिपब्लिक के नाम से कुछ भ्रान्ति हो जाती है, आजकल इस शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली—गणराज्य के लिए होता है। किन्तु प्लेटो ने इसका प्रयोग इस संकुचित अर्थ में नहीं किया। उसने यूनानी भाषा में इसे पोलीतेइया (Politeia) का नाम दिया था, इसका अर्थ है राज्य की शासन व्यवस्था या संविधान।[४] अतः प्लेटो की रिपब्लिक में राज्य की आदर्श व्यवस्था का उल्लेख है, न कि उसके नाम के लैटिन अनुवाद रिपब्लिका से सूचित होने वाले गणराज्य की व्यवस्था का।

---

१. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० ३८। अरैती वैदिक अर्य, आर्य आदि का सजातीय शब्द है।

२. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १४०।

३. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० १।

४. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० ३५-३६।

किन्तु रिपब्लिक में केवल राज्य की व्यवस्था का वर्णन नहीं है। यह महाभारत की भाँति प्लेटो के विचारों का विश्वकोश है। इसमें नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि विविध विषयों का वर्णन है। रिपब्लिक का आरम्भ आचारशास्त्र और नैतिक दर्शन की समस्याओं से होता है। इसके आरम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि न्याय क्या है, इस ग्रन्थ का दूसरा नाम दिकायेग्रस पोलितिकास अर्थात् **'राजनीतिक न्याय विषयक'** है। अतः न्याय का एवं मानवीय आत्मा के नैतिक गुणों का विवेचन करने से यह आचारशास्त्र का ग्रन्थ है। नैतिक गुणों का विकास शिक्षा से संभव है, उत्तम शासन के लिए शासकों की शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। अतः इसमें शिक्षा संबंधी समस्याओं का विशद वर्णन है, इसको दृष्टि में रखते हुए फ्रेंच विचारक रूसो ने लिखा था—"रिपब्लिक राजनीतिशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है, किन्तु शिक्षा पर कभी भी लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।" (The Republic is not a work upon politics, but the finest treatise on education that ever was written.) यह राजनीतिशास्त्र का भी ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें विभिन्न शासन-प्रणालियों का, राज्य के स्वरूप का तथा आदर्श शासन-प्रणाली का वर्णन है। यह अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) का भी ग्रंथ है, क्योंकि इसमें विचारों के सिद्धान्त (Theory of Ideas) तथा ज्ञान के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन है। यह इतिहास के दर्शन (Philosophy of History) का भी ग्रन्थ है क्योंकि इसमें यह बताया गया है कि ऐतिहासिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया से किस प्रकार आदर्श राज्य का अधःपतन निरंकुश शासन (Tyranny) में होता है। इस प्रकार इस एक ही ग्रन्थ में अनेक शास्त्रों और विषयों का वर्णन है, इसका मुख्य करण यह है कि उस समय तक यूनानियों ने ज्ञान का विभिन्न शास्त्रों में सुस्पष्ट वर्गीकरण नहीं किया था। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने यद्यपि सर्वप्रथम अध्यात्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का पृथक् ग्रन्थों में प्रतिपादन किया, किन्तु फिर भी वह राजनीतिशास्त्र और नैतिक दर्शन को अभिन्न समझता था।

यूनानी प्रकृति के दर्शन (Philosophy of Nature) की तुलना में मानव के दर्शन (Philosophy of Man) को अधिक महत्त्व देते थे। प्लेटो के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि अच्छा आदमी कौन है और उनका निर्माण कैसे हो सकता है? यह मुख्य रूप से नैतिक प्रश्न होते हुए भी यूनानियों के लिए राजनीतिक प्रश्न था, क्योंकि वे यह मानते थे कि व्यक्ति राज्य का सदस्य बनकर ही उत्तम जीवन बिता सकता है। अतः पहले प्रश्न से स्वाभाविक रूप में यह दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि उत्तम राज्य क्या है और इसका निर्माण किस प्रकार संभव है। इस प्रकार नैतिक दर्शन राजनीति-शास्त्र में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु इन प्रश्नों का उत्तर ज्ञान पर निर्भर है, सुकरात के सिद्धान्त के अनुसार उत्तम गुणों वाले व्यक्ति के लिए ज्ञानी होना आवश्यक है, अतः तीसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उत्तम व्यक्ति को, अच्छा बनने के लिए कौन-सा चरम ज्ञान (Ultimate knowledge) पाना आवश्यक है। इस ज्ञान के स्वरूप का निर्धारण अध्यात्मशास्त्र द्वारा होता है। इस प्रश्न का अध्यात्मशास्त्र द्वारा समाधान होने पर चौथा प्रश्न यह पैदा होता है कि उत्तम राज्य मनुष्यों को सद्गुणी बनाने के लिए यह चरम ज्ञान किस प्रकार प्रदान करे। इसका उत्तर देने के लिए शिक्षा के सिद्धान्त

का प्रतिपादन करने की आवश्यकता है। शिक्षा पद्धति को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कुछ सामाजिक परिवर्त्तन करने आवश्यक होंगे, अतः सामाजिक पुनर्निर्माण आवश्यक है। इसके लिए समाज की आर्थिक व्यवस्था में भी कुछ परिवर्त्तन होने चाहियें। अतः प्लेटो ने मनुष्य को उत्तम बनाने के लिए रिपब्लिक में इन सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए एक साथ आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, राज्यशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की समस्याओं का विवेचन किया है। अतः यह मानव जीवन की सभी समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है। बार्कर ने इसके संबंध में यह सत्य ही लिखा है—"यह मानव के समग्र जीवन का दर्शन (Complete philosophy of life) का प्रयास है। प्रधान रूप से क्रियाशील मानव (Man in action) या मनुष्य के कार्य इसका विषय हैं, अतः इसका संबंध नैतिक और राजनीतिक जीवन की समस्याओं से है। किन्तु मानव एक समष्टि है, उसके कार्य उसके विचारों को जाने बिना नहीं समझे जा सकते, अतः रिपब्लिक मनुष्य के विचारों का व उसके कानूनों का भी विवेचन करती है। इस दृष्टि से रिपब्लिक मनुष्य का पूर्ण जीवन दर्शन है।"[१] नेटलशिप ने लिखा है, "इसमें मानवीय आत्मा के उत्थान और पतन का आदर्श चित्र है। यह बताया गया है कि वह किस प्रकार अपने विकास के चरम शिखर पर पहुंच सकती है और पतन के सबसे गहरे गढ़े में गिर सकती है, ऐसा करते हुए इसमें मानवीय आत्मा की और इसकी समूची प्रकृति का वर्णन किया गया है।"[२] अतः, यह मानवीय जीवन के दर्शन का नाटकीय रूप से वर्णन (Dramatised philosophy of life) है।

रिपब्लिक में मानव जीवन की समस्याओं का समग्र चिन्तन करते हुए बड़े विविध और व्यापक विषयों पर विचार किया गया है। विल ड्यूरैण्ट के शब्दों में "इस ग्रन्थ में उस (प्लेटो) का अध्यात्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और कला का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसमें हम ऐसी आधुनिक समस्यायें पाते हैं, जैसे साम्यवाद, समाजवाद, नारीस्वातन्त्र्यवाद (Feminism), गर्भनिरोध, सुप्रजननशास्त्र, नीट्शे द्वारा बताई गई नैतिकता और कुलीनतन्त्र की समस्यायें, रूसो का प्राकृतिक दशा की ओर लौटने का सिद्धान्त तथा शिक्षा की समस्यायें, बर्गसों का Elan vital, फ्रायड का मनोविश्लेषण। यहां सभी कुछ है।"[३] पश्चिमी विद्वान् इसे महाभारत की भांति मानते हैं, जिसके विषय में यह कहा गया है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।" इसी लिए इमर्सन ने सिखा है—प्लेटो दर्शन है तथा दर्शन प्लेटो है। रिपब्लिक के बारे में कुरानशरीफ के संबंध में कही गयी हज़रत उमर की यह उक्ति सत्य है, "सब पुस्तकालय जला दो, क्योंकि उनका ज्ञान इस पुस्तक में आ गया है।"[४]

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १४५।
२. नेटलशिप—लैक्चर्स आन दी रिपब्लिक ऑफ प्लेटो, पृ० ५।
३. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० २२।
४. इमर्सन—रिप्रेजेण्टेटिव मैन, पृ० ४१।

रिपब्लिक का प्रतिपाद्य विषय—रिपब्लिक का ग्रन्थ दस पुस्तकों[1] में विभक्त है। पहली पुस्तक में न्यायसंबंधी प्रचलित विचारों का वर्णन है। दूसरी से चौथी पुस्तक तक न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए राज्य में और व्यक्ति में उसका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सामाजिक संगठन और राज्य के स्वरूप, विलासी राज्य, राज्य के संरक्षकों (Guardians) का स्वभाव, इनका प्रशिक्षण, शासकों का चुनाव, जीवनयापन का ढंग, संरक्षकों के कर्त्तव्य, राज्य के गुणों, आत्मा के तीन भागों तथा व्यक्ति के गुणों का वर्णन है। चौथी पुस्तक में स्त्रियों की स्थिति, संरक्षकों के लिए परिवार की व्यवस्था समाप्त करने तथा युद्ध के नियमों का वर्णन है। पांचवीं से सातवीं पुस्तक तक दार्शनिकों के राजा होने, दार्शनिकों के लक्षण, दार्शनिक के शासन करने की क्षमता का, उच्चतम ज्ञान का तथा उच्चतम अध्ययन के विषयों – गणित, भूमितिशास्त्र, ज्योतिष, तर्कविद्या (Dialectics) का वर्णन है। आठवीं तथा नवीं पुस्तक में समाज और आत्मा के पतन, न्यायपूर्ण तथा अन्यायी जीवनों की तुलना, आदर्श राज्य के कीर्त्तितन्त्र (Timocracy), अल्पतन्त्र, लोकतन्त्र व निरंकुश राजतन्त्र के रूप में परिणत होने की प्रक्रिया बताई गई है। दसवीं पुस्तक में दर्शन और कविता में विरोध प्रदर्शित करते हुए आदर्श राज्य से कवियों के बहिष्कार, आत्मा की अमरता तथा इहलोक और परलोक में न्याय से मिलने वाले सुफलों का वर्णन है।

यहां रिपब्लिक के राज्यशास्त्र विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण विचारों का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

न्याय का अर्थ – रिपब्लिक का आरम्भ और अन्त न्याय के स्वरूप की मीमांसा के साथ होता है। रिपब्लिक के वार्त्तालाप का श्रीगणेश एथेन्स से पांच मील दूर दक्षिण-पश्चिम में पिरेयस नामक बन्दरगाह के निवासी धनी व्यापारी कैफालस (Cephalus) के घर पर बैंदिस नामक देवी के उत्सव की रात्रि वाले दिन होता है। इस वार्त्तालाप में भाग लेने वाले व्यक्ति प्लेटो के दो बड़े भाई ग्लौकोन (Glaucon) और अदैमान्तस (Adeimantus), कैफालस (Cephalus) और उसका बेटा पोलीमार्कस (Polymarchus) तथा लिसियास और कैल्सीदोन (Chalcedon) का अलंकार-शास्त्री सोफिस्ट थ्रैसीमेकस (Thrysymachus) और सुकरात हैं। जब सुकरात अपने साथियों के साथ उपर्युक्त उत्सव देख कर लौट रहा था तो पोलीमार्कस ने उसे अपने घर आने के लिए निमन्त्रण दिया। घर पहुंचने पर कैफालस इन सब का स्वागत करता है, अपने अतीत जीवन का सिहावलोकन करते हुए महाकवि पिण्डार के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहता है—"जब कोई मनुष्य अपना जीवन **न्याय** और श्रद्धा के साथ बिताता है, तो उसके हृदय को आह्लादित करने के लिए तथा बुढ़ापे का पोषण करने के लिए

---

१. प्राचीनकाल में जब पुस्तकें पेपिरस के गोलों (Rolls) तथा खालों पर लिखी जाती थीं, तो एक बड़े गोल भाग या खाल पर लिखा जाने वाला अंश एक पुस्तक (Book) कहलाता था। इसका प्रतिपाद्य विषय के साथ कोई सम्बन्ध न होता था। अतः प्लेटो के ग्रन्थ का पुस्तकों में विभाजन सर्वथा कृत्रिम है। कार्नफोर्ड ने दी रिपब्लिक ऑफ प्लेटो (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१) में विषयों की दृष्टि से इसे अध्यायों में बांटा है। यहां रिपब्लिक के सभी उद्धरण इसी ग्रन्थ के आधार पर दिये गये हैं।

आशा सहचरी संगिनी के समान नित्य उसके साथ रहती है।" इस पर सुकरात यह प्रश्न करता है कि न्याय क्या है? यह रिपब्लिक का मौलिक प्रश्न है।

आजकल प्रधान रूप से न्याय का अर्थ न्यायाधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना होता है, किन्तु प्लेटो के मतानुसार न्याय कोई कानूनी परिभाषा नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने उन सब कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे, जिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है।[1] समाज और राज्य अपनी आवश्यकताओं तथा व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुसार उनके लिए कुछ कर्त्तव्यों और धर्मों का निर्धारण करते हैं, इनका यथावत् पालन ही न्याय है। भारतीय परिभाषा के अनुसार स्वधर्मपालन न्याय है।[2] किन्तु अपना सिद्धान्त पक्ष रखने से पहले प्लेटो ने उस समय न्याय के विषय में प्रचलित सभी धारणाओं का खण्डन किया है। ये धारणायें निम्नलिखित थीं।

न्याय संबंधी विभिन्न धारणाओं का खंडन—पहली धारणा कैफालस (Cephalus) की है। वह परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार न्याय का अर्थ "सत्य बोलना और

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १५३।

२. भगवद्गीता में इस पर बहुत बल दिया गया है। १८वें अध्याय में श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्म इनके स्वभाव के कारण उत्पन्न होने वाले गुणों के आधार पर निश्चित किये हैं (१८।४१)। इन कर्मों का वर्णन (१८।४२-४४) करने के बाद यह कहा गया है कि मनुष्य अपने-अपने कर्म में रत रहने से ही परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं (स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः १८।४५)। गीता बार-बार स्वधर्मपालन पर बल देती है। अच्छी प्रकार अनुष्ठान किये गये परधर्म की अपेक्षा गुणरहित अनुष्ठान किया गया अपना धर्म कल्याणकर है। (श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् १८।४६ मि० ३।३५)। अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना अच्छा है, दूसरे का धर्म भयदायक है (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ३।३५)। लोकमान्य तिलक के मतानुसार गीता की सबसे बड़ी शिक्षा अपनी योग्यता के अनुसार अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन निष्काम दृष्टि से करना है (गीतारहस्य, पृ० ५२३)। प्लेटो की Justice यही स्वधर्मपालन या स्वधर्मनिरति है।

कौटिल्य (१।३) ने स्वधर्म का महत्व बताते हुए राजा का यह कर्त्तव्य बताया है कि वह सब प्राणियों से स्वधर्म का पालन कराये। १।३—स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्। स्वधर्मं सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति। व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति। मि० १।४, चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दंडेन पालितः। स्वधर्मकर्माभिनिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥ मि० मनुस्मृति ७।३५, स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ वसिष्ठ धर्मसूत्र १९।२ राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्॥ मि० कामन्दक २।२५।

प्लेटो ने (रिपब्लिक, पृ० १२६) समाज के संरक्षक, सैनिक तथा उत्पादक नामक तीन वर्गों के व्यक्तियों द्वारा अन्य वर्गों के कार्य करना राज्य के लिए अत्यधिक हानिप्रद माना है। उदाहरणार्थ, सैनिक को कृषि अथवा शासन का, शासक को लड़ाई या उत्पादन का कार्य नहीं करना चाहिए। यह सबसे बड़ा अन्याय है। मनु (१०।६१) में इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि राज्य की तभी तक उन्नति होती है, जब तक उसमें स्वधर्म का पालन करने वाले वर्गों की विशुद्धता बनी रहती है। मि० शुक्रनीतिसार ४।१।२१५-१६।

ऋण चुकाना" समझता है। किन्तु प्लेटो का सुकरात कहता है कि यह परिभाषा दोषपूर्ण है क्योंकि ये दोनों कार्य कभी न्याय और कभी अन्याय हो सकते हैं। "उदाहरणार्थ मैं समझता हूं कि यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि यदि कोई आदमी अपने स्वस्थ चित्त मित्र से अस्त्र ले और तदुपरान्त अस्त्र देने वाला पागल हो जाय और उन अस्त्रों को वापिस मांगे तो ऐसी अवस्था में हमें उनको नहीं लौटाना चाहिए और ऐसी अवस्था में जो उनको लौटायेगा, वह न्याय करने वाला नहीं कहा जा सकता।"[1]

इसके बाद कैफालस का बेटा पोलीमार्कस पिता के पक्ष का समर्थन करते हुए न्याय की **दूसरी परिभाषा** यह करता है कि यह प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित (अंश) देना है। पर यह 'उचित' क्या है? कुछ विवाद के बाद यह परिणाम निकाला जाता है कि मित्र के प्रति भलाई और शत्रु के प्रति बुराई करने की कला (Art) न्याय है। प्लेटो के सुकरात ने इस परिभाषा में निम्न दोष बताये हैं—(१)यदि अच्छाई करना या बुराई करना एक कला[2] है तो यह अन्य कलाओं के समान दो विरोधी कार्य कर सकती है। चिकित्सक अपनी कला से रोगी को स्वस्थ तथा स्वस्थ को रोगी बना सकता है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह इसका प्रयोग भलाई के लिए करता है या बुराई के लिए। क्या न्याय भी ऐसी कला है? यदि हम उसका प्रयोग अपनी इच्छानुसार करने लगेंगे तो इसे न्याय नहीं कहा जा सकता। स्वेच्छाचार न्याय का पर्याय नहीं हो सकता। (२) यह कहना आसान है कि न्याय मित्रों के प्रति भलाई और शत्रुओं के प्रति बुराई करना है। किन्तु मित्र और शत्रु का निश्चय कैसे होगा। कई ऊपर से मित्रता का ढोंग करते हुए वास्तव में शत्रु होते हैं। इनके प्रति क्या भलाई का व्यवहार किया जाना उचित है? यदि किया जाय तो यह हमारे लिए हितकर न होगा और न किया जाय तो न्याय की उपर्युक्त परिभाषा गलत हो जायगी। (३) यह भी विचारणीय प्रश्न है कि क्या हमारा शत्रुओं के प्रति बुराई करना न्याय है। जिन व्यक्तियों के साथ बुराई की जाती है, उनका अधःपतन हो जाता है। किसी व्यक्ति की स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक खराब करना न्याय का ध्येय कभी नहीं हो सकता। (४) मित्र और शत्रु के प्रति भलाई और बुराई का विचार दो व्यक्तियों के बीच का संबंध होने से वैयक्तिक है, यह व्यष्टिवादी (Individualistic) सिद्धान्तों पर आधारित है। इसमें

---

१. कार्नफोर्ड—रिपब्लिक, पृ० ७।

२. प्लेटो भलाई को कला समझता है। वह सुकरात की भांति यह मानता था कि जीवन भी एक कला है। जिस प्रकार भवननिर्माता भवन-निर्माण कला का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपनी इस योग्यता या गुण (Arete) अरैती के कारण उत्तम मकान बनाता है। इसी प्रकार जीवन-कला के उत्कृष्ट ज्ञान के कारण वह जीवन को सुखमय बना सकता है। इसके लिए उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि जीवन का क्या उद्देश्य है, कौन-सी वस्तुयें वास्तव में महत्व रखती हैं, और इन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञान मनुष्य के नैतिक गुण (Moral virtues) हैं। मानव-जीवन का लक्ष्य सम्पत्ति या सत्ता प्राप्त करना नहीं है, ये बिल्कुल निरर्थक हैं। इन्हें प्राप्त करने वाले व्यक्ति के सब कार्य गलत होंगे। अतः समाज का शासन उन्हीं व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए, जो सुदीर्घकालीन शिक्षा द्वारा मानव जीवन के उद्देश्यों का और भलाई के सब रूपों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर चुके हों। (रिपब्लिक कार्नफोर्ड—वही, पृ० ८)।

व्यक्ति को केन्द्र बना कर भलाई बुराई की जाती है। किन्तु न्याय एक सामाजिक विचार है, समष्टि के हितसाधन या कल्याण करने की दृष्टि से किया गया कार्य न्याय हो सकता है। पोलीमार्कस की परिभाषा उपर्युक्त चार दोषों के कारण मान्य नहीं हो सकती।

तीसरी धारणा थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) की है। कैफालस और पोलीमार्कस की धारणायें प्राचीन यूनान की परम्परागत नैतिकता (Traditional Morality) का प्रतिपादन करती थीं; थ्रेसीमेकस की धारणा पांचवीं शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध में उत्पन्न होनेवाली सोफिस्टों की नवीन क्रान्तिकारी धारणा थी (देखिये ऊपर पृ० ६०–४)। थ्रेसीमेकस ने इसे दो स्थापनाओं के रूप में रखा है—(१) **पहली** स्थापना के अनुसार **न्याय शक्तिशाली का स्वार्थ** (Interest of the Stronger) है। शक्तिशाली व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जो कानून या व्यवस्था बनाता है, वही न्याय्य (Just) होती है। 'राजा करे सो न्यांव', 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त जगत् में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। सभी शासक अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कानून बनाते हैं और प्रजा को इस कानून का अनुसरण करना पड़ता है। इस सिद्धान्त में न्याय (Jus) और शक्ति (Potentia) को अभिन्न माना गया है। **दूसरी** स्थापना यह है कि अन्यायी न्याय से, साधुता (Virtue) और बुद्धि की दृष्टि से अच्छा होता है, अन्याय अधिक शक्तिशाली तथा प्रसन्नता देने वाला होता है। थ्रेसीमेकस लौकिक उदाहरणों से इस पुष्ट करता हुआ कहता है, "सर्वप्रथम पारस्परिक व्यवहार का ही उदाहरण ले लो, जब कभी न्यायी और अन्यायी दोनों किसी व्यापार में साझा करेंगे तब साझे की समाप्ति पर तुम कभी ऐसा नहीं देखोगे कि न्यायी मनुष्य को अन्यायी मनुष्य से अधिक धन मिला हो, बल्कि उसको सर्वदा कम ही मिलता है। फिर राज्य से इनका जो संबंध है, उसे लो, जहाँ प्रत्यक्ष कर देने का प्रश्न आता है वहां बराबर सम्पत्ति पर न्यायी मनुष्य अधिक कर देता है और अन्यायी कम और जब राज्य की ओर से धन वितरण होता है तो अन्यायी बढ़कर हाथ मारता है और न्यायी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता।" सरकारी पदों पर आरूढ़ होने वाले अन्यायी (Unjust) व्यक्ति बहुत लाभ उठाते हैं और न्यायी (Just) न केवल स्वयं लाभ नहीं उठाता, अपितु वह अपने इष्ट-मित्रों और परिचितों को नाराज कर देता है, क्योंकि वह उनकी सेवा अन्यायपूर्वक नहीं करना चाहता। छोटे पैमाने पर चोरी, डकैती, देव-मन्दिरों की लूट करने वाले चोर तथा डाकू कहलाते हैं, राज्य द्वारा पकड़े जाने पर दण्डित होते हैं, किन्तु जब कोई राजा किसी अन्य देश के नागरिकों की सम्पत्ति हरण करके उन्हें अपना बना लेता है, तो वह विजेता एवं सुकृती कहलाता है, उसके शौर्य की गाथा गायी जाती है। 'अतः, हे सुकरात, पर्याप्तरूप से बड़े पैमाने पर किया गया अन्याय, न्याय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, स्वच्छन्द तथा अधिक अधिकारपूर्ण है।'[1]

प्लेटो थ्रेसीमेकस की पहली स्थापना का खण्डन करते हुए निम्नलिखित तर्क उपस्थित करता है। शासन करना एक कला (Art) है, सब कलाओं का लक्ष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करना नहीं, किन्तु उन वस्तुओं के दोष दूर करना है, जिनके साथ उनका सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ सच्चे वैद्य की कला का उद्देश्य रोगियों को ठीक

१. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० २४-२५।

करना होता है, न कि अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि। सच्चा गुरु अपने विद्यार्थी के मन के दोषों को दूर करके उसे विद्वान् और बुद्धिमान् बनाता है, न कि स्वयं अपना कोई हित साधन करता है। आदर्श वैद्य और आदर्श गुरु वही हो सकता है जो रोगी तथा शिष्य के कल्याण का ध्यान रखे, उसके सब दोषों को दूर करे। इसी प्रकार आदर्श शासक वही है जो अपने नहीं, किन्तु शासित प्रजा के हितों का ध्यान रखे और उसके दोषों, दुःखों, कठिनाइयों का ध्यान रखे। उसका लक्ष्य स्वार्थ-सिद्धि नहीं, किन्तु प्रजा का कल्याण करना है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि न्याय शक्तिशाली शासक का स्वार्थ है। जिस प्रकार गडरिये और ग्वाले अपनी भेड़ों और पशुओं के हित का ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार राजा प्रजा के हित की चिंता करता है।

दूसरी स्थापना का निराकरण उसने इस प्रकार किया है कि प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित कार्य (Function) और धर्म (Virtue) होता है, इसे वही अच्छी तरह कर सकती है। आंख का धर्म देखना है, कान का धर्म सुनना है। इसी प्रकार आत्मा का भी निश्चित कार्य जीवन (Life) और धर्म उत्तम जीवन (Good life) बिताना है। कोई भी वस्तु अपना कार्य उस समय नहीं कर सकती, जब यह अपने स्वाभाविक धर्म से रहित हो जाय। अग्नि का कार्य जलाना है, यदि वह अपने धर्म दाहकत्व से रहित हो जाय तो वह पदार्थों को नहीं जला सकती। इसी प्रकार आत्मा अपना कार्य उसी दशा में भली-भांति कर सकती है, जब कि वह उत्तम जीवन के गुण, अर्थात् न्याय से युक्त हो। आनन्द भी इसका स्वाभाविक गुण है, यह इसे तभी मिलता है, जब यह उत्तम जीवन बिताने तथा न्यायपरायण रहे। अतः न्यायी आत्मा ही सुखी होती है।[1] यह निर्विवाद है कि दुःख (Misery) से सुख अधिक लाभदायक है, अतः सुखी न्यायी (Just) अन्यायी से अधिक लाभ में रहता है और यह कहना सत्य नहीं है कि अन्याय से मनुष्य को लाभ होता है और इससे वह सुखी रहता है।

वस्तुतः अन्याय न्याय की अपेक्षा कभी लाभप्रद नहीं हो सकता। न्याय-सम्बन्धी **चौथी व्यवहारवादी** (Pragmatic) धारणा ग्लौकोन (Glaucon) की है। यह हॉब्स के सामाजिक समझौते (Social contract) से मिलती है। इसके अनुसार आरंभ में मनुष्य प्राकृतिक दशा (State of Nature) में रहते थे, इसमें उन पर कोई प्रतिबन्ध न होने के कारण मात्स्यन्याय में निर्बलों को शक्तिशालियों का अन्याय सहन करना पड़ता था। यह अवस्था बड़ी शोचनीय थी। इसके तीन परिणाम हुए—(१) निर्बल व्यक्तियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें जितना अधिक अन्याय सहन करना पड़ता है, उतना अन्याय अपनी निर्बलता के कारण दूसरों पर नहीं कर सकते, अतः वे एक-दूसरे के साथ "ऐसा समझौता या ठहराव कर लेते हैं कि वे एक-दूसरे को न तो अन्याय करने देंगे, और न इसे सहन करेंगे।" (२) इस ठहराव के परिणामस्वरूप वे ऐसे कानून (Law) तथा परंपराओं (Conventions) का निर्माण करते हैं, जो आचरण का मानदण्ड तथा न्याय की संहिता (Code of justice) बन जाती है। (३) अन्ततोगत्वा इस समझौते और परम्पराओं के परिणामस्वरूप मानवीय प्रकृति आत्म-सन्तोष के लिए कार्य करने वाली सहज भावना (Real instinct) का परित्याग कर कानून की

---

१. रिपब्लिक कार्नफोर्ड, पृ० ३६–३६।

शक्ति स्वीकार कर लेती है। अतः न्याय वस्तुतः भय की उपज है और उसे कमजोर लोगों ने ठहराव द्वारा बनाया है। ग्लौकोन के शब्दों में "लोगों की राय है कि न्याय वास्तविक अच्छाई के रूप में स्वीकृत और पसन्द नहीं किया जाता, बल्कि ऐसी वस्तु माना जाता है कि **जिसकी मान्यता अन्याय करने की अक्षमता के कारण होती है,** क्योंकि कोई भी मनुष्य जो कि अन्याय करने की सामर्थ्य रखता है, और पुरुष कहलाने योग्य है, कदापि किसी मनुष्य के साथ अन्याय न करने और उसे न सहने का ठहराव नहीं करेगा और यदि ऐसा करे तो समझ लो कि वह पागल है।"[1] निर्बल व्यक्तियों के समझौते द्वारा इस प्रकार उत्पन्न किया जाने वाला न्याय का विचार थ्रेसीमेकस की इस धारणा के सर्वथा विपरीत है कि न्याय शक्तिशाली व्यक्तियों का स्वार्थ होता है, और वही समाज में इसकी सृष्टि कहते हैं। ग्लौकोन **समाज में न्याय के विचार के सृजन का श्रेय निर्बल व्यक्तियों को देता है।** वह इसका आधार शक्तिशाली की इच्छा नहीं किन्तु दुर्बल व्यक्तियों का भय और आशंका मानता है।

प्लेटो इस धारणा से सहमत नहीं है। वह कानून और न्याय को किसी समझौते पर आधारित बाह्य वस्तु नहीं मानता, किन्तु आत्मा का आन्तरिक गुण समझता है। अतः वह यह सिद्ध करता है कि न्याय की उत्पत्ति किसी बाह्य साधन से नहीं हुई, यह सनातनकाल से आत्मा का धर्म होने के कारण इसमें रहनेवाली आन्तरिक वस्तु है और इसको समझने के लिए मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु यह प्रकृति बहुत सूक्ष्म है। जिस प्रकार एक ही पोथी की दो पांडुलिपियां हों, एक सूक्ष्म अक्षरों में तथा दूसरी स्थूल अक्षरों में लिखी हो तो सूक्ष्म अक्षरवाली प्रति स्थूल अक्षर वाली पोथी की सहायता से बड़ी सुगमतापूर्वक पढ़ी जा सकती है। इसी प्रकार न्याय का गुण व्यक्ति की आत्मा में रहता है और इसका विराट् रूप राज्य में भी रहता है। अतः इसका यथार्थ रूप जानने के लिए मोटे अक्षरों की सहायता लेनी चाहिए और राज्य के विराट् रूप में इसके दर्शन करने चाहियें। अतः, न्याय का स्वरूप समझने के लिए राज्य का स्वरूप समझना चाहिए। यह कोई वास्तविक ऐतिहासिक राज्य नहीं, किन्तु प्लेटो का आदर्श राज्य (Ideal State) है।

राज्य का स्वरूप - राज्य और व्यक्ति का संबंध – प्लेटो व्यक्ति और राज्य में **पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का** संबंध मानता है। व्यक्ति में जो गुण और विशेषतायें अल्प-मात्रा में पायी जाती हैं वही विशाल रूप में राज्य में पायी जाती हैं।[2] 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' **राज्य व्यक्ति की विशेषताओं का विराट् रूप है** (The State is a man writ large)। व्यक्तियों की चेतना और गुण राज्य की चेतना का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थ, किसी राज्य में यदि अच्छे व्यक्ति रहते हैं और किसी कुमारी का शील-भंग किये जाने पर उनकी वीरता तथा साहस ऐसी दुष्टता करनेवाले व्यक्ति के प्रति प्रकट होती है, तो उस देश पर विदेशी राजा द्वारा आक्रमण होने में उनका सामूहिक शौर्य आक्रान्ता के आक्रमण का निवारण करने पर प्रकट होगा। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की तथा राज्य की वीरता एक ही चेतनता में निवास करती है। व्यक्ति की तथा

---

१. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० ४३।
२. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० ५४।

राज्य की चेतनता में भेद नहीं किया जा सकता। राज्य की चेतनता अपने को राज्य का सदस्य समझने वाले व्यक्तियों की चेतनता से भिन्न नहीं हो सकती। इसी लिए प्लेटो पिण्ड को समझने के लिए ब्रह्माण्ड का, व्यक्ति को समझने के लिए राज्य का अध्ययन आवश्यक समझता है।

जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले सब कार्य आत्मा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राज्य के सभी कार्यों का उद्भव उन्हें निर्माण करने वाले मनुष्यों की आत्माओं से होता है। प्लेटो के शब्दों में "राज्य किसी ओक वृक्ष से या चट्टान से नहीं, किन्तु उनमें निवास करनेवाले व्यक्तियों के चरित्र से बनते हैं।" वीर पुरुषों का राज्य भी वीर होगा और नपुंसकों का नपुंसक। अतः मानवगुणों का अध्ययन उन से बने राज्यों के अध्ययन से हो सकता है। किन्तु राज्य की संस्थायें मानसिक विचारों का परिणाम हैं और इनकी वास्तविक सत्ता मन में ही है। न्याय और कानून की सत्तायें यद्यपि विधि संहिता (legal code), न्यायाधीश आदि के रूप में भौतिक सत्ता रखती हैं, किन्तु विचारों तथा चिन्तन का परिणाम होने से ये अभौतिक हैं, आध्यात्मिक एवं मानसिक विचार की कृति हैं। न्याय को स्थूल रूप से राजदण्ड और न्यायालयों में देखा जाता है, किंतु वस्तुतः वह आध्यात्मिक और मानसिक चिन्तन का परिणाम है। बार्कर के शब्दों में राज्य-विषयक चिन्तन में प्लेटो तथा अरिस्टाटल की एक बड़ी देन इसे बाह्य भौतिक सत्ता न समझकर, आन्तरिक आध्यात्मिक सत्ता मानना है।[1]

यदि राज्य आध्यात्मिक सत्ता है तो उसका स्वरूप समझनेके लिए मानवीय आत्मा का स्वरूप समझना आवश्यकहै। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त केअनुसार इसकी विशेषतायें ही राज्य की विशेषतायें होंगी। मानवीय आत्मा के स्वरूप के संबंध में प्लेटो ने पिथागोरस के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए इसे त्रिगुणात्मक माना है।[2] आत्मा में तीन गुण या तत्व हैं—काम अथवा क्षुधा (Appetite), उत्साह (Spirit) तथा विवेक (Reason)। कामतत्व से हममें राग, द्वेष, भूख, प्यास, तृष्णा, अपने शरीर को सुखी और सन्तुष्ट करने की नाना प्रकार की इच्छायें, वासनायें, आकांक्षायें और अभिलाषायें उत्पन्न होती हैं। दूसरा तत्व विवेक का है, यह मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त कराने में तथा प्रेम कराने में सहायक होता है। यह राज्य के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह मनुष्यों को बताता है कि उन्हें कौन-से कार्य करने चाहियें तथा यह उन्हें एकता के सूत्र में संबद्ध करता है। इन दोनों तत्वों का मध्यवर्त्ती उत्साह, ओज या शौर्य (Spirit) का तत्व है, यह मनुष्यों में लड़ने की भावना को प्रोत्साहित करता है। महत्वाकांक्षा, साहस और स्पर्धा के भावों को उत्पन्न करता है, विवेक के सहायक के

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १६८।

२. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० १२७–१३५। प्लेटो ने एक अन्य ग्रन्थ Timaeus में आत्मा के तीन तत्वों की शरीर के विभिन्न अंगों में स्थिति बतायी है। विवेक या बुद्धि मस्तिष्क में रहती है, काम या इच्छा के लिये नेत्र का तथा आत्मा के नियन्ता या मार्गदर्शक का कार्य करती है। उत्साह या शौर्य का निवासस्थान हृदय तथा काम का निवासस्थान पेट और जननेन्द्रियाँ हैं। इन तीनों की तुलना सांख्यदर्शन में प्रतिपादित सत्व, रज और तम गुणों से की जा सकती है।

रूप में मनुष्यों में अन्याय का प्रतिरोध करने तथा न्याय को स्वीकार करने की भावना उत्पन्न करता है। ये तीन तत्व प्लेटो के दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त हैं, इसी के आधार पर उसने राज्य को उत्पन्न करने वाले तीन तत्वों का तथा राज्य का निर्माण करने वाले तीन वर्गों का प्रतिपादन किया है।

राज्य का निर्माण करने वाले तीन तत्व और तीन वर्ग—जिस प्रकार मानवीय आत्मा का निर्माण तीन तत्वों से हुआ है, उसी प्रकार राज्य को उत्पन्न करने में तीन तत्व सहायक होते हैं—आर्थिक, सैनिक और दार्शनिक। आर्थिक तत्व (Economic Factor) का यह अभिप्राय है कि मनुष्य कामतत्व (Appetite) से संबंध रखने वाली भोजन, वस्त्र, निवास, आदि की आवश्यकतायें एकाकी रूप में पूर्ण नहीं कर सकता, ये अनेक व्यक्तियों के सहयोग से तभी पूर्ण हो सकती हैं, जब इन्हें पूरा करने के लिए समाज में अन्न उत्पन्न करने वाले किसानों, मकान बनाने वाले राजों, कपड़ा बनाने वाले जुलाहों, जूता बनाने वाले मोची आदि की विशेष आर्थिक श्रेणियां बन जायं।

समाज के लिए इस प्रकार का श्रम-विभाजन (Division of labour) बड़ा महत्वपूर्ण है। एक ही व्यक्ति अनाज पैदा करने, कपड़ा, जूता और मकान बनाने का कार्य नहीं कर सकता। जब इन कार्यों के लिए विभिन्न वर्ग बन जाते हैं तो ये एक ही कार्य करने से उसके विशेषज्ञ बन जाते हैं, उसे अधिक अच्छी तरह अधिक योग्यता और दक्षता के साथ करते हैं, उत्पत्ति अधिक होती है। समाज के विभिन्न भागों में कार्यों का बंटवारा होजाने से प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष कार्य को करता है। यही **विशेष कार्य का सिद्धान्त** (Theory of Specific Function) कहलाता है। समाज का विकास होने के साथ पेशों की संख्या बढ़ती जाती है। इन सब का आर्थिक सहयोग जीवन-यापन के लिए आवश्यक होने के कारण ये राज्य के रूप में संगठित होते हैं। इस प्रकार आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए राज्य का निर्माण होता है। इसमें प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति यदि अपना निश्चित कार्य ठीक करता रहे तो राज्य की आवश्यकतायें भली-भांति पूर्ण होती हैं और प्लेटो के मतानुसार यही न्याय (Justice) है। यदि किसान अपना काम ठीक न करे, अन्न का उत्पादन न हो तो समाज भूखा मरने लगेगा। किन्तु यदि वह अपने काम में लगा रहता है, उसे अधिक क्षमता के साथ करता है तो समाज को लाभ होगा। यही हाल राजनीतिज्ञों का है, यदि वे अपने शासन का कार्य ठीक करें, उसे अपनी महत्वाकांक्षा एवं स्वार्थ-सिद्धि का साधन न बनायें तो राज्य ठीक चल सकता है। इसका उपाय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति 'विशेष कार्य के सिद्धान्त' के अनुसार कार्य करे। "प्रत्येक व्यक्ति सदैव उसकी प्रकृति के अनुकूल एक ही कार्य में लगाया जाय, प्रत्येक व्यक्ति एक ही कार्य को करे, अनेक कार्य न करे, तभी सारा नगर (राज्य) एक होगा।"

आर्थिक तत्व के अतिरिक्त राज्य का निर्माण करनेवाला **दूसरा तत्व सैनिक** है। यह आत्मा के गुणों में उत्साह या शौर्य के साथ साम्य रखता है। केवल आर्थिक आवश्यकतायें पूरा करने वाला राज्य तो ग्लौकोन के शब्दों में केवल अपना पेट भरने मात्र से संतुष्ट होने वाला सूअरों का राज्य होगा।[1] मनुष्य को केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तोष नहीं होता, वह केवल रोटी से ही नहीं जीता, उसमें अपने को सुसंस्कृत एवं

---

१. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० ५६।

परिमार्जित बनाने की कुछ आकांक्षायें होती हैं। इनसे चित्र, मूर्त्ति, संगीत आदि कलाओं का जन्म होता है। इन्हें पूरा करने के लिए अधिक जनसंख्या और प्रदेश चाहिएं। यह प्रदेश युद्ध द्वारा प्राप्त हो सकता है।[1] अतः राज्य का एक कार्य पर्याप्त प्रदेश को उपलब्ध करना तथा उसे अपने अधिकार में बनाये रखना होता है। अतः राज्य में उत्साह (Spirit) या शौर्य का तत्व उत्पन्न होता है। राज्य की रक्षा के लिए शूरवीर रक्षकों (Guardians) की आवश्यकता होती है। विशेषीकरण (Specialisation) के नियम के अनुसार इसे करने वाले योद्धाओं का एक विशेष वर्ग होना चाहिए। इनसे राज्य अपनी रक्षा और प्रदेश-विस्तार का कार्य करता है। राज्य की सत्ता इन पर निर्भर है, अतः इनके प्रशिक्षण का विशेष प्रबन्ध किया जाना चाहिए। इसके बाद प्लेटो ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।

राज्य निर्माण का **तीसरा आधार दार्शनिक तत्व** है। इसका संबंध आत्मा के विवेक या बुद्धितत्व से है। पहले यह बताया जा चुका है कि उत्साह विवेक की सहायता से अन्याय का निर्मूलक तथा न्याय को बढ़ाने वाला होता है। प्लेटो के मतानुसार सैनिक राज्य का संरक्षक होता है और संरक्षक का स्वभाव रखवाले कुत्ते के समान घर वालों के साथ प्रेम का तथा चोरों के प्रति शत्रुता का होता है।[2] कुत्ता यह जानता है कि उसे किनके प्रति मृदुता और प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार रक्षक भी ज्ञान और विवेक द्वारा शत्रु और मित्र में भेद करके उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है। अतः राज्य के रक्षक में विवेक का गुण होना चाहिए। सैनिक योद्धा में यह गुण सामान्य रूप में पाया जाता है, किन्तु इसका विशेष विकास पूर्ण संरक्षक (Perfect guardian) या शासक में पाया जाता है। प्लेटो के मतानुसार संरक्षक दो प्रकार के होते हैं: (१) सहायक या सैनिक संरक्षक—इनका विशेष गुण शौर्य होता है तथा (२) दार्शनिक संरक्षक (Philosopher guardians), इनका विशेष गुण विवेक होता है। ये राज्य के वास्तविक संरक्षक होते हैं। शासक का विवेक विशेष रूप से इस बात में निहित है कि वह बुद्धिमान् हो तथा शासितों से प्रेम करे, उनका कल्याण अपना कल्याण तथा उनका अहित अपना अहित समझे।[3] वह अपने विवेक और प्रजा-प्रेम की भावना से राज्य की एकता को बनाये रखता है। राज्य के निर्माण में आर्थिक आवश्यकतायें या कामतत्व (Appetite) मनुष्यों को राज्य के रूप में संगठित होने की प्रेरणा करता है, उत्साह उनको सैनिक संगठन द्वारा सुदृढ़ बनाता है तथा विवेक मनुष्यों में एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न कर इस संगठन की एकता और स्थायित्व को सुदृढ़ बनाये रखता है।

विवेक राज्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, अतः विवेकसम्पन्न दार्शनिक को ही राजा होना चाहिए। किन्तु दार्शनिक प्रकृति सभी व्यक्तियों की नहीं हो सकती। 'समूची जनता कभी दार्शनिक नहीं बन सकती'।[4] अतः शासक वही होना चाहिए, जो दार्शनिक की बौद्धिक योग्यता रखे। इसका अभिप्राय यह है कि वह न्याय, सौन्दर्य, संयम (Temperance) के गुणों के मूल विचार (Ideas) जानता हो। उसे यह ज्ञात हो कि इस

---

१. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० ६० ।
२. वही, पृ० ६३ ।
३. वही, पृ० १०१ ।
४. वही, पृ० १६७ ।

दृश्यमान जगत् की विविध वस्तुओं के पीछे रहने वाले वास्तविक सत् का विचार (Idea of Good) क्या है और सब कार्यों और घटनाओं का क्या प्रयोजन है। शासक में विवेक और बुद्धि के गुण की पराकाष्ठा होनी चाहिए। राज्य का नियन्त्रण और संचालन इसी विवेक से होना चाहिए। दार्शनिक राजा (Philosopher King) का विचार प्लेटो के राज्य संबंधी विचारों का स्वाभाविक तर्कसंगत परिणाम है।

राज्य निर्माण के उपर्युक्त तीन तत्वों के आधार पर प्लेटो ने अपने राज्य में तीन वर्गों की सत्ता मानी है: (१) विवेक गुण का प्रतिनिधित्व करने वाले **संरक्षक** (Guardians), (२) उत्साह गुण के प्रतिनिधि **सैनिक या सहायक संरक्षक** (Auxiliary Guardians), (३) काम या क्षुधा तत्व की पूर्ति करनेवाले **उत्पादक या कृषक**। समाज का यह त्रैवर्गिक विभाजन मध्यकालीन योरोप में बड़ा लोकप्रिय हुआ। उस समय योरोपीय जनसमाज को निम्नलिखित तीन वर्गों में बांटा जाता था— (१) पादरी (Oratores), (२) योद्धा (Bellatores), (३) मजदूर वर्ग (Laboratores)। भारतीय समाज को धर्मशास्त्रकारों ने मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा सत्व, रज और तमो गुण के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में बाँटा है।[1] इनमें पहला वर्ण संरक्षकों से, दूसरा सैनिकों से तथा तीसरा चौथा वर्ण कृषकों से मिलता है। पश्चिमी विद्वान् उरविक ने तो यहां तक कल्पना की है कि समाज को तीन वर्गों में बांटने की प्रेरणा प्लेटो को भारत से मिली थी।[2]

प्लेटो का न्याय-विषयक सिद्धान्त—राज्य के स्वरूप की विस्तृत विवेचना करने के बाद प्लेटो रिपब्लिक के अन्त में पुनः न्याय का स्वरूप प्रतिपादित करता है। उसके मतानुसार व्यक्ति की भांति राज्य के भी चार धर्म या गुण (Virtues) हैं—बुद्धिमत्ता, साहस, संयम (Temperance or self-control) और न्याय।[3] पहले (पृ० ६०) में यह बतलाया जा चुका है कि राज्य और व्यक्ति में ब्रह्माण्ड और पिण्ड का संबंध होने से राज्य के गुण व्यक्तियों में पाये जाते हैं। अतः बुद्धिमत्ता राज्य के शासकवर्ग में रहती है, वह बुद्धि द्वारा राज्य का शासन करता है। साहस सैनिकों का गुण है तथा संयम उत्पादक वर्ग का। अब चार गुणों में से न्याय ही शेष रहा। यह क्या है और उसका अधिष्ठान क्या है? इस संबंध में प्लेटो का यह उत्तर है कि यह अपने निश्चित स्थान

---

१. भगवद्गीता १८।४१-४४।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

२. भोलानाथ शर्मा—आदर्श नगर व्यवस्था, पृ० ६६।

३. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० ११६-१२६।

(Station) में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना और दूसरे के कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप न करना है।[1] अतः, इसका निवास-स्थान या अधिष्ठान अपना निश्चित कर्त्तव्य पूरा करने वाले प्रत्येक नागरिक के मन में है। उसका यह मौलिक सिद्धान्त है कि 'एक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य करना चाहिए, जो उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो।' उदाहरणार्थ शासक यदि बुद्धिमत्तापूर्वक अपना कार्य करता है तो वह न्यायी है और वह राज्य भी न्यायी है क्योंकि इसका नागरिक अपने निश्चित स्थान में निश्चित कार्य को पूरा कर रहा है।
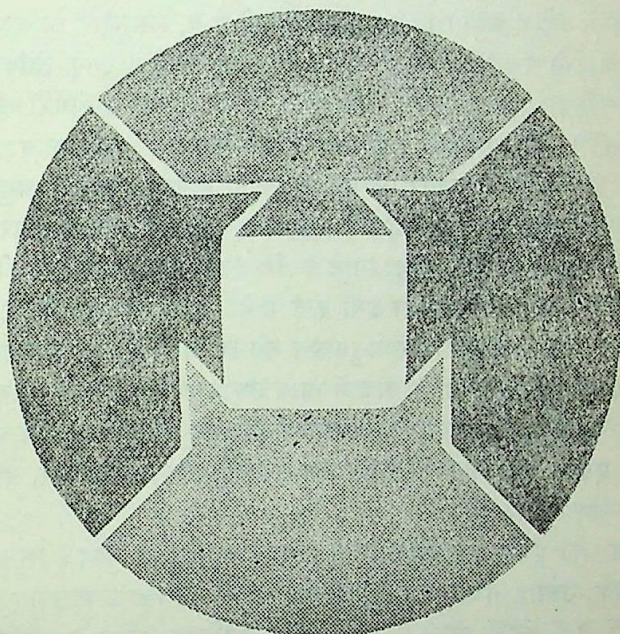
प्लेटो के आदर्श राज्य तथा न्याय का स्वरूप

प्लेटो के मतानुसार आदर्श राज्य में इसके विभिन्न अंग अपना समुचित कार्य करते रहते हैं। इन अंगों द्वारा अपने क्षेत्र में सीमित रहते हुए दूसरे अंगों के साथ सहयोग करते हुए अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को पूरा करना या स्वधर्म का पालन करना न्याय है। इस चित्र में विभिन्न रंगों वाले अंश जिस प्रकार समन्वय व सामंजस्य रखते हैं तथा अपने निश्चित क्षेत्र रखते हैं, इसी प्रकार न्याय में तथा आदर्श राज्य में सबके निश्चित क्षेत्र तथा कार्य होते हैं।

न्याय के दो रूप हैं—सामाजिक तथा वैयक्तिक। सामाजिक रूप में न्याय समाज के विभिन्न अंगों से उनके कर्त्तव्यों का पालन कराते हुए उनमें सामंजस्य तथा एकता बनाये रखता है। समाज के तीनों वर्ग —उत्पादक, सैनिक और शासक अपनी आवश्यकताओं के कारण एक होकर अपने निश्चित कर्त्तव्यों का पालन करते हुए समष्टि को बनाये रखते हैं। सैबाइन के शब्दों में "न्याय वह बन्धन है जो समाज को व्यक्तियों का

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १७६।

ऐसा सामंजस्यपूर्ण संगठन बनाता है, जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रशिक्षण के अनुसार कार्य करते हैं।"[1] व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए इससे अच्छी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती, वे अपने कार्यों को पूरा करें। "ट्रैफलगर में नैपोलियन के फ्रांस से लड़ने वाला इंगलैण्ड न्यायी था, क्योंकि उस युद्ध में नेल्सन के नेतृत्व में ब्रिटिश बेड़े के नौसैनिकों ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया था।"

फोस्टर के शब्दों से प्लेटो के सामाजिक न्याय का विचार वास्तुकारात्मक (Architectonic) है।[2] गृह-निर्माण का कार्य कराते हुए प्रधान वास्तुकार या इंजीनियर राजों, बढ़इयों, मूर्त्तिकारों से काम लेता है, ये उसके निरीक्षण में कार्य करते हैं। इनमें प्रत्येक का विशेष कार्य निश्चित होता है, वास्तुकार का कार्य सब के कार्य को ठीक प्रकार से संचालित करना और देख-रेख करना है। इसके विविध कार्यों में दो प्रकार की खूबियां और खामियां हो सकती हैं, पहली विशेष कारीगरों की और दूसरी वास्तुकार की। उदाहरणार्थ, एक दरवाज़े को लीजिये। इसे एक बढ़ई बहुत सुन्दर बना सकता है। किन्तु वास्तुकार को यह भी देखना होगा कि भवन के अनुपात में इसकी लम्बाई चौड़ाई तथा अन्य बातें ठीक हैं। ऐसा न होने पर सुन्दर से सुन्दर नक्काशीदार दरवाज़ा भी भद्दा लगेगा। यह स्पष्ट है कि इसकी खूबी वास्तुकार की कुशलता पर अवलम्बित है। उसकी विशेषता इसी बात में है कि वह विभिन्न प्रकार के कारीगरों पर इस प्रकार का नियन्त्रण और अनुशासन रखे कि भवन-निर्माण में किसी प्रकार का दोष न आने पाये। इसी प्रकार समाज में न्याय सब मनुष्यों से उनका कर्त्तव्य पूरा कराते हुए उन पर यह अंकुश रखता है कि वे सामर्थ्य होने पर भी अपने क्षेत्र से बाहर न जायें, समष्टि की एकता और हित को बनाये रखें, स्वधर्म का ही पालन करें, समाज के सभी अंगों में सामंजस्य बना रहे।

न्याय का दूसरा रूप **वैयक्तिक** है। पहले बताया जा चुका है कि आत्मा में तीन तत्व —विवेक, उत्साह तथा काम हैं। प्रत्येक व्यक्ति में विचार, भावनाएं तथा इच्छायें पायी जाती हैं। इनमें समन्वय बना रहना वैयक्तिक न्याय या मानवीय सद्गुण (Human virtue) है। यदि विवेक की लगाम न रहे, भावना या इच्छा प्रबल हो तो व्यक्तित्व का संतुलन बिगड़ जाता है और वह विघटित होने लगता है। उसमें तीनों तत्वों का सामंजस्य न रहने पर अवांछनीय स्थिति होती है। उसमें धर्मान्धता और कामान्धता उत्पन्न होती है। न्याय का प्रयोजन आत्मा के तीनों तत्वों में साम्यावस्था, सामंजस्य और व्यवस्था बनाये रखना है। यह सामंजस्य आत्मा के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना शरीर के लिए स्वास्थ्य है। इस प्रकार न्याय जहां एक ओर समाज में सामंजस्य स्थापित करने के कारण राज्य को एकसूत्र में आबद्ध करने वाला सामाजिक गुण है, वहां दूसरी ओर वैयक्तिक सद्गुण भी है, क्योंकि यह मनुष्य के आध्यात्मिक संतुलन को ठीक बनाकर उसे श्रेष्ठ और सामाजिक बनाता है। प्लेटो के दर्शन का यह प्रथम मौलिक सिद्धान्त (First Principle) है।

इतने लम्बे विचार-विमर्श के बाद न्याय के इस स्वरूप से पाठक को बड़ी निराशा

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६०।

२. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० ४१-४२।

होती है। यह कहा जाता है कि 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया'। प्लेटो ने इतनी लम्बी मीमांसा के बाद बड़ी सामान्य और पुरानी बात कही है। किन्तु इसमें यह स्मरण रखना चाहिए कि संसार में कोई विचार नवीन नहीं होता, परिस्थितियों के अनुसार ही उनका महत्व होता है। प्लेटो से पहले के समाज और राज्य में बड़ी आपाधापी तथा नैतिक अराजकता मची हुई थी। व्यष्टिवाद और स्वार्थपरता का साम्राज्य था, राज्य के पदों को अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति का साधनमात्र बनाया जा रहा था। प्रत्येक राज्य धनी-निर्धन के परस्पर संघर्ष करने वाले दो वर्गों (Stasis) या राज्यों में बंटा हुआ था।[1] प्लेटो के शब्दों में "इनमें से कोई भी एक राज्य नहीं है, क्योंकि कोई भी राज्य चाहे कितना छोटा क्यों न हो, वस्तुतः दो राज्यों में बंटा हुआ है—निर्धनों का राज्य और धनियों का राज्य, और ये दोनों एक-दूसरे से युद्ध कर रहे हैं – (रिपब्लिक)।[2] अरस्तू के शब्दों में उन दिनों व्यक्ति राजकीय पदों को इसलिए हथियाना चाहते थे कि वे उनसे लाभ उठा सकें और वैयक्तिक स्वार्थ सिद्ध कर सकें। एथेन्स की दशा बड़ी शोचनीय थी। सत्ता के लिए कुलीनों तथा लोकतन्त्रवादियों में प्रबल संघर्ष चल रहा था, कोई अपना कार्य ठीक तरह से नहीं करता था, किन्तु सत्ता को सब हथियाना चाहते थे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त न केवल क्रियात्मक रूप में था, अपितु थ्रेसीमेकस जैसे सोफिस्ट बुद्धि एवं तर्क की दृष्टि से इसे न्यायसंगत मान रहे थे। इनके विरोध में नैतिकता और सदाचरण को सुप्रतिष्ठित बनाने के लिए, तत्कालीन राज्य की कुरीतियों को दूर करने के लिए प्लेटो ने सुदृढ़ तर्क के आधार पर न्याय के विचार की स्थापना की। यह अन्यायी शासकों को तथा उनके दर्शन का समर्थन करने वाले थ्रेसीमेकस, कैलीक्लीज़ जैसे दार्शनिकों को चेतावनी थी कि न्याय केवल शक्तिशाली का स्वार्थ नहीं, वह समाज के सब अंगों का सामंजस्य है। कहा जाता है कि महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति को आध्यात्मिक बनाया। इसी प्रकार प्लेटो को यह श्रेय है कि उसने चौथी शताब्दी ई० पू० के राज्य-विषयक चिन्तन का अध्यात्मीकरण (Spiritualisation) करके उसे नैतिक बनाया। समाज में भले ही कुछ समय के लिए शक्ति के उपासक नैतिकता के सिद्धान्तों की अवहेलना करते हुए स्वच्छन्द आचरण करें, जूलियस सीज़र, नैपोलियन और हिटलर बनें। किन्तु अन्त में इनका दुःखान्त पराभव निश्चित रूप से होता है। सीज़र अपने साथियों द्वारा मार डाला गया, नैपोलियन का अन्त सेण्टहेलेना के बन्दी जीवन में हुआ, हिटलर ने बर्लिन के एक तहखाने में आत्महत्या की। इतिहास की साक्षी प्लेटो के न्याय की व्याख्या का पोषण करती है।

न्याय के विचार की आलोचना—यूनान की तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से न्याय की कल्पना उपयोगी होते हुए भी अनेक कारणों से यथार्थ नहीं प्रतीत होती। बार्कर के मतानुसार इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि "प्लेटो का न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है, वह केवल मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों तक सीमित करने वाली भावनामात्र है। कोई ठोस कानून नहीं है।"[3] न्याय कानून का पालन करानेवाला होता है, किन्तु प्लेटो का

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १४९-५०।
२. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० ११०-११।
३. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० १७८।

न्याय नैतिक भावना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्लेटो ने नैतिक कर्त्तव्य और कानूनी बाध्यता (Legal obligation) को मिला दिया है। इसका **दूसरा** दोष यह है कि इसमें कर्त्तव्य की भावना प्रधान है, किन्तु अधिकार का कोई विचार नहीं है। न्याय में कर्त्तव्य और अधिकार दोनों का विचार होना चाहिये। **तीसरा** दोष यह है कि इसमें व्यक्ति को केवल एक ही कार्य तक सीमित कर दिया गया है, उसमें विविध प्रकार की योग्यतायें होती हैं, केवल एक कार्य पर बल देने से अन्य योग्यताओं का विकास उपेक्षित रह जाता है, इससे न तो मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास होता है और न समाज का। समाज उसकी विभिन्न योग्यताओं के विकास के कारण उसे मिलने वाले बहुमूल्य लाभों से वंचित हो जाता है। **चौथा** दोष दार्शनिक राजाओं के हाथ में राजनीतिक सत्ता का एकाधिकार प्रदान करना है। इसमें इस मनोवैज्ञानिक तत्व की उपेक्षा की गयी है कि शक्ति मनुष्य को मदान्ध बनाती है। तुलसीदास जी के शब्दों में 'असको नर उपज्यो जगमांही। प्रभुता पाय नहीं मद जाहीं'। एक्टन के मतानुसार शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति (Absolute Power) पूर्णरूप से भ्रष्ट करती है। **पाँचवां** दोष यह है कि इसमें अधिकारों के कारण मनुष्यों में होने वाले स्वाभाविक संघर्षों के समाधान की कोई व्यवस्था नहीं की गयी। **छठा** दोष प्लेटो के न्याय के विचार का निष्क्रिय (Passive) और निश्चल (Static) होना है। यह प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित कार्य मान लेने के बाद उसकी उन्नति और विकास के सब द्वार अवरुद्ध कर देता है।

शिक्षा का सिद्धान्त—प्लेटो के विचार में न्याय राज्य का प्राण है, न्याय का अर्थ राज्य के विविध वर्गों द्वारा अपने कर्त्तव्यों और धर्मों का पालन है। यह तभी हो सकता है, जब उन्हें अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान हो। यह शिक्षा-पद्धति द्वारा ही संभव है। इससे हम सबको अपने यथार्थ कर्त्तव्यों का बोध करा के जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन ला सकते हैं और समाज की वर्त्तमान बुराइयों का संशोधन कर सकते हैं। बार्कर के शब्दों में यह मानसिक चिकित्सा द्वारा समाज की मानसिक व्याधि को ठीक करने का प्रयास है।[1] अतः, प्लेटो ने इस पर बहुत बल दिया है, इसका इतने विस्तार से वर्णन किया है कि रूसो के शब्दों में यह शिक्षाशास्त्र पर लिखी गयी सबसे सुन्दर पुस्तक है।

प्लेटो के समय में दो प्रकार की शिक्षा-पद्धतियां प्रचलित थीं। पहली पद्धति एथेन्स की थी तथा दूसरी स्पार्टा की थी। दोनों में कुछ गुण-दोष थे। इनके गुणों को लेते हुए तथा दोषों को दूर करते हुए प्लेटो ने अपनी शिक्षा-पद्धति की योजना बनाई। एथेन्स में शिक्षा राज्य का नहीं, किन्तु परिवार का निजी कार्य समझी जाती थी। रोमन साम्राज्य के समय तक यहां राज्य की ओर से कोई स्कूल नहीं बने थे। सोलन (Solon) के एक नियम के अनुसार माता-पिता का यह कर्त्तव्य था कि वे अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करें। एथेन्स की शिक्षा का पाठ्यक्रम तीन अवस्थाओं में बंटा था। पहली अवस्था में प्राथमिक शिक्षा के मुख्य विषय—पढ़ना, लिखना, प्राचीन कवियों के साहित्य का अध्ययन, व्यायाम और संगीत थे। यूनान में कवि धर्मगुरु भी समझे जाते थे, अतः साहित्य के अध्ययन से विद्यार्थियों को नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र की शिक्षा भी मिल जाती थी। प्राथमिक शिक्षा छः से चौदह वर्ष तक की थी। इसके बाद दूसरी माध्यमिक

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८१।

शिक्षा (Socondary education) धन देकर सोफिस्टों से प्राप्त की जाती थी। सोफिस्ट अलंकारशास्त्र, भाषणकला, राजनीति आदि पर व्याख्यान देते थे। इस शिक्षा का लाभ प्रायः धनी व्यक्ति उठाते थे। यह १४ से १८ वर्ष तक होती थी। इसके बाद तीसरी अवस्था (Tertiary stage) में १८ से २० वर्ष तक एथेन्स के युवक नागरिक अधिकार प्राप्त करने से पहले सैनिक शिक्षा ग्रहण करते थे। केवल दो वर्ष की अल्प अवधि में राज्य नागरिकों को सामाजिक शिक्षा प्रदान करता था।

प्लेटो के मतानुसार एथेन्स की शिक्षा जहां एक ओर युवक का समुचित मानसिक और शारीरिक विकास करती थी, वहां दूसरी ओर उसका बड़ा दोष यह था कि इसमें शिक्षा देना राज्य की नहीं, किन्तु परिवार की जिम्मेवारी समझी जाती थी। माता-पिता द्वारा दी जाने वाली शिक्षा राज्य की आवश्यकताओं तथा उसकी प्रकृति के प्रतिकूल होती थी और उत्तम नागरिक तैयार करने के स्थान पर उपद्रवी क्रान्तिकारियों को तथा राजनीतिज्ञों को उत्पन्न करती थी। प्लेटो के मत में इस शिक्षा का यह बहुत बड़ा दोष था और इसी लिए एथेन्स अज्ञानी और अयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासित होने के दुष्परिणाम भोग रहा था। एथेन्स में राज्य व्यक्ति को नागरिक होने की शिक्षा नहीं देता था और इसका दण्ड उसे यह भुगतना पड़ता था कि उसके अधिकारी निकम्मे होते थे। एथेन्स के राजनीतिज्ञों के अज्ञानी होने से प्लेटो के मन में इस शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध असंतोष एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इसके परिणामस्वरूप उसने अपनी शिक्षा-पद्धति में निम्न तत्त्वों पर बल दिया—(१) शिक्षा राज्य द्वारा दी जानी चाहिए। (२) शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिक बनाना और उन्हें अपने कार्यों का ज्ञान देना होना चाहिए (३) एथेन्स में शिक्षा देने वाले परिवार का उन्मूलन होना चाहिए। (४) शिक्षा द्वारा योग्य एवं ज्ञानी शासक—दार्शनिक राजा तैयार किए जाने चाहिएं और इस प्रकार सर्वोत्तम राज्य का सृजन करना चाहिए।

यूनान में दूसरी शिक्षा-पद्धति स्पार्टा की थी। इसने भी प्लेटो पर प्रबल प्रभाव डाला। इस योद्धा राज्य में एथेन्स के सर्वथा विपरीत प्राचीन काल से राज्य की ओर से कठोर प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रचलित थी। यहां शिक्षा में परिवार का कोई स्थान न था, ७ वर्ष की आयु से बालक राज्य के एक अधिकारी को सौंप दिये जाते थे। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य युवकों को कठोर सैनिक प्रशिक्षण द्वारा वीर क्षत्रिय योद्धा बनाना था ताकि वे स्पार्टा की रक्षा कर सकें। इन युवकों की अनेक प्रकार की कठिन परीक्षायें भी ली जाती थीं। स्त्रियों के लिए भी शारीरिक शिक्षा अनिवार्य थी। प्लूटार्क ने स्पार्टा के प्रसिद्ध नियम निर्माता लाइकरगस (Lycargus) की जीवनी में लिखा है कि यहां बालक बालिकायें एक साथ नग्नावस्था में विविध प्रकार के व्यायाम करते थे।[1] युवतियों के शरीर दौड़, कुश्ती, बर्छी, भाला फेंकने आदि के व्यायामों द्वारा सुपुष्ट बनाये जाते थे, ताकि उनकी सन्तान बलवान् और पुष्ट हों। पारिवारिक जीवन को राज्य की आवश्यकताओं के सम्मुख गौण समझा जाता था। बीस वर्ष की आयु के बाद वहां नागरिकों को विवाह

---

१. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ११६, मिलाइये प्लेटो—संरक्षकों की पत्नियां को व्यायाम के लिए नग्न होना चाहिए क्योंकि उनका सच्चा आवरण उनके सत्कर्म होंगे। कार्नफोर्ड—रिपब्लिक, पृ० १५१।

करने की स्वतंत्रता थी, किन्तु तीस वर्ष तक उन्हें 'पुरुषों के घर' (Men's house) में रहना पड़ता था, विवाह एक गुप्त एवं अवैध संबंध होता था, पति-पत्नी वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन का यापन नहीं कर सकते थे, बच्चे ७ वर्ष के होते ही उनसे पृथक् हो जाते थे। वहां की सामाजिक व्यवस्था भी राज्य की सैनिक आवश्यकताओं के अनुरूप थी। सब नागरिक सामूहिक भोजनालय में भोजन करते थे, इसका व्यय अपनी ज़मींदारी में दासों द्वारा करायी जाने वाली खेती की आमदनी से अदा करते थे। वहां यह सिद्धान्त था कि किसी भी नागरिक को अमीर या गरीब नहीं होना चाहिए, वहां कोई सोना, चांदी नहीं रख सकता था, मुद्रा लोहे की होती थी। शासनतंत्र कुलीनों के हाथ में था, जो आर्थिक एवं पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अपना सारा समय राज्य द्वारा निर्धारित प्रशिक्षण में और राजकीय कार्यों में लगाते थे। स्पार्टा की यह शिक्षा-पद्धति उन दिनों इतनी प्रसिद्ध थी कि एथेन्स से शिक्षा ग्रहण करने युवक यहां आया करते थे।[1] अपनी इस सैनिक शिक्षा-पद्धति के कारण स्पार्टा ने एथेन्स का पराभव किया और यहां अन्य नगरराज्यों की भांति शासन प्रणाली में परिवर्तन नहीं होते थे।

जब प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक लिखी तब स्पार्टा अपने राजनीतिक उत्कर्ष और प्रसिद्धि के शिखर पर था। उस पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उसने अपने आदर्श राज्य की अनेक विशेषतायें स्पार्टा से ग्रहण कीं, उसकी शिक्षा-पद्धति पर इसकी स्पष्ट छाप है। किन्तु स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति में कई गम्भीर दोष भी थे। इसका पाठ्य-क्रम बहुत संकुचित एवं एकांगी था, इसमें सैनिक शिक्षा को प्रधानता देते हुए साहित्यिक शिक्षा की उपेक्षा की गयी थी, अनेक स्पार्टावासी लिखना-पढ़ना तक नहीं जानते थे, यूनान के प्राचीन साहित्य से अपरिचित थे। वहां केवल शारीरिक शिक्षण था, मानसिक एवं बौद्धिक प्रशिक्षण उपेक्षित था। अतः यह शिक्षा मनुष्य को पूर्ण नहीं बना सकती थी। प्लेटो ने एथेन्स और स्पार्टा की शिक्षा-पद्धतियों की उत्तम बातों का अपनी शिक्षा-पद्धति में समन्वय करते हुए दोनों के दोष छोड़ दिये। उसने एथेन्स से व्यक्ति के पूर्ण विकास का विचार ग्रहण किया और स्पार्टा से उसके सामाजिक पहलू का विचार लिया, इसके अनुसार यह शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित और व्यक्ति को राज्य में अपने कर्त्तव्य का अच्छी तरह पालन करने के योग्य बनाने वाली होनी चाहिए।[2]

प्लेटो का शिक्षा के स्वरूप के संबंध में एक विशेष सिद्धान्त यह था कि मानवीय आत्मा या मन (Human soul or mind) बड़ा क्रियाशील है, वह सदैव पदार्थों की ओर दौड़ता रहता है, अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होता है। गुरु का कार्य इतना ही है कि वह विद्यार्थी के मानसिक नेत्रों को वह प्रकाश दे, जिससे वह वस्तुओं को यथार्थ रूप में देख सके। इस प्रकार शिक्षा बाह्य वातावरण के आत्मा पर पड़ने वाले प्रभाव की प्रतिक्रिया है। जिस प्रकार शरीर पर भोजन का प्रभाव आजीवन पड़ता रहता है, उसी तरह आत्मा पर वातावरण का प्रभाव मृत्युपर्यन्त पड़ता है। अतः, शिक्षा जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। किन्तु अवस्थानुसार मनुष्य पर बाह्य वातावरण की प्रतिक्रिया बदलती रहती है, अतः मनुष्य की शिक्षा के विषयों में भी अन्तर आता

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८५।
२. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८७।

रहता है। युवावस्था में आत्मा भावना एवं कल्पना प्रधान पदार्थों से प्रभावित होती है, अतः इस समय उसे संगीत, काव्य, साहित्य आदि की शिक्षा देनी चाहिए। इसके बाद दूसरे स्तर पर वह वैज्ञानिक विषयों से प्रभावित होती है, अतः इनकी शिक्षा देनी चाहिए। तीसरे स्तर पर बड़ी अवस्था होने पर उसमें तर्क-शक्ति का विकास होता है, अतः उसे दर्शन की शिक्षा दी जानी चाहिए। ताकि उसमें यह सामर्थ्य उत्पन्न हो कि वह अन्तिम परम तत्व या सत् के विचार (Idea of good) का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

अवस्था-भेद के क्रम से प्लेटो की शिक्षा दो बड़े भागों में विभक्त है—प्रारम्भिक शिक्षा तथा उच्च-शिक्षा। प्रारम्भिक शिक्षा १० से २० वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए है। यह मुख्य रूप से भावनाओं (Emotions) द्वारा चरित्र-निर्माण की शिक्षा है। इसका उद्देश्य उत्साह (Spirit) के गुण को तथा ऐसी भावनाओं को विकसित करना है, जो देश की आवश्यकताओं के तथा सैनिकों के कार्य के अनुरूप हों। यह मुख्य रूप से सामाजिक प्रशिक्षण है, इसका उद्देश्य ऐसे नागरिकों का वर्ग तैयार करना है जो सैनिक कार्यों के दायित्व को भली-भांति पूर्ण कर सकें। इसमें प्लेटो व्यायाम और संगीत के विषयों के अध्यापन पर बल देता है। पहला शारीरिक विकास के लिए है, और दूसरा मानसिक विकास के लिए। व्यायाम का अर्थ केवल शारीरिक कसरत नहीं, किन्तु शरीर को स्वस्थ बनाये रखने वाले आहारशास्त्र और चिकित्साशास्त्र का भी ज्ञान है। शारीरिक शिक्षण से शरीर इतना स्वस्थ हो जाना चाहिए कि वह बीमार ही न हो। प्लेटो के आदर्श राज्य में डाक्टरों का कोई स्थान नहीं क्योंकि वे बीमारी का इलाज करने के स्थान पर उसे बढ़ाते हैं। उसकी सम्मति में बीमारी आलस्य और विलासिता का परिणाम है, यह धनियों की चोंचलेबाजी है।[1] सब नागरिकों को स्वस्थ बनना चाहिए। शारीरिक शिक्षण का उद्देश्य शरीर को सुदृढ़ तथा स्वस्थ बनाने के साथ नैतिक दृष्टि से चरित्र का निर्माण करना भी है। यह सहिष्णुता, साहस तथा उत्साह (Spirit) और वीरता के मानसिक गुण उत्पन्न करने के लिए है। यूनानियों में अखाड़े (Gymanasia) प्लेटो से पहले ही सैनिक कवायद का साधन थे, ये प्रत्येक नगर-राज्य में हुआ करते थे, क्रीड़ाओं का, विशेष रूप से ओलिम्पिक खेलों, का यूनान के राष्ट्रीय और नागरिक जीवन में बड़ा महत्व था। प्लेटो ने इसे स्वीकार करते हुए इसे अपनी शिक्षा-पद्धति में ऊंचा स्थान दिया।

शारीरिक शिक्षण के साथ मानसिक विकास के लिए संगीत को रखा गया। संगीत का अर्थ कोरी गान विद्या नहीं, किन्तु यह काव्य, साहित्य, गीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र आदि सभी ललित कलाओं का प्रतीक है।[2] "लय और स्वरैक्य किसी भी अन्य

---

१. कार्नफोर्ड—रिपब्लिक, पृ० ९३–९५।

२. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक। यूनान में साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं की विविध शाखाओं की अधिष्ठात्री नौ देवियां मानी जाती हैं। इन्हें Muses कहा जाता था, इनके विभिन्न विषय और कलायें निम्नलिखित थीं—महाकाव्य, इतिहास, वंशीवादन, दुःखान्त नाटक, नृत्य, वीणावादन, पवित्र गीत, ज्योतिष और सुखान्त नाटक। इन नौ देवियों से संबंध रखने वाले शास्त्र और कलायें मौसीकी (Mousike) कहलाती थीं। बाद में इस शब्द का प्रयोग संकुचित होकर

वस्तु की अपेक्षा आत्मा के अन्तरतम प्रदेश में अधिक गहरे प्रविष्ट हो जाते हैं और उस पर सुदृढ़ अधिकार जमा लेते हैं और लालित्य इनका सहचर है। अतः यदि कोई इस विद्या में शिक्षित हो जाय तो वे आत्मा को ललित (Graceful) बना देते हैं।[1] संगीत समस्वरता (Harmony) में है, यह आत्मा में स्वरैक्य और सामंजस्य उत्पन्न कर मनुष्यों को न्यायी (Just) बनायेगा। संगीत एवं अन्य ललित कलायें मनुष्य के मन को सुशिक्षित बनाती हैं, उसमें उत्साह (Spirit) का तथा विवेक (Reason) की प्रसुप्त शक्ति का विकास करती हैं। "संगीत की शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति सुन्दर वस्तुओं की प्रशंसा करेगा, उनसे आनन्दित होगा तथा अपनी आत्मा के विकास के पोषण के लिए उनको अपनी आत्मा में ग्रहण करेगा एवं इस प्रकार स्वयं भला और सुन्दर बन जायगा।"[2]

किन्तु संगीत एवं अन्य ललित कलाओं के प्रशिक्षण में प्लेटो ने चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक अंशों तथा कला-कृतियों पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध (Censorship) लगाने की व्यवस्था की है। उसके मतानुसार साहित्य से इस प्रकार के सभी अंशों को निकाल देना चाहिए, जो देवताओं की प्रकृति के प्रतिकूल हों, उनसे बुरा काम कराते हों, विद्यार्थियों के साहस को शिथिल बनानेवाले हों, मृत्यु का भयावह रूप में चित्रण करते हों, असंयम उत्पन्न करने वाले हों, भोग-विलास के आनन्दों को चित्रित करने वाले हों।

प्लेटो इस शिक्षा द्वारा नागरिकों का ऐसा राज्य बना देना चाहता है कि जिसमें न्यायालयों और कानूनों की कोई आवश्यकता न रहे। आजकल राज्य का प्रधान कार्य कानून बनाना और उसका पालन कराना समझा जाता है। हॉब्स और लॉक के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों को कानूनी न्याय दिलाने की आवश्यकता से हुई है। किन्तु प्लेटो जिस प्रकार शारीरिक शिक्षण द्वारा अपने राज्य से डाक्टरों को निर्वासित करना चाहता है, इसी प्रकार संगीत की शिक्षा द्वारा वकीलों और न्यायालयों के बहिष्कार का पक्षपाती है। वस्तुतः ये दोनों आजकल इसी लिए पाये जाते हैं कि शिक्षा-पद्धति दूषित है। यदि संगीत और गानों की शिक्षा द्वारा सब नागरिकों के मनों में राज्य की व्यवस्थायें अंकित कर दी जायं तो वे स्वयमेव इनका पालन करेंगे, कानून बनाने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। डेनियल ओकोनेल (Danial O'connell) ने कहा था, "मुझे राष्ट्र के गीत लिखने दो। मैं इस बात की परवाह नहीं करता कि कौन कानून बनाता है।" प्लेटो का इसी प्रकार यह मत था कि मुझे एक देश के लिए उचित प्रकार के गीत लिखने दो, किसी व्यक्ति को इस देश के कानून बनाने की आवश्यकता नहीं होगी।" कानून मानसिक भावना का विषय है, जब यह भावना शिक्षाशास्त्री उत्पन्न कर दे तो कानून बनाने की आवश्यकता ही न रह जायगी।

बीस वर्ष की अवस्था में दस वर्ष की प्राथमिक शिक्षा के बाद युवकों की बौद्धिक

केवल संगीत के लिए होने लगा। प्लेटो के संगीत का अभिप्राय साहित्य एवं कला के सभी विषयों से है।

१. कार्नफोर्ड—रिपब्लिक, पृ० ८८।

२. वही।

और क्रियात्मक परीक्षा होगी।[1] इसमें उत्तीर्ण होने वाले ही आगे उच्च-शिक्षा के अधिकारी होंगे। अनुत्तीर्ण होने वाले व्यक्ति देश में सैनिक एवं उत्पादक वर्ग का निर्माण करेंगे, कृषक, मजदूर, कारीगर, व्यापारी और शिल्पी के कार्य करेंगे। अयोग्य व्यक्तियों का निस्सारण और उच्च-शिक्षा के लिए अधिकारी व्यक्तियों का चुनाव निष्पक्ष भाव से किया जायगा, इसमें धन, कुल आदि का कोई विचार न होगा।

उच्च-शिक्षा पाठ्य-विषय-गणित को महत्व देने के कारण—प्लेटो की उच्च-शिक्षा में दो स्तर हैं : बीस से तीस वर्ष तक का शिक्षण और ३० से ४० वर्ष तक का शिक्षण। यह शिक्षा राज्य का शासक या संरक्षक (Guardians) बनने वालों के लिए है। अवस्था-भेद से इनके पाठ्य-विषयों में भी अन्तर आ गया है। उच्च-शिक्षा में प्लेटो ने निम्न विषयों का अध्ययन रखा है—गणित, भूमितिशास्त्र, ज्योतिष, संगीत और दर्शनशास्त्र। गणितशास्त्र थेल्स से हिप्पार्कस तक यूनानी विद्वानों का बड़ा प्रिय विषय था। उन्होंने इसके विकास में बड़ा भाग लिया। प्लेटो के समय यह विकास बड़ी तेजी से हो रहा था, अतः उसने उच्च-शिक्षा में इसे प्रथम स्थान दिया। प्लेटो पर पिथागोरस का भी प्रभाव था। इसके अनुयायी गणित को प्रकृति के रहस्यों को खोलने की कुंजी समझते थे। प्लेटो इसे दर्शनशास्त्र की प्रथम सीढ़ी के रूप में बड़ा महत्व देता था। वह यह समझता था कि वास्तविक सत्ता विचारों (Ideas) के रूप में इन्द्रियगोचर प्रतीयमान जगत् के पीछे छिपी हुई है, अतीन्द्रिय होने के कारण उसका दर्शन तो नहीं हो सकता, केवल चिन्तन ही किया जा सकता है। अतः वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें ऐन्द्रियिक प्रतीतियों (Sense perceptions) से ऊंचा उठना चाहिए। गणित इसमें हमारा सहायक है, क्योंकि यह जिन विषयों का विवेचन करती है, वे इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। पुल के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। गंगा पर बने हुए एक बड़े पुल में हमें इन्द्रियों से केवल यही दिखाई देता है कि हजारों मन लोहा और सीमेंट लगा हुआ है, किन्तु गणितज्ञ और इंजीनियर मानसिक नेत्रों से यह जानता है कि इस पुल का लोहा और सीमेंट यन्त्र-विद्या (Mechanics) और गणित के किन नियमों के अनुसार किस मात्रा में लगा है और यह पुल किन नियमों के अनुसार बना है। उच्चतम गणितज्ञ स्थूल, इन्द्रियगोचर पुल को अमूर्त्त एवं सूक्ष्म नियमों के रूप में देखता है। अतः दर्शन के उच्चतम अमूर्त्त चिन्तन तक पहुंचने का प्रथम सोपान गणितशास्त्र है। प्लेटो के शब्दों में 'विशुद्ध सत्य की प्राप्ति में विशुद्ध बुद्धि का प्रयोग' गणित से सीखा जाता है।[2] इसका उस समय एक क्रियात्मक उपयोग युद्ध-विषयक भी था।[3] "योद्धा को संख्या (Number) के उपयोग का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वह अपनी सेनाओं को व्युह-रचना में व्यवस्थित नहीं कर सकेगा।" दर्शन के भावी अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने तथा युद्ध-में उपयोगी होने के कारण उच्च-शिक्षा में प्रथम स्थान गणित को दिया गया है। प्लेटो की अकादमी के प्रवेशद्वार पर यह वाक्य अंकित था कि 'गणित का ज्ञान रखने वाले ही इसमें प्रवेश के अधिकारी हैं।"

---

१. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० १०२।
२. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० २३७।
३. वही, पृ० २३६।

उच्च-शिक्षा का दूसरा विषय भूमितिशास्त्र (Geometry) गणित से ही संबद्ध था, इसका युद्ध में उपयोग था तथा यह सत् के विचार (Idea of good) के ज्ञान के लिए दृष्टि को निर्मल बनाने वाला था। तीसरा विषय ज्योतिष (Astronomy) तथा चौथा विषय संगीत का शास्त्रीय ज्ञान (Harmonics— समस्वरता-शास्त्र) था। ज्योतिष में केवल ग्रह-नक्षत्रों की गतियों के स्थूल ज्ञान पर नहीं, किन्तु इन गतियों को उत्पन्न करने वाले कारणों के अध्ययन पर बल दिया जाता था।

तीस वर्ष की आयु में उच्च-शिक्षा पाने वाले संरक्षकों (Guardians) में पुन: एक अन्य चुनाव एवं परीक्षा होती है। इसमें योग्य समझे जाने वाले व्यक्ति ही राज्य के पूर्ण संरक्षक बनेंगे। इनके लिए पांच वर्ष तक प्लेटो ने उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था की है। ये तीस से पैंतीस वर्ष की आयु तक दर्शनशास्त्र (Dialectics) का अध्ययन करते हैं, यदि गणितशास्त्र भौतिक पदार्थों से अमूर्त्त चिन्तन की ओर बढ़ने का पहला सोपान था तो विशुद्ध विचारों (Pure ideas) और अन्तिम सत् के विचार तक पहुंचने के लिए दूसरा सोपान दर्शनशास्त्र है, इसी के माध्यम से वह सत् के विचार तक पहुंचता है। (रिपब्लिक पृ० २४)।[1]

---

१. प्लेटो की राजाओं के लिए दर्शनशास्त्र आदि विविध शास्त्रों की शिक्षा हमें भारतीय शास्त्रकारों द्वारा राजा के लिए प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति का स्मरण कराती है। मनुस्मृति (७।४३), महाभारत शान्तिपर्व (५९।३३), कौटिल्य (१।२), याज्ञवल्क्य स्मृति (१।३११), कामन्दकीय नीतिसार (२।२), शुक्रनीतिसार (१।१५२), अग्निपुराण (२३८.८) के अनुसार राजा की शिक्षा के लिए चार विषय आवश्यक थे—(१) त्रयी (सोमदेव के मतानुसार ऋक्, यजु, साम, अथर्व वेद, छः वेदांग, इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र की १४ विद्यायें—नीतिवाक्यामृत ७।१), (२) दण्डनीति (राजशास्त्र), (३) वार्त्ता (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि अर्थशास्त्र संबंधी विद्यायें), (४) आन्वीक्षिकी-कौटिल्य (१।२) के मतानुसार यह सांख्य, योग और लोकायत दर्शन हैं। बाद में लोकायत का अर्थ भौतिक सुखवादी, नास्तिक चार्वाक दर्शन हो गया, किन्तु कौटिलय इसे इस संसार में विस्तीर्ण (लोकायत) अनुभव के आधार पर प्रतिष्ठित तर्कशास्त्र ही समझता है। शुक्रनीति (१।१५३) ने इसमें तर्कशास्त्र के साथ वेदान्त का भी समावेश किया है और राजनीति प्रकाश (पृ० ११८) में यह आत्मज्ञानोपयोगी न्याय विद्या मानी गई है। इस दृष्टि से इसकी तुलना प्लेटो के दर्शनशास्त्र (Dialectics) से की जा सकती है, प्लेटो की भांति भारतीय विचारक भी इन विद्याओं का अध्ययन राजा में विभिन्न गुणों को उत्पन्न करने की दृष्टि से उपयोगी मानते थे। कौटिल्य के मतानुसार "त्रयी में धर्म और अधर्म का, वार्त्ता में अर्थ-अनर्थ का और दण्डनीति में न्याय-अन्याय का निरूपण है। आन्वीक्षिकी से इनके बलाबल का ज्ञान होता है, यह सम्पत्ति और विपत्ति में बुद्धि ठीक रखती है। बुद्धिमत्ता, वाक्चातुर्य और कार्य में पटुता प्रदान करती है। सब विद्याओं का दीपक, सब कार्यों का साधक और सब प्रकार के धर्मों का आश्रय है।"

भारतीय इतिहास में इस प्रकार का प्रशिक्षण पाने वाले राजाओं के अनेक उदाहरण हैं। रामायण (१।१८, २४, २६, २।२।२०, २।१।३४-३५, ५।३५।१३-१४) में श्री रामचन्द्र और उसके भाइयों को वेद, वेदांग, धनुर्वेद आदि में पटु बताया गया है। हाथी गुम्फा अभिलेख (एपिग्राफिका इंडिका खं० २०, पृ० ७९) में कलिंग के राजा खारवेल ने लेख (सरकारी पत्र-व्यवहार), रूप (मुद्राशास्त्र), गणना (हिसाब) तथा गान्धर्ववेद की विद्यायें सीखने का उल्लेख किया है। महाक्षत्रप रुद्रदामा के शिलालेख (एपिग्राफिका इंडिका खं० ७, पृ० ४४) तथा समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से राजाओं

३५ वर्ष की आयु तक शिक्षा देने के बाद भी प्लेटो संरक्षकों के शिक्षण को अपूर्ण मानता है। अभी तक उन्हें कोरी बौद्धिक शिक्षा मिली है, उन्हें संसार का क्रियात्मक अनुभव नहीं है। शासक बनने के लिए यह नितान्त आवश्यक है। अतः प्लेटो ने अगले पन्द्रह वर्ष तक इन बुद्धिजीवी दार्शनिकों को संसार की पाठशाला में तूफानी थपेड़े और धक्के खाकर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था की है। इस प्रकार पचास वर्ष की आयु तक सांसारिक जीवन की कठोर परीक्षाओं में खरे उतरने वाले, लोक व्यवहार और शास्त्रों का गंभीर ज्ञान रखने वाले दार्शनिक ही प्लेटो की सम्मति में शासक बनने के अधिकारी हैं।

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति में कई बड़ी विशेषतायें हैं। **पहली** विशेषता इसका मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होना है, इसमें मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के तथा आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर शिक्षण की व्यवस्था की गई थी। **दूसरी** विशेषता इसकी सर्वाङ्गीणता है, इसमें शरीर और आत्मा दोनों के विकास पर समान बल दिया गया है, यह एकांगी या अधूरी शिक्षा नहीं है। संरक्षकों के प्रशिक्षण में बौद्धिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा को पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष दिये गये हैं।

की शिक्षा पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कालिदास ने रघुवंश (३।३०) में रघु द्वारा चार विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति) के सीखने का निर्देश किया है। अश्वघोष ने बुद्धिचरित (२ २४) तथा सूत्रालंकार में युवराज द्वारा अध्ययन किये जानेवाले विषयों का विस्तृत उल्लेख किया है। (बेनीप्रसाद—दी थियोरी ऑफ गवर्नमेंट इन एंशेण्ट इंडिया, पृ० २१८)। बाणभट्ट ने कादम्बरी में युवराज चन्द्रापीड द्वारा सीखे जाने वाली विद्याओं का निर्देश किया है (कादम्बरी—चौखम्भा संस्करण, पृ० २२६-३०)। इन विवरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजकुमारों की शिक्षा को असाधारण महत्व दिया जाता था और उन्हें प्लेटो का दार्शनिक राजा बनाने का प्रयत्न किया जाता था।

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति की भांति कौटिल्य ने भी राजकुमार के लिए विस्तृत शिक्षा-पद्धति का निर्देश किया है (१।५)। यह तीसरे वर्ष में मुण्डन के साथ प्रारम्भ हो जाती है, पहले वर्णमाला (लिपि) और गणित (संख्यान) की आरम्भिक शिक्षा दी जाती है। आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार होने के बाद उसे विद्वानों से त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्त्ता और दण्डनीति की शिक्षा दिलाई जाती थी। कौटिल्य यह शिक्षा नियमित रूप से १६ वर्ष तक दिये जाने की व्यवस्था करता है। किन्तु इसके बाद भी वह राजकुमार के लिए विद्यावृद्ध आचार्यों के सम्पर्क में रहते हुए दिन के प्रथम भाग में हस्ति, अश्व, रथ तथा शस्त्रास्त्रों से संबंध रखने वाली क्रियात्मक विद्याओं का तथा दिन के शेष भाग में पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन करना आवश्यक समझता है। इस बौद्धिक शिक्षा के साथ कौटिल्य चरित्र की शिक्षा—काम, क्रोध-लोभ, मान, मद, गर्व और हर्ष नामक छः आन्तरिक शत्रुओं को वश में करके जितेन्द्रिय होने पर बल देता है। इस प्रकार का विद्वान्, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय व्यक्ति ही कौटिल्य का आदर्श राजा है। ऐसे राजाओं को ऋषि-मुनि तुल्य संयत और बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन बिताने के कारण राजमुनि या राजर्षि कहा जाता था। कालिदास ने रघुवंश (१।५८) तथा अभिज्ञान शाकुन्तल (२।१४) मे ऐसे राजमुनियों का वर्णन किया है। (पुण्यः शब्दः मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः शाकु० २।१४)। भवभूति ने उत्तर रामचरित (४।१२) में जनक के लिए राजर्षि शब्द का प्रयोग किया है। प्लेटो का दार्शनिक राजा प्राचीन भारत में राजर्षि के नाम से समादृत था।

तीसरी विशेषता शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति को राज्य का उत्तम नागरिक बनाना तथा अपने कर्त्तव्य पूर्ण करने की उपयुक्त शिक्षा देना था। **चौथी** विशेषता नैतिकता और धर्म पर बल देना तथा इनकी इस प्रकार की शिक्षा देना था कि व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध न रहे। **पाँचवीं** विशेषता उच्च-शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था करना था। उसकी अपनी अकादमी ने इन विषयों की शिक्षा का आदर्श प्रबन्ध किया। तत्कालीन एथेन्स के लिए यह सर्वथा महत्त्वपूर्ण और नई व्यवस्था थी। इसकी **छठी** विशेषता सुशासन के लिए शासकों के शिक्षण पर बल देना है।

किन्तु प्लेटो की शिक्षा-पद्धति में कई महत्वपूर्ण दोष भी हैं। (१) इसका क्षेत्र बड़ा संकुचित है। यह केवल संरक्षकों और शासकों के लिए है। सैबाइन (Sabine) के मतानुसार उसने राज्य की अधिकांश जनसंख्या-- कृषक, कारीगर, मजदूर आदि वर्गों के लिए प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की।[1] उसके 'न्याय' के सिद्धान्त के अनुसार समाज में सब वर्गों को अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए और इसकी शिक्षा मिलनी चाहिए। किन्तु वह वस्तुत: शिक्षा का प्रबन्ध केवल शासक वर्ग के लिए करता है। (२) उसने अपने पाठ्यक्रम में गणित को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है और साहित्य की उपेक्षा की है। (३) उसका शिक्षा-क्रम बड़ा लम्बा है, पैंतीस वर्ष तक की आयु तक चलने वाली शिक्षा बड़ी व्यय-साध्य है, इतनी लम्बी शिक्षा से लाभ उठाने का उत्साह बहुत कम व्यक्तियों में होता है। (४) पैंतीस वर्ष तक शिष्य बने रहने वाले शासकों में प्राय: नवीन कार्यों को करने की भावना का लोप हो जाता है, गुरु पर अवलम्बित रहने के कारण उनमें आत्मनिर्भरता और स्वयमेव कार्य संचालन की क्षमता उत्पन्न नहीं होती। ऐसे व्यक्ति उत्तम शासक नहीं बन सकते। (५) इस शिक्षा-योजना में व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास पर कोई बल नहीं दिया गया, उसके विकास को राज्य के हितों के लिए बलिदान कर दिया गया है, राज्य के अंग के रूप में ही उसके प्रशिक्षण का प्रबन्ध है।

दार्शनक राजाओं का शासन - यह प्लेटो का एक प्रमुख तथा सबसे मौलिक (Original) सिद्धान्त है, इसी लिए उसने शासकों के लिए ५० वर्ष की आयु तक के सुदीर्घ प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। उसे अपने जीवन में एथेन्स आदि राज्यों के अज्ञानी शासकों (Ignorant) के दुष्परिणामों को देख कर यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि संसार में तब तक शान्ति नहीं स्थापित हो सकती, जब तक सच्चे दार्शनिक शासक न बनें। उसने अपने सातवें पत्र में लिखा है, "अन्त में मैंने यह देखा कि सब वर्त्तमान राज्यों का संविधान बुरा है, उनकी संस्थाओं के दोष दूर करना तब तक संभव नहीं जब तक क्रान्तिकारी साधनों (Radical measures) तथा सौभाग्यपूर्ण परिस्थितियों का संयोग न हो। सच्चे दर्शन[2] की प्रशंसा करते हुए मैं यह दृढ़तापूर्वक कहने के लिए बाधित

१. सैबाइन— ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६५।

२. यहां दर्शन (Phil sophy) और दार्शनिक का यूनानी स्वरूप जान लेना आवश्यक है। फिलासफी का मूल अर्थ जिज्ञासा, नया अनुभव या ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा थी, जैसे सोलन ने फिलासफी के लिए दूसरे देशों की यात्रा की। इसका दूसरा अर्थ बौद्धिक विषयों और कलाओं का अभ्यास (Pursu t of intellectual culture) है। प्लेटो इसे इन दोनों अर्थों में नहीं लेता।

हुआ कि केवल मात्र ऐसे दर्शन से ही सार्वजनिक और वैयक्तिक अधिकार (Right) को ठीक तरह से समझा जा सकता है। अतएव मानव जाति के कष्ट का तब तक अन्त न होगा, जब तक कि बुद्धिमत्ता के सच्चे प्रेमी राजनीतिक सत्ता की बागडोर अपने हाथ में न लेंगे या राजनीतिक सत्ता संभालने वाले किसी दैवी आदेश से ज्ञान के प्रेमी न बनेंगे।" "मैं इसी भावना को लेकर सिसली तथा इटली गया"।[1] रिपब्लिक में उसने अपने इस विश्वास को दृढ़तापूर्वक रखते हुए राजकीय शक्ति और दार्शनिक बुद्धिमत्ता के संगम पर बल देते हुए घोषणा की है—'हमारे नगर (राज्यों) में तब तक कष्टों का अन्त नहीं होगा, जब तक दार्शनिक राजा न होंगे या इस संसार के राजाओं और राजकुमारों में दर्शन की भावना और सत्ता न होगी। (Until philosophers are kings or kings and princes of this world have the spirit and power of philosophy, cities will never rest from their evils.)[2] केवल इसी प्रकार स्वार्थपरायण राजनीतिज्ञों के कुशासन और दलबन्दियों का अन्त हो सकता है। प्लेटो के दार्शनिक न केवल ज्ञानी हैं, किन्तु आगे बतायी जाने वाली साम्यवाद की व्यवस्था के कारण कांचन और कामिनी के मोह से मुक्त वीतराग, निस्वार्थ और कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति हैं। इन्हीं के शासन से संसार के कष्टों का अन्त हो सकता है। यह समाधान प्रस्तुत करते समय उसके सम्मुख एथेन्स के लोकतन्त्र, स्पार्टा के अल्पतन्त्र, सिराक्यूज के निरंकुश तन्त्र (Tyranny) के उदाहरण थे। उसने रिपब्लिक की आठवीं, नवीं पुस्तक में विभिन्न शासन-प्रणालियों का वर्णन करते हुए व्यष्टिवाद और स्वार्थपरता को प्रोत्साहन देने वाली प्रचलित शासन प्रणालियों की कड़ी आलोचना की है। एथेन्स की

वह इस की विस्तृत व्याख्या करता हुआ (रिपब्लिक, पृ० १७७–१८६) यह मानता है कि दार्शनिक वह व्यक्ति है, जो इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले जगत् से ऊपर उठी हुई वास्तविक सत्ता और सत्य के पूर्ण रूप को जानने की इच्छा रखता है। फिलासफर का धात्वर्थ है ज्ञान का प्रेमी (Phailo= loving+sophos=wise)। प्लेटो का दार्शनिक एकान्तवासी, विद्या-व्यसनी लोक व्यवहार से अनभिज्ञ दार्शनिक तत्वों का चिन्तन करने वाला कोरा बुद्धिजीवी प्राणी नहीं, किन्तु १५ वर्ष तक संसार के विषयों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने वाला राजनीतिज्ञ है। वह परम तत्व को जानने वाला तथा जनता की राजनीतिक बीमारियों को दूर करने की शक्ति रखने वाला कुशल चिकित्सक है। उसके परम ज्ञानी होने का यह अभिप्राय है कि वह केवल विश्वासों (Beliefs) या अनुभव के आधार पर नहीं, किन्तु निश्चित प्रमाणों के आधार पर सुनिश्चित ज्ञान रखता है। उदाहरणार्थ, त्रिभुज की दो भुजायें मिल कर तीसरी से बड़ी होती हैं, इसका ज्ञान सामान्य व्यक्तियों को अनुभव के आधार पर होती है, किन्तु दार्शनिक भूमितिशास्त्र से एक प्रसिद्ध साध्य (Theorem) द्वारा इसका प्रामाणिक ज्ञान रखता है। उसने अपने प्रसिद्ध गुहारूपक (Allegory of cave) में यह बताया है कि सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि भूमि के अन्दर जाने वाली एक गुफा के घनान्धकार में रहने वाले बन्दी पुरुषों की दृष्टि के समान है जो वहां जलने वाली आग के प्रकाश में केवल कुछ परछाइयों को ही देखते हैं और इसे भ्रमवश ज्ञान समझते हैं, जबकि सच्चा ज्ञान इस गुहा से बाहर सूर्य के प्रकाश में सत्य वस्तुओं को देखने वाले दार्शनिकों को होता है (कार्नफोर्ड), रिपब्लिक पृ० २२२–२३०)।

१. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), भूमिका।

२. वही, पृ० १७४।

शासन प्रणाली में अज्ञान का साम्राज्य था क्योंकि वहां सभी शासन का क ख ग न जानने वाले व्यक्ति उच्च राजकीय पद लाटरी द्वारा पा लेते थे। इसी लिए वहां के शासन में अयोग्य और स्वार्थपरायण व्यक्तियों का बोलबाला था। प्लेटो की दृष्टि में इसका एकमात्र हल ज्ञानी[1] दार्शनिकों का राजा बनाना था।

रिपब्लिक की पांचवी-छठी पुस्तकों में दार्शनिक के शासन का समर्थन करते हुए प्लेटो ने इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।[2] "उसमें उच्चतम प्राकृतिक गुण हैं और वह इनका अधिकतम उपयोग करता है।" वह सत्य का अन्वेषक है और तब तक अपना प्रयत्न जारी रखता है, जब तक उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता। उसमें तृष्णा और ऐन्द्रियिक विषयों को भोगने की लालसा नहीं होती। उसमें 'सुन्दर आत्मा के सभी गुण' होते हैं। वह मृत्यु से नहीं डरता, सत्य का अपलाप नहीं करता, उसे 'न्याय, सौंदर्य और संयम' के विचारों (Ideas) का तथा परम सत् के विचार (Idea of good) का तथा मानवीय जीवन के अन्तिम प्रयोजन और कार्यों का ज्ञान पहले बतायी शिक्षा-पद्धति द्वारा होता है। इस प्रकार का ज्ञानी और गुणी व्यक्ति ही प्लेटो की दृष्टि में शासक बनाया जाना चाहिए।

प्लेटो ने दार्शनिकों के शासन को एक शासक होने पर राजतन्त्र का तथा अनेक शासक होने पर कुलीनतन्त्र (Aristocracy) का नाम दिया है।[3] उसकी यह विशेषता है कि वह इन्हें निरंकुश शासक बनाता है, ये किसी प्रकार के कानूनों से बंधे हुए नहीं हैं। पहले (पृ० १०२) यह बताया जा चुका है कि प्लेटो के आदर्श राज्य में कानूनों की सत्ता नहीं है। इस प्रकार वह दार्शनिक शासकों के मनमाने, स्वेच्छाचारपूर्ण तथा निरंकुश शासन (Tyranny) की व्यवस्था करता है। इनका निरंकुश अधिकार आजकल के सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) के विचार से मिलता है, जिसमें हिटलर और मुसोलिनी जैसे अधिनायक शासन करते हैं। प्लेटो का दार्शनिक शासक कानून के सब बन्धनों से ऊपर उठा ऐसा निस्वार्थ व्यक्ति है, जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित हिस्सा देता है, अपने विवेक और अन्तःकरण के अनुसार शासन करता है।

प्लेटो निरंकुश शासन (Tyranny) को राजतन्त्र का सबसे भ्रष्ट रूप मानता मानता था (रिपब्लिक, पृ० २८५–३०४)। फिर भी उसने अपने आदर्श राज्य में दार्शनिकों को निरंकुश शासक माना। यह उसके सिद्धान्तों में बड़ी असंगति (Paradox) है। अतः इसे उसने शासक पर कुछ प्रतिबन्ध लगाकर नियन्त्रित करना चाहा है।

---

१. प्राचीन भारत में राजा के ज्ञानी होने पर बहुत बल दिया गया है। पहले राजा को ज्ञानवान् बनाने की शिक्षा-पद्धति और विद्याओं का निर्देश किया जा चुका है (देखिये, ऊपर पृ० १०४)। यहां सोमदेव के नीतिवाक्यामृत (माणिक चन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई) के इस विषय में कुछ विचार दिये जाते हैं। मूर्ख राजा की अपेक्षा पृथ्वी का राजारहित रहना अधिक अच्छा है (वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा, पृ० ३६)। विद्वानों का सेवन न करने वाला राजा निरंकुश हाथी की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है (अज्ञातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरंकुशो गज इव सद्यो विनश्यति, पृ० ६१)।

२. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० १९३।

३. वही, पृ० १४२।

दार्शनिक राजा भले ही लिखित कानून के बन्धन से मुक्त हो, किन्तु वह संविधान के मौलिक नियमों के बन्धन से मुक्त नहीं है। बार्कर के मतानुसार वह चार प्रकार के नियमों का पालन करने के लिए बाधित था[1]—(१) दार्शनिक शासक को अपने राज्य में सम्पन्नता या निर्धनता को नहीं बढ़ने देना चाहिए, (रिपब्लिक पृ० १११) क्योंकि धन विलासिता, आलस्य आदि की बुराइयों को उत्पन्न करता है, राज्य में अमीर-गरीब के संघर्ष को बढ़ाकर इसे निर्बल बनाता है, इसकी एकता को खण्डित करता है। (२) दूसरा बन्धन यह है कि उसे राज्य का आकार इतना अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए कि उसकी एकता खण्डित होने लगे। यह न तो बहुत बड़ा और न बहुत छोटा, किन्तु आत्मनिर्भर होना चाहिए (रिपब्लिक, पृ० १११)। (३) शासकों पर तीसरा बन्धन यह है कि उन्हें 'न्याय' की ऐसी व्यवस्था बनाये रखनी चाहिए, प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य का पालन करता रहे (रिपब्लिक, पृ० १११)। (४) दार्शनिक राजा पर चौथा बन्धन यह है कि वह शिक्षा-पद्धति में कोई नवीन परिवर्त्तन नहीं करेगा क्योंकि "जब संगीत की तानें बदलती हैं तो उसके साथ ही राज्य के मौलिक नियम भी बदल जाते हैं।" अतः प्लेटो अपने दार्शनिक राजा को इन बन्धनों द्वारा अपरिवर्त्तनशील सामाजिक व्यवस्था का सेवक बनाता है, उसकी सत्ता को मर्यादित एवं सीमित करता है।

किन्तु दार्शनिक राजा पर उपर्युक्त प्रतिबन्ध होते हुए भी इस व्यवस्था में कई गम्भीर दोष हैं। (१) यह सर्वथा अव्यावहारिक योजना है। शास्त्रों का तथा लौकिक व्यवहार का पूरा ज्ञान रखनेवाले तथा सांसारिक विषयों में अनुराग न रखनेवाले दार्शनिक दुर्लभ हैं। तत्व चिन्तन में लीन रहने के कारण वे प्रायः सांसारिक विषयों से पराङ्मुख और लोक-व्यवहार-शून्य होते हैं। 'पात्राधारं तैलं तैलाधारं पात्रम्वा' (बर्त्तन में तेल है या तेल में बर्त्तन है, इसके लिए तेल भरे बर्त्तन को उलट कर देखने वाले), मूढ़ बुद्धि दार्शनिकों की कमी नहीं है। प्लेटो के बड़े भाई अदैमान्तास ने सुकरात को चेतावनी देते हुए कहा था कि दर्शन के प्रेमी जब ३५ वर्ष तक इसका अध्ययन करेंगे तो वे बिल्कुल निकम्मे हो जायेंगे (रिपब्लिक, पृ० १६०)। इस आयु तक उनके विचार, प्रवृत्तियां और स्वभाव परिपक्व हो जाते हैं। उनसे १५ वर्ष तक संसार की ठोकरें खाकर व्यावहारिक ज्ञान सीखने की आशा दुराशामात्र है। ऐसे कोरे दार्शनिक शासन करने के लिए नितान्त अयोग्य हैं। शासन करने के लिए दर्शन की फक्किकाओं का नहीं, किन्तु मनुष्यों के मनोविज्ञान का, कानून का, सैनिक करणनीति का और अर्थशास्त्र का ज्ञान होना चाहिए, न कि गणित का या 'परम सत्' के विचार का। प्लेटो के दार्शनिक राजा उसके आदर्श राज्य (Ideal State) का शासन करने में भले ही सफल हों, किन्तु व्यावहारिक जगत् में सफल नहीं हो सकते। (२) प्लेटो ने दार्शनिक को शासन का अमर्यादित अधिकार देकर निरंकुश शासन का समर्थन किया है। यद्यपि उसने अपने आदर्श शासक पर चार प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये हैं, किन्तु वे उसकी स्वच्छन्दता को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। एक्टन के शब्दों में 'सत्ता मनुष्य को बिगाड़ती है और पूर्णसत्ता पूर्णरूप से बिगाड़ती है।' कौटिल्य ने लिखा है कि शक्ति मन को दूषित कर देती है (बलं चित्तं विकरोति अधि० ७, ३, १४)। सत्ता का मद स्वाभाविक है। मदोन्मत्त स्वच्छन्द शासकों का स्वेच्छाचारी शासन वही

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० २०५।

दुष्परिणाम उत्पन्न करने वाला है, जिनके निवारण के लिए प्लेटो ने दार्शनिक राजाओं की व्यवस्था की है। (३) दार्शनिकों को इच्छानुसार अधिकारों का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता देकर प्लेटो ने राज्य के अन्य सभी व्यक्तियों को जड़ मशीन के पुर्ज़े बना दिया है, विचारों की स्वतन्त्रता के और स्वशासन के मूल्यवान् अधिकार उनसे छीन लिए हैं। यह यूनानियों के इस विचार के सर्वथा प्रतिकूल है कि राज्य समान अधिकार रखने वाले व्यक्तियों का संगठन है। दार्शनिक राजा द्वारा शासित होने वाले राज्य के प्रजाजन गड़रिये द्वारा देखभाल किये जाने वाले पशुओं के रेवड़ की भांति हैं। (४) अध्यात्म-विद्या और दर्शन का अत्यधिक चिन्तन व्यक्तियों को सनकी और व्यवहारशून्य बना देता है। ऐसे व्यक्ति शासन में अयोग्य होते हैं। (५) दार्शनिक राजाओं का शासन इस-लिए भी सफल नहीं हो सकता कि ये अपने को 'अफलातून' मानते हुए जनता से परामर्श नहीं लेते, उसे हेय समझते हैं, अपने विचारों और सुधारों के उत्साह में जनता की मनो-वृत्ति और आकांक्षाओं को नहीं समझते और क्रान्तिकारी परिवर्त्तनों को प्रस्तावित कर समाज में विक्षोभ उत्पन्न करते हैं। जोवेट (Jowett) के शब्दों में "दार्शनिक राजा या तो भविष्य में बहुत दूर तक देखने वाला होता है या अतीत में पीछे की ओर देखता है, वर्तमान की वास्तविकता से उसका कोई संबंध नहीं होता।" प्लेटो ने यद्यपि अपने स्वप्नद्रष्टा दार्शनिकों को व्यावहारिक आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है। वह स्वयं सिराक्यूज़ के दियोनिसियस को आदर्श दार्शनिक राजा नहीं बना सका।[1]

साम्यवाद का सिद्धान्त (Theory of Communism)—प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में 'न्याय' को बनाये रखने के लिए शिक्षा-पद्धति के साथ एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के स्थापित करने पर भी बल दिया। इसके अनुसार संरक्षकों (Guardians) तथा सैनिकों को राज्य के हित की दृष्टि से वैयक्तिक सम्पत्ति (Private Property) और परिवार नहीं रखना चाहिए। यदि वे इन्हें रखेंगे तो कांचन और कामिनी के मोह में फंस जायंगे,[2] धनलोलुपता, स्वार्थपरता, पारिवारिक कार्यों में आसक्ति

---

१. प्लेटो के दार्शनिक राजाओं की कुछ झलक हमें मिथिला के जनक कहलाने वाले उन राजाओं में मिलती है, जो सदैव वीतराग होकर शासन करते थे और ब्रह्मचिन्ता में लीन रहा करते थे। इनका परिचय देते हुए भागवतपुराण (नवम स्कन्ध, अध्याय १३, श्लोक २७) में कहा गया है : एते वै मैथिला राजन्नध्यात्मविद्याविशारदाः। योगेश्वर प्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥

२. मिलाइये, कुवलयानन्द २१, वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च। तासु तेष्व-प्यनासक्तो साक्षाद्भर्गो नराकृतिः ॥ भारतीय शास्त्रकारों ने राजा के लिए न केवल काम का त्याग, अपितु इसके साथ ही क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष (अरि षड्वर्ग) तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों पर विजय पाना राजा के लिए आवश्यक माना है। देखिये मनु ७.४४, इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ मि० कामन्दक १।६२, ५।३६, शुक्रनीति १।३०१, कौटिलीय अर्थशास्त्र १।६। कौटिल्य के मतानुसार यदि राजा जितेन्द्रिय नहीं है तो चारों समुद्रों तक फैली पृथिवी का सम्राट् होने पर भी नष्ट हो जाता है (अवश्येन्द्रिय-श्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति) उसने काम, क्रोध आदि के वशीभूत होकर अपना राजपाट गंवाने वाले बारह प्राचीन राजाओं के उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों को कामन्दक (१।५८) तथा मार्कण्डेय पुराण (२६।१२-१३) में दोहराया गया है। उद्योगपर्व (७४।१३-१८) में ऐसे नष्ट

उनके निश्चिन्त और निष्पक्षभाव से शासन के स्वकर्त्तव्य पालन में बाधक होगी। वे इन झंझटों में फंसने के कारण राज्य के कार्यों की उपेक्षा करेंगे, अतः वीतराग वृत्ति से उनके शासन के संचालन के लिए सम्पत्ति और परिवार के क्षेत्र में साम्यवाद की व्यवस्था आवश्यक है।

सामुदायिक सम्पत्ति की साम्यवादी व्यवस्था यूनान के लिए नई नहीं थी। यूनानी इतिहास के आरम्भ में भूमि वैयक्तिक (Private) नहीं, किन्तु सामूहिक (Communal) सम्पत्ति समझी जाती थी, ऐतिहासिक युग में एथेन्स जैसे राज्य में वनों, खानों में राज्य की सम्पत्ति होती थी। स्पार्टा में भूमि वैयक्तिक होने पर भी इससे होने वाली आय से सब व्यक्तियों के सामूहिक भोजनालय का खर्च चलाया जाता था। क्रीट में भूसम्पत्ति सार्वजनिक समझी जाती थी, सार्वजनिक दासों द्वारा जोती जाती थी और इसकी आमदनी से वहां के भोजनालयों का व्यय चलाया जाता था। प्लेटो पर स्पार्टा और क्रीट की इन प्रथाओं का प्रभाव पड़ा था।[1] प्लेटो से पहले कुछ विचारक दासों के अधिकारों की विवेचना करते हुए वैयक्तिक सम्पत्ति पर आक्रमण कर चुके थे। अरिस्तोफेनीज (Aristophanes) ने ३९० ई० पू० के लगभग अपने एक नाटक में चांदी, भूमि तथा अन्य वस्तुओं को सब की सामूहिक सम्पत्ति बताया है।

प्लेटो ने सम्पत्ति के साम्यवाद (Communism of property) का निम्नलिखित आधारों पर समर्थन किया है — (१) **मनोवैज्ञानिक आधार**—पहले यह बताया जा चुका है कि आत्मा के तीन तत्वों—'काम, उत्साह और बुद्धि' के आधार पर प्लेटो ने समाज के तीन वर्ग—उत्पादक, सैनिक और संरक्षक निश्चित किये हैं। उसके न्याय के विचार के अनुसार इनको अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। अतः सैनिकों और संरक्षकों को उत्पादक वर्ग की आर्थिक वृत्तियों का परित्याग करना चाहिए। वे ऐसा नहीं करेंगे, तो आर्थिक भावना, धनलिप्सा और स्वार्थपरता उनकी बुद्धि को प्रभावित और भ्रष्ट कर सकती है, रक्षक अपने स्वार्थ के लिए भक्षक बन सकता है। "पशुओं की देखभाल करने वाले कुत्ते को जब क्षुधा (Appetite) भेड़िया बना सकती है तो यह सैनिक और संरक्षकों की बुद्धि को भी स्वार्थपरता से दूषित कर सकती है।" बुद्धि निस्वार्थ होती है। इसका यह अर्थ है कि इससे अनुप्राणित मनुष्य अपने वैयक्तिक स्वार्थ को त्याग कर सामूहिक कल्याण के कार्य में लग सकता है। बुद्धि द्वारा ही मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह राज्य का अंग है और राज्य की सेवा के लिए उसे स्व-अर्थ या अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का त्याग करना चाहिए। अतः विशुद्ध बुद्धि और विवेक को बनाये रखने के लिए साम्यवाद आवश्यक हो जाता है।

होने वाले १८ राजाओं की गणना है। मनु (७ ४४), मत्स्य पुराण (२१५।५५) में ऐसे राजाओं की सूची दी गयी है। मनु (७ ४५-४८) में राजाओं के दस दोषों या व्यसनों का वर्णन है, मि० कामन्दक (१।३९, ५४, १।६५, ६८; ११।१२, १४।६५), विष्णुस्मृति (३।५०-५२), शुक्रनीति (१।२१५, २३५)। मत्स्यपुराण (वीरमित्रोदय के राजनीतिप्रकाश में उद्धृत, पृ० १४६), विष्णु धर्मोत्तर (राजनीति, पृ० १४६)। इन सब में स्त्रियों के व्यसन को बहुत प्रधानता दी गयी है। इनके विस्तृत वर्णन के लिए देखिये, काणे—हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, खंड ३, पृ० ५२–५५।

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० २०७।

(२) **राजनीतिक आधार पर** भी प्लेटो ने साम्यवाद का समर्थन किया क्योंकि उसे यूनानी राज्यों के तत्कालीन उदाहरणों से यह निश्चय हो गया था कि एक ही वर्ग के हाथ में यदि राजनीतिक या आर्थिक शक्ति चली जाय तो यह राजनीतिक जीवन की विशुद्धता और क्षमता के लिए बहुत घातक होती है। इन दोनों शक्तियों का संगम भयावह है। जहां कहीं ऐसा होता है राजनीतिक सत्ता रखने वाला वर्ग आर्थिक स्वार्थों की सिद्धि करते हुए बुद्धिमत्ता को तथा निस्वार्थ रहने के कर्त्तव्य को भुला देता है। इस देश की प्रजा शासकवर्ग की स्वार्थलिप्सा के प्रति असन्तोष प्रकट करने लगती है, राज्य दो विरोधी भागों में बंट जाता है, उसकी एकता और सामुदायिक भावना का अन्त हो जाता है। अतः राज्य की अखण्डता को बनाये रखने के लिए साम्यवाद आवश्यक है। (३) **दार्शनिक आधार पर** इसे विशेष कार्य (Specific Function) के सिद्धान्त द्वारा पुष्ट किया गया है। जिन्हें शासन का महत्वपूर्ण विशेष कार्य सौंपा गया है, उन्हें अपने कार्य में बाधा और विघ्न डालने वाले सभी सांसारिक तत्वों से बचना चाहिए। धन इसी प्रकार का तत्व है, अतः संरक्षकों को इससे पृथक् रहना चाहिए। मध्यकाल में ईसाई सन्त भी इसी दृष्टि से अपने पारलौकिक कार्य में बाधा डालने वाले सांसारिक विषयों से पृथक् रहा करते थे। भारतीय साहित्य में इसी दृष्टि से संन्यासियों को कांचन स्पर्श वर्जित है।[१]

प्लेटो ने अपना साम्यवाद राज्य के दो अल्पसंख्यक वर्गों, शासकों तथा सैनिकों तक ही सीमित रखा है। उसके मतानुसार इनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है, वैयक्तिक या सामूहिक रूप से उनका एक बिस्वा भूमि पर स्वामित्व नहीं है, भूमि तथा इसकी पैदावार पर कृषकों का स्वत्व है। इनके पास अपने निजी घर भी नहीं हैं, प्लेटो ने इनके लिए ऐसे शिविरों में रहने की व्यवस्था की है, जो सदैव खुले और सार्वजनिक हों, उन्हें सोना, चांदी नहीं रखना चाहिए।

उसने इनकी जीवन-चर्या का वर्णन करते हुए लिखा है[२]—"प्रथम तो, जितनी कम-से-कम व्यक्तिगत सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है, उससे अधिक सम्पत्ति उनमें से किसी को नहीं रखनी चाहिए। दूसरे किसी के पास ऐसा घर अथवा भण्डार (कोष) नहीं होना चाहिए, जो सबके स्वेच्छापूर्वक प्रवेश के लिए नित्य खुला न रहता हो। उनकी भोज्यादि सामग्री इतनी मात्रा में और ऐसी होनी चाहिए जो कि संयमी एवं साहसी योद्धा भटों के लिए उपयुक्त हो, एवं यह उनको अन्य नागरिकों से सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित

---

१. पराशर, स्मृति १।६० यतये कांचनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे। चौरेभ्योऽप्यभयं दत्वा दातापि नरकं व्रजेत्।। यति धर्मसंग्रह (आनन्दाश्रम पूना), पृ० १०३ पर यह वचन व्यास के नाम से दिया गया है और पृ० १०४ पर परमहंसोपनिषद् का यह वचन उद्धृत है कि संन्यासी को सोना लेने की बात तो दूर रही, इसे रसपूर्वक अर्थात् लालसाभरी दृष्टि से न तो देखना चाहिए और न छूना चाहिए "सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं च स ब्रह्महा भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं च स पौल्कसो भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं च स आत्महा भवेत्। तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं ग्राह्यं च।" प्लेटो भी संरक्षकों द्वारा सोना-चांदी स्पर्श किये जाने तक का विरोधी है।

२. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० १०६।

रूप में उनकी संरक्षकता की वृत्ति के रूप में इतनी मात्रा में मिल जानी चाहिए कि न तो वर्ष के अन्त में आवश्यकता से अधिक रहे और न कम ही पड़े। युद्ध-शिविर में रहने वाले योद्धाओं के समान उनका भोजन एवं रहना एकत्र होना चाहिए। रही सोने-चांदी की बात, सो इसके विषय में हम उनसे कहेंगे कि दिव्य प्रकार का स्वर्ण और रजत तो उनको देवताओं (ईश्वर) से नित्य ही अपनी आत्मा के भीतर प्राप्त है।[1] अतः, उनको मर्त्य-लोक की निम्न कोटि की धातु की कोई आवश्यकता नहीं है तथा उनकी पवित्रता की अपनी दैवी सम्पद के साथ मर्त्यलोक की धातु का मिश्रण कर उसको अमेध्य बनाना सहन नहीं होना चाहिए।···सारे नगर-निवासियों में से **केवल इन्हीं के लिए सोने-चाँदी को हाथ में लेना अथवा स्पर्श करना, उनके साथ एकत्र एक छत के नीचे रहना या आभरणों के रूप में उनको अपने अंगों में धारण करना अथवा सोने-चांदी के पात्रों का पीने के लिए उपयोग करना अवैध होगा**। इस प्रकार रहते हुए वे अपनी भी रक्षा कर सकेंगे और अपने नगर की भी। परन्तु जब कभी वे अपनी भूमि, घर और धन उपार्जित कर लेंगे तब वे अपने अन्य नागरिक जनों के सहायक बने रहने की अपेक्षा उनपर द्वेषपूर्ण अत्याचार करने वाले शासक (Tyrant) हो जायेंगे। उनके जीवन के सारे दिन नागरिकों से घृणा करने में और उनके द्वारा घृणा किये जाने में, उनके विरुद्ध कुचक्र रचने में तथा उनके द्वारा कुचक्र का पात्र बनने में तथा बाह्य वैदेशिक शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं के भय से बहुधा त्रस्त रहने में ही बीतेंगे और इस प्रकार अन्त में वे अपने तथा राष्ट्र के सर्वनाश का ही मार्ग प्रशस्त करेंगे।"

साम्यवाद की विशेषतायें—उपर्युक्त वर्णन से प्लेटो के साम्यवाद की कई विशेषतायें स्पष्ट होती हैं। **पहली विशेषता** यह है कि यह साम्यवाद सब नागरिकों के लिए नहीं, किन्तु शासकों के लिए है। यह कुछ इने-गिने, किन्तु समाज के सर्वोत्तम व्यक्तियों के लिए होने के कारण अभिजातवर्गीय (Aristocratic) साम्यवाद है। इसका उद्देश्य **सारे समाज का कल्याण** है, किन्तु यह सारे **समाज द्वारा** व्यवहार में नहीं लाया जाता। इसकी **दूसरी विशेषता** इसका तपस्यात्मक (Ascetic) स्वरूप है। उप-रले वर्गों को राज्य के हित की दृष्टि से यह कांचन और कामिनी का मोह छोड़ने के लिए बाधित करता है, उन्हें वीतराग संन्यासी की वृत्ति अंगीकार करने के लिए विवश करता है। वह यह जानता है कि उसकी इस व्यवस्था में रहने वाले सुखी नहीं रह सकते (रिपब्लिक, पृ० १०७–८)। अदैमान्तास के शब्दों में 'वे राज्य में बिल्कुल किराये के सैनिकों के समान निठल्ले बैठे रहने के लिए नियुक्त किए गये हैं'। वे 'भोजनभृति पर चाकरी करने वाले' ऐसे नौकरों के समान हैं, जिन्हें भोजन के अतिरिक्त कुछ वेतन नहीं मिलता, वे यदि चाहें तो भी 'यात्रा नहीं कर सकते, प्रेयसियों को उपहार नहीं दे सकते',

---

१. यहाँ प्लेटो का संकेत 'धातुओं की कथा' (Myth of metals, रिपब्लिक, पृ० १०४) की ओर है। उसके मतानुसार आदर्श राज्य के सब नागरिकों में ऐसी कहानी का प्रचार करना चाहिए कि यद्यपि सारे नगर-निवासी भाई-भाई हैं, फिर भी भगवान् ने उन्हें विभिन्न प्रकार से बनाया है। जो आज्ञा देने का अधिकार रखते हैं, वे सोने से बनाये गये हैं, अतः वे सर्वोच्च सम्मान के अधिकारी हैं। सहायक (Auxiliaries) या सैनिक वर्ग का निर्माण चाँदी से हुआ है, कृषकों तथा शिल्पियों का लोहे और पीतल से।

सुखी समझे जाने वाले व्यक्तियों के समान धन का व्यय नहीं कर सकते। क्या यह उनके जीवन को दुःखपूर्ण नहीं बना देगा! इसका उत्तर प्लेटो ने यह दिया कि 'समग्र राज्य का महत्तम सुख अधिक महत्वपूर्ण है (पृ० १०७)। अतः, उन्हें अपने भौतिक सुखों का बलिदान करके राज्य को अधिकतम सुखी बनाने का तपस्यात्मक मार्ग वरण करना चाहिए। **तीसरी विशेषता** इस साम्यवाद का आर्थिक नहीं, किन्तु राजनीतिक होना है। वर्त्तमान साम्यवाद का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विषमता को दूर करना है। किन्तु प्लेटो इससे तत्कालीन राजनीति के दोष दूर करना चाहता है। उसका यह उद्देश्य है कि भ्रष्टाचार से धन कमाने वाले तथा शासन कला का ज्ञान न रखने वाले तत्कालीन शासकों के स्थान पर करों द्वारा वसूल की गयी राशि से निश्चित वेतन पाने वाले शासन कला में सुशिक्षित व्यक्तियों का प्रशासन स्थापित हो। इसमें राजनीतिक सेवाओं के लिए वेतन देने की प्रणाली संभवतः उसने पेरीक्लीज़ से ग्रहण की, शासकों के एकसाथ सामूहिक भोजन की व्यवस्था स्पार्टा से ली और शासकों को विशेषज्ञ और प्रशिक्षित बनाने का विचार उसका अपना है।

वर्त्तमान साम्यवाद से तुलना, समानतायें और भेद —मैक्सी ने लिखा है कि प्लेटो साम्यवादी विचारों का मुख्य प्रेरणास्रोत है और रिपब्लिक में सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारों के मूल बीज मिलते हैं।[1] यह धारणा पूरी तरह सत्य नहीं है। प्लेटो के तथा वर्त्तमान साम्यवाद में कई सादृश्यों और समानताओं के कारण यह धारणा उत्पन्न हुई है। दोनों में प्रमुख समानतायें निम्नलिखित हैं—(१) दोनों राज्य को सर्वोपरि मानते हुए उसके हितों को प्रधानता देते हैं, व्यक्ति के हितों को गौण समझते हैं। (२) दोनों मनुष्य की स्वार्थ-प्रधान मौलिक प्रवृत्ति की उपेक्षा करते हैं। (३) दोनों व्यष्टिवाद पर आधारित अनियन्त्रित आर्थिक प्रतियोगिता को हटाना चाहते हैं। (४) दोनों का उद्देश्य एक-सा है, वे राज्य में 'न्याय' की व्यवस्था स्थापित कर राजनीतिक एकता और सामाजिक बन्धुभाव की वृद्धि करना चाहते हैं। (५) वर्त्तमान साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है, प्लेटो अपने समाज के दो उच्च वर्गों के लिए ही वैयक्तिक सम्पत्ति रखने का निषेध करता है। (६) दोनों सार्वजनिक तथा सामाजिक हित में ही व्यक्ति का हित समझते है। इन समानताओं के कारण दोनों में अभेद का भ्रम होना स्वाभाविक है।

किन्तु दोनों में निम्नलिखित भेद यह स्पष्ट करते हैं कि प्लेटो का साम्यवाद आधुनिक साम्यवाद से बहुत भिन्नता रखता है। (१) प्लेटो का साम्यवाद **राजनीतिक** (Political) है, उसने उस समय के राजनीतिक भ्रष्टाचार और कुशासन को दूर करने के लिए इसकी व्यवस्था की थी। वर्त्तमान साम्यवाद आर्थिक (Economic) है। इसका प्रादुर्भाव पूँजीवाद के कारण समाज में उत्पन्न हुए आर्थिक वैषम्य को दूर करना है। (२) प्लेटो का साम्यवाद **अधूरा** अथवा **आधा साम्यवाद** (Half-communism) है। यह पूरे समाज के लिए नहीं, किन्तु उसके अल्पसंख्यक भाग-शासक और सैनिक वर्गों के लिए है। इसका प्रभाव समाज के आधे से भी कम व्यक्तियों और बहुत कम सम्पत्ति पर पड़ता है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद आर्थिक विषमता को उत्पन्न करने वाले उत्पादन

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५५।

के सभी साधनों—भूमि, खानों, कारखानों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है। दूसरे शब्दों में प्लेटो का साम्यवाद उच्च श्रेणियों तक सीमित होने से अभिजात-तन्त्रीय (Aristocratic) है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद समाज के सब वर्गों के लिए होने के कारण लोकतन्त्रीय (Democratic) है। (३) प्लेटो का साम्यवाद **निषेधात्मक** (Negative) है, वह भौतिक धन-सम्पत्ति को शासकों के राज्यकार्य के संचालन में बाधक समझते हुए उन्हें ऐसी सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित करता है। किन्तु वर्त्तमान साम्यवाद भौतिक पदार्थों को बड़ा महत्व देता है, इन्हें जीवन के लिए आवश्यक समझते हुए सब व्यक्तियों में इनके समान वितरण पर बल देता है। इस विषय में उसका दृष्टिकोण विशुद्ध **भावात्मक** (Positive) है। (४) पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो के साम्यवाद में सम्पत्ति की सामूहिक व्यवस्था के साथ, स्त्रियों के बारे में भी साम्यवाद की व्यवस्था मानी गई है। वर्त्तमान साम्यवाद स्त्रियों के संबंध में इस व्यवस्था को नहीं मानता। (५) यद्यपि दोनों सिद्धान्तों का उद्देश्य समाज में न्याय की व्यवस्था स्थापित करना है, तथापि दोनों के 'न्याय' के स्वरूप में मौलिक अन्तर है। प्लेटो का न्याय सब व्यक्तियों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन है, धन सैनिक और शासकों द्वारा कर्त्तव्य के पालन में बाधक हो सकता है, इसलिए वह उन्हें धन से वंचित करता है। किन्तु आधुनिक साम्यवादी न्याय का अर्थ व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप भृति या वेतन देना मानते हैं, इसे दिलाने के लिए वे साम्यवाद का समर्थन करते हैं। (६) प्लेटो का दृष्टिकोण **आध्यात्मिक और धर्मप्रधान है**, वह वर्त्तमान दृश्य जगत् को अवास्तविक मानता हुआ, इसके मूल में विद्यमान विचारों (Ideas) को वास्तविक मानता है, किन्तु वर्त्तमान साम्यवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic materialism) में विश्वास रखते हुए भौतिक जगत् को वास्तविक मानता है, जड़ प्रकृति से भिन्न किसी आध्यात्मिक सत्ता में आस्था नहीं रखता, धर्म को अफीम समझता है। (७) आधुनिक साम्यवाद के प्रमुख मौलिक सिद्धान्त हैं[१]—आर्थिक विषमता को दूर करना, उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण और सम्पत्ति का समान वितरण। उसके मतानुसार उत्पादन के सब साधनों पर राज्य का स्वामित्व और नियन्त्रण होना चाहिए। प्लेटो के साम्यवाद में इनमें से एक भी तत्त्व नहीं है, रिपब्लिक में कहीं भी उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व करने की चर्चा नहीं है। वह केवल उत्पादन के उतने हिस्से को समाज की सम्पत्ति बनाना चाहता है, जिससे संरक्षकों और सैनिकों को वार्षिक वेतन मिलता रहे। इसके अतिरिक्त वह उत्पादक वर्ग के कृषकों, कारीगरों आदि की वैयक्तिक सम्पत्ति को अक्षुण्ण रखता है। वर्त्तमान साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का उच्छेद करना चाहता है। दोनों में मौलिक अन्तर है। अतः टेलर ने यह सत्य ही लिखा है कि, "रिपब्लिक के समाजवाद और साम्यवाद के संबंध में बहुत कहा जाने के बावजूद वस्तुतः इस ग्रन्थ में न तो समाजवाद पाया जाता है और न ही साम्यवाद मिलता है।"[२]

अरस्तू द्वारा प्लेटो के सम्पत्तिविषयक साम्यवाद की आलोचना—प्लेटो के

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २१३।

२. टेलर—प्लेटो, पृ० २७६।

प्रमुख शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु की इस विषय में कटु आलोचना करते हुए कहा है[1] कि (१) यह व्यवस्था समाज में झगड़ों और फूट को बढ़ाने वाली है। वैयक्तिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वार्थ का क्षेत्र अलग होने से पारस्परिक कलह का एक मुख्य कारण दूर हो जाता है। किन्तु साम्यवाद में वैयक्तिक क्षेत्र सुनिश्चित न होने के कारण विवाद अधिक होगा। समाज की उन्नति अवरुद्ध हो जायगी। (२) मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी निजी सम्पत्ति रखना चाहता है, उसमें गर्व और गौरव का अनुभव करता है, उसे बढ़ाने में दिन-रात लगा रहता है। किसी वस्तु को अपना समझने में मनुष्य को अकथनीय आनन्द होता है। साम्यवाद में यह लाभ नहीं मिल सकता। (३) वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण व्यक्ति परोपकार के कार्य कर सकता है, मित्रों, अतिथि-अभ्यागतों अथवा साथियों के प्रति दया और सहायता करने से उसे अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है। (४) प्लेटो राज्य की एकता बनाये रखने के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है, किन्तु यह एकता उपयुक्त शिक्षा द्वारा ही स्थापित हो सकती है, न कि साम्यवाद द्वारा। (५) प्लेटो के साम्यवाद में अधिकांश नागरिकों पर यह सिद्धान्त लागू न करके राज्य को दो समुदायों में बाँट दिया गया है, इससे राज्य की एकता बनाये रखना असंभव हो जाता है।

स्त्रियों का संयुक्त स्वामित्व (Community of wives)—प्लेटो ने संरक्षक एवं सैनिक वर्ग को न केवल वैयक्तिक सम्पत्ति से, किन्तु पृथक् घरों में वैयक्तिक परिवार बना कर रहने की व्यवस्था से भी वंचित किया है। जिस प्रकार कृषकों तथा शिल्पियों से प्राप्त पैदावार की सम्पत्ति पर सब संरक्षकों और सैनिकों का संयुक्त स्वामित्व (Joint ownership) समझा जाता था, उसी प्रकार स्त्रियों पर भी इनका संयुक्त स्वत्व माना जाता था। इसका यह उद्देश्य था कि शासक कांचन के समान कामिनी के भी मोह तथा चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर तथा इनके कारण किन्हीं प्रलोभनों और स्वार्थों के वशीभूत होकर अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा न करें। परिवार का मोह कई बार धन के मोह से अधिक प्रबल होता है। मनुष्य इनके लिए अनेक प्रकार के स्वार्थपूर्ण, अनुचित और अनैतिक कार्य करता है। तुलसीदास जी ने कहा है—गृह कारज नाना जंजाला। प्लेटो अपने शासकों को इस जंजाल से मुक्त करने के लिए यह व्यवस्था करता है और बड़ी विस्तृत युक्तियों द्वारा चौथी पाँचवीं पुस्तकों (रिपब्लिक, कार्नफील्ड, पृ० १४१–१७०) में इनका समर्थन करता है।

अरस्तू ने यह लिखा है कि प्लेटो से पहले किसी ने स्त्रियों के संयुक्त स्वामित्व जैसी अनोखी बातों की चर्चा नहीं की। किन्तु हमें प्लेटो से पूर्ववर्त्ती यूनानी साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। हिराडोटस ने यह लिखा है कि अगाथिर्सियन (Agathyrsian) जाति के लोगों में स्त्रियाँ सब की समझी जाती हैं तथा सौरोमेशियन (Sauromatian) जाति के पुरुषों के साथ घोड़ों की पीठ पर चढ़ कर शिकार करने जाती हैं। अरस्तू ने लिबिया में ऐसी व्यवस्था का वर्णन किया है (बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ४५)। स्पार्टा में पति अपनी स्त्रियाँ दूसरे पुरुषों को राज्य के लिए उत्तम सन्तान पैदा करने के लिए दिया करते थे। एथेन्स में स्त्रियों की दशा बड़ी शोचनीय थी और

---

१. बार्कर—पालिटिक्स ऑफ अरिस्टाटल, पृ० ४८–५५।

सुकरात विवाह को उत्तम सन्तानोत्पत्ति का साधनमात्र मानता था।[1] प्लेटो को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम विभिन्न युक्तियों से स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए उपर्युक्त योजना की पुष्टि की।

प्लेटो ने अपने सिद्धान्त का स्वरूप बताते हुए कहा है—"संरक्षक स्त्री, पुरुषों, में कोई भी अपना निजी घर (परिवार) नहीं बनायेगा (कोई भी किसी के साथ व्यक्तिगत रूप से सहवास नहीं कर सकेगा), स्त्रियाँ सब की समान रूप से पत्नियाँ होंगी, इनकी सन्तानें भी समान रूप से सबकी होंगी और न तो माता-पिता अपनी सन्तान को जान सकेंगे और न सन्तान माता-पिता को।" (रिपब्लिक, पृ० १५३)। प्लेटो ने अपनी इस योजना का समर्थन निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर किया है—

(१) **परिवार के घातक प्रभाव से संरक्षकों को मुक्त रखना**—वह परिवार को सब स्वार्थी भावनाओं को उत्पन्न करने तथा संकीर्ण एवं पार्थक्यवादी मनोवृत्तियों को जन्म देने वाला मानता है। उसका नारा था—घरों की दीवारें भूमिसात् कर दो, उसमें खुली हवा का संचार होने दो। परिवार की ममता, माया-मोह अनेक पारिवारिक कलहों को उत्पन्न करके राज्य में अशान्ति का और एकता के विघटन का कारण बनता है। यह मनुष्यों को पारिवारिक चिन्ताओं में डालकर उन्हें कर्त्तव्य-विमुख करता है और समाज में 'न्याय' को स्थापित करने में बाधा डालता है। अतः परिवार की व्यवस्था का अन्त होना चाहिए। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्लेटो का उद्देश्य इस प्रथा का समूलोन्मूलन है। वह वस्तुतः वर्त्तमान संकीर्ण परिवार प्रथा का अन्त करके इसके स्थान पर समूचे राज्य को ही विशाल परिवार बनाना चाहता था, जिसके सब सदस्य एक-दूसरे से घनिष्ठ आत्मीयता रखने वाले हों।

(२) **नारियों की मुक्ति तथा समानाधिकार**—उन दिनों एथेन्स में नारियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी, वे घर की चहारदीवारी में बन्द रहती थीं। उसकी दृष्टि में स्त्रियों का जीवन चूल्हे चौके में बरबाद हो रहा था। वह नर-नारी की योग्यता में विशेष अन्तर नहीं मानता था और योग्य स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से बाहर निकाल कर, इनकी प्रतिभा और शक्ति का प्रयोग राज्य के हित में करने को उत्सुक था। उसने संरक्षकों की तुलना पहरा देने वाले कुत्तों से की है और उसका यह मत है कि जैसे इस कार्य को कुत्ता एवं कुतिया दोनों कर सकते हैं, उसी तरह नर-नारी भी इसे करने में समान रूप से समर्थ हैं। उनमें बल की दृष्टि से भले ही कुछ अन्तर हो, किन्तु योग्यताओं की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों में कोई ऐसा भेद नहीं, जो उनके राजनीतिक जीवन में भाग लेने में बाधा बन सके। प्लेटो स्त्रियों को परिवार की सेवा से मुक्त करके राज्य की सेवा में लगाना चाहता है। इसमें वह स्त्रियों के साम्यवाद के अतिरिक्त कोई अन्य व्यवस्था नहीं कर सकता था, क्योंकि संरक्षकों के लिए वह यह पहले ही मान चुका है कि वे खुले सार्वजनिक शिविरों में रहेंगे। उनके पास अपनी पत्नी रखने के लिए कोई पृथक् स्थान या घर न होगा। स्त्री संरक्षकों को भी इसी प्रकार का जीवन बिताना है, अतः इस अवस्था में स्त्रियों के साम्यवाद की व्यवस्था स्वाभाविक थी।

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० २१८।

(३) **उत्तम संतान प्राप्त करने के लिए सुप्रजनन-शास्त्र की दृष्टि से** भी प्लेटो को यह व्यवस्था ग्रावश्यक प्रतीत होती थी। उसका यह मत था कि उत्तम जाति के शिकारी कुत्ते, मुर्गे, घोड़े प्राप्त करने के लिए जैसे शक्तिशाली ग्रौर उत्तम गुणों वाले नर-मादा का समागम कराया जाता है (पृ० रिपब्लिक, १५४-५५), वैसे ही "मानव-समुदाय को श्रेष्ठ ग्रवस्था में बनाये रखना हो तो श्रेष्ठ पुरुषों का श्रेष्ठ स्त्रियों से सहवास ग्रधिक-से-ग्रधिक संभव दशाग्रों में होना चाहिए।...ग्रौर फिर यदि संरक्षकों के समुदाय को पारस्परिक फूट ग्रौर कलह से यथासंभव मुक्त रखना हो तो उपर्युक्त प्रबन्ध के उपाय की जानकारी शासकों के ग्रतिरिक्त ग्रौर किसी को नहीं होनी चाहिए।" (रिपब्लिक, पृ० १५५-५६)। ग्रपनी योजना की क्रियात्मक रूपरेखा देते हुए उसने यह व्यवस्था की है कि इस प्रकार का सहवास कुछ विशेष ग्रवसरों पर ही हो। "हमको कुछ उत्सवों ग्रौर यज्ञों का विधान करना होगा, जिनमें वर-वधुग्रों का सम्मिलन होगा तथा हमारे कवियों को उस समय सम्पन्न होने वाले विवाहों के ग्रनुरूप स्तोत्रों की रचना करनी होगी।" ऐसी पद्धति की योजना करनी होगी कि निकृष्ट जन वर-वधू के वरण के ग्रवसर पर शासकों को दोष न देकर दैव को दोष दें। श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ सहवास के ग्रधिक सतत ग्रवसर प्राप्त होने चाहियें। किन्तु सन्तान होने के बाद उनका इससे कोई सम्बन्ध न रहेगा, इनकी देखरेख के लिए नियुक्त स्त्री-पुरुष पदाधिकारी इन बच्चों को राजकीय शिशु-गृहों में उन धायों के पास पहुँचा देंगे, जो नगर के ग्रलग मुहल्ले में रहती हैं। निकृष्ट ग्रौर सदोष सन्तानों को ग्रज्ञात स्थान में छिपाकर नष्ट कर दिया जाएगा, ताकि किसी को यह पता न चले कि उनका क्या हुग्रा। बच्चों का पालनपोषण करने वाले पदाधिकारी इसका पूरा प्रयत्न करेंगे कि कोई माता ग्रपने शिशु को न पहचान सके।"

उत्तम सन्तान पाने के लिए स्त्री-पुरुष का संबंध पूर्ण यौवनकाल में होना चाहिए। ग्रतः प्लेटो ने यह व्यवस्था की है—'स्त्रियाँ बीस वर्ष की ग्रवस्था से लेकर चालीस वर्ष की ग्रवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान उत्पन्न करेंगी ग्रौर पुरुष पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेने के उपरान्त पच्चीस वर्ष की ग्रवस्था से लेकर पचपन वर्ष की ग्रवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान पैदा करेंगे।'[1] इस परिपक्व ग्रवस्था से पहले सन्तानोत्पत्ति करने वालों का कार्य ग्रधर्म, ग्रन्यायपूर्ण ग्रौर ग्रवैध होगा।[2] उपर्युक्त निर्धारित प्रजनन ग्रवस्था को पार

---

१. रिपब्लिक (कार्नफील्ड) पृ० १५७। भारत में सुश्रुत (शारीरस्थान ग्रध्याय १०, श्लोक ४७।४) ने युवावस्था से पहले विवाह के दुष्परिणामों का उल्लेख करते हुए विवाह की ग्रायु पुरुष के लिए २५ वर्ष ग्रौर स्त्री के लिए १६ वर्ष निश्चित की है—ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते। जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

२. प्लेटो की उपर्युक्त व्यवस्था से स्पष्ट है कि उसका स्त्रियों को सामूहिक बनाना ग्रनेक विधि-विधानों तथा नियमों द्वारा नियन्त्रित है, इसका काम-सम्बन्ध की खुली छूट ग्रौर स्वच्छन्द मैथुन की स्वतन्त्रता देने वाली कामचार (Promiscuity) या स्वैराचरण की व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह इससे भी स्पष्ट हो जायगा कि प्रजनन ग्रवस्था में वर्तमान कोई पुरुष यदि ऐसी स्त्री से सहवास करेगा जिससे उसका समागम शासकों द्वारा निश्चित नहीं किया गया,

कर लेने पर "पुरुषों को पुत्री एवं माता तथा उनके प्रत्यक्ष पूर्वज अथवा सन्तान को छोड़ कर तथा स्त्रियों को पुत्र और पिता इत्यादि को छोड़कर अन्य किसी से सहवास की स्वतन्त्रता होगी (रिपब्लिक, पृ० १५८), किन्तु इस अवस्था में गर्भ को जन्म न लेने देने की व्यवस्था की जायगी।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि माता-पिता का ज्ञान न होने पर पिता-पुत्र आदि के संबंधों का ज्ञान कैसे होगा। प्लेटो ने इसका यह समाधान किया है कि "पुरुष वर बनने के बाद सातवें मास से लेकर दसवें मास तक के मध्य में उत्पन्न हुए बच्चों को पुरुष होने पर पुत्र और स्त्री होने पर पुत्री कहेगा और वे सन्तानें उसको पिता कहेंगी और इसी प्रकार वह इनकी सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे उनके समुदाय के पुरुषों और स्त्रियों को दादा-दादी कहेंगी तथा वे सब बच्चे जो कि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजननकाल में उत्पन्न हुए हैं, "एक-दूसरे को भाई-बहिन मानेंगे" (रिपब्लिक, पृ० १५८)। प्लेटो यह समझता है कि इस व्यवस्था से न केवल उत्तम सन्तान उत्पन्न होगी, किन्तु सारा राज्य एक विशाल कुटुम्ब का रूप धारण कर लेगा, सब इदं मम (यह मेरा है), इदं न मम (यह मेरा नहीं है) शब्दों का प्रयोग एक ही प्रकार से, एक ही वस्तु के लिए करने लगेंगे। राज्य में एकता की अनुभूति बढ़ेगी। "जिस तरह उंगली में चोट लगने से सारे शरीर को पीड़ा होती है, इसी तरह राज्य के एक व्यक्ति पर दुःख आ पड़ने पर सारा राष्ट्र उससे दुःखी होगा।"[1] (रिपब्लिक, पृ० १६०)। इससे राज्य में सुदृढ़ता और एकता आयेगी, और यही राज्य की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे राज्य को निर्बल बनाने वाले कलह समाप्त हो जायेंगे, विद्रोहों की संभावना मिट जायगी और शान्ति का अखण्ड साम्राज्य होगा।

आजीवन अविवाहित रहने वाले प्लेटो को स्वयमेव इस योजना के उपयोगी होने पर भी क्रियान्वित होने में संदेह था। उसके मतानुसार जनता को यह समझाना बहुत कठिन था कि यह अच्छी या संभव योजना है (रिपब्लिक, पृ० १५३)। वृद्धावस्था में लिखे गये अपने अन्तिम ग्रंथ लाज़ (Laws) में उसने साम्यवाद को आदर्श मानते हुए शासकों के लिए भी इसे क्रियात्मक प्रस्ताव नहीं बताया। उसके शिष्य अरस्तू ने (पालिटिक्स, पृ० ४०–४८) इस योजना की भी सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व की भाँति निम्नलिखित कारणों के आधार पर प्रबल आलोचना की थी : (१) अरस्तू का कहना था कि राज्य न तो कभी विशाल कुटुम्ब का रूप धारण कर सकता है और न ही परिवार की एकता और सुदृढ़ता को पा सकता है। जब एक बच्चे का एक नहीं, किन्तु सौ माता-पिता होंगे, और इनके भी सौ बच्चे होंगे तो इनमें प्रेम की वह प्रगाढ़ता और संबंधों की घनिष्ठता नहीं हो सकती, जो एक छोटे परिवार के माता-पिता तथा संतान में होती है। 'जिस प्रकार थोड़ी-सी मधुर मदिरा बहुत अधिक जल के साथ मिल कर स्वादरहित घोल बन जाती है इसी प्रकार ऐसे समाज में भी इन (पिता-पुत्र आदि) नामों द्वारा सूचित कौटुम्बिक

तो वह धर्म-विरुद्ध अवैध कार्य होगा (भोलानाथ शर्मा– आदर्श नगर व्यवस्था, पृ० ३४०)। अतः टेलर ने (प्लेटो—दी मैन एण्ड हिज वर्क, पृ० २७८) में यह ठीक ही लिखा है कि रिपब्लिक में यौन-सम्बन्धविषयक व्यवस्थायें (मध्यकालीन) ईसाई समाज की अपेक्षा अधिक कठोर हैं।

१. अरस्तू की राजनीति—भोलानाथ शर्मा कृत अनुवाद, पृ० १४१।

भावना भी अवश्य ही शिथिल (नष्ट प्राय) हो जायगी।"[१] इस व्यवस्था से राज्य में प्लेटो द्वारा अभीष्ट एकता और सुदृढ़ता नहीं उत्पन्न हो सकेगी। (२) इस व्यवस्था में से समाज में कलहों की शान्ति होने के स्थान पर, स्त्रियों को लेकर झगड़े बहुत अधिक बढ़ जायेंगे। (३) जो वस्तु सबकी होती है, उसकी परवाह सबसे कम की जाती है। जब बच्चे सबके समझे जायेंगे तो उनका लालन-पालन वैसे प्रेम, ममता और सावधानी से नहीं हो सकता, जैसा वर्त्तमान परिवार व्यवस्था में होता है। प्लेटो इस व्यवस्था द्वारा सब बच्चों का पालन अनाथों की तरह कराना चाहता है। (३) बच्चों के माता-पिता का नाम गुप्त रखने का कितना ही प्रयत्न किया जाय, सन्तान की आकृति का माता-पिता के साथ इतना सादृश्य होता है कि वह पहिचान ली जायगी और प्लेटो इनके नाम गुप्त रखकर शासकों को जिस ममता और मोह से मुक्त रखना चाहता है, वह अवश्य उत्पन्न हो जायगा। (४) निकट एवं सपिण्ड व्यक्तियों में हानिकर विवाहों (Incestuous marriages) की दूषित प्रथा प्रचलित हो जायगी। (५) पशु-जगत् के उदाहरणों को मानव समाज पर लागू करना ठीक नहीं है। (६) राज्य द्वारा श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों के समागम की योजना सर्वथा अव्यावहारिक है। (७) प्लेटो परिवार को केवल स्वार्थ-परता और कलहों का मूल समझता है, किन्तु इससे समाज को होने वाले अमित लाभों को विस्मृत कर देता है। परिवार व्यक्तियों को सेवा, सहयोग, प्रेम, स्वार्थत्याग, संयम, सदाचार और परोपकार का पाठ पढ़ाता है।[१] (८) प्लेटो शासकों को पारिवारिक जीवन से प्राप्त होने वाले आनन्द और लाभ से वंचित कर देता है। वह यौन जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा करता है, उसकी पुरुषों को सांड बनाने तथा स्त्रियों को बच्चा पैदा करने की मशीन मात्र बनाने की योजना सर्वथा अक्रियात्मक और असंभव तथा मानव स्वभाव की मौलिक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल है। यद्यपि उसकी यह योजना समाज के अल्प वर्ग के लिए ही है, किन्तु इसमें भी यह कभी क्रियान्वित नहीं हो सकती।

आदर्श राज्य (Ideal State) के मौलिक सिद्धान्त उपर्युक्त विवरण से प्लेटो के आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते हैं। ये निम्नलिखित हैं : — (क) **न्याय** (Justice) — यह उसके राज्य का संचालन करने वाला प्राण है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि इसके सब अंग अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें। (ख) **राज्य**— यह व्यक्ति का बृहत् रूप है, व्यक्ति की सब विशेषताएँ राज्य में पायी जाती हैं। (ग) **विशेष कार्य का सिद्धान्त** (Theory of specific function)— अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए यह आवश्यक है कि समाज में श्रम विभाजन (Division of labour) हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष कार्य को अधिक दक्षता और योग्यता से करे। (घ) **शिक्षा का सिद्धान्त** (Theory of education) — विभिन्न व्यक्तियों को अपने कार्यों का ज्ञान देने के लिए उसने विशेष शिक्षापद्धति की व्यवस्था की है। (ङ) **नागरिकों के तीन वर्ग** - आत्मा के तीन तत्वों — काम या क्षुधा (Appetite), उत्साह (Spirit), विवेक (Reason) के आधार पर उसने नागरिकों को उत्पादक वर्ग, सैनिक अथवा सहायक संरक्षक वर्ग तथा संरक्षक (Guardians) नामक तीन वर्गों में बाँटा। (च) **दार्शनिक राजाओं का शासन** — उसका यह विश्वास है कि शासक जब तक दार्शनिक नहीं होंगे,

---

१. हरिदत्त वेदालंकार — हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १४।

तब तक राज्यों में शान्ति और सुशासन स्थापित नहीं हो सकता। (छ) **साम्यवाद**—दार्शनिकों को सुशासक बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वे वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार न रखें, कामिनी, कांचन के मोह से मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य पालन करें। (ज) **नर-नारियों का समानाधिकार**— अपने राज्य में वह नारियों को घर की चहारदीवारी के बाहर निकाल कर शिक्षा, शासन आदि सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करता है। (झ) प्लेटो का राज्य विशुद्ध, आध्यात्मिक और नैतिक लक्ष्य वाला है, वह दृश्यमान जगत् को अवास्तविक और इसके विचारों (Ideas) को वास्तविक मानता है, इसका अन्तिम रूप 'सत् का विचार' है, राज्य उत्तम जीवन बिताने के लिए है। (ञ) राज्य का हित सर्वोपरि तथा प्रधान है, व्यक्ति राज्य का अंगमात्र है। प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना का आशय यह है कि राज्य इस प्रकार का होना चाहिए, उसने सब देशों और कालों के लिए अपनी रिपब्लिक में आदर्श राज्य की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं है कि ऐसा राज्य वास्तव में कहीं है या नहीं, वर्त्तमान राज्य उसके आदर्शों के अनुरूप हैं या नहीं, उसकी योजनायें क्रियात्मक हैं या नहीं। उसका प्रयोजन तो केवल आदर्श राज्य की योजना प्रस्तुत करना है।

प्लेटो के आदर्श राज्य की योजना उसके शिष्य अरस्तू के समय से कई दोषों के कारण तीव्र आलोचना का शिकार बनती रही है। **पहला** दोष यह है कि उसने राज्य और व्यक्ति की समानता को अत्यधिक अनुचित महत्त्व दिया है, मानवीय आत्मा के तीन तत्त्वों के आधार पर राज्य के नागरिकों को केवल तीन वर्गों में बाँटना वस्तु-स्थिति से बहुत भिन्न है। व्यक्ति और राज्य में अभेद कर के उसने उसे नैतिकता और राजनीति का विचित्र सम्मिश्रण कर दिया है। **दूसरा** दोष यह है कि प्लेटो के समष्टिवाद (Collectivism) तथा राज्य को दी गई अनुचित महत्ता ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों को बिल्कुल कुचल दिया है। उसने व्यक्ति को राज्यरूपी महान् यंत्र का तुच्छ पुर्जा मात्र बना दिया है। हेगेल (Hegel) के शब्दों में प्लेटो के राज्य में व्यक्ति की स्वाधीनता का कोई स्थान नहीं है। **तीसरा** दोष राज्य के बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग की शोचनीय उपेक्षा है, वह अन्य दोनों वर्गों के समान इनके लिए विशेष शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करता। **चौथा** दोष प्लेटो का तत्कालीन समाज के एक बड़े दोष दास-प्रथा के संबंध में मौन रहना है। **पाँचवाँ** दोष दार्शनिकों को निरंकुश राजसत्ता सौंपना है। इन व्यक्तियों को शिक्षा द्वारा भले ही कितना निस्पृह और वीतराग बना दिया जाय, किन्तु शक्ति पाने पर मानवीय प्रकृति के अनुसार इनमें विकृति आना स्वाभाविक है। **छठा** दोष यह है कि प्लेटो ने अपने राज्य में शासन के लिए आवश्यक अनेक तत्त्वों की घोर उपेक्षा की है। आजकल कानूनों के बिना किसी भी राज्य का शासन चलना असम्भव है, किन्तु प्लेटो इन्हें सर्वथा अनावश्यक मानता है, उसने सरकारी पदाधिकारियों की नियुक्ति, न्यायालयों की स्थापना, अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था का कोई वर्णन नहीं किया। **सातवाँ** दोष प्लेटो के आदर्श राज्य की अनेक अव्यावहारिक व्यवस्थायें हैं। वह अपने राज्य में कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं मानता, किन्तु वस्तुतः इनके बिना किसी भी राज्य का संचालन असंभव है। उसकी अन्य अक्रियात्मक व्यवस्थायें दार्शनिक राजाओं का शासन, साम्यवाद अथवा शासकों के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार से वंचित होना है।

क्या प्लेटो का राज्य काल्पनिक है ? — उपर्युक्त अव्यावहारिक योजनाओं के आधार पर प्राय: यह कहा जाता है कि प्लेटो स्वप्नद्रष्टा था, उसकी रिपब्लिक में वर्णित राज्य सर्वथा काल्पनिक है, इस पृथ्वी पर उसकी कहीं सत्ता न होने से वह यूटोपिया (Utopia)[1] या गन्धर्वनगर मात्र है। 'वह बादलों में बना शहर है। मन:प्रसूत सृष्टि-मात्र है'। किन्तु प्लेटो पर ऐसा आरोप यथार्थ नहीं है। बार्कर के शब्दों में रिपब्लिक का राज्य ऐसा नहीं है, जो कहीं न हो।[2] यह वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है और इसका अभिप्राय वास्तविक जीवन को (नये) सांचे में ढालना और प्रभावित करना है। प्लेटो के कोरा कल्पनावादी न होने का तथ्य अनेक प्रमाणों से पुष्ट होता है।

पहला प्रमाण यह है कि रिपब्लिक वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है। इसकी आठवीं तथा नवीं पुस्तकों में यूनान की तत्कालीन शासन प्रणालियों – स्पार्टा के अल्पतन्त्र (Oligarchy) और कीर्तितन्त्र (Timocracy), एथेन्स के लोकतन्त्र तथा सिराक्यूज़ के निरंकुशतन्त्र (Tyranny) – का उल्लेख है। प्लेटो की दृष्टि में ये रुग्ण (Diseased) शासन-प्रणालियाँ हैं। इन सब में ज्ञान की उपेक्षा और अज्ञान की प्रधानता है। इनमें विवेक (Reason) के अतिरिक्त, अन्य दो तत्त्वों क्षुधा या कामभाव (Appetite) की तथा उत्साह एवं शौर्य के तत्त्वों का बोलबाला है, इसी कारण इनमें झगड़ों, दलबन्दियों और स्वार्थपरता का साम्राज्य है। प्लेटो इस तरह वर्त्तमान राज्यों के रोग का निदान और कारण ढूंढने के पश्चात् इसकी चिकित्सा भी बताता है। उस की सम्मति में राज्यों के रोग की शान्ति विवेक (Reason) या बुद्धि को सर्वोच्च स्थान देने, एक नई शिक्षा-पद्धति स्थापित करने, तथा साम्यवाद की प्रणाली द्वारा क्षुधा (Appetite) और उत्साह (Spirit) की भावना को विवेक द्वारा नियन्त्रण में रखने से हो सकती है। रोगों के निदान की भाँति इसका इलाज भी उसने वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर तय किया है। सातवीं पुस्तक में बतायी गई विभिन्न विषयों की शिक्षा उसकी अकादमी में वस्तुत: दी जाती थी। उसके साम्यवाद (Communism) की प्रणाली यद्यपि इतने विस्तृत और व्यापकरूप में प्रचलित नहीं थी, फिर भी वह अनेक अंशों में स्पार्टा में तथा अन्य राज्यों में पायी जाती थी। अत: बार्कर के मतानुसार रिपब्लिक में राज्यों के रोग का निदान और इलाज दोनों ही केवल किन्हीं पहले से माने हुए दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित नहीं किये गये, अपितु यूनानी जीवन के तथ्यों के आधार पर निर्धारित किये गये हैं।[3] (The Republic is not

---

१. यूटोपिया ग्रीक के नहीं वाचक Ou तथा स्थान वाची Topos शब्द से मिल कर बना है, इसका शब्दार्थ है जो किसी स्थान पर न हो। सर थामस मोर ने इस शब्द को गढ़ा और इस नाम से १५१६ ई० में एक पुस्तक लिखी, जिसमें एक ऐसे काल्पनिक द्वीप का वर्णन था, जहां की राजनीतिक और सामाजिक पद्धति आदर्श थी। उस समय से इस शब्द का प्रयोग काल्पनिक और आदर्श योजनाओं के लिए होने लगा है। संस्कृत में आकाश में अथवा मृगमरीचिका आदि के कारण कल्पना से दिखाई देने वाले अवास्तविक नगर के लिए गन्धर्वनगर शब्द का प्रयोग होता है—देखिये महाभारत १।१२६।३५ गन्धर्वनगराकारं तथैवान्तर्हितं पुरः।

२. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० २३६।

३. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थिकोरी, पृ० २३६।

only a deduction from first principles, it is also an induction from the facts of Greek life.)

प्लेटो के कोरी कल्पना के आधार पर उड़ान न लेने का **दूसरा प्रमाण** यह है कि उसके रिपब्लिक, लाज़ तथा **पत्रों** (Epistles) के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वह तत्कालीन राजनीति में क्रियात्मक सुधार करने की तीव्र इच्छा रखता था। यदि वह राजनीतिक आदर्शवादी (Political idealist) था तो इसके साथ ही वह वास्तविक राजनीतिज्ञ (Actual politician) भी था।[1] सिराक्यूज़ की यात्रा उसने वहाँ की दशा सुधारने और वहाँ के शासक को दार्शनिक राजा बनाने की दृष्टि से की थी। वह कोरा आदर्शवादी नहीं था, उसने रिपब्लिक में जिन सुधारों का समर्थन किया है, वह उन्हें जल्दी-से-जल्दी क्रियात्मक रूप देना चाहता था। उसकी व्यावहारिकता इसी से स्पष्ट है कि उसने साम्यवाद की व्यवस्था सारे राज्यवासियों पर लागू न कर के, केवल शासक तथा सैनिक वर्ग तक ही सीमित रखी है ताकि यह शीघ्र ही क्रियारूप में परिणत हो सके। वह रिपब्लिक में जिस नगरराज्य की स्थापना कर रहा है, वह काल्पनिक नहीं, किन्तु एक वास्तविक यूनानी राज्य है। उसका कहना था कि इसकी स्थापना "असंभव नहीं, किन्तु कठिन अवश्य है"।[2] "राज्य और इसकी सरकार के बारे में जो-कुछ कहा गया है, वह केवल दिवा स्वप्नमात्र नहीं है, यद्यपि यह कठिन है, किन्तु संभव है। यह केवल तभी संभव हो सकता है, जब दार्शनिक राजा बनें या राजा दार्शनिक बनें।"[3] वह यह मानता था कि दार्शनिक राजाओं के मिलने पर अपनी शिक्षण-पद्धति से वह इस आदर्श को क्रियान्वित कर सकता है, इसी लिए उसने 'दस वर्ष से ऊपर के सभी नागरिकों को' शहर से दूर देहात में भेजने तथा इन बच्चों का जीवन आदर्श न्याय-पद्धति के अनुरूप ढालने पर बल दिया है।

तीसरा प्रमाण यह है कि प्लेटो भले ही आदर्शवादी हो, किन्तु वह आदर्श को

---

१. बर्ट्रेंड रसेल ने हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी (पृ० १३६-४०) में लिखा है कि प्लेटो की रिपब्लिक वर्त्तमान गन्धर्वनगरों (Utopias) की भाँति काल्पनिक नहीं थी, उसका उद्देश्य इसे वास्तव में स्थापित करना था। यह उस समय उतना ऊटपटांग और असम्भव नहीं था, जितना हमें आज प्रतीत होता है। दार्शनिकों का शासन पिथागोरस ने स्थापित करने का प्रयत्न किया था, प्लेटो जब सिसली और दक्षिणी इटली गया तो तारस (Taras वर्त्तमान टारण्टो) में पिथागोरस सम्प्रदाय के दार्शनिक आर्खिटस (Archytas) का शासन था। उन दिनों नवीन नगर प्रायः दार्शनिक विद्वानों को अपने नगर के कानून निर्माण का कार्य सौंपते थे। सोलन ने एथेन्स के लिए तथा प्रोतेगोरस (Protagoras) ने थुरी (Thurii) के लिए यह कार्य किया था। उन दिनों उपनिवेश इन्हें स्थापित करने वाले नगरों के नियन्त्रण से मुक्त होते थे, अतः प्लेटो के अनुयायियों के लिए यह सर्वथा संभव था कि वह स्पेन या गाल (फ्रांस) के तट पर एक नये उपनिवेश में अपना आदर्श राज्य बसा लेते। दुर्भाग्यवश प्लेटो सिराक्यूज़ गया, यह व्यापारिक नगर उन दिनों कार्थेज के भीषण युद्धों में लगा हुआ था। इस अवस्था में कोई भी दार्शनिक अधिक कार्य नहीं कर सकता था। अगली पीढ़ी में मैसीडोनिया के उत्थान ने लघु राज्यों को पुरातन इतिहास की वस्तु बना दिया और लघु राज्यों के सम्बन्ध में राजनीतिक परीक्षण करना निरर्थक कार्य हो गया।

२. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० २०३।

३. वही, पृ० २५६।

व्यवहार के पथ-प्रदर्शन के लिए आवश्यक मानता था और उसके आदर्शों का पश्चिम के राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। प्लेटो ने आदर्श नगर से संबंध में नवीं पुस्तक के अन्त में लिखा है—"मेरे विचार में पृथ्वी पर तो ऐसा नगर कहीं भी नहीं है।··· इसका नमूना स्वर्गलोक में स्थित है।···इस समय इसकी सत्ता है या नहीं, इन बातों से इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता।" (रिपब्लिक, पृ० ३१२–१३)। क्योंकि यह नगर आदर्श विचारों से बना होने से सदैव अमर है और लोगों को सदैव ऐसे नमूने का नगर निर्माण करने की प्रबल प्रेरणा देता रहेगा। आदर्श सदैव ध्रुव तारे की भाँति ऊंचा और हमारा मार्गप्रदर्शक रहना चाहिए। यदि आदर्श व्यवहार में आ गया तो वह आदर्श नहीं रहेगा। हमारा व्यवहार सदैव आदर्श से बहुत पीछे रहता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम आदर्श को छोड़ दें। सत्य बोलना आदर्श है, दुनिया में झूठ बोला जाता है, किन्तु फिर भी हम 'सत्यमेव जयते नानृतम्' को अपना आदर्श बनाते हैं। प्लेटो का राज्य भले ही आदर्श कल्पना, दिवास्वप्न या हवाई महल हो, किन्तु इससे उसकी महत्ता कम नहीं होती। महल पहले हवा में या कल्पना में ही बनाये जाते हैं, बाद में स्थूल सामग्री से उनका निर्माण होता है। सपने और आदर्श न हों तो मनुष्य घोर स्वार्थ और पशुता के पंक में डूबा रहे, ये उससे ऊंचा उठने तथा अपनी ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। मनुष्य विचारशील प्राणी है आदर्श उस पर वास्तविक घटनाओं जैसा गहरा प्रभाव डालते हैं।

प्लेटो की रिपब्लिक भले ही काल्पनिक राज्य और गन्धर्वनगर हो, किन्तु "इतिहास पर उसका उतना ही गम्भीर प्रभाव पड़ा है, जितना स्पार्टा के वास्तविक राज्य का।" मध्ययुग में योरोप में पादरी (Clergy) वर्ग प्लेटो के संरक्षकों के समान कामिनी-कांचन के मोह से मुक्त था, अपनी योग्यता, सरलता, उच्च जीवन के कारण समाज में ऊंची स्थिति रखता था और रोमन कैथोलिक धर्म के स्वर्ग, नरक के विचारों पर रिपब्लिक की अन्तिम पुस्तक का, सृष्टि-विज्ञान पर Timoeus का, वास्तविकता (Realism) के सिद्धान्त पर विचारों के सिद्धान्त (Theory of ideas) का और चतुःशास्त्रीय (Quadrivium) शिक्षा अर्थात् चार विषयों – अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिष और संगीत के अध्ययन पर प्लेटो की शिक्षा-पद्धति की गहरी छाप है। दक्षिण अमरीका के पैरागुए राज्य में जेसुइट पादरियों ने कुछ समय तक प्लेटो के संरक्षकों की भाँति अपने ज्ञान और योग्यता के आधार पर बर्बर जनता का शासन किया। नवम्बर १९१७ में रूस में बोलशेविक क्रान्ति करने वाली कम्यूनिस्ट पार्टी भी आरम्भ में प्लेटो के संरक्षकों की भाँति थी। प्लेटो के आदर्श राज्य स्थापित करने के कुछ साधन भले ही असंभव एवं मानवीय प्रकृति के प्रतिकूल समझे जायं, किन्तु उसके इस सिद्धान्त में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि शासन योग्य एवं बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए, राजनीतिज्ञों का प्रशिक्षण उसी प्रकार से होना चाहिए, जैसा डाक्टरों और इंजीनियरों का होता है। ऐसा राजनीतिक प्रशिक्षण पाने वाले और शासन कला में निष्णात व्यक्तियों को राजकीय पद दिये जाने चाहिएं। प्लेटो का इससे बड़ा प्रभाव और क्या हो सकता है कि आजकल यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका है कि शासकीय सेवाओं के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। लोकतन्त्र की व्यवस्था में यद्यपि अभी तक मंत्रियों और विधान-सभाओं के सदस्यों के लिए ऐसा कोई प्रशिक्षण नहीं है, किन्तु उसकी आवश्यकना अनुभव की जाने

लगी है। प्लेटो ने रिपब्लिक में शासन के कुछ शाश्वत आदर्श बताये हैं, वे पिछले २२०० वर्षों से राजनीतिक नेताओं का पथप्रदर्शन करते रहे हैं और भविष्य में भी उनका आलोक-स्तम्भ बने रहेंगे।

शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण और परिवर्तक चक्र—प्लेटो का दार्शनिकों द्वारा शासित आदर्श राज्य यदि इस भूतल पर स्थापित हो जाय तो जगत् के परिवर्तनशील होने के कारण वह स्थायी नहीं होगा और उसमें अधःपतन आने से विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का उत्थान तथा पतन होगा। प्लेटो इनमें एक निश्चित प्रकार का क्रम मानता है और उसने रिपब्लिक की आठवीं और नवीं पुस्तकों में इनका विस्तार से वर्णन किया है। उसने इन्हें पाँच वर्गों में बाँटा है—राजतन्त्र (Monarchy), कीर्त्तितन्त्र (Timocracy), अल्पतन्त्र (Oligarchy), लोकतन्त्र (Democracy) तथा निरंकुशतन्त्र (Tyranny)।

पहली प्रणाली में जनता को सबसे अधिक सुख मिलता है और इसके बाद इसकी मात्रा घटती जाती है, अन्तिम निरंकुशतन्त्र में इसकी मात्रा सबसे कम हो जाती है। पहली और पाँचवीं प्रणाली में एक व्यक्ति का शासन होता है, दूसरी और तीसरी में कुछ व्यक्तियों का तथा चौथी में अधिकांश जनता शासक होती है। 'न्याय के परिपालन की दृष्टि से दार्शनिक राजा द्वारा शासित पहली प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु साम्यवाद के परित्याग और वैयक्तिक सम्पत्ति के अभ्युदय से इसका पतन होने लगता है, संरक्षक लोभवृत्ति से समूची भूमि को हथिया कर आपस में बाँट लेते हैं, स्वतन्त्र कृषकों को दास बना लेते हैं, संरक्षकों का ध्येय युद्ध करना तथा अपना गौरव बढ़ाने के लिए राज्य-विस्तार करना हो जाता है। इसमें सारी राजशक्ति ज़मीन्दार योद्धाओं के हाथ में आ जाती है, इसे कीर्त्तितन्त्र (Timocracy) कहा जाता है, क्योंकि इसमें न्याय की भावना से नहीं, किन्तु योद्धा अपनी कीर्त्ति (Time) और सम्मान, महत्वाकांक्षा और गौरव बढ़ाने की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। यह राजतन्त्र से उत्पन्न होने वाला पहला विकार है। कीर्त्तितन्त्र शनैः-शनैः अल्पतन्त्र (Oligarchy) में परिणत होता है। इसमें सारी सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों और कुलों के हाथ में आ जाती है, इसके आधार पर वे शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेते हैं और वैयक्तिक लाभ तथा स्वार्थ की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। इस अवस्था से साधारण दरिद्र जनता में तीव्र असंतोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। इसके परिणामस्वरूप लोकतन्त्र स्थापित होता है। किन्तु लोकतन्त्र में जनता स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर देती है। इसका अन्त करने लिए जनता में एक नेता उठ खड़ा होता है, यह जनता को बड़ा मोहक आश्वासन देता है, वह उनके ऋण माफ करा देगा, ज़मीन्दारियों का उन्मूलन करेगा, उनके सब कष्टों का अन्त कर राम-राज्य स्थापित करेगा। जनता उसके भुलावे में आकर उस पर विश्वास करती हुई उसे राजसत्ता तथा सैनिक शक्ति प्रदान करती है और वह जनता के आश्वासनों की पूर्त्ति करने के स्थान पर वैयक्तिक स्वार्थसिद्धि के लिए अपना स्वेच्छाचारी शासन स्थापित कर लेता है, यही निरंकुशतन्त्र (Tyranny) या तानाशाही की सबसे निकृष्ट शासन-प्रणाली है।

लोकतन्त्र की आलोचना—प्लेटो ने यद्यपि निरंकुशतन्त्र को सबसे खराब शासन माना है, किन्तु रिपब्लिक में लोकतन्त्र की भी उसने कम तीव्र आलोचना नहीं की।

उसे अपने गुरु को विषपान कराने वाले एथेन्स के लोकतन्त्र का बड़ा प्रत्यक्ष और कटु अनुभव था। अतः इसकी निन्दा का गीत गाने में उसने कोई कसर बाकी नहीं रखी। उसके मतानुसार इसमें निम्नलिखित बड़े दोष हैं—(१) लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्त स्वतन्त्रता (Liberty) और समानता हैं। प्लेटो यह समझता है कि ये दोनों सिद्धान्त समाज में उच्छृंखलता और अव्यवस्था लाने वाले तथा अनुशासन का लोप करने वाले हैं। 'पुत्र पिता के तुल्य बन जाता है और अपने माता-पिता के प्रति आदर और भय की भावना नहीं रखता, जिससे वह स्वतन्त्र व्यक्ति बन सके।···ऐसी परिस्थिति में अध्यापक अपने शिष्यों से डरता और उनकी चापलूसी करता है और विद्यार्थी अपने उपाध्यायों का तिरस्कार करते हैं।···ऐसे राष्ट्र में सार्वजनिक स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा तो तब होती है, जबकि क्रीतदास और दासियाँ भी उनको मूल्य देकर मोल लेने वाले स्वामियों के बराबर स्वतन्त्र हो जाती हैं।" लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता और समानता की भावना इस हास्यास्पद सीमा तक पहुँचती है कि पशु भी इसका दावा करने लगते हैं। इस विषय में वह अयस्खिलस (Aeschylus) की उक्ति उद्धृत करते हुए कहता है—"इस प्रकार के राष्ट्र में रहने वाले पशु किसी अन्य राष्ट्र के पशुओं की अपेक्षा कितने अधिक स्वतन्त्र होंगे इसका विश्वास बिना प्रयत्क्ष अनुभव के किसी को नहीं हो सकता। कुतियें तक लोकोक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए अपनी स्वामिनी के समान हो जाती हैं और इसी प्रकार घोड़े और गधे भी मार्ग में अत्यधिक स्वतन्त्रता और गौरव के साथ चलने के अभ्यासी हो जाते हैं तथा जो भी उनके सामने आकर उनके लिए रास्ता नहीं छोड़ता, वे उसी पर झपट पड़ते हैं और इसी प्रकार सब चीजें सर्वत्र समानता की भावना से फट पड़ने को तैयार हो जाती हैं (रिपब्लिक, कार्नफोर्ड, पृ० २८२-८३)। लोकतन्त्र का बड़ा दोष यह है कि यह सब को, योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियों को समानाधिकार प्रदान करता है। सच्ची समानता सब को एक जैसे अधिकार नहीं, किन्तु समान योग्यता होने पर समान अधिकार देना है। (२) लोकतन्त्र अराजकता (Anarchy) है, क्योंकि इसमें किसी एक व्यक्ति की या आत्मा के तीन तत्त्वों में से किसी एक की प्रधानता नहीं होती, किन्तु बहुतन्त्र (Polyarchy) होने के कारण अनेक तत्त्वों और व्यक्तियों का शासन होता है। इसमें एक संविधान नहीं, किन्तु 'संविधानों का बाज़ार' (Bazaar of constitutions) होता है। यह रंग-बिरंगे फूलों से कढ़ी हुई अनेक रंगों वाली पोशाक के समान है और जिस प्रकार 'लड़के और स्त्रियाँ चटकीले रंगों की वस्तुओं को देखकर सुन्दरतम बताते हैं, इसी प्रकार बहुत-से व्यक्ति इसे सुन्दर समझते हैं।" किन्तु यह सबको अबाध स्वच्छन्दता देने के कारण बहुत दोषपूर्ण है, इसमें कोई नियम या अनुशासन नहीं चलता। एकता और व्यवस्था नहीं होती, सब लोग अपनी-अपनी डफली लेकर अपना राग अलापते हैं। लोकतन्त्र के समर्थक इसका एक सबसे बड़ा गुण यह बताते हैं कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी मौलिक विशेषताओं से राज्य को समृद्ध बनाता है। पेरिक्लीज़ से जॉन स्टुअर्ट मिल तक सभी विचारक लोकतन्त्र में वैविध्य को महत्वपूर्ण मानते रहे हैं, किन्तु प्लेटो एकत्ववादी है, वह दृश्य जगत् के पीछे एक सामान्य विचार की सत्ता मानता है, अद्वैतवादी होने से उसे नानात्व की प्रवृत्ति असह्य है। अतः वह लोकतन्त्र के नानात्व को अराजकता, गड़बड़ी और अव्यवस्था का प्रतीक मानता है। (३) लोकतन्त्र प्लेटो की न्याय-

व्यवस्था का विरोधी है। वह इसे राज्य में सर्वोच्च स्थान देता है, न्याय-व्यवस्था श्रमविभाग (Divison of labour) पर तथा विशेष कार्य के सिद्धान्त (Theory of specific function) पर आश्रित है। इसका अर्थ है कि विशेष कार्य के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति होने चाहिएं। किन्तु एथेन्स के लोकतन्त्र में कोई भी व्यक्ति न्यायाधीश, सेनापति या शासक के पद पर चुना जा सकता था। प्लेटो प्रत्येक व्यक्ति को उसकी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार कार्य देना चाहता है, किन्तु लोकतन्त्र में एक ही व्यक्ति कोई भी कार्य कर सकता है। वह "पहलवान, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और सैनिक" बन सकता है, दूसरे शब्दों में वह गिरगिट के समान रंग बदलने वाला होता है। प्लेटो को लोकतन्त्र न्याय के विचार से प्रतिकूल होने से मान्य नहीं है। (४) उसके मतानुसार शासन प्रशिक्षित ज्ञानी, दार्शनिकों द्वारा किया जाना चाहिए, किन्तु लोकतन्त्र में यह वोट बटोर सकने वाले, स्वार्थी और अज्ञानी शासकों के हाथ में चला जाता है और वे अपने पद पर बने रहने के लिए जनता की खुशामद करते रहते हैं, उनको खुश करने के लिए विविध व्यवस्थायें करते हैं। लोकतन्त्र वास्तव में भीड़तन्त्र (Mobocracy) है, भीड़ जैसा चाहती है, अपने शासकों से वैसा कानून बनवा लेती है। प्रत्येक व्यक्ति शासक बन कर मनमाना कार्य करना चाहता है। प्लेटो ने इसे 'जहाज के कप्तान' के एक रूपक द्वारा समझाया है। "कल्पना करो कि एक नाव में एक कप्तान या पोतनायक अन्य नाविकों से ऊंचाई और बल में अधिक है, पर थोड़ा बहरा है, दृष्टिदोष से युक्त है, उसका नौ-चालन कला का ज्ञान भी उसकी श्रवण-शक्ति और दृष्टि-शक्ति के समान है। नाविक कप्तान बनने के लिए झगड़ रहे हैं, उनमें से प्रत्येक का दावा है कि नाव संचालन की कला पर उसका अपना अधिकार है, यद्यपि उसने नौचालन कला नहीं सीखी।...इससे भी बढ़कर बात यह है कि वे यह प्रतिपादित करते हैं कि यह कला सिखाई बिल्कुल नहीं जा सकती और जो कोई यह कहे कि यह सिखाई जा सकती है वे उसे काट कर खण्ड-खण्ड करने को तैयार हैं। इसी बीच में वे लगातार नौकाध्यक्ष के चारों ओर झुण्ड-के-झुण्ड बनाकर उससे अनुनय विनय करते हैं कि वह संचालनाधिकार उनको सौंप दे और जब कभी वे असफल हो जाते हैं, और अन्य लोग अधिक सफलता प्राप्त करते हैं तो वे उन दूसरों को मार डालते हैं या नौका से समुद्र में फेंक कर निर्वासित कर देते हैं। और तत्पश्चात् अभिजात नौकाध्यक्ष को भांग-धतूरे अथवा किसी मादक द्रव्य से या अन्य प्रकार से मूर्छित करके वे नौका की अध्यक्षता प्राप्त कर लेते हैं, नौका के भण्डार को मनमाना उड़ाने लगते हैं।" (रिपब्लिक —कार्नफोर्ड, पृ० १६१)। लोकतन्त्र का इससे अधिक व्यंग्यपूर्ण चित्र क्या हो सकता है।

रिपब्लिक में प्लेटो लोकतन्त्र का उग्र विरोधी है। किन्तु बाद में अवस्था और अनुभव की परिपक्वता के कारण तथा सुकरात के विषपान की स्मृति क्षीण होने पर वह जनतन्त्र का इतना कटु आलोचक नहीं रहा। पोलिटिकस (Politicus) में उसने विभिन्न शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण करते हुए लोकतन्त्र को अल्पतन्त्र से अधिक उत्कृष्ट माना है, जबकि रिपब्लिक में उसने इसे अल्पतन्त्र से निकृष्ट माना था। बार्कर के शब्दों में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन है। "अब भी उन दिनों की स्मृति बची हुई है, जबकि लोकतन्त्रात्मक राज्य ने ज्ञानी दार्शनिक को मारा था, किन्तु अब यह स्मृति उतनी तीखी

नहीं रही, जितनी 'गोर्जियास' (Gorgias) तथा रिपब्लिक लिखते समय थी।''[1] पहले उसने **विशेष कार्य के सिद्धान्त** का पालन करने के कारण लोकतन्त्र को अन्याय-पूर्ण ठहराया था। किन्तु अनुभव बढ़ने पर उसने कानून को अनुभव और बुद्धिमत्ता का परिणाम समझा तथा कानून के शासन पर स्थापित लोकतन्त्र को उच्च स्थिति प्रदान की। उसकी अन्तिम रचना 'लाज़' (Laws) में लोकतन्त्र को **पोलिटिकस** से भी ऊंची स्थिति दी गयी है और कानून पर आधारित राजतन्त्र और लोकतन्त्र के समन्वय को आदर्श राज्य के बाद दूसरा स्थान दिया गया है।

पोलिटिकस (Politicus) — प्लेटो की यह रचना संभवत: ३६७–३६१ ई० पू० के बीच में या इसके बाद उस काल में लिखी गई, जब वह सिराक्यूज़ में दियोनिसियस द्वितीय के सुधार में लगा हुआ था[2] उसे सिराक्यूज के राजतन्त्र से बहुत आशायें थीं और वह कानून की सत्ता को महत्वपूर्ण तथा आवश्यक मानने लगा था। यह रिपब्लिक के प्रकाशित होने के काफी समय बाद लिखी गई है, इसमें लोकतन्त्र का विरोध पहले जैसा उग्र नहीं है, कानूनों को बिल्कुल अनावश्यक और निरर्थक नहीं माना गया, किन्तु कुछ योग्य दार्शनिक व्यक्तियों के परम-शक्तिवाद (Absolutism) में उसकी आस्था पहले की तरह बनी हुई है। वह आदर्श राज्य का पक्षपाती होते हुए भी अब व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) बन गया है। इसमें उसके विचार रिपब्लिक की अपेक्षा तर्कपूर्ण और सुनिश्चित हैं। सिराक्यूज़ के परीक्षण की विफलता से उत्पन्न निराशा तथा एथेन्स में लोकतन्त्र के पतन ने एवं आयु बढ़ने के साथ बुद्धि और विचारों की परिपक्वता ने आदर्श राज्य के प्रति उसके प्रबल उत्साह को शिथिल कर दिया है, किन्तु अभी तक दार्शनिक राजाओं के शासन में उसकी आस्था अक्षुण्ण बनी हुई है।

पोलिटिकस का शब्दार्थ है राजनीतिज्ञ (Statesman)। इसमें थियोडोरस, सुकरात, एथेन्स के उत्तर-पश्चिम में इल्यूसिस (Eleusis) से आया एक विदेशी तथा युवा सुकरात आदर्श शासक या राजनीतिज्ञ के स्वरूप और कर्त्तव्यों के बारे में वार्तालाप शैली में विचार करते हैं। इसमें प्लेटो का यह कहना है कि आदर्श शासक को वास्तविक दार्शनिक होना चाहिए। उसका कार्य प्रशासन करना नहीं, किन्तु मनुष्यों द्वारा परम सत् (Good) तथा न्याय के आदर्शों का पालन कराना है। अच्छे या बुरे शासक की और राज्य की कसौटी यह है कि इन आदर्शों का पालन किस सीमा तक हो रहा है। यदि शासक वास्तव में दार्शनिक है तो वहाँ कानूनों की आवश्यकता नहीं है। ऐसे शासक को कानून से नियन्त्रित और मर्यादित नहीं करना चाहिए। किन्तु ऐसे आदर्श शासक दुर्लभ हैं, अत: अतीत काल की व्यावहारिक बुद्धिमत्ता और अनुभव के आधार पर बना कानून राज्य के लिए आवश्यक होता है।

शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण—कानून को शासन का आधार-स्तम्भ बनाते हुए प्लेटो ने शासन-प्रणालियों के दो वर्गों में छः भेद किए हैं। (क) **कानून द्वारा संचालित** (१) एक व्यक्ति का शासन—राजतन्त्र, (२) कुछ व्यक्तियों का शासन – कुलीनतन्त्र (Aristocracy), (३) अनेक व्यक्तियों का शासन (Democracy)। (ख) दूसरा

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० २६१।
२. बार्कर—वही, पृ० २७१।

वर्ग **कानून द्वारा संचालित न होने-वाले** शासनों का है। ये भी तीन हैं—(१) एक व्यक्ति का शासन—निरंकुशतन्त्र (Tyranny), (२) कुछ का शासन—अल्प-तन्त्र (Oligarchy), (३) बहुत व्यक्तियों का शासन—अतिवादी लोकतन्त्र (Extreme Democracy)। इस वर्गीकरण में प्लेटो के मतानुसार राजतन्त्र इस दृष्टि से श्रेष्ठ है कि कानून द्वारा शासित राज्य की इस व्यवस्था में प्रजा का अधिकतम कल्याण होता है। किन्तु एक व्यक्ति का शासन जहाँ नियमबद्ध होने पर प्रजा का महान् कल्याण कर सकता है, वहाँ अनियन्त्रित होने पर महान् अपकार भी कर सकता है। अतः वह राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ, निरंकुशतन्त्र को निकृष्टतम मानता है। बहुतों का शासन—प्रजातन्त्र न तो जनता का अधिक उपकार कर सकता है, और न अपकार कर सकता है, क्योंकि इसमें शक्ति बहुत अधिक व्यक्तियों में बंटी हुई होती है। अतः प्रजातन्त्र कानून पर आधारित शासनों में सबसे बुरा और कानूनरहित शासनों में सबसे अच्छा शासन (Worst of all lawful governments and best of all lawless ones) है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रजातन्त्र में जहाँ कानून द्वारा शासन होता है, वहाँ शासन करने वाले अज्ञानी और शासन कला में उतने सुशिक्षित एवं दक्ष नहीं होते, जितने राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में होते हैं, अतः यह इन दोनों शासनों से निकृष्ट है। किन्तु जिन राज्यों में कानून द्वारा शासन नहीं होता, उनमें से प्रजातन्त्र में ही प्रजा का सबसे कम अहित होता है, क्योंकि यहाँ अहित पहुँचाने वाले शासक को जनता समाप्त कर देती है। किन्तु राजतन्त्र और अल्पतन्त्र में शासक अपनी सत्ता का दुरुपयोग करके जनता पर भीषण अत्याचार करते हैं। अतः ऐसी अवस्था में प्रजातन्त्र इन दोनों से श्रेष्ठ है।"

लाज़ (Laws)—यह प्लेटो का अन्तिम ग्रन्थ है और उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद ३४७ ई० पू० में प्रकाशित हुआ। यह उसकी अन्तिम रचना है और इसमें यथार्थवाद (Realism) की मात्रा पालिटिकस से भी अधिक है। यद्यपि रिपब्लिक अपने विचारों की उड़ान, विषयों के वैविध्य, शैली की सरलता और प्रवाह तथा प्रभाव की दृष्टि से लाज़ की अपेक्षा अधिक महत्व रखती है, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से लाज़ रिपब्लिक की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। प्लेटो सिराक्यूज़ में अपने अनुभव से यह जान चुका था कि दार्शनिक राजा का प्रशिक्षण कितना कठिन है। इस विफलता से वह निराश नहीं हुआ। उसने यह सोचा कि यदि दार्शनिक राजा का प्रशिक्षण संभव नहीं हैं, तो वह सब राज्यों के लिए ऐसी दार्शनिक विधिसंहिता (Code) का निर्माण क्यों न करे, जिसके अनुसार राज्यों का आदर्श शासन हो सके। प्लेटो ने यद्यपि रिपब्लिक के दार्शनिकों द्वारा आदर्श राज्य के शासन के विचार को कभी नहीं छोड़ा, किन्तु इसके संभव न होने पर **दूसरे सर्वोत्तम** (Second best) विकल्प के रूप में उसने दार्शनिक नियमों की संहिता द्वारा शासन का प्रयत्न किया। यद्यपि यह उसका आदर्श राज्य (Ideal State) तो नहीं था, तथापि उससे कुछ घटिया दर्जे का **उप-आदर्श राज्य** (Sub-Ideal State) था। यह वस्तुतः आदर्श एवं व्यवहार का मध्यबिन्दु था; यह आदर्श तो नहीं था, पर आदर्श के निकट था। लाज़ में प्लेटो ने ऐसे ही कानूनों का संग्रह तैयार किया है। इसकी योजना उसने ३६१ ई० पू० में बनायी थी और सिराक्यूज़ की घटनाओं ने इन नियमों के निर्माण की आवश्यकता उसे तीव्रतापूर्वक अनुभव

करायी। पहले यह बताया जा चुका है कि दियोनिसियस द्वारा दियोन के निर्वासित किये जाने पर अनेक झगड़े उठ खड़े हुए थे। दियोनिसियस को आदर्श शासक बनाने में उसे विफलता मिलने के साथ इन झगड़ों के कारण उसे यह भी अनुभव हुआ कि आदर्श शासक की नहीं तो आदर्श कानून की प्रभुता अवश्य स्थापित की जानी चाहिए। इन दिनों उसकी अकादमी में भी कानूनों का चिन्तन और अध्ययन हो रहा था। इसके परिणामस्वरूप उसने कानूनों का या विधियों (Laws) का निर्माण किया।

लाज़ (Laws) की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **व्यावहारिकता**—रिपब्लिक की अपेक्षा इसमें व्यावहारिकता और यथार्थवाद की मात्रा स्वाभाविक रूप से अधिक थी। यह इससे स्पष्ट है कि इसमें प्लेटो की रिपब्लिक की अनेक अव्यावहारिक योजनाओं के संबंध में अनेक महत्वपूर्ण संशोधन करके इन्हें क्रियात्मक बनाने का प्रयत्न किया है। रिपब्लिक में उसने शासकों को कांचन और कामिनी की दुश्चिन्ताओं से मुक्त करने के लिए साम्यवाद की व्यवस्था की थी। इसके अनुसार शासक न तो वैयक्तिक सम्पत्ति रख सकते थे और न विवाह करके परिवार रख सकते थे। किन्तु **लाज़** में इन्हें राज्य के निरीक्षण में वैयक्तिक सम्पत्ति रखने तथा विवाह करने की अनुमति दी गई है। विवाह पर केवल इस दृष्टि से प्रतिबन्ध लगाये गये हैं कि राज्य को उत्तम सन्तान प्राप्त हो सके। शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण की व्यवस्था को रिपब्लिक की अपेक्षा अधिक उदार बनाया गया है। स्त्रियों को सब क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार तो दिये गये हैं, किन्तु उन्हें रिपब्लिक की भाँति गृहकार्यों से मुक्ति नहीं दी गयी। लोकतन्त्र के संबंध में इसका रिपब्लिक वाला उग्र विरोध कम हो गया है। उसने शासन में दार्शनिकों के स्थान में जनता को महत्वपूर्ण अधिकार दिये हैं।

(२) **धार्मिकता**—रिपब्लिक में धर्म-निरपेक्ष किन्तु नैतिक राज्य का स्वर्ग में चित्रण किया गया है, लाज़ में धर्म पर आधारित राज्य का चित्रण इस भूतल पर किया गया है। अपने जीवन के संध्याकाल में प्लेटो ईश्वर में अधिक विश्वास रखने वाला आस्तिक हो गया था। उसने यह अनुभव किया था कि भगवान् ही सब कुछ है, मनुष्य कुछ नहीं है। वह गीता के 'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (गीता १८।६१) की भाँति यह मानता था कि मनुष्य ईश्वर के हाथ की कठपुतली मात्र है।[1] अतः लाज का ग्रन्थ धार्मिकता की भावना से ओतप्रोत है। इसमें धार्मिक अविश्वासों तथा नास्तिकता को दण्डनीय अपराध बताया है।

(३) **एथेन्स के प्रभाव की प्रधानता**—रिपब्लिक में प्लेटो पर स्पार्टा का प्रभाव अधिक था। लाज़ के लिखे जाने से पूर्व ही ३७१ ई० पू० में स्पार्टा की सैनिक शक्ति का पूर्ण पराभव हो चुका था, उसके दोष और दुर्बलतायें स्पष्ट हो चुकी थीं। एथेन्स पुनः उत्कर्ष पर था। अतः लाज़ की शासनव्यवस्था में प्लेटो ने सोलन के नियमों तथा एथेन्स की शासन-प्रणाली का अधिक अनुसरण किया है।

रिपब्लिक और लाज़ की तुलना से यह स्पष्ट है कि पहले में जवानी का जोश है दूसरे में वृद्धावस्था की गंभीरता और परिपक्वता। पहला ग्रन्थ यदि बौद्धिक काव्य है,

---

१. डायलाग्स ऑफ प्लेटो (रैण्डम हाउस, सं०), पृ० ५५८।

तो दूसरा धार्मिक प्रवचन: पहले में यदि दार्शनिक राजा के निरंकुश शासन और साम्यवाद पर बल है तो दूसरे में कानूनों के आधार पर जनतन्त्र और कुलीनतन्त्रों के मिश्रित संविधान द्वारा प्रशासन पर बल है। पहला आदर्श राज्य में कानून की उपेक्षा करता है, दूसरा उसी को शासन का आधारस्तम्भ बनाता है।

लाज़ का प्रतिपाद्य विषय—प्लेटो के अन्य ग्रन्थों के समान यह भी संवादशैली में लिखा गया है। इसमें वार्त्तालाप करने वाले तीन व्यक्ति हैं—क्रीटवासी क्लीनियास (Cleinias), स्पार्टावासी मेगिल्लस (Megillus) तथा एथेन्सवासी विदेशी। वार्त्तालाप का स्थल क्रीट का टापू है। क्रीट के निवासियों ने एक पुराने परित्यक्त नगर को बसाना है, इस काम के लिए नियत किये गये दस कमिश्नरों में एक क्लीनियास भी है। क्रीटवासी ज़ूस (Zeus) देवता को अपना मनु या आरम्भ में नियमों का निर्माण करने वाला मानते हैं। क्लीनियास नये नगर के नियमों के निर्माण से पूर्व ज़ूस के प्रसिद्ध मन्दिर की यात्रा करते हुए मार्ग में दो साथियों से मिलता है। इन तीनों में नियमों के संबंध में विचार आरंभ हो जाता है। संविधान और नियमों का विशेषज्ञ एथेन्सवासी क्रीटवालों के नये नगरराज्य के लिए आवश्यक नियमों का विस्तार से प्रतिपादन करता है। इसके मुँह से प्लेटो ने अपने ही विचार कहलवाये हैं। ये विचार और व्यवस्थायें न केवल क्रीटवालों के नये नगर के लिए, किन्तु सभी नगरों के लिए आदर्श का काम देने वाली हैं। उन दिनों यूनानी प्रायः अपनी नई बस्तियों के नियमों का निर्माण विशेषज्ञों द्वारा कराया करते थे। यद्यपि रिपब्लिक में भी ऐसी आदर्श व्यवस्था है, किन्तु वह पहले से विद्यमान राज्यों के दोष दूर करने के लिए है और इन्हें वह दार्शनिक शासकों के तथा साम्यवादी व्यवस्था के माध्यम से दूर करना चाहता है। यह कार्य अधिक कठिन है। पुराने शासकों को तथा समाज की परम्परागत व्यवस्था को एकदम बदलना असंभव है। लाज़ में नये नगर के आदर्श नियमों का वर्णन है। इसमें प्लेटो **अपना कार्य कोरी स्लेट से आरंभ करता है**, अतः इसमें सफलता की संभावना अधिक है।

लाज़ बारह भागों में विभक्त है। पहले दो भागों में संगीत तथा नृत्य का शिक्षा-पद्धति में महत्व बताया गया है, तीसरे में राज्य के ऐतिहासिक विकास का विवरण है और चौथे में राजनीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का। पाँच से आठ तक के भागों में राज्य के कानूनों, शासन विधान, पदाधिकारियों, राज्य की जनसंख्या, शिक्षा-पद्धति आदि का वर्णन है। नवें से ११वें भाग तक फौजदारी और दीवानी नियमसंहिताओं (Codes) का वर्णन है। ये भाग लाज़ का सर्वोत्तम अंश हैं, इनमें वह कवि और दार्शनिक ही नहीं, किन्तु उत्तम कानूननिर्माता तथा राजनीतिज्ञ भी है। बारहवें भाग में कर्त्तव्यच्युत होने वाले सरकारी अधिकारियों के लिए दण्ड की व्यवस्था है और उस नैश परिषद् (Nocturnal Council) का वर्णन है, जिसकी सभायें सदैव रात के समय होती हैं, और जो लोगों के नैतिक जीवन का निरीक्षण और नियन्त्रण करती है। लाज़ की महत्वपूर्ण व्यवस्थायें और सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

(क) आत्मसंयम का महत्व—प्लेटो ने रिपब्लिक में न्याय को राज्य का आधार माना है। लाज़ में वह न्याय की व्यवस्था स्थापित करने के लिए आत्मसंयम (Self control) को आवश्यक मानता है। इसी कारण वह उत्पादक वर्ग पर ज्ञानी दार्शनिकों का नियन्त्रण स्वीकार करता है, इससे समाज में विवेक, उत्साह और न्याय

की प्रतिष्ठा होती है। आत्मसंयम के कारण विवेक (Reason) निर्बाध रूप से अपना कार्य करता है, यह राज्य की आधारशिला है। जो राज्य आत्मसंयम पर आधारित नहीं होता, वह अपूर्ण अथवा दोषयुक्त होता है।

(ख) कानून का स्वरूप—लाज़ की एक बड़ी विशेषता कानून के स्वरूप पर प्रकाश डालना और राज्य में कानून की सर्वोपरि प्रभुता (Sovereignty of Law) स्थापित करना है। प्लेटो के मतानुसार मनुष्य को दो कारणों से कानून की आवश्यकता होती है—(क) प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक हितों को समझ सकने की क्षमता नहीं होती। (ख) यदि वह सामाजिक हित की बातें समझ जाता है तो भी अपने वैयक्तिक स्वार्थों और वासनाओं के कारण उनके अनुकूल आचरण नहीं करता। अतः सामाजिक हित की सिद्धि के लिए कानून आवश्यक हैं। मनुष्य वासनाओं के वशीभूत होकर सामाजिक हित के प्रतिकूल कार्य करता है, कानून उसे ऐसे कार्य करने से रोकता है, बुद्धि के इस पवित्र और सुनहले बन्धन का सदैव पालन होना चाहिए,[1] दार्शनिकों की बुद्धिमत्ता से बढ़कर कोई कानून नहीं है, किन्तु ऐसे दार्शनिक दुर्लभ हैं। अतः इनकी पूर्ति के लिए समाज में कानून अनिवार्य हैं।

कानून का निर्माण एक संहिताकार (Lawgiver) द्वारा होना चाहिए। जब समाज में विद्यमान विभिन्न वर्गों के नियमों और कानूनों में संघर्ष होता है तो इसे दूर करने के लिए संहिताकार कानून बनाता है और इन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक नवयुवक (Young) शासक होना चाहिए। कानून की सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty of Law) लाज़ का बड़ा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है (७१२ E–७१५ E)। उसका यह मत है कि राज्य को कानून के अनुसार होना चाहिए, न कि कानून राज्य के अनुकूल हो। सरकार को कानून के सेवक और दास की भाँति राज्य का संचालन करना चाहिए।[2] वह इसमें इच्छानुसार परिवर्त्तन नहीं कर सकता। जबतक सरकारी अधिकारी, जनता और देववाणियाँ प्रस्तावित परिवर्तन का समर्थन न करें और इसकी विशेष आवश्यकता न हो, तब तक कानून में परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

प्लेटो प्रत्येक नये कानून के साथ उसकी प्रस्तावना (Preamble) को आवश्यक मानता है। उसके अनुसार इसके द्वारा लोगों को यह समझाना चाहिए कि यह कानून उन्हीं सिद्धान्तों का तर्कयुक्त परिणाम है, जिनमें उनकी आस्था है। इससे लोगों को नये कानूनों के बनाने तथा पालन करने के कारणों का ज्ञान हो जायगा और वे स्वतः प्रसन्नतापूर्वक कानूनों का पालन करेंगे और इसके लिए बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहेगी। कानून को क्रियान्वित करने के लिए राजदण्ड के अतिरिक्त बौद्धिक विकास भी आवश्यक है। मनुष्य की बुद्धि और स्वभाव शिक्षा-पद्धति द्वारा ऐसा बनाया जाना चाहिए कि वह कानून का उल्लंघन ही न करे।

(ग) इतिहास की शिक्षायें—लाज़ में उपर्युक्त कानून-व्यवस्था के आधार पर आदर्श राज्य का वर्णन करने से पहले वह प्राचीन इतिहास के आधार पर शासन-व्यवस्था के संबंध में कुछ परिणाम निकालता है। रिपब्लिक में उसने दार्शनिक सिद्धान्तों की

---

१. डायलाग्स ऑफ प्लेटो, खं० २, पृ० ४२५।
२. वही, खं० २, पृ० ४८७।

नींव पर राज्य को खड़ा किया है, लाज़ में अधिक व्यावहारिक बुद्धि का परिचय देते हुए वह इतिहास के आधार पर अपनी मिश्रित शासन-प्रणाली का समर्थन करता है। किन्तु उसका इतिहास यूनान का वास्तविक प्राचीन इतिहास नहीं, किन्तु उसके सिद्धान्तों और युक्तियों को पुष्ट करने वाली पुरानी कथायें, गाथायें (Myths), दृष्टान्त और उदाहरण हैं। उसके मतानुसार मनुष्य महाप्रलय (Deluge) के बाद पहले पहाड़ों की चोटियों पर रहता था, बाद में मैदानों में उतर कर खेती में लगा, राजनीतिक समाजों तथा ट्राय, स्पार्टा, आरगोस (Argos), मेसिना (Messina) आदि राज्यों की स्थापना हुई। प्रत्येक राज्य के राजा और प्रजा ने यह शपथ ली कि वे कानून द्वारा अपने जीवन का नियमन करेंगे, अतः प्रत्येक राज्य में मिश्रित सरकार की स्थापना हुई, इसमें राजकीय सत्ता और साधारण जनता के अधिकारों का सम्मिश्रण था। इतिहास के इन उदाहरणों के आधार पर प्लेटो ने कानून के नियम (Rule of Law) और मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) की व्यवस्था को पुष्ट किया है।

राज्यों में आत्मसंयम न रहने से तथा शनैः-शनैः सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण आरगोस तथा मैसिना का वैसे ही पतन हो गया जैसे "अधिक पालों वाला जहाज़, अधिक मांस वाला शरीर तथा अधिक शक्तिवाला मन नष्ट हो जाता है" (डायलाग्स, खं. २, पृ० ४६६)। ईरान के शासन में भी यही दोष था। एथेन्स में लोकतन्त्र होने पर भी आत्मसंयम का अभाव था, अतः उसका पतन हुआ। राजतन्त्र और लोकतन्त्र दोनों में कुछ गुण-दोष हैं। इन दोनों के गुणों का समन्वय करने वाले मिश्रित संविधान को लाज़ में प्लेटो आदर्श मानता है। रिपब्लिक में उसने लोकतन्त्र की कटु आलोचना की थी, अब अनुभव की वृद्धि होने पर वह उसके गुणों का राजतन्त्र में समन्वय करना उचित समझता है।

(घ) आदर्श उपनिवेश की भौगोलिक स्थिति तथा जनसंख्या—प्लेटो अपने आदर्श उपनिवेश में भौगोलिक परिस्थितियों को बहुत महत्व देता है।[1] उसका मत यह

---

१. कौटिल्य ने आदर्श राज्य के लिए जनपदसम्पत् के नाम से कुछ आवश्यक भौगोलिक परिस्थितियों का निर्देश किया है (६।१), इनमें प्रमुख परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं—(१) राज्य का आत्मनिर्भर होना (आत्मधारणः), (२) आपत्ति काल में आसानी से रक्षा किया जाने योग्य होना (आपदि स्वारक्षः), (३) उत्तम आजीविका वाला (स्वाजीवः) तथा अच्छी कृषि योग्य भूमि, खानों, विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और हाथियों के वनों वाला (सीताखनिद्रव्यहस्तिवनवान्), (४) वर्षा के अतिरिक्त नदी आदि से कृत्रिम सिंचाई के साधनों वाला (अदेवमातृकः), (५) जल और स्थल के मार्गों वाला (वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः), (६) मूल्यवान् और विविध व्यापारिक वस्तुओं की मण्डी (सारचित्रबहुपण्यः), (७) जहाँ कृषक कर्मठ हों, तथा निम्न वर्ग के लोग अधिक संख्या में रहते हों (कर्मशीलकृषकः, अवरवर्णप्रायः), (८) जहाँ के निवासी राजभक्त और चरित्रवान् हों (भक्तशुचिमनुष्यः)। इनमें से आत्मनिर्भरता की पहली परिस्थिति को प्लेटो तथा अरस्तू ने बहुत महत्व दिया है, दूसरी, तीसरी परिस्थिति से भी वे सहमत हैं। एथेन्स के उत्कर्ष का एक प्रधान कारण वहाँ चाँदी की खानों का पाया जाना था। चौथी, पाँचवीं परिस्थिति को भी वे स्वीकार करते हैं। किन्तु प्लेटो व्यापार को मानव चरित्र के पतन का कारण समझता हुआ अपने राज्य को व्यापारिक मण्डी से दूर रखना चाहता है। सातवीं परिस्थिति राज्य की समृद्धि के लिए आवश्यक है और यह बताती है कि प्राचीन यूनान और भारत दोनों स्थानों पर खेती को नीची

है कि ये निवासियों पर गहरा प्रभाव डालती है (डायलाग्स, खं. २, पृ० ५११)। यदि उपनिवेश समुद्र तट के निकट हुआ तो इसके विदेशी व्यापार में लगने, सामुद्रिक शक्ति बनने तथा विदेशियों के सम्पर्क से प्रभावित होकर दूषित होने की संभावना है। अतः वह अपने उपनिवेश को समुद्र तट से दूर (डायलाग्स, खं. ३, पृ० ४७६–४८०), आत्मनिर्भर (Self sufficient) तथा विदेशी व्यापार से मुक्त रखना चाहता है। उसमें जहाज बनाने वाली लकड़ी भी नहीं होनी चाहिए ताकि वहाँ के निवासी पोत निर्माण करके दूसरे देशों के साथ व्यापार न करें। वह सामुद्रिक व्यापार का विरोधी इसलिए है कि यह राज्य के निवासियों में धन कमाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करके उनके मन में दोहरे व्यवहार को तथा बेईमानी की आदतों को पैदा कर देता है।

प्लेटो का आदर्श उपनिवेश कृषिप्रधान तथा अपनी आवश्यकतायें स्वयमेव पूरा करने वाला है। इसकी जनसंख्या उसने ५०४० निश्चित की है।[1] यह उस समय के स्पार्टा के नागरिकों की संख्या (१५००) से अधिक तथा एथेन्स (४,००,०००) से कम थी। प्लेटो द्वारा इस विशेष निश्चित संख्या को चुने जाने के कई कारण थे। **पहला** पिथागोरस के प्रभाव से कुछ संख्याओं के महत्व में बहुत विश्वास रखना था। ५०४० ऐसी संख्या है, जो एक से दस तक की सभी संख्याओं से बाँटी जा सकती है। यह १ से ७ तक की तथा ७ से १० की सभी संख्याओं का गुणन फल है। **दूसरा** कारण ऐसी संख्या का युद्ध एवं शान्तिकाल में उपयोगी होना था। युद्ध में इस संख्या वाले नागरिकों की व्यूह रचना प्रत्येक प्रकार से संभव है क्योंकि यह संख्या अनेक भाजकों से बंट सकती है। यह नागरिकों में भूमि बाँटने, तथा टैक्सादि वसूल करने में सुविधाजनक है। **तीसरा** कारण यह था कि इसका मुख्य भाजक १२ था, प्लेटो ने अपने उपनिवेश को १२ जातियों में बाँटा था, साल के १२ महीनों में काम करने के लिए राज्य परिषद् की १२ समितियाँ बनायी थीं। मुद्रा, नाप-तोल आदि की व्यवस्था भी द्वादशात्मक (Duodecimal) थी। दशगुणोत्तर अंकलेखन (Decimal Notation) के आविष्कार से पहले तक द्वादशात्मक संख्या राजकीय कामों और हिसाब-किताब में बड़ी सुविधाजनक थी। **चौथा** कारण गणित की महत्ता था। पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो गणित को अध्यात्म-विद्या की सीढ़ी समझता था (पृ० १०३)। जब शासकों को इन संख्याओं का ज्ञान करना पड़ेगा तो वे अध्यात्मवेत्ता हो जायेंगे। नागरिकों को भी जब दैनिक व्यवहार में संख्याओं का ज्ञान होगा तो वे भी अध्यात्म-पथ की ओर अग्रसर होंगे। **पाँचवाँ** कारण यह था कि वह गणितशास्त्र के आधार पर व्यवस्थापित राज्य को आध्यात्मिक क्षेत्र तक ऊंचा उठाना चाहता था। राज्य को १२ भागों में बाँटकर, उनका वर्ष के महीनों के साथ संबंध जोड़कर वह उन महीनों में होने वाली भगवान् की कृपाओं के साथ इन भागों को संयुक्त करने का इच्छुक था। जब भगवान् की सारी सृष्टि तथा आकाश में दृष्टि-गोचर होने वाले ग्रह-नक्षत्र गणित के नियमों से संचालित होते हैं तो राज्य भी इन

जातियों का कार्य समझा जाता था। आठवीं परिस्थिति में निवासियों में राजभक्ति और नैतिकता के गुण आवश्यक माने गये हैं. राजद्रोहों को रोकने तथा राज्य की उन्नति के लिए इनकी अनिवार्यता स्वयसिद्ध है।

१. डायलाग्स ऑफ प्लेटो, खं० २, पृ० ५११, ५३१।

नियमों से शासित क्यों न हो !

(ङ) **सम्पत्तिविषयक नियम**— लाज़ के सम्पत्तिविषयक नियम रिपब्लिक के नियमों से बहुत भिन्न हैं, इनमें साम्यवाद का आदर्श छोड़ दिया गया है।[1] प्लेटो संविधानों के तीन भेद करता है—(१) सर्वोत्तम या आदर्श, (२) दूसरे दर्जे का सबसे अच्छा (Second best) या उपादर्श (sub ideal), (३) वर्त्तमान राज्य। सर्वोत्तम राज्य या संविधान में सम्पत्ति के संबंध में साम्यवाद है, "मित्रों का सब वस्तुओं पर समान अधिकार होता है, भूसम्पत्ति, स्त्रियाँ और बच्चे सबके समझे जाते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति बिलकुल न होने के कारण 'मेरे-तेरे' का भाव समाप्त होकर सारा राज्य तन-मन से एकता का अनुभव करता है।" किन्तु यह आदर्श क्रियान्वित न होने पर प्लेटो ने उपादर्श (Sub ideal) का वर्णन करते हुए कहा है कि इस में ज़मीन और मकान वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में दिये जायेंगे, खेती सांझी नहीं होगी (डायलाग्स, खं. २, पृ० ५०६)। किन्तु खेतों के वैयक्तिक होने पर भी इनके स्वामियों को यह समझना चाहिए कि ये राज्य के हैं, क्योंकि सम्पत्ति के अधिकार का प्रयोग समाज के हित की दृष्टि से होना चाहिए, उस पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार नहीं होना चाहिए। प्लेटो अरस्तू की भाँति वैयक्तिक स्वामित्व को सार्वजनिक उपयोग के लिए रखना चाहता था। अतएव वह खेतों पर वैयक्तिक स्वामित्व देते हुए भी इसकी पैदावार से सब नर-नारियों के सामूहिक भोजन का व्यय चलाने का प्रबन्ध करता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास भूमि का एक टुकड़ा अवश्य होगा और किसी व्यक्ति के पास चार से अधिक टुकड़े नहीं हो सकते। यदि कोई अधिक भूमि हथियाता है तो यह उससे छीन ली जानी चाहिए। नागरिक न तो व्यापार कर सकते हैं, और न दस्तकारी (डायलाग्स, २।५८५)। ये काम विदेशियों द्वारा होने चाहिएं। नागरिक खेतों के स्वामी हैं, पर खेती का सारा कार्य दासों से कराते हैं। प्लेटो के मतानुसार नागरिकों का एकमात्र कार्य शासन के कार्यों में भाग लेना है। उन्हें "धन कमाने के कार्यों में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि ये मनुष्य को सत्पथ से विचलित कर देते हैं और उसकी मृदु प्रकृति को नीचतापूर्ण ग्राम्यता में बदल देते हैं।" प्लेटो के मत में दासप्रथा राज्य के लिए अनिवार्य है। यह व्यवस्था आधुनिक दृष्टिकोण से न्याय्य नहीं ठहरायी जा सकती।

प्लेटो जनसंख्या को ५०४० पर ही स्थायी बनाये रखना चाहता है। यदि जनसंख्या इससे अधिक होने लगे तो जन्म-निरोध के साधनों से या नये उपनिवेश बसा कर इसे नियन्त्रित करना चाहिए। यदि जनसंख्या घटने लगे (जैसा प्लेटो के समय स्पार्टा में हो रहा था) तो इसको ५०४० तक बनाये रखने के लिए अविवाहित पुरुषों को दण्डित तथा विवाहित व्यक्तियों को पुरस्कृत करना चाहिए।

(च) **विवाह और परिवारविषयक व्यवस्था** – लाज़ में रिपब्लिक का यह सिद्धान्त तो माना गया है कि स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा पाने का तथा सब कार्य और वृत्तियाँ करने की व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु उसने रिपब्लिक का यह विचार छोड़ दिया है कि स्त्रियाँ सब की सम्पत्ति होनी चाहिएं। प्लेटो ने एक सुन्दर संदर्भ (डायलाग्स, २।५६०-६१) में उस समय यूनान के विभिन्न प्रदेशों, थ्रेस, एटिका और स्पार्टा

---

१. वही, खं० २, पृ० ५०६।

में स्त्रियों की शोचनीय दशा पर प्रकाश डालते हुए, इनके लिए समानाधिकार का प्रबल समर्थन किया है। वह राज्य में स्त्रियों के उन सभी पदों पर नियुक्त किये जाने के पक्ष में है, जिनका संबंध वैवाहिक प्रश्नों तथा स्त्रियों के जीवन से है। वह उन्हें घर की चहारदीवारी और पर्दे से बाहर निकालना चाहता है। उनकी सारी शिक्षा पुरुषों के समान होनी चाहिए, उन्हें शस्त्र चलाना, युद्ध और घुड़सवारी भी सिखानी चाहिए (८३३-३४), ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे पुरुषों की भाँति लड़ाई कर सकें, राष्ट्रीय सेवा का कार्य कर सकें और शत्रु का आक्रमण होने पर रोयें या छिपें नहीं, किन्तु उसका सामना करें (डायलाग्स ऑफ् प्लेटो, २।५६८)।

विवाह के संबंध में प्लेटो की व्यवस्था बड़ी रोचक है। वह प्रति मास ऐसी धार्मिक सभाओं का आयोजन कराना चाहता है, जिनमें उचित आयु में शालीनता के नियमों का पालन करते हुए नृत्यों में युवक अपनी भावी पत्नियों से परिचय प्राप्त करें, (डायलाग्स, २।५३२)। वह इसकी व्यवस्था करता है कि विवाह से पूर्व भावी वर-वधू एक-दूसरे को नग्नावस्था में देखें और स्वास्थ्य का प्रमाणपत्र लें (डायलाग्स, २।५३२-३३)। उसने पोलिटिकस के इस दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति की है कि विवाह सदैव विरोधी गुणवालों में होना चाहिए, धनी निर्धन से तथा क्रोधी शान्त स्वभाव वाले से विवाह करे ताकि विरोधी तत्त्वों में साम्य स्थापित हो तथा राज्य की एकता सुदृढ़ और पुष्ट हो, क्योंकि उसके मतानुसार विवाह वैयक्तिक आनन्द के लिये नहीं, किन्तु राज्य के हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए। विवाहित होने पर पति-पत्नी को यह स्मरण रखना चाहिए कि उनका कर्त्तव्य राज्य के लिए सन्तान उत्पन्न करना है और इस दृष्टि से वह उन्हें शादी के पहले दस वर्ष तक स्त्री-निरीक्षकों की देखभाल में रखता है (२।५२५-२६)। जब राज्य की आबादी ५०४० पर निश्चित रखनी हो तो इस प्रकार का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। प्लेटो को जन-संख्या घटने का बड़ा डर था, अतः वह इसे बढ़ाने के लिए तीन साधनों का प्रतिपादन करता है: (१) स्त्री-निरीक्षक पति-पत्नी को भर्त्सना एवं डांट-फटकार से अधिक सन्तान उत्पन्न करने की प्रेरणा करें। (२) अधिक सन्तान पैदा करने वाले माता-पिता को राज्य द्वारा सम्मान एवं विशेषाधिकार दिये जायं। (३) ३५ वर्ष या इससे अधिक आयु के अविवाहितों पर कर लगाया जाय (डायलाग्स २।४६२, ५३४)। सन्तानोत्पादन केवल राजकीय एवं भौतिक आवश्यकताओं के कारण ही नहीं, किन्तु नैतिक कारणों से भी आवश्यक है। अविवाहित रहना अधर्म है (७२१), अमृतत्व प्राप्त करने के लिए पुत्र पैदा करने चाहिएं।[1] प्लेटो ने वैवाहिक जीवन की पवित्रता और सतीत्व पर बहुत बल दिया है (डायलाग्स, २।५८४—८८)।

विवाह के विषय में प्लेटो का दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से भौतिक नहीं, किन्तु नैतिक और धार्मिक है। प्लेटो की परिवारविषयक उक्त व्यवस्थायें यद्यपि रिपब्लिक की व्यवस्थाओं से अधिक उदार हैं, किन्तु इनमें कई दोष हैं। **पहला दोष** राज्य का अत्यधिक नियंत्रण है। आजकल यद्यपि भावी वर-वधू के लिए स्वास्थ्य का प्रमाणपत्र लेना उचित

---

१. डायलाग्स ऑफ प्लेटो, २।४६२। मिलाइये, ऋग्वेद ५।४।१० प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्।

समझा जाता है, किन्तु दोनों की नग्न परीक्षा का समर्थन कोई नहीं करता। जन्म-निरोध और सन्तति निग्रह आजकल आवश्यक समझा जाता है, किन्तु इसके लिए स्त्री-राज्याधिकारियों को नियुक्त कर के विवाह के वैयक्तिक मामले में हस्तक्षेप करना राज्य वांछनीय नहीं समझता। वह इसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण मानता है। **दूसरा दोष** विरोधी गुणों वाले वर-वधू का विवाह है। प्लेटो ने इसका समर्थन राज्य के हित की दृष्टि से किया है। किन्तु आधुनिक विचारक वर-वधू में अनुकूल स्वभाव और प्रवृत्तियों को अधिक महत्व देते हैं। **तीसरा दोष** यह है कि प्लेटो जनसंख्या को सदैव ५०४० पर स्थिर रखना चाहता है। आजकल सन्तति निरोध को आवश्यक माना जाते हुए भी यह संभव नहीं माना जाता कि जनसंख्या सदैव अपरिवर्त्तनशील रहनी चाहिए। इस विषय में प्लेटो का मत गतिशील (Dynamic) नहीं, किन्तु अप्रगतिशील एवं जड़ (Static) है।

मिश्रित संविधान (Mixed Constitution)

शासन पद्धति -- लाज़ की शासन-प्रणाली रिपब्लिक से बहुत भिन्न है, उसमें दार्शनिक राजा के विचार का परित्याग करते हुए राजतन्त्र और लोकतन्त्र के गुणों का समन्वय करते हुए ऐसी व्यवस्था की गयी है कि दोनों के दोष उत्पन्न न हों। इसमें राज्य के ५०४० सदस्य एथेन्स की भाँति सामान्य सभा (General Assembly) के सदस्य समझे जाते हैं। राज्य की सर्वोच्च सत्ता पचास से सत्तर वर्ष की आयु के ३७ सदस्यों के बोर्ड में रखी गयी है। यह इस सिद्धान्त के अनुसार है कि वृद्धावस्था में विचारों की परिपक्वता तथा अनुभव की सुस्थिरता होती है। तिहरे चुनाव द्वारा निर्वाचित ये व्यक्ति कानून के संरक्षक हैं। पहले निर्वाचन में समस्त नागरिकों में से ३०० उम्मीदवार चुने जाते थे, दूसरे निर्वाचन में १०० तथा तीसरे में इन १०० में से ३७। इनका काम निरीक्षणात्मक था। इस बोर्ड के आदेशों को क्रियात्मक रूप देने वाली तथा शासन करने वाली संस्था ३६० सदस्यों की प्रशासन परिषद् (Administrative Council) थी। इसमें सम्पत्ति के आधार पर चार, तीन, दो या एक भूखण्ड रखने वाले निश्चित चार वर्गों में से प्रत्येक वर्ग से प्रति वर्ष ९० सदस्य चुने जाते थे। विभिन्न वर्गों के सदस्य चुने जाने की प्रक्रिया में अन्तर था। पहले और दूसरे अर्थात् चार तथा तीन भूखण्ड रखने वाले वर्गों के सदस्यों के चुनाव में चारों वर्गों के व्यक्तियों को आवश्यक रूप से वोट देना पड़ता था, वोट न देने पर जुर्माने का दण्ड दिया जाता था। दो भूखण्ड रखने वाले तीसरे वर्ग के सदस्यों के चुनाव में पहले तीन वर्गों को अवश्य वोट देना होता था, न देने पर अर्थदंड होता था। एक भूखण्ड रखने वाले चौथे वर्ग के व्यक्तियों को वोट देने या न देने की स्वतन्त्रता थी। चौथे वर्ग के उम्मीदवारों के चयन में पहले दो वर्गों के व्यक्तियों को वोट देना होगा, अन्यथा उन्हें जुर्माना किया जायगा। यह जुर्माना दूसरे वर्ग के लिए पहले जुर्माने की अपेक्षा तिगुना तथा पहले वर्ग के लिए चौगुना है। तीसरे चौथे वर्ग को मत देने या न देने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इस प्रकार उम्मीदवारों के चयन या चुनाव का पहला दौर समाप्त होने पर चुने गये उम्मीदवारों में दूसरा चुनाव किया जायगा, चुनाव में भाग न लेने पर सामान्य जुर्माने से दुगना अर्थदंड दिया जायगा। इस द्वितीय चुनाव द्वारा चारों वर्गों में से प्रत्येक के १८० उम्मीदवार चुने जायेंगे। इसके बाद

तीसरी अवस्था में, प्रत्येक वर्ग के लिए इन १८० में से लाटरीद्वारा ९० चुन लिये जायंगे। चुनाव निर्वाचन और लाटरी की मिली-जुली पद्धति से होता था।

३६० सदस्यों की प्रशासन परिषद् की इस तिहरी जटिल निर्वाचन पद्धति का मुख्य प्रभाव यह है कि पहले दो वर्गों को उम्मीदवारों के चयन में अधिक महत्त्व मिल जाता है। इसके साथ उम्मीदवारों के आरम्भिक चुनाव में सब वर्ग सम्मिलित हो सकते हैं, और इनके छांटने की प्रक्रिया में सब को सम्मिलित होना पड़ता है तथा अन्तिम अवस्था में लाटरी का उपयोग सब को समानाधिकार देने वाला है। इसमें सार्वभौम मताधिकार (Universal sufferage) तथा वर्ग मताधिकार (Class sufferage) का समन्वय है तथा यूनानियों के निर्वाचन की कुलीनतन्त्रीय मतदान प्रणाली का तथा लाटरी की लोकतन्त्रीय प्रणाली का सामंजस्य किया गया है। प्लेटो के मतानुसार यह बुद्धिमत्ता के मुख्य तत्त्व वाली राजतन्त्रीय प्रणाली तथा स्वतन्त्रता के प्रधान तत्त्व वाली लोकतन्त्रीय प्रणाली का मध्यम मार्ग है। इसमें बुद्धिमान् समझे जाने वाले उपरले दोनों वर्गों को उम्मीदवारों के चुनाव में अधिक अधिकार देते हुए, सब को चुनाव का अधिकार दिया गया है और लाटरी की व्यवस्था की गयी है। उसके मतानुसार सच्ची समानता सब को एक-जैसा अधिकार देना नहीं, किन्तु उनको उनकी योग्यता और गुणों के अनुपात से तुल्य अधिकार देना है। अधिक योग्यतावालों को अधिक अधिकार देना ही उनके साथ न्याय करना है। इसीसे राज्य में सन्तोष और एकता बनी रह सकती है। यदि उच्च वर्ग वालों को उनकी योग्यता के अनुसार अधिक अधिकार न दिया गया तो वे असन्तुष्ट रहेंगे, यदि सामान्य जनता को लाटरी द्वारा तुल्य अधिकार न मिला तो वे रुष्ट रहेंगे। अतः, उसने उपर्युक्त चुनाव-पद्धति द्वारा राजतन्त्र और लोकतन्त्र का मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) बनाया है; किन्तु इसका एक बड़ा दोष यह है कि इसमें धन और योग्यता को समानार्थक मान लिया है।

प्रशासन परिषद् के बोर्ड का चुनाव करने के अतिरिक्त निम्नलिखित कार्य थे—(१) पहले दो वर्गों में से स्थानीय एवं बाजार की देखभाल करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति। (२) सैनिक अवस्था वाले सब नागरिकों द्वारा सेनापतियों का चुनाव। (३) राज्य को हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों के मुकद्दमे सुनना। (४) यदि कोई कानून बदलने की आवश्यकता प्रतीत हो तो इसकी सहमति देना। (५) यह विदेशियों को अपने राज्य में २० वर्ष की निश्चित अवधि से अधिक रहने की अनुमति दे सकती है। बार्कर के मतानुसार प्लेटो की जनरल असेम्बली का स्वरूप एवं अधिकार एथेन्स के लिए सोलन द्वारा बनायी गई असेम्बली के समान हैं।[1]

शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रशासन परिषद् १२ भागों में विभक्त हो जाती है और प्रत्येक भाग एथेन्स की असेम्बली की भाँति एक मास के लिए शासन करता है। यह शासनकार्य पहले बताये हुए ३७ सदस्यों के बोर्ड के सहयोग से किया जाता है। इसका कोई भी सदस्य ५० वर्ष से कम अथवा ७० वर्ष से अधिक आयु का नहीं हो सकता। इनके कार्यकाल की अवधि २० वर्ष होती थी। आयु की यह व्यवस्था स्पार्टा के अनुसार है, जहाँ कोई व्यक्ति ६० वर्ष की आयु से पहले सीनेट (Gerusia) का

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३३६।

सदस्य नहीं हो सकता था। लाज की न्याय-व्यवस्था में एथेन्स की भाँति सब नागरिक भाग ले सकते थे।

प्लेटो की उपर्युक्त शासन-पद्धति में विभिन्न शासन-प्रणालियों के तत्त्वों का ऐसा सम्मिश्रण किया गया है कि इसे न तो कुलीनतन्त्र (Aristocracy) कहा जा सकता है, न लोकतन्त्र और न अल्पतन्त्र। प्लेटो मिश्रित संविधान की व्यवस्था का पहला प्रतिपादक था, उसके बाद अरस्तू, पोलिबियस और मांतेस्क्यू ने इसका समर्थन किया। अरस्तू यद्यपि स्वयमेव मिश्रित संविधान का पक्षपाती है, किन्तु उसने प्लेटो के मिश्रित संविधान पर निम्न आपत्तियाँ की हैं—(१) प्लेटो का संविधान लोकतन्त्र और निरंकुशतन्त्र (Tyranny) का सम्मिश्रण है। वस्तुतः इन दोनों में कोई संविधान ही नहीं होता, अथवा ये सबसे रद्दी संविधान हैं। यदि अच्छा मिश्रित संविधान बनाना हो तो उत्तम शासन-प्रणालियों का समन्वय होना चाहिए, न कि निकृष्ट शासन-प्रणालियों का। (२) प्लेटो का संविधान केवल दो शासन-प्रणालियों का सम्मिश्रण है। उत्तम संविधान में अनेक शासन-प्रणालियों के उदात्त तत्त्वों का समन्वय होना चाहिए। (३) प्लेटो के राज्य में राजतन्त्र के कोई तत्त्व नहीं हैं, यह अल्पतन्त्र और लोकतन्त्र का सम्मिश्रण है, इसमें धन को प्रधानता दी गयी है।

अरस्तू की ये आपत्तियाँ सर्वांश में सत्य नहीं हैं। प्लेटो स्वयमेव यह कहता है कि वह इसमें राजतन्त्र के उत्कृष्ट अंश का लोकतन्त्र के श्रेष्ठ तत्त्व के साथ समन्वय कर रहा है। उसके मत में राजतन्त्र का उत्कृष्ट तत्व बुद्धि का शासन और लोकतन्त्र का उत्कृष्ट अंश जनता का नियन्त्रण (Popular control) है। उसने राजतन्त्र का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में किया है कि इसमें एक व्यक्ति का तथा अनेक व्यक्तियों का शासन सम्मिलित है। इन्हें लोकतन्त्र के साथ मिलाते हुए उसने अरस्तू द्वारा उत्तम ठहरायी जाने वाली अनेक संविधानों के मिश्रण की प्रणाली का अनुसरण किया है। वस्तुतः उसने **बुद्धिमत्तापूर्ण शासन और जनता के नियन्त्रण के दो सिद्धान्तों का सम्मिश्रण किया है** और शासन में सम्मिश्रण के लिए आदर्श सिद्धान्त यही हो सकते हैं। किन्तु अरस्तू की अन्तिम आपत्ति में सत्य का बहुत बड़ा अंश है। प्लेटो ने बुद्धि के शासन की व्यवस्था के स्थान पर वस्तुतः धनिकों के शासन की व्यवस्था की है, यही अल्पतन्त्र (Oligarchy) का मौलिक तत्त्व है। उसके पहले दूसरे वर्गों के नागरिक क्रमशः ४ और ३ भूखण्ड रखने वाले इने-गिने धनी मानी व्यक्ति हैं। नगर तथा बाजार व्यवस्था के अधिकारी भी उसने पहले दो वर्गों के व्यक्ति बनाये हैं, तीसरे चौथे वर्ग वाली बहुसंख्या को इससे वंचित रखा है। सम्पत्तिशाली अल्पतत्रों में प्रायः ऐसी व्यवस्था होती है। प्लेटो के शासन में वास्तविक शक्ति दो उच्च वर्गों में निहित है, इन पर जनता का कोई नियन्त्रण नहीं है, जिसे स्थापित करना वह अपना आदर्श मानता है। इसमें जनता का वह असन्तोष बना रहता है, जिसे दूर करना राज्य की स्थिरता की दृष्टि से वह आवश्यक समझता है। प्लेटो के मिश्रित संविधान का सबसे बड़ा मौलिक दोष यह है कि इसमें विभिन्न तत्त्वों का ऐसा सम्मिश्रण नहीं हुआ कि वे मिलकर मानव शरीर में पायी जाने वाली सच्ची एकता (Organic unity) का निर्माण करें, इसमें सब तत्त्व समान रूप से क्रियाशील होते हैं; किन्तु प्लेटो के राज्य में सक्रिय तत्त्व केवल उपरले वर्ग हैं, साधारण जनता शासन में कोई बड़ा क्रियात्मक भाग नहीं लेती।

किन्तु प्लेटो को बुद्धिमान् दार्शनिकों के शासन का सिद्धान्त इतना अधिक प्रिय था कि उपर्युक्त व्यवस्थायें करने के बाद लाज़ की बारहवीं तथा अन्तिम पुस्तक में उसने पुनः इसका समर्थन करते हुए शासन के सब कार्यों पर देख-रेख और नियन्त्रण रखने वाली तथा रात्रि में अपनी बैठकें करने वाली एक नैश परिषद् (Nocturnal Council) की स्थापना का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

लाज़ का प्रभाव - आजकल प्लेटो की रिपब्लिक को अधिक लोकप्रियता प्राप्त है, किन्तु प्राचीन काल में इसकी अपेक्षा लाज़ का तत्कालीन विचारकों पर अधिक प्रभाव पड़ा। उसका शिष्य अरस्तू 'लाज़' से अत्यधिक प्रभावित है। उसकी पालिटिक्स तथा लाज़ में कई गहरे सादृश्य हैं, वह कानून की सर्वोच्च प्रभुसत्ता, मिश्रित संविधान, राज्य के विकास, कृषि व्यापार आदि की व्यवस्थाओं और शिक्षा-पद्धति के संबंध में 'लाज़' की व्यवस्थाओं का अनुसरण करता है या इनसे प्रेरणा ग्रहण करता है। बार्कर के मतानुसार वह पालिटिक्स के सामान्य सिद्धान्तों के और आदर्श राज्य के वर्णन के लिए लाज़ का ऋणी है।[1] आजकल पश्चिम में कानून का मूल स्रोत रोम माना जाता है। किन्तु बार्कर का यह मत है कि रोमन कला और साहित्य की भाँति रोमन कानून भी यूनानियों की देन है।[2] प्लेटो के लाज़ ने तथा कानून का अध्ययन करने वाली तथा अनेक विधिशास्त्रियों को जन्म देने वाली उसकी अकादमी ने रोमन कानून के विकास पर गहरा प्रभाव डाला था। लाज़ के ईश्वरवादी आस्तिक विचारों का ईसाइयत के आरंभिक प्रवर्त्तकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। एक बार लाज़ में प्रतिपादित संविधान को मूर्त्त-रूप देने का भी प्रयत्न किया गया। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लोटिनस (जन्मकाल २०५ ई०) ने रोमन सम्राट् गैलिनस (शासनकाल २६०–६८ ई०) से एक विध्वस्त नगर को प्लेटो-नगर (Platopolis) के नाम से बसाने तथा उसे लाज़ के आधार पर शासित करने का विफल प्रयत्न किया। मध्यकाल में मोर (More) की 'यूटोपिया' पर तथा रूसो की रचनाओं पर लाज़ का प्रभाव पड़ा।

प्लेटो की रचनाओं में यूनानी (Hellenic) तथा सार्वभौम तत्त्व (Universal elements)— प्लेटो की राजनीतिक विचारधारा में दो प्रकार के तत्त्व पाये जाते हैं। पहले प्रकार के तत्त्व उस समय यूनान में पायी जाने वाली परिस्थितियों और वातावरण का परिणाम हैं, इन्हें यूनानी (Hellenic) तत्त्व कहा जा सकता है। दूसरा तत्त्व राज्यसंबंधी ऐसे विचार एवं सिद्धान्त हैं; जो सदैव, सब स्थानों और सब कालों में पाये जाते हैं। इन्हें सार्वभौम तत्त्व कहा जाता है। मैक्सी के शब्दों में प्लेटो की रचनाओं में "बहुत कुछ क्षणभंगुर और अस्थायी है, किन्तु उसके राजनीतिक दर्शन की मध्यनाड़ी (Midrib) अनन्त एवं सार्वभौम है। पेरिक्लीज़ के परवर्त्ती युग के यूनान की भाँति वह साम्राज्य विस्तार का विरोधी, प्रजातन्त्र का आलोचक, दासप्रथा की उपेक्षा करनेवाला, व्यापारवाद का शत्रु तथा स्पार्टा के सैनिकवाद का समर्थक था। किन्तु सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के विश्लेषणकर्त्ता तथा आदर्श के अन्वेषक के रूप में वह परवर्ती युग में उत्पन्न होने वाले अधिकांश अभौतिक राजनीतिक दर्शनों,

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३८२।

२. वही, पृ० २९५-६।

पुनर्निर्माणविषयक राजनीतिक सिद्धान्तों और क्रान्तिकारी राजनीतिक योजनाओं का अग्रगन्ता और इन्हें प्रेरणा प्रदान करने वाला रहा है।"[1] प्लेटो के विचारों में मुख्य यूनानी तत्त्व निम्नलिखित हैं—(१) वह ५०४० नागरिकों वाले छोटे नगरराज्य को आदर्श समझता था, उसकी दृष्टि उस समय के यूनानी नगरराज्य की संकुचित सीमाओं से ऊपर नहीं उठ सकी। (२) वह दासप्रथा को आवश्यक समझता था। लाज़ में उसने खेती का सारा काम दासों से कराने को कहा। दासप्रथा तत्कालीन यूनानी समाज का आवश्यक अंग थी, प्लेटो ने इसे सर्वथा स्वाभाविक माना है।[2] (३) प्लेटो की रिपब्लिक पर यूनानी प्रभाव की स्पष्ट छाप है। इसमें मुख्य रूप से स्पार्टा की शासन-प्रणाली का अनुसरण किया गया है। दोनों में शासक वर्ग केवल शासन का कार्य करता है, समाज को मुख्य तथा व्यक्ति को गौण समझा गया है, शासक सोना-चांदी नहीं रख सकते, भोजन सार्वजनिक और सामूहिक भोजनशालाओं में करते हैं, नर-नारियों को समान रूप से शारीरिक शिक्षण दिया जाता है, व्यापार और सूदखोरी नागरिकों के लिए वर्जित है, निर्बल बच्चों को पैदा होते ही नष्ट कर दिया जाता है। (४) लाज़ में अनुभव परिपक्व होने पर प्लेटो ने अपने आदर्श उपनिवेश में एथेन्स के संविधान का अनुसरण किया। भूसम्पत्ति के आधार पर नागरिकों का चार वर्गों में बंटवारा असेम्बली और प्रशासन परिषद् की व्यवस्थायें एथेन्स से ग्रहण की गयी हैं। कानून का संरक्षण करने वाली नैश परिषद् एथेन्स में पाँचवीं शताब्दी ई० पू० तक धार्मिक विषयों पर नियन्त्रण रखने वाली, एथेन्स के एरियोपेगस (Areopagus) नामक स्थान में बैठकें करने वाली परिषद् से गहरी समानता रखती हैं। प्लेटो ने अपनी रचनाओं में एथेन्स से व्यष्टिवाद और उदारता को तथा स्पार्टा से विशेषीकरण (Specialisation) और निरंकुशसत्तावाद (Absolutism) को ग्रहण किया है। (४) प्लेटो की शिक्षा-पद्धति स्पार्टा और एथेन्स की शिक्षा-पद्धतियों पर आश्रित है। (५) प्लेटो को साम्यवाद की प्रेरणा भी स्पार्टा

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ५५।

२. यूनानी राज्यों की समूची अर्थ-व्यवस्था दासप्रथा पर आधारित थी। इसीलिए वहाँ राज्यों में दास बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते थे। बेरोलभीमर (World's Legal Philosophies, न्यूयार्क १९२९, पृ० ६२) के अनुसार यूनान के सामुद्रिक तथा औद्योगिक राज्यों में दासों की संख्या इस प्रकार थी—कोरिन्थ ४,६०,०००; ईजिना ४,७०,०००; एट्टिका (३०९ ई० पू० की गणना के अनुसार) ४ लाख। प्लेटो ने रिपब्लिक (कार्नफोर्ड, पृ० १६८) में यूनानी राज्यों द्वारा यूनानियों को युद्ध में पकड़कर दास बनाने और बेचने की प्रथा का विरोध किया। वह वर्बर जातियों को दास बनाने का विरोधी नहीं था। लाज़ में उसने दासों द्वारा खेती का सारा काम कराने की व्यवस्था करते हुए यह कहा है कि कुछ दास भाइयों से भी अच्छे तथा कुछ पशुओं से भी बुरे होते हैं। ये प्रायः विद्रोह करने के कारण बहुत परेशान करने वाले होते हैं, जैसे स्पार्टा के मैसेनियन। इसके प्रतिकार के दो उपाय हैं—(१) दूसरी भाषा बोलने वाले विदेशी दासों से काम लिया जाय, (२) इनके साथ न्यायोचित व्यवहार किया जाय (डायग्लास ऑफ प्लेटो, २।५३७)। प्लेटो को अपने समय की परिस्थितियों के कारण दासप्रथा का समर्थन करना पड़ा, इस विषय में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत में उससे कुछ समय पहले होने वाले गौतम बुद्ध ने भी अपने भिक्षु संघ में दासों को प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं दिया था। (विनयपिटक—ओल्डनबर्ग का संस्करण, १।७६, २।२७१)।

तथा क्रीट आदि के यूनानी उदाहरणों से मिली।

किन्तु इन सामाजिक यूनानी तत्त्वों के होते हुए भी उसने अनेक ऐसे शाश्वत और सार्वभौम तत्त्वों का प्रतिपादन किया, जिसके कारण वह अजर अमर है, उसका आज भी वही महत्व है, जो २२०० वर्ष पूर्व था। प्लेटो अपने आदर्श दार्शनिक की भाँति "सब प्राणियों तथा सब कालों का द्रष्टा था।" आधुनिक काल में उपयोगी समझे जाने वाले उसके कुछ सार्वभौम तत्त्व ये हैं—(१) राज्य में न्याय की महत्ता, बुद्धिमान् व्यक्तियों का शासन, नारियों का समानाधिकार और पुरुषों के साथ सब बातों में समानता, सन्तानोत्पादन में सुप्रजनन शास्त्र के नियमों को महत्वपूर्ण समझना, शिक्षा में अचेतन मन का प्रभाव, राज्य का आदर्श, दार्शनिक का जीवन, शिक्षा का समग्र जीवन-व्यापी होना, राज्य की एकता और ज्ञान का महत्व। (२) प्लेटो का कानून की प्रभुसत्ता (Sovereignty) का सिद्धान्त, न्यायशास्त्र (Jurisprudence), दीवानी और फौजदारी कानूनों में अन्तर, कानून का सुधारात्मक होने का सिद्धान्त। कानूनों के आरम्भ में प्रस्तावनायें जोड़ने का विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श माना जाता है। (३) भूसम्पत्ति के सब अधिकारों की राज्य द्वारा रजिस्ट्री किये जाने तथा इनके सरकारी सर्वेक्षण (Survey) के विचार आजकल सभी राज्यों में आवश्यक माने जाते हैं। उसने राज्य में साधुता और सद्गुण (Virtue) बढ़ाने पर तथा इसके लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति पर बल दिया, समष्टि के हित को व्यष्टि के हित से अधिक प्रधानता दी, स्वतन्त्रता के लिए मिश्रित संविधान की सरकार का समर्थन किया, शासन को कला मानते हुए शासकों के लिए इस कला का विशेषज्ञ, बुद्धिमान् एवं प्रशिक्षित होना आवश्यक समझा। उसके ये सब विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श बने हुए हैं।[1]

प्लेटो ने वर्त्तमान काल की अनेक प्रमुख विचारधाराओं पर प्रभाव डाला है। इनमें साम्यवाद (Communism), आदर्शवाद (Idealism), तथा फासिज़्म विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये सब विचारधारायें प्लेटो की विचारधारा से बहुत भिन्न हैं, किन्तु इनको प्लेटो से प्रबल प्रेरणा मिली है। पहले प्लेटो के साम्यवाद की वर्त्तमान साम्यवाद से तुलना की जा चुकी है (पृ० ११४-५)। यहाँ केवल फासिज़्म की विचारधारा के साथ प्लेटोवाद के सादृश्य का उल्लेख किया जायेगा।

प्लेटोवाद तथा फासिज़्म—प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों के बीच में फासिज़्म की विचारधारा बहुत प्रबल थी। इसका प्लेटोवाद के साथ गहरा सादृश्य है और इसने प्लेटो की रचनाओं से अनेक तत्त्व ग्रहण किए हैं। कई विद्वान् प्लेटो को राजनीतिक दर्शन में **पहला फासिस्ट और सर्वाधिकारवादी** (Totalitarian) मानते हैं। दोनों में निम्नलिखित सादृश्य हैं—(१) दोनों लोकतन्त्र के विरोधी हैं। फासिस्ट १९वीं शताब्दी के उदारवादी लोकतन्त्र के उग्र आलोचक हैं, प्लेटो ने एथेन्स के लोकतन्त्र की कटु आलोचना की थी। (२) प्लेटो दार्शनिक राजा के शासन पर विश्वास रखता है, फासिज़्म फासिस्ट पार्टी के नेता की अधिनायकता (Dictatorship) स्थापित करना चाहता है। (३) प्लेटो बुद्धि का शासन (Rule of Intellect)) स्थापित करने के लिए थोड़े से संरक्षकों को समूचा शासन सौंपना चाहता है, फासिज़्म फासिस्ट

---

१. गैटल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० ४८।

पार्टी को शासक बनाने का इच्छुक है। (४) दोनों राज्यों के हित को सर्वोपरि मानते हैं, व्यक्ति का राज्य की तुलना में कोई पृथक् अधिकार या स्वत्व नहीं है। व्यष्टि समष्टि में निहित है। व्यक्ति को राज्य का परम भक्त होना चाहिए और उसके कार्यों में पूरा भाग लेना चाहिए। (५) दोनों मानवीय समानता (Human equality) की भावना के बड़े विरोधी हैं। प्लेटो नागरिकों के सिवाय विदेशियों और दासों को शासन में कोई अधिकार नहीं देता। फासिज़्म भी सब मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त का घोर विरोधी है। (६) दोनों राज्य के नियन्त्रण में ही समूचे सामूहिक जीवन को व्यवस्थित करने का समर्थन करते हैं। जिस प्रकार प्लेटो नगरराज्य को सर्वोच्च आदर्श मानता है, इसी तरह फासिज़्म राष्ट्रीय राज्य को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करता है। प्लेटो नगरराज्य के दासों तथा विदेशियों को राज्य में कोई दर्जा नहीं देता। फासिस्ट राज्य में गैरफासिस्ट संस्थाओं को कोई महत्त्व या स्थान प्राप्त नहीं है।

किन्तु इन समानताओं के साथ दोनों में कुछ महत्वपूर्ण भेद भी हैं। **पहला भेद** साम्राज्यवाद का है, प्लेटो नगरराज्य का समर्थक होते हुए साम्राज्यवाद का व अपने राज्य को विस्तृत करने का घोर विरोधी था, फासिज़्म इसका कट्टर समर्थक है। **दूसरा** भेद आदर्शवाद का है। प्लेटो राजनीतिक आदर्शवाद में गहरा विश्वास रखता था। फासिज़्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं, वह राजनीतिक यथार्थवाद (Realism) का अनुयायी है। **तीसरा भेद** यह है कि प्लेटो का राज्य उसके दर्शन पर आधारित है और फासिस्ट दर्शन फासिस्ट राज्य पर आधारित है। **चौथा** भेद यह है कि प्लेटो ने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का वशवर्त्ती अंग माना है, किन्तु फासिस्ट नीतिशास्त्र को राजनीतिशास्त्र की चेरी बनाना चाहते हैं। **पाँचवाँ भेद** कम्यूनिज़्म के विषय में है। प्लेटो के आदर्श राज्य में संरक्षकों के लिए सम्पत्ति और स्त्रियों के सम्बन्ध में साम्यवाद का विधान है। फासिज़्म साम्यवाद का कट्टर विरोधी है।[1] **छठा** भेद यह है कि प्लेटो के मतानुसार न्याय शक्तिशाली का हित या स्वार्थ नहीं है (पृ० ८८); किन्तु फासिज़्म शक्ति का उपासक है, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त को ही न्याय मानता है। **सातवाँ** भेद प्लेटो द्वारा राज्य में सामंजस्य (Harmony) के तत्त्व को अधिक महत्व देना है, फासिज़्म संघर्ष और शक्ति को महत्वपूर्ण मानता है। **आठवाँ भेद बुद्धिवाद** (Rationalism) विषयक है। प्लेटो बुद्धि एवं विवेक को बहुत ऊंचा स्थान देता है, फासिस्ट बुद्धिवाद के उग्र विरोधी हैं। **नवाँ** भेद यह है कि प्लेटो के राज्य की समूची रचना का आधार उसके दार्शनिक विचार हैं, फासिस्ट इससे सर्वथा विपरीत राज्य को अधिक महत्त्व देते हैं और उसके आधार पर अपने दर्शन का निर्माण करते हैं।

प्लेटोवाद तथा फासिज़्म की उपर्युक्त तुलना से, दोनों की समानताओं और भेदों के विवाद से यह स्पष्ट है कि दोनों के भेद इनकी समानताओं की अपेक्षा अधिक मौलिक और गम्भीर हैं।

प्लेटो का मूल्यांकन और प्रभाव—पश्चिम में प्लेटो सुव्यवस्थित राजनीतिक चिंतन करने वाला पहला विचारक था और २४०० वर्ष बीत जाने के बाद आज भी उसका प्रभाव अक्षुण्ण है। वह राज्य-विषयक दर्शन, सुधार और चिन्तन की सभी

---

१. भंडारी तथा सेठी—प्लेटो एण्ड अरिस्टाटल, पृ० १२६-७।

क्रांतिकारी योजनाओं का प्रेरणादायक, वर्त्तमान साम्यवाद, फासिज़्म और आदर्शवाद को प्रभावित करने वाला है। उसकी रिपब्लिक के नमूने पर आदर्श राज्य स्थापित करने की अनेक योजनायें बनी हैं। शिक्षा और सुप्रजननशास्त्र के कार्यक्रमों द्वारा समाज को उन्नत करने की सभी योजनाओं का आदिस्रोत वही है। मध्ययुग में उससे प्रेरणा पाकर सर थामस मोर ने अपना यूटोपिया लिखा, रूसो के समय १८वीं शताब्दी से प्लेटो का राजनीतिक विचार धारा पर गहरा प्रभाव पड़ने लगा। १९वीं शती के मध्य में आगस्त कोम्ते (August Comte) ने प्लेटो की तरह इस बात पर बल दिया कि समाज का शासन वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा होना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन के आदर्शवादी (Idealist) विचारक ग्रीन (Green) तथा बोसांके (Bosanquet) प्लेटो से प्रभावित हैं। साम्यवाद, फासिज़्म आदि की विचारधाराओं पर प्लेटो के विचारों की गहरी छाप है। प्लेटो राजनीतिक चिन्तन के कुछ शाश्वत प्रश्नों की सुन्दर मीमांसा करने के कारण अब तक अजर अमर बना हुआ है और जब तक मानव समाज में राज्य की सत्ता रहेगी, उसका यही स्थान बना रहेगा। पिछले २४०० वर्षों के इतिहास में विशाल राज्यों को बनाने वाले प्रतापी राजाओं, शक्तिशाली सम्राटों, कुशल राजनीतिज्ञों की कमी नहीं रही, किन्तु इनमें से किसी का भी राजनीतिक विचारों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना प्लेटो का पड़ा है। उसकी रचनायें चौबीस शताब्दियाँ बीत जाने के बाद भी आदर के साथ पढ़ी जाती हैं, इनसे प्रेरणा ग्रहण की जाती है और इनके आधार पर अपने मतों की पुष्टि की जाती है। किसी विचारक की अमरता और महत्त्व का इससे अधिक प्रबल कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता।[1]

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५४-५५।

चौथा अध्याय

अरस्तू (३८४ ई० पू० से ३२२ ई० पू०)

जीवन-चरित्र—पश्चिमी जगत् में प्लेटो द्वारा प्रवर्त्तित राजनीतिक तत्व-चिन्तन को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय उसके प्रधान शिष्य अरस्तू को है। अरस्तू का जन्म एथेन्स
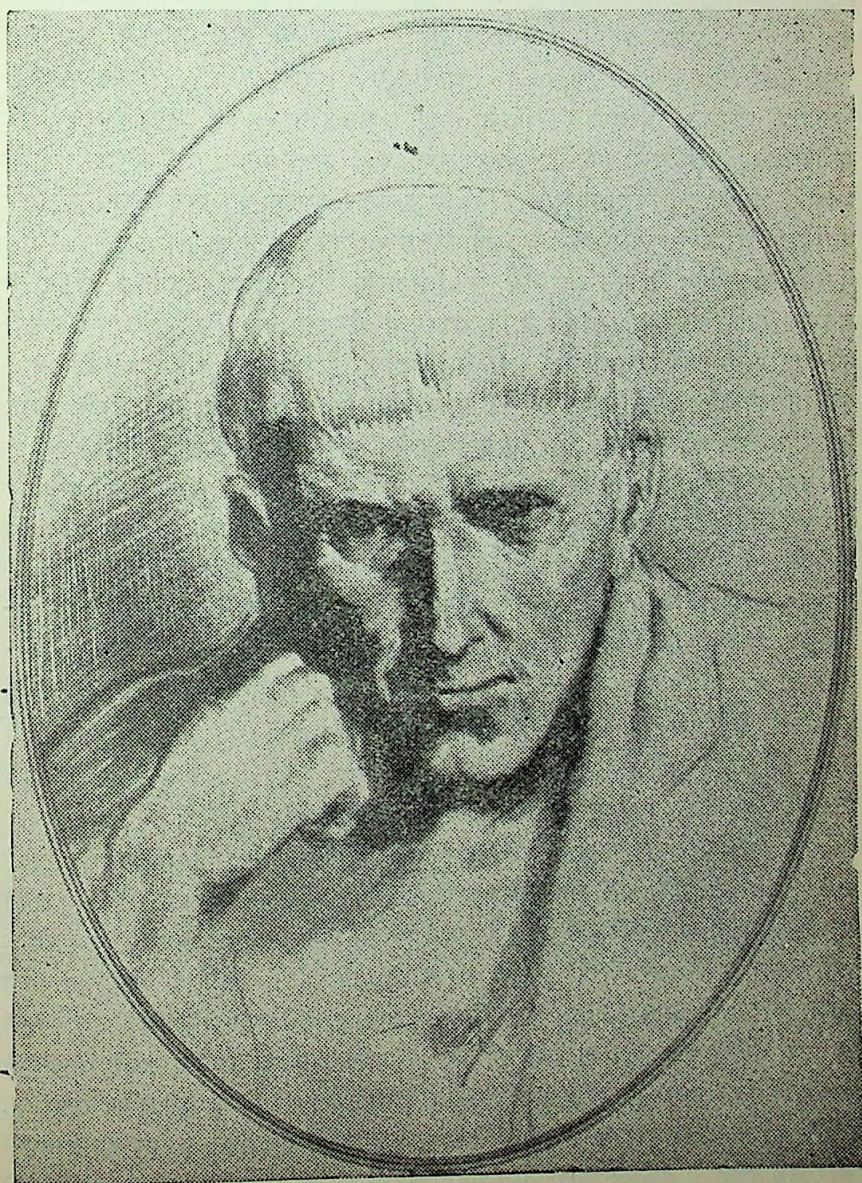
अरस्तू

के उत्तर में २०० मी० दूर स्तागिरा (Stagira) के लघु नगर में हुआ था। उसका पिता निकोमाखस मैसीडोन के राजा एवं सिकन्दर के दादा के दरबार में राजवैद्य था। बचपन में अरस्तू को संभवत: अपने पिता से रोगों के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर रोगियों की चिकित्सा करने की वैज्ञानिक पद्धति का तथा जीवशास्त्रीय विषयों का आरम्भिक परिचय मिला। उसने पालिटिक्स की चौथी, पांचवीं तथा छठी पुस्तकों में एक जीवशास्त्री की भांति विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का वर्णन किया है और डाक्टर की भांति विभिन्न शासनों में उत्पन्न होने वाले रोगों की चिकित्सा के उपाय लिखे हैं। अपनी आयु के १७वें वर्ष में वह प्लेटो की कीर्त्ति से आकृष्ट होकर ज्ञानार्जन के लिए एथेन्स आया तथा उसकी अकादमी में सम्मिलित हुआ। उसने जीवन के अगले बीस वर्ष (३६७–३४७ ई० पू०) अपने गुरु के चरणों में बैठ कर विद्याभ्यास में बिताये। प्लेटो अपने शिष्य की प्रतिभा से इतना प्रसन्न था कि वह उसे अकादमी की शरीरधारिणी बुद्धिमत्ता (Nous) कहा करता था। उसके मतानुसार अकादमी के दो भाग थे, उसका धड़ विद्यार्थी थे और दिमाग अरस्तू। अरस्तू को ग्रन्थ संग्रह करने का बड़ा शौक था, अत: प्लेटो उसके घर को 'पाठक का घर' कहता था। किन्तु गुरु शिष्य में कई मौलिक भेद थे, गुरु दार्शनिक तत्वचिन्तन में और शिष्य वैज्ञानिक विषयों में अनुराग रखता था। कहा जाता है कि अरस्तू में छैलापन था और वह अपने कपड़ों की ओर उससे कहीं अधिक ध्यान देता था, जितना एक दर्शन का अध्ययन करने वाले को देना चाहिए। प्लेटो ने एकबार अरस्तू के लिए कहा था कि वह उस घोड़ी के समान है, जो मां का दूध पीने पर उसे लतिया देती है।' हमें यह पता नहीं कि ऐसे व्यवहार को उत्पन्न करने वाले कौन-से मतभेद थे, किन्तु यह निश्चित है कि प्लेटो की मृत्यु पर ३४७ ई०पू० में जब अकादमी में उसका उत्तराधिकारी निश्चित करने का समय आया तो विदेशी होने के कारण उसे यह पद नहीं मिला और प्लेटो का भतीजा स्प्यूसिप्पस इसके लिए चुना गया। अरस्तू का इससे निराश होना स्वाभाविक था। फिर भी उसे यह सन्तोष था कि उसने अपने गुरु की ६० से ८० वर्ष की परिपक्वावस्था में उससे सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त करते हुए अपनी जवानी के बीस वर्ष व्यतीत किये हैं। अकादमी में उसकी स्थिति पहले अनुसन्धान करने वाले विद्यार्थी के तथा बाद में इसके कार्य में सहायता देने वाले के रूप में रही होगी। उसने प्लेटो को 'लाज़' (Laws) के प्रणयन में बहुत सहयोग दिया होगा। अरस्तू के विचारों पर लाज़ की गहरी छाप है।

प्लेटो की मृत्यु के बाद जब अरस्तू एथेन्स छोड़ने के लिए विवश हुआ तो उसकी मातृभूमि—स्तागिरा मैसीडोन के राजा फिलिप द्वारा नष्ट की जा चुकी थी। वह अपने एक सहाध्यायी जेनोक्रेतोस के साथ लघु एशिया के एस्सस नामक नगर में चला आया और यहां उसने अकादमी की एक शाखा की स्थापना की। उसे यहां निमन्त्रित करने वाला हर्मेइयस (Hermeias) अतार्नियस (Atarneus) का राजा था। यह पहले दास था, किन्तु इडा (Ida) पर्वत की खानों द्वारा धन कमा कर उसने ईरान के सम्राट् से यहां का शासन और राजा का पद प्राप्त किया था। वह अरस्तू का भक्त था, उसने अपनी भांजी तथा गोद ली हुई बेटी पीथियास की शादी भी अरस्तू के साथ की और उसे दहेज में बहुत सम्पत्ति दी। यहां अरस्तू के तीन वर्ष (३४७–३४४) बड़े आनन्द के साथ बीते, उसे हर्मेइयस के साथ रहते हुए व्यावहारिक राजनीति का, अर्थ-

शास्त्र तथा राजतन्त्र का क्रियात्मक अनुभव हुआ। इसके बाद वह अपने सहाध्यायी थियोफ्रास्तस की प्रेरणा से दो वर्ष के लिए (३४४–३४२ ई० पू०) लेस्बोस टापू के
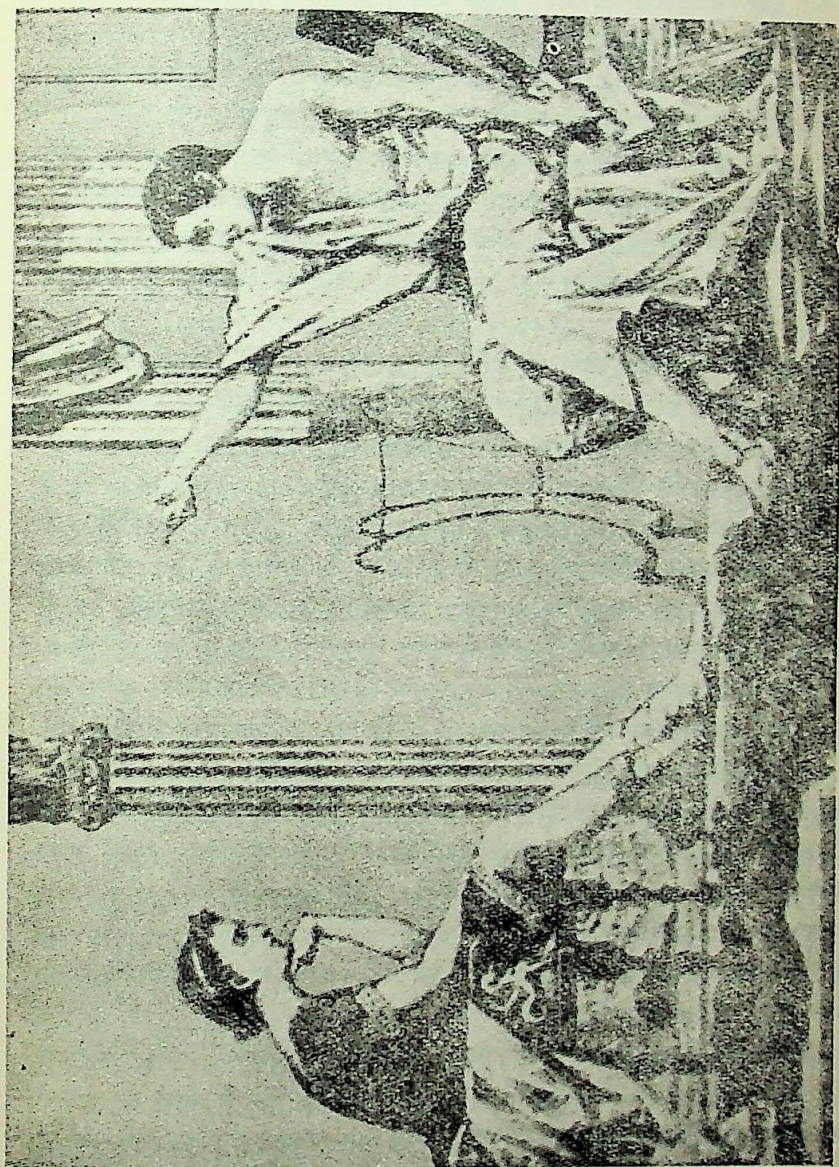
अरस्तू और उसका शिष्य सिकन्दर

इस चित्र में अरस्तू अपने तरुण शिष्य सिकन्दर को पढ़ाते हुए दिखाया गया है।

मितीलेन (Mytelene) नगर में चला गया, यहाँ जाने का उद्देश्य संभवतः इस द्वीप के जलचर प्राणियों का अध्ययन करना था।

३४२ ई० पू० में उसे सिकन्दर के पिता फिलिप ने अपने पुत्र के प्रशिक्षण के लिए मैसीडोनिया की राजधानी पेल्ला में बुलाया। फिलिप (३५९–३३६ ई० पू०) बड़ा महत्वाकांक्षी राजा था, ३५६ ई० पू० में उसने थ्रेस को जीत कर उसकी सोने की खानों द्वारा राज्य विस्तार के लिए प्रभूत धनराशि प्राप्ति की, उसके कृषक बर्बर

होने पर भी बड़े साहसी सैनिक थे, वह उन्हें थीब्स की रणकला में प्रशिक्षित करके यूनान के सब नगरराज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने का इच्छुक था और विश्व-विजय की महत्वाकांक्षा रखता था। उसने अपने १३ वर्ष के लड़के को 'सुसंस्कृत दार्शनिक' बनाने का कार्य अरस्तू को सौंपा। अरस्तू छः वर्ष तक (३४२–३३६ ई०पू०) यहां रहा। इसी बीच ३४२ ई० पू० में उसके मित्र हर्मेइयस को एक ईरानी सेनापति ने धोखे से पकड़ लिया और सूसा ले जाकर उसकी हत्या कर दी गयी। अरस्तू को इस घटना से गहरा दु:ख हुआ, उसने हर्मेइयस पर एक गीति-काव्य लिखा, इस घटना से उसे यह विश्वास हो गया कि विदेशी बर्बर जातियां यूनानियों के शासन में रहनी चाहियें। पालिटिक्स में उसने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। सिकन्दर को उसने यह शिक्षा दी थी कि वह यूनानियों का नेता (Leader) तथा बर्बर जातियों का स्वामी बने।

सिकन्दर को शिक्षा देना शेर के बच्चे को सधाना था। मैसीडोनिया के राज-दरबार का वातावरण भी अनुकूल नहीं था। फिर भी सिकन्दर ने उसे 'पिता' समझा और अरस्तू ने उसे होमर के काव्यों का वीर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कहा जाता है कि अरस्तू ने सिकन्दर के लिए **'राजत्व पर'** (On Kingship) और **"उपनिवेशों के संबंध में'** (Concerning Colonies) नाम के दो ग्रन्थ उसकी प्रेरणा से लिखे थे। सिकन्दर ने भौतिक एवं प्राणिशास्त्रीय विषयों की खोज के लिए उसे ८०० टेलेण्ट (४० लाख डालर या २ करोड़ रुपये) दिये थे। प्लिनी के कथनानुसार उसने अपने शिकारियों, बहेलियों, मालियों, मछियारों को यह आदेश दिया था कि यदि उन्हें अपने क्षेत्र में कोई अद्भुत जीव-जन्तु या वस्तु प्राप्त हो तो वे उसकी सूचना अरस्तू को दें, तथा उसकी मनचाही सामग्री प्रस्तुत करें। ३३५ ई० पू० में सिकन्दर ने राजगद्दी पर बैठते ही अपने गुरु के विध्वस्त नगर को पुन: बनवा दिया। जब सिकन्दर अरस्तू के मित्र अन्तिपातेर (Antipater) को यूनानी राज्यों की देखभाल का काम सौंप कर विश्वविजय पर निकला तो अरस्तू को मैसीडोनिया में रहना निरर्थक प्रतीत हुआ, एथेन्स ने उसे पुन: अपनी ओर आकृष्ट किया। उसका कहना था कि 'महान् राजा' (फिलिप) ने उसे एथेन्स से बुलाया था और उत्तर का 'महान् जाड़ा' अब पुन: उसे एथेन्स लौटने को प्रेरित कर रहा है। उसने अपने जीवन के अन्तिम १३ वर्ष (३३५ से ३२२ ई० पू०) एथेन्स में ही बिताये।

किन्तु अब अरस्तू जिस एथेन्स में आया, वह १२ वर्ष पहले के एथेन्स से भिन्न था। ३ वर्ष पूर्व खेरोनिया (Charonea) के युद्ध में परास्त होने के बाद वह अपनी स्वतंत्रता खोकर मैसीडोनिया का वशवर्त्ती राज्य बन चुका था। इस अवस्था में स्वतन्त्रता-प्रेमी एथेन्सवासियों का यह समझना स्वाभाविक था कि सिकन्दर का गुरु अरस्तू एथेन्स में मैसीडोनिया से सहानुभूति रखने वाली पार्टी का सदस्य है और अन्तिपातेर के संरक्षण के कारण ही एथेन्स में सुरक्षित रूप से रह रहा है। अत: उसे विदेशी और एथेन्सविरोधी समझा जाना स्वाभाविक था। इस समय एथेन्स के पुनरुज्जीवन और उन्नति के लिए लाइकरगस (Lycurgus) नामक राजनीतिज्ञ ने अनेक सुधार किये, एक नये प्रकार का द्विवर्षीय अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण आरम्भ किया, धार्मिक सुधार किये, यह नियम बनाया कि एथेन्सवासी ऐसे दासों को न खरीदें, जो स्वतन्त्र होने पर

भी युद्ध में बन्दी बनाये गये हों। अरस्तू इन सब सुधारों को ध्यान से देख रहा था, उसने पालिटिक्स की सातवीं पुस्तक में अपने आदर्श राज्य का वर्णन करते हुए लाइकरगस के कई सुधारों को अपना लिया है।[1]

एथेन्स लौटने पर अरस्तू ने अपने गुरु की अकादमी जैसा एक नया विद्यापीठ स्थापित किया। इसे ल्यूकिग्रोन (Lukeion) या लाइसियम (Lyceum) कहा जाता है, क्योंकि यह भेड़ियों से पशुओं के रक्षक अपोलो लिसियस (Lyceius) नामक देवता के मन्दिर के निकटवर्ती उद्यानकुंज में अवस्थित था। यहां अरस्तू अज्ञान के भेड़ियों से संघर्ष करने के लिए अपने विद्यार्थियों को शिक्षित करने लगा। उसकी आदत प्रायः शिष्यों के साथ घूमते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर देने तथा पढ़ाने की थी। अतः इसे **पर्यटक विद्यालय** (Peripatetic School) या **भ्रमणशील दार्शनिक का विद्यालय** भी कहते थे।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अरस्तू को अनेक राजनीतिक परिवर्तन देखने पड़े। ३२८ ई० पू० में सिकन्दर ने उसके भतीजे कैलिस्थेनीज़ (Callisthenes) को इसलिए मरवा दिया कि वह सिकन्दर को देवता मानते हुए ईरानी राजदरबार की परिपाटी के अनुसार उसे साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने को तैयार न था। इससे अरस्तू को इतना धक्का लगा कि उसके विद्यालय में सिकन्दर विरोधी वातावरण उत्पन्न हो गया और इसमें उसकी सफलता का महत्व कम करते हुए उसका कारण भाग्य को माना जाने लगा। ३२४ ई० पू० में एथेन्स में अरस्तू का दामाद निकानोर सिकन्दर का यह संदेश लेकर आया कि उसे देवता का सम्मान प्रदान किया जाय तथा पिछले वर्षों में यूनानी नगरों से निर्वासित व्यक्तियों को वापिस बुलाया जाय। एथेन्स में इन दोनों आज्ञाओं के विरुद्ध प्रबल रोष प्रकट किया गया। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु का समाचार पाते ही एथेन्स ने यूनानी राज्यों की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए, सिकन्दर की ओर से यूनान में शासक बनाये गये अन्तिपातेर (Antipater) के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। अरस्तू अन्तिपातेर का मित्र था। अतः उसे अपनी प्राणरक्षा के लिए एथेन्स से भाग कर युबोइया (Euboea) टापू के खाल्किस (Chalcis) नगर में शरण लेनी पड़ी। उसे यह डर था कि उसे कहीं सुकरात की तरह विषपान न करना पड़े। भागते समय उसने कहा था, कि "मैं एथेन्सवासियों को दर्शन के विरुद्ध दूसरी बार अपराध करने का मौका नहीं दूंगा।" उसके भागने के बाद उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने हर्मेइयस की प्रशंसा में लिखी कविता में धर्म-विरुद्ध बातों का प्रतिपादन किया है। डायोजिनीस लर्एतियस (Diogenes Laertius) ने लिखा है कि उसे अन्तिम समय में इतनी निराशा हुई कि उसने विषपान द्वारा अपनी आत्महत्या कर ली। अरस्तू के प्राणान्त के समय भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य अपने राज्य की स्थापना कर रहा था।

अरस्तू का जीवनकाल यूनानी इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण था। इसी समय यूनानी नगर-राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता खोयी। इन्हें पराधीन बनाने वाला मैसीडोनिया का राजा फिलिप ३६० ई० पू० में गद्दी पर बैठा, २२ वर्ष के आक्रमणात्मक संघर्ष के बाद उसने ३३८ ई० पू० में खेरोनिया के युद्ध में यूनानी राज्यों को परास्त

---

१. बार्कर—पालिटिक्स ऑफ अरिस्टाटल, भूमिका, पृ० २१।

किया। ३३६ ई० पू० में उसकी हत्या के बाद सिकन्दर गद्दी पर बैठा और १३ वर्ष की सैनिक विजयों से यूनान से भारत तक के विशाल साम्राज्य की स्थापना द्वारा उसने यूनानी नगर-राज्यों को अतीत की वस्तु बना दिया। किन्तु अरस्तू के विचारों पर इस महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्त्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। "वह अपने समय के आन्दोलनों से अप्रभावित है, समकालीन घटनाओं से पृथक् है।"[1] उसकी दृष्टि वर्त्तमान की ओर नहीं, किन्तु अतीत की ओर है। वह नगर-राज्य को ही आदर्श समझता है। प्लेटो से अनेक अंशों में मतभेद रखने पर भी, वह प्रायः उसके सिद्धान्तों और मन्तव्यों से अत्यधिक प्रभावित है और उनका अनुसरण करता है। किन्तु उसकी पद्धति प्लेटो से सर्वथा भिन्न है।

अरस्तू की पद्धति—अपने वैद्यवंशीय पारिवारिक वातावरण के कारण अरस्तू बचपन से विशेष घटनाओं और तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य परिणाम निकालने का अभ्यस्त हो गया। सभी विज्ञानों में इस पद्धति का प्रयोग होता है। यह कहा जाता है कि अरस्तू ने एक हजार व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण, अन्वेषण और सामग्री संकलन के लिए लगाया था। इस सामग्री और निरीक्षण के आधार पर उसने विभिन्न विज्ञानों के बारे में अनेक नियमों की शोध की। विशेष घटनाओं से सामान्य नियम निकालने की (विशेषात् सामान्यस्य अनुमानम्) इस पद्धति को **सामान्यानुमान या उद्‌गमन** (Induction) की पद्धति कहते हैं। इसके विपरीत पहले कुछ सामान्य नियम निश्चित करके उनके आधार पर विशेष सिद्धान्त बनाने की पद्धति (सामान्याद्विशेषस्यानुमानम्) **विशेषानुमान या निगमन** (Deduction) कहलाती है। अरस्तू को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र में उद्‌गमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। यह कहा जाता है कि उसने तत्कालीन यूनानी जगत् के एथेन्स, स्पार्टा आदि १५८ नगर-राज्यों के संविधानों का संकलन कराया, इन संविधानों के सम्यक् निरीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उसने अपना राजनीतिविषयक ग्रन्थ लिखा तथा आदर्श राज्य का स्वरूप प्रस्तुत किया। उससे पहले प्लेटो ने कल्पनाओं के आधार पर आदर्श राज्य का निर्माण किया था, किन्तु अरस्तू ने निरीक्षण और शोध की वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर राजनीतिशास्त्र को वैज्ञानिक अध्ययन का स्वरूप प्रदान किया। अतः उसे पश्चिम में **राजनीतिशास्त्र का प्रथम वैज्ञानिक** (First Political Scientist) कहा जाता है।

अरस्तू की रचनायें— अरस्तू सर्वतोमुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था। उसने तर्कशास्त्र, प्राणिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भाषणकला लेखनकला, और काव्यकला पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इसके बनाये ग्रन्थों की संख्या ४०० के लगभग बतायी जाती है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रन्थ संग्रह ३५०० पृष्ठों के १२ खण्डों में छपा है। वह अपने समय के ग्रीक ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोष था। अपनी अगाध विद्वत्ता के कारण मध्ययुग में वह सबसे बड़ा 'एकमात्र दार्शनिक' (The Philosopher) तथा इटालियन कवि दांते के शब्दों में वह ज्ञानियों का भी गुरु है। दुर्भाग्यवश उसकी अनेक

---

१. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० १२१।

रचनायें लुप्त हो चुकी हैं और उपलब्ध रचनाओं में भी रचनाशैली की वह प्रौढ़ता, प्रांजलता, सुसम्बद्धता, रोचकता तथा प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता, जो प्लेटो की रचनाओं में है। ये ग्रंथ संभवतः अरस्तू द्वारा अथवा उसके शिष्यों द्वारा लिखे गये उसके व्याख्यानों के स्मृतिसूत्र या नोट्स (Lecture notes) मात्र हैं। इन्हीं को सम्पादकों ने अपनी समझ के अनुसार नाना ग्रंथों में ग्रंथित कर दिया है। अरस्तू ने इनका अन्तिम रूप में सम्पादन या संशोधन नहीं किया, इसीलिए इनमें अनेक असंगतियां और विरोध पाये जाते हैं। राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से उसकी सबसे महत्वपूर्ण कृति पालिटिक्स में इस प्रकार के अनेक दोष हैं।

अरस्तू पर लाज़ का प्रभाव – प्लेटो का शिष्य होने से अरस्तू पर गुरु का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उसकी पालिटिक्स पर इसकी स्पष्ट छाप है। जब अरस्तू प्लेटो के पास आया तो उस समय प्लेटो **लाज़** की रचना में लगा हुआ था, अतः अरस्तू पर इसका प्रभाव पड़ा। अरस्तू की पालिटिक्स तथा लाज़ में निम्नलिखित सादृश्य प्लेटो के प्रभाव को सूचित करते हैं[1]—(१) अरस्तू लाज़ की भांति कानून की सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty of Law) का सिद्धान्त तथा शासकों को कानून का संरक्षक और सेवक मानता है (पालिटिक्स ३।१६।४)। (२) अरस्तू राज्यरहित मनुष्य को देवता या पशु मानता है (पालिटिक्स १।२।१४–१६)। यह लाज़ के एक संदर्भ (डायलाग्स आफ् प्लेटो, पृ० ६१८–२०) का रूपान्तर है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे लिखते समय उसके सामने लाज़ का उपर्युक्त उद्धरण था। (३) परिवार से राज्य के विकास का वर्णन करते हुए (पालि० १।३।६–८) अरस्तू ने लाज़ की तीसरी पुस्तक का अनुसरण किया है और होमर के ग्रंथ से उद्धरण भी वही दिया है, जो प्लेटो ने दिया था। (४) वह प्लेटो की इस युक्ति को दोहराता है कि स्पार्टा की भांति युद्ध अपने आप में लक्ष्य नहीं है, किन्तु इसका प्रयोजन शान्ति की स्थापना होना चाहिए। (५) मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) की कल्पना दोनों ग्रन्थों में समान रूप से पायी जाती है और दोनों स्पार्टा को इसका उदाहरण बताते हैं। (६) अरस्तू ने कृषि की महत्ता, व्यापार और सूदखोरी के बारे में पालिटिक्स की पहली पुस्तक में जो बातें लिखी हैं, वे लाज़ की आठवीं तथा ११ वीं पुस्तक की व्यवस्थाओं से मिलती हैं। (७) पालिटिक्स की सातवीं-आठवीं पुस्तक में वर्णित आदर्श राज्य की लाज़ के आदर्श राज्य से गहरी समानता है। इसके कुछ सादृश्य निम्नलिखित हैं—(क) आदर्श राज्य का समुद्र के पास होना। (ख) प्रत्येक नागरिक की भूमि दो खण्डों में विभक्त होनी चाहिए, एक टुकड़ा नगर के निकट तथा दूसरा सीमा के समीप होना चाहिए। (ग) नगर-राज्य की इमारतों का वर्णन दोनों में एक जैसा है। (घ) अरस्तू की सातवीं पुस्तक की शिक्षा योजना लाज़ में प्रतिपादित योजना से मिलती है। (ङ) दोनों निन्दात्मक भाषा (Abusive language) के विरुद्ध कानून बनाने के बाद राज्य में सुखान्त नाटकों (Comedies) को करने का समर्थन करते हैं। इन समानताओं के आधार पर बार्कर ने यह परिणाम निकाला है कि यद्यपि अरस्तू ने पालिटिक्स के आरम्भ में रिपब्लिक तथा लाज़ के सिद्धान्तों की आलोचना की है, किन्तु वह पालिटिक्स के सामान्य

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३८०-८१।

सिद्धान्तों के लिए लाज़ का ऋणी है और आदर्श राज्य के वर्णन में वह उसका बहुत अधिक अनुसरण करता है। यद्यपि पालिटिक्स उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर लिखी है, किन्तु इसके अधिकांश विचार प्लेटो के हैं। "पालिटिक्स में पूर्णरूप से नई बात उतनी ही कम है, जितनी मैग्नाकार्टा में है। इनमें कोई भी नया नहीं है, दोनों का उद्देश्य पूर्ववर्त्ती विकास को संहिता-बद्ध (Codify) करना है।"[1] सरल शब्दों में इसका अर्थ यही है कि पालिटिक्स में मुख्यरूप से लाज़ के विचारों का अनुसरणमात्र है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पालिटिक्स लाज़ की कार्बन कापी है, वस्तुत: दोनों में महत्वपूर्ण मौलिक भेद है।

अरस्तू तथा प्लेटो की तुलना—मौलिक भेद और सादृश्य—अरस्तू तथा प्लेटो की पद्धति में, विचारों और दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है। (१) प्लेटो कल्पनावादी (Imaginative), हवाई योजनायें बनाने वाला (Utopian) और कल्पनागगन में उन्मुक्त उड़ान लेनेवाला है। इसके विपरीत अरस्तू यथार्थवादी, क्रियात्मक, व्यावहारिक और भूतल की वास्तविकताओं से बंधा हुआ है। प्लेटो इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले दृश्य जगत् को अवास्तविक तथा इन दृश्य पदार्थों के पीछे विद्यमान इनके विचारों (Ideas) को वास्तविक मानता है। उसकी दृष्टि में स्थूल रूप से दिखाई देने वाला वास्तविक जगत् काल्पनिक है और विचारों (Ideas) का काल्पनिक जगत् वास्तविक है। अरस्तू ने प्लेटो के '**विचारों के सिद्धान्त**' का खण्डन करते हुए कहा है कि विचार (Idea) वास्तविक सत्ता (Reality) नहीं हो सकते, वे किसी वस्तु का कारण नहीं बन सकते और विज्ञान में मौलिक सिद्धान्तों के रूप में स्वीकृत नहीं किये जा सकते। अत: प्लेटो जहां कल्पना को वास्तविकता से अधिक महत्व देता है, वहां अरस्तू काल्पनिक विचारों का खण्डन करते हुए ठोस, प्राकृतिक और वास्तविक तथ्यों के आधार पर अपने राजनीतिशास्त्र का निर्माण करना चाहता है। फ्रैडरिक पोलक के शब्दों में "प्लेटो गुब्बारे में बैठकर नये प्रदेशों में घूमता हुआ कभी-कभी नीहारिका के आवरण को चीरकर किसी दृश्य को अत्यन्त स्पष्टता के साथ देखता है, किन्तु अरस्तू एक श्रमजीवी उपनिवेशवादी की भांति उस क्षेत्र में जाता है और मार्ग का निर्माण करता है।"

(२) दोनों की विचारपद्धति में मौलिक अन्तर है। प्लेटो की पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है, वह सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना करता है। अरस्तू उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति तथा विशेष घटनाओं और परिस्थितियों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य नियम बनाता है। प्लेटो पहले न्याय (Justice) आदि गुणों (Virtues) के कुछ विशेष दार्शनिक रूप तय कर लेता है और फिर इन्हें अपने आदर्श राज्य में लागू करता है, इनके विषय में सामान्य व्यवस्थायें करता है। वह सचाई, भलाई, सौंदर्य आदि अमूर्त्त विचारों का विश्लेषण करते हुए सूक्ष्म से स्थूल की ओर, सामान्य से विशेष की ओर बढ़ता है। अरस्तू दृश्यमान जगत् के वास्तविक पदार्थों को अपने विचार का आधार बनाते हुए स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। वह तत्कालीन यूनानी समाज में प्रचलित यूनानी नगर-राज्यों के १५८ शासन-विधानों के

---

१. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३८२।

तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राज्यविषयक सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है। उसके सब विचार इतिहास और निरीक्षण पर आधारित हैं। अतः वे प्लेटो के विचारों की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट, सुनिश्चित, व्यावहारिक, तर्कसंगत और क्रमबद्ध हैं। प्लेटो के विचार निगमनात्मक तर्क पर प्रतिष्ठित होने के कारण अस्पष्ट, अनिश्चित और अव्यावहारिक हैं।[1]

(३) दोनों में उपर्युक्त मौलिक अन्तर होने के कारण स्वाभाविक परिणाम यह है कि मैक्सी के शब्दों में प्लेटो ऐसे अतिमानव (Superman) की खोज में है, जो आदर्श राज्य की सृष्टि करे, अरस्तू ऐसे अतिविज्ञान (Superscience) का अन्वेषण करना चाहता है, जो राज्य को अच्छे-से-अच्छा बना सके। प्लेटो अपने दार्शनिक राजाओं द्वारा आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है, किन्तु अरस्तू एक ऐसा शास्त्र बना देना चाहता है जिसमें निर्धारित नियमों का अनुसरण करते हुए आदर्श राज्य की सृष्टि हो सके।

(४) प्लेटो कल्पनावादी होने के कारण क्रान्तिकारी (Radical) विचारक है और अरस्तू व्यवहार को प्रधानता देने के कारण रूढ़िवादी (Conservative) है। प्लेटो के कुछ क्रान्तिकारी विचारों के उदाहरण दार्शनिक शासकों के लिए सम्पत्ति विषयक साम्यवाद (Communism) तथा उन्हें वैयक्तिक परिवार से वंचित कर सब स्त्रियों पर सामूहिक स्वत्व देना, नर-नारी के समानाधिकार का प्रबल समर्थन करना था। वह अपनी कल्पना द्वारा जिस राज्य को आदर्श समझता था, उसे लाने के लिए उसे समाज की किसी व्यवस्था, रूढ़ि, नियम या परम्परा को बदलने में रत्तीभर संकोच न था। किन्तु अरस्तू व्यवहार और यथार्थ को प्रधानता देते हुए समाज की व्यवस्थाओं और नियमों में मौलिक परिवर्तन करने का विरोधी था। उसने घोषणा की थी कि "हमें युगों से चले आने वाले अनुभवों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए" (पालिटिक्स २।५)। इसीलिए उसने पालिटिक्स के आरम्भ में प्लेटो के साम्यवाद की कड़ी आलोचना की है। प्लेटो ने कहा था कि स्त्री को घर की चहारदीवारी से निकल कर राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए, पुरुषों की भाँति सब कार्य करने चाहिएं, क्योंकि नर-नारी की योग्यताओं में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। अरस्तू ने इसका विरोध करते हुए उसकी सर्वोत्तम स्थिति घर में पति द्वारा शासित होने में मानी। "पुरुष का साहस आज्ञा देने में प्रदर्शित होता है औरस्त्री का आज्ञा पालन करने में।...कवि ने कहा है—मौन ही नारी का गौरव है" (पालि० १।१३)। वह नारी को पूर्णरूप से वशवर्त्ती बनाने के लिए स्त्री-पुरुष के लिए विवाह की आयु क्रमशः २० और ३७ वर्ष नियत करता है (पालि० ७।१६)। विल ड्यूरैण्ट ने प्लेटो के क्रान्तिकारी विचारक होने का एक कारण यह भी बताया है कि उसके समय में राजनीतिक वातावरण प्रायः शान्त था, ऐसे समय में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्त्तन के प्रस्ताव आसानी से रखे जा सकते हैं, किन्तु अरस्तू का समय राजनीतिक दृष्टि से बड़ा अशान्त था, अतः उसने समाज में मौलिक परिवर्त्तनों का विरोध किया।[2] प्लेटो अतिवादी (Extremist) था, किन्तु अरस्तू मध्यमार्ग (Golden Mean) का अनुसरण करने वाला था।

(५) अरस्तू और प्लेटो का एक अन्य मौलिक अन्तर यह था कि अरस्तू ने

---

१. गैटल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० ४८।
२. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलोसफी, पृ० ९१।

राजनीतिक विचारों को नैतिक विचारों से पृथक् किया। प्लेटो की रचनाओं में दोनों प्रकार के विचार पूर्ण रूप से मिश्रित थे, वह राजनीति को नीतिशास्त्र का अंग मानता है। प्लेटो ने भलाई (Goodness) को सार्वभौम अमूर्त्त विचारमात्र माना था। अरस्तू के मतानुसार भलाई कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं, किन्तु वस्तुओं और परिस्थितियों से निर्धारित होती है। मनुष्य की अधिकतम भलाई राज्य में ही संभव है, अतः वह इस का विवेचन करना राजनीतिशास्त्र का कार्य समझता है और इस प्रकार इसे नीतिशास्त्र से पृथक् करके एक स्वतंत्र विज्ञान बनाता है।[1] वह नीतिशास्त्र को वैयक्तिक (Individual) भलाई का शास्त्र, अर्थशास्त्र को घरेलू भलाई (Domestic good) का शास्त्र मानते हुए इन्हें मानव समाज के कल्याण का प्रतिपादन करने वाले राजनीतिशास्त्र का अंग मानता है।

(६) कल्पनाशील होने के कारण प्लेटो उपमाओं और रूपकों के रूप में सोचता है। अतः उसकी शैली काव्यात्मक और सरस तथा समन्वयात्मक (Synthetic) है। इसके विपरीत अरस्तू की शैली तथ्यों के निरीक्षण पर आधारित होने के कारण विश्लेषणात्मक, शुष्क और नीरस है।

(७) प्लेटो वेदान्तियों की भाँति एकत्ववादी है। वह राज्य की एकता (Unity) सुदृढ़ करने के लिए संरक्षकों (Guardians) के लिए वैयक्तिक परिवार और सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त करना चाहता है। किन्तु अरस्तू नानात्व या वैविध्य (Diversity) का भक्त है, वह परिवार और संपत्ति द्वारा विभिन्नता बनाये रखने के पक्ष में है।

(८) प्लेटो दार्शनिकों के शासन को सर्वोत्तम समझता था। किन्तु अरस्तू यह मानता था कि कोई एक शासन प्रणाली सर्वत्र और सदैव सर्वोत्तम नहीं हो सकती। यह मनुष्यों की आवश्यकताओं और परिस्थितियों पर निर्भर होती है, किसी समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली प्रणाली उसके लिए श्रेष्ठ होती है।

(९) प्लेटो का यह विश्वास था कि राजनीतिक सत्ता कुछ थोड़े से बुद्धिमान् और धनी व्यक्तियों के हाथ में होनी चाहिए, वह दार्शनिकों के शासन का पक्षपाती था। किन्तु अरस्तू यह मानता था कि सर्वोत्तम राज्य वही हो सकता है, जिसमें सभी नागरिक राजनीतिक जीवन में अधिकतम भाग लें।

(१०) प्लेटो दार्शनिकों के शासन को सर्वोत्तम समझते हुए उसके बाद दूसरे दर्जे की सर्वोत्तम (Second best) व्यवस्था कानून का शासन (Rule of Law) समझता है। किन्तु अरस्तू पहले को अव्यावहारिक समझते हुए उसके दूसरे दर्जे के सर्वोत्तम शासन (Second best) को सर्वश्रेष्ठ (best) मानता है।

प्लेटो और अरस्तू के उपर्युक्त अन्तर उनकी मौलिक प्रवृत्तियों में भेद के कारण हैं। इसीलिए "प्लेटो राजनीतिक दर्शन के आदर्शवादियों, स्वप्नदर्शियों (Romantists), क्रान्तिकारियों, कल्पनावादियों (Utopians) का पिता है और अरस्तू यथार्थवादियों, वैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों (Pragmatists) तथा उपयोगितावादियों का जनक है।"[2] किन्तु इन सब विरोधों के होते हुए हमें दोनों की मौलिक समानतायें नहीं

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० ४९–५१।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ७८।

भूलनी चाहिएं। दोनों में नैतिक जीवन के प्रति गहरी आस्था है, न्याय की व्यवस्था तथा बुद्धिमत्ता के प्रति अगाध अनुराग है, शिक्षा द्वारा मनुष्य को सुधारने में अमिट विश्वास है, दोनों उत्तम जीवन की प्राप्ति को अपना ध्येय मानते हैं। राज्य को मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं और समाज का निर्माण न्याय, तर्क एवं बुद्धि के आधार पर करने के लिए उत्सुक हैं।

पालिटिक्स—यह राजनीतिशास्त्र पर अरस्तू की महत्वपूर्ण रचना है और आठ पुस्तकों में विभक्त है। ये आठ पुस्तकें विषय की दृष्टि से तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं। **पहले** भाग में पहली, दूसरी तथा तीसरी पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक में राज्य को जन्म देने वाली कुटुम्ब व्यवस्था, राज्य के स्वरूप, इसके उद्गम और आन्तरिक संगठन का वर्णन है, दूसरी पुस्तक में प्लेटो जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित आदर्श राज्यों की तथा स्पार्टा, क्रीट, कार्थेज आदि तत्कालीन राज्यों की समीक्षा है। तीसरी पुस्तक में आदर्श राज्य की खोज के लिए राज्यों के वर्गीकरण, नागरिकता और न्याय के स्वरूप का वर्णन है। **दूसरा** भाग चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकों का है। चौथी पुस्तक में विभिन्न प्रकार की वास्तविक शासन-प्रणालियों का प्रतिपादन है, पाँचवीं पुस्तक में विभिन्न शासन-प्रणालियों में होने वाले वैधानिक परिवर्त्तनों और क्रान्ति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। छठी पुस्तक में उन उपायों का वर्णन है, जिनसे लोकतन्त्रों तथा अल्पतन्त्रों (Oligarchies) को सुस्थिर बनाया जा सकता है। **तीसरा** भाग सातवीं, आठवीं पुस्तकों का है, सातवीं पुस्तक में राजनीतिक आदर्शों तथा शिक्षा-संबंधी सिद्धान्तों की विवेचना है, और आठवीं पुस्तक में युवकों के प्रशिक्षण की सामान्य योजना, शारीरिक प्रशिक्षण, संगीत की शिक्षा के उद्देश्यों तथा उपायों का वर्णन है।

पालिटिक्स की विभिन्न पुस्तकों के रचनाकाल और क्रम के संबंध में जायगार (Jaegar), आर्नीम (Arnim) आदि विद्वानों ने बड़ा ऊहापोह किया है। किन्तु इस विषय में सबसे नवीनतम और उपयुक्त मत बार्कर का जान पड़ता है। उसका यह कहना है कि इसकी रचना अरस्तू के एथेन्स में दूसरे निवास काल में, आयु के अन्तिम बारह वर्षों में (३३५ ई० पू० से ३२३ ई० पू०) हुई है। यद्यपि यह अरस्तू की प्रौढ़तम आयु की कृति है, किन्तु उसकी अन्य कृतियों के समान यह संभवतः उसके व्याख्यानों के नोट्स मात्र हैं, इसे भलीभाँति संशोधित एवं पूर्ण नहीं किया गया। इसकी शैली रिपब्लिक की तरह रोचक नहीं है। फिर भी इसका प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है और कई शताब्दियों से राजनीतिक चिन्तन का प्रेरणा स्रोत बना हुआ है, अतः ज़ेलर (Zeller) ने लिखा है कि यह "हमें प्राचीनकाल से उपलब्ध होने वाली सबसे मूल्यवान् निधि है। यह राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सबसे बड़ी देन है।" दूसरी ओर इस ग्रन्थ की अपरिपक्वता को लक्ष्य में रखते हुए डॉ० ए० ई० टेलर ने लिखा है—"अरस्तू का कोई भी अन्य ग्रन्थ पालिटिक्स जैसे विशाल विषय का इतना साधारण विवेचन नहीं करता।" पालिटिक्स के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

राज्य का प्रादुर्भाव – अरस्तू ने पालिटिक्स की पहली पुस्तक के द्वितीय खण्ड में राज्य के विकास और स्वरूप का सुन्दर प्रतिपादन किया है। इसके मतानुसार राज्य का प्रादुर्भाव कुछ मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होता है। मनुष्य एकाकी रूप में अपनी सब आवश्यकतायें पूरी नहीं कर सकता। सर्वप्रथम वंश-विस्तार

तथा मानव जाति को उच्छेद से बचाने की आवश्यकता पूरी करने के लिए नर-नारी मिलकर कुटुम्ब का निर्माण करते हैं। नर-नारी को शरीर धारण के लिए अन्नादि भौतिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। इस कारण कुटुम्ब में इन वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए दास रखे जाते हैं, इस प्रकार स्वामी-सेवक के संबंध की उत्पत्ति होती है। प्रजनन तथा अल्पतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए कुटुम्ब का तथा उसमें उपर्युक्त दो प्रकार के संबंधों का जन्म होता है। कुटुम्बों का समुदाय या समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ग्राम का रूप धारण करता है। ग्राम में कुटुम्ब की पहली दोनों आवश्यकतायें पूर्ण होने के साथ मनुष्य की कुछ अन्य आवश्यकतायें भी पूर्ण होने लगती हैं, आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए ग्राम-पंचायत का निर्माण होता है, गांव के मेलों तथा उत्सवों द्वारा उसकी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है। तीसरी दशा में अनेक ग्रामों के सम्मिलन से नगर-राज्य का जन्म होता है। इससे कुटुम्ब और ग्राम की आवश्यकतायें पूर्ण होने के साथ कुछ अन्य आवश्यकतायें भी पूरी होती हैं। राज्य सैनिक संगठन बनाकर अपने निवासियों की विदेशी आक्रान्ताओं से रक्षा करता है, न्याय का कार्य ग्राम-पंचायत की अपेक्षा अधिक क्षमता और सुचारुता के साथ करता है, इसमें विद्याओं और कलाओं का विकास होता है, यह मनुष्य की बौद्धिक और नैतिक शक्तियों को विकसित करने की आवश्यकता पूरा करता है। वस्तुतः नगर-राज्य का महत्व मनुष्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकतायें पूरी करने में है। नगर-राज्य न केवल मानव प्रकृति की सभी आवश्यकतायें पूरी करता है, बल्कि उसकी प्रकृति के उच्चतर अंश की नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकतायें विशेष रूप से पूर्ण करता है। अतः नगर-राज्य मनुष्यों का अन्तिम और पूर्ण (Perfect) एवं श्रेष्ठतम समुदाय है। यह उसे पूर्ण जीवन बिताने में सहायक होता है।

इस प्रकार राज्य का विकास तीन स्थितियों में से होकर गुजरता है और यह मनुष्य की सहज नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर आधारित है। पहली सहज प्रवृत्ति नर-नारी को परस्पर आकृष्ट कर प्रजनन व्यापार द्वारा मानव जाति को उच्छिन्न होने से बचाती है। दूसरी प्रवृत्ति स्वामी और सेवक, प्रभु और दास के संबंध को उत्पन्न कर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है। इन दोनों नैसर्गिक प्रवृत्तियों से कुटुम्ब की उत्पत्ति होती है। कुटुम्ब बढ़कर ग्राम का रूप धारण करते हैं और ग्रामों का समुदाय नगर-राज्य बनता है। राज्य के निर्माण तक की उपर्युक्त तीनों स्थितियों तथा इनके उद्देश्यों का परिचय निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा[1]—

१. कुटुम्ब अथवा गृहस्थी	प्रजनन तथा अल्पमत भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति = क
२. ग्राम	क + न्याय के लिए ग्राम-पंचायत तथा धार्मिक उत्सव आदि = ख
३. नगर-राज्य (पोलिस)	क + ख + (न्याय तथा सैनिक संरक्षण, विद्या तथा कलाओं का विकास)।

राज्य का स्वरूप और विशेषतायें—(१) राज्य प्राकृतिक समुदाय है। राज्य

१. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० ६०।

का विकास-क्रम स्पष्ट करने के साथ-साथ अरस्तू राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाली उसकी कुछ मौलिक विशेषताओं का प्रतिपादन करता है। **पहली विशेषता** राज्य का प्राकृतिक (Natural) होना है। प्लेटो तथा अरस्तू से पहले सोफिस्ट यह मानते थे कि राज्य मनुष्यों का एक कृत्रिम (Artificial) समुदाय है, वह मनुष्यों ने आपस में समझौता या अनुबन्ध (Contract) करके बनाया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कानूनों के पालन के लिए मनुष्य के पास कोई स्वाभाविक आधार नहीं रहता, क्योंकि मनुष्य इसका पालन केवल दण्ड के भय से अथवा पुरस्कार की आशा से करता है। किन्तु मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। वह केवल उन्हीं नियमों का पालन पूरी तरह कर सकता है, जो उसे बुद्धिसंगत प्रतीत हों। यह केवल उन्हीं कार्यों और नियमों के लिए संभव है, जिन्हें उसकी बुद्धि अपने लिए हितकर समझे। यदि उसे कानूनों का पालन बुद्धि द्वारा अपने हितों के प्रतिकूल प्रतीत हो तो वह इनका उल्लंघन करने में कोई संकोच नहीं करेगा, केवल दण्ड का भय उसे ऐसा करने से नहीं रोक सकता। वस्तुतः प्रबल नैतिक शक्ति ही उसे कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य कर सकती है। सोफिस्टों के सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे राज्य को कृत्रिम मानते हुए उसके कानूनों का पालन कराने में समर्थ नैतिक शक्ति की सत्ता अस्वीकार करते हैं। इसके विपरीत अरस्तू ने राज्य को प्राकृतिक मानते हुए उसको वह नैतिक शक्ति प्रदान की है, जिससे नागरिक उसके कानूनों का पालन करें। अरस्तू का यह कहना है कि विवेकशील मनुष्य बुद्धि द्वारा अपने हित की वृद्धि करना अपना नैतिक दायित्व समझता है, यह हित राज्य में ही पूरा हो सकता है, अतः वह राज्य के नियमों का पालन करता है। इस प्रकार राज्य के नियमों को पालन करने का एक नैतिक आधार हो जाता है और मनुष्य अपने हित की दृष्टि से इनका पालन करने लगते हैं।

राज्य को **प्राकृतिक** (Natural) मानने के कई कारण हैं। **पहला कारण** उसका कुटुम्ब से शनैः-शनैः स्वाभाविक रूप से विकसित होना है। कोई भी व्यक्ति कुटुम्ब को कृत्रिम नहीं मानता, सोफिस्ट भी यह कहने का दुस्साहस नहीं कर सकते कि परिवार मनुष्य पर कृत्रिम रूप से थोपी हुई व्यवस्था है। यह मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। अतः यह मनुष्य के विकास में सहायक है, उसका अवरोधक नहीं है। "यह घोंसले की तरह है, न कि पिंजरे की भांति"।[1] कुटुम्ब की इस स्वाभाविक व्यवस्था से राज्य का विकास हुआ है। अतः राज्य भी कुटुम्ब की भांति स्वाभाविक है। **दूसरा कारण** यह है कि राज्य मनुष्य को उस उद्देश्य की पूर्त्ति की क्षमता प्रदान करता है, जिसके कारण वह शेष सृष्टि से भिन्न समझा जाता है। मनुष्य की शेष सृष्टि से भिन्नता उसके बुद्धिमान् और भाषण कला सम्पन्न प्राणी होने में है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्य तथा अन्य पशुओं में कोई भेद नहीं है, उसकी इनसे विलक्षणता, तर्कशीलता, विवेक और भाषा की शक्ति हैं। मनुष्य भाषा के वरदान से एक-दूसरे के सुख-दुःख की वेदना का अनुभव कर सकता है, इसी से वह दूसरों पर यह स्पष्ट करता है कि क्या न्यायोचित है तथा क्या अन्याय है। वह इसी की सहायता से नैतिक और आध्यात्मिक प्रश्नों का निर्णय करता है। अरस्तू

---

१. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० १२८।

के मतानुसार जब कोई वस्तु विकसित होकर चरम शक्ति को प्राप्त हो जाय तथा जिस कार्य के लिए प्रकृति ने उसका निर्माण किया, उसको भली-भांति सम्पादन कर सके तो उस स्थिति को उसका **वास्तविक या स्वाभाविक रूप मानना** चाहिए। राज्य में मनुष्य को पशुओं से पृथक् करने वाले बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास का अवसर मिलता है, अत: राज्य प्राकृतिक है। किन्तु राज्य का प्राकृतिक होना प्रकृति की अन्य घटनाओं से कुछ भिन्नता रखता है। मधुमक्खियों का छत्ता भी एक प्राकृतिक संगठन है, यह नियमों द्वारा शासित होता है। किन्तु यह राज्य से भिन्न है। इसमें रहने वाली मक्खियाँ राजनीतिक जीवन नहीं बितातीं, क्योंकि वे उन्हें शासित करने वाले नियमों को नहीं समझतीं। राजनीतिक जीवन की एक बड़ी विशेषता यह है कि मनुष्य जिन नियमों से शासित होते हैं, उनके सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि वे उन पर बुद्धिपूर्वक विचार करें, शासक अपने कानूनों को तर्क की दृष्टि से उचित ठहराते हुए लागू करें, मनमानी इच्छा को नियम न बनायें। प्रजा द्वारा कानून का पालन दण्ड के भय से नहीं, किन्तु बुद्धि की प्रेरणा से होना चाहिए।

राज्य के प्राकृतिक होने के कारण अरस्तू ने मनुष्य को राजनीतिक[1] प्राणी (Political animal) कहा है क्योंकि उसकी प्रकृति का सर्वोत्तम विकास **पोलिस** या राज्य में ही संभव है। कोई व्यक्ति राज्य से पृथक् रहते हुए अपना विकास नहीं कर सकता, इस दशा में न तो उसकी भौतिक आवश्यकतायें पूरी होंगी और न ही उसकी बौद्धिक और नैतिक शक्तियाँ विकसित हो पायेंगी। यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि वह राज्य से पृथक् रह सकता है, तो अरस्तू के शब्दों में वह या तो पशु है या देवता (पालिटिक्स)। पहली अवस्था में उसमें बौद्धिक और नैतिक शक्तियों का पशुओं की भांति सर्वथा अभाव है और दूसरी दशा में उसमें इनका पूर्ण विकास हो चुका है। अरस्तू द्वारा मनुष्य को राजनीतिक प्राणी मानने का यह आशय है कि वह इसको सदैव राज्य में रहने वाला व्यक्ति समझता है। उसके अनुसार किसी ऐसी अवस्था या स्थिति की कल्पना नहीं हो सकती, जबकि वह राज्य से स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता रखे। अरस्तू १७वीं-१८वीं शताब्दी के रूसो, हाब्स आदि दार्शनिकों द्वारा मानी जाने वाली राज्य से पूर्ववर्त्ती ऐसी कोई प्राकृतिक दशा (State of Nature) नहीं मानता, जिसमें मनुष्य परम आनन्द की अथवा मात्स्यन्याय की स्थिति में रहता था।

(२) **पूर्ववर्त्तिता**—राज्य की **दूसरी विशेषता** उसका परिवार और व्यक्ति से पूर्ववर्त्ती (Prior) होना है। पहले यह बताया जा चुका है कि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आरम्भ में व्यक्तियों से मिलकर कुटुम्ब बने, कुटुम्बों से ग्राम और ग्रामों से राज्य। अतः कालक्रम की दृष्टि से व्यक्ति पहले था और राज्य सबसे अन्त में बना।

---

१. अरस्तू ने राजनीतिक शब्द का प्रयोग वर्त्तमान संकीर्ण अर्थ में नहीं, किन्तु बड़े व्यापक अर्थ में किया है। इसमें आजकल के शासन, कानून निर्माण, न्याय के प्रशासन के अतिरिक्त धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक, साहित्यिक और कलात्मक कार्य भी सम्मिलित थे। पुराने यूनान में धार्मिक उत्सव कराना, मन्दिरों का निर्माण, संचालन आदि कार्य राज्य द्वारा किये जाते थे। राज्य सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य करता था। अतः अरस्तू के राजनीतिक शब्द में इन सब का समावेश है।

किन्तु अरस्तू ऐतिहासिक सम्बन्ध (Historical relation) की दृष्टि से राज्य को परवर्त्ती मानते हुए भी **तर्कसम्मत संबंध** (Logical relation) की दृष्टि उसे पूर्ववर्त्ती मानता है। इस विषय में उसका तर्क इस प्रकार है। व्यक्ति और राज्य में अवयव (Organ) और अवयवी (Organism), व्यष्टि तथा समष्टि (Whole) का सम्बन्ध है। अवयव और अवयवी में अवयवी का प्राग्भाव या पहले होना मानना अनिवार्य है क्योंकि अवयवी के अभाव में अवयव की कल्पना नहीं की जा सकती। अरस्तू ने इसे शरीर के उदाहरण से स्पष्ट किया है। इसके विभिन्न अवयवों—हाथ-पैर की सत्ता तथा उपयोगिता अवयवी या शरीर के होने पर ही होती है। यदि शरीर न हो तो हाथ, पैर आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता। अतः अवयवी को विचार की दृष्टि से अवयव से पहले होना ही चाहिए। राज्य अवयवी है, अतः उसका उसके अवयव—व्यक्ति से पहले होना (प्राग्भाव या पूर्ववर्त्तिता) अनिवार्य है।

(३) **नगर-राज्य का चरम और श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन होना**—अरस्तू की दृष्टि में नगर-राज्य मानव समाज का सर्वोत्तम समुदाय है। प्रत्येक समुदाय किसी हित की सिद्धि के लिए बनाया जाता है। राज्य सबसे बड़ा समुदाय है, अतः यह उसके सबसे बड़े हित बौद्धिक और नैतिक विकास की सिद्धि के लिए होना चाहिए। इस कारण उसे सर्वोत्तम समुदाय मानना चाहिए। राज्य को सर्वश्रेष्ठ समुदाय मानने के कई कारण हैं। **पहला** कारण यह है कि अरस्तू के मतानुसार यह सामाजिक विकास का चरम रूप है, कुटुम्ब से आरम्भ होने वाला विकास नगर-राज्य के रूप में परिपूर्णता को प्राप्त करता है। यद्यपि अरस्तू के सामने फिलिप ने यूनान के नगर-राज्यों को समाप्त कर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, किन्तु वह इस परिवर्त्तन के महत्व को नहीं आंक सका। नगर-राज्यों और साम्राज्यों के बाद इतिहास में राष्ट्रीय राज्यों (National States) का आविर्भाव हुआ। २०वीं शताब्दी में अणुबमों और अन्तरिक्षगामी राकेटों के युग में राष्ट्रीय राज्य के स्थान पर सब राज्यों के विश्वसंघ की कल्पना की जाने लगी है। किन्तु अरस्तू ने नगर-राज्य को ही सामाजिक विकास का चरम रूप मानते हुए सर्वश्रेष्ठ माना। इसे श्रेष्ठ मानने का **दूसरा कारण** यह है कि इसमें मनुष्य की जितनी आवश्यकतायें पूरी होती हैं, उतनी किसी दूसरे समुदाय में नहीं होती। कुटुम्ब और ग्राम केवल कुछ भौतिक आवश्कतायें ही पूरी करते हैं, किन्तु मनुष्य की सभी आध्यात्मिक और बौद्धिक आवश्यकतायें नगर-राज्य से ही पूर्ण होती हैं।

(४) **राज्य का आत्मनिर्भर** (Self-sufficient) **होना**—अरस्तू इसे सब वस्तुओं के विषय में आत्मनिर्भरता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ कहता है। आत्मनिर्भरता का अर्थ सामान्यतः अपनी सब आवश्यकतायें स्वयमेव पूरा करना होता है, किन्तु अरस्तू ने इसका प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है। इसके लिए उसने औतार्केइया (Autarkeia) शब्द का प्रयोग किया है और इसकी परिभाषा करते हुए अपने 'आचार-शास्त्र' में लिखा है कि "यह वह गुण है, जिसके द्वारा स्वतः जीवन वांछनीय बन जाता है, तथा जिसमें कोई अभाव नहीं होता।" कुटुम्ब और ग्राम द्वारा मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति अधूरे रूप में होती है, राज्य द्वारा न केवल इनकी पूर्त्ति पूर्णरूप से होती है, किन्तु इसके साथ ही मनुष्य की उच्चतर प्रकृति (Higher nature) की बौद्धिक और नैतिक आवश्यकतायें भी पूरी होने लगती हैं, अतः राज्य में मनुष्य को

किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता। वह उत्तम जीवन बिता सकता है। उत्तम जीवन का अर्थ केवल अच्छा खान-पान और रहन-सहन नहीं है, किन्तु बुद्धि और मन की शक्तियों का विकास है। पेट भरने का काम तो पशु भी करते हैं, मनुष्य का मनुष्यत्व इसीलिए है कि वह अपने विशेष गुणों का विकास करे। यह आत्मनिर्भर राज्य में संभव है। अतः अरस्तू यह कहता है कि "राज्य की उत्पत्ति तो केवल मात्र जीवन की आवश्यकता के कारण हुई, किन्तु (पूर्णता को पहुंचने पर) उसकी सत्ता अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए बनी रहती है।" यहाँ अरस्तू के अच्छे जीवन (Good life) का तात्पर्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। अच्छा जीवन श्रेष्ठ भलाई के अनुसार बिताया जाने वाला जीवन है। किन्तु भलाई क्या है ? अरस्तू के मतानुसार भलाई के दो प्रकार हैं—बुद्धि की भलाई तथा चरित्र की भलाई। बुद्धि की भलाई या सद्बुद्धि हमें यह बताती है कि अच्छे या सुखी जीवन के क्या नियम हैं और चरित्र की भलाई हमें उन नियमों के अनुकूल आचरण करने में समर्थ बनाती है। इन दोनों की सहायता से मनुष्य उत्तम आचार वाला बनता है।

(५) **राज्य का एकत्व और बहुत्व** (Unity and Plurality in State)—प्लेटो ने राज्य के एकत्व (Unity) पर बहुत बल दिया था। वह समूचे राज्य को एक विशाल परिवार बनाना चाहता था। उसके मतानुसार राज्य में अवयवी शरीर (Organism) की भांति एकता होनी चाहिए, जिस प्रकार पैर में कांटा चुभने पर सारे शरीर को उसकी अनुभूति होती है, वैसी ही एकता की अनुभूति राज्य में होनी चाहिए। वह एकत्व को ही राज्य का स्वरूप समझता है। किन्तु अरस्तू इससे सहमत नहीं हैं।[1] उसका कहना है कि राज्य में यदि इतनी एकता होगी तो वह राज्य ही नहीं रहेगा, वस्तुतः राज्य का स्वरूप बहुत्व (Plurality) में ही है। वह विभिन्न प्रकार के तत्वों से मिलकर बनता है। यदि इनकी भिन्नता का अन्त करके एकता स्थापित की जाय, तो राज्य का ही अन्त हो जायगा। सुन्दर संगीत की सृष्टि कई प्रकार की सुरीली ध्वनियों के समन्वय से होती है; यदि उसमें एक ही ध्वनि हो तो वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी तरह राज्य के लिए अनेक तत्वों की आवश्यकता है। ये उसमें विभिन्न प्रकार के कार्य करते हुए उसे अधिक उन्नत, उत्कृष्ट और समृद्ध बनाते हैं। राज्य में एकता होनी चाहिए, किन्तु यह प्लेटो के विचारों के अनुसार कठोर अनुशासन द्वारा व्यक्तियों के विभिन्न भेदों का अन्त करके स्थापित नहीं होनी चाहिए, किन्तु विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के समुचित संगठन द्वारा स्थापित होनी चाहिए।

राज्य का उद्देश्य और कार्य—अरस्तू का यह विचार है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य की अधिकतम भलाई करना है,[2] अतः उसका यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ४०-४२।

२. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ११८-१२०। अरस्तू के राज्य के इस उद्देश्य की उसके कुछ समय बाद भारत में होने वाले कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तथा भारतीय धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित राज्य के प्रयोजनों से की जा सकती है। इसके मतानुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में चार प्रकार के पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। इनमें पहले तीन का अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का सम्बन्ध इहलोक से तथा मोक्ष का परलोक

भला और सद्गुणी बनाने का तथा उसके नैतिक और बौद्धिक गुणों के विकास का प्रयत्न करे। "राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है, न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए।" (पालिटिक्स, ३।१६)। उसका यह दृष्टिकोण भावात्मक (Positive) है तथा मध्ययुग में लॉक द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले इस दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है कि राज्य का उद्देश्य अभावात्मक (Negative) तथा केवल इतना ही है कि वह अपने सदस्यों द्वारा अधिकारों के उपभोग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करे। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि यदि वह दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता तो स्वतन्त्रतापूर्वक रह सके, बोल सके, सम्पत्ति रख सके। यदि कोई व्यक्ति अनुचित रूप से दूसरे की स्वतन्त्रता के अधिकार का अपहरण करता है तो राज्य का कर्त्तव्य है कि वह उसका दमन करे। राज्य का कार्य केवल मात्र इतने क्षेत्र तक ही सीमित है कि वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करे, इनको हानि पहुँचाने वाले या इनका अपहरण करने वाले तत्त्वों का दमन करे। इस निवारणात्मक और निरोधात्मक कार्य से अधिक

से है। पहले तीन पुरुषार्थों का सामान्य नाम त्रिवर्ग भी है। राज्य का प्रयोजन है कि वह अपने नागरिक को त्रिवर्ग का पालन करने में समर्थ बनाये। कौटिल्य ने इस विषय में बड़ा संतुलित दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए कहा है कि मनुष्यों को काम का सेवन अर्थात् अपनी इच्छाओं की पूर्ति एवं सुखों की उपलब्धि इस प्रकार करनी चाहिए कि ये इच्छायें और सुख धर्म और अर्थ के अनुकूल हों। उसे कभी सुखों से रहित नहीं होना चाहिए, किन्तु धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से पालन करना चाहिए। धर्म, अर्थ, काम में से यदि एक का अत्यधिक सेवन किया जाय, तो इससे तथा अन्य दोनों को हानि पहुँचती है। (कौटिल्य १।७—धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति)। राज्य अपने आप में साध्य नहीं, किन्तु मनुष्य को त्रिवर्ग की प्राप्ति कराने का साधन है। कौटिल्य के इस मत का समर्थन करते हुए बार्हस्पत्यसूत्र (२।४३) में राजनीति का फल त्रिवर्ग की प्राप्ति कहा है (नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः)। इसी लिए सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत (पृ० ७) के आरम्भ में कहा है—अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः। कामन्दक ने राज्य का आधार धन को मानते हुए योग्य मंत्री की सहायता से इसे त्रिवर्ग की सिद्धि करने वाला बताया है (४।७७—इति स्म राज्यं सकलं समीरितं परा प्रतिष्ठास्य धनं ससाधनम्। गृहीतमेतन्निपुणेन मन्त्रिणा त्रिवर्गनिष्पत्तिमुपैति शाश्वतीम्॥)

पहले (पृ० ८६) यह बताया जा चुका है कि राज्य की शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले राजा का सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह विभिन्न वर्णों और आश्रमों से उनके धर्मों का पालन कराये, और यदि वे इनका उल्लंघन करें तो दण्ड द्वारा इन्हें सत्पथ पर रखे (शुक्रनीति ४।४।३९)। जिस राजा के राज्य में वर्णाश्रमधर्म का पालन होता है, वही इस लोक में तथा परलोक में शाश्वत सुख प्राप्त करता है (मार्कण्डेय पुराण २७।२१, महाभारत शान्तिपर्व ८५।२)। कामन्दक के मतानुसार (१।१३) न्यायपूर्वक शासन द्वारा राजा स्वयमेव तथा उसकी प्रजा त्रिवर्ग प्राप्त करती है, अन्यायपूर्वक शासन से वह अपने आप को तथा प्रजा को नष्ट कर डालता है। (मि० शुक्र १।६७)।

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्यों को स्वधर्म का पालन, धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति कराना था, ताकि वे उत्तम जीवन बिता सकें। यह अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य के प्रयोजन से बहुत सादृश्य रखता है।

रंचमात्र कार्य भी राज्य को नहीं करना चाहिए।

किन्तु अरस्तू इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं। उसका यह कहना है कि यदि राज्य केवल इतना ही कार्य करता है कि उसके निवासी एक-दूसरे के विरुद्ध कोई अपराध न करें, कोई हानि न पहुँचायें, तो इससे राज्य के कार्यों की इतिश्री नहीं होती। ऐसी संस्था को राज्य नहीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि इस दशा में राज्य अपने महत्व-पूर्ण उद्देश्य को तथा प्रधान कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता। यह उद्देश्य और कार्य मनुष्यों को अच्छा, भला और सद्गुणी बनाता है। पालिटिक्स की तीसरी पुस्तक के नवें अध्याय में अरस्तू ने विभिन्न उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि राज्य को 'नागरिकों की भलाई के लिए चिन्ताशील होना चाहिए और उन्हें सच्चरित्र और सद्गुणी बनाना चाहिए, बुरे कार्य भले ही दूसरे के अधिकारों का अपहरण करें या न करें, समान रूप से निन्दनीय हैं। राज्य यदि दूसरे के अधिकारों के अपहरण करने वाले कार्यों को रोकता है और अन्य बुरे कार्यों को नहीं रोकता तो वह कर्त्तव्य का पूरा पालन नहीं करता। राज्य का सम्बन्ध अपने नागरिकों के उन्हीं कार्यों से नहीं है, जो दूसरों के लिए अहितकर हों, किन्तु उसका वास्तविक और गहरा सम्बन्ध अपने नागरिकों को सच्चरित्र बनाने से है, ताकि वे बुरे काम कर ही न सकें। अपराधी को केवल दण्ड के भय से ही अपराध से विरत नहीं रहना चाहिए, किन्तु राज्य को उसे ऐसा सच्चरित्र बना देना चाहिए कि वह अपराधों की ओर प्रवृत्त ही न हो।

राज्य यह कार्य शिक्षा द्वारा कर सकता है। वर्त्तमान समय में अधिकांश राज्य नागरिकों को बौद्धिक शिक्षा प्रदान करते हैं। प्लेटो और अरस्तू इससे सन्तुष्ट नहीं हैं, वे उसे नैतिक शिक्षा प्रदान कर सच्चरित्र और सद्गुणी नागरिक बनाना चाहते हैं। आजकल यह कार्य राज्य का नहीं, किन्तु चर्च या धार्मिक संस्थाओं का समझा जाता है। पुराने यूनानी राज्यों में धार्मिक कार्य राज्य की ओर से होते थे, अतः वहाँ राज्य और धर्म में कोई पार्थक्य या भेद नहीं था। मध्ययुगीन योरोप में धार्मिक शिक्षा का कार्य चर्च द्वारा होता था, अतः लॉक ने राज्य का कार्यक्षेत्र अभावात्मक तथा दूसरों को हानि पहुँचाने वाले कार्यों के निवारण मात्र तक सीमित रखा। लॉक से राजनीतिक आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण करने वाले उदारवादी (Liberal) ग्रेट ब्रिटेन में और सं० रा० अमरीका में राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक इसी विचार-धारा की प्रधानता रही। किन्तु अरस्तू के राज्य के उद्देश्य की कल्पना इससे बहुत अधिक विस्तृत, व्यापक और भावात्मक है तथा वह राज्य का यह कर्त्तव्य समझती है कि वह अपने नागरिकों को शिक्षा द्वारा सच्चरित्र और सद्गुणी बनाये। राज्य के कार्यक्षेत्र के उपर्युक्त विवेचन से राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। अरस्तू प्लेटो की भाँति राज्य और व्यक्ति में अनेक महत्वपूर्ण सादृश्य मानता था, फिर भी वह उसकी भाँति राज्य को व्यक्ति से अधिक महत्त्व नहीं देता था।

दास-प्रथा—यूनानी जगत् में होमर के समय से दास-प्रथा समाज का एक आवश्यक अंग थी। ग्रीक संस्कृति के भव्य प्रासाद की नींव में दासों के श्रम का महत्त्व-पूर्ण भाग था। खेती-बाड़ी और आर्थिक उत्पादन का कार्य दासों द्वारा होता था। यद्यपि यूनानियों की दास-प्रथा रोमन लोगों की दास-प्रथा की भाँति क्रूर तथा अमानुषिक नहीं थी, किन्तु इसके सामाजिक बुराई होने में कोई संदेह नहीं है। अरस्तू से

पहले एण्टीफोन आदि कुछ सोफिस्ट विचारकों ने मानवीय समानता के आधार पर इसका विरोध किया था, किन्तु अरस्तू ने रूढ़िवादी होने के कारण यह माना कि कुछ व्यक्तियों के लिए दास-प्रथा अधिक अच्छी और न्यायपूर्ण स्थि। है, उसने दास-प्रथा के औचित्य का समर्थन निम्नलिखित कारणों के आधार पर किया :

(१) यह प्रकृति की स्वाभाविक व्यवस्था और प्राकृतिक प्रथा है, क्योंकि प्रकृति में यह नियम सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है कि उत्कृष्ट (Superior) निकृष्ट पर शासन करता है (पालिटिक्स १।५)। आत्मा उत्कृष्ट है, वह निकृष्ट शरीर पर शासन करती है। पुरुष प्रकृत्या उच्चतर है, वह निम्नतर स्त्री पर शासन करता है। विषमता प्रकृति का नियम है। कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए। कुछ आज्ञा देने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ आज्ञा पालन के लिए। आज्ञा देने वाले स्वामी तथा पालन करने वाले दास होते हैं। शासक-शासित का यह भेद समग्र जड़-चेतन प्रकृति में व्याप्त है। मनुष्य समाज में जो व्यक्ति विवेक-शक्ति से शून्य है तथा केवल शारीरिक शक्ति रखता है, वह दास होता है तथा जो विवेक-शक्ति-सम्पन्न होता है, वह स्वामी होता है। अरस्तू का यह मत है कि "प्रकृति स्वतन्त्र पुरुष और दास के शरीरों में भेद करना चाहती है, अतः वह एक (अर्थात् दास) के शरीर को आवश्यक सेवाकार्यों के लिए बलवान् बनाती है तथा स्वतन्त्र पुरुष के शरीर को सरल और सीधा बनाती है और वह शारीरिक श्रम के लिए बेकार होता है।" (पालिटिक्स १।५)। इस प्रकार प्रकृति स्वामी और दास की न केवल मानसिक रचना में, किन्तु शारीरिक रचना में भेद करती है। मानसिक दृष्टि से दास विवेक-शक्ति से शून्य होते हैं, उनमें केवल इतनी ही बुद्धि होती है कि वे स्वामी की आज्ञाओं को समझ कर उन्हें क्रियान्वित कर सकें। शारीरिक दृष्टि से प्रकृति उन्हें सेवाकार्य करने के लिए शक्तिशाली और सुदृढ़ शरीर प्रदान करती है। शासक और शासित के प्राकृतिक नियम तथा विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ प्रदान करने की व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि दास-प्रथा प्राकृतिक (Natural) संस्था है।

(२) दास-प्रथा इस दृष्टि से भी न्यायोचित है कि यह स्वामी और सेवक दोनों के लिए तथा समाज के लिए लाभप्रद है (पालिटिक्स १।५)। विवेक-शक्तिसम्पन्न स्वामियों को दासों की आवश्यकता इसलिए है कि वे इनकी सहायता से अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास कर सकें। इनका विकास तभी हो सकता है, जब मनुष्य के पास अवकाश (Leisure) हो।[1] यह अवकाश उसे तभी मिल सकता है, जब दास

---

१. आजकल अवकाश का अर्थ निठल्लापन या खाली बैठना समझा जाता है किन्तु अरस्तू इसे निष्क्रियता नहीं, किन्तु एक विशेष प्रकार की क्रियाशीलता समझता है। वह मानवीय क्रियाओं को दो वर्गों में बाँटता है—(१) आवश्यक या उपयोगी क्रियायें (Necessary or useful activities)। ये अपने लिए नहीं, किन्तु जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए की जाती हैं, कोई व्यक्ति जमीन को इसलिए नहीं खोदता कि उसे खुदाई करनी है, अपितु खेती द्वारा अनाज पैदा करने के लिए ही वह जमीन खोदता है। (२) किन्तु कुछ क्रियायें अपने आपमें उपयोगी होती हैं इनसे मनुष्य को मानवीय सद्गुणों का तथा अपनी प्रकृति का विकास करने में सहायता मिलती है। मनुष्य की आर्थिक तथा भौतिक आवश्यकतायें पूरी करने के अतिरिक्त, सभी प्रकार की

उसकी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रम करें। अन्यथा उसे यह श्रम करना पड़ेगा, उसका सारा समय इसमें लग जाएगा और वह उत्तम जीवन के लिए आवश्यक गुणों का विकास नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार वीणा आदि वाद्ययंत्रों की सहायता के बिना उत्तम संगीत नहीं उत्पन्न हो सकता, उसी प्रकार दासों के बिना स्वामी के उत्तम जीवन का तथा बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास संभव नहीं है।

(३) दास-प्रथा इसलिए भी आवश्यक है कि यह दास के जीवन के विकास के लिए भी आवश्यक है। अरस्तू दास को विवेक-शक्तिशून्य प्राणी मानता है, उसकी स्थिति बच्चे की तरह है, यदि बालक को माँ-बाप का संरक्षण और प्रशिक्षण न प्राप्त हो तो उसका समुचित विकास नहीं हो सकता। यही दशा दास की है। जिस प्रकार बच्चा यह नहीं जानता कि उसे कितना खाना है और क्या करना है, यह अत्यधिक या अभक्ष्य भक्षण से और अकरणीय कार्यों से अपने को हानि पहुँचा सकता है, उसी तरह दास भी विवेक-शक्तिसम्पन्न न होने के कारण अपना अहित कर सकता है, अतः उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वामी के संरक्षण में रहे। इस विषय में अरस्तू ने पालतू जानवरों का दृष्टान्त दिया है (पालिटिक्स १।४)। मनुष्य के अनुशासन में रहने के कारण ये बहुत-सी अच्छी बातें सीख जाते हैं, जंगली जानवरों से अधिक अच्छे रहते हैं, क्योंकि इन्हें इसमें सुरक्षा की प्राप्ति होती है। यही बात दासों के विषय में लागू होती है। अतः दासों के हित की दृष्टि से यह प्रथा वांछनीय है।

दास-प्रथा का समर्थक होने पर भी अरस्तू ने इसके संबंध में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण मानवीय व्यवस्थायें की हैं कि इनसे दास-प्रथा द्वारा होने वाले अन्यायों का तथा इसके दूषणों का कुछ अंशों तक प्रतिकार हो जाता है।[1] उसकी **पहली** व्यवस्था यह है कि स्वामी और दास के हित समान हैं। इस प्रथा का उद्देश्य दोनों का हित करना है, अतः स्वामी को अपनी सत्ता और अधिकारों का कभी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। उसे दास के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। **दूसरी** व्यवस्था यह है कि दासों को मुक्त करने की आशा दी जाय। उसने स्वयमेव अपने जीवन में इस पर आचरण

क्रियाओं का समावेश अवकाश में होता है, इनके प्रमुख उदाहरण हैं—शासन करना, सार्वजनिक सेवा कार्य करना, साहस के गुण को विकसित करने वाली लड़ाइयों में भाग लेना, अन्य नागरिकों के साथ ऐसे सामाजिक सम्बन्ध बनाना, जिनसे, संयम, उदारता, मित्रता आदि के गुणों का विकास हो, शारीरिक व्यायाम की प्रतियोगिताओं, नाटकों तथा धार्मिक कार्यों में भाग लेना, विज्ञान और दर्शन का अध्ययन। फोस्टर ने लिखा है कि एथेन्सवासी नागरिक की क्रियाशीलता सबसे अधिक उन घड़ियों में होता है, जिन्हें वह सार्वजनिक असेम्बली, न्यायालय, नाटक घर, मन्दिर, युद्ध, अखाड़े अथवा दार्शनिक विद्यालयों में बिताता था, किन्तु इन्हें अवकाश का काल समझा जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि अवकाश का तात्पर्य निष्क्रियता नहीं, किन्तु जीवन को उत्तम बनाने वाले सभी कार्य हैं। (फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १७३-७५)। अवकाश के लिए यूनानी शब्द स्खोली (Schole) है, एथेन्स आदि नगर-राज्यों के युवक अपने अवकाश को अखाड़ों में तथा इनके पास सुन्दर निकुंजों में बने हुए प्लेटो, अरस्तू आदि के विद्यालयों में शारीरिक एवं मानसिक साधना करते हुए व्यतीत करते थे। अंग्रेजी का विद्यालयवाची स्कूल शब्द स्खोली से ही बना है।

१. रास—अरिस्टाटल, पृ० २४२।

किया था। यूनानी दार्शनिकों के जीवन की कहानियाँ लिखने वाले दियोजेनेस लाएर्त्तियस (Diogenes Laertius) के कथनानुसार उसने अपने वसीयतनामे द्वारा अनेक दासों को मुक्त किया था। **तीसरी व्यवस्था** उसकी यह धारणा थी कि दासता प्राकृतिक गुणों के कारण होती है, इसका कोई कानूनी आधार नहीं है, यह जन्ममूलक भी नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि दास का बेटा दास हो, यदि उसमें विवेक-शक्ति है तो वह दास नहीं है। वह स्वयमेव यह मानता है कि गुणों के आधार पर दास-अदास में भेद करना कई बार बहुत कठिन होता है। दास-प्रथा को गुणमूलक बना कर उसने इसकी उग्रता और कठोरता को बहुत कम कर दिया है।

उसकी **चौथी** महत्वपूर्ण व्यवस्था यह है कि युद्ध में विजयमात्र से किसी व्यक्ति को दास नहीं बनाया जा सकता (पालिटिक्स १।६)। प्राचीन काल में युद्धबंदियों को गुलाम बनाने की कुप्रथा प्रचलित थी। अरस्तू ने सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका विरोध किया है। वह विजेता को विजितों को दास बनाने का अधिकार देने वाली रूढ़ि को तथा इस प्रकार प्रचलित होने वाली कानूनी दासता (Legal slavery) को अमान्य ठहराता है। उसका यह मत है कि युद्ध में जीतने वाला अधिक शक्तिशाली अवश्य होता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अधिक गुणों वाला तथा उत्कृष्ट विवेक वाला हो। युद्ध में ऐसे व्यक्ति भी पकड़े जा सकते हैं, जो नैतिक और बौद्धिक गुणों की दृष्टि से इन्हें बन्दी बनाने वाले व्यक्तियों से उत्कृष्ट हों। ऐसे व्यक्ति दास नहीं बनाये जाने चाहिएं। इन्हें दास बनाने वाली व्यवस्था मान्य नहीं हो सकती। कई बार युद्ध अन्यायपूर्ण कारणों से छेड़ा जाता है, ऐसे युद्ध में बन्दियों को दास बनाना सर्वथा अनुचित और अन्यायमूलक है। उसकी **पाँचवीं** व्यवस्था यह है कि यूनानियों को दास नहीं बनाया जा सकता, केवल बर्बर (यूनानियों से भिन्न) जातियों के व्यक्ति ही दास हो सकते हैं। यूनानी विद्या और बुद्धि की दृष्टि से अपने को अन्य जातियों से बहुत उत्कृष्ट समझते थे और उत्कृष्ट गुणों वाले व्यक्तियों को अरस्तू दास होने योग्य नहीं मानता।[1]

---

१. पहले (पृ० १४१) प्लेटो द्वारा यूनानियों को दास बनाने के विरोध का उल्लेख किया जा चुका है। कौटिल्य ने (३।१३) भी इसी प्रकार की व्यवस्था करते हुए कहा है कि यदि म्लेच्छ अपनी सन्तान को बेचते हैं या गिरवी रखते हैं तो इसमें कोई दोष नहीं है, किन्तु आर्य को इस प्रकार दास नहीं बनाया जा सकता (३।१३ म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः।) इसके बाद वह शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण के नाबालिग बच्चों को बेचने या बन्धक रखने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। पारिवारिक अर्थसंकट में आर्यों को भी अपने बच्चे गिरवी रखने का अधिकार देता है।

यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में ३०५ ई० पू० के बाद आने वाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने लिखा था (मिक्रिंडल—एंशेण्ट इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़, पृ० ७१) कि भारत में दास नहीं रखे जाते, किन्तु उसका यह कथन विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। प्राचीन भारत में वैदिक काल से दास-प्रथा प्रचलित थी (इसके लिए देखिये देवराज चानना—स्लेवरी इन एंशेण्ट इंडिया, नई दिल्ली १९६०, हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, खं० २, भाग १, पृ० १८०-८७)। यहाँ केवल अरस्तू के कुछ समय बाद होने वाले कौटिल्य की दास-प्रथा सम्बन्धी कुछ व्यवस्थाओं का उल्लेख किया जायगा। उसने निम्न प्रकार के दासों का उल्लेख किया है—ध्वजाहृत (युद्ध में पकड़े हुए), आत्मविक्रयी (आर्थिक कारणों आदि से विवश होकर स्वयमेव अपने को बेचने वाले),

अरस्तू द्वारा दास-प्रथा का उपर्युक्त समर्थन बड़ा अयुक्तियुक्त और अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यह मानवीय समानता और स्वतन्त्रता के आजकल सर्वत्र सत्य माने जाने वाले मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। रास (Ross) के मतानुसार (अरिस्टाटल, पृ० २४२) अरस्तू का मानव जाति को गुणों के तथा शासक-शासित के आधार पर दो वर्गों में बाँटने के विचार का समर्थन नहीं किया जा सकता। मनुष्यों के नैतिक

उदरदास या गर्भदास (दास द्वारा दासी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान), आहितिक (ऋण उतारने के लिए अपने को गिरवी रखने वाला), दण्डप्रणीत (राजाज्ञा द्वारा जुर्माना अदा करने के लिए बनाया गया दास)। (मिलाइये मनु० ८।४१५)।

अरस्तू की भाँति कौटिल्य ने भी दास-प्रथा के सम्बन्ध में कुछ उदार व्यवस्थायें अर्थशास्त्र के दासकर्मकरकल्प (३।१३) नामक अधिकरण में की हैं और इनसे दास-प्रथा की भीषणता को बहुत मर्यादित किया है। इन व्यवस्थाओं में ये उल्लेखनीय हैं—(१) दास-प्रथा का पूरा उन्मूलन तो असम्भव था, किन्तु उसने इसे सीमित करने के लिए यह प्रतिबन्ध लगाया कि अपना विक्रय करने वाले दास की सन्तान दास नहीं, किन्तु स्वतन्त्र (आर्य) रहेगी (३।१३ आत्मविक्रयिणः प्रजामार्यां विद्यात्)। (२) दास अपना मोचन धन (निष्क्रय) देकर स्वतन्त्र हो सकते थे। इस प्रकार उन्हें मुक्त न करने वाले को उसने बारह पण के दण्ड की व्यवस्था की है (दासमनुरूपेण निष्क्रयेणार्यमकुर्वतो द्वादशपणो दण्डः)। (३) यदि कोई स्वामी अपने बन्धक रखे दास से मुर्दा, मलमूत्र या जूठन उठवाता है, दासियों द्वारा नंगे पुरुषों को स्नान कराता है, उन्हें पीटता है, उनके साथ व्यभिचार करता है तो वह बन्धक के लिए दिये गये धन से वंचित हो जायगा। यदि स्वामी इस प्रकार का दुर्व्यवहार धाय, नौकरानी, आधे हिस्से पर खेत देकर मिलने वाले अन्न से जीविका चलाने वाली (अर्धसीतिका), उपचारिका (पंखा आदि झलने वाली दासी) के साथ करे तो वे स्त्रियाँ दासभाव से मुक्त हो जायेंगी (प्रेतविण्मूत्रोच्छिष्टग्राहणमाहितस्य नग्नस्नापने दण्डप्रेषणमतिक्रमणं च स्त्रीणां मूल्यनाशकरम्। धात्रीपरिचारिकार्धसीतिकोपचारिकाणां च मोक्षकरम्।) (४) जुर्माना अदा न करने या भयंकर अपराध के लिए दण्डित होने के कारण जो व्यक्ति दास बना हो, वह जुर्माना अदा करने या सजा भोग लेने पर स्वतन्त्र हो जाता था। (५) यद्यपि मनु (८।४१६, मि० महाभारत उद्योग पर्व ३३।६४, नारद अभ्युपेत्यशुश्रूषा श्लोक ४१) दास को कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं देता, किन्तु कौटिल्य स्वयमेव (अपने परिश्रम से) प्राप्त (आत्माधिगत) एवं स्वामी के कार्य को हानि न करके कमायी गई सम्पत्ति पर तथा पैतृक सम्पत्ति पर दास का अधिकार स्वीकार करता है। यह उसकी बड़ी महत्वपूर्ण व्यवस्था है। (६) आर्य जाति के आचरण वाला जो व्यक्ति युद्ध में बन्दी बना हो, वह भी कर्म और काल के अनुरूप धन देकर या बन्दी होने के समय उस पर जो खर्च पड़ा हो, उसका आधा मूल्य देकर स्वतन्त्र हो सकता है। (आर्यप्राणो ध्वजाहृतः कर्मकालानुरूपेण मूल्यार्धेन वा विमुच्येत।)

कौटिल्य की दासविषयक व्यवस्थायें अरस्तू की व्यवस्थाओं की अपेक्षा दो कारणों से अधिक उत्कृष्ट हैं। पहला कारण तो यह है कि उसने दास-प्रथा को अरस्तू की भाँति न्यायोचित और आवश्यक सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। दूसरा कारण यह है कि उसका उद्देश्य विभिन्न उपायों से अधिक-से-अधिक दासों को मुक्त करना है। दास-दासियों के साथ स्वामी का दुर्व्यवहार उन्हें स्वतन्त्र बना देता था। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि भारत में दासों के साथ उस समय की यूनान के दासों की अपेक्षा अधिक उत्तम व्यवहार होता था। संभवतः इसी कारण मैगस्थनीज़ को यह भ्रान्ति हो गई थी कि भारत में दास नहीं रखे जाते। (चानना—स्लेवरी इन एंशेण्ट इंडिया, पृ० १८२)।

और बौद्धिक गुणों में अन्तर अवश्य होता है, किन्तु इसके आधार पर कुछ व्यक्तियों को शासक बनाना और कुछ को शासित बनाना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अरस्तू जिन्हें विवेक-शक्तिरहित होने के कारण शासित मानता है, वे वस्तुतः बुद्धिशून्य नहीं होते। वह स्वयमेव यह मानता है कि इनमें स्वामी के आदेश समझने और पालन करने की बुद्धि होनी चाहिए, उसका यह भी कहना है कि दास दास के रूप में नहीं, किन्तु मनुष्य के रूप में अपने स्वामी का मित्र हो सकता है। मनुष्य होने के कारण उसमें विवेक, बुद्धि आदि गुण अवश्य होंगे। अतः उसे इनसे रहित समझते हुए मनुष्यों का दो भागों में वर्गीकरण सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक है तथा इसके आधार पर दास-प्रथा को न्यायोचित ठहराना सर्वथा अयुक्तियुक्त है। बार्कर ने यह सत्य ही लिखा है—"यदि दास को किसी दृष्टि से मनुष्य समझा जाता है तो उसे सभी दृष्टियों से मानव मानना चाहिए और यदि उसे मनुष्य मान लिया जाय तो यह उसे पूर्णरूप से विवेक-बुद्धि-शून्य दास मानने की उस धारणा का खण्डन करता है, जिसके आधार पर अरस्तू ने उसे दास बनाये रखना न्यायोचित ठहराया है।"[1] अरस्तू ने स्वयमेव इसकी व्यावहारिक कठिनाइयों को स्वीकार किया है। वह कोई ऐसी सुनिश्चित या प्रामाणिक कसौटी नहीं बताता, जिसके आधार पर यह तय किया जा सके कि कौन-सा व्यक्ति प्राकृतिक रूप से दास माना जाय और उसे पशुओं के तुल्य दर्जा दिया जाय।

वस्तुतः दास-प्रथा के संबंध में अरस्तू ने अपने यथार्थवाद के कारण मध्यमार्ग का अवलम्बन किया है। उस समय यूनान में एक ओर ऐसे विचारक थे, जो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से दासों को रखना, इन्हें युद्धों में पकड़ कर बन्दी बनाना सर्वथा न्यायोचित समझते थे। दूसरी ओर सोफिस्टों का यह मत था कि स्वतंत्रता प्रत्येक प्राणी का जन्मसिद्ध अधिकार है, दासों की व्यवस्था समाज में नहीं होनी चाहिए। किन्तु यदि इसका उन्मूलन कर दिया जाता तो समूची यूनानी अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती। उस समय मशीनों के अभाव में सामुद्रिक और औद्योगिक राज्यों में आर्थिक उत्पादन का सारा कार्य दास करते थे। पहले (पृ० १४१) बताया जा चुका है कि इनकी संख्या कोरिन्थ में ४,६०,०००, एजिना (Aegina) में ४,७०,००० तथा एट्टिका में ३०९ ई० पू० की जनगणना के अनुसार ४ लाख थी। इन दासों के श्रम के कारण ही नागरिकों को अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास का तथा शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर मिलता था। अतः अरस्तू इस प्रथा के समूलोन्मूलन के पक्ष में नहीं था। फिर भी उसने युद्धों द्वारा दास बनाने की प्रथा का विरोध किया, इसी तरह कानूनी (Legal) अथवा परम्परागत दास-प्रथा का विरोध किया और इसे केवल नैतिक आधार पर ही न्यायोचित ठहराया, क्योंकि उसकी दृष्टि में विवेकशून्य दास अपने स्वामी का वशवर्त्ती रहने से उसके नैतिक गुणों और योग्यताओं से लाभ उठाता है।

सम्पत्ति और परिवार—इन्हें अरस्तू मानव समाज के लिए आवश्यक संस्थायें मानता है। प्लेटो राज्य के संरक्षकों के लिए इनका उन्मूलन करना चाहता है, किन्तु अरस्तू इसका घोर विरोधी है। उसके इस विरोध के देखने से पहले सम्पत्ति के विषय में अरस्तू के विचार जान लेने चाहिएं। उसने पालिटिक्स की प्रथम पुस्तक के ८वें से ११वें

१. बार्कर—दी पोलिटिकल थाट ऑफ प्लेटो एण्ड अरिस्टाटल (१९०६), पृ० ३६६।

अध्याय तक इस विषय का विशद विवेचन किया है। उसके मतानुसार सम्पत्ति का उद्देश्य जीवन की आवश्यकतायें पूरी करना है। ये आवश्यकतायें निम्न प्रकार की वृत्तियों से पूरी की जाती हैं— पशुपालन, शिकार, डकैती, मछलियाँ पकड़ना, खेती और व्यापार। मनुष्यों की सबसे अधिक संख्या अपनी जीविका कृषि से प्राप्त करती है। इसे अरस्तू सर्वश्रेष्ठ मानता है। वह धनोपार्जन के दो स्वरूप मानता है— प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक। प्राकृतिक स्वरूप का अर्थ है मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला धनोपार्जन। उसके मत में सम्पत्ति "उन साधनों (Instruments) के समूह का नाम है, जिनका घर या राज्य में प्रयोग होता है।" सम्पत्ति साधन है, उनका उद्देश्य आवश्यकतायें पूरी करना है, अतः उसका उत्पादन उसी सीमित मात्रा तक होना चाहिए जहाँ तक हमारी आवश्यकतायें पूरी हो सकें, क्योंकि साधन का स्वरूप सदैव इसके कार्यों से सीमित होता है। उदाहरणार्थ, हथौड़ा लोहा कूटने-पीटने का एक साधन है, उसे अपना कार्य ठीक तरह करने के लिए भारी होना चाहिए, किन्तु उसी सीमा तक भारी होना चाहिए, जहाँ तक वह अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सके। यही दशा सम्पत्ति की है, वह उसी सीमा तक होनी चाहिए, जहाँ तक वह हमारी आवश्यकतायें पूरी कर सके। यही प्राकृतिक धनोपार्जन है। किन्तु जब इसमें सीमा का कोई विचार नहीं रखा जाता, तब सम्पत्ति साधन नहीं, किन्तु साध्य बन जाती है। यह प्रवृत्ति विनिमय के साथ शुरू होती है, मुद्रा का प्रचलन होने पर व्यापार की वृद्धि के साथ बढ़ने लगती है। अरस्तू व्यापार को उसी हद तक अच्छा मानता है, जहाँ तक इसका लक्ष्य जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का प्राप्त कराना है। किन्तु जब इसका लक्ष्य केवल धन कमाना और अपरिमित सम्पत्ति संग्रह करना हो तो यह नितान्त अप्राकृतिक और निन्दनीय हो जाता है। सूदखोरी को वह इसी दृष्टि से जघन्य मानता है, क्योंकि इसमें रुपये द्वारा अपनी आवश्यकता पूरी नहीं की जाती, किन्तु दूसरे की बेबसी और गरीबी का लाभ उठाते हुए पैसे द्वारा अधिक पैसे को पैदा किया जाता है। अरस्तू के शब्दों में "वित्तोपार्जन का सब से अधिक घृणित उपाय सूद लेना है और इसका घृणिततम होना नितान्त युक्तिसंगत है, क्योंकि इसमें मुद्रा का उपयोग करने वाली विनिमय की पद्धति से लाभ कमाने के स्थान पर स्वयं मुद्रा से ही लाभ प्राप्त किया जाता है। मुद्रा का प्रचलन विनिमय के साधन के रूप में हुआ था, न कि सूद के द्वारा धन बढ़ाये जाने के लिए।···अतएव धन कमाने के उपायों में सूद लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक उपाय है।"[1]

---

१. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० ११५।

भारत में वसिष्ठ (२।४१-४२) तथा बौधायन धर्मसूत्र (१।५।९३।९४) ने अत्यधिक सूद लेने वाले (वार्धुषिक) की निन्दा करते हुए इसे ब्राह्मण की हत्या से भी जघन्य कार्य तथा महापाप माना है। "जो व्यक्ति सस्ता अनाज इस शर्त पर उधार देता है कि वह ऊँचे दाम पर इसे वापिस लेगा, वह वार्धुषिक है और ब्रह्मवादियों में निन्दित समझा जाता है। ब्रह्महत्या और सूदखोरी को तुला में तोला गया, ब्रह्महत्या वाले का पलड़ा ऊपर उठ गया और सूदखोर काँपने लगा (समर्घं धान्यमुद्धृत्य महार्घं यः प्रयच्छति। स वै वार्धुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः॥ ब्रह्महत्यां च वृद्धिं च तुलया समतोलयत। अतिष्ठत् भ्रूणहा कोट्यां वार्धुषिः समकम्पत॥) किन्तु भारतीय विचारकों

डनिंग ने अरस्तू के सम्पत्तिविषयक विचारों का मूल्यांकन करते हुए लिखा[1] है कि उसने उत्पादन और विनिमय के आरम्भिक विचारों को स्पष्टता के साथ रखा है, मुद्रा के प्रधान प्रयोजन का वर्णन बड़े सुन्दर रूप में किया है, किन्तु वह पूँजी के महत्त्व को नहीं समझ सका, अतः सूद के सम्बन्ध में उसका विचार बड़ा बेहूदा है। इसके साथ ही उसका दूसरा दोष डकैती को जीविकोपार्जन की स्वाभाविक वृत्ति मानना है। इसका मुख्य कारण **प्रकृति** (Nature) शब्द के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति है। अरस्तू राजनीतिशास्त्र के आरम्भ (१।२।८) में इसका प्रयोग बड़े सुनिश्चित अर्थ में करता है—यह सब योग्यताओं के पूर्ण विकास की स्थिति है (A condition of perfect development of all potentialities); किन्तु पहली पुस्तक के अन्त में वह इसका प्रयोग एक आरम्भिक अविकसित दशा के लिए करता है। एक ओर उसने मनुष्य को प्रकृति से राजनीतिक प्राणी कहा है क्योंकि उसकी योग्यताओं का पूर्णतम विकास राज्य में संभव है, दूसरी ओर वह डकैती को वित्तोपार्जन का प्राकृतिक उपाय इसलिए कहता है कि यह प्राकृतिक अर्थात् अविकसित और जंगली जातियों में पाया जाता है।

सम्पत्ति के उत्पादन और विनिमय के अतिरिक्त उसने वितरण के सम्बन्ध में भी सुन्दर विवेचन किया है। वस्तुतः समाज में धन के दूषित वितरण ने ही आर्थिक विषमता, धनी-निर्धन का भेद, भीषण असंतोष और साम्यवाद आदि क्रान्तिकारी विचारधाराओं को उत्पन्न किया है। इसके सम्बन्ध में अरस्तू ने (पालिटिक्स २।५) तीन प्रकार की वैकल्पिक व्यवस्थाओं का वर्णन किया है—(१) भूसम्पत्ति **वैयक्तिक** हो किन्तु इसका उपयोग **सामूहिक** हो, सब लोग इसका समान रूप से उपभोग कर सकें। (२) सम्पत्ति **सामूहिक** हो, पर इसका उपभोग **वैयक्तिक** हो। (३) सम्पत्ति **सामूहिक** हो, इसका उपभोग भी **सामूहिक** हो। अरस्तू इन तीनों में से पहले विकल्प के पक्ष में है। वह प्लेटो की सम्पत्ति को सामूहिक बनाने की साम्यवादी व्यवस्था का उग्र विरोधी है, आगे इसका उल्लेख होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह सम्पत्ति को वैयक्तिक रखते हुए इसका उपयोग समाज की भलाई के लिए करना चाहता है।[2] उसका सिद्धान्त है—व्यक्तौ स्वाम्यं, भोगे साम्यम्। उसके मतानुसार धनियों को अपना धन सार्वजनिक कार्यों में लगाना चाहिए, उनके पुस्तकालय, चित्रशालायें, उद्यान साधारण जनता के लिए खुले होने चाहियें।

रास[3] के शब्दों में अरस्तू इस दृष्टि से साम्यवादी (Socialist) है कि राज्य

ने अरस्तू की भाँति सूदखोरी मात्र को निन्दित नहीं ठहराया, सीमित मात्रा में सूद लेना धर्मानुकूल ठहराया है। अधिकांश धर्मशास्त्र ब्याज की धर्मानुकूल दर २% प्रति मास या १५% वार्षिक समझते हैं (गौतम धर्मसूत्र १२।२९-३०, वसिष्ठ धर्मसूत्र २।५१, मनुस्मृति ८।१४०-१४१, नारद १।९९, १००)। अरस्तू के दृष्टिकोण का मध्यकाल में बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, इससे ईसाइयत और इस्लाम में सूदखोरी पाप समझा जाता रहा है।

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियरीज, खं० १, पृ० ६१।

२. वार्कर—पालिटिक्स, पृ० ४९।

३. रास—अरिस्टाटल, पृ० २४५-६।

उद्योग-धन्धों का अधिक अच्छा संगठन सार्वजनिक हित की दृष्टि से करे, क्योंकि वह व्यष्टिवाद (Individualism) की मुक्तद्वार नीति (Laissez faire) का विरोधी है। पहले बताया जा चुका है कि उसकी दृष्टि में राज्य का कार्य नागरिकों को सद्गुणी बनाना (पृ० १६१), तथा उसकी भलाई का भावात्मक कार्य करना है, न कि उन्हें मनमाना कार्य करने की खुली छूट देना है। किन्तु इस अर्थ में व्यष्टिवादी न होते हुए भी अरस्तू इस दृष्टि से व्यष्टिवादी है कि वह वैयक्तिक सम्पत्ति को आवश्यक समझता है और इसका उच्छेद नहीं करना चाहता।

अरस्तू वैयक्तिक सम्पत्ति को बनाये रखने के पक्ष में वर्त्तमान पूँजीवादियों का यह प्रधान तर्क उपस्थित नहीं करता कि यदि मनुष्यों को अपने परिश्रम से कमायी सम्पत्ति पर वैयत्तिक अधिकार दिया जायगा तो वे इसे बढ़ाने की लालसा से अधिक परिश्रम करेंगे, किन्तु यदि इसका लाभ सार्वजनिक कोष में जाना हो तो उनका उत्साह मन्द पड़ जायग', वे अधिक परिश्रम नहीं करेंगे। अरस्तू को यह तर्क स्वीकार नहीं है क्योंकि वह जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अपेक्षित धन से अधिक द्रव्य की प्राप्ति निन्दनीय समझता है। वैयक्तिक सम्पत्ति को बनाये रखने के पक्ष में उसका सबसे बड़ा तर्क यह है कि यह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक तथा स्वाभाविक है। यह उसे आनन्द प्रदान करती है, उसमें परोपकार, दया, दाक्षिण्य, उदारता आदि सद्गुणों का विकास करती है (पालिटिक्स २।५)। परिवार का भी वह इसी आधार पर समर्थन करता है और इसीलिए वह प्लेटो के साम्यवाद का विरोधी है।

अरस्तू द्वारा प्लेटो के आदर्श राज्य की आलोचना—उपर्युक्त कारणों से वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार का समर्थक होने के कारण अरस्तू ने इसकी अवहेलना करने वाले अपने गुरु प्लेटो के आदर्श राज्य की आलोचना की है। यह आलोचना मुख्य रूप से तीन सिद्धान्तों की है—(क) राज्य की एकता, (ख) साम्यवादी परिवार की प्रथा का अन्त करना, (ग) वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना।

(क) **राज्य की एकता** के बारे में प्लेटो का यह मत था कि यह जितनी अधिक होगी, राज्य उतना सुदृढ़ होगा। किन्तु अरस्तू का यह कहना है कि राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति है। ये आवश्यकतायें विभिन्न प्रकार की होती हैं, अतः इनकी पूर्त्ति के लिए राज्य में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का रहना आवश्यक होता है। अतः राज्य का स्वरूप एकता (Unity) का नहीं, किन्तु वहुत्व (Plurality) का है। यदि राज्य में पूर्णरूप से एकता स्थापित की जायगी तो राज्य की विभिन्नता का विनाश हो जायगा, वह न तो आत्मनिर्भर होगा और न अपने सदस्यों की आवश्यकतायें पूरी कर सकेगा। एकता को अत्यधिक बढ़ाने से इस बात की संभावना है कि बहुत्व के आधार पर प्रतिष्ठित, विविध आवश्यकताओं को पूरा करने वाले राज्य के अस्तित्व का ही अन्त हो जाय।

(ख) **वैयक्तिक परिवार को समाप्त करने की प्लेटो की योजना की आलोचना**—पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो वैयक्तिक परिवार को स्वार्थपरता का मूल मानते हुए इसका उच्छेद करके दार्शनिक शासकों का स्त्रियों पर ऐसा सामूहिक स्वत्व स्थापित करना चाहता है, जिसमें बच्चे राज्य द्वारा पाले जायं और अवस्थानुसार एक आयु के सभी पुरुष और स्त्रियाँ उनके माता-पिता, भाई-बहिन समझे जायं

(देखिये ऊपर पृ० ११८-९)। अरस्तू निम्न कारणों के आधार पर इसकी आलोचना करता है[1]—(१) परिवार मानव समाज की प्राकृतिक, स्वाभाविक और आवश्यक व्यवस्था है। राज्य का मूल बीज रूप में परिवार में ही निहित है। पहले (पृ० १५६) बताया जा चुका है कि आरम्भ में परिवार था, परिवारों के समूह से ग्राम बना और ग्रामों के समूह से राज्य। राज्य प्लेटो की दृष्टि में व्यक्तियों का समूह है, किन्तु अरस्तू इसे परिवारों का समूह मानता है। जिस परिवार-संस्था से राज्य का निर्माण होता है उसका राज्य से कैसे लोप हो सकता है। (२) मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए जिस प्रकार सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, वैसे ही परिवार भी आवश्यक है। (३) परिवार नैतिक गुणों के विकास की दृष्टि से आवश्यक है। इसमें व्यक्ति उदारता स्वार्थ त्याग, परोपकार, संयम आदि के सद्गुणों का विकास करता है। बच्चे और दास इसी में रहते हुए अपना समुचित विकास करते हैं और समाज के उपयोगी अंग बनते हैं। (४) प्लेटो यह समझता है कि राज्य जब विशाल परिवार बनेगा तभी उसमें 'मेरे-तेरे' के सब झगड़े मिट जायेंगे, राज्य-वासियों में प्रेम बढ़ेगा। इस समय विशेष स्त्री-पुरुष विशिष्ट बच्चों के माता-पिता हैं, वैयक्तिक परिवार न रहने पर सब छोटे बच्चे राज्य की बड़ी आयु के व्यक्तियों के पुत्र समझे जायेंगे। अरस्तू ने इस व्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हुए कहा है कि इस प्रकार अनेक व्यक्तियों की सन्तान होने पर पुत्र को वह प्रेम और संरक्षण नहीं मिलेगा, जो आजकल वैयक्तिक परिवार में बच्चे को अपने माँ-बाप से मिलता है। प्रेम का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है, उसकी गहराई तथा प्रगाढ़ता की मात्रा उतनी ही कम हो जाती है। जो सब का बच्चा होता है, वह किसी से भी अधिक स्नेह प्राप्त नहीं कर सकता। प्लेटो की व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक के हजार बच्चे होंगे, और प्रत्येक बच्चे के हजार पिता होंगे। इनमें कभी वैसा प्रेम नहीं हो सकता जैसा वैयक्तिक परिवार के माता-पिता में होता है। अरस्तू ने इस स्थिति पर क्रूर व्यंग्य करते हुए लिखा है—"प्लेटो की पद्धति के अनुसार किसी का पुत्र होने की अपेक्षा किसी व्यक्ति का वास्तविक चचेरा भाई होना अधिक अच्छा है।"[2] क्योंकि इसे औरस सन्तान न होने पर भी परिवार में जितना स्नेह, दुलार, संरक्षण और सुरक्षा प्राप्त होती है, उतनी प्लेटो के बेटे को कभी नहीं मिल सकती। अरस्तू के मतानुसार राज्य की शिशुशालायें और धायें, माँ-बाप और परिवार का स्थान नहीं ले सकतीं।

(ग) **आर्थिक साम्यवाद की आलोचना**—प्लेटो को साम्यवाद की आलोचना में अरस्तू ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं[3]—(१) सम्पत्ति के सामूहिक होने की व्यवस्था में जो व्यक्ति कठोर परिश्रम करने वाले होंगे, उन्हें यह शिकायत होगी कि उन्हें अपने परिश्रम के अनुपात में कम प्रतिफल मिलता है और कम परिश्रम करने वालों को अधिक मिलता है। (२) मनुष्य तभी अधिक क्षमता, परिश्रम, तन्मयता तथा अभिरुचि के साथ कार्य करते हैं, जब उन्हें वैयक्तिक लाभ की प्राप्ति की संभावना होती है। सामूहिक लाभ की दृष्टि से किये जाने वाले कार्यों में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं होती, वे इसके लिए कोई

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ४०-४५।
२. पालिटिक्स, २।३, बार्कर की पालिटिक्स, पृ० ४५।
३. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ४८-५५।

परिश्रम नहीं करना चाहते। (३) सामूहिक सम्पत्ति और सामूहिक उपभोग सब प्रकार के झगड़ों की जड़ होते हैं। यह कहावत प्रसिद्ध है कि सांझे की हंडिया चौराहे पर ही फूट जाती है। (४) वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य को बड़ा आनन्द और गर्व प्रदान करती है। (५) वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण समाज में जो झगड़े उत्पन्न होते हैं, उनका कारण सम्पत्ति का वैयक्तिक होना नहीं, किन्तु मानवीय प्रकृति की दुष्टता है। शिक्षा द्वारा यदि मानवीय प्रकृति को सुधार दिया जाय तो ये झगड़े उत्पन्न नहीं होंगे। (६) प्लेटो यदि साम्यवाद को अच्छा समझता है तो वह इसे राज्य के शासक और सैनिक वर्ग तक ही क्यों सीमित करता है। इसे उत्पादक एवं कृषक वर्ग पर क्यों नहीं लागू करता! (७) वैयक्तिक सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले आनन्द से शासक वर्ग को वंचित रखना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। जब दूसरे वर्ग उससे आनन्द प्राप्त कर रहे हों, तो राज्य को सुखी बनाने के नाम पर उनसे अपने सुख का बलिदान कराना ठीक नहीं है। (८) इतिहास और मानव जाति का पुराना अनुभव प्लेटो के साम्यवाद का पोषक नहीं है। यदि इस सिद्धान्त में कुछ अच्छाई होती तो यह व्यवस्था इतिहास में कहीं-कहीं अवश्य पायी जाती।

अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद के विरुद्ध दिये तर्कों का सारांश यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का साधन है, उसके आनन्द का स्रोत है और उसे अनेक उत्तम एवं नैतिक कार्य करने का अवसर प्रदान करती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता तथा योग्यताओं का विकास करने के लिए कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति अवश्य मिलनी चाहिए, यदि उसे यह न दी जाय तो उसका विकास अवरुद्ध होगा तथा अन्ततोगत्वा इससे राज्य को हानि उठानी पड़ेगी। यदि वैयक्तिक सम्पत्ति झगड़े पैदा करती है तो इसका कारण मानवीय प्रकृति में स्वार्थपरता का बद्धमूल होना है। राज्य को शिक्षा द्वारा इस स्वार्थ बुद्धि का सुधार करना चाहिए, न कि उपर्युक्त लाभ पहुँचाने वाली वैयक्तिक सम्पत्ति का ही अन्त करना चाहिए।

अरस्तू की इस आलोचना में कई दोष हैं। **पहला** दोष यह है कि अरस्तू यह मान कर चलता है कि प्लेटो का साम्यवाद सब लोगों के लिए है, वस्तुतः वह केवल सैनिक और शासक वर्ग तक ही सीमित है। **दूसरा** दोष यह है कि अरस्तू का यह कथन ठीक नहीं कि साम्यवाद की व्यवस्था इतिहास में पहले कभी कहीं प्रचलित नहीं रही। पहले इसके प्रचलन के कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं (देखिये ऊपर पृ० १११)। **तीसरा** दोष अरस्तू द्वारा साम्यवाद को अत्यधिक महत्व देना है। वस्तुतः प्लेटो मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए शिक्षा की आदर्श व्यवस्था प्रस्तुत करता है, दार्शनिक शासकों को पचास वर्ष तक दी जाने वाली शिक्षा द्वारा ही उनके नैतिक अधःपतन को रोकना चाहता है। शिक्षा इसकी मुख्य महौषधि है और साम्यवाद पूरक अथवा आनुषंगिक औषधि। अरस्तू ने इसे गलती से मुख्य मान लिया है। ऐसी गलतियों को ध्यान में रखते हुए प्लेटो तथा अरस्तू के ग्रन्थों के प्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवादक जोवेट (Jowett) ने लिखा है कि "प्लेटो की रिपब्लिक तथा लाज़ पर अरस्तू की आलोचनायें भ्रान्तियों तथा असंगतियों से भरी हुई हैं।"

अरस्तू ने प्लेटो के आदर्श राज्य की इस दृष्टि से भी आलोचना की है कि उसमें संरक्षकों तथा सैनिकों के अतिरिक्त तीसरे उत्पादक वर्ग की घोर उपेक्षा की गयी है,

उनके लिए कोई शिक्षा-पद्धति निश्चित नहीं की गई है, राज्य में उनकी स्थिति पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। क्या प्लेटो के इस वर्गीकरण से राज्य दो विरोधी दलों में नहीं बँट जायगा। किन्तु यह आलोचना अरस्तू पर भी लागू होती है, क्योंकि उसने अपना राज्य नागरिक तथा अनागरिक नामक दो वर्गों में बाँट दिया है।

नागरिकता (Polites)—राज्य (Polis) नागरिकों (Politai) का समुदाय (Koinonia) है। किन्तु नागरिक किसे कहते हैं ? अरस्तु ने अपनी विश्लेषण पद्धति द्वारा इसका उत्तर पालिटिक्स की तृतीय पुस्तक में दिया है। पहले उसने इस विषय में तीन मतों का खंडन किया है : (क) नागरिकता (पोलीतीस) किसी विशेष राज्य या स्थान में निवास से नहीं मिल सकती, यदि ऐसा होता तो किसी राज्य में रहने वाले विदेशी व्यापारी और दास भी उसके नागरिक समझे जाते। (ख) किसी पर अभियोग चलाने का अधिकार रखने वाले व्यक्ति भी नागरिक नहीं कहला सकते क्योंकि संधि द्वारा यह अधिकार विदेशियों को भी दिया जा सकता है। (ग) नागरिक की सन्तान होने से भी कोई व्यक्ति नागरिक नहीं बन जाता[1] क्योंकि यह लक्षण पुराने राज्यों के विषय में तो ठीक हो सकता है, किन्तु नये राज्यों के आरम्भिक नागरिकों पर लागू नहीं हो सकता। अतः नागरिकता का निर्धारण निवास, कानूनी अधिकार या जन्म द्वारा नहीं होता। अरस्तू के मतानुसार वह व्यक्ति नागरिक है जो **"स्थायी रूप से न्याय के प्रशासन में तथा राजकीय पदों के ग्रहण करने में भाग लेता है।"** लोकतन्त्र के लिए वह इस लक्षण को कुछ अधिक स्पष्ट बनाते हुए कहता है कि वह व्यक्ति नागरिक है जो राज्य के न्याय संबंधी तथा (कानून पर) विचार संबंधी कार्यों में कुछ समय के लिए भाग लेता है।

अरस्तू की यह परिभाषा यूनानी राज्यों की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार है। उदाहरणार्थ, एथेन्स में शासन संबंधी मामलों पर विचार करने के लिए इक्लेसिया (Ecclesia) नामक सभा होती थी और १८ वर्ष का वयस्क नागरिक इसका सदस्य होता था, तथा न्याय कार्य के लिए ३० वर्ष की या इससे अधिक अवस्था वाले नागरिकों की हेलिया (Heliaea) नामक सभा होती थी। अरस्तू के मतानुसार इन दोनों सभाओं के कार्यों में भाग लेने वाला, न्याय और शासन में प्रत्यक्ष भाग लेने वाला व्यक्ति ही नागरिक कहला सकता है। अरस्तू का नागरिक का विचार वर्तमान विचार से बहुत भिन्न है। उसका नागरिक वर्तमान नागरिक की भाँति चुनाव के समय वोट डालने वाला नहीं है; किन्तु शासन के कार्यों में वास्तविक भाग लेने वाला, बारी-बारी से शासक तथा शासित बनने वाला, न्याय और कानून निर्माण के कार्यों में भाग लेने वाला व्यक्ति है। ऐसा भाग वही व्यक्ति ले सकते हैं, जिनके पास पर्याप्त अवकाश हो, जिन्हें धनोपार्जन के कार्यों में व्यस्त न रहना पड़ता हो। यूनानी नगर-राज्य में सब आर्थिक कार्य दासों या विदेशियों द्वारा होने के कारण नागरिक निश्चिन्त होकर शासन कार्य में पूरा समय दे सकते थे।

नागरिकता के संबंध में शासन और न्याय के कार्यों में वास्तविक भाग लेने का ऊँचा आदर्श रखने के कारण अरस्तू ने इन कार्यों को न कर सकने वाले व्यक्तियों को नागरिकता से वंचित कर दिया है। इसलिए उसने कारीगरों और मजदूरों को नागरिक

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ९६।

नहीं माना, क्योंकि इनमें न तो शासन करने की योग्यता होती है और न ही इनके पास इसके लिए समय होता है।[१] उसके शब्दों में "कारीगर का जीवन साधुता (Virtue) के अभ्यास के लिए उपयुक्त नहीं होता।" इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो अवकाश का न होना है। दूसरा कारण अरस्तू का यह विश्वास है कि शरीरिक परिश्रम आत्मा को अनुदार तथा उत्तम गुणों के लिए अनुपयुक्त बनाता है। इस प्रकार उसने राज्य के बहुसंख्यक समूचे श्रमजीवीवर्ग को नागरिकता के अधिकार से वंचित कर दिया है।

अरस्तू की नागरिकता के उपर्युक्त लक्षण में कई गम्भीर दोष हैं। **पहला** दोष इसका वर्त्तमान युग की दृष्टि से अतीव अनुदार और अभिजाततन्त्रीय (Aristocratic) होना है। यह परिभाषा यूनानियों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र वाले छोटे राज्यों के लिए बनायी गई थी, वर्त्तमान समय के प्रतिनिधि-सत्तात्मक विशाल राज्यों पर लागू नहीं हो सकती। **दूसरा** दोष इस लक्षण की अव्याप्ति का है यह केवल उन्हीं राज्यों में लागू हो सकता है, जहाँ शासन और न्याय के कार्य सभी नागरिक करते हों, वर्त्तमान राज्यों में ऐसा न होने से यह लक्षण इन पर लागू नहीं हो सकता। **तीसरा** दोष रास के मतानुसार[२] यह है कि इससे अधिकांश जनता नागरिक अधिकारों से वंचित हो गयी है।[३] किन्तु अरस्तू ने उन्हें केवल इन्हीं से वंचित नहीं किया, किन्तु राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग से उन पर पड़ने वाले शिक्षात्मक प्रभाव से भी वंचित कर दिया है। मताधिकारवंचित बहुसंख्यक कृषक, कारीगर और मजदूर असन्तुष्ट होने पर राज्य के लिए प्रबल संकट उत्पन्न कर सकते हैं। **चौथा** दोष यह है कि अरस्तू के लक्षण से न केवल नगर-राज्य की अधिकांश जनता मताधिकार से वंचित हो जाती है, अपितु विदेशों में बसाये गये इसके उपनिवेशों की समूची जनता भी इस अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती, क्योंकि शासन-सत्ता तथा न्यायालयों की सदस्यता उपनिवेशों में रहने वाले व्यक्तियों तक विस्तीर्ण नहीं की जा सकती। **पाँचवाँ** दोष यह है कि इनमें नागरिकता का अधिकार मुट्ठीभर धनी व्यक्तियों को दे दिया गया है। वे सब कानूनों का निर्माण अपने वर्ग के हितों की दृष्टि से करेंगे, इसका दुष्परिणाम निर्धन वर्ग को भोगना पड़ेगा। राज्य का लक्ष्य तो अधिकांश व्यक्तियों का हित साधन है, यह तभी संभव है, जब इसमें अधिकतम व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो सके। अरस्तू की व्यवस्था में शासन-शक्ति अल्पसंख्यक नागरिकों तक सीमित होकर बहुसंख्यक जनता के शोषण का साधन बन सकती है।

इन दोषों के होते हुए भी अरस्तू का नागरिकता का विचार आधुनिक विचार की अपेक्षा अधिक उदात्त है। वह प्रत्येक नागरिक के लिए शासन में भाग लेना आवश्यक समझता है। यथार्थवादी होने के नाते वह यह मानता है कि नागरिकों के गुण शासनप्रणाली द्वारा निश्चित होते हैं। लोकतन्त्र के उत्तम नागरिक के गुण अल्पतन्त्र (Oligarchy) के गुणों से भिन्न होते हैं।

कानून का स्वरूप—प्लेटो ने आदर्श दार्शनिक शासक प्राप्त न होने की दशा

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १०७-११०।

२. रास—अरिस्टाटल, पृ० २४९।

३. वही, पृ० २४७।

में कानून (Nomos) को सर्वोच्च स्थान देते हुए लाज़ में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया था। अरस्तू ने भी इसे राज्य में महत्वपूर्ण मानते हुए इसके स्वरूप की मीमांसा की है। उसके मतानुसार कानून दो प्रकार का है—**विशेष** (Particular) और **सार्वभौम** (Universal)। विशेष कानून किसी विशेष राज्य के नागरिकों के लिए होता है, और लिखित तथा अलिखित रूप में दो भेदों वाला होता है। सार्वभौम कानून प्रकृति का नियम है। **प्राकृतिक कानून** का यह अभिप्राय है कि ये आचरण के ऐसे सामान्य सिद्धान्त हैं, जो बुद्धि द्वारा निश्चित किये गये हैं। न्याय्य एवं उचित नियमों के मौलिक सिद्धान्त सब कालों तथा सब देशों में समान रूप से सत्य होने के कारण शाश्वत और सार्वभौम (Eternal and Universal) होते हैं (बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ३६९)। बुद्धिसंगत होने के कारण ये सदैव पालनीय होते हैं। कानून वस्तुतः किसी जनता की सामूहिक (Collective) तथा परिपक्व बुद्धि और अनुभव का निचोड़ होते हैं, अतः नागरिकों को कानून का सदैव पालन करना चाहिए।

अरस्तू के मतानुसार कानून स्थायी तथा अपरिवर्त्तनशील होना चाहिए। आजकल ब्रिटिश पार्लियामेंट को किसी भी व्यवस्था को वैध या अवैध बनाने का अधिकार है, वह कोई भी कानून बना कर पुरानी व्यवस्थाओं को बदल सकती है। अरस्तू एथेन्स की तत्कालीन पार्लियामेंट एक्लेसिया (Ecclesia) को ऐसा कोई अधिकार नहीं देना चाहता था। उसका यह मत था कि यह अपनी राजाज्ञाओं (Decrees) द्वारा कानून में परिवर्त्तन करके एथेन्स को बहुत हानि पहुँचा रही है अतः वह कानून में मौलिक परिवर्त्तनों का विरोधी है।

कानून की सर्वोच्च सत्ता—कानून और सरकार के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डालते हुए अरस्तू ने यह कहा है कि राज्य में कानून को सर्वोच्च प्रभुता (Sovereignty of law) प्राप्त है। सरकार को इसे स्वीकार करना चाहिए और कानून के वश में रहना चाहिए। सरकार चाहे कुछ व्यक्तियों की हो या बहुसंख्या की, उसे स्वार्थहीन रखने के लिए कानून का शासन (Rule of Law) अवश्य होना चाहिए। इससे शासन में व्यक्तियों का मनमानापन या स्वच्छन्दता नहीं आ सकती। अरस्तू के सामने इस विषय में एथेन्स का उदाहरण था। एथेन्स के मैजिस्ट्रेट सदैव कानून के वशवर्त्ती रहते थे क्योंकि वहाँ प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था कि वह कानून तोड़ने वाले मैजिस्ट्रेट पर अभियोग चला सके। यह अवैधता का अभियोग (Graphe paranomon) कहलाता था। इसकी नंगी तलवार सिर पर लटकने के कारण मैजिस्ट्रेटों को सदैव कानून का पालन करना पड़ता था और कानून की सर्वोच्च प्रभुता बनी रहती थी। अरस्तू ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है—"ठीक प्रकार से बनाये गये कानून ही अन्तिम प्रभु (Final sovereign) होने चाहियें। प्रत्येक व्यक्ति का या कुछ व्यक्तियों का शासन केवल उन्हीं विषयों में सर्वोच्च होना चाहिए, जिनमें कानून ने कोई स्पष्ट घोषणा न की हो।"[1]

इससे यह स्पष्ट है कि कानून के अस्पष्ट या अधूरा होने की दशा में ही अरस्तू शासकों को अपनी इच्छानुसार शासन का अधिकार देता है। सामान्यतः वह कानून के

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १२७।

शासन को सर्वोच्च स्थान देता है (पलिटिक्स, ३।१०, ३।११, ३।१६)। यह संभव है कि कानून के कठोर शासन से कुछ अन्याय हो, किन्तु यह व्यक्ति की निरंकुश और स्वच्छन्द इच्छा से होने वाले अन्याय से कम होगा[1] क्योंकि कानून की यह विशेषता है कि यह मानवीय राग-द्वेष की वासनाओं के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। उसके शब्दों में, "कानून का शासन केवल भगवान और बुद्धि का शासन है, किन्तु मनुष्य के शासन में कुछ अंशों में पशु (पाशविक भावनाओं) का भी शासन है" (पालिटिक्स ३।१६, ५)। कानून सब प्रकार की वासना (Passion) से रहित विवेक है। पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन को अरस्तू की सबसे बड़ी देन संभवतः कानून की प्रभुसत्ता का विचार है।[2]

---

१. वही, पृ० १४६।

२. प्राचीन भारत में कानून की प्रभुसत्ता बड़ी सुप्रतिष्ठित थी। राजा कानून से ऊपर नहीं, किन्तु उसके आधीन समझा जाता था। राजा का मुख्य कार्य धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म के नियमों का, विभिन्न जातियों में प्रचलित रीति-रिवाजों का पालन कराना था (वसिष्ठ धर्मसूत्र, १६।४ देशजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान्स्वधर्मे प्रतिष्ठापयेत्। मि० गौतम धर्मसूत्र, ११।१०, ११, २०, २१, कौटिल्य १।३, १।४, मनु ८।४१, विष्णुस्मृति ३।३, याज्ञवल्क्यस्मृति १।३६०, शुक्रनीति ४।५।८६-६१, नारद १।७, बृहस्पति १।२६-३०, २।२६-२८)। राजा के कानून (धर्म) के आधीन होने के मुख्य प्रमाण ये हैं—(१) वैदिक युग से राजा को वरुण की भाँति नियमों के पालन कराने वाला (धर्मपति...), इसका व्रत धारण करने वाला (धृतव्रतः, शतपथ ब्राह्मण ५।४।४।५), धर्म का रक्षक (धर्मस्य गोप्ता ऐत० ब्रा० ८।१२, २३) समझा जाता था। (२) महाभारत के अनुसार वेन के अधार्मिक होने पर जब ऋषियों ने उसे मारा (१२।५६।६४ मि० भागवतपुराण ४।१४) तो उसके बेटे वैन्य को गद्दी पर बिठाने से पहले ऋषियों ने उससे यह प्रतिज्ञा कराई कि वह धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में प्रतिपादित नियमों का पालन करायेगा, अपनी मर्जी से नियम नहीं बनायेगा (१२।५६।११६—यश्चापि धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः। तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन)। प्राचीन भारत में सभी राजाओं से इस प्रतिज्ञापालन की आशा रखी जाती थी, और राजाओं को भय था कि यदि वे मनमाना आचरण करेंगे तो उन्हें वेन की भाँति नष्ट होना पड़ेगा। शास्त्रकारों ने धर्मविरुद्ध आचरण करने वाले राजाओं को प्रजा द्वारा राज्यच्युत और 'पागल कुत्ते' की तरह मारने का स्पष्ट विधान किया था (देखिये ऊपर पृ० ३६)। अतः यहाँ राजा को सदैव कानून के आधीन रहना पड़ता था। (३) कानून के सर्वोपरि होने का एक प्रमाण यह भी है कि कानून का पालन कराने वाली दण्ड-शक्ति राजा द्वारा दण्ड का ठीक प्रयोग न करने पर तथा धर्मविरुद्ध कार्य करने पर उसे भी नष्ट कर देती थी (मनु ७।२७-२८ तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते। कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते॥ दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ मि० याज्ञ० स्मृति १।३५४-५६)। (४) ग्रेट ब्रिटेन के वैध राजतन्त्र में यह माना जाता है कि राजा कभी कोई अपराध नहीं करता, अतः वह कानून के बन्धन से ऊपर है। किन्तु भारत में ऐसा नहीं है, यहाँ स्मृतिकार राजा को अपराधी होने पर न्यायालयों द्वारा कठोर दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। मनु के मतानुसार जिस अपराध में सामान्य व्यक्ति को एक कार्षापण का दण्ड हो, राजा को उस अपराध में एक हजार कार्षापण का दण्ड होना चाहिए (मनु ८।३३६)। कौटिल्य ने ४।११ में मैजिस्ट्रेट (प्रदेष्टा) द्वारा राजा एवं प्रजाजनों के अपराधों पर विचार करके उन्हें दण्ड देने का विधान किया है। उसने यह भी कहा है कि राजा यदि निर्दोष व्यक्तियों को दण्ड देता है तो इसका तीस गुना वरुण को देकर उसे इसका प्रायश्चित्त करना

न्याय—प्लेटो के समान अरस्तू भी न्याय (Dikaiosyne) को राज्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है किन्तु दोनों के न्याय के स्वरूप में कुछ भिन्नता है। अरस्तू न्याय को समस्त सद्गुणों का समूह मानता है। प्रत्येक व्यक्ति के न्यायप्रिय होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे। वह न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इसके दो भेद करता है। **पहला भेद** सामान्य न्याय (General justice) है। इससे उसका आशय पड़ोसी के प्रति किये जाने वाले भलाई के सभी कार्यों से है। अच्छाई के सब कामों—सभी सद्गुणों (Virtues) तथा समग्र साधुता (Righteousness) को ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है। **दूसरा भेद** विशेष न्याय (Particular justice) है। इस का संबंध भलाई के विशेष रूपों से है, जिसके आधार पर हम दूसरों के साथ न्यायोचित (Fair) व्यवहार करते हैं। दूसरे भेद को अरस्तू पुनः दो उपभेदों में बाँटता है। ये निम्नलिखित हैं :—

(क) **वितरणात्मक न्याय** (Distributive Justice)—इसका अर्थ यह है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों और पुरस्कारों का बँटवारा या वितरण न्यायपूर्ण रीति से करे। एथेन्स जैसे यूनानी नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र होने के कारण न केवल राजकीय पद और सम्मान नागरिकों में वितरित किये जाते थे, किन्तु असेम्बली तथा न्यायालयों में भाग लेने के लिए निश्चित धनराशि (Misthos)—कई बार द्रव्य की तथा अन्न की राशि भी नागरिकों में वितरित की जाती थी। इसका विषम वितरण अर्थात् किसी वर्ग विशेष को ही राजकीय पदों का दिया जाना राज्य में गंभीर दोष उत्पन्न कर सकता था। अतः, अरस्तू इन्हें आनुपातिक समानता (Proportionate equality) के आधार पर वितरित करना चाहता है और इसी को वितरणात्मक न्याय कहता है।

सब नागरिकों को राजकीय पद समान रूप से दिया जाना अरस्तू की दृष्टि में

चाहिए। (५) प्राचीन भारत में कानून को सबसे बड़ी शक्ति समझा जाता था। पहले (पृ० ३२) उद्धृत किये गये बृहदारण्यक उपनिषद् के एक वचन में धर्म को क्षत्रस्य क्षत्रं अर्थात् क्षत्रिय राजाओं से भी अधिक शक्तिशाली कहा गया है। कानून राजाओं का भी राजा है, अतः उसकी प्रभुता के सम्मुख राजाओं को नतमस्तक होना पड़ता था। उस समय धर्म या कानून के दो मुख्य रूप थे—(१) धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित ईश्वरीय नियम (मनुस्मृति १।६), (२) रीति-रिवाज के रूप में चले आने वाले नियम (मनुस्मृति ८।१४)। राजा इन दोनों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। उसका मुख्य कार्य इनका पालन कराना, इनके अनुसार अपराधियों को दण्डित करना था। कौटिल्य के कथनानुसार धर्मप्रवर्त्तक होने के कारण राजा को धर्मपूर्वक शासन करना चाहिए और जब विभिन्न प्रकार के नियमों में विरोध हो तो धर्म द्वारा ही सब मामलों का निर्णय करना चाहिए (धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्)। वह धर्म विरुद्ध कोई नियम नहीं बना सकता था, उसके नियम निर्माण का अधिकार बहुत सीमित था (देखिये—रंगास्वामी ऐयंगर—इंडियन कैमरलिज़्म, पृ० १०७, वही—राजधर्म, पृ० ४५, पृ० १३२-४०)। वह कोई स्वतन्त्र या धर्मशास्त्रविरोधी नियम नहीं बना सकता था, अतः प्राचीन भारत में धर्म या कानून को सर्वोच्च समझा जाता था। धर्म को दिये जाने वाले असाधारण महत्त्व के कारण राजा को उसका वशवर्त्ती बनाना स्वाभाविक था।

न्यायपूर्ण नहीं है। वह प्रत्येक व्यक्ति को ये पद और पुरस्कार उस मात्रा के अनुपात में देना चाहता है, जिस मात्रा में उसने अपनी योग्यता और धन से राज्य को लाभ पहुँचाया हो। बार्कर[1] ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ए तथा बी नामक दो व्यक्ति राज्य के कल्याण के लिए उसे अपनी वैयक्तिक योग्यता और वैयक्तिक धनराशि का दत्तांश (Contribution) देते हैं और उसके बदले में राज्य से पद और सम्मान प्राप्त करते हैं। यदि इन दोनों की वैयक्तिक योग्यता और धनराशि समान है तो उन्हें पद तथा सम्मान बराबर मात्रा में मिलने चाहिएं, यदि उनके दत्तांश की मात्रा बराबर नहीं है तो उन्हें पद और सम्मान समान मात्रा में नहीं मिलेंगे। दोनों अवस्थाओं में आनुपातिक समानता के सिद्धान्त का पालन किया जायगा, ए के राज्य के प्रति कार्य तथा उसे राज्य से मिलने वाले पदों के बीच में वही अनुपात होगा, जो बी के राज्य के प्रति कार्यों तथा उसे राज्य से मिलने वाले पदों के मध्य में है। वितरणात्मक न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसके राज्य के प्रति किये गये कार्यों के समानुपात में राजकीय पदों का प्रतिफल प्रदान करता है। यह न्यायपूर्ण व्यवस्था समाज में संघर्ष और कलह की मात्रा कम करने वाली है।

(ख) **संशोधनात्मक न्याय** (Rectificatory Justice)—यह वितरणात्मक न्याय की भाँति राज्य और उसके नागरिकों के संबंध को नहीं, किन्तु एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ संबंध को नियन्त्रित करती है। राज्य के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार में उत्पन्न होने वाले दोषों को ठीक करके उनका संशोधन करती है। ये व्यवहार ऐच्छिक और अनैच्छिक रूप से दो प्रकार के होते हैं। ऐच्छिक व्यवहारों का उदाहरण विभिन्न प्रकार के समझौते तथा संविदायें (Contracts) हैं। जब कोई पक्ष संविदा की कोई शर्त्त तोड़ता है तो राज्य दूसरे पक्ष के साथ इस प्रकार होने वाले अन्याय का अपने न्यायालयों द्वारा संशोधन करता है। अनैच्छिक व्यवहारों में सहमति का कोई तत्त्व नहीं होता, इनमें जब एक नागरिक दूसरे को कोई हानि पहुँचाता है तो राज्य हानि उठाने वाले नागरिक की भरपाई करवाके उसके साथ न्याय कराता है। इस समय न्याय का प्रधान रूप से यही अर्थ समझा जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्लेटो तथा अरस्तू के न्याय के विचार में कई भेद हैं। **पहला** भेद यह है कि प्लेटो के मतानुसार न्याय का अर्थ है व्यक्तियों द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार राज्य में अपने निश्चित कार्य करना। किन्तु अरस्तू के वितरणात्मक न्याय का अर्थ है राज्य को प्रदान की गई अपनी वैयक्तिक योग्यता और धनराशि के आधार पर उससे पद ग्रहण करना। **दूसरा भेद** यह है कि प्लेटो के न्याय का विचार कर्त्तव्यमूलक है, वह राज्य की विभिन्न श्रेणियों के विविध प्रकार के कर्त्तव्य मानता है। किन्तु अरस्तू का विचार अधिकारमूलक है। वह राज्य के प्रति कार्यों की आनुपातिक समानता के आधार पर नागरिकों को पद और सम्मान प्रदान करता है। **तीसरा** भेद यह है कि अरस्तू के न्याय की कल्पना प्लेटो की कल्पना की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और विशद है। प्लेटो केवल न्याय के सामान्य रूप का वर्णन करता है, किन्तु अरस्तू उसके भेदों द्वारा उसके स्वरूप पर अधिक प्रकाश डालता है।

संविधानों का वर्गीकरण (Classification of Constitutions)—अरस्तू

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १२०-१२१।

ने वैज्ञानिक शुद्धता के साथ राज्य और सरकार में भेद करते हुए विभिन्न संविधानों का सुन्दर वर्गीकरण किया है। राज्य नागरिकों का समुदाय है और सरकार उन नागरिकों का समूह है, जिनके हाथ में राजनीतिक शक्ति और शासन-संचालन का कार्य हो। उच्च राजनीतिक पदों वाले व्यक्तियों में परिवर्तन आने के साथ सरकार में परिवर्तन आ जाता है। किन्तु राज्य में तभी परिवर्तन आता है, जब इसके संविधान (Politeia) में परिवर्तन हो। संविधान राज्य की सर्वोच्च शक्ति की व्यवस्था करता है और यह बताता है कि यह शक्ति किस में रहती है। अरस्तू के शब्दों में "संविधान या पोलितेइया नगर के शासन के पदों और विशेषतया सबसे उच्च प्रभुपद (Sovereign) का संगठन है" (पालिटिक्स ३।६)। अतः संविधान का स्वरूप इस बात से निश्चित होता है कि उसमें अन्तिम शासन-सत्ता कहाँ रहती है। राज्य का निर्माण व्यक्तियों के कुछ सामान्य हितों की पूर्त्ति के लिए होता है, अतः वास्तविक अथवा सच्ची सरकार उसे ही कहना चाहिए, जहाँ जनता के सामान्य हितों की सिद्धि होती हो। जहाँ केवल शासकों की स्वार्थसिद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है, वे विकृत शासन या संविधान हैं। अतः अरस्तू ने विभिन्न संविधानों या शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है—(क) अन्तिम शासन-सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है, एक व्यक्ति में, कुछ व्यक्तियों में या सामान्य जनता में। (ख) शासन का उद्देश्य जनता के सामान्य हितों की रक्षा करना है या विशेष वर्गों के स्वार्थों की। यह इसकी कसौटी है कि अमुक शासन प्रकृत और विशुद्ध प्रकार का है या विकृत अथवा दूषित प्रकार का है। इन दो सिद्धान्तों के आधार पर अरस्तू ने विभिन्न शासन-प्रणालियों को छः भागों में निम्नलिखित रूप से बाँटा है :—

सत्ता का स्थान	प्रकृत संविधान	विकृत संविधान
एकजन	राजतन्त्र या एकराट्तन्त्र (बसीलेइया)[1]	तानाशाही (तिरान्नी)
अल्पजन	अभिजाततन्त्र या श्रेष्ठजनतन्त्र (अरिस्तौक्रातिया)	अल्प या धनिक तन्त्र (आलिगार्किया)[2]
बहुजन	सर्वजनतंत्र (पोलीतेइया)	प्रजातन्त्र (देमौक्रातिया)

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जब शासन-शक्ति एक व्यक्ति में निहित हो तो उसका प्रकृत या स्वाभाविक रूप राजतन्त्र (Monarchy) तथा विकृत रूप तानाशाही या निरंकुशतन्त्र (Tyranny) होता है। राजतन्त्र में राजा का लक्ष्य प्रजा की सामान्य भलाई होता है, यह आदर्श व्यवस्था है, इसमें शासक को सब सद्गुणों से युक्त होना चाहिए। यह शासन-प्रणाली सर्वोत्तम आदर्श होने पर भी क्रियात्मक नहीं है, क्योंकि ऐसा सर्वसद्गुणसम्पन्न शासक मिलना दुर्लभ है और यदि वह मिल जाय तो यह

---

१. कोष्ठों में इनके यूनानी भाषा के नाम हैं।

२. आलिगार्किया का शब्दार्थ है थोड़े से व्यक्तियों का शासन या अल्पतंत्र। अरस्तू इसका प्रयोग थोड़े-से धनियों के शासन या धनिकतन्त्र के लिए करता है, अतः आगे इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।

आवश्यक नहीं कि उसका उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार का गुणसम्पन्न व्यक्ति होगा। अतः राजतन्त्र विकृत होकर तानाशाही में परिणत हो जाता है, इसका लक्ष्य सार्वजनिक भलाई नहीं, किन्तु स्वार्थसिद्धि बन जाता है, इसमें शक्ति, धोखाधड़ी तथा स्वार्थलिप्सा का साम्राज्य होता है।

अरस्तू के मतानुसार (पालिटिक्स ३।१७) राजतन्त्र के पाँच भेद हैं —(क) **स्पार्टा का राजतन्त्र** —इसमें राजा वंशानुक्रम से सदैव स्थायी सेनापति होता है, उसे धर्मविषयक मामलों में कुछ अधिकार रहते हैं, तथा सैनिक आक्रमणों के अवसर को छोड़ कर प्रजाजनों को मृत्युदण्ड देने का अधिकार उसे नहीं होता। (ख) **असभ्य जातियों का राजतन्त्र** —अरस्तू अपने जात्यभिमान के कारण यह मानता है कि बर्बर जातियाँ तथा एशियावासी जातियाँ योरोपियन लोगों की अपेक्षा अधिक दब्बू और दासवृत्तिपरायण (Servile) होती हैं।[1] ये राजाओं का तानाशाही शासन बिना किसी असन्तोष के सह लेती हैं। नियमानुमोदित, वैधानिक और वंशानुगत होने के कारण यह शासन स्थायी होता है। (ग) **ऐसुमनेतिया** (Aisumnetia) **या अधिनायकतन्त्र** (Dictatorship) —यह तानाशाही का निर्वाचित प्रकार है। जनता राज्य पर कोई संकट आने पर निश्चित अवधि के लिए या जीवन भर के लिए अधिनायकों को शासक चुनती थी, जैसे लेस्बोस टापू के मुख्य नगर मितीलीन के निवासियों ने निर्वासित जनों के आक्रमण का सामना करने के लिए पित्ताकस (Pittacus) को अधिनायक चुना था। ये अनियन्त्रित शक्तिसम्पन्न होने के कारण तानाशाह और निर्वाचित एवं प्रजा की सम्मति के अनुकूल होने के कारण राजा हैं। (घ) चौथा प्रकार **वीरता के युग** (Heroic age) **का राजतन्त्र** है। यह वैधानिक, जनसम्मति पर आश्रित और वंशानुगत होता है। इसमें राजवंश को आरम्भ करने वाला आदि पुरुष अपनी योग्यता, शौर्य और जनहित के कार्य करने से प्रजा की सहमति से राजा बनता है और राजपद उसके वंश में चलता रहता है। ऐसे राजा तीन प्रकार के कार्य—युद्धों में सेना की अध्यक्षता का, यज्ञों में प्रमुख पुरोहित का तथा अभियोगों के निर्णय का कार्य करते थे। (ङ) पाँचवें प्रकार के राजतन्त्र में **गृहपति पिता द्वारा** परिवार के प्रबन्ध की भाँति राजा अपनी जाति पर सब विषयों में अधिकार रखने वाला पितृतुल्य शासक होता है।[2] राजतन्त्र के इन पाँचों प्रकारों में अरस्तू कानून के शासन (Rule of Law) को वैयक्तिक शासन से श्रेष्ठ समझता है (पालिटिक्स ३।१५, बार्कर पृ० १४०–१४४)। उसके मतानुसार आदर्श की दृष्टि से परिपूर्ण व्यक्ति द्वारा शासित राजतन्त्र में कानून का बन्धन भले ही आवश्यक

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १३८, पृ० २१६।

२. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १४०। मिलाइये—कालिदास द्वारा दिलीप का वर्णन—स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ रघुवंश १।२४। कौटिल्य ने (जनपद निवेश २।१) में पितृवाद (Paternalism) के इस विचार का समर्थन करते हुए कहा है—राजा प्रजा पर पिता की भांति अनुग्रह करे (तान् पितेवानुगृह्णीयात्, मि० ४।३ सर्वत्र चोपहतान् पितेवानुगृह्णीयात्)। अशोक ने अपने शिलालेखों में प्रजा को अपनी सन्तान बताते हुए कहा है कि उसके प्रजा के प्रति वैसे ही कर्त्तव्य हैं, जैसे अपनी सन्तान के प्रति (सबे मुनिसे पजा ममा,··· अथा पजाये इच्छामि हकं···मुनिसेपि इच्छामि हकम्।)

न हो, किन्तु वास्तविक राज्यों (Actual States) के लिए यह बन्धन अवश्य होना चाहिए। क्योंकि शासन कार्य में एक व्यक्ति योग्यता की दृष्टि से अनेक व्यक्तियों के समूह की तुलना नहीं कर सकता। इसके दो कारण हैं : पहला तो यह कि एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा जल्दी भ्रष्टाचार से प्रभावित होता है, दूसरा यह कि शासन कार्य का भार एक व्यक्ति द्वारा उठाया जाना संभव नहीं है। अतः राजतन्त्र आदर्श की दृष्टि से असंभव न होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से असंभव है।

अभिजाततन्त्र कुछ कुलीन व्यक्तियों का सामान्य लोकहित के लिए शासन है, किन्तु यह भी देर तक नहीं रह पाता और दूषित होकर अल्पतन्त्र (Oligarchy) में परिणत हो जाता है। इसमें कुछ धनी व्यक्ति लोकहित के लिए नहीं, अपितु स्वार्थ-सिद्धि के लिए शासन करने लगते हैं। आलिगार्किया का शब्दार्थ तो कुछ थोड़े-से (आलिगिया=अल्प) व्यक्तियों का शासन है, किन्तु क्रियात्मक रूप से यह कुछ धनी व्यक्तियों का शासन होता है, अतः इसे धनिकतन्त्र भी कहा जाता है **पोलितेइया** या सर्वजनतन्त्र का अर्थ सारी जनता का तथा सारी जनता के हित के लिए किया जाने वाला शासन है। किन्तु राज्य में निर्धनों की संख्या धनियों से अधिक होती है, अतः सर्वजनतन्त्र दूषित होकर प्रजातन्त्र (Democracy) में परिणत हो जाता है। अरस्तू के मतानुसार इसका अर्थ है केवल निर्धनों के हित के लिए जनता का शासन।

वर्गीकरण के अन्य आधार—अरस्तू का शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण यद्यपि मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर है कि शासन-सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है, किन्तु वह इस गणितिक आधार (Arithmatical basis) के अतिरिक्त वर्गीकरण में अन्य अनेक आधार भी मानता है। इसमें **पहला** आधार आर्थिक (Economic basis) है। जनतन्त्र और धनिक तन्त्र (अलिगार्किया) क्रमशः निर्धनों और धनियों का शासन है। वर्गीकरण का **दूसरा** आधार विभिन्न प्रकार के मौलिक तत्त्व हैं, जनतन्त्र में समानता और स्वतन्त्रता के तत्त्व पर, अल्पतन्त्र में धन पर, अभिजात या कुलीनतन्त्र में गुणों पर तथा सर्वजनतन्त्र (Polity) में धन और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर बल दिया जाता है। वर्गीकरण का **तीसरा** आधार शासन-सम्बन्धी कार्य प्रणाली है। अरस्तू शासन के तीन अंग मानता है—(१) विचारात्मक अंग (Deliberative organ), (२) शासक पदों की पद्धति (System of magistracy), (३) न्याय-पालिका (Judicial organ)। शासन-सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के लिए असेम्बली के तथा प्रमुख शासन पदों पर न्यायाधीश के पदों पर नियत किये जाने वाले व्यक्तियों को चुनने के अनेक प्रकार हो सकते हैं। इन्हें सब नागरिकों द्वारा मतदान प्रणाली द्वारा चुना जा सकता है या परची अथवा गुटिका (Lot) डाल कर। इन्हें चुनने वाले व्यक्तियों के मताधिकार की शर्तें विभिन्न शासन-प्रणालियों में एक-जैसी नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, धनिक तन्त्र के अतिवादी (Extreme) रूप में शासन पर विचार करने वाला अंग अत्यधिक धनी व्यक्तियों का समुदाय होता है, इसे अमर्यादित अधिकार होते हैं। शासकों के पदों के लिए **अधिक सम्पत्ति** की योग्यता रखने वाले व्यक्ति ही उम्मीदवार हो सकते हैं। इसी प्रकार न्यायाधीशों के पदों का उम्मीदवार होने के लिए भी धनी होने की शर्त अनिवार्य है। सर्वजनतन्त्र (Polity) में विचारात्मक अंग के लिए चुने जाने वाले नागरिकों के लिए **अनधिक** या हल्की (Moderate) सम्पत्ति की शर्त

रखी जाती है। शासन और न्याय के पदों के लिए निर्वाचन तथा लाटरी की दोनों पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है। अतिगामी लोकतन्त्र (Extreme democracy) में विचारात्मक अंग में सारी नागरिक जनता सम्मिलित होती है, शासन के सभी पदों के लिए कोई भी नागरिक खड़ा हो सकता है, इन पदों के लिए चुनाव लाटरी या परची प्रणाली द्वारा होता है। न्यायाधीश भी सभी नागरिकों में से लाटरी द्वारा चुने जाते हैं। अरस्तू द्वारा शासन-प्रणाली में वर्गीकरण के अनेक आधार होने के कारण उसकी प्रत्येक शासन-प्रणाली के अनेक भेद हो जाते हैं, यहाँ केवल लोकतन्त्र के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया जायगा।

लोकतन्त्र के गुण, दोष और प्रकार—प्लेटो लोकतन्त्र का कटु निन्दक था (पृ० १२५-७)। अरस्तू भी इसका आलोचक है, किन्तु वह इसके कुछ गुणों को भी स्वीकार करता है। अरस्तू के मतानुसार लोकतन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निरपेक्ष समानता (Absolute equality) के तत्त्व पर बहुत बल दिया जाता है और सब नागरिक विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का विचार न करते हुए समान माने जाते हैं; धनी, निर्धन, अनपढ़ और पढ़े-लिखे, विद्वान् और मूर्ख बराबर समझे जाते हैं। यह स्वतन्त्रता के आधार पर सब नागरिकों को समान अधिकार देता है। किन्तु अधिकारों की यह समानता और स्वतन्त्रता शीघ्र ही नियन्त्रण के अभाव में उच्छृंखलता और अराजकता में परिणत हो जाती है, नागरिक जीवन को असम्भव बना देती है। अतः अरस्तू लोकतन्त्र का आलोचक है।

किन्तु लोकतन्त्र में उपर्युक्त भीषण दोष के होते हुए भी वह उसके कुछ गुणों को स्वीकार करता है (पालिटिक्स ३।११)। उसके मतानुसार लोकतन्त्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें जब मनुष्य एकत्रित होकर शासन-सम्बन्धी विषयों का विवेचन करते हैं तो उनमें अच्छा निर्णय करने की योग्यता बढ़ जाती है। किसी एक व्यक्ति के निर्णय की अपेक्षा भले ही वह कितना अधिक ज्ञानी, बुद्धिमान् या विद्वान् क्यों न हो, अनेक व्यक्तियों का विचार-विमर्श और निर्णय अधिक अच्छा होता है। जिस प्रकार किसी सुन्दर, सद्गुणी व्यक्ति में या सुन्दर कलाकृति में अनेक अच्छाइयाँ मिलकर सुन्दर एकता का निर्माण करती हैं, इसी प्रकार किसी जनसमूह के विविध मनुष्यों में बिखरी हुई भलाइयाँ एक अच्छे परिणाम को उत्पन्न करती हैं। एक व्यक्ति की भलाई की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों की सम्मिलित भलाई अधिक अच्छी होती है। अरस्तू के शब्दों में "बहुसंख्यक जनता के पक्ष में निम्नलिखित बात कही जा सकती है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं व्यक्तिशः बहुत अच्छा मनुष्य नहीं होता, तथापि जब वे सब समन्वित (समवेत) हो जाते हैं, तब व्यक्तिशः नहीं प्रत्युत समष्टितः वे अल्पसंख्यक उत्तम मनुष्यों से गुण में बढ़कर हो जाते हैं, जिस प्रकार बहुत से मनुष्यों के चन्दे से दिया हुआ भोज उस भोज से बढ़कर हो सकता है जो कि एक व्यक्ति की गांठ से दिया जाता है।"[१]..."लोकतन्त्र में बहुत-से व्यक्तियों का अपना-अपना सद्गुण और बुद्धि का अंश थोड़ा होने पर भी मिलकर बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति की बुद्धि से अधिक हो जाता है।" "जनसाधारण का निर्णय सामान्य विषयों में विशेषज्ञों के निर्णय से अधिक अच्छा होता है।" "यदि

१. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० २५५।

जनसाधारण अत्यन्त ही पतित न हो तो चाहे उनमें प्रत्येक व्यक्ति पृथक्‌रूपेण विशेषज्ञों की अपेक्षा भले ही हीन निर्णायक हो, परन्तु सबके सब एकत्रित होकर या तो उन (विशेषज्ञों से) बढ़कर होते हैं या घटकर नहीं होते।"[1] "जब वे एक साथ एकत्रित होते हैं तो काफी अच्छी सूझबूझ प्रदर्शित करते हैं, एवं अपने से अधिक अच्छे वर्ग के लोगों के साथ मिलकर वे राष्ट्र के लिए सहायक (उपयोगी) सिद्ध होते हैं।"[2]

अरस्तू का यह मत है कि जनता में सामूहिक निर्णय (Collective judgement) की क्षमता बहुत उत्कृष्ट होती है, वे अपने अनुभव से यह जानते हैं कि शासन कैसा है। जिस प्रकार जूता पहनने वाला यह जानता है कि यह कहाँ काटता है; उसी प्रकार शासित होने वालों को यह अनुभव होता है कि शासन में कहाँ खराबी है। अतः जनता को शासन में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। अरस्तू सुयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासन का पक्षपाती होने पर भी साधारण जनता को शासन में निम्नलिखित कार्य सौंपना चाहता है—(१) शासकों (Magistrates) का निर्वाचन, (२) शासकों की पदावधि समाप्त होने पर उनके कार्य की जाँच करने का अधिकार। ये दोनों कार्य निर्णय की उत्तम क्षमता होने के कारण जनता बड़ी अच्छी तरह कर सकती है।

अरस्तू सामान्य रूप से लोकतन्त्रों को धनिक तंत्रों की अपेक्षा अधिक स्थायी और सुस्थिर समझता है क्योंकि इनमें प्रजा को शासन में अधिक भाग ग्रहण करने का अवसर मिलता है तथा इसमें मध्यमवर्ग का बाहुल्य होता है।[3] "जनता को शासनाधिकार में कुछ भी भाग न देना भयावह है, क्योंकि वह राष्ट्र जिसमें बहुसंख्यक और निर्धन लोग शासनाधिकारशून्य होने लगते हैं, अनिवार्यतया शत्रुओं से परिपूर्ण हो जाता है।"[4] अरस्तू की दृष्टि में सर्वोत्तम संविधान वही है, जिनमें लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के गुणों का समन्वय होता है।

अरस्तू ने लोकतन्त्र के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कई प्रकार से किया। एक स्थान पर (पालिटिक्स ४।११) उसने समानता के तत्त्व पर बल देते हुए लोकतन्त्र के निम्नलिखित पाँच प्रकार बताये हैं। समानता के आधार पर अत्यधिक आश्रित **पहला** प्रकार—इसमें धनी-निर्धन सभी के अधिकार बिल्कुल बराबर होते हैं। **दूसरा** प्रकार वह है जिसमें सम्पत्ति के आधार पर शासन के पदाधिकारियों का चुनाव किया जाता है, किन्तु यह संपत्ति संबंधी योग्यता निम्न मात्रा की होती है। **तीसरे** प्रकार में सभी निर्दोष व्यक्तियों को शासन कार्य में भाग मिलता है, किन्तु सर्वोपरि शासन नियम या कानून का ही होता है। **चौथे** प्रकार में शासन में अधिकार सब को प्राप्त होता है, पर सर्वोपरि शासक कानून ही होता है। **पाँचवें** प्रकार में सर्वोपरि शासन कानून का नहीं, किन्तु जनता का होता है। ऐसी स्थिति लोकनायकों (Demogogues देमागोग) द्वारा पैदा की जाती है। ये प्रभावशाली वक्ता शासक पदों पर आरूढ़ न होने पर भी भाषण कला द्वारा जनता पर प्रभाव डालते हैं, मनचाहे कानून बनवाते हैं। इनका अभ्युदय

---

१. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० २५७।
२. वही, पृ० २५६।
३. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १८२।
४. भोलानाथ शर्मा—वही, पृ० २५६।

एथेन्स में पेरीक्लीज़ की मृत्यु (४२९ ई० पू०) के बाद व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के साथ हुआ था। क्लिओन पहला लोकनायक था। अरस्तू के मतानुसार इसमें जनता को खुश करने वाले चापलूसों की बन आती है और लोकतन्त्र तानाशाही बन जाता है, इसमें नियम और कानून की समाप्ति हो जाती है। चाटुकार लोकनायक जनता को खुश करके अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं।[1] इसे अरस्तू सच्चा लोकतन्त्र नहीं मानता।

अन्यत्र (पालि० ४।६) अरस्तू ने जनतन्त्रों का वर्गीकरण उसका निर्माण करने वाली जनता तथा उन्हें शासन के लिए मिलने वाले अवकाश के आधार पर किया है। पहला प्रकार **कृषक जनतन्त्र** (Agricultural Democracy) का है, इसमें शासन-सत्ता किसानों के पास होती है, उनके पास शासन कार्य में भाग लेने का अवसर नहीं होता, अतः वे कानूनों को सर्वोपरि बना देते हैं, राज्य के कार्यों की देखरेख योग्य व्यक्तियों को सौंप देते हैं। इसी कारण अरस्तू इस प्रकार की बहुत प्रशंसा करता है। **दूसरे और तीसरे** प्रकार में अन्तर इतना ही है कि एक में नागरिकता उत्तम, अनिन्द्य कुल में जन्म लेने के कारण तथा दूसरे में स्वतंत्र (अदास) होने के कारण मिलती है। दोनों में कानून की सर्वोपरि सत्ता होती है, किन्तु अपने कार्यों में संलग्न होने के कारण बहुत थोड़ी जनता शासन कार्य में भाग लेती है, असेम्बली आदि की बैठकों में सम्मिलित होने के लिए कोई वेतन या पारिश्रमिक नहीं मिलता। **चौथे** प्रकार में राज्य की जनसंख्या बहुत अधिक होती है, नागरिकता श्रमजीवियों तथा कारीगरों को भी देने के कारण इनकी प्रधानता हो जाती है, कानून निश्चित न होकर नागरिकों की इच्छानुसार बदलते रहते हैं। राज्य का काम करने के लिए पारिश्रमिक या वेतन दिया जाने लगता है। पेरीक्लीज़ ने एथेन्स में ऐसी व्यवस्था की थी। अरस्तू प्लेटो की भाँति इस व्यवस्था का तीव्र आलोचक है और प्रजातन्त्र के इस रूप को अच्छा नहीं मानता।

सर्वोत्तम संविधान (Best Polity)—उपर्युक्त शासन-प्रणालियों में से कौन-सी श्रेष्ठ है? अरस्तू इसका उत्तर यथार्थवादी दृष्टिकोण से देता है (पालिटिक्स ४।११)। उसका यह कहना है कि इस प्रसंग में हमें किसी ऐसी आदर्श शासन-प्रणाली पर विचार नहीं करना चाहिए, जो कभी क्रियात्मक और व्यावहारिक रूप धारण ही न कर सकती हो। किन्तु ऐसी श्रेष्ठ शासन व्यवस्था और जीवन पद्धति सोचनी चाहिए जो अधिकांश राज्यों और मनुष्यों के लिए व्यावहारिक रूप में संभव हो। जिस शासन-प्रणाली के लिए विशेष प्रकार की योग्यता या सौभाग्यसम्पदा अपेक्षित हो, उसमें कभी अधिकांश मनुष्य भाग नहीं ले सकते। श्रेष्ठ शासन व्यवस्था वही है, जो अनेक राष्ट्रों में समान रूप से प्रचलित हो सके। आदर्श व्यवस्था में शासन सर्वोत्तम व्यक्तियों के हाथ में रहना चाहिए। यदि किसी राज्य को प्लेटो का आदर्श दार्शनिक शासक मिल सके तो राजतन्त्र से अधिक अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकती। इसी प्रकार अभिजात-तन्त्र में भी शासन योग्य व्यक्तियों के हाथ में रहता है। किन्तु ये दोनों प्रणालियाँ व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप में नहीं मिलतीं। अतः हमें ऐसी शासन-प्रणाली की खोज करनी चाहिए, जो कोरे आदर्श की दृष्टि से सर्वोत्तम न हो, किन्तु व्यावहारिक

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १६८।

रूप में सामान्य व्यक्तियों द्वारा क्रियात्मक रूप धारण कर सके और किसी समाज की विद्यमान परिस्थितियों में सर्वोत्तम हो ।

अरस्तू के मतानुसार समाज में अत्यधिक सम्पन्नता और निर्धनता— दोनों बुरी हैं और अनेक दोषों को उत्पन्न करती हैं ।[1] धनियों में अभिमान का तथा आज्ञा की अवहेलना करने का दोष होता है और निर्धन व्यक्ति दास मनोवृत्ति के होते हैं, शासन नहीं कर सकते । जहाँ जनता केवल इन दोनों वर्गों में बंटी होती है, वहाँ इनमें कोई सौहार्द नहीं हो सकता और सौहार्द के बिना किसी संगठन या समुदाय का बनना संभव नहीं है (पालिटिक्स, ३।११) ।

आदर्श शासन-प्रणाली की प्रधान विशेषता **मध्यममार्गी होना** है। बुद्ध की मज्झिम प्रतिपदा[2] की तरह अरस्तू मध्यममार्ग का परम भक्त है । उसके शब्दों में "मध्यम-मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही अनिवार्यतया श्रेष्ठ जीवन है और यह मध्यम-मार्ग भी ऐसा है, जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव है ।[3]...सब नगर-राज्यों में तीन खंड अथवा वर्ग पाये जाते हैं— (१) अत्यन्त सम्पन्न, (२) अत्यन्त निर्धन, (३) इन दोनों के बीच का मध्यवित्त वर्ग । यह बात सर्वसम्मत है कि मध्यम स्थिति सर्वोत्तम है । जो मनुष्य ऐसी स्थिति में होते हैं, वे विवेक की आज्ञा का सरलता-पूर्वक पालन करने वाले होते हैं ।" अतः वह उस शासन-प्रणाली को श्रेष्ठ मानता है, जिसमें मध्य वर्ग की प्रधानता हो । अपने इस कथन के समर्थन में वह निम्नलिखित तर्क देता है— (१) अत्यन्त धनी, रूपवान् और बलवान् व्यक्तियों का झुकाव बलात्कारों तथा महान् अपराधों की ओर होता है । दूसरी ओर अत्यन्त निर्धन और निर्बल व्यक्तियों की प्रवृत्ति धूर्त्तता और तुच्छ अपराधों की ओर होती है । ये दोनों प्रकार के व्यक्ति विवेक का अनुसरण नहीं करते । अतः इनकी प्रधानतावाले शासन दोषपूर्ण होते हैं । धनियों और बलवानों में आज्ञा पालन की प्रवृत्ति नहीं होती, वे राज्य के आदेशों की अवहेलना करते हैं । दूसरी ओर अत्यन्त दीन-हीन व्यक्ति केवल दासों की तरह शासित होना जानते हैं । यदि किसी राज्य में केवल यही दोनों वर्ग हों तो राज्य केवल दासों और स्वामियों का नगर हो जाता है, न कि स्वाधीन मनुष्यों का । ऐसा नगर एक ओर (निर्धन पक्ष की ओर) से ईर्ष्या का तथा दूसरी ओर (सम्पन्न पक्ष की ओर) से घृणा का नगर हो जाता है । इसमें मित्रता और सामाजिकता की भावना नहीं रहती । सामाजिकता मित्रता पर निर्भर है । जब मनुष्य एक दूसरे से घृणा करते हैं तो परस्पर एक साथ एक राह पर नहीं चलना चाहते । राज्य का लक्ष्य तो यथासंभव एक बराबर और एक से मनुष्यों का समाज होता है और मध्यवित्त लोगों में ही ऐसा होना सबसे अधिक संभव है । (२) मध्यम वर्ग वाला नगर अधिक सुरक्षित होता है, क्योंकि मध्यवित्त वाले न तो निर्धन लोगों के समान अन्य लोगों की सम्पत्ति की इच्छा करते हैं और न धनी लोगों की सम्पत्ति पाने के लिए षड्यंत्र रचते हैं, न ये किसी के विरुद्ध कुचक्र रचते हैं और न कोई इनके विरुद्ध षड्यन्त्र करता है । ये सब प्रकार की दलबन्दियों से मुक्त होते हैं । धनी

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० ७८-७९ ।
२. धर्मचक्र प्रवर्तनसुत्त ।
३. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० ३१९-२० ।

या निर्धन वर्ग को अतिवादी (Extremist) होने से रोकते हैं। (४) मध्यमवर्ग की महत्ता का एक प्रमाण यह भी है कि सोलन (Solon), लाइकरगस (Lycurgus) आदि श्रेष्ठ नियमनिर्माता या स्मृतिकार मध्यमवर्ग में ही उत्पन्न हुए हैं। (५) धनी और निर्धन मध्यमवर्ग पर समान रूप से विश्वास करते हैं, किन्तु वे एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते। इन सब कारणों से मध्यमवर्ग की प्रधानता रखने वाली शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है। ऐसा वर्ग न होने पर ही अल्पतन्त्र (Oligarchy) या लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव होता है और ये जल्दी ही तानाशाही में बदल जाते हैं। अरस्तू के मतानुसार अधिकांश राज्य लोकतन्त्र या अल्पतन्त्र इसलिए हैं कि इनमें मध्यमवर्ग की संख्या कम होती है। राज्य में मध्यमवर्ग की संख्या अधिक होने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें आपसी संघर्ष कम होते हैं और सुदृढ़ता अधिक होती है। अरस्तू ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है—"केवल वही सरकार सुदृढ़ हो सकती है, जिसमें मध्यमवर्ग अन्य दोनों (धनी तथा निर्धन) वर्गों से अधिक संख्या में हो। इस अवस्था में इस बात की संभावना नहीं होती कि शासकों का विरोध करने में धनी वर्ग निर्धन वर्ग के साथ मिल जायगा। इनमें से कोई भी एक वर्ग दूसरे की सेवा करने की इच्छा नहीं रखता। यदि वे अपने दोनों वर्गों के लिए कोई अधिक उपयुक्त शासन-प्रणाली ढूंढना चाहें तो इससे अधिक अच्छी कोई दूसरी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि धनी और निर्धन एक दूसरे पर विश्वास वहीं करते और वे बारी-बारी से शासक और शासित बनना पसन्द नहीं करेंगे।"[१] मैक्सी ने यह ठीक ही कहा है कि यद्यपि मध्यमवर्ग के लोगों में बुद्धि की प्रखरता नहीं होती, वे राज्य की स्थापना के लिए आदर्श नहीं हो सकते, फिर भी इतिहास में राज्यों में होने वाले परिवर्तनों को देखते हुए सुदृढ़ता की दृष्टि से अरस्तू की शासन-व्यवस्था उचित प्रतीत होती है।[२]

अरस्तू ने अपने आदर्श संविधान का कोई वास्तविक उदाहरण नहीं दिया। इतना ही अस्पष्ट निर्देश किया है कि केवल एक ही ऐसा व्यक्ति हुआ है, जिसने इस प्रकार की शासन पद्धति की स्थापना के लिए अपने को सहमत होने दिया।[३] किन्तु रास का विचार है[४] कि वह संभवत: ४११ ई० पू० में एथेन्स में स्थापित होने वाले संविधान को श्रेष्ठ मानता था। इसमें शासन-सत्ता ५००० व्यक्तियों की असेम्बली में निहित थी, ये शस्त्रास्त्र और भारी कवच अपने व्यय से रखते थे और इन्हें असेम्बली की बैठकों में सम्मिलित होने के लिए दिया जाने वाला भत्ता बन्द कर दिया गया था। इस विधान के निर्माण का श्रेय थेरामेनेस (Theramenes) नामक यूनानी राजनीतिज्ञ को है। बार्कर का यह विचार है कि अरस्तू का अभिप्राय यहाँ शायद सिकन्दर के यूनानी प्रतिनिधि तथा उसके मित्र अन्तिपातेर के उस संविधान से है, जिसमें शासन-सत्ता नौ हजार नागरिकों की संस्था को सौंपी गयी थी।[५]

---

१. बार्कर—पोलिटिक्स, पृ० १८२।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ७२-७३।
३. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १८३।
४. रास—अरिस्टाटल, पृ० २५९-६०।
५. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० १८४।

विभिन्न शासन प्रणालियों में श्रेष्ठता का तारतम्य—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अरस्तू की दृष्टि में वही शासन-व्यवस्था सर्वोत्तम है, जिसमें मध्यमवर्ग की प्रभुता हो। इस शासन को उसने सर्वजनतन्त्र (Polity)[1] का नाम दिया है। यह उत्कृष्टता व्यावहारिक दृष्टि से है, आदर्श की दृष्टि से वह राजतन्त्र आदि को श्रेष्ठ मानता है। डनिंग ने जर्मन लेखक सुसेमिहल (Susemihl) के आधार पर यह लिखा है[2] कि श्रेष्ठता की दृष्टि से अरस्तू विभिन्न शासन-प्रणालियों या संविधानों का यह क्रम निश्चित करता है—(१) आदर्श राजतन्त्र (Ideal Royalty), (२) विशुद्ध कुलीनतन्त्र (Pure Aristocracy), (३) मिश्रित (Mixed) कुलीनतन्त्र, (४) सर्वजनतन्त्र (Polity), (५) अधिकतम अनतिगामी जनतन्त्र (Most moderate Democracy), (६) अधिकतम अनतिगामी धनिक तन्त्र (Most moderate Oligarchy), (७) जनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र के दो मध्यवर्त्ती प्रकार, (८) अतिगामी जनतन्त्र (Extreme Democracy), (९) अतिगामी धनिकतन्त्र (Extreme Oligarchy), (१०) तानाशाही (Tyranny)।

क्रान्तियाँ—यूनान के नगर-राज्यों में क्रान्तियों द्वारा शासन-प्रणाली में बहुधा परिवर्त्तन होता रहता था। अरस्तू ने पाँचवीं पुस्तक में इनका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इनके कारणों पर प्रकाश डाला है तथा इनका प्रतिकार करने के महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाये हैं। इसमें उसने अपनी परिपक्व राजनीतिक बुद्धिमत्ता तथा यूनानी इतिहास के गम्भीर तथा विशद ज्ञान का सुन्दर परिचय दिया है, इतिहास के बीसियों शिक्षाप्रद तथा मनोरंजक उदाहरणों का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम उसने **क्रान्ति का स्वरूप** स्पष्ट करते हुए कहा है कि शासन-व्यवस्था में परिवर्त्तन का नाम ही क्रान्ति या विप्लव है। इसके मुख्य प्रकार ये हैं[3]—(क) किसी स्थापित शासन पद्धति के स्थान पर दूसरे प्रकार की शासन-प्रणाली स्थापित करना, जैसे जनतन्त्र के स्थान पर धनिकतन्त्र (Oligarchy) को अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर जनतन्त्र को स्थापित करना। (ख) इसमें क्रान्तिकारी दल शासन पद्धति को यथापूर्व रखते हुए शासन कार्य अपने सदस्यों के हाथ में ले लेता है। (ग) कई बार क्रान्ति किसी शासन पद्धति को बदलने के लिए नहीं, किन्तु उसकी मात्रा को परिवर्त्तित करने के लिए होती है, जैसे जनतन्त्र को अपेक्षाकृत अधिक या कम जनतन्त्रात्मक बनाना। (घ) कई बार क्रान्तिकारी दल शासन-पद्धति के किसी एक ही अंश को बदलने का प्रयत्न करता है, जैसे स्पार्टा में लीसान्दर (Lysander) ने राजपद को तथा पौसानियास (Pausanias) ने पंचों के पद को निर्मूल करने की चेष्टा की थी।

क्रान्ति के कारणों को अरस्तू ने तीन भागों में बाँटा है—(१) मूल कारण, (२) सामान्य कारण और (३) विशिष्ट शासन पद्धतियों में क्रान्ति के विशेष कारण। वह

---

१. पोलिटी या इसके यूनानी रूप पोलितेइया का अरस्तू ने दो अर्थों में प्रयोग किया है—(क) संविधान या शासन-व्यवस्था—आजकल अंग्रेजी में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। (ख) मध्यमवर्ग की प्रधानता वाली एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली।

२. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, पृ० ८०।

३. बार्कर—वही, पृ० २०४।

क्रान्ति का मूल कारण विषमता (Inequality) को मानता है। "क्रान्ति का मूल कारण समानता की भावना है।"[1] समानता दो प्रकार की होती है—संख्यात्मक समानता और योग्यता संबंधी समानता। अरस्तू योग्यता संबंधी समानता का तात्पर्य आनुपातिक समानता (Proportionate equality) समझता है। संख्या की दृष्टि से तीन दो से उतना ही बड़ा है, जितना दो एक से, किन्तु अनुपातिक दृष्टि से चार दो से उतना बड़ा है, जितना दो एक से, क्योंकि दो चार का वही अंश है जो एक दो का। सब मनुष्य इस बात पर तो सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष न्याय (Absolute Justice) योग्यता के अनुपात में होना चाहिए। किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में वे योग्यता के प्रश्न पर मतभेद रखते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मनुष्य किसी एक बात में समान हों तो सभी बातों में समान होने चाहिएं। जब वे मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं तो उनके अधिकारों, धनसम्पत्ति आदि में भी समानता होनी चाहिए, किसी प्रकार विषमता नहीं होनी चाहिए।। दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति एक बात में कुल या धन की दृष्टि से दूसरों से बढ़-चढ़ कर है तो वह अन्य सभी बातों में बढ़कर होना चाहिए। दोनों विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष के कारण विद्रोह होते हैं। उदाहरणार्थ, जनतन्त्र में सब व्यक्तियों के अधिकार समान माने जाते हैं, किन्तु कुलीनतन्त्र और धनिकतन्त्र में उच्च कुलों में उत्पन्न तथा धनवान् व्यक्तियों के विशेषाधिकार समझे जाते हैं। अधिकारों की यह विषमता, समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाली जनता को सह्य नहीं होती। अतः, धनिकतन्त्रों और जनतन्त्रों में क्रान्तियाँ होती हैं। धनिकतन्त्र में विद्रोह दोहरे ढंग से होते हैं—(१) धनिक वर्ग में ही दो दल हो जाते हैं। एक दल दूसरे के विरुद्ध क्रान्ति करता है। (२) धनिक वर्ग के विरुद्ध निर्धन विद्रोह करता है। किन्तु जनतन्त्र में जनता का दल केवल उस राज्य के धनी वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करता है। अतः यह स्पष्ट है कि समानता का अर्थ लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र में एक जैसा नहीं होता और विषमता को दूर कर समानता करने की भावना से इन दोनों पद्धतियों में अनेक क्रान्तियाँ होती हैं। क्रान्तियों का बड़ा कारण न्याय का एकांगी दूषित दृष्टिकोण है। जनतन्त्रवादी यह समझते हैं कि सब मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्र हैं, अतः उनमें समानता होनी चाहिए। इसके विपरीत धनिकतन्त्रवादियों का यह विश्वास है कि मनुष्यों में धन की विषमता है, अतः अन्य बातों में भी विषमता होनी चाहिए।

अरस्तू इस स्थिति से उत्पन्न होने वाली मनोदशा को क्रान्ति का मुख्य कारण मानते हुए कहता है—"कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके हृदय समानता की भावना से ओत-प्रोत होते हैं, वे यह जानते हुए विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगों के समान हैं, जो उनसे कहीं अधिक (धनसम्पत्ति) पाये हुए हैं, तथापि उनको स्वयं अन्य लोगों से कम (सुविधायें) प्राप्त हैं। दूसरे कुछ विद्रोह करने वाले वे लोग होते हैं, जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है क्योंकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यों से बढ़कर हैं तथापि उनको अन्य लोगों की

---

१. बार्कर—वही, पृ० २०५-६।

अपेक्षा अधिक कुछ नहीं मिलता प्रत्युत या तो दूसरों के बराबर या उनसे कम मिलता है।...इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिए विद्रोही बना करते हैं और बराबर स्थिति वाले बड़े बनने के लिए। यही वह मनोदशा है, जिससे क्रान्तियों की उत्पत्ति होती है।"[1] (पालिटिक्स ५।२)।

इस मौलिक मनोदशा के अतिरिक्त अरस्तू ने साधारणतः **क्रान्तियों के निम्न-लिखित सामान्य निमित्त, उद्देश्य और प्रसंग** बताये हैं (पालिटिक्स ५।३)। (१) **शासकों की धृष्टता** (Insolence) **तथा लाभ की लालसा** -- जब शासक धृष्टतावश जनता के हितों की परवाह न करते हुए या सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाकर अपना घर भरने लगते हैं तो शासकों के विरुद्ध या उस शासन-प्रणाली के विरुद्ध जनता विद्रोह कर देती है। (२) **सम्मान की लालसा**—यह सबमें स्वाभाविक है, किन्तु जब शासक किसी को अनुचित रूप से बिना योग्यता या कारण के सम्मानित या अपमानित करते हैं तो जनता रुष्ट होकर विद्रोह कर देती है। (३) **किसी प्रकार की उत्कृष्टता का होना** भी क्रान्ति का कारण होता है। जब किसी राज्य में एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों का गुट अन्य व्यक्तियों से अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली हो जाता है तो वह शासन-सत्ता अपने हाथ में ले लेता है। ऐसी परिस्थितियों में राजतन्त्र और आनुवंशिक धनिकतन्त्र उत्पन्न होते हैं। इसीलिए एथेन्स और आर्गोस के राज्यों में शक्तिशाली बनने वाले व्यक्तियों को निर्वासित करने की परिपाटी प्रचलित है। (४) **भय** दो प्रकार के व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाधित करता है—(क) अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्ड का भय होता है, इससे बचने के लिए वे विद्रोह कर देते हैं। (ख) कुछ व्यक्तियों को यह डर होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है। इसके प्रतिकार के लिए वे विद्रोह कर बैठते हैं। इसका उदाहरण रोड्स टापू के गण्यमान्य (Notables) व्यक्ति थे, साधारण जनता इन पर अभियोग चलाने की धमकियाँ दे रही थी, अतः इन्होंने जनता के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। (५) **घृणा** भी क्रान्ति को जन्म देती है। धनिकतन्त्र में तब क्रान्ति होती है, जब शासक धनिक वर्ग बहुसंख्यक अधिकारवंचित दरिद्र जनता को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है और जनतन्त्रों में तब विद्रोह होता है, जब सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को राष्ट्र में फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के प्रति घृणा हो जाती है। जैसे थीब्स नगर में ४५६ ई० पू० के ओइनोफीता के युद्ध के बाद कुशासन होने के कारण प्रजातन्त्र पद्धति विनष्ट हो गयी। सिराक्यूज़ में ४८५ ई० पू० में जनतन्त्र के विरुद्ध घृणा के कारण इसका अन्त होकर गैलोन की तानाशाही का आविर्भाव हुआ। (६) **राज्य के किसी अंग की अनुपात से अधिक असाधारण वृद्धि** के कारण भी क्रान्ति होती है। ४८० ई० पू० के ईरानी युद्धों के बाद तरेन्तम का सर्वजनतन्त्र (Polity) लोकतन्त्र में परिणत हो गया क्योंकि इयापिगियन जाति के आक्रमणों के कारण इस नगर के अनेक गण्यमान्य (Notables) पुरुषों के मारे जाने से साधारण जनता की संख्या में वृद्धि हो गयी। एथेन्स में लोकतन्त्र के प्रबल होने का कारण पेलोपोनेशियन युद्ध (४३१–४०४ ई० पू०) में प्रतिष्ठित नागरिकों का बड़ी संख्या में मारा जाना था। राज्य में किसी अंग—प्रदेश, वर्ग आदि की वृद्धि से दूसरे प्रदेशों तथा वर्गों का चिन्तित होना स्वाभाविक

---

१. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० ३५३-५४।

है। (७) **निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र** भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। हेराइया (Heraea) में चुनावों में बड़े षड्यन्त्र होते थे और इनके कारण इनका परिणाम पहले से ही निश्चित हो जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए यहाँ परची या गुटिका (Lot) पद्धति को अपनाकर के निर्वाचन पद्धति में क्रान्ति की गई। (८) **प्रमाद** भी परिवर्त्तन का कारण होता है। जनता अपने आलस्य और उपेक्षा के कारण ऐसे व्यक्तियों को सत्तारूढ़ होने देती है, जो वर्त्तमान शासन पद्धति के प्रति निष्ठावान् नहीं होते और ये शासन को बदल देते हैं। यूबोइया के ओरेयस (Oreas) नगर में जब हेराक्लियो-डोरस इस प्रकार शासनारूढ़ हुआ तो उसने धनिकतन्त्र का अन्त करके जनतन्त्र या सर्वजनतन्त्र (Polity) की स्थापना की। (९) **अल्प परिवर्त्तनों की उपेक्षा** भी कई बार क्रान्ति की जननी होती है। ये छोटे-छोटे परिवर्त्तन शनैः-शनैः महान् परिवर्त्तन उत्पन्न कर देते हैं। जैसे अम्ब्राकिया (Ambracia) में मताधिकार की शर्त्तों में सामान्य परिवर्त्तन से शासन में क्रान्ति हो गई। (१०) राष्ट्र में **समानता न रखने वाले विजातीय तत्त्व** भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। राज्य में निवास करने वाली विभिन्न जातियों में एकता की अनुभूति आवश्यक है। ऐसा अनुभव न करने वाले विजातीय तत्त्व विदेशी शत्रुओं के साथ आसानी से मिलकर राज्य के लिए संकट उत्पन्न कर देते हैं। अरस्तू ने लिखा है जो राज्य अपनी स्थापना के समय या उसके बाद विदेशियों को अपने राज्य में बसने की अनुमति देते हैं, वे क्रान्ति की मुसीबत मोल लेते हैं। (११) क्रान्ति **क्षुद्र घटनाओं के गम्भीर परिणामों एवं पारिवारिक विवादों** से भी होती है। अरस्तू ने इसके अनेक मनोरंजक उदाहरण दिये हैं। सिराक्यूज़ में दो शासन सत्तारूढ़ नवयुवकों के प्रणय सम्बन्धी कलह ने नगर को दो दलों में विभक्त कर दिया (पालिटिक्स ५।४)। (१२) **राष्ट्र के किसी विभाग की ख्याति या शक्ति में वृद्धि** भी शासन-व्यवस्था को जनतन्त्र या धनिकतन्त्र की ओर झुका सकती है। ४८० ई० पू० में सालामिस (Salamis) के प्रसिद्ध युद्ध में एथेन्स की नौ-सेना ने ईरानी सम्राट् ज़रक्सीज़ के प्रबल बेड़े को सामुद्रिक युद्ध में परास्त कर बड़ी कीर्त्ति उपार्जित की, नौ-शक्ति के आधार पर एथेन्स ने साम्राज्य बनाया, नौ-सेना में साधारण जनता भरती होती थी, अतः एथेन्स की शासन-व्यवस्था का झुकाव जनतन्त्र की ओर हो गया। अरस्तू ने कहा है कि जो कोई तत्त्व (व्यक्ति, अधिकारी या जाति) राज्य की शक्ति में वृद्धि करता है, उसकी प्रवृत्ति विद्रोह खड़ा करने की ओर हो सकती है। क्योंकि या तो इन्हें प्राप्त होने वाले गौरव और सम्मान के कारण ईर्ष्या से जलने वाले अन्य व्यक्ति इनके विरुद्ध विद्रोह करने लगते हैं या यही स्वयं बड़प्पन के गर्व से अन्य लोगों के साथ समानता के नाते से नहीं रहना चाहते। (१३) क्रान्तियों का एक कारण **राज्य में परस्पर-विरोधी वर्गों** (दरिद्र एवं धनी आदि) **का शक्ति में संतुलित होना** भी है। जहाँ एक पक्ष दूसरे पक्ष से अधिक प्रबल होता है, तो निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई मोल नहीं लेता। किन्तु जब दोनों पक्षों में शक्तिसंतुलन हो तो दोनों को सफलता की संभावना होती है और वे विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ मध्यम वर्ग प्रबल होता है, वहाँ ऐसी क्रान्तियाँ नहीं होतीं। क्रान्तियों में शक्ति और छल का भी बहुत प्रयोग किया जाता है।

विभिन्न शासन-प्रणालियों में क्रान्तियों के विशेष कारण—क्रान्तियों के सामान्य

कारणों की मीमांसा करने के बाद अरस्तू ने विभिन्न शासन पद्धतियों में होने वाली क्रान्तियों के कारणों का उल्लेख किया है। **प्रजातन्त्र में क्रान्ति** तीन कारणों से होती है (पालिटिक्स ५।१) : **पहला** कारण धनियों के साथ किया जाने वाला अत्याचार है। कई जनतन्त्रों में भाषण कला से लोकप्रियता पाने वाले जनान्दोलक (Demogogues) साधारण जनता को धनियों के विरुद्ध भड़काते हैं, उनके साथ अन्यायपूर्ण बर्त्ताव करते हैं, उन पर कर लगाते हैं और अन्त में उन्हें क्रान्ति के लिए विवश करते हैं। कास (Cos), रोड्स (Rhodes) व मेगारा (Megara) में जनतन्त्र के विनष्ट होने का यही कारण था। **दूसरा** कारण लोकनायक (Demogogue) जनान्दोलकों का सेनापति बनकर सारी सत्ता अपने हाथ में लेना तथा तानाशाह बन जाना है। **तीसरा** कारण जनान्दोलक नेताओं का जनता की लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए शासन की शक्ति को हथियाना है। उदाहरणार्थ, एथेन्स में पाइसिस्ट्राटस ने मैदान में रहने वाले धनिकों के विरुद्ध निर्धन लोगों के विद्रोह का नेतृत्व करके एथेन्स की तानाशाही प्राप्त की। **धनिकतन्त्रों** में क्रान्ति के दो बड़े कारण जनता के साथ अन्यायपूर्ण बर्त्ताव तथा शासकवर्ग के आपसी झगड़े तथा दलबंदियाँ होते हैं (पालिटिक्स ५।६)। **कुलीनतन्त्रों** की क्रान्तियों का कारण यह है कि इनमें शासन में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत सीमित होती है।

क्रान्तियों के प्रतिकार के उपाय—क्रान्तियों के कारणों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद अरस्तू ने इनके निवारण के निम्न उपायों पर प्रकाश डाला है : (१) जनता में कानून के पालन की तथा उसके प्रति सम्मान बढ़ाने की भावना उत्पन्न करनी चाहिए, क्योंकि कानूनों की अवहेलना अज्ञात भाव से राष्ट्र में प्रविष्ट होकर उसको उसी प्रकार नष्ट कर देती है। जिस प्रकार थोड़े से ही (अप) व्यय के बार-बार होने से (विशाल) सम्पत्ति का विनाश हो जाता है। कानून की अवज्ञा के छोटे कार्यों का शुरू में ही निरोध किया जाना चाहिए। (२) शासकों का जनता के साथ व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए, मताधिकारवंचित और निर्धन जनता के प्रति कोई अनुचित व्यवहार, उनके सम्मान को ठेस लगाने वाला कार्य अथवा किसी प्रकार का कोई अन्याय नहीं किया जाना चाहिए। (३) विषमता क्रान्ति की जननी है, अतः शासन का लक्ष्य सदैव समानता का व्यवहार होना चाहिए। अरस्तू का यह मत है कि शासन के पदों की अवधि छः मास की होनी चाहिए ताकि अधिक-से-अधिक व्यक्ति शासक बन सकें, थोड़े समय के लिए शासनारूढ़ व्यक्ति अन्याय नहीं कर सकते। (४) एक व्यक्ति या वर्ग में अधिक शक्ति केन्द्रित नहीं होने देनी चाहिए, यह सभी वर्गों में बँटी रहनी चाहिए। किसी व्यक्ति को अनन्य रूप से अधिक सम्मान या बढ़ावा नहीं देना चाहिए ताकि इससे अन्य व्यक्तियों में ईर्ष्या उत्पन्न न हो। नियम निर्माण द्वारा किसी व्यक्ति को अत्यधिक शक्तिशाली होने से रोकना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो ऐसे व्यक्ति को राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए। (५) राज्य के पदों को धनोपार्जन या वैयक्तिक लाभ का साधन नहीं बनने देना चाहिए। इससे अनेक लाभ होंगे। साधारण जनता के रोष का एक बड़ा कारण यह होता है कि शासक सम्मान प्राप्त करने के साथ-साथ सार्वजनिक द्रव्य की चोरी करते हैं। अरस्तू के शब्दों में जनता को इससे दुगुनी पीड़ा होती है, क्योंकि न तो उन्हें शासकपद का सम्मान मिलता है और न सार्वजनिक सम्पत्ति में हिस्सा मिल पाता

है। जब दो पदों में कोई आर्थिक लाभ नहीं होगा तो जनता इनके लिए लालायित नहीं होगी। (६) सार्वजनिक सम्पत्ति व्यक्तियों द्वारा न हड़पी जा सके, इसकी विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। इसका हस्तान्तरीकरण (Tranfsfer) सब नागरिकों के सम्मेलन के समक्ष होना चाहिए। (७) जनतन्त्र में धनवानों के साथ उदार बर्त्ताव होना चाहिए, ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है कि उनकी सम्पत्ति का विभाजन न हो तथा उनकी जागीरों की आय सुरक्षित रहे। इसके साथ ही धनिकतन्त्र में निर्धन लोगों की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। जिन शासन पदों से धन की प्राप्ति हो सकती है, वे उन्हें दिये जाएं। धनवान यदि निर्धन के प्रति हिंसापूर्ण अपराध करें तो उन्हें कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए। इससे विभिन्न वर्गों में विद्वेष, असन्तोष और रोष की भावना नहीं उत्पन्न होगी। (८) प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य व्यक्तियों में विवाद नहीं उत्पन्न होने देने चाहिएं, क्योंकि ये राज्य में पारिवारिक और वंशानुगत दलबंदियों की भावनायें उत्पन्न करके क्रान्ति के बीज बोते हैं। (९) धनिकतन्त्र (Oligarchy) तथा सर्वजनतन्त्र (Polity) में शासकपद पाने के लिए आर्थिक योग्यता की शर्त्त रहती थी। किन्तु कालचक्र से धनी निर्धन तथा निर्धन धनी हो जाते हैं, अतः यदि धनिकतन्त्र में अधिकांश लोगों की आर्थिक योग्यता बढ़ जाय तो वह स्वयमेव जनतन्त्र में बदल जायगा। ऐसी क्रान्तियों को रोकने के लिए अरस्तू का यह सुझाव है कि कुछ निश्चित समय बाद सामाजिक योग्यता की जाँच हो तथा इसके अनुसार पदाधिकार के लिए निश्चित आर्थिक योग्यता भी बदलती रहनी चाहिए ताकि राज्य के विभिन्न दलों की स्थिति यथापूर्व बनी रहे। (१०) मनुष्य अपने वैयक्तिक जीवन की परिस्थितियों के कारण भी क्रान्तिकारी होते हैं। अतः एक ऐसा राजकीय अधिकारी नियत किया जाना चाहिए जो यह देखे कि लोग अपना जीवन शासन-व्यवस्था के अनुकूल रखें—जनतन्त्र में जनतन्त्रात्मक रीति से तथा धनिकतन्त्र में इस तन्त्र की नीति के अनुसार जीवन-यापन करें। (११) किसी शासनप्रणाली की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-पद्धति उस शासन-पद्धति के अनुरूप हो। बच्चों को शुरू से उस प्रणाली के ढाँचे में ऐसा प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे उस व्यवस्था को आदर्श मानते हुए अपना जीवन उसी के अनुसार ढालने का प्रयत्न करें।

अरस्तू का क्रान्तियों का यह विवेचन इतना सुन्दर, प्रामाणिक और विशद है कि मैक्सी ने लिखा है[1] कि वर्त्तमान राजनीतिशास्त्र क्रान्ति के विष के प्रतिकार के लिए इससे अधिक विश्वसनीय उपायों का निर्देश नहीं कर सकता।

आदर्श राज्य (Ideal State)—पालिटिक्स की सातवीं पुस्तक में अरस्तू प्लेटो के लाज़ से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ अपने आदर्श राज्य (Ideal State) का एक सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। उसकी दृष्टि में व्यवहार में आ सकने वाला सर्वोत्तम संविधान तो मध्यम वर्ग को प्रधानता देने वाला पालिटी या सर्वजनतन्त्र है। किन्तु इसका विकास सभी राज्यों में संभव नहीं है। इसके विकास के लिए कुछ विशेष परिस्थितियाँ आवश्यक हैं। ये जिन राज्यों में संभव हों वही अरस्तू का सर्वोत्तम आदर्श राज्य

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ७६।

(Best Ideal State) है। शासन का उद्देश्य व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने के साधन प्रस्तुत करना है। अतः वही राज्य सर्वोत्तम होता है जिसमें व्यक्ति को ये सुविधायें प्राप्त हों। ये सुविधायें सभी राज्यों में नहीं होतीं, इनके लिए विशेष प्रकार के वातावरण और परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य में निम्न विशेषतायें मानी हैं :—

(क) **जनसंख्या**—यह न तो बहुत अधिक और न बहुत कम होनी चाहिए। अधिक जनसंख्या बड़प्पन का चिह्न नहीं है, इसमें कानून की व्यवस्था बनाये रखना बहुत कठिन होता है। बहुत कम जनसंख्या में यह दोष है कि यह अपनी आवश्यकतायें पूरी करने में समर्थ नहीं होगी। राज्य तो जहाज़ की भाँति न तो बहुत बड़ा और न बहुत छोटा होना चाहिए। नागरिक कार्यों को उचित रीति से करने के लिए आवश्यक है कि सब नागरिक एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप से जानते हों[1] और इनकी अधिकतम संख्या उतनी ही होनी चाहिए, जितनी राज्य के जीवन को आत्मनिर्भर बनाने तथा उस की आवश्यकतायें पूरी करने के लिए पर्याप्त हो (पालिटिक्स ७।४)। अरस्तू नागरिकों के लिए प्लेटो की ५०४० जैसी कोई संख्या निश्चित नहीं करता।

(ख) **प्रदेश**—राज्य की भूमि न बहुत विशाल और न बहुत छोटी होनी चाहिए। वह इतनी अवश्य हो कि उससे जीवन की आवश्यकतायें पूर्ण हो सकें, उस पर निवास करने वाली जनता संयम और उदारता से समन्वित अवकाशपूर्ण जीवन बिता सके। राज्य की भूमि शत्रुओं के लिए दुष्प्रवेश्य तथा सुसन्निरीक्ष्य अर्थात् किसी ऊंचे स्थान या या चोटी से भली प्रकार देखी-भाली जा सकने वाली (Surveyable) होनी चाहिए क्योंकि ऐसी भूमि की रक्षा सरलता से हो सकती है। यह ऐसे स्थान पर होनी चाहिए कि जहाँ जल एवं स्थल दोनों मार्गों से आसानी से पहुँचा जा सके और यह सुविधाजनक व्यापारिक केन्द्र हो।[2] प्लेटो अपने आदर्श राज्य को समुद्र से दूर रखना चाहता है, क्योंकि इससे अवांछनीय विदेशी एवं व्यापारी तत्त्वों का आगमन होता है। किन्तु अरस्तू इसे सैनिक सुरक्षा तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति की दृष्टि से समुद्र के निकट रखना चाहता है।

(ग) **नागरिकों का स्वभाव**—अरस्तू अपने आदर्श नगरवासियों के स्वभाव के लिए तीन प्रकार के व्यक्तियों के स्वभाव की तुलना करता है। योरोप के शीत-प्रधान स्थानों के निवासियों में ओज (Spirit) होता है, किन्तु बुद्धिमत्ता और कौशल की कमी होती है।[3] अतः वे स्वयं स्वतन्त्र बने रहते हैं, किन्तु उनमें राजनीतिक विकास नहीं होता। एशियावासी बुद्धिमत्ता, कौशल आदि आध्यात्मिक गुणों से युक्त होते हैं, किन्तु उनमें ओज का अभाव होता है, अतः वे निरन्तर शासित और दास बने रहते हैं। हैलेनीस (यूनानी) जनता इन दोनों के बीच में बसी होने से दोनों जातियों के गुणों से

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० २६२।

२. कौटिल्य (६।१) ने भी अपने आदर्श राज्य के लिए जल और स्थल मार्गों की सुविधा (वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः), बड़ी व्यापारिक मंडी होना (सारचित्रबहुपण्यः) तथा अच्छी तरह रक्षा करने में समर्थ होना (स्वारक्षः) आवश्यक माना है।

३. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० २६५-६६।

समन्वित है, इसमें बुद्धिमत्ता और ओज दोनों का संयोग है। आदर्श राज्य की जनता के स्वभाव में इन दोनों गुणों का समन्वय होना चाहिए।

(घ) **राज्य के आवश्यक वर्ग**—आदर्श राज्य में छः प्रकार की आवश्यकतायें मुख्य हैं—भोजन, कला-कौशल, हथियार, सम्पत्ति, सार्वजनिक देवपूजा तथा सार्वजनिक हित का निर्धारण। इनके लिए प्रत्येक राज्य में छः प्रकार के वर्ग—कृषक, शिल्पी, योद्धा, सम्पत्तिशाली वर्ग, पुरोहित तथा सार्वजनिक हित निर्धारण करने वाले निर्णायक होने चाहिएं। इन छः वर्गों में से अरस्तू कृषक एवं शिल्पी वर्ग को नागरिक का दर्जा नहीं देता। शेष कार्यों के संबंध में वह यह व्यवस्था करता है कि नागरिक युवावस्था में देश की रक्षा और सेना के कार्य करें, अधेड़ अवस्था में राज्य के शासन-संबंधी विषयों का चिंतन करें और बुढ़ापे में सार्वजनिक देवपूजा और पुरोहिताई के काम करें। प्लेटो एक व्यक्ति को एक काम देना चाहता था, अरस्तू अवस्थानुसार तीन कार्य देता है। अरस्तू चाहता है कि भू-सम्पत्ति सब नागरिकों में बाँट दी जाय। ऐसी व्यवस्था मिश्र और क्रीट में थी, यह वहाँ की सहभोजन (Common meals) की पद्धति से सूचित होता है। भूमि दो प्रकार की होनी चाहिए—राजकीय (Public demenses) तथा वैयक्तिक। राजकीय भूमि की आय से सार्वजनिक देवपूजा का तथा सहभोजन (Common meals) का व्यय चलना चाहिए, ताकि राज्य में एकता बढ़ सके (पालिटिक्स ७।१०)। दोनों प्रकार की भूमि पर दासों तथा बर्बर व्यक्तियों द्वारा खेती करायी जानी चाहिए (पालिटिक्स ७।१०)।

(ङ) **राज्य की स्थिति**—नगर-राज्य में बस्ती का स्थान निम्न बातों को ध्यान में रखते हुए चुनना चाहिए : (क) सार्वजनिक स्वास्थ्य, (ख) राजनीतिक सुविधा, (ग) सैनिक आवश्यकतायें। नगर को बसाते हुए सौन्दर्य और सैनिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए। राज्य का प्रदेश दो भागों में बँटा होना चाहिए—विशेष बस्ती या शहर, (२) इसके चारों ओर का प्रदेश। बस्ती का स्थान राज्य में मस्तिष्क की भाँति होना चाहिए। इसमें पूजा-गृह, पार्क, व्यायाम-शाला, बाज़ार, बन्दरगाह आदि सार्वजनिक स्थान होने चाहिएं। आदर्श राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए प्लेटो की भाँति अरस्तू शिक्षा-पद्धति पर बहुत बल देता है, आगे (पृ० १९५) इसका परिचय दिया जायगा।

आदर्श राज्य की शासन-व्यवस्था के संबंध में अरस्तू का झुकाव लोकतन्त्र की ओर प्रतीत होता है, क्योंकि वह सब नागरिकों को शासन कार्य में भाग लेने को कहता है, किन्तु ये नागरिक ऐसे हैं, जो अनुभव और अवस्था के आधार पर समाज के उच्च जन हैं, अतः उसकी सरकार सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सरकार है। इसमें लोकतन्त्र और और कुलीनतन्त्र का सम्मिश्रण है।

उसने आदर्श राज्य में सरकार के तीन तरह के कार्य करने वाली तीन संस्थाओं का वर्णन किया है—(१) शासन संबंधी विषयों पर विचार एवं निर्णय करने के लिए असेम्बली, सब नागरिक इसके सदस्य होते थे। (२) प्रशासन करने वाले अधिकारी। (३) न्यायालय। लोकतन्त्र के अतिवादी (Extreme) रूप में सरकार की तीनों संस्थाओं के पद सब नागरिकों को समान रूप से उपलब्ध हो सकते हैं, किन्तु अरस्तू के मतानुसार इससे लोकतन्त्र में बड़ी अस्थिरता आ जाती है, अतः वह इस दोष को दूर करने के लिए यह व्यवस्था करता है कि नागरिक कुछ सम्पत्ति होने पर ही शासन के

कार्यों में भाग ले सकें। इससे अरस्तू मध्यमवर्ग का शासन स्थापित करना चाहता है। उसका आदर्श संविधान मध्यमवर्ग को प्रधानता देने वाला सर्वजनतन्त्र (Polity) है। राज्य के नागरिकों में कोई अधिक अमीर या गरीब नहीं होना चाहिए, इससे निर्धन और धनी वर्ग के संघर्ष उत्पन्न होते हैं, और राज्य की सुरक्षा संकटग्रस्त हो जाती है। आदर्श राज्य का लक्ष्य नागरिकों को उत्तम सद्गुणी जीवन बिताने की सुविधायें प्रदान करना होना चाहिए, न कि युद्धों द्वारा विजय प्राप्त करना (पालिटिक्स ७।२)।

अरस्तू ने मध्यम मार्ग और व्यावहारिकता का अनुसरण करते हुए प्लेटो के आदर्श राज्य के दोषों से बचने का प्रयत्न किया। उसके मुख्य दोष ये थे – राज्य का अति काल्पनिक होना, दार्शनिक राजाओं का शासन, कानून का अभाव, ऐतिहासिक आधार का अभाव, अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार एक व्यक्ति द्वारा सैनिक, उत्पादक या संरक्षक में से एक का ही कार्य करना। अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य में इन सब दोषों को दूर कर दिया है। अरस्तू के आदर्श राज्य की निम्न विशेषतायें उल्लेखनीय हैं—(१) वह प्लेटो की भाँति राज्य की एकता (Unity) पर अत्यधिक बल नहीं देता और इसे स्थापित करने के लिए वैयक्तिक संपत्ति और परिवार की व्यवस्था का उन्मूलन नहीं करता। (२) उसका नागरिक प्लेटो के नागरिक की भाँति राज्य में पूर्ण रूप से विलीन नहीं होता, किन्तु राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त करता है। अरस्तू के आदर्श राज्य में राज्य के श्रेष्ठ जीवन तथा व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन में कोई भेद नहीं है। (३) अरस्तू अपने राज्य के संबंध में स्पष्ट रूप से यह नहीं बताता कि वह प्लेटो के राज्य की भाँति कोरा काल्पनिक आदर्श राज्य है या क्रियात्मक रूप में लाया जा सकने वाला आदर्श राज्य। किन्तु उसके वर्णन से यही प्रतीत होता है कि वह इसे व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप देना चाहता है।

शिक्षा-पद्धति—आदर्श राज्य के निर्माण और स्थायित्व के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति परम आवश्यक है। राज्य का लक्ष्य नागरिकों का जीवन सुखी बनाना है। सुख प्रधान रूप से भलाई और सद्गुण (Virtue) पर आश्रित है। मनुष्य यह सद्गुण तथा भलाई तीन प्रकार के साधनों से प्राप्त करता है— प्रकृति से, आदत से और विवेक शक्ति से। प्रकृति के संबंध में पहले (पृ० १९३) बताया जा चुका है कि यह ओज और बुद्धिमत्ता का सम्मिश्रण होना चाहिए। आदत और विवेक शक्ति का निर्माण शिक्षा द्वारा होता है (पालिटिक्स ७।१३)। शिक्षा-पद्धति के बारे में प्लेटो का यह सिद्धान्त था कि राज्य के सैनिकों को एक प्रकार की तथा संरक्षकों को दूसरे प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए। किन्तु अरस्तू इससे सहमत नहीं, वह सब नागरिकों के लिए एक जैसी शिक्षा की व्यवस्था करता है। इसका उद्देश्य उन्हें उत्तम नागरिक बनाना है, इसी प्रकार वे उत्तम मनुष्य बन सकेंगे। नागरिकों को आज्ञा पालन करने की तथा शासन करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य सर्वाङ्गीण विकास होना चाहिए। आत्मा के तीन अंगों के तथा जीवन के विविध अंगों के विकास का ध्यान रखना चाहिए। आत्मा के तीन अंग हैं—विचार और विवेक करने वाली विमर्शात्मक बुद्धि, क्रियात्मक या व्यावहारिक बुद्धि तथा विवेक की आज्ञाओं का पालन करने वाला अंग। ये तीनों अंग प्लेटो के आत्मा के तीन तत्त्वों से सर्वथा भिन्न हैं। अरस्तू जीवन के दो अंग मानता है—(१) क्रियात्मक युद्धरत जीवन, (२) शान्तिपरायण तथा अवकाशमय जीवन। शिक्षा इन दोनों के संबंध

में होनी चाहिए। स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति का एक बड़ा दोष यह है कि वह केवल युद्ध और साम्राज्य निर्माण की शिक्षा देती है (पालिटिक्स ७।१४)। किन्तु शान्ति के गुण—बौद्धिक ज्ञान, संयम तथा न्याय भी राज्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। अत: शिक्षा का उद्देश्य आत्मा के तीन तत्त्वों और युद्ध तथा शान्ति के गुणों का विकास होना चाहिए।

शिक्षा मानवीय विकास के स्वाभाविक क्रम को देखते हुए इसके अनुसार होनी चाहिए। इसमें सर्वप्रथम शरीर संबंधी शिक्षा होनी चाहिए, इसके बाद शरीर के साथ उत्पन्न होने वाले क्रोध, इच्छा, कामना आदि के तत्त्वों (Appetites) का प्रशिक्षण होना चाहिए और इनके बाद विकसित होने वाली विवेक-बुद्धि का प्रशिक्षण सबसे अन्त में होना चाहिए। शारीरिक शिक्षण के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है। स्वस्थ नागरिक उत्पन्न करने के लिए अरस्तू प्लेटो की भाँति राज्य की ओर से विवाह-संबंधी कुछ नियम बनवाना और इनका पालन करना आवश्यक समझता है (पालिटिक्स ७।१६)।

स्वस्थ नागरिक प्राप्त करने के लिए अरस्तू के विवाह और सन्तानोत्पत्ति के नियम बड़े मनोरंजक हैं। उत्तम सन्तान तभी प्राप्त हो सकती है, जब पति-पत्नी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से परिपक्वावस्था के हों। उसके मतानुसार पुरुष का प्रजननकाल ७० वर्ष की अवधि तक तथा स्त्री का पचास वर्ष तक है, अतएव वह विवाह के समय पति-पत्नी की आयु में २० वर्ष का अन्तर अभीष्ट मानता है। स्त्रियाँ १७-१८ वर्ष की आयु में शारीरिक दृष्टि से सन्तानोत्पादन में समर्थ होती हैं, उनकी और पुरुषों की आयु में २० वर्ष के उपर्युक्त अन्तर को ध्यान में रखते हुए विवाह के समय कन्या की आयु १७-१८ वर्ष तथा पुरुष की आयु ३७ वर्ष होनी चाहिए।[1] यूनानियों के मतानुसार मानसिक शक्ति की पराकाष्ठा पचास वर्ष की आयु तक प्राप्त होती है। अत: अरस्तू पुरुषों को इसके चार-पाँच वर्ष बाद अर्थात् ५५ वर्ष की आयु तक ही सन्तानोत्पादन की अनुमति देता है;[2] क्योंकि इसके बाद वृद्धावस्था के कारण उनकी सन्तान सबल नहीं होती। तत्कालीन यूनानी प्रथा के अनुसार वह विकृताकृति बच्चों को शुरू में नष्ट कर देने की व्यवस्था का समर्थन करता है। जनसंख्या को नियन्त्रित करने के लिए वह परिवार के लिए बच्चों की संख्या नियत करने के पक्ष में है तथा इस संख्या का अतिक्रमण रोकने के लिए वह गर्भपात को भी उचित समझता है, बशर्ते कि गर्भ में चेतना और प्राण का संचार होने से पहले ऐसा कार्य किया जाय।[3]

अरस्तू बच्चे का जन्म होने के बाद से उसकी शारीरिक और नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था करता है (पालिटिक्स ७।१७)। शैशव की **पहली** दशा में वह इसके भोजन, अंग-संचालन और ठंड का अभ्यासी बनाने पर बल देता है, ताकि वह कष्ट-सहिष्णु हो सके। **दूसरी** अवस्था पाँच वर्ष तक की है। इसमें बच्चों के शारीरिक गठन की ओर बहुत ध्यान देना चाहिए, उन पर पढ़ाई का बोझ नहीं डालना चाहिए, उनके अंगों के संचालन के लिए मनोरंजक खेलों का प्रबन्ध होना चाहिए। उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनानी और खेल कराने चाहिएँ, जो उन्हें भावी जीवन के लिए तैयार करने में सहायक

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ३२५-२६।
२. वही, पृ० ३२६।
३. वही, पृ० ३२७।

हों। प्लेटो ने बच्चों के रोने-चीखने को बन्द कराने को कहा है, अरस्तू इन्हें उनके शरीर का व्यायाम समझता हुआ उनके विकास के लिए हितकर मानता है, फेफड़ों में वायु रोकने तथा प्राणायाम कराने की व्यवस्था करता है। बच्चों को कुसंगति से बचाना चाहिए, उन्हें न तो गालियाँ सुनने देनी चाहिएँ और न अश्लील चित्र देखने देने चाहिएँ। बचपन में पड़े हुए संस्कार गहरे होते हैं, अतः वह बच्चों को निम्न कोटि की किसी वस्तु के संपर्क में नहीं आने देना चाहता। शिक्षा की **तीसरी** अवस्था ५ से ७ वर्ष तक की है। इस आयु के बच्चों को भी अभद्र और अश्लील तथा बुरी वस्तुओं के प्रभाव से बचाना चाहिए। अरस्तू इसके लिए राज्य में अश्लील चित्रों और नाटकों पर प्रतिबन्ध लगाने का समर्थन करता है। शासकों को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि कहीं भी अश्लील और अशोभन कार्यों की अनुकृति करने वाली मूर्त्तियां या चित्र न हों।[1] इसका अपवाद केवल परिपक्व अवस्था के स्त्री-पुरुषों की पूजा के लिए बने देव-मंदिर हैं। उसके मतानुसार निश्चित परिपक्व आयु से पहले युवकों को निन्दा-नाटक (Mimes) और प्रहसन भी नहीं देखने चाहिएँ। ७ वर्ष तक बच्चे की शिक्षा घर में माँ-बाप के पास होनी चाहिए और उसकी कुछ बौद्धिक शिक्षा आरम्भ करनी चाहिए।

७ वर्ष के बाद शिक्षा दो खंडों में विभक्त हो जाती है—(१) सात वर्ष से मसें भीगने (चौदह वर्ष) तक का काल; (२) १४ से २१ वर्ष तक का काल। शिक्षा का उद्देश्य प्रकृति की कमियों को दूर करना तथा मनुष्य को पूर्ण बनाना है। शिक्षा राज्य के नियन्त्रण में होनी चाहिए, सब नागरिकों के लिए एक जैसी होनी चाहिए। इसमें ऐसे विषयों का समावेश होना चाहिए, जो उपयोगी तथा नैतिक भावना उत्पन्न करने वाले हों। पढ़ाई, लिखाई और चित्रकला उपयोगी विषय होने के कारण पढ़ाये जाने चाहिएँ। व्यायाम का प्रशिक्षण साहस पैदा करने के लिए आवश्यक है। किन्तु स्पार्टा की भाँति मानसिक गुणों की उपेक्षा करते हुए एकमात्र कठोर शारीरिक शिक्षा पर बल देना ठीक नहीं है। १६-१७ वर्ष तक हल्का व्यायाम किया जाना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में कठोर तथा उग्र व्यायाम शारीरिक विकास को अवरुद्ध कर देता है। ओलिम्पिक क्रीड़ाओं में ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जिन्होंने बाल्यावस्था और युवावस्था में पुरस्कार प्राप्त किए हों (८।४)।[2]

संगीत की शिक्षा कई दृष्टियों से महत्त्व रखती है। इसमें मनुष्यों के हृदयों को आह्लादित करने की क्षमता है, अतः बच्चों को इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। निर्दोष आनन्द न केवल जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त होते हैं, किन्तु शारीरिक थकान दूर करने वाले तथा विश्राम में सहायक होते हैं। बच्चों को संगीत से प्राप्त होने वाला आनन्द, विश्रान्ति और मनोरंजन मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त संगीत हमारे चरित्र और आत्मा पर भी प्रभाव डालता है। ओलिम्पस जैसे कुछ राग आत्मा को उत्साह से भर देते हैं, उत्साह आत्मा के चारित्रिक अंश से संबंध रखने वाला मनोवेग है। उत्तम संगीत हमारे मन में उचित प्रकार के कामों के प्रति आनन्द की भावना उत्पन्न करने के कारण भलाई को प्रादुर्भूत करता है। संगीत की राग-रागिनियों और लयों का

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ३३०।

२. वही, पृ० ३३९।

मनुष्य की आत्मा के साथ सहज संबंध है। पिथागोरस के अनुयायी स्वर-संवादिता (Harmony) को आत्मा मानते हैं, प्लेटो कहता है कि आत्मा में स्वर-संवादिता का निवास है। अरस्तू इसे आत्मा का गुण मानता है। अतः जब तक संगीत की शिक्षा नहीं होगी, आत्मा का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा। संगीत मनुष्य के नैतिक जीवन के विकास में भी बहुत सहायक है।

अरस्तू की उपर्युक्त शिक्षा-पद्धति में कई गुण-दोष हैं। इसका सबसे बड़ा गुण मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होना है। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है। दूसरा गुण नागरिक को राज्य के उपयोगी अंग के रूप में ढालना है, ताकि वह राज्य के विकास में पूरा सहयोग दे सके। तीसरा गुण यह है कि यह शिक्षा मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। अरस्तू शरीर और मन की सभी शक्तियों का संतुलित विकास करना चाहता है। स्पार्टा की भाँति केवल शारीरिक शिक्षा को अपना लक्ष्य नहीं बनाता।

अरस्तू की शिक्षा-पद्धति के कुछ बड़े दोष ये हैं : (क) वह बौद्धिक शिक्षा को बहुत देर में १४ वर्ष के बाद शुरू करता है। वर्त्तमान शिक्षाशास्त्री इतनी देर से इसे आरम्भ करना ठीक नहीं समझते। (ख) अरस्तू की शिक्षा में संगीत को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा की गयी है। प्लेटो तथा अरस्तू की शिक्षा-पद्धतियों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अरस्तू २१ वर्ष तक शिक्षा को समाप्त कर देता है, प्लेटो इसे संरक्षकों के लिए ३५ वर्ष तक चाहता है और शिक्षा को जीवन के अन्तिम समय तक चलाने वाली प्रक्रिया समझता है। वह 'अजराम-रवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' का समर्थक है।

मिश्रित संविधान (Mixed Constitutions)—अरस्तू ने प्लेटो की भाँति यूनान में प्रचलित वास्तविक शासन-प्रणालियों की समीक्षा करने के बाद (पालिटिक्स ४।३ से १० अध्याय) मिश्रित संविधान का समर्थन किया है। वस्तुतः उसका आदर्श संविधान सर्वजनतन्त्र या मध्यवर्गतन्त्र (Polity), लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र का सम्मिश्रण है। कोई भी शासन-प्रणाली अपने आप में परिपूर्ण नहीं हो सकती, उसमें गुण-दोषों का होना अनिवार्य है। यूनानी विचारक विभिन्न प्रणालियों के गुणों का समन्वय कर एक आदर्श संविधान बनाने के पक्ष में थे। अरस्तू ने लिखा[1] है कि उस समय कुछ विचारक आदर्श संविधान को सब संविधानों का सम्मिश्रण मानते थे और स्पार्टा के संविधान के बारे में यह माना जाता था कि यह राजतन्त्र, धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र का सम्मिश्रण है। अरस्तू ने स्वयमेव कार्थेज (२।११) तथा स्पार्टा (२।६) के राज्यों को मिश्रित संविधान वाला बताया है।

अरस्तू का मिश्रित संविधान लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के दोषों को दूर करते हुए उनके गुणों को समन्वित करने का यत्न था। उसके मतानुसार विभिन्न शासन-प्रणालियों का एक भेदक तत्त्व इनके शासन में विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों को प्रधानता दिया जाना है। जहाँ स्वतन्त्रता और समानता को महत्त्व दिया जाता है, वहाँ लोकतन्त्र होता है। अल्प या धनिकतन्त्र (Oligarchy) में धन को शासन में प्रमुखता मिलती

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० ६०।

है। गुण (Virtue) कुलीनतन्त्र का मुख्य तत्त्व है और सर्वजनतन्त्र (Polity) में स्वतन्त्रता तथा धन दोनों तत्त्वों को प्रधानता दी जाती है। इस प्रकार इसमें लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के गुणों का समन्वय होता है। उसका मिश्रित संविधान मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है और पहले (पृ० १८४-५) यह बताया जा चुका है कि इसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता होने के कारण यह लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के दोषों से मुक्त होता है। लोकतन्त्र में निर्धन जनता के छोटे प्रलोभनों से दूषित होने की सम्भावना होती है, उनमें शासन की योग्यता का अभाव होता है। दूसकी ओर धनियों में कानून की अवज्ञा करने का दोष होता है। मिश्रित संविधान दोनों प्रकार के दोषों से मुक्त होता है।

मिश्रित संविधान में जनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र का सम्मिश्रण तीन सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है (पालिटिक्स ४।९)। **पहला सिद्धान्त** लोकतन्त्रीय तथा धनिकतन्त्रीय नियमों को पूरी तरह एक साथ मिला देना है। उदाहरणार्थ, न्यायालय में न्यायाधीश का कोई कार्य करने के बारे में धनिकतन्त्रों में यह व्यवस्था है कि यदि धनी न्यायाधीश चुने जाने पर न्याय का कार्य न करें, तो उन्हें अर्थदण्ड दिया जाता है, किन्तु निर्धनों को इस कार्य के लिए कोई वेतन नहीं दिया जाता। दूसरी ओर लोकतन्त्रों में निर्धनों को न्याय कार्य के लिए वेतन दिया जाता है और धनियों को यह कार्य न करने पर दण्डित नहीं किया जाता। इन दोनों नियमों का समुचित मिश्रण पहला सिद्धान्त है। **दूसरे सिद्धान्त** में दोनों तन्त्रों के नियमों के आधार पर औसत निकालकर नियम बनाया जाता है। उदाहरणार्थ, जनतन्त्र की पद्धति असेम्बली की सदस्यता के लिए या तो साम्पत्तिक योग्यता की कोई शर्त्त नहीं रखती या स्वल्प संपत्ति की शर्त्त रखती है, धनिकतन्त्र में इसके लिए अधिक योग्यता की शर्त्त रखी जाती है। दोनों के समन्वय के लिए बीच की औसत निकाल लेनी चाहिए। यदि लोकतन्त्र में असेम्बली के सदस्य की उम्मीदवारी के लिए १०) की सम्पत्ति की योग्यता की शर्त्त हो और धनिकतन्त्र में १००) की शर्त्त हो तो मिश्रित संविधान में इनकी औसत ५५) की शर्त्त होनी चाहिए। **तीसरा सिद्धान्त** कुछ नियम जनतन्त्र में से तथा कुछ नियम धनिकतन्त्र में से लेने का है। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र में शासकों का चुनाव गुटिका या परची पद्धति से तथा धनिकतन्त्र में मतदान द्वारा होता है। शासन के पदों के लिए कोई सामाजिक योग्यता न होना जनतन्त्रात्मक तथा साम्पत्तिक योग्यता होना धनिकतन्त्रात्मक है। प्रत्येक पद्धति में से एक-एक तत्त्व लेने से दोनों का सम्मिश्रण हो सकता है, जैसे धनिकतन्त्र में से शासकों के निर्वाचन का नियम और प्रजातन्त्र में से साम्पत्तिक योग्यता के न होने का नियम। अरस्तू के मतानुसार मिश्रित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण स्पार्टा की शासन-प्रणाली थी।

मिश्रित संविधान का विचार अरस्तू के बाद भी लोकप्रिय रहा। रोमन युग के यूनानी विचारक पोलिबियस (Polybius) का यह मत था कि अमिश्रित संविधान परिवर्त्तन की प्रबल धारा में बह जाते हैं, केवल वही संविधान स्थायी हो सकता है, जिसमें लोकतन्त्र, धनिकतन्त्र और राजतन्त्र का सम्मिश्रण हो। सिसरो ने रोम के संविधान को इसी प्रकार का माना था। स्टोइक भी इसी के समर्थक थे।

अरस्तू की राजनीति के सामयिक (यूनानी) तथा शाश्वत तत्त्व (The Hellenic and Universal in Aristotle)—अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन पर

उस समय की यूनानी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः उसकी विचारधारा उस समय के अनेक यूनानी तत्त्वों से मर्यादित है। डनिंग (Dunning) के शब्दों में यद्यपि राजनीतिशास्त्र की सामग्री के लिए उसकी ऐतिहासिक खोज ने यूनानियों (Hellas) के प्रादेशिक क्षेत्र की सीमाओं का अतिक्रमण किया था, किन्तु उसने जिस पद्धति का निर्माण किया, उसके आवश्यक अंशों का निर्धारण यूनानी क्षेत्र की सीमाओं में विद्यमान परिस्थितियों से हुआ।[1] अरस्तू के चिन्तन के यूनानी तथा सामयिक तत्त्वों में **पहला** पोलिस या नगर राज्य को राजनीतिक विकास की चरम सीमा मानना था। यद्यपि उसकी आंखों के सामने ही फिलिप ने यूनानी नगर-राज्यों का अन्त किया, उसके शिष्य सिकन्दर ने विश्वव्यापी साम्राज्य स्थापित किया, किन्तु उसकी दृष्टि नगर-राज्य से ऊपर नहीं उठ सकी। **दूसरा तत्त्व** उसका जात्यभिमान और यूनानियों को अन्य बर्बर जातियों से सब बातों में उत्कृष्ट मानना था (देखिये ऊपर पृ० १७६-८०)। **तीसरा तत्त्व** दास-प्रथा का समर्थन करना था (देखिये ऊपर पृ०१६२)। **चौथा तत्त्व** हाथ का काम करने वालों, कारीगरों तथा शिल्पियों को हीन दृष्टि से देखना तथा इन्हें नागरिकता के अधिकारों से वंचित करना था (देखिये ऊपर पृ० १७३)। **पाँचवाँ तत्त्व** राज्य द्वारा संचालित और नियन्त्रित शिक्षा-पद्धति का समर्थन था। **छठा तत्त्व** व्यापार से घृणा तथा सूदखोरी का घोर विरोध था। आजकल अरस्तू के इन छहों तत्त्वों में से एक को भी सत्य नहीं माना जाता। उसके ये सब विचार तत्कालीन यूनानी परिस्थितियों में स्वयंसिद्ध स्वाभाविक सत्य माने जाते थे, किन्तु परिस्थितियों के परिवर्तन और युगभेद से अब इन्हें अस्वाभाविक, अप्रगतिशील और दकियानूसी विचार माना जाने लगा है।

किन्तु जब हम अरस्तू के राजनीतिक विचारों का गम्भीर अनुशीलन करते हैं तो हमें इनमें कुछ ऐसे विचार भी मिलते हैं, जो आज भी उतने ही सत्य हैं, जितने आज से २२०० वर्ष पहले थे और आगे भी चिरन्तन सत्य बने रहेंगे। राजनीतिक विचारों के विकास पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा है। उसके इन शाश्वत तत्त्वों में **पहला** उल्लेखनीय विचार स्वतन्त्रता और सत्ता का समन्वय (Reconciliation of liberty and authority) है। स्वतन्त्रता तथा समानता को अत्यधिक महत्त्व देने वाले अराजकवादियों जैसे विचारक राज्य की सत्ता को वैयक्तिक विकास और स्वतन्त्रता के लिए घातक समझते हैं, वे उच्छृंखलता में ही स्वाधीनता के दर्शन करते हैं। किन्तु अरस्तू इसका घोर विरोधी था। उसने अतिगामी (Extreme) लोकतन्त्र की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए लिखा था—"लोकतन्त्र को बहुसंख्या का शासन समझा जाता है और स्वतन्त्रता तथा समानता का यह अर्थ लगाया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है। अतः लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं का अनुसरण करता है। किन्तु यह बुरी बात है। क्योंकि संविधान की आधीनता में रहने वाले जीवन को दासता नहीं समझा जा सकता, वह उच्चतम कल्याण (का जीवन) है" (पालिटिक्स ५।६)। वह राज्य में ही उच्चतम भलाई का जीवन बिताना संभव समझता था। अतः राज्य के नियमों में रहना व्यक्ति की स्वतन्त्रता के

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, पृ० ६३।

लिए घातक नहीं, किन्तु अत्यन्त उपयोगी है। **दूसरा** शाश्वत तत्त्व कानून की सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty of Law) का है (देखिये ऊपर पृ० १७५)। कानून निष्पक्ष एवं परिपक्व बुद्धि का परिणाम होने के कारण राज्य के संचालन और दृढ़ता के लिए अत्यावश्यक है। आजकल भी कानून के शासन (Rule of Law) को असाधारण महत्त्व दिया जाता है। **तीसरा तत्त्व** लोकमत की महत्ता है। वह जनता की सामान्य बुद्धि (Common sense) को विशेषज्ञों की सम्मति से अधिक महत्त्व देता था। उसका कहना था कि प्रशासन के जटिल प्रश्नों के संबंध में जनता भले ही अपना बहुमूल्य निर्णय न दे सके, किन्तु उसमें यह सामान्य बुद्धि विशेषज्ञों की अपेक्षा अधिक है कि शासन करने का अधिकार किन व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए। भारतीय परम्परा के अनुसार पंचों में परमेश्वर का वास है, उनका निर्णय ईश्वरीय निर्णय की भाँति निर्भ्रान्त और यथार्थ होता है। अरस्तू इसे मानता था और आज भी लोकतन्त्र का समर्थन इसी तर्क के आधार पर किया जाता है। **चौथा तत्त्व** प्रभुसत्ता (Sovereignty) का है। आजकल यह राज्य की मौलिक विशेषता समझी जाती है। अरस्तू ने सर्वप्रथम इसका बीज रूप में प्रतिपादन किया। वह इसे राज्य में एक ऐसी निश्चित मानवीय सत्ता के रूप में स्वीकार करता है, जिसकी इच्छा अन्तिम कानून होती है। यद्यपि वह इस प्रभुसत्ता को भी कानून के बन्धन में बंधा हुआ स्वीकार करता है, किन्तु फिर भी इसे उन अवस्थाओं में कानून बनाने का अधिकार देता है, जब "कानून अपर्याप्त या अनुचित हो" (पालिटिक्स ३।१५)। इस अधिकार द्वारा अरस्तू ने १९वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विधिशास्त्री आस्टिन की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का सूत्ररूप में निर्देश किया है। **दाँचवाँ तत्त्व** राज्य के विचारात्मक (Deliberative), विधान निर्माण करने वाले (Legislative) तथा न्याय का कार्य करने वाले (Judicial) तीनों अंगों का सुस्पष्ट वर्णन है। इससे वर्त्तमान राजनीति में राज्य की तीनों शक्तियों को पृथक् और स्वतन्त्र रखने के सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) को बड़ा बल मिला है। **छठा तत्त्व** राजनीति पर आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव को महत्त्व देना है। उसके लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के वर्गीकरण का आधार आर्थिक है। उसने धनी-निर्धन के वर्ग-संघर्ष का सुन्दर चित्रण किया है, राज्य के लिए अत्यधिक सम्पन्नता और दरिद्रता को अभिशाप माना है। अरस्तू ने इस विषय में मांतेस्क्यू तथा कार्ल मार्क्स के विचारों को प्रभावित किया है। **सातवाँ तत्त्व** उसके मध्यम मार्ग का विचार है। इसी से वर्त्तमान समय में अनेक प्रकार के राजनीतिक नियन्त्रणों और संतुलनों (Checks and balances) का विचार उत्पन्न हुआ है। **आठवाँ तत्त्व** राज्य के सम्बन्ध में यह उदात्त विचार है कि वह बुद्धि द्वारा शासित होता है, उसका लक्ष्य उत्तम जीवन है। राज्य का उद्देश्य यह नहीं है कि वह अपने प्रदेश का विस्तार करे, किन्तु उसका यह प्रयोजन है कि नागरिकों में सद्गुणों की वृद्धि, न्याय का वितरण और ज्ञान का प्रसार करे। **नवाँ तत्त्व** उदार लोकतन्त्र (Liberal Democracy) का समर्थन है। अरस्तू यद्यपि लोकतन्त्र के अतिगामी (Extreme) रूप का तथा भीड़ द्वारा शासन करने वाले लोकतन्त्र का विरोधी है, किन्तु इसके साथ ही सब प्रकार के अधिनायकों और तानाशाहों के शासन का भी उग्र विरोधी है। वह सब प्रकार के शासन में कानून की सर्वोच्च सत्ता का समर्थक होने के कारण बैध (Constitutional) शासन का

पक्षपाती है।

बार्कर ने लिखा है[1] यदि यह प्रश्न किया जाय कि अरस्तू के राजनीतिशास्त्र (Politics) की योरोप के विचार को सबसे बड़ी देन क्या है तो इसका उत्तर एक शब्द में संक्षिप्त कर के दिया जा सकता है, और वह शब्द है वैधानिकता (Constitutionalism)। पालिटिक्स की तीसरी पुस्तक में प्रतिपादित यह सिद्धान्त इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध बृहत् अधिकार-पत्र (Magna Carta) के इस सिद्धान्त से गहरा सादृश्य रखता है कि "राजा सदैव कानून के आधीन है और इसका वशवर्त्ती बना रहेगा।" मध्यकालीन एवं आधुनिक योरोप में राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर वैध शासन का समर्थन करने वाले राजनीतिक विचारों का एक प्रबल प्रेरणा स्रोत अरस्तू सुप्रसिद्ध कृति-'राजनीति शास्त्र' रहा है।

अरस्तू का प्रभाव—अरस्तू का तत्कालीन यूनानी और परवर्त्ती रोमन विचार-धारा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अपने शिष्य सिकन्दर को यह उपदेश दिया था कि वह यूनानियों पर नेता (Hegemon) के रूप में तथा बर्बर जातियों पर स्वामी (Despotes) के रूप में शासन करे। वह नगर-राज्य (Polis) का भी प्रबल समर्थक था। किन्तु ३३० ई० पू० में जब वह अपने विद्यापीठ (Lyceum) में इसका प्रतिपादन कर रहा था तो सिकन्दर ने विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना करने की तथा यूनानियों और बर्बर जातियों का स्वामी बनने की योजना बनाई, शीघ्र ही इसे मूर्त्तरूप दिया और यूनानियों तथा ईरानियों के अन्तर्विवाहों द्वारा दोनों के भेदों को दूर करते हुए एक नये प्रकार के राज्य की कल्पना को जन्म दिया। वह विश्वव्यापी था और प्रत्येक जाति का व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता था। इसे **विश्वनगरी** (Cosmopolis) का विचार कहा जाता है। यह अरस्तू के नगर-राज्य (Polis) का विलोम था। अरस्तू के बाद के स्टोइक दार्शनिक ज़ीनो ने पोलिस के विरोध में विश्वनगरी के विचार का प्रबल समर्थन करते हुए कहा कि मनुष्यों को पृथक्-पृथक् राज्यों में न रहकर विश्वनगरी का नागरिक बनना चाहिए और एक जैसा जीवन और व्यवस्था (Cosmos) स्थापित करनी चाहिए। विश्वनगरी के दो मौलिक विचार-विश्वव्यापी संगठन और सब मनुष्यों की समानता और बन्धुभाव के थे। इससे राजनीति के इतिहास में नवयुग का श्रीगणेश हुआ। १८०० वर्षों तक (३०० ई० पू० से १५०० ई०) योरोप में यही विचार-धारा प्रबल रही और अरस्तू की विचारधारा दबी रही।

१३वीं शताब्दी में डेढ़ हजार वर्ष की उपेक्षा के बाद योरोपियन विद्वान् पुनः अरस्तू की ओर आकृष्ट हुए। सन्त थामस एक्विनास ने अपनी शिक्षाओं में अरस्तू की राजनीति के और सन्त आगस्टाइन की **देवनगरी** (City of God) के विचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया। इससे मध्यकालीन योरोप की विचारधारा में पहली बार अरस्तू की राजनीति के इन मौलिक सिद्धान्तों का समावेश हुआ कि कानून ही सर्वोच्च शासक है, सरकारों को कानून का वशवर्त्ती होना चाहिए, जनता को कुछ अधिकार प्राप्त हैं, वे अपने शासकों का चुनाव कर सकते हैं और उनके शासन की जाँच करने का अधिकार रखते हैं। सन्त थामस एक्विनास के माध्यम से अरस्तू के वैधानिक शासन

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, भूमिका, पृ० ६१।

के विचारों का प्रभाव न केवल कैथोलिक योरोप पर पड़ा, किन्तु इंगलैण्ड तथा अन्य देशों की वर्त्तमान राजनीति पर भी पड़ा। सन्त थामस एक्विनास से प्रेरणा ग्रहण करके रिचर्ड हूकर (Hooker) ने Ecclesiastical Polity में इन विचारों का समर्थन किया और हूकर से जॉन लॉक ने इन्हें ग्रहण करते हुए इनका प्रतिपादन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Treatises on Civil Government में किया। इससे बर्क ने प्रेरणा ग्रहण की और इंगलैंड तथा योरोप के अन्य देशों के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित किया।

डॉ० जानसन ने बासवेल को कहा था कि वैध शासन-सत्ता का समर्थन करने वाला पहला ह्विग (Whig) शैतान था। लार्ड एक्टन ने इसका संशोधन करते हुए कहा था कि पहला ह्विग शैतान नहीं, किन्तु सन्त थामस एक्विनास था। बार्कर ने उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि पहला ह्विग अरस्तू था, क्योंकि उसने सन्त थामस एक्विनास को वैध शासन की शिक्षा दी थी।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि अरस्तू योरोप में वैधानिक शासन की विचारधारा का प्रथम प्रवर्त्तक है। उसने मारसिलियो के Defensor Pacis, दांते के De Monarchia तथा मेकियावेली के Prince पर बहुत प्रभाव डाला है। फ्रेंच विचारक मांतेस्क्यू अपने शक्ति-पार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त के लिए अरस्तू का ऋणी है। कार्ल मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic Interpretation of History) के तथा आर्थिक घटनाओं के राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव के सिद्धान्त पर अरस्तू के विचारों की स्पष्ट छाप है।

अरस्तू का मूल्यांकन – अरस्तू के उपर्युक्त प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि पश्चिम में वास्तविक रूप में राजनीतिक चिन्तन का श्रीगणेश करने वाला तथा इसे विज्ञान का रूप देने वाला अरस्तू था। उससे पहले प्लेटो ने यद्यपि इस प्रकार का चिन्तन किया था, किन्तु वह आदर्श-प्रधान था। अरस्तू का लक्ष्य और दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं यथार्थवादी था, उसने वास्तविक रूप में स्थापित किये जा सकने वाले आदर्श राज्य का प्रतिपादन किया। उसे इस बात का भी श्रेय है कि उसने इसे स्वतन्त्र विज्ञान बनाया और इसके अनुसंधान में निरीक्षण और तथ्यों का संकलन तथा वर्गीकरण करके, इनके आधार पर राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों को निश्चित करने का प्रयत्न किया। अतः मैक्सी ने अरस्तू को राजनीतिशास्त्र का पहला वैज्ञानिक (First Political Scientist) कहा है।[2]

---

१. बार्कर—पालिटिक्स, भूमिका, पृ० ६१।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५६।

पाँचवाँ अध्याय

एपीक्योरियन तथा स्टोइक विचारक

नगर-राज्यों का पतन तथा इसके परिणाम—प्लेटो और अरस्तू के समय यूनान का राजनीतिक चिन्तन अपने चरम उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गया था। इनके चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु नगर-राज्य था। किन्तु अरस्तू के जीवनकाल (३८४–३२२ ई० पू०) में ही नगर-राज्यों का ह्रास होने लगा। मैसीडोनिया के राजा फिलिप (३८२–३३६ ई० पू०) ने ३५९ ई० पू० में गद्दी पर बैठते ही अपनी सैनिक प्रतिभा और कुशल संगठन से नगर-राज्यों का विनाश आरम्भ किया, ३३८ ई० पू० में कैरोनिया (Chaeronea) के प्रसिद्ध युद्ध में एथेन्स और थीब्स की संयुक्त सेना को परास्त करके उसने सम्पूर्ण यूनान पर अपना आधिपत्य स्थापित किया और समस्त नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया। उसके बेटे महान् सिकन्दर (३५६–३२३ ई० पू०) ने एक विश्व-साम्राज्य का निर्माण किया। यद्यपि उसकी मृत्यु के बाद यह साम्राज्य कई हिस्सों में विभक्त हो गया, किन्तु राजनीतिक संगठन के आदर्श में मौलिक परिवर्त्तन आ गया। पहले अरस्तू ने नगर-राज्य को राजनीतिक संगठन का सर्वोत्तम रूप माना था, अब उसका स्थान सैनिक शक्ति पर आधारित विशाल साम्राज्य ने ले लिया। इसका राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसने प्लेटो और अरस्तू के चिन्तन के मुख्य आधार नगर-राज्य को समाप्त करके उनके चिन्तन को निरर्थक बना दिया। नवीन राजनीतिक परिस्थितियों ने नये प्रकार के राजनीतिक चिन्तन को अनिवार्य बना दिया। यूनानियों के मौलिक विचार की उड़ान उनके पराधीन होने के साथ समाप्त हो गयी। ज़ैलर (Zeller) ने लिखा है कि यूनानी कला की भाँति यूनानी दर्शन इसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपज था।[1] पहले मैसीडोनिया के तथा बाद में रोम के साम्राज्य द्वारा पराधीन बना लिए जाने पर यूनानी चिन्तन में ह्रास आना स्वाभाविक था। प्लेटो और अरस्तू ने यह माना था कि राज्य उत्तम जीवन बिताने के लिए परम आवश्यक है और नागरिकों को राज्य के कार्यों में पूरा भाग लेना चाहिए। किन्तु यूनानियों के पराधीन हो जाने पर उनके लिए यह संभव ही न रहा कि वे शासन-कार्य में भाग ले सकें, अतः अब उनमें ऐसे दार्शनिक विचारक उत्पन्न हुए, जो उत्तम जीवन का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य को सच्चा आनन्द संयत जीवन बिताने और मन पर नियन्त्रण रखने से प्राप्त हो सकता था। यह राजनीतिक परिस्थितियों पर नहीं, किन्तु मनुष्य की अपनी मानसिक परिस्थिति पर निर्भर था, वह किसी भी शासन-प्रणाली में सुखी रह सकता था। इस प्रकार की विचारधारा

---

१. ज़ैलर—दी स्टोइक्स, एपीक्योरियन्स, स्कैपिटिक्स, पृ० १०।

को जन्म देने वाले प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय एपीक्योरियन और स्टोइक थे। जिस प्रकार मध्यकाल में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा पादाक्रान्त भारतीयों को भक्तिवाद से सन्तोष मिला था, उसी प्रकार यूनानियों को मैसीडोनिया तथा रोम द्वारा पराधीन बनाये जाने के बाद एपीक्योर (लगभग ३४२–२७० ई० पू०) और ज़ीनो (४थी–३री श० ई० पू०) के सिद्धान्तों से शान्ति मिली।

नवीन विचारधारा की विशेषतायें—नगर-राज्यों के पतन के बाद उत्पन्न होने वाली राजनीतिक विचारधारा की तीन बड़ी विशेषतायें थीं। **पहली** विशेषता इसका व्यष्टिवादी (Individualistic) होना है। प्लेटो तथा अरस्तू राज्य को व्यक्ति की तुलना में बहुत अधिक महत्त्व देते थे, राज्य से उसका पृथक् एवं भिन्न विकास संभव ही नहीं समझते थे। किन्तु नगर-राज्यों के पतन के बाद राज्य के सार्वजनिक कार्यों में यूनानियों की कोई दिलचस्पी नहीं रही, वे व्यक्ति को राज्य से भिन्न समझने लगे और उसके सुख के लिए राज्य की अपेक्षा दर्शन को अधिक महत्त्व देने लगे। पुराने दार्शनिक यह मानते थे कि व्यक्ति के और राज्य के हित में घनिष्ठ सम्बन्ध है, नवीन विचारक राज्य की उपेक्षा करते हुए व्यक्ति को सुखी बनाने के उपायों पर विशेष विचार करने लगे। यदि पहले राजनीतिक विचार का केन्द्र राज्य था तो अब वह व्यक्ति हो गया। "अब राज्य और समाज समानार्थक नहीं रहे, व्यक्ति राज्य से पृथक् रूप में चिन्तन का एक प्रधान विषय बन गया।"[1] टार्न के शब्दों में "अरस्तू के साथ इस विचार का अन्त हो गया कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है, पोलिस या स्वशासन करने वाले नगर-राज्य का अंग है। सिकन्दर के (आविर्भाव के साथ) मनुष्य को व्यक्ति के रूप में देखा जाने लगता है।"[2]

दूसरी विशेषता सार्वभौमता (Universalism) की थी। प्लेटो तथा अरस्तू का राजनीतिक आदर्श नगर-राज्य था। किन्तु अब यह अतीत की वस्तु हो गया। इसका स्थान पहले मैसीडोनिया के तथा बाद में रोम के विश्वव्यापी साम्राज्य ने लिया। अत: अब नगर-राज्य के स्थान पर विश्व की नागरिकता (Cosmopolitanism) के विचार को आदर्श समझा जाने लगा।

तीसरी विशेषता मानवीय समानता (Human equality) और विश्व-बंधुत्व का विचार है। पहले (पृ० १७६-८०) यह बताया जा चुका है कि अरस्तू यूनानी जाति को अन्य बर्बर जातियों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझता था। अब सिकन्दर की सेनाओं ने यूनानी और बर्बर जातियों को पराधीनता के पाश में बाँधकर उसमें समानता स्थापित की। अब मनुष्य नगर-राज्य के नहीं, किन्तु विश्व-राज्य के सदस्य बने, उन्हें समान माना जाने लगा।

ये तीनों विशेषतायें राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में नवयुग का श्रीगणेश करने वाली हैं और १६०० वर्ष तक योरोप में इन्हीं सिद्धान्तों का प्राधान्य बना रहा। इनका आरम्भ एपीक्योरियन तथा स्टोइक विचारकों से तथा विकास रोमन विचारकों से होता है। ये अरस्तू तक के यूनानी विचारों से सर्वथा भिन्न और विरोधी विचार हैं।

---

१. मैकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थाट इन दी वैस्ट, पृ० ९८।
२. टार्न—हेलेनिस्टिक सिविलिज़ेशन, पृ० ६९।

अतः डॉ० कार्लाइल ने यह ठीक ही लिखा है कि "राजनीतिक सिद्धान्त में कोई अन्य परिवर्त्तन इतना विस्मयजनक (Startling) नहीं, जितना परिवर्त्तन अरस्तू के सिद्धान्त में तथा सिसरो और सेनेका द्वारा प्रतिपादित परवर्त्ती दार्शनिक दृष्टिकोण में है।"[1] सेबाइन के मतानुसार ३२२ ई० पू० में अरस्तू की मृत्यु के साथ राजनीतिक दर्शन के इतिहास में एक युग की समाप्ति उसी तरह होती है, जैसे उससे एक वर्ष पूर्व मरने वाले उसके शिष्य के जीवन से राजनीति में नवयुग का आरम्भ हुआ था।[2]

इस नवयुग को लाने वाली दो प्रमुख विचारधाराओं एपिक्योरियनवाद (Epicureanism) तथा स्टोइकवाद (Stoicism) में कई सादृश्य थे। **पहला** तो यह था कि ये दोनों जीवन का उद्देश्य व्यक्ति को सुखी बनाना समझते थे। किन्तु इन दोनों में आनन्द के स्वरूप तथा इसे प्राप्त करने के साधनों के विषय में मतभेद था। एपिक्योरियन ऐन्द्रियिक एवं बौद्धिक सभी इच्छाओं को संयत रूप में संतुष्ट करते हुए आनन्द प्राप्त करने के पक्षपाती थे, किन्तु स्टोइक मनोभावनाओं के दमन और विवेक-बुद्धि द्वारा अनैतिक इच्छाओं का निरोध करना चाहते थे। भारतीय परिभाषा के अनुसार पहला मार्ग राजयोग का तथा दूसरा हठयोग का था। **दूसरा** सादृश्य राजनीति को नैतिकता से पृथक् करना तथा नैतिकता के नियमों में अधिक आस्था न रखना था। **तीसरा** सादृश्य यह था कि दोनों व्यक्ति का वास्तविक जीवन उसकी बाह्य परिस्थितियों पर नहीं, किन्तु आन्तरिक अवस्था पर अवलम्बित समझते थे। यहाँ इन दोनों के राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव डालने वाले सिद्धान्तों का उल्लेख किया जायगा।

एपीक्योरियन सम्प्रदाय (Epicureanism)—इस दार्शनिक विचारधारा का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार का समकालीन एपिक्योरस (लग० ३४२–२७० ई० पू०) था। उसका जन्म ऐसी राजनीतिक उथल-पुथल और अशान्ति के समय में हुआ, जब मैसीडोन यूनानी नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रहा था। यूनानी कई बार नई सत्ता के प्रति विद्रोह करते थे। इन विद्रोहों को दबाने के लिए विद्रोहियों को बड़े पैमाने पर दूसरे स्थानों में निर्वासित करके इनके स्थान पर मैसीडोनिया के लोग बसाये जा रहे थे। एपीक्योरस के माता-पिता को भी इस प्रकार निर्वासित होकर लघु एशिया भागना पड़ा था। ऐसे अशान्त राजनीतिक वातावरण में एपीक्योरस ने दर्शन द्वारा मनुष्य को सुखी बनाने का प्रयत्न किया। उसका यह मत था कि मनुष्य को दुःखी बनाने वाले दो प्रकार के भय हैं—देवताओं का भय और मृत्यु का भय।[3] इन दोनों का यथार्थ स्वरूप जानकर इनके आतंक से मुक्ति पानी चाहिए। देवताओं का इस सृष्टि के निर्माण में कोई हाथ नहीं है। डिमोक्रिटस की भाँति वह इस सृष्टि को अणुओं द्वारा निर्मित मानता था क्योंकि कोई भी वस्तु अभाव से उत्पन्न नहीं हो सकती। आजकल धर्म को शान्ति एवं सुख देने वाला समझा जाता है, किन्तु वह इसे मनुष्यों के मन में नरक आदि के अनेक भय उत्पन्न करने के कारण दुःख का स्रोत समझता है। उसके अनुयायी प्रसिद्ध रोमन कवि ल्यूक्रेशियस (Lucretius

---

१. कार्लाइल—हिस्टरी ऑफ मिडीवल पोलिटिकल थियोरी, खं० १, पृ० २।
२. सेबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० १२१।
३. रसेल, बर्ट्रेंड—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० २५९।

99–55 BC) के शब्दों में "मानवीय जीवन धर्म के अत्याचार से पीड़ित हो रहा है।"[१] वह मनुष्यों को धर्म और पारलौकिक जीवन की दुश्चिन्ताओं से मुक्त करके सुखी बनाना चाहता था।

वह आनन्द या सुख को जीवन का मुख्य लक्ष्य मानता था। आनन्द ही सौभाग्य-पूर्ण जीवन का आदि और अन्त है।" उसकी दृष्टि में भलाई और आनन्द अभिन्न थे। वह सब भलाई (Good) का मूल उदर-पूर्ति का आनन्द मानता था और शारीरिक आनन्दों का चिन्तन मानसिक आनन्द समझता था। आनन्द दो प्रकार के होते हैं— गतिशील (Dynamic) आनन्द, जैसे पेट में चूहे कूदने पर भूख दूर करने के लिए भोजन करना तथा निश्चल (Static) आनन्द, जैसे भोजन कर लेने के बाद होने वाली तृप्ति का आनन्द। वह दूसरे प्रकार के आनन्द को उत्कृष्ट समझता था, क्योंकि इसमें किसी प्रकार की भूख आदि की वेदना नहीं होती और शरीर शान्त एवं स्थिर होता है। यही आदर्श स्थिति है। विषयों का भोग संयम और दूरदर्शिता के साथ करना चाहिए। भोजन से सुख मिलता है, किन्तु हमें पेटू बन कर इतना अधिक नहीं खाना चाहिए कि हम अजीर्ण, अपचन आदि बीमारियों के दुःख भोगें। वह स्वयं आजीवन अपने लिए जौ की रोटी और पानी को ही बड़ा आनन्द समझता रहा। "मैं रोटी और पानी से बड़ा आनन्दित होता हूँ। मसालों से घृणा करता हूँ, क्योंकि इनसे अनेक प्रकार की असुविधायें उत्पन्न होती हैं।" वह स्वादिष्ट भोजनों को तथा प्रेम और काम के सुखोपभोग को निन्दनीय समझता था। "मैथुन ने कभी किसी का कल्याण नहीं किया।"[२] सुकरात और प्लेटो साधुता (Virtue) में चार गुणों का समावेश करते थे (देखिए ऊपर पृ० ९३-४), किन्तु वह इसे आनन्दोपभोग में दूरदर्शी होना मात्र समझता था। आनन्द-वाद का प्रबल समर्थक एपीक्योरस आजीवन अनेक व्याधियों से पीड़ित रहा, किन्तु उसका यह मत था कि विचारों द्वारा मनुष्य को सूली पर चढ़ते हुए भी अपने को सुखी रखना चाहिए।

राजनीति के क्षेत्र में एपीक्योरियन विचारधारा ने निम्नलिखित विचारों को रखा :—

(१) **राजनीतिक जीवन की उपेक्षा** – प्लेटो तथा अरस्तू व्यक्ति के विकास के लिए राज्य को आवश्यक समझते थे। किन्तु एपीक्योरियन इससे पृथक् रहने पर बल देते थे; क्योंकि ल्यूक्रेशियस के मतानुसार सभ्य समाज का सदस्य बनने से मनुष्य में अनेक प्रकार की इच्छायें और महत्वाकांक्षायें उत्पन्न होती हैं, इनके न पूरा होने पर उसका दुखी

---

१. वही, पृ० २७१।

२. यह एपीक्योरस का दुर्भाग्य है कि उसे भ्रान्तिवश 'अंगनालिंगनजन्यं सुखमेव पुमर्थता' के अनुयायी, ऐन्द्रियिक सुखों को महत्ता देने वाले चार्वाकों की भांति समझ लिया गया है। एपीक्योरियनों को यह बदनामी स्टोइकों से मिली। एपिक्टेटस ने उनके सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था, "तुम इसी जीवन को अच्छा समझते हो—खाना, पीना, मैथुन, मलविसर्ग और खुर्राटे लेना, Eating, drinking, copulation, evacuation and snoring. Book II, Chap. XX, Discourses of Epictatus वस्तुतः एपीक्योरियनों का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं था।

होना स्वाभाविक है। अतः सुखी रहने का यह उपाय है कि सार्वजनिक जीवन से पृथक् रहा जाय। जब मनुष्य इस जीवन में पड़ता है और शक्ति प्राप्त करता है तो अन्य व्यक्ति उससे ईर्ष्या करने लगते हैं, उसे हानि पहुँचाना चाहते हैं, यदि उसे सौभाग्यवश इनसे कोई क्षति न पहुँचे तो भी उसकी मानसिक शान्ति और सुख नष्ट हो जाता है। अतः, बुद्धिमान् व्यक्ति को राज्य के प्रति वीतराग वृत्ति रखनी चाहिए, जब तक परिस्थितियाँ बाधित न करें, अच्छे आदमी को राजनीति से कोई संबंध नहीं रखना चाहिए और प्रत्येक प्रकार की शासन-प्रणाली में प्रसन्न रहना चाहिए। गैटिल के कथनानुसार "एपीक्योरियन लोगों की यह शिक्षा थी कि शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने वाली किसी भी सरकार की आज्ञा का पालन करना चाहिए। सफल निरंकुश राजतन्त्र उतना ही अच्छा है जितना लोकतन्त्र। सिकन्दर और रोम द्वारा यूनान की विजय के बाद की परिस्थिति में इस सिद्धान्त की उपयोगिता स्वतः स्पष्ट है।"[१]

(२) **उपयोगितावाद**—व्यक्ति के सुख को चरम लक्ष्य मानने के कारण इन्होंने व्यक्तिवाद को प्रधानता दी। इसके साथ ही इन्होंने नैतिकता पर भी बड़ा प्रभाव डाला। प्लेटो तथा अरस्तू राजनीति में नैतिकता—न्याय और साधुता (Virtue) के उदात्त सिद्धान्तों को बड़ा महत्त्व देते थे। किन्तु अब इनकी कसौटी वैयक्तिक आनन्द की भावना हो जाने से उपयोगितावाद को अधिक महत्ता मिली। यह १९वीं शताब्दी में बेन्थम की उपयोगितावादी धारणा का मुख्य आधार बना। यूनान में अब नैतिकता के उच्च सिद्धान्तों का स्थान सुखवाद ने ग्रहण किया।

(३) एपीक्योरस ने न्याय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सामाजिक संविदा (Social Contract) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्लेटो के मतानुसार न्याय स्वधर्म का पालन था (देखिये ऊपर पृ० ८५), किन्तु एपीक्योरस इसे केवल दूसरों को हानि न पहुँचाना और उन द्वारा पहुँचायी जाने वाली हानि से बचे रहने को दूरदर्शितापूर्ण व्यवस्था का चिह्न समझता था। उसका यह कहना था कि पूर्ण न्याय (Absolute Justice) जैसी कोई व्यवस्था नहीं है, न्याय और अन्याय मनुष्यों द्वारा अनुभव की जाने वाली आवश्यकताओं से उस समय उत्पन्न हुए, जब मनुष्य एकत्र होकर रहने लगे तथा उन्होंने एक-दूसरे को हानि न पहुँचाने की संविदा या अनुबन्ध (Spcial Contract) किया।[२]

स्टोइक सम्प्रदाय—इसका प्रवर्त्तक ज़ीनो (४थी-३री श० ई० पू०) और प्रधान समर्थक सम्राट् नीरो का मंत्री सेनेका (३–६५ ई०), एक दास एपिक्टेटस (पहली श० ई०) तथा एक रोमन सम्राट् मार्कस औरेलियस (१३१–१८० ई०) थे। यूनानी भाषा में स्टोआ (Stoa) डयोढ़ी (Portico) को कहते हैं। ज़ीनो की आदत एक डयोढ़ी के पास बैठकर शिक्षा देने की थी, अतः उसके अनुयायी स्टोइक कहलाये। पहले यह बताया जा चुका है कि सुख प्राप्ति के लिए ये अपनी इच्छाओं और तृष्णाओं का निरोध आवश्यक समझते थे। इनका कहना था कि साधुता (Virtue) इच्छा-शक्ति में रहती है। मनुष्य किसी भी परिस्थिति में हो, वह इच्छा-शक्ति और मन द्वारा

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० ५७।

२. गफ—दी सोशल कान्ट्रेक्ट, पृ० १५-१६।

अपने को सुखी बना सकता है।[1] भले ही उसे मृत्युदण्ड दिया जाय, वह सुकरात की भाँति इसमें भी प्रसन्न रहते हुए शान्तिपूर्वक मृत्यु का वरण कर सकता है। मनुष्य यदि सांसारिक इच्छाओं और तृष्णाओं से अपने को मुक्त कर ले तो वह स्वतन्त्र और सुखी रह सकता है। राजनीतिक विचारों की दृष्टि से स्टोइक लोगों के निम्नलिखित सिद्धान्त महत्वपूर्ण थे :—
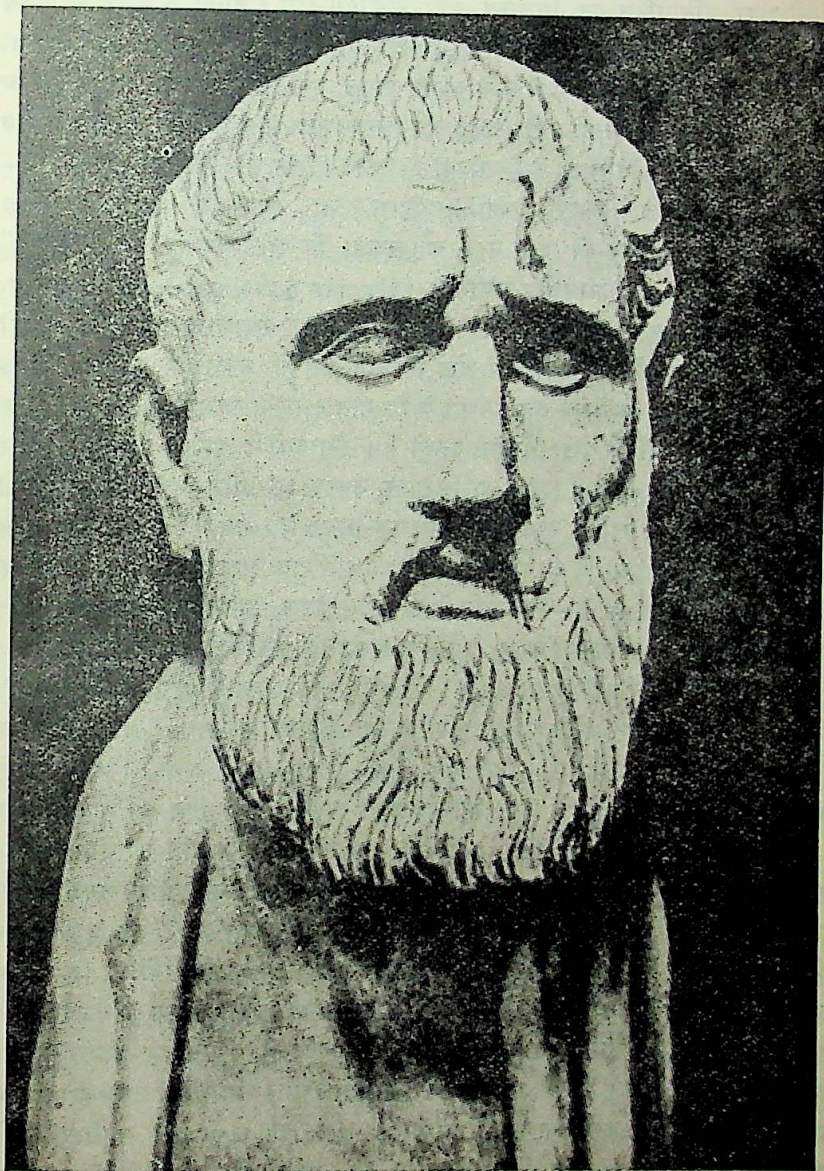
जीनो

१. मिलाइये, भर्तृहरि वैराग्य शतक श्लोक ५३—मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः। तथा मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।—मैत्र्युपनिषद् ६।३४।

(१) **विश्व की नागरिकता** (Cosmopolitanism)—सबसे पहले सिनिक (देखिये ऊपर पृ० ७२) दार्शनिकों ने यह दावा किया था कि वे किसी विशेष नगर के नहीं, किन्तु विश्व के नागरिक हैं। किन्तु उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों में यह विचार अधिक नहीं पनप सका। अब पहले मैसीडोन का तथा बाद में रोम का साम्राज्य स्थापित होने पर राजनीतिक परिस्थितियाँ इसके अनुकूल हो गयीं। अतः ज़ीनो द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त बड़ा लोकप्रिय हुआ। डनिंग के शब्दों में "जब यूनानी और बर्बर जातियों को पृथक् करने वाली दीवार बिल्कुल टूट गई; एथेन्स, थ्रेस, एशिया और मिश्र में रहने वाले व्यक्ति वस्तुतः एक राजनीतिक पद्धति के सदस्य बन गये तो विश्व की नागरिकता का विचार चिन्तनशील मनुष्यों के लिए स्वीकरणीय हो गया।[1] मार्कस औरेलियस ने लिखा था—"कवि एथेन्स को 'केक्रोप्स (Cecrops—पौराणिक कथाओं के अनुसार एथेन्स का पहला राजा) का नगर' कहकर संबोधित करता है, क्या तू विश्व को यह नहीं कह सकता कि 'तू ईश्वर का प्रिय नगर है।" (२) **विश्वबन्धुत्व और मानवीय समानता** (Human equality)—विश्व की नागरिकता से विश्वबन्धुत्व का विचार उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है। जब सभी व्यक्ति विश्व के नागरिक हैं तो उनमें कोई भेदभाव कैसे हो सकता है। (३) **मानव स्वभाव की दुष्टता**—स्टोइक यह समझते थे कि मानव प्रकृति स्वभावतः दुष्ट है, क्योंकि वह अपनी वासनाओं की पूर्त्ति में लगी रहती है। ईसाइयों ने इसी से प्रभावित होकर आरम्भिक पाप (Original Sin) का सिद्धान्त बनाया था और मानव स्वभाव की दुष्टता के निरोध के लिए वे राज्य को आवश्यक मानते थे। सत्रहवीं शताब्दी में हाब्स आदि विचारकों ने इसी के आधार पर राज्य का औचित्य सिद्ध किया। (४) **प्राकृतिक कानून** (Natural Law)—राजनीति के क्षेत्र में स्टोइक सम्प्रदाय की यह संभवतः सबसे बड़ी देन थी। ईसाइयत के एक आरम्भिक आचार्य टर्टुलियन (लग० १६०–२५० ई०) के मतानुसार ज़ीनो यह मानता था कि जैसा छत्ता शहद से ओत-प्रोत होता है, वैसे ही भगवान् इस भौतिक जगत् में व्याप्त है, उसी को मन (Mind), भाग्य (Destiny), सामान्य नियम, उचित बुद्धि (Right reason) आदि विभिन्न नामों से कहा जाता है।[2] यही समूचे जगत् को संचालित करने वाली शक्ति है। इसे नियति (Providence) या प्रकृति (Nature) भी कहा जाता है। प्रकृति के नियम सुनिश्चित, सामान्य, सार्वभौम, दैवीय बुद्धि पर आधारित, अटल तथा अपरिवर्त्तनशील हैं, इन्हें मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा जान सकता है। उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपना जीवन प्रकृति के नियमों के अनुकूल बिताये। इस प्रकार "प्रकृति सर्वोच्च, सार्वभौम कानून का मूर्त्तरूप है तथा आदर्श जीवन इस सार्वभौम कानून का अनुसरण करता है।" यद्यपि इस कानून को जानने का साधन व्यक्ति की बुद्धि है, किन्तु यह किसी विशेष व्यक्ति की बुद्धि न होकर मानव जाति द्वारा किये जाने वाले सामान्य निर्णय हैं। मानव समाज के नियम और कानून सार्वभौम नियम (Universal law) के अनुसार बनने चाहियें। कोई भी सरकार या नियम-निर्माता इस प्राकृतिक या सार्वभौम कानून का

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० १०४-५।
२. रसेल, बर्ट्रेण्ड—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० २७१।

उल्लंघन नहीं कर सकता।

स्टोइक विचारधारा का प्रभाव—स्टोइक लोगों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने विश्व को समता, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव, विश्वबन्धुत्व और प्राकृतिक नियम के सुस्पष्ट विचार दिए। यद्यपि स्टोइक दर्शन में प्लेटो का आदर्शवाद और अरस्तू की उच्च नैतिकता नहीं है, फिर भी अरस्तू के बाद ईसाइयत के आविर्भाव तक पश्चिम में दर्शन की प्रधान विचारधारा यही थी और इसने रोमन विचारधारा को और इसके द्वारा मध्यकालीन और अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन पर अमिट प्रभाव डाला है। रोमन विचारधारा पर इसके प्रभाव का मुख्य कारण यह था कि रोमन साम्राज्य के समय में स्टोइक आदर्शों के साथ अनुकूलता रखने वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं। रोमन साम्राज्य में सब जगह एक जैसा रोमन कानून लागू किया जाने लगा, विभिन्न महाद्वीपों और जातियों के व्यक्ति रोमन नागरिक समझे जाने लगे। इस प्रकार सार्वभौम कानून और विश्वनागरिकता के स्टोइक आदर्श मूर्त्तरूप में परिणत हुए। यद्यपि ये परिस्थितियाँ रोमन लोगों की सैनिक शक्ति तथा प्रशासन की प्रतिभा का परिणाम थीं, फिर भी रोमन साम्राज्य के आरम्भिक एवं सुदृढ़ शासनकाल में स्टोइक आदर्शों का बड़ा प्रभाव पड़ा। नीरो (३७–६८ ई०) के मन्त्री सेनेका तथा रोमन सम्राट् मार्कस औरेलियस ने इनका प्रचार किया। साम्राज्य के प्रधान विधिशास्त्रियों में पेपिनियन (Papinian d. २।२ A. D.) पाल और उल्पियन (लग० १७०–२२८ ई०) ने प्राकृतिक कानून के तथा सब मनुष्यों के साथ समान रूप से न्याय करने के सिद्धान्तों को मूर्त्त रूप दिया। "ईसाइयत ने रोमन साम्राज्य में सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से स्वीकार किये जाने वाले इन विचारों को ग्रहण किया और गम्भीरतम परिणामों के साथ इन्हें वर्त्तमान युग को प्रदान किया।"[1]

राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में यूनान की देन—पश्चिम में राजनीतिक विचारधारा की गंगोत्री यूनान है। इस क्षेत्र में इसकी महत्वपूर्ण देनें या दत्तांश (Contributions) निम्नलिखित हैं—(१) **स्वतन्त्रता का विचार**—यूनानी राजनीतिक जीवन के विकास के लिए स्वतंत्रता को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका यह आग्रह था कि प्रत्येक नगर-राज्य स्वाधीन, स्वशासन करने वाला तथा बाह्य नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिए। उन्होंने ईरानी सम्राटों द्वारा यूनानी नगर-राज्यों को पराधीन बनाने का उग्र विरोध किया और उन्हें परास्त कर यूनान की स्वाधीनता की रक्षा की। एथेन्स वालों को इस बात का गर्व था कि उनका कोई राजा या स्वामी नहीं है। किन्तु यूनानियों की स्वतन्त्रता की भावना में कई दोष भी थे। यह इतनी उग्र थी कि प्रत्येक नगर-राज्य 'अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग' बजाने में मस्त था। उनके विभिन्न नगर-राज्यों में कभी एकता की भावना नहीं उत्पन्न हो सकी और अन्त में इसी स्वातंत्र्य-प्रेम के कारण परस्पर संगठित न हो सकने से वे मैसीडोन के आधीन हो गये। यूनानियों की स्वतंत्रता में **दूसरा दोष** यह है कि यह राज्य के अल्पसंख्यक नागरिक वर्ग को ही प्राप्त थी, बहुसंख्यक दास और विदेशी व्यापारी इससे वंचित थे। **तीसरा दोष** यह था कि एथेन्स इसे अपने मित्र-राज्यों और साथियों को न देते हुए केवल अपने तक ही मर्यादित

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, खं० १, पृ० १०६।

रखना चाहता था। ४०४ ई० पू० में उसके पराभव का एक मुख्य कारण यह था कि वह दूसरे नगर-राज्यों का निरंकुश शासक बनना चाहता था। अतः गैटिल के शब्दों में यूनान ने वर्त्तमान जगत् को इसका विचारमात्र ही प्रदान किया है।[1] **दूसरी** देन विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। आजकल यह व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण अधिकार माना जाता है। सुकरात ने अपने सुप्रसिद्ध बलिदान द्वारा इसका प्रबल समर्थन किया और यह शिक्षा दी कि भले ही किसी व्यक्ति को अपने विचारों के लिए राजदण्ड का भागी बनना पड़े, किन्तु उसे अपने अन्तःकरण के अनुसार स्वतंत्र विचार रखने का तथा उनके अनुसार आचरण करने का पूरा अधिकार है। **तीसरी** देन कानून की प्रभुसत्ता (Sovereignty of Law) का विचार है। पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो तथा अरस्तू (देखिए ऊपर पृ० १७५) ने इसे बहुत महत्त्व दिया था। **चौथी** देन लोकतन्त्र का विचार है। यूनान के विभिन्न नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct democracy) की प्रणाली प्रचलित थी, पश्चिमी जगत् इसके लिए यूनानियों का ऋणी है। उनका यह विश्वास आज भी सत्य माना जाता है कि राज्य के कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेना चाहिए। **पाँचवीं** देन समानता (Equality) का विचार है। पहले (पृ० २१०) यह बताया जा चुका है कि स्टोइक दार्शनिकों ने सब मनुष्यों की समानता के तत्त्व पर बल दिया था तथा प्राकृतिक नियम और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्तों का समर्थन किया था। **छठी** देन देशभक्ति (Patriotism) का विचार है। यूनानियों की अपने नगर-राज्यों के प्रति अगाध भक्ति थी। राज्य उनके विकास का प्रधान साधन था। प्लेटो और अरस्तू राज्य को बहुत अधिक महत्त्व देते थे, वे इसके बिना व्यक्ति के जीवन की कल्पना नहीं कर सकते थे। यूनानियों का नगर-राज्य न केवल शासन का अपितु चर्च और विद्यालय का भी कार्य करता था। इसमें रहता हुआ मनुष्य अपने राजनीतिक और दीवानी अधिकारों का तथा उच्चतर सांस्कृतिक जीवन का उपभोग करता है, अतः इसके प्रति उनकी भक्ति और निष्ठा बहुत प्रगाढ़ थी। **सातवीं** देन राज्य और व्यक्ति की एकता तथा राज्य का अवयवीवाद का सिद्धान्त (Organic theory) है। पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो राज्य और व्यक्ति में अभेद मानता था और जैसी अनुभूति की एकता शरीर में है, वैसी राज्य में लाना चाहता था। अनेक परवर्त्ती राजनीतिक विचारकों ने राज्य के अवयवीवाद के सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया। **आठवीं** देन राजनीति और नीतिशास्त्र का समन्वय था। प्लेटो राज्य में न्याय तथा साधुता (Virtue) को बहुत महत्त्व देता था, अरस्तू जीवन को पूर्ण बनाना ही राज्य का लक्ष्य मानता था। इन दोनों ने राजनीति को आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर लाने का यत्न किया।

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ६१।

छठा अध्याय

रोम के राजनीतिक विचार

रोम का महत्त्व—पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा में रोम का विशेष स्थान है। रोम ने प्लेटो और अरस्तू की भाँति उच्चकोटि के मौलिक विचारक उत्पन्न नहीं किये, राजनीतिक साहित्य को नवीन विचारों से समृद्ध नहीं किया। मैक्सी के कथनानुसार "रोमन सभ्यता राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपने विचारों की मौलिकता के कारण प्रसिद्ध नहीं है। रोम के विचारक राजनीतिक विचारों को उत्पन्न करने वाले नहीं थे, किन्तु इनके व्याख्याता और इनका (यूनान से मध्यकालीन तथा अर्वाचीन योरोप तक) वहन करने वाले थे।"[1] रोम के प्रसिद्ध विचारक पोलिबियस (२०४—१२२ ई० पू०), सिसरो (१०६–४३ ई० पू०) तथा सेनेका (लग० ३ ई० पू० से ६५ ई० प०) के आगे दिये जाने वाले विवरण से स्पष्ट हो जायगा कि राजनीति के क्षेत्र में इन्होंने कोई नई देन नहीं दी; केवल पुराने यूनानी विचारों का पिष्टपेषण किया।

किन्तु मौलिकता का अत्यन्त अभाव होते हुए भी कई कारणों से राजनीतिक विचारधारा में रोम का असाधारण महत्त्व है। **पहला** कारण यह है कि अनेक शताब्दियों तक रोमन लेखक और विचारक विश्व में यूनानी विचारधारा के प्रसार के शक्तिशाली साधन और माध्यम बने रहे। स्टोइक लोगों के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त की जो व्याख्या और टीका सिसरो ने की, वह समूचे मध्ययुग में समादृत होती रही। **दूसरा** कारण रोम की राजनीतिक संस्थाओं और कानून का गहरा प्रभाव था। रोम के सुदीर्घ राजनीतिक जीवन में—७५३ ई०पू० में इस नगर की स्थापना से लेकर ४७६ ई०प० में पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पतन तक यहाँ अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित रहीं। आरम्भ में लगभग ढाई सौ वर्ष तक (७५३–५१० ई० पू०) यहाँ राजतन्त्र था। इसके बाद लगभग पाँच सौ वर्ष (५१०–३० ई० पू०) तक गणतन्त्र प्रणाली प्रचलित रही। इस समय रोम के साम्राज्य का इटली में तथा उससे बाहर अभूतपूर्व विकास हुआ। ३० ई० से ४७६ ई० तक रोम में सम्राटों का शासन रहा। इस समय में विकसित होने वाली राजनीतिक संस्थाओं ने और रोमन कानून ने राजनीतिक चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। आजकल इटली, स्विट्ज़रलैंड, फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड तथा दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न राज्यों में कानून का मुख्य आधार रोमन कानून है। रोम की सबसे बड़ी देन उसका कानून है और इसने सभ्य जगत् की अधिकांश कानूनपद्धतियों को प्रभावित किया है। रोमन लोगों ने भले ही राजनीतिक प्रश्नों पर मौलिक दार्शनिक

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ८०।

चिन्तन न किया हो, किन्तु अपनी राजनीतिक संस्थाओं से तथा कानून द्वारा परवर्त्ती चिन्तन पर अमिट प्रभाव छोड़ा। रोमन यूनानियों की भाँति कोरे दार्शनिक नहीं, किन्तु अत्यधिक व्यावहारिक थे। यूनानियों ने विचार दिये थे, रोमन लोगों ने इन्हें क्रियात्मक रूप देने का यत्न किया। रोम का व्यावहारिक अनुभव और राजनीतिक संस्थाओं के उदाहरण और आदर्श, राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व रखते हैं। इन्हें समझने के लिए उसके राजनीतिक विकास का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

रोम का राजनीतिक विकास—परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार रोम की स्थापना ७५३ ई० पू० में रोमुलस और रेमस नामक दो भाइयों ने की थी। आरम्भ में यह नगर-राज्य था और यहाँ ५१० ई० पू० तक राजतन्त्र की प्रणाली रही। राजा सीनेट (Senate) द्वारा चुना जाता था और इस चुनाव की पुष्टि जनता एक विधान सभा या असेम्बली (Comitia curiata) द्वारा करती थी; यह राजा को उसके जीवन-काल के लिए सर्वोच्च शक्ति प्रदान करती थी। सीनेट में रोम में रहने वाले गोत्रों या कबीलों (Clans) के मुखिया होते थे और असेम्बली में वे तीस क्यूरिया (Curiae) या परिवारों के प्रादेशिक समूह थे, जिनमें सारी जनता को विभक्त किया गया था। उच्च एवं कुलीन परिवार पैट्रीशियन (Patrician) और साधारण जनता प्लेब्स (Plebs) या प्लेबियन कहलाती थी। राज्य के सभी बड़े पद पैट्रीशियन लोगों के पास थे, सीनेट और कमिशिया क्यूरियाटा के सदस्य भी यही लोग हुआ करते थे। प्लेबियन इस व्यवस्था से संतुष्ट न थे, उनके आन्दोलन के कारण पैट्रिशियन तथा प्लेबियन—दोनों को अपने में सम्मिलित करने वाली Comitia centuriata नामक असेम्बली का भी विकास हुआ।

५१० ई० पू० में अन्तिम राजा टार्क्विनियस सुपर्बस (Tarquinius superbas) के निष्कासन के साथ रोम में गणराज्य की स्थापना हुई। राजा के स्थान पर शासन के लिए प्रतिवर्ष दो कांसुल (Consul) चुने जाने लगे। इस पद के लिए पहले केवल पेट्रीशियन ही खड़े हो सकते थे, इनका चुनाव कमिशिया सेण्टुरियाटा द्वारा होता था, इसमें पैट्रीशियन लोगों की प्रधानता थी। इस समय शासन की सुविधा के लिये कुछ अन्य पद भी बनाये गये। प्रीटर (Praetor) मैजिस्ट्रेट या न्यायाधीश का, सैन्सर (Censor) या जनगणना और कर-निर्धारण (Lustration) का, क्वैस्टर (Quaestor) कोषाध्यक्ष का कार्य करते थे। असाधारण संकट के समय डिक्टेटर बनाये जाते थे। किन्तु ये सब पद पैट्रीशियन वर्ग तक ही सीमित थे। प्लेबियन लोगों ने इस अन्याय-पूर्ण स्थिति का विरोध किया, रोम से अलग हो जाने की धमकी दी, दो शताब्दियों तक उनका पैट्रीशियनों के साथ संघर्ष चलता रहा और शनैः-शनैः उन्हें कुछ अधिकार प्राप्त हुए। उनकी एक असेम्बली या जनपरिषद् (Concilium Plebis) बनी, यह इनके लिए कानून बनाती थी और विभिन्न पदों के लिए व्यक्तियों का चुनाव करती थी। इनमें प्रमुख पद चार ट्रिब्यूनों (Tribunes) या जनन्यायाधीशों का था, इनका मुख्य कार्य साधारण जनता (Plebians) के अधिकारों की रक्षा करना था। यदि पैट्रीशियन पदाधिकारियों अर्थात् कांसुल आदि के किन्हीं कार्यों से साधारण जनता के अधिकारों का हनन होता हो तो ट्रिब्यून उसे रोक सकते थे। शनैः-शनैः साधारण जनता के व्यक्तियों को सभी राजकीय पदों पर चुने जाने का अधिकार मिला। ४थी शताब्दी

ई० पू० से दो में से एक कांसुल (Consul) साधारण जनता का होने लगा। सरकार के उच्च पदाधिकारी अवकाश ग्रहण करने पर सीनेट के सदस्य बनते थे, अत: प्लेबियनों (साधारण जनता) का सीनेट में भी प्रवेश होने लगा।

गणराज्यकाल में दोनों वर्गों में सम्मिश्रण होने से असेम्बली के अधिकार बढ़ने लगे। इस समय सब से महत्त्वपूर्ण संस्था Comitia centuriata थी। यह उच्च शासकों और मैजिस्ट्रेटों को चुनती थी, सीनेट द्वारा प्रस्तुत किये गये कानूनों को पास करती थी, राज्य का उच्चतम न्यायालय थी। घटिया दर्जे के मैजिस्ट्रेटों को चुनने का अधिकार Comitia Tributa को था। ४थी श० ई० पू० में ये दोनों लगभग एक हो गयीं। इस समय यद्यपि Comitia curiata भी थी, किन्तु उसका महत्त्व कम हो गया और वह केवल धार्मिक कार्य ही करने लगी। किन्तु सीनेट का महत्त्व पूर्ववत् बना रहा। पहले इस पर केवल कुलीनों या पैट्रीशियनों का आधिपत्य था, अब उच्च सरकारी पदों से निवृत्त होने वाले सभी व्यक्तियों के इसका सदस्य होने के कारण यह स्थिति नहीं रही। इससे इसमें रोम के योग्यतम तथा अनुभवी राजनीतिज्ञ आने लगे। क्रियात्मक दृष्टि से इसका कार्य परामर्श देने का था, इसके प्रस्ताव (Senatus consulta) कानून (Lex) नहीं होते थे, क्योंकि इसके लिए रोमन जनता (Populus Romanus) की असेम्बलियों द्वारा पुष्टि आवश्यक थी।[1] किन्तु रोमन साम्राज्य का विस्तार होने के साथ-साथ वैदेशिक मामलों का महत्त्व बढ़ गया। ये विषय, अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक और राजनीतिक विशेषाधिकारों का नियन्त्रण सीनेट के हाथ में था। अत: इसकी शक्ति बहुत अधिक हो गयी।

रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं का ह्रास होने लगा। रोम ने ३५० से २६५ ई० पू० के बीच में आर्नस नदी के दक्षिण का सारा इटली जीत लिया। तीन प्यूनिक युद्धों (२६४–२४१ ई० पू०, २१८–२०१ ई०पू०, १४९–१४६ ई० पू०) में विजय से रोम को सिसली, कोर्सिका, सार्डीनिया, स्पेन तथा उत्तर पश्चिमी अफ्रीका प्राप्त हुए। पश्चिम में कार्थेज को जीतने के साथ उसने पूर्व में यूनानी राज्यों को जीतना शुरू किया। उस समय सिकन्दर का साम्राज्य तीन अंगों में बँटा हुआ था — ईजिप्ट, मैसीडोनिया तथा सीरिया (पश्चिमी एशिया)। दक्षिणी यूनान के लघु राज्यों ने एखियन संघ (Achaean league) तथा उत्तरी और मध्य यूनान ने ईतोलियन संघ (Aetolian) बनाये हुए थे। १४५ ई० पू० में मैसीडोन को, १४६ ई० पू० में कोरिन्थ तथा एखियन संघ (Achaean league) के अन्य सदस्यों को हराकर इसे रोम का वशवर्त्ती बना लिया गया। ८९ ई० पू० में कृष्ण सागर के दक्षिण में पोण्टस के राजा मिथ्रदात (Mithradates) को हराने के साथ पूर्व में रोमन साम्राज्य का प्रसार आरंभ हुआ। बिथीनिया (७४ ई० पू०), साइरीनी (उत्तरी अफ्रीका का लिबिया का प्रदेश ७४ ई० पू०), सीरिया (६४ ई० पू०), क्रीट (६४ ई० पू०), साइप्रस (५८ ई० पू०) रोमन साम्राज्य का अंग बने। जूलियस सीज़र ने ५८–५१ ई० पू० के बीच गाल तथा मध्य योरोप में राइन नदी तक का प्रदेश जीता तथा ५५ ई० पू० में इंगलैण्ड पर आक्रमण करके उसके कुछ भाग पर रोमन प्रभुत्व स्थापित किया।

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० १०९-१०।

साम्राज्य विस्तार के साथ सेनापतियों की शक्ति बढ़ने लगी। महत्वाकांक्षी नेताओं ने सत्ता को हस्तगत करने के लिए अनेक षड्यन्त्र किये, रोम को गणराज्य बनाये रखने के पक्षपाती ब्रूटस आदि ने जूलियस सीज़र की हत्या की (४४ ई० पू०), किन्तु इससे यह प्रवृत्ति बन्द नहीं हुई। सीज़र के दत्तक पुत्र आक्टेवियन (६३ ई० पू० से १४ ई०) ने बड़ी कूटनीति और योग्यता से विरोधियों का अन्त किया। इस समय सिसरो आदि गणतन्त्र के पक्षपाती सीनेट के ३०० सदस्य मार डाले गये। २९ ई० पू० में वह अपने सब शत्रुओं को समाप्त करके रोम का निष्कण्टक स्वामी बना, गणराज्य की समाप्ति हुई, रोमन सम्राटों के नवयुग का श्रीगणेश हुआ, उसने आगस्टस की उपाधि धारण कर ४३ वर्ष तक शासन (२९ ई० पू० से १४ ई०) किया। जूलियस सीज़र के उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करते हुए उसने अपने निरंकुश शासन पर पर्दा डालने के लिए गणराज्य के ऊपरी ढाँचे को बनाये रखा, कांसुल, महापुरोहित, ट्रिब्यून, सेनापति (Imperator), राष्ट्रपिता (Pater Patrix) की उपाधियाँ धारण कीं तथा डिक्टेटर की उपाधि अस्वीकार की। वह अपने को रोम का प्रथम नागरिक (Princeps) कहलाने में गौरव का अनुभव करता था, बाद में इसी से राजकुमार का वाचक प्रिन्स शब्द बना।

पहली श० ई० पू० के अन्त तक रोमन साम्राज्य का विस्तार पूर्व में फरात नदी से पश्चिम में ब्रिटिश द्वीपसमूह तक, दक्षिण में सहारा से उत्तर में राइन नदी तक हो गया। सारा पश्चिमी जगत् एक शासनछत्र के नीचे आ गया, इसके विभिन्न भागों को सड़कों तथा केन्द्रीकृत शासन-प्रणाली द्वारा सुदृढ़ एवं सुसंगठित बनाया गया। प्रान्तों में रोम के शासक प्रोकांसुल (Proconsul) या प्रोप्रीटर (Propraetor) कहलाते थे। इनकी पदावधि समाप्त होने पर रोम में कुशासन के लिए इन पर अभियोग चलाया जा सकता था। यह इनके स्वेच्छाचारी शासन पर प्रबल प्रतिबन्ध था। यद्यपि गणराज्य के बाह्य रूप को यथापूर्व रखने का प्रयत्न किया गया था, फिर भी सेना के तथा रोम के वोटों के नियन्त्रण द्वारा सम्राट् के हाथ में पूरी शक्ति आ गयी। जनता की असेम्बलियों द्वारा शासन के उच्च पदाधिकारी चुनने, अभियोग सुनने, कानून बनाने के अधिकार छिनने लगे। सीनेट की महत्ता यद्यपि बनी रही, फिर भी सम्राट् को इसके सदस्य बनाने का अधिकार मिला तथा उसके आदेशों को कानून माना जाने लगा। पहले सारी शासन-सत्ता का मूल स्रोत जनता समझी जाती थी, अब सम्राट् को देवता की भाँति आराध्य मानते हुए उसे शासन का आधार समझा जाने लगा। ईसाइयत को राजधर्म मानने के बाद राजा को पृथ्वी पर भगवान् की इच्छा को पूरा करने वाला समझा जाने लगा। ३०० ई० में डायोक्लीशियन (राज्यकाल २८४–३०५ ई०) द्वारा तथा कांस्टेण्टाइन (३०६–३३७) द्वारा किये गये प्रशासनात्मक सुधारों से रोम की यह पुरानी कानूनी कल्पना (Legal fiction) समाप्त हो गयी कि राजा अपने अधिकार रोमन जनता (Populus Romanus) से ग्रहण करता है,[1] अब यह समझा जाने लगा कि उसे शासन का अधिकार भगवान् से प्राप्त होता है। इस प्रकार रोम का लोकतन्त्रीय नगर राज्य विश्व-साम्राज्य में परिणत हुआ। लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता तथा स्थानीय स्वशासन के यूनानी आदर्शों

---

१. डनिंग— ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० ११३।

का स्थान एकता, व्यवस्था, सार्वभौम कानून (Universal law) और विश्वबन्धुत्व (Cosmopolitanism) ने ले लिया। मध्यकाल के राजनीतिक विचारों के इतिहास पर रोमन साम्राज्य के इन आदर्शों का गहरा प्रभाव पड़ा।

रोम के राजनीतिक विचारक — (१) पोलिबियस (२०४–१२२ ई० पू०)— रोम में राजनीतिक प्रश्नों पर सबसे पहले विचार करने वाला एक रोमन नहीं, किन्तु यूनानी राजनीतिज्ञ पोलिबियस था। रोम द्वारा मैसीडोनिया के आक्रमण के समय वह एखियन संघ (Achaean league) की नीति को संचालित करने वाला उसका प्रभावशाली सदस्य था, उसने अपनी मातृभूमि यूनान को रोम द्वारा परास्त एवं पराधीन होते हुए देखा था, रोमन लोगों द्वारा यूनान की विजय के बाद वह कुछ अन्य यूनानियों के साथ बन्धक (Hostage) बनाकर इटली ले जाया गया और १६ वर्ष तक (१६७–१५१ ई० पू०) इस स्थिति में रहते हुए उसे रोम की राजनीतिक संस्थाओं और संविधान का गंभीर अध्ययन करने का अवसर मिला। वह इसका परम प्रशंसक और समर्थक हो गया और उसने चालीस खंडों या पुस्तकों में लिखे रोम के इतिहास की छठी पुस्तक में शासन-प्रणालियों का सुन्दर वर्णन किया है। इनमें उसका मुख्य उद्देश्य यह बताया है कि रोम किस प्रकार विश्व की एक महान् शक्ति बना और वह क्यों एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। इसका प्रतिपादन करते हुए उसने राज्य के प्रादुर्भाव का, विभिन्न शासन-प्रणालियों के उत्थान और पतन के क्रम का तथा रोम के संविधान के विभिन्न अंगों का सुन्दर विश्लेषण करते हुए उसके स्थायित्व और सुदृढ़ता के कारणों की विवेचना की है।

राज्य का प्रादुर्भाव और शासन-प्रणालियों का परिवर्त्तन चक्र—पोलिबियस का शासन-प्रणालियों का वर्णन प्लेटो तथा अरस्तू के आधार पर है और इसमें परिवर्त्तन आने का क्रम भी लगभग वैसा ही है। उसका यह मत है कि बाढ़, अकाल, महामारी आदि विपत्तियों के कारण बहुधा मानव जाति की संख्या बहुत थोड़ी रह जाती है। ये थोड़े से आदमी सहज प्रवृत्ति के कारण एकत्र होते हैं तथा पशुओं की भाँति अपने ऊपर सबसे शक्तिशाली व्यक्ति का शासन स्थापित होने देते हैं, इस प्रकार शक्ति पर आधारित शासन के सबसे पहले रूप राजतन्त्र की स्थापना होती है। बुद्धि और अनुभव के विकास के साथ न्याय और कर्त्तव्य के विचारों को प्रधानता मिलती है और राजतन्त्र को नैतिकता पर आधारित माना जाने लगता है। इस प्रकार प्राकृतिक स्वेच्छाचार (Natural despotism) राजतन्त्र में परिणत होता है। किन्तु जब राजा न्याय और नैतिकता का परित्याग कर स्वेच्छाचारी निरंकुश तानाशाह (Tyrant) बनता है, और राजतन्त्र तानाशाही (Tyranny) के दूषित रूप में परिणत होता है, तो इस शोचनीय स्थिति का अन्त करने के लिए जनता में कुछ सद्गुणी (Virtuous) नेता उत्पन्न होते हैं। वे तानाशाही के स्थान पर अभिजाततन्त्र (Aristocracy) की स्थापना करते हैं, किन्तु यह शासन भी शनैः-शनैः कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के अन्यायपूर्ण और अनैतिक धनिकतन्त्र (Oligarchy) में बदल जाता है। जब जनता ऐसे उत्पीड़क शासकों के विरुद्ध विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करती है और शासन का संचालन सब लोगों की भलाई की दृष्टि से किया जाता है तो लोकतन्त्र स्थापित होता है। किन्तु शीघ्र ही इसमें झगड़े उत्पन्न होते हैं। धनी निर्धनों का शोषण करने लगते हैं। अन्याय और असंतोष

बढ़ जाता है और लोकतन्त्र का दूषित रूप 'भीड़ का शासन' स्थापित हो जाता है। इसे पोलिबियस ने **भीड़तन्त्र** (Ochlocracy) का नाम दिया है। किन्तु शीघ्र ही भीड़-तन्त्र के अन्यायों और अत्याचारों का विरोध करने के लिए एक साहसी नेता का आविर्भाव होता है। वह जनता के समर्थन द्वारा सारी शासनसत्ता हस्तगत कर राज-तन्त्र की स्थापना करता है। इस प्रकार विभिन्न शासन-प्रणालियों के परिवर्त्तन का एक क्रम या चक्र पूरा होने पर दूसरा चक्र चलने लगता है। क्योंकि प्रत्येक शासन-प्रणाली में उसके विनाश के बीज निहित रहते हैं।

मिश्रित संविधान--पोलिबियस के मतानुसार शासन में स्थिरता लाने तथा इस परिवर्त्तन चक्र को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न शासन-प्रणालियों के उत्कृष्ट तत्त्वों का संमिश्रण किया जाय। इससे शासन में ऐसे निरोध और संतुलन (Checks and balances) स्थापित किये जायं कि एक शासन-प्रणाली को नष्ट करने वाले तत्त्वों का विरोध करने वाले दूसरे तत्त्व बने रहें और उसे विनाश से बचाते रहें। उसके मतानुसार इस प्रकार की सफल व्यवस्था स्पार्टा की शासन-प्रणाली में लाइकर-गस ने अपनी प्रतिभा, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से की थी। किन्तु इससे भी उत्कृष्ट व्यवस्था रोमन लोगों ने अपने संविधान में बार-बार आने वाले संकटों से प्राप्त होने वाली शिक्षाओं के आधार पर की है। इनके संविधान में तीनों प्रकार की शासन-प्रणालियों का सम्मिश्रण है। इसमें कांसुल राजतन्त्र के सिद्धान्त का, सीनेट कुलीनतन्त्र के तथा असेम्बलियाँ जनतन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

कांसुल को यद्यपि रोम के नगर से बाहर राजाओं जैसे पूरे सैनिक अधिकार हैं, किन्तु सीनेट उसकी पदावधि का निश्चय करती है और युद्ध में जीता हुआ माल उससे छीनने का अधिकार रखती है और वह कमिशिया या असेम्बली के सम्मुख अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। अतः कांसुल के पूर्ण अधिकार को सीनेट और असेम्बली नियन्त्रित करती है। सीनेट को यद्यपि प्रशासन, वित्त और वैदेशिक मामलों के सम्बन्ध में बहुत अधिकार हैं, किन्तु असेम्बली को उसकी सत्ता नियन्त्रित करने का तथा ट्रिब्यून (देखिये पृ० २१४) को उसकी बैठक अपने वीटो द्वारा रोकने का अधिकार है। रोम की जनसभाओं या असेम्बलियों के अधिकारों को सीनेट और कांसुल नियन्त्रित करते हैं क्योंकि जनता की बड़ी संख्या को आर्थिक दृष्टि से प्रभावित करने वाले सभी सार्वजनिक ठेके सीनेट द्वारा दिये जाते हैं, न्यायाधीश भी सीनेट के सदस्यों में से चुने जाते हैं। सैनिक सेवा अनिवार्य होने के कारण प्रत्येक नागरिक को कुछ समय कांसुल के प्रभुत्व में रहना पड़ता था। अतः असेम्बलियों में जनता उच्छृंखल और अविवेकपूर्ण निर्णय नहीं कर सकती। रोमन संविधान के इन तीनों तत्त्वों में से प्रत्येक अन्य तत्त्वों को नियन्त्रण में रखता है और कोई भी तत्त्व अन्य तत्त्वों की सहमति के बिना काम नहीं कर सकता। इसमें सब अंग एक-दूसरे पर नियन्त्रण रखते हैं, कोई भी अंग अत्यधिक प्रबल और शक्तिशाली नहीं होने पाता, सब में संतुलन बना रहता है।

यद्यपि प्लेटो तथा अरस्तू ने मिश्रित संविधान की चर्चा की थी (देखिये पृ० १३७, १६७), किन्तु पोलिबियस को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम रोमन साम्राज्य के क्रियात्मक अनुभव के आधार पर इसके गुणों का विशद वर्णन किया तथा 'निरोध और संतुलन' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्लेटो और अरस्तू शासन की

अस्थिरता को दूर करने के लिए विभिन्न शासन-प्रणालियों के तत्त्वों का मिश्रण करना चाहते थे, किन्तु पोलिबियस इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए शासन के तीन अंगों के पारस्परिक विरोध को आवश्यक मानता है।[1] उसके राज्य के तीनों अंगों में शक्ति संतुलन के सिद्धान्त का मध्यकालीन तथा अर्वाचीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। सेण्ट थामस एक्विनास, लॉक तथा मांतेस्क्यू ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के राजनीतिज्ञ जेफरसन और एडम्ज़ पोलिबियस के सिद्धान्त से परिचित थे। अमरीका के संविधान में निरोध और संतुलन के सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया गया। वर्त्तमान राजनीतिशास्त्र इसमें गहरी आस्था रखता है।

(२) **सिसरो (१०६ ई० पू० –४३ ई० पू०)** – मध्ययुग की चिन्तनधारा पर प्रभाव डालने वाला यह वाग्मी वकील, सुप्रसिद्ध वक्ता, सफल गद्य लेखक और विफल राजनीतिज्ञ ऐसे समय में हुआ, जब पोलिबियस द्वारा प्रशंसित रोमन गणराज्य का संविधान विनाशोन्मुख था। इसके मुख्य कारण साम्राज्य द्वारा उत्पन्न नवीन आर्थिक परिस्थितियाँ, सीनेट और असेम्बलियों की तीव्र प्रतिद्वन्द्विता, विरोध एवं प्रमुख सेनापतियों के षड्यन्त्र और गुटबन्दियाँ तथा गृह-युद्ध थे। सिसरो ने अपनी प्रसिद्ध वक्तृताओं द्वारा गणराज्य को तथा पुरानी संस्थाओं को सुरक्षित बनाये रखने के लिए जूलियस सीज़र का और मार्क एण्टनी का विरोध किया और इसी में उसे अपने प्राण गंवाने पड़े। जूलियस सीज़र के उत्कर्ष के समय (५४–४४ ई० पू०) उसने राजनीतिशास्त्र के विषय में रिपब्लिक (De Republica) और लाज़ (De Legibus) नामक ग्रन्थ लिखे। इनका नामकरण इन्हीं नामों वाले प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। इनमें प्लेटो की प्रश्नोत्तर व संवाद की शैली का अनुकरण है। इनका उद्देश्य भी प्लेटो की भाँति आदर्श राज्य का तथा उसके नियमों का वर्णन करना है। इसमें उसका यह अभिप्राय था कि वह रोमवासियों को यह बता सके कि वर्त्तमान रोमन गणराज्य अपने मूल आदर्श से कितना दूर हो गया है। प्लेटो तथा अरस्तू के मिश्रित संविधान का विचार सिसरो ने स्वीकार किया है। वह रोम के विधान के सम्बन्ध में पोलिबियस के विचारों से सहमत है।

सिसरो की रचनाओं में मौलिकता नहीं है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों को, स्टोइक सम्प्रदाय के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को, राज्य के स्वरूप तथा नैतिक उद्देश्यों को एवं मानवीय समानता के मन्तव्य को इतने सुललित, शक्तिशाली, ओज एवं प्रसादपूर्ण अजर, अमर लैटिन गद्य में प्रकट किया है कि मध्यकाल में राजनीतिक विचारों और ईसाइयत के सिद्धान्तों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। बीसियों लेखकों ने सैकड़ों बार सिसरो के ग्रन्थों को उद्धृत किया है। उसके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) **प्राकृतिक कानून का विचार** (Concept of Natural law) सिसरो के मतानुसार समूची प्रकृति और विश्व का शासन भगवान् द्वारा हो रहा है। इस सृष्टि में मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है क्योंकि उसमें बुद्धि का गुण है। इसी कारण वह अन्य प्राणियों से भिन्न तथा विश्व के स्रष्टा भगवान् के साथ सादृश्य रखता है। मानवीय

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११८।

प्रकृति के इस दैवी गुण के कारण वह सत् (Right) और न्याय के चरम सिद्धान्तों को समझता है, इनमें भाग लेता है। ये वही सिद्धान्त हैं, जिनके अनुसार भगवान् विश्व का शासन करता है। सब मनुष्यों की प्रकृति समान है, सबको प्रकृति ने सत् बुद्धि (Right reason) की शक्ति प्रदान की है, इसके साथ ही वह कानून भी दिया है, जो हमें अच्छे कार्य करने तथा बुरे कामों से पृथक् रहने का आदेश देता है। यह कानून सार्वभौम, शाश्वत, सत्य तथा विभिन्न राज्यों के कानूनों से प्रबल एवं सर्वोपरि होता है।
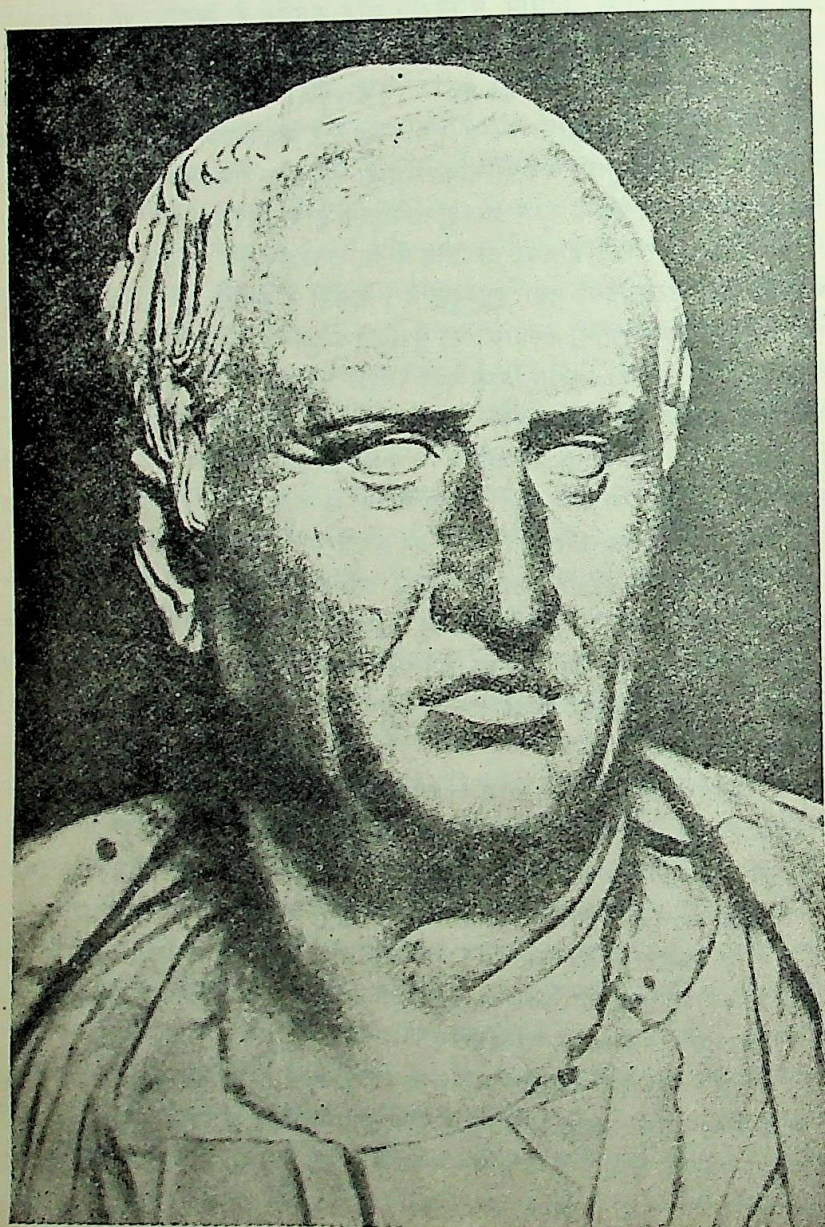
सिसरो

सिसरो के बीसियों बार उद्धृत रिपब्लिक की तीसरी पुस्तक के निम्न अवतरण से उसके प्राकृतिक कानून का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा —"सच्चा कानून प्रकृति के साथ आनुकूल्य रखनेवाली सत् बुद्धि है। यह सार्वभौम, अपरिवर्त्तनशील और सदैव बना रहने वाला है। यह अपने आदेशों से कर्त्तव्य की प्रेरणा देता है और निषेधों द्वारा व्यक्तियों को बुरे कार्यों से बचाता है।...इस कानून को बदलना पाप है।...इसका पूर्ण-रूप से उन्मूलन करना असम्भव है। सीनेट अथवा जनता द्वारा हम इसके बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकते।...यह शाश्वत, अपरिवर्त्तनशील कानून सब राष्ट्रों और कालों के लिए वैध है...हम सबका एक स्वामी और शासक भगवान् इस नियम का निर्माता, घोषणा करने वाला तथा इसे लागू करने वाला न्यायाधीश है।"[1] अन्यत्र उसने लिखा है, "कानून उच्चतम बुद्धि (Highest reason) है। यह प्रकृति में प्रतिष्ठित है और हमें करणीय कार्यों का आदेश देता है तथा अकरणीय कार्यों से रोकता है।...कानून बुद्धिमत्ता है, इसका स्वाभाविक कार्य यह है कि यह हमें उचित आचरण करने का आदेश दे तथा अनुचित कार्य करने से रोके।"[2] प्राकृतिक कानून राज्यों के विभिन्न कानूनों से प्राचीन है। क्योंकि "यह द्युलोक और पृथ्वी लोक के रक्षक भगवान् का समकालीन (Coeval) है। अतः ईश्वर का मन बुद्धि के बिना नहीं रह सकता और ईश्वरीय बुद्धि में सत्-असत् के विवेक की शक्ति रहना आवश्यक है।"[3] अतः प्राकृतिक नियम राष्ट्रों के लिखित कानूनों से बहुत पहले का, उसी समय से विद्यमान है, जब से इस संसार में भगवान् की सत्ता है। वह वास्तविक कानून (lex) प्राकृतिक नियम को ही मानता है, विभिन्न राज्यों में जनता द्वारा बनाये गये स्थानीय नियमों को केवल शिष्टा-चारवश ही कानून कहा जाता है। मानव समाज में बुद्धिमान्० यक्ति भी अपनी बुद्धि द्वारा यह आदेश देते हैं कि कौन-से कार्य कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य हैं।[4]

सिसरो ने प्राकृतिक कानून को रोमन इतिहास के दो प्रसिद्ध उदाहरणों से पुष्ट किया है। पहला उदाहरण रोम पर एट्रुस्कन लोगों का आक्रमण होने पर होरेशस काकलस (Horatious Cocles) द्वारा दो अन्य साथियों के साथ एक पुल पर सारी शत्रु-सेना को उस समय तक रोके रखना था, जब तक शत्रुओं के नगर में प्रवेश को रोकने के लिए रोमन सेना इस पुल को नष्ट न कर दे। सिसरो के मतानुसार होरेशस को पुल पर वीरतापूर्वक शत्रुसेना के निरोध के लिए कानून द्वारा कोई लिखित आदेश नहीं दिया गया, यह उसको मातृभूमि की रक्षा के लिए प्रकृति से मिला हुआ आदेश था। दूसरा उदाहरण रोम के एक पुराने राजा टारक्विनियस के बेटे सैक्सटस द्वारा ल्यूक्रेशिया के सतीत्व भंग का है। यद्यपि उस समय तक रोम में बलात्कार के विरुद्ध कोई लिखित कानून नहीं था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसा कोई नियम नहीं था और उसने बलात्कार न करने के शाश्वत नियम का भंग नहीं किया था।

सिसरो के प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त पर प्लेटो, अरस्तू तथा स्टोइक विचार-

---

१. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १८६।
२. वही, पृ० १८४।
३. वही, पृ० १८२।
४. डीलेगिबस, २।५।

धारा का स्पष्ट प्रभाव है। प्लेटो सत् तथा न्याय के सिद्धान्तों को सनातन सत्य मानता था। स्टोइक प्रकृति में विद्यमान एक सार्वभौम कानून को मानते थे। सिसरो की यह विशेषता थी कि उसने इस प्राकृतिक नियम के विचार को मानवीय बुद्धि और राज्य के कानून के साथ मिलाया और यह कहा कि नैतिक सिद्धान्त राजनीतिक और वैयक्तिक मामलों में समान रूप से लागू किए जा सकते हैं।[1] वह सच्चा कानून प्रकृति का अनुसरण करने वाली शाश्वत और सार्वभौम बुद्धि को मानता था।

सिसरो का प्राकृतिक नियम वस्तुतः प्रकृति का नहीं, किन्तु ईश्वर का नियम है, क्योंकि वह "ईश्वर का आदिम और अन्तिम (Primal and ultimate) मन है।"[2] सब देशों के कानून इस प्राकृतिक नियम के अनुसार होने चाहिएँ, यदि ऐसा नहीं है तो किसी व्यक्ति को इन नियमों का पालन करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। प्लेटो ने राज्य में केवल दार्शनिक राजा को ही कानून से ऊपर माना था, किन्तु सिसरो प्राकृतिक नियम से प्रतिकूलता रखने वाले कानूनों के भंग का अधिकार सभी नागरिकों को देता है क्योंकि ऐसे नियमों को उसी प्रकार कानून नहीं कहा जा सकता है, जैसे चोरों के एक समूह द्वारा अपनी असेम्बली में पास किए गए नियम कानून नहीं बन सकते।

सिसरो के प्राकृतिक नियम का विचार इसकी वर्त्तमान धारणा से भिन्न है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से प्राकृतिक नियम वह है, जो जड़ और चेतन पर समान रूप से लागू होता है। गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitation) पत्थरों पर तथा मनुष्य पर समान रूप से लागू होता है। यद्यपि मनुष्य ऐसे नियमों का अपनी बुद्धि द्वारा पता लगा सकते हैं, किन्तु उनके लिए इनका पालन करना आवश्यक है। किन्तु सिसरो का प्राकृतिक नियम केवल बुद्धिमान् एवं चेतन प्राणियों पर लागू होता है, क्योंकि वही इसे अपनी बुद्धि से जान सकते हैं। दूसरा भेद यह है कि इसके नियमों की मनुष्यों द्वारा अवहेलना संभव है। आधुनिक अर्थ में समझे जाने वाले गुरुत्वाकर्षण जैसे प्राकृतिक नियमों का भंग मनुष्य द्वारा संभव नहीं है।

सिसरो के अन्य उल्लेखनीय राजनीतिक सिद्धान्त सब मनुष्यों की प्राकृतिक समानता, विश्वव्यापी राज्य, राज्य और समाज की धारणा, मिश्रित संविधान और शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण और परिवर्त्तन चक्र तथा जनता का महत्त्व हैं। समानता पर बल देते हुए उसने कहा कि "कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु के साथ संसार में इतना गहरा सादृश्य नहीं रखती जितना एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ होता है। मनुष्य को पशुओं से ऊँचा उठाने वाली बुद्धि, सबमें समान रूप से पायी जाती है। यह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं होता।" जब सब व्यक्ति समान हैं, एक ही प्राकृतिक नियम से शासित होते हैं, तो इनका एक विश्वव्यापी राज्य का नागरिक होना स्वाभाविक है। सिसरो यह समझता था कि जैसे रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले व्यक्ति रोमन कानून द्वारा शासित होने के कारण उसका अंग होते हैं, वैसे ही एक सार्वभौम कानून के आधीन होने से सब मनुष्य एक विश्वव्यापी साम्राज्य के अंग हैं। सिसरो ने प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति राज्य

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ७५।
२. फोस्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८३।

और समाज में अभेद नहीं माना। उसके मतानुसार राज्य सामान्य कल्याण के लिए एक सामान्य कानून द्वारा शासित होने वाला समुदाय है। समाज राज्य से पुराना, विशाल और विश्वव्यापी है। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में वह एक सामाजिक संविदा का भी अस्पष्ट उल्लेख करता है।[1] वह जनता को बहुत महत्त्व देते हुए राज्य का आधार समूची जनता (Populus) की सहमति मानता है। प्लेटो तथा अरस्तू ने केवल नगर-राज्य या पोलिस और इसके सामाजिक वर्गों का वर्णन किया था। जनता को पश्चिमी जगत् में सिसरो तथा रोमन कानून ने महत्त्वपूर्ण बनाया। मिश्रित संविधान और शासन-प्रणालियों के परिवर्त्तन चक्र के संबंध में सिसरो ने पोलिबियस का अनुसरण किया है।

सिसरो के विचारों में मौलिकता न होते हुए भी उसका राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व है। उसका मुख्य कार्य यूनानी विचारों को रोमन विचार-जगत् का अंग बनाना था। किन्तु परिस्थितियों के भेद से यूनानी विचार रोमन समाज में अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली सिद्ध हुए। स्टोइक सम्प्रदाय ने राजनीतिक पराभव की दशा में विश्वबन्धुत्व (Cosmopolitanism), मानवीय समानता और सार्वभौम नियम का विचार अपनाया था। सिसरो ने रोम के विशाल साम्राज्य की पृष्ठभूमि के आधार पर इनका प्रतिपादन किया। उसमें विभिन्न जातियों और नस्लों के व्यक्ति मानवीय समानता रखते थे और प्राकृतिक नियम से शासित होते थे। अतः इसने रोमन साम्राज्य को ईश्वरीय बुद्धि द्वारा दिया गया महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने का अवसर प्रदान किया। सिसरो की रचनाओं का उसके समय में तत्कालीन दलबन्दियों और झगड़ों के कारण कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु उसकी विश्व की एकता, सार्वभौम नियम और सत्ता के विचार मध्यकाल में बड़े लोकप्रिय हुए।[2] १५०० वर्ष बाद उसका यह सिद्धान्त माना जाने लगा कि सार्वभौम नियम के प्रतिकूल जाने वाली कोई व्यवस्था कानून नहीं मानी जानी चाहिए।[3] विलोबी के मतानुसार उसने रोम के कानूनी विचारों के साथ यूनानियों के न्याय तथा समत्व (Equity) के विचारों को मिलाकर रोमन विधिशास्त्र को विकसित करने तथा पूर्ण बनाने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।[4]

(३) सेनेका (लगभग ३ ई० पू० —६५ ई० प०)—यह स्टोइक मतानुयायी एवं रोम के सम्राट् नीरो (५४–६८ ई०) का गुरु था। सिसरो का आविर्भाव रोमन गण-राज्य के पतन की घड़ियों में हुआ था; सेनेका रोमन साम्राज्य के आरम्भिक युग में हुआ। इस समय निरंकुश सम्राटों का बोलबाला था, उनके अत्याचार बढ़ते जा रहे थे, राज्य नैतिक उन्नति का नहीं, किन्तु स्वार्थ लिप्सा, लोभ और भ्रष्टाचार का साधन बना हुआ था। शासक एवं जनता दोनों का पतन हो चुका था। जो शासक जितना पतित और भ्रष्टाचारी होता था, वह उतना ही अधिक लोकप्रिय होता था। राजनीतिक

---

१. मैकिलवेन—ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० ११७।
२. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७६।
३. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२५।
४. विलोबी—दी पोलिटिकल थियोरीज ऑफ दी एंशेएट वर्ल्ड, पृ० २१५।

और वैयक्तिक जीवन में सद्गुण, भलाई और साधुता लुप्त हो चुकी थी। जब नीरो के अत्याचार बढ़ने लगे और सेनेका ने अपने शिष्य के कार्यों से असंतोष प्रकट किया तो शिष्य ने गुरु पर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करने एवं उसे पदच्युत करने का आरोप लगाया और उसकी पहली सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए उसे स्वयं आत्महत्या करने का दण्ड दिया। गुरु ने स्टोइक सिद्धान्तों का पालन कर अपूर्व धैर्य के साथ अपनी नाड़ियाँ काटते हुए कहा कि "मेरी परवाह मत कीजिये। मैं सांसारिक सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् सद्गुणी जीवन का उदाहरण आपके लिए छोड़कर जा रहा हूँ।"[१]

सेनेका अपने समय के नैतिक और राजनीतिक पतन से व्यथित और निराश था। उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने राज्य और समय से बहुत दूर मानव समाज के उन्नत, नैतिक और सुखी होने की कल्पना करे। अतः उसने दो बातों पर बल दिया—समाज (Society) और राज्य (State) का भेद तथा स्वर्णयुग की कल्पना। घोर नैतिक पतन वाले युग में रहने पर भी वह यह मानता था कि एक भले आदमी के समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं। यह समाज रोम आदि के राज्यों से पृथक् है, अपने में समूची मानव जाति का समावेश करता है तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। सेनेका के मतानुसार यह समाज सुदूर अतीत में चिरकाल तक विशुद्ध बना रहा। ......"पहले व्यक्ति और इनकी सन्तति अविकृत रहते हुए प्रकृति का अनुसरण करती थी", उनमें एक अच्छा व्यक्ति उनका शासक था, वे बड़े सुख से रहते थे। इस स्वर्णयुग में शासन की बागडोर बुद्धिमान् व्यक्तियों के हाथ में थी, वे निर्बल व्यक्तियों की शक्तिशालियों से रक्षा करते थे, प्रजा की सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति तथा संकटों का निवारण किया करते थे। कोई व्यक्ति किसी प्रकार का बुरा कार्य नहीं करता था, किन्तु मनुष्यों में लोभ उत्पन्न होने से इस स्वर्णयुग का अन्त हो गया।"[२]

सेनेका के इन दोनों विचारों का परवर्त्ती राजनीतिक विचारधारा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके राज्य और समाज के पृथक् होने के विचार ने सैण्ट आगस्टाइन तथा रोमन कैथोलिक चर्च के विचारकों को ईश्वरीय और लौकिक दो प्रकार के स्वतन्त्र संगठन और राज्य मानने की प्रेरणा दी। उसके स्वर्णयुग की कल्पना ने ईसाइयत की शिक्षाओं पर गहरा प्रभाव डाला। उसके अनुसार मनुष्य पहले निष्पाप दशा में रहते थे, बाद में उनका पतन हुआ। यह विचार बाइबल के आरम्भ में दी गई आदम-हव्वा की सुप्रसिद्ध कहानी, उनकी प्राक्तन पवित्रता और परवर्त्ती पतन के साथ मिला दिया गया। ईसाइयों को उसका यह सिद्धान्त इतना पसन्द था कि कई आरम्भिक ईसाई आचार्य (Fathers) सेनेका को ईसा का मतानुयायी समझते थे।[३] उसकी स्वर्णयुग की प्रशंसा के गीतों ने मध्य युग में स्वप्नलोकों (Utopias) की कल्पना को तथा रूसो आदि के विशुद्ध प्राकृतिक दशा की ओर लौटने (Back to nature) के सिद्धान्तों को प्रभावित और पुष्ट किया।

रोमन कानून की विशेषतायें—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में रोम की सबसे

---

१. रसेल, बर्ट्रैण्ड—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० २८३।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ८८।
३. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० २८३।

बड़ी देन कानून की है। "राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए रोम का अर्थ कानून और विधिशास्त्र है। रोमन लोगों ने प्राचीन जगत् में सबसे अधिक पूर्ण कानूनी पद्धति का विकास किया।[1] कानून के क्षेत्र में उनकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) भावात्मक (Positive) कानून का विचार, (२) वैयक्तिक अधिकारों का सिद्धान्त, (३) प्रभुसत्ता का सिद्धान्त, (४) राज्य को कानूनी सत्ता मानना, (५) तीन प्रकार के कानूनों का विकास।

(१) **भावात्मक कानून का विचार** (Idea of Positive Law)— यूनानियों में कानून का मूल स्रोत और उसे लागू कराने वाली शक्ति धार्मिक या नैतिक समझी जाती थी। डिमास्थनीज़ ने अपनी एक सुप्रसिद्ध वक्तृता में कहा है —कानून का मूल धर्म है, यह देवताओं का उपहार है···यह बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है और अन्ततोगत्वा नगर-राज्य के सदस्यों द्वारा किया हुआ समझौता है।[2] यूनानियों में भावात्मक कानून का यह विचार नहीं विकसित हुआ कि यह किसी निश्चित, उत्कृष्ट मानव का आदेश है। वे इसे ईश्वरीय आज्ञा मानते रहे। रोमन लोगों को इस बात का श्रेय है कि वे कानून को आसमान से धरती पर लाये, उन्होंने इसे राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण धार्मिक के स्थान पर लौकिक (Secular) बनाया। उनके विशाल साम्राज्य में नाना धर्मों को मानने वाले व्यक्ति निवास करते थे, उनके लिए यह असंभव था कि वे इनमें से किसी एक धर्म तथा नीतिशास्त्र के साथ कानून का समन्वय करते। अतः उन्होंने कानून को धर्म और राजनीति से पृथक् कर दिया। रोमन साम्राज्य के नागरिक कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य थे, किन्तु इसका आधार यह नहीं था कि ये कानून धर्मानुकूल, न्याय्य, उचित एवं नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार बने हुए थे, किन्तु उनके लिए इनका पालन इसलिए आवश्यक था कि ये जनता की इच्छा प्रकट करने वाली सर्वोच्च राजनीतिक शासन-सत्ता के आदेश थे।

रोम में कानून के इस विचार का विकास शनैः-शनैः हुआ। आरम्भ में अन्य देशों की भाँति रोम में भी कानून के प्रमुख स्रोत धार्मिक नियम और रीति-रिवाज (Customs) थे। सार्वजनिक व्यवस्था के विरुद्ध किये गए कार्य देवताओं को हानि पहुँचाने वाले पाप (Sin) समझे जाते थे, राज्य के विरुद्ध अपराध (Crime) नहीं माने जाते थे। शनैः-शनैः ईश्वरीय आदेशों और रीति-रिवाजों में भेद किया जाने लगा किन्तु उस समय यह विचार बिल्कुल नहीं था कि राज्य कोई नया कानून बना सकता है।[3]

४५० ई० पू० के लगभग द्वादश पट्टिकाओं (Twelve Tables) में रोमन कानून को संहिताबद्ध किया गया। यद्यपि इसमें केवल उस समय प्रचलित रीति-रिवाजों को लिखित रूप दिया गया था, तथापि इससे कानूनी विचारधारा में कुछ नवीन तत्त्वों का समावेश हुआ। राज्य के विरुद्ध अपराधों को देवताओं के विरुद्ध किया पाप समझने का तथा कानून के धार्मिक होने का विचार समाप्त हो गया। रिवाजों के

---

१. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८०।
२. विनोग्रेडोफ—हिस्टारिकल ज्यूरिस्प्रडेन्स, खं० २, पृ० ७४–७६।
३. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६९।

लेखबद्ध होने से अब ये कानून का स्रोत नहीं रहे। इस समय से कानून को राज्य की इच्छा समझा जाने लगा। कानून को धार्मिक नहीं, किन्तु ऐहिक (Secular) माना जाने लगा। बारह पट्टिकाओं के कानून में परिवर्तन रोमन की जनता की इच्छा से हो सकता था। जनता की यह इच्छा असेम्बली द्वारा, सीनेट द्वारा और बाद में सम्राटों द्वारा अभिव्यक्त होने वाली मानी गयी। विकास की इस प्रक्रिया में यह सर्वमान्य हो गया कि कानून राज्य की इच्छा है, वह राज्य द्वारा बनाया जाता है और राज्य ही उस का पालन कराता है।

(२) रोमन कानून की **दूसरी विशेषता वैयक्तिक अधिकारों का** विकास तथा **राज्य को कानूनी रूप प्रदान करना है**। इन कानूनी अधिकारों का निर्धारण शनैः-शनैः कांसुलों, न्यायाधीशों (Praetors) ट्रिब्यूनों, सीनेट के सदस्यों तथा अन्य उच्च अधिकारियों ने किया; न कि देवताओं, उच्च आदर्शों या नैतिकता के सामान्य सिद्धान्तों ने। यूनानी विचारधारा में अधिकार (Right), कानून (Nomos) से स्वतंत्र और पूर्ववर्ती समझा जाता था। अधिकार में दो विचार जुड़े हुए थे—पहला विचार भलाई या साधुता (Righteousness) का था और दूसरा विचार किसी व्यक्ति या समूह से संबंध रखने वाले विशेषाधिकार थे। रोमन लोगों ने दूसरे विचार को महत्त्व देते हुए अधिकार (Jus) को कानून (Lex) का वशवर्त्ती बना दिया। अब प्रत्येक व्यक्ति के कुछ विशेष अधिकार माने जाने लगे। गैटिल के शब्दों में रोमन लोगों ने राज्य और व्यक्ति को पृथक् करते हुए प्रत्येक को कुछ निश्चित अधिकार और कर्त्तव्य प्रदान किये। राज्य समाज की सत्ता के लिये आवश्यक और स्वाभाविक संगठन था, किन्तु रोमन लोगों ने राज्य के स्थान पर व्यक्ति को अपने कानूनी विचार का केन्द्र बनाया। राज्य की सत्ता का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा थी। इस प्रकार राज्य सुनिश्चित सीमाओं के भीतर ही अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता था और नागरिक भी ऐसे अधिकार रखने वाला व्यक्ति माना जाता था, जिनकी रक्षा अन्य व्यक्तियों से तथा सरकार के अवैध अपहरण (Encroachment) से की जानी चाहिए।"[1] इस प्रकार उन्होंने राज्य को निश्चित अधिकारों वाला कानूनी व्यक्ति माना तथा व्यक्ति को अनेक कानूनी अधिकार प्रदान किये।

(३) **प्रभुसत्ता का विचार** (Sovereignty)—राज्य को कानूनी व्यक्ति (Legal person) मानने का उपर्युक्त विचार विकसित होने के साथ अन्य व्यक्तियों की भाँति उसकी कुछ विशेषतायें और गुण माना जाना स्वाभाविक था। रोम में प्राचीन काल से यह सिद्धान्त सर्वमान्य था कि राजनीतिक शासन-सत्ता का मूल स्रोत जनता है, अतः राज्य में जनता सर्वोच्च सत्ता रखती है। इसका प्रतीक राज्य का अध्यक्ष कांसुल या सम्राट् होता था। अतः उसमें यह सर्वोच्च प्रभुसत्ता निहित होनी चाहिए। साम्राज्य बनने के बाद सम्राट् अथवा प्रथम नागरिक (Princeps) में यह प्रभुसत्ता रहती थी। इसका कारण यह माना जाता था कि उसमें प्रताप (Grandeur) की उत्कृष्टता (Majestus) का निवास है। १६वीं शताब्दी में इसके लिए लैटिन के Sovereignty शब्द का प्रयोग होने लगा और प्रभुसत्ता के आधुनिक विचार का विकास हुआ। जनता

---

१. गैटल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ६८।

को सत्ता का अन्तिम स्रोत मानने के कारण हमें रोमन कानून में जनतावासी प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के विचार का सर्वप्रथम परिचय मिलता है।

(४) विभिन्न प्रकार के कानूनों का विकास—रोम में शनैः-शनै तीन प्रकार के कानूनों के विचार का विकास हुआ—जस सिविली (Jus civili), जस जैन्शियम (Jus Gentium) तथा जस नेचुरली (Jus Naturalae)। जस सिविली रोम का राष्ट्रीय या दीवानी (Civil or municipal) कानून था। यह द्वादश पट्टिकाओं पर आधारित था और रोमन नागरिकों के आपसी कानूनी संबंधों को नियन्त्रित करता था। द्वादश पट्टिकाओं वाला कानून जब अपूर्ण प्रतीत हुआ तो न्यायाधीशों (Praetors) के निर्णयों तथा कानून का विशेष ज्ञान रखने वाले विधि परामर्शदाताओं (Juriconsults) की सम्मतियों से इसका विस्तार होने लगा। इस समय रोमन साम्राज्य और उसका व्यापार बहुत तेजी से बढ़ रहा था, अतः तीसरी श० ई० पू० में रोम में आने वाले विदेशियों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी कि इनके मामलों पर विचार एवं निर्णय करने के लिए विशेष न्यायाधीश (Praetor) नियत किये जाने लगे। ये रोम में स्थित विदेशियों पर रोम का दीवानी कानून लागू करने के लिए बाध्य थे, किन्तु दो विदेशियों में विवाद हो तो अनेक अवस्थाओं में इन पर विशुद्ध रोमन कानून लागू करना न्याय-पूर्ण नहीं होता था। ऐसी अवस्थाओं के लिए न्यायाधीश कानून के ऐसे सिद्धान्तों का विकास करने लगे, जो रोमन लोगों एवं विदेशियों पर सामान्य रूप से लागू किये जा सकें। इसे विकसित करने का प्रधान श्रेय न्यायाधीश पेरिग्रिनस को दिया जाता है। इसे **जस जैन्शियम** अर्थात् सब राष्ट्रों के लिए सामान्य कानून का नाम दिया गया।

दूसरी शताब्दी ई० के सुप्रसिद्ध रोमन विधिशास्त्री गेयस (Gaius) ने जस सिविली तथा जस जैन्शियम का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है, "किसी जनता ने अपने लिए जो कानून निश्चित किया है और वह केवल उसी तक सीमित है तो इसे जस सिविली (Jus Civili) या उस राज्य का विशेष कानून कहेंगे। दूसरी ओर जिसे प्राकृतिक बुद्धि ने सब मनुष्यों में प्रतिष्ठित किया है, जिसका पालन समान रूप से सब देशों (जनताओं) में होता है, उसे जस जैन्शियम (Jus Gentium) कहते हैं, क्योंकि यह सब जातियों द्वारा प्रयुक्त किया जाने वाला कानून है।"[१] इसमें मुख्य रूप से निम्न नियमों का समावेश होता है—युद्ध के तथा राष्ट्रों की सीमाओं के नियम, खेतों, घरों, यातायात, क्रय-विक्रय तथा किराये पर वस्तुओं के देने-लेने के नियम।

कानून का तीसरा प्रकार प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae) है। साम्राज्य का अधिक विस्तार होने पर सम्राट् के पास सभी प्रदेशों से जटिल कानूनी प्रश्नों के निर्णय के लिए अपीलें आने लगीं। सम्राट् विधिशास्त्रियों से इनके संबंध में सलाह लिया करता था। इस समय उनसे यह आशा रखी जाती थी कि वे समूचे साम्राज्य पर लागू किये जाने वाले सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें। अतः उनके लिए कानून की, अधिकारों की तथा न्याय की सूक्ष्म मीमांसा करना आवश्यक हो गया। इससे न केवल रोमन विधिशास्त्र (Jurisprudence) में परिपक्वता आई, अपितु इसके साथ सब देशों और जातियों में तथा समूची प्रकृति में पाये जानेवाले सामान्य तत्त्वों के आधार

१. मैकिलवेन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२२।

पर प्राकृतिक कानून (Natural law) की कल्पना का जन्म हुआ। प्रसिद्ध विधि-शास्त्री उल्पियन (Ulpian) ने इसका स्वरूप बताते हुए लिखा है कि "यह प्रकृति द्वारा सब प्राणियों को दी जाने वाली शिक्षा है, यह कानून मनुष्यों पर ही नहीं, अपितु पृथ्वी, आकाश और समुद्र में पाये जाने वाले सभी प्राणियों पर समान रूप से लागू होता है। इसी से नर-नारी का संयोग, सन्तान का उत्पादन, पालन और प्रशिक्षण होता है। क्योंकि हम यह देखते हैं कि मनुष्य तथा पशु इस कानून से परिचित हैं।"[1] इसके अन्य उदाहरण देवताओं के प्रति भक्ति, माता-पिता तथा देश के प्रति कर्त्तव्य-पालन, अपने प्रति होने वाली हिंसा और अन्याय का प्रतिकार करना है।

प्राकृतिक कानून मनुष्यों और पशुओं पर तथा जस जैन्शियम केवल मनुष्यों पर लागू होता है। कई बार इन दोनों में विरोध भी होता है। दास-प्रथा इसका सुन्दर उदाहरण है। उस समय रोम, यूनान आदि सभी देशों में इसका प्रचलन था, अतः जस जैन्शियम के अनुसार यह प्रथा न्यायोचित थी। किन्तु प्राकृतिक कानून के अनुसार न्यायोचित नहीं थी, क्योंकि प्रकृति में सब समान और स्वतन्त्र पैदा होते हैं।

जस्टीनियन द्वारा रोमन कानून का संकलन—रोमन सम्राट् जस्टीनियन (५२७–५६५ ई० पू०) ने छठी शताब्दी ई० में रोमन कानूनों के संकलन, वर्गीकरण और स्पष्टीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए सुयोग्य विधि-वेत्ताओं के आयोग तथा समितियाँ बनाईं। इन्होंने कानूनों का जो विशाल संग्रह किया, वह विधि निकाय (Corpus Juris) या जस्टीनियन की संहिता (Code of Justinian) कहलाता है। इस के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं: (क) **डाइजेस्ट** (Digest) या निबन्ध —इसमें मध्यकालीन भारत के कृत्यकल्पतरु, स्मृतिचन्द्रिका आदि निबन्धग्रन्थों के समान विभिन्न विषयों पर सुप्रसिद्ध रोमन विधिशास्त्रियों के विस्तृत उद्धरण दिये गये हैं। सबसे अधिक अवतरण तीसरी श० के विधिशास्त्री उल्पियन के हैं। राजनीतिक विचारों के इतिहास की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इसमें तीसरी से छठी शताब्दी तक के रोमन विचारों का सुन्दर परिचय मिलता है। इसे १६ विधिशास्त्रियों ने तीन वर्ष में तैयार किया था। (ख) **इंस्टीट्यूट्स** (Institutes)—इसमें विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से रोमन कानून के सिद्धान्तों का संक्षेप से विवेचन है। यह ५३३ ई० में तैयार हुआ था। (३) साम्राज्य के प्रारम्भिक काल के सार्वजनिक और वैयक्तिक कानून संबंधी सभी शाही नियमों और आदेशों का संग्रह। (४) सम्राट् जस्टीनियन के कानूनों का संग्रह (Novelli)। बाइबल के बाद पश्चिमी सभ्यता पर सबसे अधिक प्रभाव जस्टीनियन के कोड का ही है।

रोमन कानून का यह प्रामाणिक संकलन परवर्त्ती राजनीतिक विचारधारा के लिए कामधेनु सिद्ध हुआ है। इसके आधार पर विभिन्न विद्वान् राजा के निरंकुश अधिकारों का तथा जनता के मौलिक अधिकारों का समर्थन करते रहे हैं। इंस्टीट्यूट्स (१।२।६) में कहा गया है कि राजा कानून का स्रोत है, इसके आधार पर मध्ययुग में राष्ट्रीय राजाओं की प्रभुसत्ता को पुष्ट किया गया। दूसरी ओर लोकतन्त्र और क्रान्ति के समर्थकों ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए इसके प्राकृतिक कानून का उल्लेख किया है,

---

१. मैकिलवेन—पूर्वोक्त पुस्तक।

जिसके अनुसार सब व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होते हैं (इंस्टी. १।२।२) तथा सब के प्राकृतिक अधिकार समान होते हैं (उल्पियन, डाइजैस्ट ५०।१७।३२)। रोमन कैथोलिक चर्च का संगठन तथा इसके धार्मिक कानून (Canon law) का निर्माण रोम के कानूनी विचारों के आधार पर हुआ। प्राकृतिक कानून के विषय में ईसाई यह मानते थे कि यह सृष्टि में ईश्वरीय नियम (Divine law) है और इसे भगवान् ने मनुष्यों के हृदयों में प्रतिष्ठित किया है। जस जैन्शियम और प्राकृतिक कानून के विचार ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त के विकास में बड़ा सहयोग प्रदान किया है।

प्रभु-शक्ति की धारणा (The Concept of Imperium) — रोमन विधिशास्त्रियों का यह विचार था कि प्रत्येक समुदाय में प्रभु-शक्ति का निवास अनिवार्य रूप से होता है। यह ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा समुदाय अपने सदस्यों को आदेश देता है और उनसे अपनी आज्ञाओं का पालन कराता है। आदेश देने और इन्हें पालन कराने की शक्ति को रोमन इम्पीरियम कहते थे। इसी से अंग्रेजी में सम्राट् और साम्राज्य के वाचक Imperator, Emperor और Empire के शब्द बने हैं क्योंकि बाद में शासन की सर्वोच्च शक्ति और कानून को पालन कराने का अधिकार इनमें निहित माना जाता था। किन्तु आरंभ में ऐसा नहीं था। रोम में राजतन्त्र के आरम्भ से ही यह माना जाता था कि प्रभु-शक्ति जनता में निहित है। किसी व्यक्ति को वंश-परम्परा से या दैवीय विशेषताओं के कारण शासन का अधिकार नहीं, किन्तु जनता द्वारा निर्वाचन से ही यह अधिकार मिलता है। एक बार उसे यह अधिकार मिलने पर वह मृत्युपर्यन्त इसका उपभोग करता है। ऐसा राजा धर्माध्यक्ष और महापुरोहित (Pontifex Maximus) तथा युद्ध छेड़ने तथा संधि करने क अधिकार रखता है। यह शक्ति यद्यपि उसे जनता से मिली है, किन्तु यह पूर्ण है और इसे छीना नहीं जा सकता। उसकी मृत्यु पर यह अधिकार जनता को पुनः लौट जाता है और वह नये राजा का चुनाव करती है, क्योंकि इम्पीरियम या प्रभु-शक्ति का मूल जनता ही है। रोमन गणराज्य के समय में प्रभु-शक्ति जनता में ही स्वीकार की जाती थी।

साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी यह सिद्धान्त माना जाता रहा। गेयस ने दूसरी श० ई० में लिखा था कि सब प्रकार की कानूनी सत्ता का स्रोत जनता (Populus) है। रोम में साम्राज्य स्थापित हो जाने के बाद भी गणराज्य का पुराना ढाँचा और आवरण बना रहा था, सम्राट् को प्रथम नागरिक कहा जाता था। उसके शासन के अधिकार के संबंध में रोमन विधिशास्त्रियों (Jurists) का यह मत था कि जनता एक विशेष कानून (Lex regia) द्वारा सम्राट् को सर्वोच्च शासन-शक्ति (Imperium and Potesta) प्रदान करती है। ये दोनों जटिल कानूनी शब्द हैं और इनके आधार पर बोदैं (Bodin) ने सोलहवीं शताब्दी में Majesta की तथा राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) के सिद्धान्त की कल्पना की थी। साम्राज्य के समय में भी कानूनी तौर से शासन और कानून की अन्तिम शक्ति जनता के पास थी। सम्राट् के बनाये हुए नियम कानून नहीं, किन्तु कानून की शक्ति रखने वाले (Vigor Legis) थे। सम्राट् या इम्पिरेटर सैनिक नेता और प्रिन्सेप्स (Princeps) अर्थात् राज्य का पहला नागरिक था। सम्राट् को विशेष कानून (Lex regia) द्वारा जीवनकाल के लिए ही प्रभु-शक्ति मिलती थी और मृत्यु के बाद उसके वंशजों को किसी प्रकार का

कोई अधिकार नहीं मिलता था। ६९-७० ई० के एक अभिलेख में सम्राट् वेस्पेशियन को इस प्रकार के अधिकार दिये गये थे।[1]

सैद्धान्तिक रूप से यह स्थिति होने पर भी वस्तुतः सम्राट् इस समय निरंकुश शासक बन गये। गिब्बन के शब्दों में इस समय निरंकुश राजतन्त्र ने गणराज्य का आवरण धारण कर रखा था, किन्तु यह इतना झीना था कि इसमें इसका वास्तविक रूप भली-भाँति झलक रहा था। सेनेका ने अपने एक ग्रन्थ De clemencia में नीरो की शक्ति को सर्वोच्च एवं सब प्रकार के बन्धनों से रहित माना।[2] दियोक्रिसोस्तोम तथा ईलियस (Aelius) ने भी यही स्थिति मानी थी। शनैः-शनैः सम्राट् को देवता समझने का विश्वास प्रचलित हुआ और उसकी निरंकुश सत्ता बढ़ने लगी। पहले कानून और राजसत्ता का आधार जनता की सहमति थी। सम्राट् की इच्छा इसलिए कानून के तुल्य थी कि जनता ने उसे इम्पीरियम एवं शासन का अधिकार सौंपा था। अब रोमन विधिशास्त्रियों ने जनता द्वारा सम्राट् को अधिकार दिये जाने के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार जनता ने स्थायी रूप से इम्पीरियम को एक कानून द्वारा सम्राट् को सौंप दिया था और उससे यह अधिकार जनता द्वारा किसी प्रकार वापिस नहीं लिया जा सकता था। तीसरी श० ई० में उल्पियन ने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा था—"**सम्राट् की इच्छा को कानून की शक्ति प्राप्त है, क्योंकि जनता ने सम्राट् को अधिकार देने वाला कानून** (Lex Regia) **पास करके अपनी सारी शक्ति और सत्ता उसे हस्तान्तरित कर दी है** (डाइजैस्ट १।४।१)।

इसका विशुद्ध कानूनी अर्थ तो केवल इतना ही है कि कानून पर सामूहिक रूप में जनता का सामान्य स्वत्व होता है।[3] यह विभिन्न उद्गमों (Origins) वाले कानूनों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायगा। उदाहरणार्थ, परम्परागत रिवाज (Custom) इसलिए कानून माने जाते हैं कि जनता में प्रचलित होने से उन्हें जनता की सहमति प्राप्त होती है। किन्तु मध्य एवं वर्त्तमान युग में इसके कानूनी अर्थ को ध्यान में न रखते हुए एक ओर उल्पियन के उपर्युक्त उद्धरण के पूर्वार्द्ध के आधार पर निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया गया, दूसरी ओर इसके उत्तरार्द्ध के आधार पर लोकतन्त्र के इस मौलिक सिद्धान्त की पुष्टि की गयी कि शासक को राजनीतिक सत्ता अथवा प्रभु-शक्ति (Imperium) जनता से प्राप्त होती है, सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित है।

जनता की सहमति द्वारा प्रभु-शक्ति या इम्पीरियम का शासक को दिया जाना एक प्रकार के सामाजिक समझौते (Social contract) को द्योतित करता है।[4] रोमन विधिशास्त्री अरस्तू से प्रतिकूल राज्य की उत्पत्ति परिवार से नहीं, किन्तु इस समझौते से मानते हैं। किन्तु इस समझौते से सम्राट् को एकबार अधिकार मिलने के बाद इसका अपहरण नहीं हो सकता था। इस प्रकार संविदा का यह सिद्धान्त हाब्स के मत से सादृश्य रखता है, न कि लॉक के मत से। रोमन विधिशास्त्रियों ने हाब्स की भाँति सम्राटों के

---

१. मैक्लिवेन – पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२६।
२. वही, पृ० १३७।
३. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० १५४।
४. गफ—सोशल कान्ट्रेक्ट।

स्वेच्छाचारी शासन को न्यायोचित ठहराने के लिए इसका प्रतिपादन किया था। इसके अनुसार जनता द्वारा सम्राट् को प्रभु-शक्ति देने से वह अब किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं रहा और कानून से ऊपर हो गया क्योंकि समूचे दीवानी कानून का स्रोत सम्राट् ही था। रोमन कानून का यह विरोधाभास बड़ा मनोरंजक है कि एक ओर तो वह निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करते हुए यह मानता है कि सम्राट् की इच्छा ही कानून की शक्ति रखती है। (डाइजैस्ट १।४।१ Quod principi pldcuit legis habet vigorem) तथा दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि सम्राट् को यह प्रभु-शक्ति जनता से प्राप्त होती है।[1]

रोम की देन – पश्चिमी जगत् के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में रोम की **पहली** और सबसे बड़ी देन रोमन विधिशास्त्र है जिसके विकास से कई नये विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। पहले यह बताया जा चुका है (पृ० २२५) कि रोम ने किस प्रकार निम्नलिखित विचारों को विकसित किया— भावात्मक (Positive) कानून का विचार, व्यक्ति के निजी (Private) अधिकारों का सिद्धान्त, प्रभुसत्ता का सिद्धान्त, राज्य को कानूनी सत्ता (Legal entity) समझना, शासन की प्रभु-शक्ति (Imperium) का अन्तिम स्रोत जनता में निहित होना और जनता द्वारा इसे शासकों और सम्राटों को प्रदान करना। पहले यह उल्लेख हो चुका है कि रोमन विधिशास्त्र मध्य एवं अर्वाचीन युग के विचारकों के लिए कामधेनु के समान है। यह निरंकुश राजसत्ता तथा लोकतन्त्र के परस्पर विरोधी पक्षों का समर्थन करने के लिए विचारकों को समान रूप से प्रमाण देता रहा है। यह पश्चिम के कई देशों के कानून की आधार-शिला है। रोमन लोगों ने इसके विकास से नैतिकता और राजनीति में पार्थक्य स्थापित किया और इस सिद्धान्त को जन्म दिया कि जनता की इच्छा ही कानून का स्रोत है। **दूसरी देन** रोमन साम्राज्य के निर्माण द्वारा विश्वबन्धुत्व (Cosmopolitanism) और विश्वराज्य (World State) की कल्पना को जन्म देना था। इसमें विभिन्न जातियों, धर्मों, भाषाओं वाले व्यक्ति रोम की राजनीतिक तथा कानूनी पद्धति द्वारा एकसूत्र में संगठित हुए थे। इससे स्थानीय क्षुद्र वर्गभेदों का तथा स्थानीय ईर्ष्या-द्वेष का अन्त हुआ, मानवीय भ्रातृभाव और समानता के स्टोइक आदर्शों को बल मिला। यूनानी अपने को ऊंचा समझते हुए अन्य जातियों को बर्बर तथा नीच समझते थे, दास-प्रथा को वैध मानते थे। रोम ने विश्वबन्धुत्व के आदर्श को अपने साम्राज्य द्वारा मूर्त्तरूप दिया। इसमें रहने वाली सभी जातियाँ रोमन कानून से समान रूप से शासित होती थीं। रोम का प्राकृतिक कानून दास प्रथा को अस्वाभाविक मानता था। इस प्रकार रोम ने पुराने जातीय भेद-भाव तथा दास-प्रथा के विचारों का विध्वंस करते हुए आधुनिक विचारधारा के एक प्रधान तत्त्व लोकतन्त्र के लिए मार्ग प्रशस्त किया क्योंकि पुराने विचारों के विनाश के बिना राजतन्त्र की विचारधारा सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकती थी। गैटिल ने यह सत्य ही लिखा है "रोम की सार्वभौम शक्ति तथा स्टोइक-ईसाई लोगों के सब मनुष्यों के

---

१. इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का मूल लैटिन रूप इस प्रकार है—Utpote cum lege regia, quae de imperio eius lata est, populus ei et in eum omne suum imperium et potestem conferat.

भ्रातृभाव के विचार ने आधुनिक दृष्टिकोण की नींव रखी है। ये आदर्श रोम के पतन के बाद भी जीवित रहे। पुनर्जागरण (Renaissance) से इन्हें नवजीवन मिला और (फ्रेंच) क्रान्ति के दिनों में बनाई गई राजनीतिक संस्थाओं इन्हें मूर्त्त रूप प्राप्त हुआ।"[1]

रोम की **तीसरी देन** यूनान के राजनीतिक विचारों की न्यूनतायें और दोष दूर कर उन्हें पूर्ण बनाना था। गैटिल के मतानुसार यूनानी और रोमन जातियों के राजनीतिक आदर्श एक-दूसरे के पूरक थे। यूनान के प्रमुख विचार स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के थे, रोम कानून, व्यवस्था तथा एकता के विचारों को अधिक महत्त्व देता था। यूनान के नगर-राज्य स्वतन्त्रता को इतना महत्वपूर्ण समझते थे, कि वे कभी एक राज्य में संगठित नहीं हो सके और आपसी झगड़ों के कारण उन्हें अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ा। इसके विपरीत रोम ने अपनी सैनिक-शक्ति द्वारा इटली और पश्चिमी जगत् को जीतकर अपने साम्राज्य में शासन, व्यवस्था तथा राजनीतिक एकता स्थापित करते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कुचल दिया तथा रोम के गणराज्य को निरंकुश राजतन्त्र में परिणत किया। इस प्रकार रोम ने यद्यपि समूचे सभ्य जगत् के लिए एक प्रकार का कानून बनाया, शान्ति और सुशासन (Pax Romana) स्थापित किया, इसके लिए एक सुदृढ़ केन्द्रीय (Centralised) शासन बनाया, किन्तु इसके साथ ही उसने यूनानियों की स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के विचारों को गहरा आघात पहुँचाया।

चौथी देन औपनिवेशिक और नागरिक शासन के बहुमूल्य सिद्धान्त थे। रोम के केन्द्रीय शासन ने विभिन्न प्रान्तों को स्थानीय स्वशासन का अधिकार दिया था। इससे रोम कोरा सैनिक साम्राज्य नहीं रहा, विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले रोमन सुशासन का गुणगान करने लगे और वे हृदय से उसके समर्थक बने।

फिलिस डायल ने रोम की देन का सुन्दर विवेचन करते हुए लिखा है कि पश्चिम में अपने साम्राज्य की स्थापना के रचनात्मक प्रयत्न करते हुए रोमन विधिशास्त्रियों (Jurists) ने निम्नलिखित विचारों का निर्माण किया—एक अपरिवर्त्तनशील नियम (प्राकृतिक कानून) की सार्वभौमिकता, यह विचार कि राज्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं, किन्तु मनुष्यों के समझौते द्वारा बनाया गया तथा उनकी इच्छा पर अवलंबित संगठन है, यह मौलिक (प्राकृतिक) कानून का अनुसरण करने वाला तथा उसका वशवर्त्ती है, व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य राज्य के लक्ष्य से ऊंचा है, राज्य और समाज पृथक् हैं···उनका सबसे विलक्षण विचार इम्पीरियम (Imperium) का था।"[2]

मध्ययुग पर रोम का प्रभाव—४७६ ई० में बर्बर जातियों के आक्रमणों से रोम का तथा पश्चिमी रोमन साम्राज्य का पतन हो गया।[3] किन्तु रोम के विचार

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० २२।

२. फिलिस डायल--हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ५१।

३. प्रसिद्ध रोमन सम्राट् कांस्टैण्टाइन (शासनकाल ३०७–३३७) ने बर्बर जातियों के आक्रमणों से सुरक्षा के लिए साम्राज्य की राजधानी रोम से हटाकर एशिया और योरोप के महाद्वीपों के संधिस्थल बाइजैण्टियम में स्थापित की (३३३ ई०) तथा यहाँ इसे कांस्टैण्टिनोपल

अमर थे। इनकी आत्मा मध्ययुग में योरोप पर मंडराती रही और उस पर प्रभाव डालती रही। "जिन बर्बर जातियों ने साम्राज्य को जीता था, वे (रोम की राजसत्ता के प्रतीक) रक्तवर्ण वस्त्रों (Purple) के चिथड़ों तक को धारण करना अपने लिए उच्चतम गौरव समझते थे।" रोमन कैथोलिक चर्च ने अपना संगठन और अपनी सत्ता रोमन साम्राज्य के आदर्श के अनुसार बनायी। सीज़र और इम्पीरियम के शब्द चिरकाल तक राजनीतिक चिन्तन में शक्तिशाली बने रहे।[1] रोमन आदर्श व्यक्तियों के मन में इतने घर कर गये कि पश्चिमी जगत् में सार्वभौमिक कानून को स्थापित करने वाली तथा विश्व में एकता लाने वाली सर्वशक्तिशाली राजसत्ता का विचार समूचे मध्ययुग की प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों में भी बना रहा। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के रूप में इसे पुनःसंजीवित करने और मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न किया गया।

१२वीं शताब्दी में जब इटली में रोमन कानून के अध्ययन का पुनरुज्जीवन हुआ तो कानून के अध्ययन के लिए विशेष विद्यालय स्थापित हुए। इनमें उन व्यक्तियों ने शिक्षा ग्रहण की, जो बाद में योरोप में इस समय विकसित होने वाले नवीन 'राष्ट्रीय राज्यों' (National States) के कर्णधार एवं शासनसूत्र संचालित करने वाले प्रमुख राजनीतिज्ञ बने। इनका आदर्श जस्टीनियन का रोमन कोड था और उन्होंने इसके आधार पर अपने नये राज्यों की शासन-व्यवस्था और कानून का निर्माण किया। रोमन विधिशास्त्र का विकास न केवल रोम का राजनीतिक विकास था, अपितु वह आधुनिक राज्यों का तथा मध्यकालीन और अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख आधार है। रोम का अन्त हो जाने पर उसके कानूनी विचार सदियों तक राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत बने रहे।

मध्यकाल में रोम के प्रभाव का एक सुन्दर उदाहरण ११वीं शती में आरम्भ होने वाला चर्च तथा पवित्र रोमन सम्राट् का संघर्ष था। दोनों अपनी शक्ति सर्वोच्च मानते थे। इसका आगे यथास्थान वर्णन होगा, किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि दोनों अपना पक्ष पुष्ट करने के लिए रोमन साम्राज्य का उदाहरण प्रस्तुत करते थे। पोप के अनुयायी पोप की सर्वोच्च सत्ता सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते थे कि सम्राट् कांस्टैण्टाइन ने अपना साम्राज्य चर्च को दान कर दिया था, अतः उस पर पोप प्रभुत्व हो गया, पवित्र रोमन साम्राज्य उसी पुराने साम्राज्य का उत्तराधिकारी है,

---

(कुस्तुन्तुनिया) का नया नाम दिया (३३० ई०)। विशाल रोमन साम्राज्य प्रशासन की दृष्टि से तीसरी श० से पूर्वी और पश्चिमी नामक दो भागों में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य का केन्द्र रोम था। तीसरी श० ई० से बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण यह क्षीण होने लगा। ४७६ ई० में पश्चिम के अन्तिम रोमन सम्राट् रोमलस आगस्टुलस को बर्बर राजा ओडोएसर (Odoacer शासनकाल ४७६–४९३ ई०) ने परास्त किया, उसकी हत्या की और रोमन सम्राट् के पद की समाप्ति करते हुए पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया। पूर्वी रोमन अथवा बाइज़ैन्टाइन साम्राज्य (Eastern Roman or Byzantine Empire) १५वीं शताब्दी तक बना रहा। १४५३ ई० में तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करके इसे समाप्त किया।

१. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७९।

अतः इस पर भी पोप का आधिपत्य होना चाहिए। दूसरी ओर सम्राट् के समर्थकों का यह कहना था कि रोमन कानून के अनुसार सम्राट् को इस प्रकार के दान का कोई अधिकार नहीं था, अतः उसका यह दान अवैध था और इस आधार पर पोप का दावा ठीक नहीं है।

मध्यकाल के विचारकों को रोमन साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता का आदर्श प्रबल प्रेरणा देता रहा है। दांते ने इसके आधार पर यह सिद्धान्त रखा था कि समस्त मानव जाति को एक राजनीतिक संगठन में संगठित हो जाना चाहिए; जैसे संसार में एक ईश्वर है, वैसे ही सारे संसार में शान्ति स्थापित करने के लिए एक विश्व-सम्राट् होना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन का एक प्रधान स्रोत रोम की राजनीतिक विचारधारा थी।

सातवाँ अध्याय

ईसाइयत की राजनीतिक विचारधारा

ईसाइयत का प्रादुर्भाव और विकास—जब रोम में सम्राट् आगस्टस (२९ ई० पू० से १४ ई०) का शासन था और रोमन साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर था, उस समय उसके एक प्रान्त पैलेस्टाइन के यहूदियों में ४ ई० पू० में महात्मा ईसा का जन्म हुआ।[1] ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने तत्कालीन यहूदी धर्म की बुराइयों का संशोधन करने के लिए गैलिली, जूडिया आदि के प्रदेशों में घूमते हुए प्रचार आरंभ किया। तीन वर्ष बाद उनके प्रचार से क्षुब्ध यहूदियों ने उन्हें पकड़वा कर वहाँ के रोमन राज्यपाल पाइलेट के सामने उपस्थित किया। उन पर यह आरोप लगाया गया कि वह रोमन शासन का अन्त करके स्वयं यहूदियों का राजा बनना चाहता है। यहूदियों के आग्रह से उन्हें प्राणदण्ड की आज्ञा दी गई और २९ ई० में जेरूसलेम की एक पहाड़ी पर दो चोरों के साथ सूली पर चढ़ा दिया गया। उस समय किसी को यह कल्पना नहीं थी कि उनका यह सुधार आन्दोलन शीघ्र ही एक विश्वव्यापी महत्त्वपूर्ण धर्म बन जायगा और पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन की दिशा में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन करेगा। अभी तक यूनानी और रोमन, धर्म और राज्य को अभिन्न मानते थे। प्लेटो और अरस्तू के यूनान में धार्मिक कार्य राज्य द्वारा सम्पन्न कराये जाते थे। रोम में सम्राट् न केवल शासन का अध्यक्ष था किन्तु वह धर्म का महापुरोहित (Pontifex Maximus) भी था। ईसाइयों ने सर्वप्रथम धार्मिक और सांसारिक सत्ताओं में स्पष्ट भेद का और संघर्ष का तथा धार्मिक सत्ता के सर्वोपरि होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और राजनीतिक क्षेत्र को अनेक नवीन विचारों से समृद्ध किया।

महात्मा ईसा के बलिदान के बाद उसके बारह शिष्यों (Apostles) ने उसकी शिक्षाओं का प्रचार जारी रखा। किन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सन्त पाल (लग० १६–६४ ई०) का है। तार्सस (दक्षिणी टर्की में अडाना से २३ मील पश्चिम में) में तम्बू बनाने वाला यह समृद्ध यहूदी पहले ईसाइयत का कट्टर विरोधी था। किन्तु

---

१. प्रायः यह समझा जाता है कि ईस्वी सन् का आरम्भ ईसा के जन्म के साथ होता है। इसके अंग्रेज़ी में प्रचलित संक्षिप्त रूप A. D. के लैटिन रूप Anno Domini (In the year of our lord) से भी यही सूचित होता है। किन्तु पश्चिम में इस सन् का निर्धारण और प्रयोग सर्वप्रथम सीरिया के एक परिव्राजक Dionysius Exigas ने किया था। आधुनिक गवेषणाओं से यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा का जन्म इस सन् के आरम्भ होने के साथ नहीं, किन्तु इससे चार वर्ष पहले हुआ था (इंसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खं० ६, पृ० ६०५, नास—मैन्स रिलीजन्स, पृ० ५६१)।

एक बार दमिश्क के पास मध्याह्न के समय उसे सहसा आकाश में आंखों को चौंधिया देने वाले दिव्य प्रकाश में ईसा के दर्शन हुए तथा यह आदेश मिला कि वह सब जातियों और देशों में उसके संदेश का प्रसार करे। अब तक ईसा के अनुयायी केवल यहूदियों में ही अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे, उनका कहना था कि यहूदियों से भिन्न जातियों (Gentiles) के लिए उनके गुरु का संदेश नहीं है। सन्त पाल ने इसे प्राणिमात्र के लिए आवश्यक समझते हुए २० वर्ष तक अपने साथियों के साथ पर्यटन करते हुए रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों के यूनानियों में और रोमन साम्राज्य के केन्द्र—रोम में इसका प्रसार किया। सर्वत्र उन्होंने अपने मतानुयायियों की उपासना के लिए चर्च स्थापित किये। इनका सुदृढ़ एवं सुनिश्चित संगठन बनाया। विभिन्न स्थानों के चर्चों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए सन्त पाल इन्हें पत्र लिखता रहा। उसी के प्रयत्नों से ईसाइयत ने शनैः-शनैः विश्वव्यापी धर्म का तथा सुदृढ़ संगठन का रूप धारण किया। मैक्सी के के कथनानुसार, ईसा के बाद ईसाइयत के इतिहास में वही सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है।[1] कुछ विद्वान् ईसाइयत का सच्चा संस्थापक सन्त पाल को ही मानते हैं।

उस समय रोमन साम्राज्य में ईसाइयत के प्रसार के लिए बड़ी अनुकूल परिस्थितियाँ थीं। रोमन साम्राज्य ने शान्ति और व्यवस्था स्थापित करके तथा सड़कें बनवा कर ईसाई प्रचारकों के लिए साम्राज्य के एक कोने से दूसरे कोने तक पर्यटन करके प्रचार करने की सुविधापूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं। रोम के पुराने प्रतिमा-पूजक धर्म (Paganism) में इस समय वहाँ के सम्पन्न और शिक्षित वर्ग की श्रद्धा संदेहवाद के कारण शिथिल हो चुकी थी। अब यह पुराना रोमन धर्म केवल बाह्याडम्बर और कर्मकाण्डमात्र रह गया था। यूनानी दर्शन के तथा मिश्र और एशिया के धर्मों के साथ सम्पर्क में आने के कारण रोमन इनकी नवीनता से आकृष्ट होकर इन्हें ग्रहण कर रहे थे। बुद्धिजीवियों में यह फैशन बन गया था कि वे पुराने धर्म को अस्वीकार करते हुए दर्शन की नई लोकप्रिय विचारधाराओं को ग्रहण करें। मिश्र की आइसिस (Isis) एवं सेरापिस देवताओं की रहस्यवादी उपासना तथा ईरानी देवता मिथ्र की पूजा प्रचलित हो रही थी। रोमन शासन के करभार से पीड़ित साधारण जनता व्यय-साध्य, आडम्बर-प्रधान उपासनाओं की ओर आकृष्ट नहीं हो सकती थी। उदाहरणार्थ, महा-मातृशक्ति (Great Mother Goddess) के उपासक एक विशेष विधि (Taurobolium) में एक बड़े बैल को मार कर इसका रुधिर नव-दीक्षित व्यक्ति पर छिड़क कर उसे पवित्र बनाते थे।[2] ऐसी विधियों वाले धर्म जनता में लोकप्रिय नहीं हो सकते थे। रोमन साम्राज्य ने साधारण जनता को आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टि से बिल्कुल दिवालिया बना दिया था। ऐसे समय में ईसाइयत का आविर्भाव हुआ। उसके सिद्धान्त बड़े सरल और सुगम थे, उसमें कोई बड़े भव्य मन्दिर या व्यय-साध्य कर्मकाण्ड नहीं थे। यह धर्म पददलित, दरिद्र और निम्न वर्ग के लिए नई आशा का संदेश देने वाला था। इसके अनुसार सब मनुष्य एक ईश्वर की सन्तान थे, भ्रातृभाव रखते थे, ईसा ने मानवता के उद्धार के लिए स्वयं बलिदान होना स्वीकार किया और उस पर विश्वास रखकर

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ९३।
२. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ३५०।

सब व्यक्ति मुक्त हो सकते थे। उस समय रोम में कोई दूसरा धर्म साधारण जनता के लिए इतना अधिक आकर्षण नहीं रखता था। अतः समाज का निम्न वर्ग बड़ी तेजी से इस धर्म को स्वीकार करने लगा।

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक गिब्बन ने रोमन साम्राज्य में ईसाइयत की सफलता के पाँच कारण बताये हैं[1] : (१) ईसाई प्रचारकों का अदम्य उत्साह, (२) भावी जीवन का सिद्धान्त, (३) चर्च के आरम्भिक व्यक्तियों की चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ, (४) ईसाइयों का विशुद्ध आचरण, (५) ईसाइयों की एकता, अनुशासन तथा चर्च का सुदृढ़ संगठन। इन सब कारणों से सम्राट् डेशियस (राज्यकाल २४९–५१) तथा डायोक्लीशियन (राज्यकाल २८४–३०५ ई०) के समय ईसाइयों पर भीषण अत्याचार होने पर भी ईसा की पहली तीन शतियों में रोमन साम्राज्य में ईसाइयत का विलक्षण एवं आश्चर्यजनक प्रसार हुआ। अधिकांश सैनिक ईसाई हो गये। अतः सम्राट् कांस्टैण्टाइन (३०६–३३७) ने इस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए ईसाइयत को स्वीकार किया,[2] अपनी ध्वजा पर क्रास को अंकित किया, ईसाइयों के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों को समाप्त किया और इसे राजकीय मान्यता दी (३१३ ई०)। ३८० ई० पूर्व में सम्राट् थियोडोसियस (३७९–३९४) ने इसे राज्य का एकमात्र धर्म स्वीकार किया।

रोम के पोप की सत्ता (Papacy) **का विकास** – ईसाइयत के राजधर्म बनने के साथ उसके स्वरूप में बड़ा अन्तर आने लगा। पहले चर्च का संगठन लोकतन्त्रात्मक था। अब रोमन साम्राज्य के आदर्श पर उसका केन्द्रीकरण होने लगा। पहले रोमन साम्राज्य के सभी बड़े शहरों-एण्टियोक, रोम, एलेक्ज़ेण्ड्रिया, जेरुसलम में चर्च के कार्यों की देखभाल करने वाले बिशप रहते थे और इन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अब ईसाइयत के राजधर्म बन जाने से रोम का पोप धार्मिक विषयों में सम्राट् का परामर्शदाता हो गया तथा अन्य बिशप उसके आधीन माने जाने लगे। रोम के चर्च के संबंध में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध थी कि ईसा ने अपने शिष्य पीटर को चर्च का अधिकार और इसकी कुंजियां सौंपी थीं, उसने यह चर्च रोम में स्थापित किया।[3] अतः रोम के चर्च का बिशप ईसामसीह का साक्षात् उत्तराधिकारी समझा जाता था। सन्त पाल ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष यहाँ बिता कर रोम के चर्च को पवित्रता प्रदान की थी। जब ईसाइयत में सैद्धान्तिक वाद-विवाद बहुत बढ़ने लगे तो सार्डिका (वर्त्तमान सोफिया) में चर्च की सामान्य परिषद् ने ३४७ ई० में रोम के बिशप को अन्य बिशपों के निर्णयों पर विचार के लिए उच्चतम न्यायालय बनाया। रोम के पोप की प्रभुता में पाँचवीं

---

१. गिब्बन—डिक्लाइन एण्ड फाल ऑफ रोमन एम्पायर, अध्याय १५, इसकी आलोचनात्मक व्याख्या के लिए देखिये रसेल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३४९–३५१।

२. वैल्ज़—आउटलाइन ऑफ वर्ल्ड हिस्टरी, पृ० ५४९।

३. इस अनुश्रुति का आधार (मैथ्यू के सुसमाचार १६।१८–१९) में ईसा का एक वाक्य है। इसमें पीटर की तुलना चट्टान से करते हुए यह कहा गया है, "मैं अपना चर्च इस चट्टान पर बनाऊँगा। तुम्हें स्वर्ग के राज्य की कुंजियाँ दूँगा। भूलोक पर तुम जिस बात का निषेध करोगे, वह स्वर्ग में भी निषिद्ध होगी। पृथिवी पर तुम जिसका विधान करोगे, वह स्वर्ग में विहित होगी।" पोप लिओ प्रथम (४४०–४६१ ई०) ने इस वाक्य के आधार पर यह दावा किया कि पीटर

शताब्दी में तब उल्लेखनीय वृद्धि हुई जब इसे सर्वोच्च राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये। पश्चिम में सम्राट् वेलेन्शियन तृतीय (४२५–४५५ ई०) ने रोम के बिशप को अपने साम्राज्य के सभी भागों से आने वाले धार्मिक विवादों की अपीलें सुनने वाला कानूनी न्यायालय बना दिया और यह घोषणा की कि रोम का बिशप अन्य बिशपों के ऊपर है।[1]

ईसाइयत को राजधर्म बनाने वाले कांस्टैण्टाइन के शासन से ४७६ ई० में पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पतन तक के डेढ़ शताब्दी के काल में अनेक कारणों से पोप की प्रभुता में वृद्धि हुई। पहला कारण इस समय बर्बर जातियों के आक्रमणों का प्रतिरोध करने वाले सम्राटों की दुर्बलता और अयोग्यता तथा इनकी तुलना में इन्नोसैण्ट प्रथम (४०२–४१७ ई०) तथा लिओ प्रथम (४४०–४६१ ई०) जैसे पोपों की विलक्षण योग्यता थी। इन्होंने बड़ी सफलता के साथ पोप के अधिकार का समर्थन किया। इसी समय रोमन चर्च ने सन्त एम्ब्रोज़ (लग० ३४०–३९७ ई०), जेरोम (३४०–४२० ई०) और आगस्टाइन (३५४–४३० ई०) जैसे महापुरुष उत्पन्न किये। आगे यह बताया जायगा कि एम्ब्रोज़ ने कई अवसरों पर सम्राट् के आदेशों का सफल प्रतिरोध किया। जेरोम ने अपने उच्च जीवन और आदर्शों द्वारा ईसाई भिक्षुओं (Monastic) के नियमों को स्थापित किया। बाइबल का वल्गेट (Vulgate) के नाम से लैटिन में नया अनुवाद करके उसे लोकप्रिय बनाया और आगस्टाइन ने अपनी प्रभावशाली लेखनी द्वारा 'ईश्वर के नगर' (City of God) में चर्च की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन किया। इस समय तक रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करने वाली बर्बर जातियों में ईसाइयत का प्रचार हो चुका था। इन पर पोप का कुछ प्रभाव होने से उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया। ४५२ ई० में हूणों के नेता एटिला (Attila) ने जब इटली पर आक्रमण किया, उसकी सेनाओं ने चारों ओर विध्वंस और विनाश का ताण्डव किया तो पोप लिओ प्रथम के कहने से उसने रोम की शाश्वत नगरी (Eternal City) को इस उत्पात से मुक्त रखा और वापिस हंगरी लौट गया। उस समय समूचे सभ्य जगत् ने इस दैवीय भीषण प्रकोप को टालने के लिए पोप का बड़ा आभार माना।

४७६ ई० में रोम के पश्चिमी साम्राज्य का बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण अन्त हो जाने के कारण पोप की प्रभुता में बहुत वृद्धि होने लगी। इस समय पश्चिम के बर्बर राज्यों में वही एकमात्र सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक रह गया। रोमन साम्राज्य की राजधानी बाइज़ैण्टियम (कुस्तुन्तुनिया) से बहुत दूर होने के कारण उसे

ईसा के प्रधान शिष्य थे, अतः पीटर द्वारा स्थापित रोम का चर्च और इसका बिशप अन्य चर्चों तथा बिशपों से श्रेष्ठ है। रोम के बिशप ने दूसरी श० ई० में पिता का अर्थ देने वाले लैटिन शब्द पोप का अपने लिए प्रयोग करना शुरू किया। आधुनिक ऐतिहासिक उपर्युक्त अनुश्रुति में बड़ा संदेह प्रकट करते हैं। उनका मत है कि पीटर कभी रोम नहीं गया। यह बात रोम के चर्च की महत्ता बढ़ाने के लिए दूसरी श० ई० में गढ़ी गई (जोसेफ मैकेब—ए रैशनलिस्ट इन्साइक्लोपीडिया, पृ० ४४५) और इसी समय मैथ्यू की गास्पैल में पीटर वाले उपर्युक्त वाक्य का प्रक्षेप जोड़ा गया (मैकेब—वही पुस्तक, पृ० ४२७)।

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० १२७।

अपनी स्वतन्त्र सत्ता विस्तृत करने का स्वर्ण अवसर मिला। जब छठी शती में इटली पर लम्बार्ड जाति के आक्रमण हुए तो सम्राट् उनसे इटली की रक्षा करने में समर्थ नहीं था। इस समय पोपों ने इटली की रक्षा की। ग्रेगोरी प्रथम (५६०-६०४ ई०) ने सम्राट् की ओर से लम्बार्डों के साथ समझौता किया। इसी समय से पहले रोम का तथा बाद में इटली का राजनीतिक प्रभुत्व वस्तुतः पोपों के हाथ में आ गया। फिर भी वे रावेन्ना (Ravenna) में स्थित सम्राट् के सीमावर्ती प्रदेशों के शासक (Exarch) की नाममात्र की प्रभुता स्वीकार करते रहे। सातवीं शताब्दी में पूर्वी रोमन साम्राज्य पर इस्लाम के आक्रमण होने से रोमन सम्राटों को अपनी सारी शक्ति उधर लगानी पड़ी और रोम में उनका कोई प्रभाव नहीं रहा। इस समय इटली पर पुनः लम्बार्ड जाति के आक्रमण शुरू हो गये, वे रावेन्ना (Ravenna) को जीतना चाहते थे। पोप को रोमन सम्राट् से कोई सहायता नहीं मिल सकती थी। अतः उसने अपनी रक्षा के लिए सेण्ट पीटर के नाम पर शक्तिशाली फ्रैंक जाति के नेता चार्ल्स मार्टल से प्रार्थना की। उसने तथा उसके बेटे पेपिन (Pepin ७५१-७६१) ने लम्बार्डों को इटली से भगाया, इटली को उनसे जीत कर उसका तथा रोम का शासन पोप को दे दिया (७५६ ई०)। अब वस्तुतः पोप राजनीतिक दृष्टि से इटली का अधिपति हो गया। पोप ने इस उपहार के बदले में ७५४ ई० में पेपिन को फ्रैंकों का वैध राजा स्वीकार किया। पेपिन के पुत्र शार्लमेगन (Charlmagne) या चार्ल्स महान् (७६८-८१४) ने जब अधिकांश पश्चिमी योरोप जीत लिया तो लिओ तृतीय (७९५-८१६ ई०) ने यह निश्चय किया कि उसे पुराने रोमन सम्राटों का उत्तराधिकारी समझा जाय। जब चार्ल्स रोम आया और वह सैण्ट पीटर के गिर्जे में गया तो वहाँ प्रार्थना करते हुए घुटने टेकने पर लिओ ने ८०० ई० में क्रिसमस के दिन उसके सिर पर सम्राट् का मुकुट रखा।

इस प्रकार उस पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का आरम्भ हुआ[1] जिसके विषय में वाल्तेयर ने १८वीं शताब्दी में यह लिखा था कि वह न तो पवित्र

---

१. चार्ल्स महान् द्वारा स्थापित पवित्र रोमन साम्राज्य सिकन्दर के साम्राज्य की भाँति उसकी मृत्यु के बाद तीन भागों में बँट गया। ८४३ ई० में उसके पोतों द्वारा विभाजन से पश्चिम में फ्रांस, पूर्व में जर्मनी और दक्षिण में इटली के तीन राज्य हो गये। नवीं शताब्दी में इस साम्राज्य के खण्डित हो जाने पर भी इस साम्राज्य का विचार बना रहा। ९६३ ई० में पोप जॉन द्वादश ने जर्मनी के महान् राजा ओटो प्रथम का राज्याभिषेक करके उसे पवित्र रोमन सम्राट घोषित किया। उस समय यह विश्वास बद्धमूल था कि जैसे सब ईसाई राज्यों की धार्मिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए एक सार्वभौम कैथोलिक चर्च और उसका अध्यक्ष पोप है, इसी प्रकार राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक साम्राज्य और उसका सम्राट् होना चाहिए। ओटो महान् के साम्राज्य का आधार जर्मनी का राज्य था, उसके बाद जर्मनी के राजा ही पवित्र रोमन सम्राट बनते रहे। इस साम्राज्य के अधिकतम विस्तार के समय में इसमें निम्नलिखित राज्यों के प्रदेश सम्मिलित थे—जर्मनी, हालैण्ड, बेल्जियम, बोहीमिया (चैकोस्लोवाकिया), आस्ट्रिया, स्विट्ज़रलैण्ड, बर्गण्डी तथा इटली का अधिकांश भाग। जर्मनी का राजा पोप से अभिषिक्त किया जाने के बाद ही रोमन सम्राट् कहलाता था। यह अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र को अपना उत्तराधिकारी चुनवा लेता था। १३५६ ई० में पोप के एक आदेश (Bull) द्वारा सात व्यक्तियों

है, न रोमन है और न साम्राज्य है। जब पोप ने चार्ल्स को अभिषिक्त किया, तब न तो पोप के हृदय में और न चार्ल्स के हृदय में कोई ऐसी भावना थी कि वह पोप से कोई नया अधिकार प्राप्त कर रहा है। वह अपने बाहुबल से अपनी राजनीतिक सत्ता सुदृढ़ कर चुका था और न ही पोप यह समझता था कि वह उसे ऐसा कोई अधिकार दे रहा है। किन्तु बाद में इसे बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया और यह सिद्धान्त माना गया कि पोप ने इस विधि द्वारा शासनसत्ता सम्राट् को प्रदान की है और सम्राट् को पोप के आदेशों का पालन करना चाहिए। कुछ सम्राट् इस सिद्धान्त को अस्वीकार करते रहे। इस कारण पोप और सम्राट् में तीव्र संघर्ष चलते रहे। आगे यथास्थान इसका उल्लेख होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इससे पोप को इटली में शासन का सुदृढ़ अधिकार मिल गया तथा संकट के समय शत्रुओं के आक्रमणों से रक्षा के लिए उसे शक्तिशाली मित्र की सहायता उपलब्ध हो गयी। इटली में उसका निष्कंटक राज्य हो गया और पश्चिमी जगत् में उसे सर्वोच्च धर्मगुरु माना जाने लगा। उसने मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला।

ईसाइयत का आरम्भिक राजनीतिक चिन्तन—इसकी सुन्दर झलक हमें न्यू टैस्टामैण्ट में मिलती है। बाद में सर्वोच्च शक्ति का दावा करने वाला तथा विस्तृत राजनीतिक अधिकार रखने वाला चर्च आरम्भ में इस प्रकार के सिद्धान्तों का विरोधी था। ईसा अपने को राजनीति से पृथक् रखना चाहता था। उसने अपनी शिक्षाओं में अनुयायियों को जिस राज्य में प्रवेश कराने का आश्वासन दिया है, वह स्वर्ग का पारलौकिक राज्य है, उसका इस लोक से कोई संबंध नहीं है। उसने न्यायाधीश पाइलेट के आगे अपनी निर्दोषता प्रमाणित करते हुए कहा था, "मेरा राज्य इस दुनिया का नहीं है" (जॉन १८।३६)। अपने शिष्यों को उसने स्पष्ट रूप से कहा था—"राजा (सीज़र) को उसकी वस्तुएं प्रदान करो भगवान् को उसकी वस्तुएं" (Render unto Caesar the things that are Caesar's and unto God the things that are God's)।[1] बाद में पोप की शक्तिशाली राजनीतिक सत्ता का विकास होने पर इन्हीं वाक्यों की व्याख्या सर्वथा भिन्न प्रकार से की जाने लगी। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि ईसा आध्यात्मिक शक्ति को सांसारिक शक्ति से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र समझता था।

ईसा के बाद पाल ने भी अपने पत्रों (Epistles) में राजनीति की बहुत कम चर्चा की है। किन्तु शनैः-शनैः ईसाइयत को विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों पर अपने कुछ मन्तव्य परिस्थितियों से बाधित होकर निश्चित करने पड़े। इस समय ईसाइयत ने स्टोइक आदर्शों से सादृश्य रखने वाले मानवीय समानता, विश्वबन्धुत्व, सार्वभौम

को रोमन सम्राट् को चुनने वाला (Elector) निश्चित किया गया था। इनमें तीन तो माइंत्स (Mainz), Trier और Cologne के आर्क बिशप और चार बोहीमिया, राइन प्रदेश, सैक्सनी और ब्रैण्डन बर्ग के शासक थे। पवित्र रोमन सम्राट् का नाम बड़ा होने पर भी तत्कालीन सामन्त पद्धति के कारण उसके अधिकारों और शक्ति को उसके सामन्तों ने कभी प्रबल नहीं होने दिया। इसमें सुदृढ़ एकता और संगठन नहीं था, बाद में यह केवल प्रतिष्ठित पद मात्र ही रह गया था और १८०६ में नैपोलियन ने इस पद का भी अन्त कर दिया।

१. मैथ्यू की गास्पल २२।१७, मि० १६।२४–२७।

प्राकृतिक नियम (Universal Law of Nature), राज्य के प्रादुर्भाव आदि के विषय में अपने सिद्धान्त रखे। रोमन साम्राज्य के उच्च वर्ग में ये सिद्धान्त पहले ही मान्य हो चुके थे। ईसाइयों ने जब निम्न वर्ग में इनका प्रचार किया तो ये सर्वमान्य हो गये। वस्तुत: ईसाइयत के द्वारा मानवीय समानता, भ्रातृभाव और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त पश्चिमी जगत् में प्रबल हुए। इन्होंने मध्यकाल की भूदासता (Serfdom) को दासता (Slavery) में परिणत नहीं होने दिया। पुनर्जागरण और धार्मिक सुधारणा (Reformation) के आन्दोलनों द्वारा व्यष्टिवाद का पोषण तथा फ्रेंच राज्यक्रान्ति द्वारा समानतावाद का समर्थन किया।

न्यू टैस्टामैण्ट के प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) **राज्य का स्वरूप तथा औचित्य**—सन्त पाल का यह मत था कि राज्य की शासन-व्यवस्था भगवान् द्वारा स्थापित की गयी है। "राजकीय शक्तियाँ ईश्वर द्वारा नियुक्त की गयी हैं" (The powers that be are ordained of God)। रोमन लोगों को लिखे गये अपने पत्र में राज्य की आज्ञा का पालन करने पर बल देते हुए उसने लिखा था, "प्रत्येक आत्मा को उच्च शक्तियों का वशवर्त्ती होना चाहिए, क्योंकि यहाँ ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति नहीं है और राजकीय शक्तियाँ भगवान् द्वारा नियुक्त की गई हैं।[1] पाल के मतानुसार सरकार भगवान् की इच्छा पूर्ण करने का साधन है। पीटर ने इस विचार को न्यू टैस्टामैण्ट में अधिक स्पष्टता के साथ रखते हुए कहा है,[2] "भगवान् के लिए राजा के प्रत्येक आदेश का पालन करना चाहिए, चाहे यह मनुष्य सर्वोच्च राजा हो या उसके राज्यपाल हों, जो बुरा काम करने वालों को दण्ड देने के लिए तथा सत्कर्म करने वालों की प्रशंसा के लिए भेजे जाते हैं।" पाल के मतानुसार सरकार का प्रधान कार्य न्याय की स्थापना है, यह भगवान् के नियम को संसार में बनाये रखना है, यह नियम दुष्कर्म करने वालों को दण्ड देकर तथा सत्कर्म करने वालों को पुरस्कार देकर सुदृढ़ बनाया जा सकता है। अत: न्याय की व्यवस्था को लागू करने वाला राज्य दैवीय व्यवस्था है और इसके आदेशों का पालन होना चाहिए। ईसाइयों के लिए आरम्भ में यह सिद्धान्त आवश्यक था। यदि वे ऐसा न करते तो राज्य उन्हें शुरू में ही पूरी तरह कुचल देता। किन्तु क्या राज्य के धर्म-विरोधी आदेश भी पालनीय हैं? इस विषय में बाइबल का स्पष्ट मत है "हमें मनुष्यों की अपेक्षा भगवान् की आज्ञा का पालन करना चाहिए।"[3] इसीलिए जब रोम के शासकों ने रोमन सम्राट् को भगवान् मानते हुए ईसाइयों से उसकी पूजा करानी चाही तो ईसाइयों ने इस धर्म-विरुद्ध आदेश का पालन नहीं किया तथा इसके लिए शासकों के कठोर दंडों का तथा घोर उत्पीड़न का स्वेच्छापूर्वक तथा प्रसन्नता पूर्वक वरण किया।

(२) **प्राकृतिक नियम** (Law of Nature) **का विचार**—स्टोइक लोगों की भाँति ईसाई भी राज्य के तथा प्रकृति के नियमों में भेद करते थे। प्रकृति के नियम बुद्धिगम्य, तर्कसंगत, सुनिश्चित और अपरिवर्त्तनशील होते हैं। ईसाई सिसरो की भाँति (देखिये

---

१. न्यू टैस्टामैण्ट रोमन्स १३।१–७, टाइटस ३।१-२।

२. पीटर २।१३–१७।

३. एक्टस, ५।२६।

ऊपर पृ० २२२) प्रकृति के नियम को ईश्वरीय नियम (Divine Law) समझते थे। सन्त पाल ने यह कहा था कि स्वाभाविक रूप से कानून की बातों का पालन करो।

(३) **समानता और दासता विषयक सिद्धान्त**—न्यू टैस्टामैण्ट सब मनुष्यों को ईश्वर का पुत्र और समान मानता है। ईसा पर विश्वास रखने से सब की मुक्ति हो सकती है, भले ही वे अमीर हों या गरीब, दास हों या स्वतन्त्र व्यक्ति। जब सब व्यक्ति समान हैं तो दासता की प्रथा न्यायोचित नहीं हो सकती। किन्तु उस समय समाज में यह प्रथा इतनी बद्धमूल थी कि इसका सहसा उन्मूलन संभव नहीं था। अतः सन्त पाल को इसे स्वीकार करना पड़ा। सन्त पाल का कहना था कि यह दो कारणों से उचित है : (१) सरकार की भाँति इस प्रथा का उद्देश्य भी समाज में बुराई का निरोध करना है। व्यक्ति अपने पापों के कारण दास बनता है, पापी समाज को हानि न पहुँचा सके, इसलिए उसका दास के रूप में स्वामी के नियन्त्रण में रहना वांछनीय है। (२) स्वतन्त्रता या बंधन मन और आत्मा की आन्तरिक दशा है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" वास्तविक जीवन तो आन्तरिक जीवन है। दासता भौतिक एवं शारीरिक बन्धन है। यदि किसी की आत्मा शुद्ध, पवित्र और मुक्त है तो उसके लिए दासता का बन्धन कोई महत्त्व नहीं रखता। यह भगवान् की ओर से उसकी आत्मा की परीक्षा एवं भलाई के लिए है, इसका स्वागत किया जाना चाहिए, इसे बुरा मानना ठीक नहीं है। अतः जो दास ईसाइयत के प्रभाव में आकर अपने स्वामियों के अत्याचारों से बचने के लिये भाग जाते थे, उनको सन्त पाल का यह उपदेश है कि वे अपने स्वामियों के पास लौट आयें तथा उनकी वश्यता में रहते हुए यह प्रदर्शित करें कि वे भगवान् की इच्छा को पूर्ण कर रहे हैं। इस प्रकार दासता को सब मनुष्यों की समानता के अपने मौलिक सिद्धान्त के प्रतिकूल होने पर भी, ईसाइयत आरम्भ में चिरकाल तक न्यायोचित मानती रही।[1]

(४) **सम्पत्ति**—ईसा ने अपने उपदेशों में धन की तथा धनियों की घोर निन्दा की है। "यह संभव है कि ऊंट सुई की नोक में से निकल जाय, किन्तु यह असंभव है कि धनी स्वर्ग के द्वार में से निकल कर उसमें प्रविष्ट हो सके।"[2] ईसा का संदेश पहले निर्धन व्यक्तियों में फैला था, अतः उसके अनुयायियों ने शुरू में वैयक्तिक सम्पत्ति से शून्य साम्यवादी समाज की कल्पना की।[3] वे सारी सम्पत्ति पर सामूहिक स्वत्व स्थापित करना चाहते थे। सम्पन्न व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे निर्धनों को इसका दान करें। अपने क्रियात्मक दृष्टिकोण के कारण वे यह समझते थे कि सम्पत्ति की व्यवस्था का उन्मूलन असंभव है। शनैः-शनैः पाँचवीं शताब्दी तक चर्च के पास प्रभूत सम्पत्ति एकत्र होने लगी और इस विषय में उसने साम्यवाद के सिद्धान्त को छोड़ते हुए नये मन्तव्य बनाये। आगे सन्त आगस्टाइन के प्रकरण में इसका उल्लेख होगा।

(५) **चर्च का विचार और द्वैत प्रकृति (Dualistic nature) का सिद्धान्त**—यूनानी और रोमन आध्यात्मिक और सांसारिक शक्तियों में कोई भेद नहीं करते थे।

---

१. फिलिस डायल—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ५६।
२. मैथ्यू की गास्पल १९।२४।
३. एक्टस् २।४४-४५।

उनमें राज्य धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के कार्य करना था। ईसाइयत ने इन दोनों में पार्थक्य स्थापित किया और धार्मिक कार्यों के लिए चर्च को समाज और राज्य से पृथक् माना। डायल के मतानुसार राजनीतिक विचार के क्षेत्र में द्वैत का विचार उनकी सबसे मौलिक और महत्त्वपूर्ण देन थी। सन्त पाल आदि का यह विश्वास था कि मनुष्य में दैवी तथा आसुरी—दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। शरीर आसुरी, हीन एवं पाशविक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि है, आत्मा दैवी, उत्कृष्ट और अमरत्व की प्रवृत्तियों का। आसुरी प्रवृत्तियाँ मनुष्य को पाप की ओर प्रवृत्त करती हैं। इनका मूल स्रोत मनुष्य का स्वर्ग से पतन तथा आदम का शैतान द्वारा बहकाया जाना है। पाप के कारण मनुष्य का पतन हो जाने पर वह ईश्वर की इच्छा के अनुसार जीवन-यापन में असमर्थ हो गया है। उसके उद्धार के लिए भगवान् पैगम्बरों को भेजता रहा है। ईसा मसीह ऐसे ही पैगम्बर हैं, उनकी कृपा से मनुष्यों का उद्धार हो सकता है। उनके बाद उनका यह कार्य उनके द्वारा स्थापित किये चर्च से हो रहा है। अतः चर्च राज्य से पृथक्, स्वतन्त्र और उत्कृष्ट है।

ईसाई आचार्यों (Church Fathers) की विचारधारा—न्यू टैस्टामैण्ट के बाद हमें ईसाइयत के सिद्धान्तों का परिचय ईसाई आचार्यों की रचनाओं से होता है। अंग्रेजी में चर्च फादर शब्द का प्रयोग न्यू टैस्टामैण्ट की समाप्ति के बाद ईसा की पहली सात-आठ शताब्दियों में होने वाले ईसाइयत एवं चर्च के सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाले उन दिग्गज विद्वानों या आचार्यों के लिए होता है, जो इन विशेषताओं के कारण महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे—सिद्धान्तों की कट्टरता, जीवन की पवित्रता, चर्च द्वारा इनकी उच्चता का स्वीकार किया जाना। रोमन कैथोलिक चर्च में पाँच व्यक्ति प्रधान रूप से ऐसे आचार्य माने जाते हैं—[1] सन्त एथनेशियस (लग० २९३–३७३ ई०), सन्त एम्ब्रोज, (लग० ३४०–३९७ ई०), सन्त जेरोम (लग० ३४०–४२०), सन्त आगस्टाइन (३५४–४३० ई०) तथा ग्रेगोरी (लग० ५४०–६०४)। इन आचार्यों ने ईसा की पहली सात शताब्दियों में विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के राजनीतिक विचार प्रकट किये। यहाँ पहले संक्षेप से इनके विचारों का वर्णन होगा तथा बाद में इनमें से महत्त्वपूर्ण आचार्यों-एम्ब्रोज और आगस्टाइन के विचारों का। इन आचार्यों के राज्य, सम्पत्ति और दासता विषयक विचार निम्नलिखित थे—

(१) **राज्य**—ईसाई आचार्य सन्त पाल की भाँति यह मानते थे कि राज्य ईश्वरीय संस्था है, राजा अपनी शक्ति भगवान् से ग्रहण करता है। राजा के दैवी उद्गम (Divine origin) का यह सिद्धान्त रोमन लोगों द्वारा जनता को राजनीतिक सत्ता का मूल स्रोत मानने वाले सिद्धान्त (देखिये पृ० २२९) के सर्वथा प्रतिकूल था। इसे मानने के संभवतः **तीन कारण** थे। ईसाइयत के आरम्भ में रोमन साम्राज्य के अत्याचारों के कारण कुछ ईसाई अराजकवादी (Anarchists) हो गए थे, इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए राजा की दिव्यता का सिद्धान्त रखा गया। **दूसरा** कारण ईसाइयत को राजधर्म बनाने वालों के प्रति कृतज्ञता की भावना से उन्हें ऊंचा उठाना था और **तीसरा** कारण पुराने अहदनामे (Old Testament) के अनुसार यहूदियों की

---

१. इंसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खं० ३, पृ० ५५।

राजा को देवता मानने की धारणा का प्रभाव था।

राज्य को दैवी-संस्था मानते हुए भी ये आचार्य (Fathers) सरकार को आदम (Adam) के उस आदिम पाप (Original sin) का परिणाम मानते थे, जिसके कारण मनुष्य में आसुरी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं और जिनके निरोध के लिए सरकार की स्थापना की गयी। सरकार को पाप का परिणाम समझने से इस धारणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक था कि राज्य चर्च की अपेक्षा हीन स्थिति और कम महत्त्व रखने वाली संस्था है। पोप की प्रभुता बढ़ने के साथ जब उसे सम्राटों जैसे अधिकार मिलने लगे तो उसने यह दावा किया कि कुछ ऐसे भी अधिकार हैं, जिनमें सम्राट् हस्त-क्षेप नहीं कर सकता। शनैः-शनैः चर्च और सम्राट् की दो पृथक् शासन-सत्तायें मानी जाने लगीं और ये आचार्य चर्च की सत्ता को राज्य से उत्कृष्ट सिद्ध करने लगे। मध्य-काल के राजनीतिक चिन्तन का एक प्रधान विषय दोनों सत्ताओं के संघर्ष में इनकी श्रेष्ठता और निकृष्टता का प्रतिपादन है।

(२) **सम्पत्ति**—ईसाई आचार्यों ने आरम्भिक चर्च के साम्यवाद के सिद्धान्त के स्थान पर यह मत रखा कि यदि सम्पत्ति का उपयोग अपने साथियों की भलाई के लिए किया जाता है तो इसका रखना वैध एवं न्यायोचित है। सन्त एम्ब्रोज़ का कहना था कि भगवान् ने संसार की वस्तुयें सब प्राणियों के उपभोग के लिए दी हैं। मनुष्य लोभ के कारण इन पर वैयक्तिक स्वामित्व स्थापित कर लेते हैं। यदि सम्पत्ति का उपयोग मानव-समाज के कल्याण के लिए किया जाय तो इस पर वैयक्तिक अधिकार न्यायोचित है। सन्त आगस्टाइन सम्पत्ति को भगवान् द्वारा दी गयी अमानत या न्यास (Trust) समझता था। आरम्भिक ईसाई आचार्य सामान्यतः सम्पत्ति को प्राकृतिक नियम के अनुसार राज्य द्वारा बनायी एवं नियन्त्रित की जाने वाली संस्था समझते थे।

(३) **दासता**—सब मनुष्यों की समानता और स्वतन्त्रता में विश्वास करने पर भी ईसाई आचार्य दासता को वैध मानते रहे। उनके मतानुसार यह पाप का परिणाम था; किन्तु इसके साथ ही यह भी माना जाता था कि स्वामियों को अपने दासों के साथ दयालुता का व्यवहार करना चाहिए।

सन्त एम्ब्रोज़ (St. Ambrose 354–430 A. D.)—चौथी शताब्दी में, ईसाइयत के रोमन साम्राज्य का राजधर्म बन जाने पर ईसाई चर्च को विशाल सम्पत्ति और शक्ति प्राप्त हुई। इसमें नया आत्म-विश्वास और गौरव उत्पन्न हुआ। चर्च सम्राट् के साथ व्यवहार में अपने विचारों को अधिक स्वतन्त्रता, निर्भीकता और सचाई के साथ प्रकट करने लगा और ईसाई आचार्य चर्च को ऊंचा समझते हुए कुछ विषयों में रोमन सम्राटों के आदेशों को भी चुनौती देने लगे। चर्च का अधिकार और प्रतिष्ठा सम्राट् के अधिकार और सम्मान के तुल्य समझी जाने लगी। सर्वप्रथम इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम परिचय हमें मीलान के बिशप सन्त एम्ब्रोज़ से मिलता है। उन दिनों मीलान पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी थी। यहाँ सम्राट् से उसका कई प्रश्नों पर मतभेद और संघर्ष हुआ और उसने सदैव सम्राटों पर धार्मिक सत्ता की तथा क्षात्र शक्ति पर ब्रह्म शक्ति की प्रभुता का प्रबल समर्थन किया। पहला प्रश्न रोम में विजय की देवी की मूर्त्ति और वेदी का था। ईसाइयत के राजधर्म बन जाने पर भी अभी तक रोम में पुराने

देवी-देवताओं की पूजा चल रही थी। विजय की अधिष्ठात्री देवी की पूजा पहले सीनेट भवन में हुआ करती थी। इसे कांस्टैण्टाइन के बेटे कांस्टैशियस (राज्यकाल ३३७–३६१ ई०) ने यहाँ से हटवा दिया था, किन्तु सम्राट् जूलियन (३६१–३६३ ई०) ने इसे पुनः स्थापित कराया। इसके बाद सम्राट् ग्रेशियन (३७५–३८३ ई०) ने उसे दुबारा हटवा दिया। इस मूर्त्ति की पूजा से सम्बद्ध व्यक्तियों ने तीसरी बार इसे स्थापित करने के लिए ३८४ ई० में सम्राट् वेलेन्शियन द्वितीय (३७५–३९२ ई०) से प्रार्थना की। एम्ब्रोज़ ने इसका कड़ा विरोध करते हुए लिखा—"जैसे सब रोमन लोगों का कर्त्तव्य है कि वे सम्राट् के लिये सैनिक सेवा करें, उसी प्रकार सम्राट् का भी सर्वशक्तिमान् भगवान् के प्रति कुछ कर्त्तव्य है। यदि सम्राट् ने इस विषय में कोई भी प्रतिकूल निर्णय किया तो बिशप इसे सहन नहीं करेंगे।" सम्राट् ने एम्ब्रोज़ की बात स्वीकार करते हुए विजय की देवी की मूर्त्ति की पुनः प्रतिष्ठा कराये जाने की प्रार्थना स्वीकार नहीं की।[1]

क्षात्र बल पर ब्राह्म शक्ति और नैतिक बल की प्रभुता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का दूसरा अवसर तब आया, जब सम्राट् वेलेन्शियन (३७५–३९२ ई०) ने एक एरियन[2] व्यक्ति पर मामले का विचार एम्ब्रोज़ के न्यायालय से हटाकर सम्राट् के न्यायालय में भेजने का आदेश दिया। एम्ब्रोज़ ने इसका तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा, 'धर्म के विषय में बिशपों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे सम्राटों (के मामलों) का निर्णय किया करें, न कि सम्राट् बिशपों का।" (In a matter of faith bishops are wont to judge emperors, not emperors bishops)। तीसरे अवसर पर उसने इस सिद्धान्त का अधिक प्रबल शब्दों में प्रतिपादन किया। सम्राट् की पत्नी जस्टिना एरियन थी। उसकी प्रेरणा से सम्राट् ने उसके अधिकारक्षेत्र में विद्यमान कुछ गिरजे धार्मिक मामलों में उसके प्रतिद्वन्द्वी एरियस के मतानुयायी एक व्यक्ति को देने का आदेश किया। एम्ब्रोज़ ने इस विषय में अपने पत्र Oratio de Basilicis Tradendis में इस आज्ञा का प्रबल विरोध करते हुए लिखा था कि "कुछ मामलों में सम्राट् को हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है। सम्राट् कर ले सकता है, चर्च की भूमि ले सकता है किन्तु

---

१. इसके बाद सम्राट् यूजेनियस (३९२–९४) ने रोम के पुराने मूर्त्तिपूजक धर्म के प्रति सहानुभूति होने से इस मूर्त्ति को पुनः प्रतिष्ठित कराया। किन्तु ३९४ ई० में सम्राट् थियोडोसियस ने इसे हटाने के बाद अन्तिम रूप में यह निर्णय किया कि इस मूर्त्ति की कभी पुनः प्रतिष्ठा न हो। (रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ३७५)।

२. सिकन्दरियावासी एरियस (मृ० ३३६ ई०) के अनुयायी एरियन कहलाते थे। उसका यह सिद्धान्त Arianism था कि ईश्वर अकेला, अज्ञेय तथा अन्य सब उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से पृथक् है। ईसा मसीह उत्पन्न हुए थे, अतः वे पूर्ण रूप से भगवान् नहीं हो सकते, उनकी पूजा गौण देवता के रूप में होनी चाहिए। किन्तु अन्य ईसाई ईसा के पिता भगवान् (God the father), उसके पुत्र ईसा (God the son) तथा दोनों में संबंध जोड़ने वाले देवदूत (God the Holy Ghost) के पवित्र त्रित्व (Holy trinity) में विश्वास रखते थे, तीनों को समान रूप से भगवान्, पूजनीय और सनातन सत्ता मानते थे। ३२५ ई० में नाइसिया (Nicaea) की तथा ३८१ ई० में कुस्तुनतुनिया की ईसाई परिषदों ने एरियस के मत को कुफ्र और नास्तिकता (Heresy) घोषित किया था।

वह भगवान् का मन्दिर या गिरजा नहीं ले सकता। **महलों पर सम्राट् का स्वामित्व है, चर्चों पर पुरोहितों का। "जो वस्तु भगवान् की है, वह सम्राट् की शक्ति के आधीन नहीं हो सकती।"** किन्तु वह सम्राट् की आज्ञा का प्रतिरोध शस्त्रों द्वारा हिंसा से नहीं करेगा। उसके पास रक्षा का एकमात्र अस्त्र ईसाइयत में विश्वास रखने वालों की प्रार्थनायें हैं। एम्ब्रोज़ इस प्रश्न पर अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार था। मीलान की जनता एरियस की विरोधी और उसकी समर्थक थी। जब सम्राट् ने गाथ सैनिक भेज कर एक गिरजे पर अधिकार करना चाहा तो जनता विद्रोह पर उतारू हो गयी। अतः, सम्राट् को इस मामले में झुकना पड़ा। इस प्रकार "चर्च की स्वाधीनता के संघर्ष में एक बड़ी लड़ाई जीती गई। एम्ब्रोज़ ने यह प्रदर्शित किया कि कुछ विषयों में राज्य को चर्च के सम्मुख नतमस्तक होना चाहिए।"[1]

इसका सर्वोत्तम क्रियात्मक प्रदर्शन उसने ३९० ई० में किया। इस समय जब सम्राट् थियोडोसियस (राज्यकाल ३७९–३९५) मीलान में था तो उसे यह सूचना मिली कि थेसालोनिका (वर्तमान सालोनिका) में एक भीड़ ने वहाँ की रोमन सेना के कप्तान की हत्या कर डाली है। सम्राट् ने क्रोध में आकर इसके प्रबल प्रतिशोध की आज्ञा दी। जब वहाँ सरकस देखने के लिए कई सहस्र व्यक्ति एकत्र थे, तो सम्राट् की सेना ने इन पर सहसा आक्रमण कर सात हजार निर्दोष व्यक्तियों की अविवेक पूर्ण रीति से निर्मम हत्या की। एम्ब्रोज़ ने सम्राट् को एक पत्र लिख कर इस अमानुषिक कार्य के लिए कड़ी भर्त्सना करते हुए उसे प्रायश्चित करने की प्रेरणा की। सम्राट् ने इसे स्वीकार करते हुए अपना राजकीय परिधान उतारा, मीलान के गिरजे में सार्वजनिक रूप से प्रायश्चित किया।[3] यह क्षात्र शक्ति पर ब्राह्म शक्ति की पूर्ण विजय थी। इसके बाद उसका सम्राट् से कोई संघर्ष नहीं हुआ। रसेल ने उसका मूल्यांकन करते हुए यह लिखा है, "वह सन्त जेरोम की अपेक्षा घटिया दर्जे का विद्वान् और सन्त आगस्टाइन की अपेक्षा घटिया दर्जे का दार्शनिक था। किन्तु चर्च की शक्ति को चतुराई और साहस के साथ सुदृढ़ करनेवाले राजनीतिज्ञ के रूप में वह प्रथम कोटि का व्यक्ति है।"[2] एम्ब्रोज़ ने क्रियात्मक उदाहरणों द्वारा धर्मसत्ता की राजसत्ता से श्रेष्ठता प्रतिपादित की, सन्त आगस्टाइन ने अपनी अमर कृतियों द्वारा दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में इसका ऐसा प्रबल समर्थन किया कि समूचे मध्ययुग में इसका अनुसरण किया जाता रहा। डनिंग के मतानुसार एम्ब्रोज़ ने धार्मिक विषयों में चर्च की प्रभुसत्ता का प्रबल समर्थन किया, किन्तु अभी तक उसका क्षेत्र बहुत सीमित था और राज्य को महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। आगस्टाइन ने अपने ग्रन्थों में राजसत्ता के महत्त्व को कम करते हुए चर्च के गौरव और प्रभाव में बड़ी वृद्धि की।[4]

सन्त आगस्टाइन (३५४–४३० ई०) --सन्त पाल के बाद ईसाइयत में सबसे

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, एंशेण्ट एण्ड मिडीवल, खं० १, पृ० १५५-५६।

२. रसेल, बर्ट्रेंड—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३५९।

३. रसेल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६०।

४. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० १५६।

महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले[१] आगस्टाइन का जन्म उत्तरी अफ्रीका के रोमन प्रान्त न्यूमिडिया (अल्जीरिया) के थगस्ते नामक स्थान पर एक मूर्त्तिपूजक (Pagan) जमींदार के घर में हुआ। उसकी माता मोनिका ईसाई थी। पिता ने उसे होनहार समझते

सन्त आगस्टाइन

१. फोक्स जैक्सन—दी हिस्टरी ऑफ क्रिश्चियन चर्च टू ४६१ ए० डी०, पृ० ४६०।

हुए उत्तम शिक्षा देने का प्रबन्ध किया और शीघ्र ही वह प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के विचारों से परिचित हो गया। ३७० ई० में उसने कार्थेज के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। यहाँ उसका सम्पर्क मानीमत (Manichaeism) के अनुयायियों से हुआ।[1] कुछ समय तक वह यौवन के विषयोपभोग की रंगरलियों में मस्त रहा। यहाँ उसकी एक प्रेमिका और अवैध सन्तान भी थी। शिक्षा समाप्त करने के बाद पहले वह अपनी जन्मभूमि में तथा बाद में कार्थेज में अलंकारशास्त्र का अध्यापक बना। विषयोपभोग में लीन होने पर भी स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्ति के कारण उसे मानसिक शान्ति नहीं मिली। वह इसके लिए ३८३ ई० में रोम आया और ३८४ ई० में मीलान में अलंकारशास्त्र का अध्यापक बना। इस समय तक वह मानीमत से असन्तुष्ट होकर संदेहवादी और नवप्लेटोवादी (Neoplatonist) बन गया था। मीलान में उसका सम्पर्क रोमन सम्राटों को चुनौती देने वाले सन्त एम्ब्रोज से हुआ, इससे उसका हृदय परिवर्त्तन हुआ, उसने अपनी प्रेयसी, अवैध सन्तान और पापमय जीवन का परित्याग करते हुए आध्यात्मिक शान्ति के लिए तेंतीस वर्ष की अवस्था में ईसाइयत को स्वीकार किया (३८७ ई०)। इसके बाद वह अत्यधिक कट्टर, क्रियाशील और परम उत्साही ईसाई बना और उसने शेष जीवन इस धर्म की सेवा में लगाया, अपनी प्रबल लेखनी द्वारा इसके सिद्धान्तों का समर्थन और प्रचार किया। ३८८ ई० में वह अफ्रीका लौट गया, सात वर्ष बाद वह हिप्पो (अल्जीरिया में आधुनिक बन्दरगाह बोन्ना) का बिशप बना। ४०० ई० में उसने अपनी सुप्रसिद्ध आत्मकथा (Confessions) का प्रणयन किया, ४१२–४२७ तक देवनगरी या 'ईश्वर का नगर' (De Civitate Dei or City of God) नामक अमर ग्रन्थ लिखा। ४३० ई० में जब वण्डाल नामक बर्बर जाति की सेनाएँ उसके हिप्पो नगर पर आक्रमण कर रही थीं तो उसकी मृत्यु हो गयी। यहाँ उसके सब से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भगवान् का नगर' के आधार पर उसके महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय दिया जायगा।

'ईश्वर का नगर' लिखने का प्रयोजन—४१० ई० में गाथ नामक बर्बर जाति ने एलारिक (Alaric) के नेतृत्व में रोम पर आक्रमण किया और इसे लूट लिया। इस पर रोम के पुराने मूर्त्तिपूजक धर्म (Paganism) के उपासकों ने यह कहा कि रोम की हार का प्रधान कारण अपने प्राचीन धर्म को छोड़ कर ईसाइयत को स्वीकार करना है। जब तक वहाँ बृहस्पति (Jupiter) देवता की पूजा होती रही, रोमन सम्राट्

---

१. ईरान के महात्मा मानी (२१५–२७६ ई०) ने पारसी, ईसाई, बौद्ध, यहूदी धर्मों के मन्तव्यों का सम्मिश्रण करते हुए मानीवाद का धर्म चलाया। इसकी मुख्य शिक्षा प्रकाश और अन्धकार, आत्मा और प्रकृति तथा पाप-पुण्य के द्वित्व और द्वन्द्व पर बल देना था। इसके मतानुसार आत्मा पहले प्रकृति की दास होती है, किन्तु तपस्या द्वारा शारीरिक विषय-वासनाओं पर विजय पाकर उसके बन्धन से मुक्त होती है। आगस्टाइन के समय तक इसका बहुत प्रचार था और यह ईसाइयत का प्रतिद्वन्द्वी धर्म था। आगस्टाइन में बचपन से अपने को पापी समझने की प्रबल भावना थी। उसने अपनी आत्मकथा में बचपन में शरारत में अपने पड़ोसी के बगीचे से नाशपाती चुराने के पाप का विस्तार से वर्णन किया है। उसके परवर्त्ती सिद्धान्तों में मानीमत का स्पष्ट प्रभाव है।

विजय प्राप्त करते रहे। अब रोमन सम्राट् प्राचीन देवताओं से पराङ्मुख हो गये हैं, अतः, वे उनकी रक्षा नहीं करते। आगस्टाइन ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए, विधर्मियों और विरोधियों से ईसाई धर्म की रक्षा के लिए तथा ईसा के अनुयायियों की निष्ठा सुदृढ़ करने के लिए अपनी लेखनी उठाई और 'भगवान् की नगरी' नामक पुस्तक लिखी। उसके शब्दों में "गाथ नामक बर्बर जाति के लोगों ने रोम पर आक्रमण करके उसका विध्वंस कर डाला। कुछ नास्तिकों (Pagans) ने उसका उत्तरदायित्व ईसाई
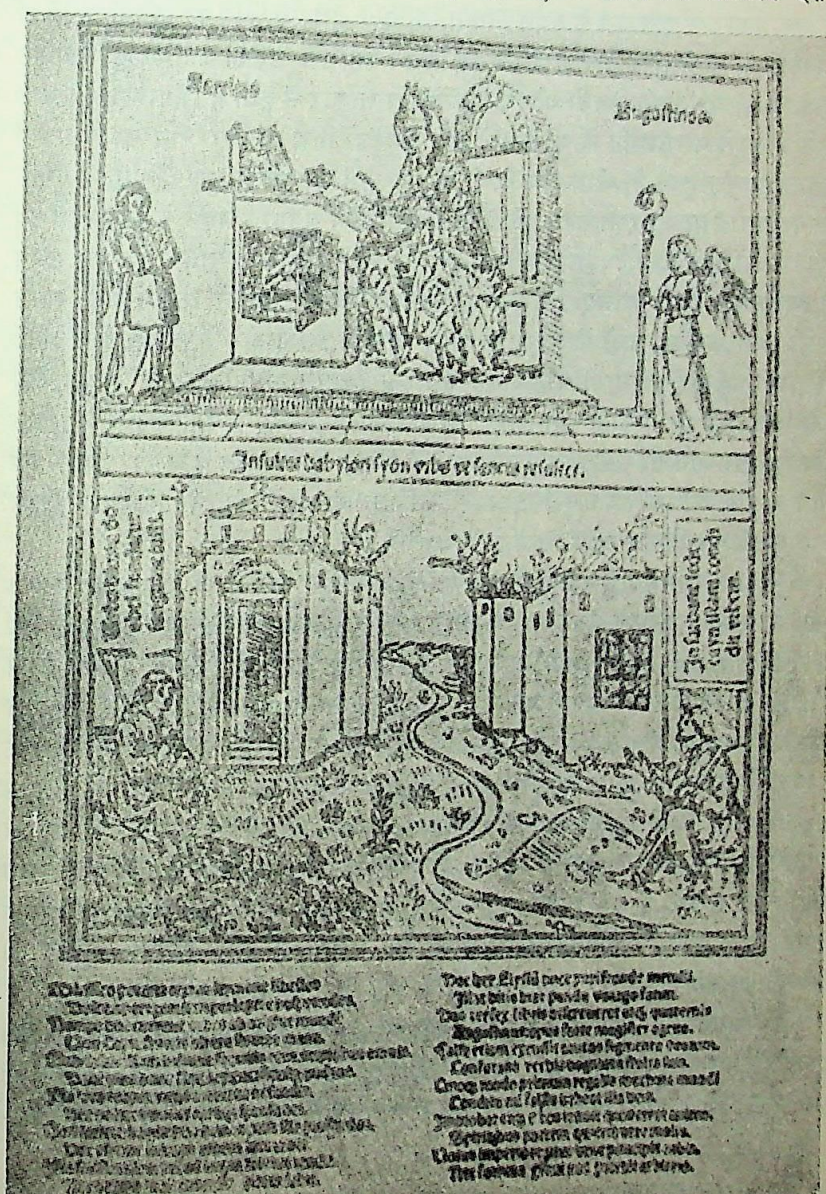
सन्त आगस्टाइन के 'ईश्वर के नगर' (City of God) का मुख पृष्ठ

धर्म पर मढ़ा।...इस कारण मेरे हृदय में ईश्वर के नाम पर उत्साह का उदय हुआ और मुझे आक्रमणकारियों से 'ईश्वर के नगर' की रक्षा की अन्तःप्रेरणा मिली।" पन्द्रह वर्ष के सुदीर्घ काल में लिखी गयी २२ खंडों वाली इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में विरोधियों के आरोपों का उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया गया है कि ईसाइयत रोम के पतन के लिए उत्तरदायी नहीं है।

अपने कथन की पुष्टि के लिए आगस्टाइन ने प्राचीन इतिहास के प्रमाण देते हुए एक प्रकार के इतिहास के दर्शन (Philosophy of History) का प्रतिपादन किया है। रोम के अतीत का उल्लेख करते हुए उसने कहा कि उसका आरम्भ ही सेबाइन (Sabine) जाति की स्त्रियों और कन्याओं के बलात्कार से हुआ है। ईसाइयत स्वीकार करने से पहले गाल जाति के आक्रमणों और गृहयुद्धों से अनेक बार रोम का वैसा ही भीषण विध्वंस हुआ है, जैसा अब गाथों से हुआ है। उस समय बृहस्पति आदि पुराने रोमन देवता रोम की रक्षा करनेवाले थे तो उन्होंने रोम को गाल जाति के आक्रमणों का शिकार क्यों होने दिया? इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इस समय जो व्यक्ति इस हमले के लिए ईसाइयत को दोष दे रहे हैं, उन्होंने आक्रमण के समय अपनी रक्षा के लिए चर्चों में शरण ली थी। गाथों ने ईसाई होने के कारण इन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचाई। यूनानी और रोमन लोगों के देवता अपने मन्दिरों में शरण लेने वाले भक्तों की इस प्रकार रक्षा नहीं करते थे, उन्हें विध्वंस से नहीं बचाते थे। इस दृष्टि से देखा जाय तो ईसाइयत पुराने धर्मों से अच्छी है, उसे इस बात का श्रेय है कि उसने रोम के आक्रमण की नृशंसता और कठोरता को कम किया, चर्च में शरण ग्रहण करने वालों की विनाश और विध्वंस से रक्षा की।

रोम का पतन ईसाइयत के कारण नहीं, किन्तु भगवान् की इच्छा से हुआ। जगत् की सभी घटनाओं का संचालन ईश्वर की इच्छा और पूर्व निश्चित दैवीय विधान (Predetermination) के अनुसार होता है। प्रत्येक बुराई में भलाई छिपी रहती है। रोम के विध्वंस में भगवान् की यह इच्छा है कि इससे 'भगवान् का नगर' स्थापित होने के लिए मार्ग प्रशस्त हो सके। हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं, जिसमें दो प्रकार के राज्य हैं – सांसारिक राज्य (Civitas terrana) तथा स्वर्गीय राज्य (Civitas superna)। इनमें पहले प्रकार के राज्य नश्वर, अस्थायी और भंगुर हैं और दूसरा सनातन, स्थायी और शाश्वत है। दूसरे राज्य की कल्पना में आगस्टाइन ने अनेक तत्त्व प्लेटो तथा सिसरो से ग्रहण किये और ईसाइयत के विचारों के साथ उनका सम्मिश्रण किया। इस प्रकार उसके ईश्वरीय राज्य की कल्पना में तीन विचारधाराओं की त्रिवेणी का संगम हुआ।

'भगवान् के नगर' का स्वरूप – आगस्टाइन इसे स्वर्ग में नहीं, किन्तु भूतल पर अवस्थित राज्य मानता है। इसका सदस्य वही हो सकता है, जिस पर ईश्वर की कृपा (Grace) हो।[1] इसे पाने के लिए ईसाई होना आवश्यक है, अतः इसमें व्यक्ति

---

१. आगस्टाइन भगवत्कृपा (Grace) या प्रसाद को इसलिए असाधारण महत्त्व देता है कि मनुष्य अपने जीवन में चल रहे दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष में तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक उसे भगवत्कृपा न मिले। इसके उपलब्ध न होने तक आसुरी प्रवृत्तियाँ दैवी प्रवृत्तियों

का प्रवेश चर्च के माध्यम से हो सकता है। इसके सदस्य ईश्वर की कृपा पाने वाले फरिश्ते और मृत व्यक्ति भी होते हैं। यह सिसरो के विश्वव्यापी राज्य से भिन्न है क्योंकि उसके सदस्य मनुष्य जाति के सभी व्यक्ति थे। किन्तु इसमें ऐसा नहीं है। भगवान् की इच्छा थी कि सब मनुष्य इसके सदस्य होते, किन्तु आदम के आदिम पाप (Original-sin) के कारण सभी मनुष्य पापी हो गये, उनमें आसुरी प्रवृत्तियों का प्राधान्य हो गया। इनसे व्यक्ति की मुक्ति भगवत्कृपा से ही संभव है। ईश्वरीय नगर का सदस्य होने के लिए किसी विशेष देश, जाति या वर्ग का बन्धन आवश्यक नहीं है। इसकी एक ही शर्त्त भगवत्कृपा है। ऐसी कृपा पाने वाले सभी देशों के व्यक्ति ईश्वरीय नगर के नागरिक होते हैं। आगस्टाइन का ईश्वरीय नगर रोमन कैथोलिक चर्च से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होने पर भी इससे भिन्न है। दोनों के सदस्य एक जैसे नहीं हैं। ईसाई चर्च में ईसा में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्ति होते हैं, किन्तु ईश्वरीय नगर के सदस्य केवल भगवत्कृपा पाने वाले होते हैं। इस नगर के वासी ईश्वर के प्रति प्रेम के कारण एकता के दृढ़ सूत्र में आबद्ध होते हैं, ऐसी एकता सांसारिक राज्यों के नागरिकों में नहीं होती।

इस नगर की दो प्रमुख विशेषतायें न्याय (Justice) और शांति हैं। आगस्टाइन का न्याय का विचार प्लेटो के विचार से सादृश्य रखता है। उसके मतानुसार व्यवस्था (Order) के प्रति अनुकूलता और इससे उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों का पालन न्याय है। यदि मनुष्य इन कर्त्तव्यों का पालन करता है तो वह न्यायी है। प्रत्येक समाज में तथा समाज की विभिन्न इकाइयों—परिवार, राज्य आदि में एक विशेष प्रकार की व्यवस्था होती है। इनसे ऊपर सार्वभौम समाज में सार्वभौम व्यवस्था और न्याय होता है। यदि परिवार और राज्य की व्यवस्था में संघर्ष हो तो मनुष्य को राज्य की व्यवस्था का पालन करना चाहिए, राज्य और सार्वभौम समाज की व्यवस्था के विरोध में पिछली व्यवस्था को श्रेष्ठ मानना चाहिए। अतः, राज्य की व्यवस्था और न्याय सार्वभौम समाज की व्यवस्था और न्याय की तुलना में घटियादर्जे का तथा सापेक्ष है। निरपेक्ष एवं पूर्ण न्याय (Absolute Justice) सार्वभौम समाज में ही मिलता है। प्लेटो का न्याय व्यक्ति में और राज्य के विभिन्न वर्गों में पाया जाता है, किन्तु आगस्टाइन के मतानुसार न्याय की धारणा देश और काल से अपरिच्छिन्न अमूर्त्त विचार में है। ईश्वरीय नगर की दूसरी विशेषता शान्ति है। यह अभावात्मक अर्थात् युद्धों का न होना नहीं, किन्तु भावात्मक विचार है, भगवान् के प्रति प्रेम के कारण इस नगर में शाश्वत शान्ति का साम्राज्य बना रहता है।

राज्य विषयक विचार—राज्य का प्रादुर्भाव मनुष्य की समूह में रहने की भावना (Gregarious Instinct) से तथा आदम के आदिम पाप के कारण हुआ है। मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों के निरोध के लिए इसका निर्माण भगवान् की ओर से हुआ है। किन्तु दैवीय उद्गम होने पर भी यह शैतान का राज्य है, जबकि ईश्वरीय नगर में ईसा मसीह का राज्य है। पहले का संबंध मनुष्य के शरीर से है, उसमें वासनाओं की प्रधानता

को दबाये रहती हैं। भारतीय वाङ्मय में भगवान् की कृपा, प्रसाद या अनुकम्पा को मनुष्य की मुक्ति के लिए आवश्यक माना गया है। गीता (१८।६२) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।

होती है, दूसरे का संबंध मनुष्य की आत्मा से है। आगस्टाइन राज्य को डोनेटिस्ट (Donatists) आदि[1] कुछ पूर्ववर्त्ती ईसाई विचारकों की भाँति अनिवार्य बुराई न मानते हुए चर्च की, उसकी सम्पत्ति की, अधिकारों की और मन्तव्यों की रक्षा के लिए आवश्यक मानता था। दैवीय उत्पत्ति के कारण राज्य की आज्ञाओं को शिरोधार्य करना चाहिए, किन्तु यदि वे धर्म-विरुद्ध हों तो उनका पालन नहीं होना चाहिए।

सांसारिक राज्य पर शैतान का स्वामित्व होने से उसमें न्याय नहीं रह सकता। उसके मतानुसार राज्य अन्याय पर प्रतिष्ठित है। वह अन्य राज्यों के अधिकारों का अपहरण करता है और ईश्वरीय अधिकारों का उल्लंघन करता है। जब राज्य अपने नागरिकों से यह माँग करता है कि वे भगवान् के प्रति की जाने वाली उपासना की भावना के साथ सम्राट् की पूजा करें तो राज्य मनुष्य को ईश्वरीय कर्त्तव्यों से विमुख करता है। रोमन साम्राज्य में ईसाइयों पर अत्याचारों के समय ऐसा हुआ। "सच्चे भगवान् से विरत कराने वाले तथा उसे शैतान को समर्पित करने वाले राज्य में न्याय कैसे रह सकता है।" फोस्टर के मतानुसार आगस्टाइन इन शब्दों में प्राचीन यूनानी और रोमन जगत् में अज्ञात, किन्तु मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन जगत् के एक मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है। यह सिद्धान्त जीवन को धर्मनिरपेक्ष (Secular) और धार्मिक क्षेत्रों में बाँटना तथा धार्मिक क्षेत्र पर राज्य का प्रभुत्व न स्वीकार करना है।[2]

सांसारिक राज्यों में इसलिए भी न्याय नहीं हो सकता क्योंकि वे बड़ी चोरियों या डकैतियों के समान हैं। यदि चोरों का संगठन इतना विकसित हो जाय कि वह किलों को नियन्त्रण में रख सके, बस्तियों को बसाये, नगरों पर अधिकार करे, पड़ोसी राष्ट्रों को जीत ले तो उनके संगठन को चोरों का संगठन नहीं कहा जायगा, "किन्तु उसे राज्य का सम्मानित नाम दिया जायगा"। इस विषय में उसने सिकन्दर का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जब उसने एक समुद्री डाकू को पकड़ा तो डाकू ने इस संबंध में उसे बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। सिकन्दर ने डाकू से पूछा कि तुम समुद्र में दूसरे व्यक्तियों का उत्पीड़न क्यों करते हो ? डाकू का उत्तर था, "तुम सारे संसार का उत्पीड़न क्यों करते हो ? मैं यह कार्य एक जहाज़ से करता हूँ, अतः डाकू कहलाता हूँ। तुम इसे विशाल बेड़े के

---

१. २५० ई० में रोमन साम्राज्य में यह नियम बना दिया गया था कि साम्राज्य के प्रत्येक नागरिक को सरकारी अधिकारी से यह प्रमाण-पत्र लेना पड़ेगा कि उसने सम्राट् की मूर्त्ति की पूजा की है, यदि किसी के पास ऐसा प्रमाण-पत्र नहीं होगा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जा सकता है। इस नियम के अनुसार ईसाइयों पर भीषण अत्याचार किये गये। इनसे बचने के लिए अनेक ईसाई सरकारी दबाव में आकर पहले अधिकारियों की बात मान लेते थे, इन्हें कट्टर ईसाई पथभ्रष्ट (Lapsed) कहते थे। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति सरकारी अधिकारियों को घूँस देकर उनसे झूठा प्रमाण-पत्र पा लेते थे। ये भी कट्टर ईसाइयों की दृष्टि में Apostate थे। इन्हें वे ईसाई चर्च में लेने को तैयार नहीं थे क्योंकि इनसे उनकी पवित्रता खण्डित होती थी। इस प्रश्न पर ईसाइयों में प्रबल मतभेद के कारण अनेक सम्प्रदाय स्थापित हुए। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय ३१५ ई० में कार्थेज के बिशप डोनेटस (Donatus) द्वारा स्थापित होने के कारण Donatist कहलाता है। ये राज्य-विरोधी थे।

२. सिटी ऑफ गाड ४.६, फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० २०८।

साथ करते हो, इसलिए सम्राट् कहलाते हो।"[1]

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का डाकुओं का अन्यायपूर्ण लौकिक राज्य 'ईश्वरीय नगर' से सब दृष्टियों से हीन और निकृष्ट है। इसकी आज्ञाओं का पालन केवल इस लिए करना चाहिए कि राजकीय सत्ता द्वारा स्थापित शान्ति व्यवस्था में धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन निर्विघ्न रीति से होता रहे। जब तक राजसत्ता धार्मिक नियमों का पालन कराने के लिए प्रयत्नशील हो, तब तक उसके आदेशों को शिरोधार्य करना चाहिए। किन्तु यदि ये आदेश धर्म-विरुद्ध हों तो आत्मा के सर्वोत्कृष्ट कल्याण के लिए इनकी अवज्ञा की जानी चाहिए। यद्यपि आगस्टाइन ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं लिखा कि राजसत्ता धर्मसत्ता के आधीन होनी चाहिए, किन्तु उसने राजसत्ता को इतना अन्यायपूर्ण एवं आसुरिक वृत्तियों वाला बताया है कि धर्मसत्ता के पथ-प्रदर्शन के बिना उसका कल्याण संभव नहीं है।[2] ईसाई शासन को आत्मिक कल्याण के लिए चर्च का तथा चर्च को सांसारिक विषयों के लिए राज्य का सहयोग आवश्यक है। किन्तु सहयोग न होने पर धार्मिक सत्ता अधिक उत्कृष्ट होने के कारण वन्दनीय है। मध्ययुग में पोप की प्रभुता के समर्थन में एक बड़ी युक्ति यह थी कि जिस प्रकार आत्मा शरीर से उत्कृष्ट है और उस पर शासन करती है, वैसे ही पोप की धार्मिक सत्ता राजनीतिक शक्ति से श्रेष्ठ होने के कारण उसे अनुशासित करती है।

आगस्टाइन के सम्पत्ति और दासता संबंधी विचारों में कोई नवीनता नहीं है। सम्पत्ति राज्य द्वारा बनाई गयी संस्था है, इसका उपयोग न्यास (Trust) के रूप में होना चाहिए। दासता पाप का परिणाम है। हज़रत नूह (Noah) ने अपने पुत्र को पापमय जीवन के कारण दासता का दण्ड दिया था, उस समय से मानव समाज में दासता की प्रथा प्रचलित हुई।[3] यह युद्ध में पराजय पाने के कारण होती है, अतः पराजित व्यक्ति पापी होते हैं, उन्हें दास बनाना उचित है। दास-प्रथा का उद्देश्य पापियों को दण्डित करना तथा उनके पापमय जीवन को सुधारना है।

आगस्टाइन का प्रभाव—आगस्टाइन की पुस्तक 'ईश्वर का नगर' (City of God) तथा उसकी विचारधारा अनेक शताब्दियों तक योरोप के विचारकों को प्रभावित करती रही। उसके समय में रोमन साम्राज्य की सत्ता क्षीण हो रही थी, इसके स्थान पर उसने एक स्वर्गीय राज्य के आदर्श को तथा भूतल पर इसके प्रतिनिधि, चर्च को गौरवपूर्ण स्थान दिया, इस विषय के सिद्धान्तों को बड़ी स्पष्टता के साथ रखते हुए चर्च की सर्वोच्च सत्ता के विचार का बीजारोपण तथा पुष्टि की, उसकी भावी प्रभुसत्ता का मार्ग प्रशस्त किया। उसकी विशेषता यह है कि उसने प्राचीन यूनानी और रोमन विचारधारा के उत्कृष्ट अंशों को ग्रहण करके तथा उनका ईसाइयत के साथ समन्वय कर उसे योरोप को प्रदान किया। वह विचार के क्षेत्र में नवयुग का श्रीगणेश करने वाला था। मध्ययुग की अनेक परिभाषायें की गयी हैं, किन्तु उसकी सर्वोत्तम परिभाषा यह है कि "यह आगस्टाइन के विचारों के साथ प्रारम्भ होता है और इनकी समाप्ति के साथ इस

---

१. फोस्टर—वही, पृ० २०८।
२. बौले, जॉन—वैस्टर्न पोलिटिकल थाट, पृ० १३८।
३. फोस्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२०।

का अन्त हो जाता है।"[१] आगस्टाइन के बाद एक सहस्राब्दी तक योरोप पर उसके धार्मिक मन्तव्यों, बाइबल के प्रमाणवाद, चर्च की प्रभुता, आदिम पाप, विधर्मियों के दमन आदि के विचारों का प्राधान्य बना रहा। उसकी रचनायें विद्वानों के लिए चिन्तन और प्रेरणा का मूल स्रोत बनी रहीं। सुप्रसिद्ध पोप ग्रेगोरी सप्तम (१०७३–१०८५ ई०), इन्नोसैण्ट तृतीय (११६१–१२१६ ई०) और बोनीफेस अष्टम (१२६४–१३०३) ने उसके विचारों का अनुसरण किया। थामस एक्विनास (१२२५–१२७४), दान्ते (१२६५–१३२१), विक्लिफ (१३२७–१३८४) ग्रोशियस आदि सभी विचारक आगस्टाइन के ऋणी हैं। सैबाइन के शब्दों में उसकी रचनायें विचारों की खान हैं,[२] परवर्त्ती रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट इसे खोद कर नये विचार निकालते रहे। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ उसके ग्रन्थ 'ईश्वर का नगर' को बड़े चाव से पढ़ते थे। पवित्र रोमन सम्राट् शार्लमेगन (८००–८१४ ई०) तथा ओटो महान् (९३२–९७३) पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था। मर्रे के अनुसार संभवतः वे यह समझते थे कि पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना द्वारा वे इस भूतल पर स्वर्गीय राज्य (Civitas Dei) को स्थापित कर रहे हैं।[3] अतः लार्ड ब्राइस ने यह सत्य ही लिखा है कि इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण दिव्य नगर (De civtate Die) की नींव पर हुआ था।[४] मैक्सी के मत में मध्ययुगीन योरोप की राजनीतिक विचारधारा पर किसी अन्य व्यक्ति ने इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला, जितना चौथी शताब्दी के अफ्रीका के इस विद्वान् ने डाला है।[५] धर्म और राज्य की दो सत्ताओं का विचार यद्यपि आगस्टाइन के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी रखा था, किन्तु उसने इसे देव नगरी (City of God) में इतनी प्रबलता के साथ रखा कि यह सर्वमान्य हो गया और मध्ययुग का एक प्रधान विचार बन गया। फिग्गिस के शब्दों में "इसे समझे बिना कोई व्यक्ति मध्ययुग को नहीं समझ सकता।"[६]

दो तलवारों का सिद्धान्त—पाँचवीं शताब्दी के अन्त में सन्त आगस्टाइन के दो पृथक्, स्वतंत्र राजनीतिक और धार्मिक सत्ताओं के सिद्धान्त को पोप जिलेसियस प्रथम (Gelasius I 492–496) ने अधिक प्रभावशाली और काव्यमयी भाषा में प्रतिपादित किया। बाइबल (मैथ्यू २६।३६–४७, मिलाइये ल्यूक २२।३८) में यह वर्णन आता है कि ईसा मसीह ने पीटर को जेरूसलम के बाहर गैस्थेमाने (Gesthemane) के उद्यान में दो तलवारें दिखाई थीं। पाँचवीं सदी में इस घटना के आधार पर यह कल्पना की गयी कि ये तलवारें सत्ता और शक्ति का प्रतीक थीं। इससे ईसा मसीह ने यह प्रदर्शित किया था कि संसार में दो प्रकार की सत्तायें या शक्तियाँ हैं। पहले (पृ०

---

१. मर्रे—दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टू दी प्रेजेण्ट, पृ० ४३।
२. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० १६९।
३. मर्रे—दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइंस फ्राम प्लेटो टू दि प्रेजेण्ट, पृ० ४३।
४. ब्राइस—होली रोमन एम्पायर, पृ० ९४ की पादटिप्पणी।
५. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० १०३।
६. फिग्गिस—दी पोलिटिकल एस्पैक्टस् ऑफ सेण्ट आगस्टाइन्स सिटी ऑफ गॉड (१९२०), पृ० १।

२४२–३) यह बताया जा चुका है कि ईसाई सत्-असत् प्रवृत्तियों और देवासुर संग्राम के कारण द्वैतवादी (Dualistic) थे, वे मनुष्य का दो प्रकार का-आध्यात्मिक (Spiritual) और सांसारिक (Temporal) जीवन मानते थे। अब उन्होंने यह माना कि भगवान् ने इन का नियन्त्रण करने के लिए चर्च और सम्राट् की दो पृथक् शक्तियाँ बनायी हैं। मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा उसे मुक्ति दिलाना चर्च का कार्य है। यह बिशपों और पादरियों की शिक्षा से सम्पन्न होता है। मानव समाज में शान्ति, सुशासन तथा न्याय स्थापित करना राज्य का और शासकों का कार्य है। मानव समाज में पादरी और राजकर्मचारी दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं और दोनों को पारस्परिक सहयोग से कार्य करना चाहिए। मध्यकाल में इन दोनों के अधिकार-क्षेत्र और प्रभुता के प्रश्न पर अनेक तीव्र विवाद हुए, किन्तु दो स्वतन्त्र सत्ताओं के आदर्श में तथा इन दोनों की आधीनता में मनुष्यों के रहने के सिद्धान्त में कभी संदेह नहीं प्रकट किया गया।

पोप जिलेसियस ने कुस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट् को एक पत्र में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए सन्त एम्ब्रोज़ के मत का समर्थन किया और यह कहा कि धर्म-संबंधी विषयों में सम्राट् को सदैव चर्च की इच्छा के आधीन होना चाहिए, उसे चर्च से धार्मिक सिद्धान्त सीखने चाहियें, न कि उसे सिखाने चाहिएँ। ४९४ ई० में रोमन सम्राट् एनेस्टेसियस (Anastesius) के नाम लिखे उसके सुप्रसिद्ध पत्र के शब्दों में "हे महा-प्रतापी सम्राट्, यह विश्व दो प्रधान शक्तियों द्वारा शासित हो रहा है—पादरियों (Pre-lates) की पवित्र शक्ति तथा राजा की शक्ति। पुरोहितों पर इसके उत्तरदायित्व का बोझ अधिक है क्योंकि उन्हें भगवान् के सामने अन्तिम निर्णय के समय मनुष्यों के राजाओं के कार्यों का भी हिसाब देना होगा। हे महादयालु पुत्र, आप यह जानते हैं कि यद्यपि आपका पद सब जातियों के मनुष्यों से ऊंचा है, फिर भी आप अपनी गर्दन भक्तिपूर्ण वश्यता में धार्मिक विषयों से संबद्ध अधिकारियों के सम्मुख झुकाते हैं। आप अपने परित्राण के साधनों के लिए उनकी ओर देखते हैं।"[1] उसके मतानुसार चर्च को अपने कर्मचारियों पर शासन का पूरा अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार चर्च स्वतन्त्र तथा अपना शासन स्वयं करने वाली संस्था हो सकती है। उसके शब्दों में "सर्व-शक्तिमान् भगवान् की इच्छा है कि ईसाइयत के शिक्षकों और पुरोहितों का शासन दीवानी कानून से या लौकिक (Secular) अधिकारियों द्वारा नहीं, किन्तु बिशपों और पुरोहितों द्वारा हो।" इस सिद्धान्त के आधार पर जिलेसियस ने यह दावा किया कि जहाँ तक धार्मिक विषयों का संबंध है, चर्च से संबद्ध व्यक्तियों के अपराधों का निर्णय चर्च के न्यायालयों द्वारा होना चाहिए, न कि राजकीय न्यायालयों द्वारा।

जिलेसियस का यह मत सन्त आगस्टाइन के इस सिद्धान्त के अनुकूल था कि सांसारिक और धार्मिक सत्तायें पृथक् हैं। इनका एक व्यक्ति में केन्द्रित होना मूर्त्ति-पूजक (Pagan) धर्म का ईसाइयतविरोधी सिद्धान्त है। ईसा के आगमन से पहले भले ही यह वैध हो, किन्तु अब यह शैतान की इच्छा है। ईसामसीह ने यह व्यवस्था की है कि धर्म और राज्य की शक्तियाँ—ब्रह्म और क्षत्र—पृथक् रहेंगे। यह ईसाइयत

---

१. फोस्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २३२।

के प्रतिकूल है कि एक ही व्यक्ति राजा और पुरोहित हो।"[१] यह सत्य है कि इन दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। जिलेसियस के शब्दों में "ईसाई सम्राटों को शाश्वत जीवन के लिए बिशपों की आवश्यकता है और बिशप सांसारिक कार्यों की व्यवस्था के लिए साम्राज्य के कानूनों का उपयोग करते हैं।" किन्तु लौकिक शासकों की अपेक्षा पुरोहितों की जिम्मेवारी अधिक है क्योंकि कयामत के दिन अन्तिम न्याय के समय वे ईसाइयों की तथा उनके शासकों की आत्माओं के उद्धार के लिए उत्तरदायी होंगे।

इस सिद्धान्त के अनुसार समूचा मानव समाज दो सरकारों के आधीन था। इन दोनों के अपने स्वतन्त्र कानून बनाने और शासन करने के संगठन थे। ईसाइयत से पहले मनुष्यों की निष्ठा और भक्ति केवल एक सत्ता–राज्य के प्रति होती थी, अब यह दो के अर्थात् चर्च और राज्य के प्रति हो गयी। एक ईसाई दो प्रकार के कानूनों और प्रशासनों से बँधा हुआ था। राज्य और चर्च के प्रति द्विविध निष्ठा के कारण मध्ययुग में अनेक विवाद उत्पन्न हुए। चर्च और राज्य दोनों एक ही समाज पर शासन करते थे, किन्तु इनके अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट और सुनिश्चित नहीं थे। अतः इन दोनों में संघर्ष अनिवार्य था। इसमें पोप के समर्थक अतिवादियों ने यहाँ तक दावा किया कि राजा की शक्ति का अन्तिम स्रोत पोप है, दोनों तलवारें वास्तव में चर्च की हैं। चर्च ने एक तलवार राज्य को अपनी ओर से प्रयोग करने के लिए दे रखी है। दूसरी ओर राज्य की सत्ता के समर्थकों का यह कहना था कि चर्च का संबंध आध्यात्मिक जीवन से है, उसे अपना क्षेत्र धार्मिक कार्यों तक ही सीमित रखना चाहिए। आगे इस विषय में होने वाले प्रमुख विवादों का यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

ग्रेग्रोरी महान् या प्रथम (लग० ५४०–६०४)—उपर्युक्त दो तलवारों के सिद्धान्त को कुछ अंशों में क्रियात्मक रूप देने का तथा रोम के पोप को शक्तिशाली बनाने का बड़ा श्रेय पश्चिमी रोमन चर्च के इस चौथे दिग्गज धर्माचार्य ग्रेग्रोरी महान् को है। रोम के संभ्रान्त और सम्पन्न कुल में जन्म लेने तथा कानून में सुशिक्षित होने से यह आरम्भ में रोम का प्रधान शासक (Prefect) बना। किन्तु पिता की मृत्यु के बाद ईसाई साधु हो जाने पर इसने अपनी सारी सम्पत्ति और जमीन मठों (Monasteries) को स्थापित करने के लिए दे दी। इन दिनों इटली पर लम्बार्ड लोगों के आक्रमण हो रहे थे। कुस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट् का रावेन्ना (Ravenna) में रहने वाला शासक (Exarch) इटली की रक्षा करने में असमर्थ था। पोप पेलेगियस (Pelagius) द्वितीय (५७९–५९०) ने ग्रेग्रोरी की राजनीतिक योग्यता से प्रभावित होकर इसे सम्राट् के दरबार में अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा कि यह उससे लम्बार्ड आक्रमणों के विरुद्ध सहायता प्राप्त कर सके। वहाँ छः वर्ष (५७९–५८५ ई०) रहने पर भी ग्रेग्रोरी को कोई सहायता नहीं मिल सकी, उस समय सम्राट् में ऐसी सहायता करने का सामर्थ्य न था। स्वदेश लौटने पर ग्रेग्रोरी को ५९० ई० में पोप चुना गया। इस समय इटली और पश्चिमी रोमन साम्राज्य की दशा बड़ी शोचनीय थी। लम्बार्ड इटली में उत्पात मचा रहे थे। सम्राटों की निर्बलता, विसीगाथों की क्षीणता तथा मूरों के हमलों से अफ्रीका में अराजकता मची हुई थी। फ्रांस में उत्तरी तथा दक्षिणी राजाओं में संघर्ष

---

१. वही, पृ० २३१–३२।

हो रहा था। इंगलैण्ड में सैक्सन आक्रमण के कारण ईसाइयत का लोप हो चला था। बिशपों का भी नैतिक पतन हो चुका था और चर्च के ऊंचे पदों को योग्यता के आधार पर नहीं दिया जाता था, किन्तु इन्हें धन द्वारा खरीदने की कुप्रथा (Simony) प्रचलित हो चुकी थी। इस समय रोम का पुराना जहाज बहुत जीर्ण-शीर्ण था, चारों ओर से चू रहा था, तूफानों में नष्ट होने वाला प्रतीत होता था।

ग्रेगोरी ऐसे विकट समय में १३½ वर्ष तक रोम का कर्णधार बना। उसने अपनी योग्यता, राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता और पुरुषार्थ से शोचनीय स्थिति को सुधारने तथा पोप का प्रभाव बढ़ाने का यत्न किया। उससे पहले पोप की शासन-सत्ता रोम तक ही सीमित थी। एम्ब्रोज़ जैसे अन्य स्थानों के बिशप उसकी आधीनता नहीं मानते थे। रोम के पोप का दर्जा कुस्तुन्तुनिया, एण्टियोक, सिकन्दरिया और जेरुसलम के नगरों में रहने वाले पैट्रियार्कों के बराबर माना जाता था।[1] ग्रेगोरी के पोप पद के लिये चुनाव को सम्राट् ने पुष्ट किया था। किन्तु अपने समय की अराजक स्थिति का लाभ उठाते हुए ग्रेगोरी ने पश्चिमी जगत् के शासकों को उत्तम उपदेश और चेतावनी देने वाले पत्रों द्वारा अपना प्रभाव विस्तीर्ण करना शुरू किया। इटली की अराजक स्थिति का लाभ उठाते हुए उसने बिशपों को धार्मिक कार्यों के साथ लोककल्याणकारी राजनीतिक कार्यों को भी करने को कहा, जैसे जलपूर्त्ति के लिए प्रणालियों की सुरक्षा और मरम्मत, दरिद्र जनता को भोजन बाँटना, ईसाई कैदियों को मुक्त कराना, चर्च की जागीरों में सुशासन स्थापित करना, नास्तिकों (Heretics) को दण्ड देना। मध्य एवं दक्षिणी इटली में शासन का कार्य क्रियात्मक रूप से उसने अपने हाथ में ले लिया। इटली के सम्राट् के राज्यपाल (Exarch) की प्रेरणा से रावेन्ना के आर्क बिशप ने पहले तो उसके आदेशों को मानना अस्वीकार किया, किन्तु कुछ समय बाद उसे पोप को यह लिखना पड़ा, "मैं उस पवित्रतम पोप (Most Holy See) का विरोध करने का साहस कैसे कर सकता हूँ, जो सार्वभौम चर्च को अपनी आज्ञायें भेजता है।"[1] डालमेशिया के आर्क बिशप को कुछ संघर्ष के बाद पोप के आगे नतमस्तक होना पड़ा, वह तीन घण्टे तक रावेन्ना की सड़कों पर लेट कर यह कहता रहा, "मैंने भगवान् के प्रति और सबसे पवित्र (Blessed) पोप ग्रेगोरी के प्रति पाप किया है।"[2] इस प्रकार ग्रेगोरी ने रोम के पोप की प्रभुता के क्षेत्र को विशाल और सर्वमान्य बनाने का प्रयत्न किया। रसेल के शब्दों में ग्रेगोरी से पहले कभी रोम का बिशप अपनी सत्ता इतने अधिक विस्तृत क्षेत्र में इतनी सफलता के साथ लागू नहीं कर सका था। उसने यह कार्य मुख्य रूप से विभिन्न स्थानों के ऐसे पादरियों और शासकों को पत्र लिख कर किया, जिनके विषय में उसका यह विचार था कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर रहे या असली न्याय्य सत्ता से अधिक अधिकारों का प्रयोग कर रहे हैं। उसने पादरियों के नियमों के सम्बन्ध में एक पुस्तक Book of Pastoral Rules लिखकर चर्च के मामलों में सामान्य रूप से रोम की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल प्रतिपादन किया। मध्ययुग में इस ग्रन्थ को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई कि इसका एक यूनानी अनुवाद रोम के

---

१. थार्नडाइक—दी हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० १२६।
२. रसेल—विज़डम ऑफ दी वैस्ट, पृ० १४१।

विरोधी पूर्वी चर्च में भी प्रयुक्त होने लगा। अपने पत्रों के चौदह ग्रन्थों तथा चर्च के नियमों की पुस्तक के अतिरिक्त उसने सन्तों की चमत्कारपूर्ण जीवनियाँ **संवाद** (Dialogues) के नाम से लिखी तथा जाब की पुस्तक पर एक टीका Moralia का प्रणयन किया। इनमें उसने निरंकुश सत्ता का प्रबल समर्थन किया। कार्लाइल ने लिखा है कि "ग्रेगोरी महान् के सिद्धान्तों के आधार पर ही मध्ययुग में और उसके बाद शासक की निरंकुश और अनुत्तरदायी सत्ता के समर्थन में प्रबल युक्तियाँ दी जाती रहीं।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि परवर्त्ती पोपों द्वारा सार्वभौम अधिकार के दावे करने का मार्ग महान् ग्रेगोरी ने ही प्रशस्त किया था। उसने कुस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट् के इस आदेश का घोर विरोध किया कि सैनिकों को ईसाई मठों में साधु बनने की अनुमति नहीं दी जाय। उसने यह घोषणा की कि सम्राट् के शासन का उद्देश्य यह है कि स्वर्ग की प्राप्ति सुलभ हो सके और सांसारिक राज्य को स्वर्गीय राज्य की सेवा करनी चाहिए।" ईसाई भिक्षु भगवान् के सैनिक हैं, पुरोहित भगवान् के सेवक हैं, अतएव वे देवदूतों के समान हैं और उन्हें ईश्वरीय समझ कर उनकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।[2]

---

१. कार्लाइल—हिस्टरी ऑफ मिडीवल पोलिटिकल थियोरी, खं० १, पृ० १५३।

२. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५६।

आठवाँ अध्याय

मध्ययुग की राजनीतिक विचारधारा

मध्ययुग का स्वरूप—योरोपियन इतिहास में ४७६ ई० में पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के साथ प्राचीन युग की समाप्ति होती है तथा १५०० ई० के लगभग उत्तरी और दक्षिणी अमरीका की खोज, भारत एवं पूर्वी देशों को जाने वाले समुद्री मार्ग के अन्वेषण तथा धार्मिक क्रान्ति (Reformation) के साथ अर्वाचीन युग का श्रीगणेश समझा जाता है। प्राचीन तथा अर्वाचीन युगों के बीच का १००० वर्ष का समय दोनों युगों का मध्यवर्ती होने से मध्ययुग कहलाता है।[1] इस सहस्राब्दी को पुनः दो भागों में बाँटा जाता है। इसका पूर्वार्द्ध अथवा पहला मध्ययुग ५०० ई० से १००० अथवा ११०० ई० तक का समय अन्धयुग (Dark Ages) कहलाता है,[2] क्योंकि इस समय बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण रोमन सभ्यता की ज्योति बुझ जाने से अन्धकार छा गया, सब प्रकार की उन्नति अवरुद्ध हो गयी, साहित्य, कला, विज्ञान, व्यापार, वाणिज्य आदि सभी क्षेत्रों में अधःपतन आरम्भ हो गया। योरोप बर्बरता के पंक में डूब गया। ११वीं शताब्दी से इस स्थिति में अन्तर आने लगा। पिछले मध्ययुग (Later Middle Ages) में योरोप शनैः-शनैः बर्बरता के पंक से उबरने लगा।

मध्ययुग धर्मप्रधान था। अतः इसे श्रद्धा का युग (Age of Faith) भी कहते हैं। इसमें आस्था और धार्मिक विश्वासों का बोलबाला था। इसके चिन्तन और आकांक्षाओं का केन्द्रबिन्दु धार्मिक आदर्श थे। इस समय प्रार्थनाओं के विचार ने तथा श्रद्धा ने ज्ञान को अभिभूत कर लिया था। अतः इस समय के राजनीतिक चिन्तन पर इसका प्रबल प्रभाव है। इस समय स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन बहुत कम हुआ। राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित करना था। डनिंग के शब्दों में मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन का उस समय अवसान हो जाता है, जब वह सांसारिक और धार्मिक सत्ताओं के सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुकता है। अतः नवीन मौलिक चिन्तन के अभाव में, धार्मिक चिन्तन की प्रधानता के कारण उसने मध्ययुग को राजनीतिक चिन्तन से शून्य (Unpolitical) भी कहा है।[3]

---

१. थार्नडाइक—हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० १। अनेक विद्वान् मध्ययुग की अवधि १५५० अथवा १६०० ई० तक मानते हैं।

२. बकल—हिस्टरी ऑफ सिविलिज़ेशन, खं० २, पृ० १०६।

३. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़,—एंशेंएट एण्ड मिडीवल, खं० १, पृ० १३०-१३१।

किन्तु इस युग में धर्म की प्रधानता होते हुए भी कुछ राजनीतिक सिद्धान्तों का विकास हुआ। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध—अन्धयुग में ट्यूटानिक (Teutonic) या जर्मन जातियों के प्रभाव के कारण सार्वजनिक जीवन की इकाई व्यक्ति को माना जाता रहा। परन्तु पिछले मध्ययुग में धार्मिक और आर्थिक संगठनों —ईसाई परिव्राजक सम्प्रदायों, कारपोरेशनों तथा श्रेणियों (Guilds) के विकास के परिणामस्वरूप सामूहिक जीवन को असाधारण गौरव मिला, व्यक्ति का महत्त्व घट गया। इन दोनों का **दूसरा** अन्तर यह था कि अन्धयुग में योरोपियन समाज तथा चर्च बर्बर जातियों के आक्रमणों की बाढ़ में डूबा रहा, किन्तु पिछले मध्ययुग में पश्चिमी योरोप में कैथोलिक चर्च का प्राधान्य बना रहा। **तीसरा** अन्तर यह था कि अन्धयुग के राजनीतिक दर्शन का मूल आधार ट्यूटानिक जातियों की प्रथायें तथा ईसाइयों के पवित्र धर्मग्रन्थ थे। किन्तु पिछले मध्य-युग में इसका प्रमुख आधार रोमन कानून, ईसाई धर्मशास्त्र (Christian Theology) तथा अरस्तू के विचार थे। **चौथा** अन्तर पिछले मध्ययुग में ईसाई सार्वभौमता (Universalism) की भावना की प्रबलता है, यह विचार अन्धयुग में नहीं था। इस विचार के अनुसार पश्चिम में एक सार्वभौम समाज की सत्ता स्वीकार की जाती थी। चर्च और राज्य दो स्वतन्त्र संस्थायें नहीं थीं, किन्तु एक ही समाज को शासित करने वाले तथा धार्मिक और सांसारिक प्रयोजन पूरा करने वाले दो अंग थे। पश्चिमी योरोप के सब निवासी एक ईसाई गणराज्य (Respublica Christiana) के सदस्य थे।

मध्ययुग के राजनीतिक विचारों पर प्रभाव डालने वाले प्रधान तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) ट्यूटन (जर्मन) जातियों के विचार, (२) सामन्तवाद, (३) रोमन कैथोलिक चर्च, (३) साम्राज्य का विचार, (४) राष्ट्रीयता की भावना का अभ्युत्थान। यहाँ इनका क्रमशः प्रतिपादन किया जायगा।

ट्यूटन (जर्मन) जातियों के राजनीतिक विचार

ट्यूटानिक जातियों[1] ने न केवल म्रियमाण रोमन साम्राज्य का अन्त किया, अपितु पश्चिमी जगत् को नवीन राजनीतिक विचारों की देन से समृद्ध किया। रोमन साम्राज्य की समाप्ति के बाद इन जातियों ने जहाँ कहीं अपना राज्य स्थापित किया, वहाँ ये अपने साथ अपनी राजनीतिक परम्परायें और संस्थायें लेते गये। पश्चिमी योरोप के अधिकांश वर्त्तमान राज्यों के निर्माण में इन जातियों ने प्रमुख भाग लिया है। इन पर उनके राजनीतिक विचारों की स्पष्ट छाप है। इन जातियों के प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं :—

---

१. रोमन साम्राज्य पर हमला करने वाली जर्मनभाषाभाषी प्रमुख ट्यूटन जातियाँ निम्नलिखित थीं—उत्तरी सागर के निकट राइन नदी के तट पर बसे फ्रैंक, इनके उत्तर में रहने वाले सैक्सन, एंगल तथा जूट, वर्त्तमान दक्षिणी जर्मनी के अलैमन (Alemans) तथा बर्गण्डियन, उपरले डेन्यूब तथा ओडर नदी की घाटी—एवं आस्ट्रिया हंगरी के वण्डाल (Vandal), इनके पीछे बसे हुए सुएव (Sueve) तथा लम्बार्ड, वर्त्तमान रूमानिया के प्रदेश में बसे पश्चिमी गाथ (Visigoth), कृष्ण सागर के उत्तर में बसे आस्ट्रोगाथ (Ostregoth)।

(१) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता** (Individual Independence)—जर्मन जातियाँ व्यक्ति की स्वाधीनता को बहुत महत्त्व देती थीं, राज्य की तुलना में व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करती थीं। योद्धा होने के कारण उनमें यह सर्वथा स्वाभाविक था कि व्यक्तियों के शौर्य की भावना को सम्मानित करें। उनमें अपराधियों की दण्ड-व्यवस्था भी व्यक्ति को महत्त्व देती थी। किसी दूसरे व्यक्ति के साथ अपकृत्य (wrong) करने वाले अपराधी को दण्ड देने का कार्य कोई सार्वजनिक अधिकारी या राज्य नहीं करता था, किन्तु अपराधी उस व्यक्ति को सौंप दिया जाता था, जिसे उसने हानि पहुँचायी हो। जब जर्मन राज्यों ने अपराधियों को दण्डित करने का कार्य अपने हाथ में लिया तो भी अपराधी को दिये जाने वाले अर्थदण्ड का कुछ अंश उस व्यक्ति को दिया जाता था जिसे अपराधी के कार्यों से क्षति पहुँची होती थी। इन जातियों में सार्वजनिक जीवन की इकाई राज्य नहीं, किन्तु व्यक्ति था। जर्मन जातियों को इस बात का श्रेय है कि पिछले मध्यकाल में जब धार्मिक और आर्थिक संगठनों के कारण व्यक्ति का जीवन कारपोरेशन, गिल्ड, चर्च या कम्यून के सामूहिक जीवन में निमज्जित हो गया तो सामन्त पद्धति के राजनीतिक जीवन में भी इन्होंने वैयक्तिक अधिकारों को सुरक्षित रखा। इंगलैण्ड में १३वीं शताब्दी में, बृहत् अधिकारपत्र (Magna Carta) के रूप में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकारों को स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया। यह अन्य देशों में नागरिकों के अधिकारों के लिए आदर्श ज्योतिःस्तम्भ का कार्य करता रहा। गैटिल के शब्दों में पश्चिमी जगत् ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के आधुनिक विचार दो मुख्य स्रोतों से ग्रहण किये हैं—पुनर्जागरण (Renaissance) तथा धार्मिक सुधार (Reformation) द्वारा होने वाले बौद्धिक परिवर्त्तनों से तथा जर्मन जातियों की राजनीतिक संस्थाओं के आधुनिक सरकारों में परिणत होने से।[1]

(२) **प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का विचार**—टयूटन लोगों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने योरोप में प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Government) के विचार को पुष्ट किया। रोमन साम्राज्य के विभिन्न प्रदेश जीतने के बाद यद्यपि उनकी शासन-प्रणाली निरंकुश होने लगी तथापि उनमें प्राचीन काल से अनेक लोकतन्त्रीय व्यवस्थायें प्रचलित थीं और इनसे १८वीं १९वीं शताब्दी के लोकतन्त्र के विचार पुष्ट हुए। ट्यूटन जाति के आरम्भिक काल में दो प्रकार की लोकसभायें (Popular Assemblies) हुआ करती थीं। पहली राष्ट्रीय सभा में जाति के सभी स्वतन्त्र व्यक्ति सम्मिलित होकर नेताओं का चुनाव, महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों तथा विवादों पर विचार किया करते थे। यह सभा इन में राजतन्त्र का विकास होने के साथ समाप्त हो गई। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार की सभा विभिन्न प्रदेशों में वहाँ के स्थानीय प्रतिनिधियों की होती थी और यह स्थानीय प्रश्नों का विचार तथा विवादों का निर्णय करती थी। इंगलैण्ड में हाउस ऑफ कामन्स का विकास इसी प्रकार की सभाओं का आदर्श लेकर हुआ था, इसमें केवल इतना ही परिवर्त्तन किया गया था कि स्थानीय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को समूचे राष्ट्र की लोकसभा के लिए स्वीकार किया गया था। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन के साथ केन्द्रीय नियन्त्रण की व्यवस्था का सामंजस्य

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० ९१।

स्थापित करने वाली प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का विकास हुआ। यह वर्त्तमान लोकतन्त्र की आधारशिला है। गैटिल के मतानुसार, ऐतिहासिक युग में शासनयंत्र के संचालन में संघीय शासन के अपवाद को छोड़ कर प्रतिनिधि शासन-प्रणाली से अधिक महत्त्व-पूर्ण कोई दूसरी देन नहीं है।[1]

(३) **वैध शासन** (Constitutional Government)— जर्मन जातियों के आरम्भिक काल में राजा के निर्वाचन की प्रणाली प्रचलित थी। बाद में यद्यपि सैनिक विजयों द्वारा नये प्रदेश जीतने पर राजा का पद आनुवंशिक (Hereditary) समझा जाने लगा, तथापि राजा के चुनाव को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया जाता रहा। पिछले अध्याय में (पृ० २३९) यह बताया जा चुका है कि जर्मन जाति में पवित्र रोमन सम्राट् (Holy Roman Emperor) का चुनाव निश्चित निर्वाचकों (Electors) द्वारा किया जाता था। सैबाइन ने फ्रांस के राजा धर्मात्मा लुईस (Louis the Pious) द्वारा ८१७ ई० में अपने पुत्र लोथेयर को अपना उत्तराधिकारी बनाने की प्रक्रिया के उदाहरण से यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि राजा ने अपने सबसे बड़े बेटे को गद्दी देने का निश्चय किया, किन्तु इसका समर्थन निर्वाचन द्वारा हुआ, इस निर्वाचन में सारी जनता ने भाग लिया, वह 'सब की सामान्य इच्छा' से 'भगवान् की साक्षात् प्रेरणा' द्वारा राजा बनाया गया। इससे यह स्पष्ट है कि राजा बनने के लिए एक साथ तीन बातें आवश्यक थीं— राजा का ज्येष्ठ पुत्र होना, भगवान् की इच्छा का होना तथा जनता की सहमति से निर्वाचित होना। पहली दो बातें होते हुए भी जनता द्वारा समर्थन तथा स्वीकृति आवश्यक थी।[2] इसके साथ जर्मन जातियों में राजा के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वह प्रजा को न्यायपूर्वक शासन करने का वचन दे तथा यह प्रतिज्ञा करे कि वह अपने शासन-प्रबन्ध का संचालन पुराने परम्परागत नियमों और कानूनों के अनुसार करेगा। वह अपनी इच्छा से किसी पुराने रीति-रिवाज को नहीं बदल सकता था।[3] उसे गद्दी पर बैठते समय कुछ पुराने कानूनों के पालन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और अपने शासन काल में प्रचलित की जानेवाली आज्ञायें या अध्यादेश निकालने पड़ते थे। चार्ल्स महान् आदि फ्रैंक राजाओं के ऐसे अध्यादेश Capitularies कहलाते हैं। अपने शासन में इन आदेशों से बँधे होने के कारण फ्रैंक राजा निरंकुश सम्राट् नहीं, किन्तु वैध शासक होते थे।

इंगलैण्ड में राजतन्त्र के आनुवंशिक हो जाने पर भी यह विचार बना रहा कि राजा की सत्ता का मूल स्रोत जनता है तथा जनता यदि राजा से संतुष्ट नहीं है तो उसे पदच्युत कर सकती है। १६८८ ई० की गौरवपूर्ण क्रान्ति में ब्रिटिश जनता ने स्टुअर्ट वंशी जेम्स द्वितीय (१६८५–८८) को पदच्युत करके तथा १७०१ के Act of Settlement द्वारा राजा के उत्तराधिकार का निश्चय करके तथा हनोवर के जार्ज प्रथम को अपना राजा बनाकर इस सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित किया कि जनता के प्रतिनिधियों को अपना राजा चुनने का अधिकार है। इस प्रकार ट्यूटानिक जाति के राजा के निर्वाचन

---

१. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९२।
२. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० १८७।
३. सैबाइन— वही, पृ० १८४-८५, मैक्लिवेन–ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० १७४।

के अधिकार ने वर्त्तमान वैध शासन-प्रणाली के सिद्धान्त को विकसित करने में बहुत सहयोग दिया है।

(४) **कानून का विचार**—कानून के क्षेत्र में ट्यूटन जातियों का मुख्य सिद्धान्त यह था कि इसका निर्माण या संशोधन समूची जनता की इच्छा से होता है, इसके लागू किये जाने के लिए जनता की स्वीकृति और सहमति होनी चाहिए। छठी शताब्दी ई० में प्राचीन फ्रांस के शासक मेरोविंजियन राजाओं के आदेशों का आरम्भ इन शब्दों से होता था कि ये आदेश "प्रमुख व्यक्तियों के साथ, 'बिशपों और कुलीन व्यक्तियों' के साथ परामर्श करने के बाद निकाले जा रहे हैं" अथवा 'समूची जनता ने इस प्रकार का निश्चय किया है।' ८६४ ई० की चार्ल्स महान् की राजाज्ञा में स्पष्ट कहा गया है कि कानून जनता की सहमति से बनाया जाता है।[1] राजा प्रायः जनता में प्रचलित पुराने रीति-रिवाजों का विद्वान् व्यक्तियों द्वारा संकलन कराके उन्हें कानून का रूप देता था और उनसे अपने को बँधा हुआ अनुभव करता था। यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा। पहला उदाहरण सातवीं शताब्दी में लम्बार्डों के राजा रोठर (Rother) की राजाज्ञा (Edict) है, इसके अन्त में राजा ने यह लिखा है कि हमने अन्वेषण द्वारा अपने पूर्वजों के उन प्राचीन कानूनों को लिपिबद्ध किया है, जो अब तक अलिखित थे; इन्हें 'हमारे राष्ट्र के नियम के अनुसार एक असेम्बली (Gaerethinks) ने संपुष्ट किया' और ये "हमारे राष्ट्र के 'सब मनुष्यों के सामान्य हित' के लिए भविष्य में सदैव बने रहेंगे।"[2] राज्य अपनी इच्छा से जनता की सहमति के बिना पुराने रिवाजों पर आधारित कानूनों में कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकता था। ७३१ ई० में राजा लिटुप्रैण्ड (Lituprand) युद्ध द्वारा अभियोगों के निर्णय की प्रणाली को समाप्त करना चाहता था, किन्तु वह कहता है कि "लम्बार्डों के हमारे राज्य के (पुराने) रिवाज के कारण हम इसे रोकने में असमर्थ हैं।" दूसरा प्रसिद्ध उदाहरण "जेरुसलम के नियमों" (Assizes of Jerusalem) का है। १३वीं शती में इबेलिनवासी जॉन ने दो शताब्दी पहले के इन नियमों के निर्माण के संबंध में लिखा था कि ड्यूक गाडफ्रे (Godfrey) ने पहले तो बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा पुराने रिवाजों का संग्रह कराया, बाद में जेरुसलम के धर्माध्यक्ष (Patriach) राजकुमारों तथा अमीरों के साथ परामर्श के बाद उसे जो व्यवस्थायें अच्छी प्रतीत हुईं, उन्हें नियम बना दिया।[3] इंगलैण्ड में १३वीं शताब्दी तक देश में प्रचलित पुराने रीति-रिवाजों (Customs) का पालन आवश्यक समझा जाता था। पार्लियामेंट का मुख्य प्रयोजन यह निश्चय करना था कि रिवाज का स्वरूप क्या है। ग्रेट ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध सामान्य कानून या Common Law का आधार जनता में प्रचलित रीति-रिवाज हैं। इस प्रकार ट्यूटन जातियों ने योरोप में इस विचार को सुदृढ़ किया कि कानून का मुख्य आधार जनता में प्रचलित रिवाज हैं और कानून के लिए जनता की सहमति और स्वीकृति आवश्यक है, कानून का अन्तिम स्रोत जनता है। इसके अतिरिक्त ट्यूटन लोग कानून को वैयक्तिक अधिकार समझते

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० १८२।
२. मैकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० १७३-४।
३. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८३।

थे, अतः इस कानून का आधार रोमन कानून की भाँति प्रादेशिक (Territorial) नहीं था क्योंकि जहाँ रोम का साम्राज्य होता था, वहाँ रोम का कानून लागू होता था। ट्यूटन लोगों की यह धारणा थी कि उनका कानून वैयक्तिक है, अतः व्यक्ति भले ही रोमन प्रदेश में चला जाय, उस पर टयूटन कानून ही लागू होगा। इस प्रकार ट्यूटन लोगों ने वैयक्तिक कानून (Personal Law) के विचार को भी पुष्ट किया।

जर्मन जातियों में प्रायः एक वीर नेता के दल में अनेक युवक योद्धा सम्मिलित हो जाते थे और उनके सहायक के रूप में काम करते हुए युद्धों में भाग लेते थे। योरोप में सामन्त पद्धति की स्थापना का एक कारण यह भी था। इसके राजनीतिक प्रभावों का आगे वर्णन किया जायगा।

सामन्तपद्धति (Feudalism)

सामन्त पद्धति का विकास—मध्ययुगीन योरोप की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्था सामन्तपद्धति या जागीरदारी थी। सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री विनेग्रेडोफ का यह मत है कि जिस प्रकार प्राचीन काल में यूनान में नगर-राज्यों की प्रधानता थी, उसी प्रकार मध्ययुग में सामन्तपद्धति का बोलबाला रहा। यह योरोप के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार के कारणों से विकसित हुई।[1] स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि शार्लमेगन द्वारा स्थापित साम्राज्य के विघटन के बाद उत्पन्न हुई अव्यवस्थापूर्ण अराजक स्थिति में नवीं से १२वीं-१३वीं शताब्दी तक इसका विकास हुआ, क्योंकि उस समय तक धनोत्पादन का मुख्य आर्थिक आधार भूमि थी। १३वीं शती से व्यापार की उन्नति के कारण इसका ह्रास होने लगा।

इस पद्धति का प्रादुर्भाव प्रधान रूप से फ्रैंक राजाओं के सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के क्षीण होने तथा नार्थमैन, अरब, मगयार आदि जातियों के आक्रमणों से उत्पन्न अराजकतापूर्ण परिस्थितियों में दो रूपों में हुआ—(१) नीचे से ऊपर की ओर ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया द्वारा तथा (२) ऊपर से नीचे की ओर अधोगामी प्रक्रिया द्वारा।

(१) ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया—इस समय सब व्यक्ति अपने को असहाय तथा असुरक्षित अनुभव करते थे। इस परिस्थिति में छोटे किसानों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे सुरक्षा पाने के लिए अपने पड़ोस के शक्तिशाली व्यक्ति के पास जायं। ये व्यक्ति कुछ शर्तों पर उसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व लेने को तैयार हो जाते थे। ये व्यक्ति भी अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्तियों की सुरक्षा पाने के लिए उनके साथ वैसे संबंध स्थापित करते थे, जैसे उनके साथ छोटे किसानों ने स्थापित किये थे। इस प्रकार नीचे की ओर से छोटे व्यक्ति सुरक्षा के लिए अपने से अधिक शक्तिशाली लोगों की वश्यता स्वीकार करते हुए पिरामिडाकार संगठन बनाते थे, इसके शीर्षस्थान पर राजा तथा सबसे नीचे किसान और भूदास (Serf) होते थे।

(२) अधोगामी प्रक्रिया—इसके विकास का दूसरा रूप ऊपर से नीचे की ओर था। जब कोई शक्तिशाली राजा अपने सरदारों या सामन्तों की सहायता से कोई

---

१. इसका सर्वोत्तम तथा आधुनिक विवेचन फ्रेंच विद्वान् मार्क ब्लाश की फ्यूडल सोसायटी (रटलेज तथा केगनपाल, लंदन १९६१) में है।

नया प्रदेश जीतता तो वह अधिकांश भूमि अपने सामन्तों में कुछ विशेष शर्त्तों के आधार पर बाँट देता था। इसके अनुसार सामन्तों का यह कर्त्तव्य था कि वे राजा के प्रति सदैव राजभक्त रहें, उसकी सैनिक सहायता करें, उसे विभिन्न प्रकार के कर प्रदान करें। ११वीं शताब्दी में नार्मन विजेता विलियम ने इंगलैण्ड में ऐसी स्थिति स्थापित की। इस पिरामिडाकार रचना में राजा शीर्ष स्थान पर रहते हुए अपने पास कुछ राजकीय भूमि (Royal demesne) रखते हुए शेष भूमि अपने प्रधान सामन्तों (Tenants in chief या Crown vassals) में बाँट देता था। ये प्रायः ड्यूक (Duke), काउण्ट (Count), माग्रेव, आर्कबिशप और बिशप के ऊंचे पद रखते थे। राजा के प्रति राजभक्ति की शपथ लेते हुए ये उसके लिए सैनिक सेवा करने, कुछ निश्चित धन राशि देने और राजा के दरबार में उपस्थित होकर परामर्श देने का कार्य करते थे। इंगलैण्ड में लार्ड सभा आदि राजा की परिषदों का उद्गम इसी व्यवस्था से हुआ। प्रधान सामन्त कुछ भूमि अपने पास रख कर शेष भूमि को इसी प्रकार की शर्त्तों पर अपने नीचे उपसामन्तों (Subvassals) को बाँटते थे। ये काउण्ट, वाइकाउण्ट (Viscount) या बैरन कहलाते थे। ये पुनः अपनी भूमि ऐसी शर्त्तों पर नाइटस् (Knights) को बाँटते थे। इस प्रकार भूमि के छोटे-छोटे सामन्तों में बँटने की अधोगामी प्रक्रिया (Subinfeudation) चलती रहती। निम्नलिखित चित्र से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा—

राजा

प्रधान सामन्त (क) (Tenant in chief) — प्रधान सामन्त (ख)

प्रधान सामन्त (क) → उपसामन्त (Subtenant)

प्रधान सामन्त (ख) → उपसामन्त (ग), उपसामन्त

उपसामन्त (ग) → घ, ङ

घ → च
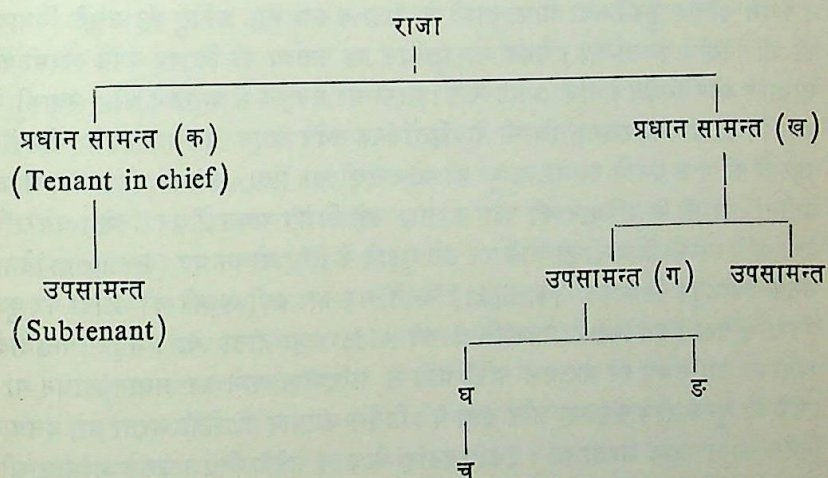
इस चित्र से यह स्पष्ट है कि च की भूमि में उसके अतिरिक्त चार व्यक्तियों—उसके स्वामी घ, घ के स्वामी ग, ग के स्वामी ख और राजा के कुछ स्वत्व हैं। इस प्रकार इस भूमि पर चार-पाँच व्यक्तियों का अधिकार है, किन्तु इनमें से किसी को भी इस पर पूर्ण स्वत्व नहीं है। च के पास यह भूमि तब तक है जब तक वह घ के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, घ के पास तभी तक है जब तक वह ग के प्रति कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि जागीरदारी भूमि के स्वत्व पर आधारित पारस्परिक संबंधों का एक जटिल जाल था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के कुछ अधिकार और कर्त्तव्य हुआ करते थे।

सामन्त पद्धति का मूल आधार जागीर (Fief, Feud) थी।[१] यह सामान्यतः कुछ निश्चित भूमि या इसके अतिरिक्त कोई भी आर्थिक लाभ पहुँचाने वाले सरकारी पद, चुंगी इकट्ठा करने या आटा पीसने की चक्की आदि चलाने का अधिकार होता था।[२] इस जागीर या अधिकार को देने वाला व्यक्ति स्वामी (Lord, Suzerain, Liegelord) तथा इसे ग्रहण करने वाला सेवक या उपाश्रित (Vassal, Liegeman) कहलाता था। आरम्भ में इस प्रकार की जागीर को बेनीफिस (Benefice) कहा जाता था। यह एक व्यक्ति को उसके जीवनपर्यन्त दी जाती थी। बाद में इसके आनुवंशिक हो जाने पर इसे जागीर (Fief) कहा जाने लगा। जिस विधि द्वारा कोई व्यक्ति स्वामी की आज्ञा का पालन और सेवा करना स्वीकार करता था, उसे प्रणिपात (Homage) कहते थे। इनमें वह स्वामी के दरबार में उपस्थित होकर उसके सामने घुटने टेक कर अपने हाथों की अंजलि स्वामी के हाथ में रख कर कहता था कि "मैं स्वामिभक्त रहने की तथा सेवक की भाँति रहने की शपथ खाता हूँ।" इस पर स्वामी सेवक को एक झण्डा, डण्डा, लिखित पत्र (Deed) तथा दी जाने वाली भूमि के प्रतीकस्वरूप पेड़ की टहनी या मिट्टी का ढेला देकर उसे जागीर का अधिकार प्रदान करता था। इसे अभिषेचन या पदस्थापन विधि (Investiture) कहते थे। इससे यह स्पष्ट है कि यह दोनों पक्षों में एक प्रकार का आपसी समझौता या संविदा (Contract) थी और इससे स्वामी और सेवक दोनों के कर्त्तव्य निर्धारित होते थे। स्वामी अपने सेवक की न केवल चोर-डाकुओं तथा आक्रान्ताओं से रक्षा करता था, अपितु वह उसके विवादों का भी निर्णय करता था। सेवक या आश्रित का कर्त्तव्य था कि वह अपने स्वामी को सामान्य और विशेष सेवायें प्रदान करे। सामान्य सेवाओं में प्रमुख ये थीं—स्वामी के प्रति निष्ठा बनाये रखना, स्वामी के हितों का सदैव ध्यान रखना, उसके गोपनीय रहस्यों को गुप्त बनाये रखना, शत्रु की योजनाओं का पता लगाना और स्वामी को बताना, स्वामी के परिवार की रक्षा करना, उसे विशेष अवसरों पर विशेष धनराशि देना, जैसे स्वामी के बन्दी हो जाने पर उसे छुड़ाने के लिए मोचन धन (Ransom) देना, उसके ज्येष्ठपुत्र के नाइट (Knight) बनने पर या बड़ी लड़की की शादी पर कुछ धनराशि देना। इन विशेष धनराशियों को Aids कहा जाता था। यह सामन्तवादी व्यवस्था उस समय की अराजक परिस्थिति से परित्राण पाने का प्रधान साधन था। इसके दो मुख्य तत्त्व संरक्षण और सेवा थे। निर्बल बलवान् की सेवा करता था, बलवान् निर्बल का संरक्षण करता था। एक बलवान् के साथ अनेक निर्बल उसके सामन्त और

---

१. अंग्रेज़ी का Feudal शब्द Feud से बना है। इसका लैटिन रूप Feodum है और इसका अभिप्राय ऐसे धारणाधिकार (Tenure) से है, जिसमें किसी भूमि, पद या अधिकार को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को कुछ शर्तों के आधार पर प्रदान करता है। किन्तु इसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भूमि आदि को प्रदान करते समय स्वामी का उस पर हित (Interest) या स्वत्व बना रहता है। इसके होते हुए भी उस भूमि पर सेवक का नया स्वत्व उत्पन्न हो जाता है।

२. फ्रांस में शैम्पेन (Champagne) के काउण्ट के एक सामन्त की जागीर (Fief) कुछ निश्चित जंगलों में पाई जाने वाली आधी मधुमक्खियाँ थीं (इंसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खं० ११, पृ० १६२)।

सेवक के रूप में जागीर के आधार पर जुड़ जाते थे। जिस प्रकार स्फटिकों को बनाने वाले सान्द्र घोल में कुछ स्फटिक दूसरे स्फटिकों के साथ जुड़ते चले जाते हैं, इसी प्रकार समाज में स्फटिकीकरण (Crystallization) की प्रक्रिया द्वारा निर्बल व्यक्तियों के सबल व्यक्तियों के साथ जुड़ जाने से सामन्ती समाज-व्यवस्था का निर्माण होता था।

सामन्त पद्धति ने राजनीतिक विचारों पर गहरा प्रभाव डाला। इस पर उसके मुख्य प्रभाव निम्नलिखित थे—

(१) **राजत्व का सिद्धान्त और राजा का नियन्त्रण**—इस समय राजा को प्रजा पर १६वीं १७वीं शताब्दियों के योरोपियन राजाओं की भाँति निरंकुश अधिकार प्राप्त नहीं थे, किन्तु अनेक कारणों और परिस्थितियों से राजा की शक्ति बहुत सीमित और नियन्त्रित थी। इनमें **पहला** कारण वर्त्तमान राज्य के अनेक कार्यों का सामन्तों द्वारा किया जाना और राजा का इन विषयों में सीमित अधिकार होना था। आजकल सेनायें राज्य के आधीन होती हैं, राज्य को अपने प्रदेश में शान्ति स्थापित रखने, न्याय-व्यवस्था स्थापित करने और लगान और कर लेने के पूरे अधिकार होते हैं। उस समय ऐसी स्थिति नहीं थी। प्रत्येक सामन्त राजा को निश्चित मात्रा में सैनिक प्रदान करता था, अतः राजा सेना के लिए सामन्तों पर निर्भर था और ये सैनिक राजा के प्रति नहीं, किन्तु अपने सामन्त के प्रति भक्ति और निष्ठा रखते थे। स्थानीय शासन-प्रबन्ध सामन्तों के हाथ में था, अतः वहाँ शान्ति स्थापित करना सामन्तों का कार्य था। राजा इनके यहाँ अपने सैनिक नहीं भेज सकता था। वह अपने दरबार में आये सामन्तों के विवादों और झगड़ों को सुनता था, किन्तु सामन्तों के प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले मुकद्दमों का फैसला सामन्त ही करते थे, राजा उसमें हस्तक्षेप नहीं करता था। इसी तरह राजा सामन्तों से पुराने रिवाज के आधार पर निश्चित होने वाली धन राशि सामन्ती सहायता (Feudal aids) के नाम से ले सकता था, किन्तु उन पर कोई नया टैक्स लगाने का अधिकार नहीं रखता था।[1] इसके अतिरिक्त कई बार सामन्तों पर उसका अधिकार इतना कम होता था कि वे उसके विरुद्ध विद्रोह करके स्वतन्त्र हो जाते थे। उस समय यह आजकल की भाँति जघन्य अपराध नहीं माना जाता था। सामन्तों के इन अधिकारों के कारण उस समय राजाओं की शक्ति बहुत मर्यादित थी।

दूसरा कारण राजाओं द्वारा राज्याभिषेक के समय की जाने वाली प्रतिज्ञायें थीं। राजा इन प्रतिज्ञाओं से बँधे हुए समझे जाते थे। उदाहरणार्थ, १०वीं शताब्दी में एंग्लो-सैक्सन राजा एथेलरैड (९६८–१०१६ ई०) ने यह प्रतिज्ञा ली थी—"पवित्र त्रित्व के नाम पर मैं अपने ईसाई प्रजाजनों को तीन बातों का वचन देता हूँ। पहली यह कि भगवान् का चर्च और मेरे राज्य के सब ईसाई शान्तिपूर्वक रहेंगे। दूसरी यह कि मैं सब परिस्थितियों में सब प्रकार की लूटपाट और अन्याय का निषेध करता हूँ। तीसरी यह कि मैं सब निर्णयों में न्याय और दया के पालन का वचन देता हूँ।" सुप्रसिद्ध विधानशास्त्री मेटलैंड ने लिखा है कि इंगलैण्ड के परवर्ती राजा इसी प्रकार की प्रतिज्ञायें लेते रहे। हेनरी प्रथम (१०६८–११३५ ई०) की प्रतिज्ञा बिल्कुल इसी तरह की थी। बाद में इनका विस्तार होने लगा। १४वीं शताब्दी में एडवर्ड द्वितीय

---

१. थार्नडाइक—दी हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० २६४।

(१२८५–१३२७ ई०) ने यह प्रतिज्ञा की कि वह राज्य की जनता द्वारा चुने हुए कानूनों और रीति-रिवाजों का पालन करेगा।[1]

तीसरा कारण मध्यकालीन कानून की धारणा थी। इसके अनुसार राजा रिवाज के रूप में चले आने वाले कानूनों के पालन के लिए बाध्य था। यह तथ्य एक मनोरंजक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। ११५४ ई० में इंगलैण्ड के राजा हेनरी के समक्ष सैण्ट मार्टिन के मठाधीश और बैलिग्रोल के गिल्बर्ट का एक भूमि-सम्बन्धी विवाद आया। मठाधीश ने अपना दावा प्रमाणित करने के लिए एक चार्टर पेश किया। गिल्बर्ट के पास कोई प्रमाण नहीं था। अतः उसने यह आपत्ति उठायी कि इस चार्टर पर मुहर सही नहीं है। इस समय राजा ने गिल्बर्ट को कहा कि यदि तुम इसे झूठा सिद्ध कर सको तो यह मेरे लिए कई हजार पौण्ड के मूल्य की बात होगी। किन्तु गिल्बर्ट जब कोई प्रमाण नहीं दे सका तो उसने निर्णय दिया कि यद्यपि क्लेरेण्डन की विवादग्रस्त भूमि मुझे बहुत पसन्द है, फिर भी यदि भिक्षु चार्टर द्वारा इस पर अपना अधिकार प्रमाणित करते हैं तो मेरे सामने इसे उन्हें देने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है (सैबा० पृ० १९३)। इससे यह स्पष्ट है कि राजा उस समय कानून का वशवर्ती था। इसका तथा धर्म के नियमों का पालन करना उसके लिए आवश्यक था। इसी दृष्टि से ११वीं शताब्दी में लौटनबाख के मेनगोल्ड ने लिखा था कि कोई भी व्यक्ति अपने आप को स्वयं राजा या सम्राट् नहीं बना सकता। जनता ही किसी को अपने से ऊंचा उठाती है ताकि वह इनका शासन और संचालन न्याय-पूर्ण सरकार के सिद्धान्तों के अनुसार कर सके, प्रत्येक व्यक्ति को उसका अंश प्रदान करे, धर्मात्माओं की रक्षा और दुरात्माओं का विध्वंस करे, सब को न्याय प्रदान करे।"[2]

---

१. मेटलैण्ड—कांस्टीट्यूशनल हिस्टरी ऑफ इंगलैण्ड, पृ० ९८-९९।

भारतीय साहित्य में राज्याभिषेक के समय की प्रतिज्ञा का सुन्दर उदाहरण वेन के पुत्र द्वारा की गयी प्रतिज्ञा है। राजा वेन को अधार्मिक कार्यों के कारण ब्रह्मवादियों ने नष्ट कर दिया (महाभारत १२।५८।९४) और इसके बाद जब उसके बेटे वैन्य को गद्दी पर बिठाया तो उसे धर्म-पूर्वक शासन करने की प्रतिज्ञा करने को कहा (१२।५९।१०६—प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा। पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥ यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन।)। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१५) में अभिषेक के समय पुरोहित राजा से श्रद्धापूर्वक यह प्रतिज्ञा कराता है—"जिस रात्रि में मैं उत्पन्न हुआ हूँ तथा जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, इन दोनों के बीच में यज्ञ करने से, कुँआ, बावली आदि खुदवाने के उत्तम कर्मों से मुझे जो उत्तम लोक, पुण्य, आयु और सन्तान प्राप्त हो, मैं उन सब से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं तेरे प्रति द्रोह करूँ" (एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाभिषिंचेत्। स ब्रूयात्सह श्रद्धया यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्त्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति)। श्री काशीप्रसाद जायसवाल (हिन्दू पोलिटी, प्रथम संस्करण खं० २, पृ० २८) यहाँ ते का अर्थ जनता के प्रति द्रोह करना तथा उसके नियमों का भंग करना समझते हैं। प्रतिज्ञा का विचार मध्यकाल में भी बना रहा। ब्रिटिश विधिशास्त्री ब्रैक्टन (१२१४–१२६८ ई०) के समकालीन भारतीय निबन्धकार चण्डेश्वर (१२६०–१३७०) ने राजनीति रत्नाकर में अभिषेक के समय राजा को अपनी सारी प्रजा को विष्णु का रूप समझने पर बल दिया है (पृ० ७४, इति सर्वं प्रजा विष्णुं साक्षिणं श्रावयेन्मुहुः)॥

२. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० २३६।

किन्तु यदि राजा ऐसा नहीं करता तो उसका नियन्त्रण कौन करे ? १३वीं शताब्दी के ब्रिटिश विधिशास्त्री ब्रैक्टन का मत था कि यह कार्य उसके दरबार के सामन्तों द्वारा होना चाहिए। उसके शब्दों में, "राजा से एक उत्कृष्ट सत्ता भगवान् है। इसी प्रकार की दूसरी सत्ता कानून है, जिसके अनुसार वह राजा बनाया गया था। इसी तरह एक अन्य सत्ता उसका दरबार—उसके सामन्त, काउण्ट (Count) तथा बैरन (Baron) हैं, ये उसके साथी (Associate) कहे जाते हैं। जिसका कोई साथी होता है, वह उसका स्वामी भी होता है। अतः यदि राजा की लगाम अर्थात् कानून न रहे तो उन्हें उस पर यह लगाम डालनी चाहिए।"[1] सामन्ती युग में जहाँ एक ओर राजा को

---

१. सैबाइन—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० १६५-६६। मध्ययुग के राजनीतिक विचारक कानून के सम्बन्ध में यह मानते थे कि राजा न तो इसे बना सकता है और न ही इसे तोड़ सकता है। कानून प्राचीन परम्परा से चली आने वाली व्यवस्था है और राजा को अपने सामन्तों के साथ परामर्श करके इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और इसे लागू करना चाहिए। ब्रैक्टन ने लिखा था कि इस प्रकार के ब्रिटिश कानून (Leges Consuetudines) इनका उपयोग करने वाली जनता द्वारा पसन्द किये जाते हैं, राजाओं की राज्याभिषेक की प्रतिज्ञाओं द्वारा इनकी पुष्टि की जाती है, अतः इन कानूनों का संशोधन तथा उन्मूलन उन सब व्यक्तियों की सामान्य सहमति के बिना नहीं हो सकता, जिनकी सलाह और सहमति से इन कानूनों की घोषणा की गई थी।" (मेकिलवेन—वही, पृ० १६४-५)। ब्रैक्टन इस प्रसंग में जस्टीनियन के इंस्टीटयूटस का यह वाक्य उद्धृत करता है कि 'राजा को पसन्द आने वाली व्यवस्था को कानून की शक्ति प्राप्त होती है, (What pleases the prince has the force of law)। यह वाक्य ब्रैक्टन की कानून सम्बन्धी धारणा पर कुठाराघात करता है, अतः वह इसकी सर्वथा नई व्याख्या करता हुआ अपने सिद्धान्त का समर्थन करता है। उसके मतानुसार इसका अर्थ राजा की प्रत्येक मनमानी इच्छा नहीं है, किन्तु ऐसी इच्छा है "जो राज्य के बड़े व्यक्तियों—सामन्तों आदि के साथ परामर्श करने के बाद निश्चित हुई हो।" इससे यह स्पष्ट है कि इस समय राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि (Vicar of God) माना जाते हुए भी उसे कोई दैवी अधिकार (Divine rights) या अपनी इच्छा से कानून बनाने और उसे बदलने के अधिकार नहीं थे।

सामान्यतः प्राचीन भारत में भी राजा को अपनी इच्छानुसार, मनमाने ढंग से नया कानून बनाने का अधिकार नहीं था। ६०० ई० के लगभग मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि ने आठवें अध्याय के तेरहवें श्लोक पर टीका करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि राजा को धर्म और प्राचीन आचार का अनुसरण करने वाले (शास्त्राचाराविरुद्ध) नियम बनाने का अधिकार है, जैसे आज उत्सव मनाना चाहिए, सब को मंत्री के घर में विवाह में सम्मिलित होना चाहिए, पशुओं को नहीं मारना चाहिए, पक्षियों को नहीं पकड़ना चाहिए, ये आज्ञायें ढोल पीटकर उद्घोषित की जानी चाहियें। किन्तु राजा को अग्निहोत्र, वर्णाश्रम आदि के धर्मों का विरोध करने वाली, वेद एवं स्मृति-विरोधी आज्ञा देने का कोई अधिकार नहीं है (यतः सर्वतेजोमयो राजा तस्माद्धेतोः मन्त्रिपुरोहितेषु कार्यगतया धर्मं कार्यावस्थं शास्त्राचाराविरुद्धं निश्चित्य स्थापयेत। सा तादृशी राजाज्ञा नातिक्रमणीया—'अद्य पुरे सर्वैः उत्सवः कर्त्तव्यः।' मन्त्रिगेहे विवाहो वर्त्तते, तत्र सर्वैः संनिधातव्यम्; पशवो नाद्य सैनिकैः हन्तव्याः, न शकुनयो बन्धयितव्याः। नर्त्तिकाः धनिकैः आराधनीयाः"। एवंविधो धर्मः पटहघोषादिना राज्ञा आदिष्टो नातिक्रमणीयः। न तु अग्निहोत्रादिधर्मव्यवस्थायै वर्णाश्रमिणां राजा प्रभवति स्मृत्यन्तरविरोधप्रसंगात्। अविरोधे चास्मिन्

प्रधान भूमिपति तथा उसके दरबारियों को राजा से जागीरें पाने वाला समझा जाता था, वहाँ दूसरी ओर राजा को जनता में निहित सार्वजनिक सत्ता का वहन करने वाला प्रमुख व्यक्ति भी माना जाता था। इन दोनों धारणाओं के सम्मिश्रण के कारण मध्य-युग में राजा के सामन्ती दरबार ने ऐसा रूप धारण किया कि पिछले मध्ययुग के अन्त में इससे अनेक वैधानिक संस्थाओं और सिद्धान्तों का विकास हुआ। शनैः-शनैः विभिन्न प्रकार के विशेष कार्य करने से अनेक प्रकार की शासक संस्थायें बनीं, जैसे राजा की परिषद्, न्यायालय तथा पार्लियामेंट। मैकिलवेन के मतानुसार १८वीं शताब्दी तक पार्लियामेंट को कानून बनाने वाली संस्था नहीं, किन्तु न्यायालय समझा जाता था। इस प्रकार के विकास का एक बड़ा सुपरिणाम यह था कि सार्वजनिक सत्ता (Public authority) का स्वरूप अधिक स्पष्ट होने लगा। सामन्ती युग में इस सत्ता को कभी भी राजा में केन्द्रित नहीं समझा गया, उसे सदैव अपनी परिषद् या दरबार से सलाह लेनी पड़ती थी। सैबाइन के मतानुसार "इस प्रकार प्रतिनिधित्व (Representation), कर-निर्धारण, असेम्बलियों द्वारा कानून-निर्माण, राजकीय व्यय की तथा अन्य शिकायतें दूर करने के लिए याचिकायें देने के विचार उत्पन्न हुए।"[1] इनका विकास यद्यपि मध्य-युग के बाद हुआ, किन्तु इनके बीज मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था में थे। इसने बर्क के और हेगेल के राजनीतिक विचारों पर प्रभाव डाला। फोस्टर के शब्दों में इसका सबसे बड़ा प्रभाव यह था कि यह प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का मूल था;[2] क्योंकि राजा के दरबार में रहने वाले सामन्त शनैः-शनैः जनता के प्रतिनिधि होने का दावा करने लगे।

(२) **संविदा का विचार**—योरोप की सामन्ती व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें स्वामी और सेवक के संबंध संविदा या समझौते से निश्चित होते थे। राजा भी सामन्तों की तरह संविदा से तय की गई शर्तों से बँधा होता था। उसे मन-मानी करने का अधिकार नहीं था। यदि राजा अपने अधिकारों से बाहर का या नियम-विरुद्ध कार्य करता तो सामन्त उसका नियन्त्रण कर सकते थे। इससे राजनीतिक विचार में संविदा के सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। १८वीं शताब्दी में रूसो ने राज्य की उत्पत्ति ही सामाजिक संविदा (Social Contract) के सिद्धान्त से मानी।

(३) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण** (Decentralization of Authority)—सामन्तपद्धति का स्वरूप ही इस प्रकार का था कि उसमें केन्द्रीय सत्ता सुदृढ़ नहीं हो सकती थी। इसमें शासनसत्ता राजा से निम्नवर्ग तक के सामन्तों और सरदारों में बँटी

विषये वचनस्यार्थवत्त्वात्)। इससे यह स्पष्ट है कि योरोप के मध्यकालीन राजा की भाँति तत्कालीन भारतीय राजा प्रचलित रीति-रिवाज और धर्म के विरुद्ध कोई कानून बनाने का अधिकार नहीं रखते थे। पहले (पृ० ३३-३४) में यह बताया जा चुका है कि राजा की आज्ञा धर्मानुकूल होनी चाहिए। कात्यायन (लग. ४००-६०० ई०) ने स्पष्ट रूप से यह विधान किया है कि धर्म, न्याय और देशाचार का अनुसरण करने वाली राजाज्ञा न्याय्य होती है (कात्यायन स्मृतिसारोद्धार श्लोक ३८, न्यायशास्त्राविरोधेन देशदृष्टस्तथैव च। यद्धर्मं स्थापयेद्राजा न्याय्यं तद्राजशासनम्॥)। यदि ऐसा न हो तो राजाज्ञा अन्यायपूर्ण होगी।

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी पृ० १६६।

२. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० २३७।

हुई थी, सभी सामन्त और सरदार अपने-अपने स्थानीय प्रदेश में शासन के सम्पूर्ण अधिकार रखते थे। जब सभी अपने प्रदेश में प्रभु (Sovereign) थे तो इस दशा में सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) का विचार कैसे उत्पन्न हो सकता था। आस्टिन के मतानुसार कानून प्रभुसत्ता का आदेश है। किन्तु उस समय तक प्रभुसत्ता का विचार ही नहीं था। कानून किसी राजा का आदेश या जनता की इच्छा नहीं, किन्तु जनता के प्रचलित रीति-रिवाज थे।

(४) **सामन्ती व्यवस्था में स्वामिभक्ति** (Loyalty) **के विचार** को असाधारण महत्त्व दिया जाता था। इससे वर्त्तमान राष्ट्रीय राज्यों के विकास में बड़ी सहायता मिली। राजाओं ने सामन्तों की शक्ति तोड़ने के लिए इस भावना का लाभ उठाया और इस पर बल दिया कि किसी सामन्त को न केवल अपने एकदम उपरले स्वामी के प्रति भक्ति की शपथ लेनी चाहिए, अपितु राजा के प्रति भी निष्ठा रखनी चाहिए।

सामन्त पद्धति में जमीन्दार को युद्ध और शान्ति में समुदाय की सेवा करनी पड़ती थी। इससे यह महत्त्वपूर्ण विचार उत्पन्न हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति के समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं और उसे उनका पालन करना चाहिए।

रोमन कैथोलिक चर्च का प्रभाव

मध्ययुग के चिन्तन पर सबसे प्रबल प्रभाव चर्च का पड़ा। पहले (पृ० २३८) यह बताया जा चुका है कि कांस्टैण्टाइन द्वारा बाइज़ैण्टियम को साम्राज्य की राजधानी बना लिये जाने के बाद रोम का चर्च किस प्रकार शक्तिशाली होने लगा था। ७५६ ई० में फ्रैंक राजा पेपिन से मध्य इटली के प्रदेश को प्राप्त करने के बाद पोपों की राजनीतिक सत्ता भी सुदृढ़ होने लगी। मध्ययुग में जनता पर चर्च के अपरिमित प्रभाव का एक बड़ा कारण यह था कि यह उस समय मनुष्यों के चित्त को सबसे अधिक व्यथित करने वाली नारकीय यातनाओं से मुक्ति दिलाने वाला था। तर्क एवं संदेहवाद के वर्त्तमान युग में एक सामान्य व्यक्ति के लिए यह कल्पना करना सुगम नहीं है कि मध्ययुग के साधारण व्यक्ति के लिए सबसे बड़ा आतंक मृत्यु के बाद नरकाग्नि की भीषण ज्वालायें थीं। ईसाइयत को उस समय इसलिए महत्त्व प्राप्त हुआ कि यह मनुष्यों को इनसे उद्धार का प्रबल आश्वासन देती थी। उसका यह मत था कि कयामत के दिन ईसा मसीह अपने भक्तों का नरक से परित्राण कर उन्हें शाश्वत स्वर्ग के दिव्य आनन्दों का उपभोग करायेंगे। मनुष्य ने भले ही कितना पापपूर्ण जीवन बिताया हो, ईसा मसीह में ईमान लाने से वे नरक की यातनाओं से मुक्त हो सकता है। इस भूतल पर ईसा मसीह का प्रतिनिधि उनके प्रिय शिष्य पीटर द्वारा स्थापित रोम के चर्च का अध्यक्ष पोप था। रोम में सैण्ट पीटर के गिर्जे (St. Peter's basilica) के गुम्बद के आधार पर अंकित सैण्ट मैथ्यू की गास्पल (१६।१८-१९) के पीटर को ईसा द्वारा स्वर्ग की कुंजियाँ देने वाले वाक्य नरक के भयों से व्यथित भक्तों को अमित शान्ति प्रदान करने वाले तथा पीटर के उत्तराधिकारी-पोपों में अगाध भक्ति और अनन्त श्रद्धा उत्पन्न करने वाले थे। इस विश्वास के कारण पोप का तथा चर्च का जनता पर असाधारण प्रभाव था। नरक की ज्वालाओं से लोगों के परित्राण का सामर्थ्य रखने वाले पोप की सत्ता को चुनौती देने का साहस उस समय शक्तिशाली

राजाओं को भी नहीं था।

यदि कोई राजा पोप की सर्वोच्च सत्ता को चुनौती देने का दुस्साहस भी करता तो पोप अपने शक्तिशाली और विभिन्न देशों में फैले हुए चर्च के सुदृढ़ संगठन द्वारा उसे नतमस्तक कर सकता था। अपने विरोधी राजाओं को परास्त करने के लिए पोप के पास प्रमुख अस्त्र निम्नलिखित थे—

(१) **चर्च से बहिष्कार** (Excommunication)—इसका अभिप्राय किसी अनभीष्ट व्यक्ति को ईसाइयत से, विशेष रूप से रोमन कैथोलिक चर्च से बहिष्कृत करना था। इसके बाद इस व्यक्ति के पास नरक की शाश्वत पीड़ा से परित्राण पाने का कोई साधन नहीं रहता था। अतः परलोक में सद्गति पाने में अमित विश्वास रखने वाला व्यक्ति बहिष्कृत होने पर शीघ्र ही पोप से क्षमा माँग लेता था। अगले अध्याय में यह बताया जायगा कि मध्यकाल में पोपों ने राजाओं को नतमस्तक करने के लिए इस शस्त्र का प्रचुर प्रयोग किया।

(२) **निषेधाज्ञा** (Interdict)—इस का अभिप्राय चर्च की ऐसी आज्ञा या आदेश से है, जिसके अनुसार किसी विशेष स्थान—नगर या देश में चर्च द्वारा सार्वजनिक पूजा के सब कार्यों का निषेध कर दिया जाय। इस प्रदेश के सब चर्च बन्द हो जाते थे, इनमें कोई घण्टे नहीं बजते थे, शादी व्याह आदि के संस्कार (Sacraments) नहीं होते थे। ६६७ ई० में ग्रेगोरी पंचम ने फ्रांस के राजा राबर्ट प्रथम के विरुद्ध फ्रांस पर, १२०७ में इंगलैण्ड के राजा जॉन से रुष्ट होने पर इन्नोसैण्ट तृतीय ने तथा १५८७ में पोप सिक्सटस पंचम ने एलिज़ाबेथ के विरुद्ध इंगलैण्ड पर ऐसी निषेधाज्ञायें लागू की थीं।

(३) पोप के पास किसी राजा के विरुद्ध अन्तिम ब्रह्मास्त्र यह था कि वह उस देश की प्रजा को राजा के प्रति निष्ठा (Allegiance) से मुक्त कर के उसे उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार देता था तथा राजा को पदच्युत कर देता था।

मध्ययुग में पोप के उपर्युक्त अस्त्रों के अतिरिक्त उसे शक्तिशाली बनाने वाले प्रधान तत्त्व निम्नलिखित थे—

(१) **झूठे आज्ञा-पत्र** (False Decretals)—इस समय पोप और चर्च की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन करने के लिए कुछ झूठे प्रमाण गढ़े गये। नवीं शती के मध्य में पोपों की संक्षिप्त आज्ञाओं (Decretals) का तथा आरम्भिक चर्च की परिषदों के निर्णय का एक संग्रह प्रकाशित हुआ। यह सर्वथा झूठी और कपोल कल्पित आज्ञाओं का संकलन था। किन्तु इसे प्रामाणिकता देने के लिए इसके साथ इसिडोर (Isidore) का नाम जोड़ा गया। अतः इन्हें Isidorian या झूठे आज्ञा-पत्र भी कहा जाता है। आधुनिक विद्वानों का यह मत है कि इस जालसाज़ी का आरम्भ रोम में नहीं, किन्तु फ्रांस के लमान्स (Le Mans) के बिशपों के द्वारा हुआ। उनका उद्देश्य यह था कि वे पोप की सत्ता की महत्ता का गुणगान करके फ्रांस के आर्कबिशपों के कठोर नियन्त्रण से मुक्त हो सकें। उनका यह विचार था कि सुदूर रोम में बैठा हुआ पोप उन पर ऐसा नियन्त्रण नहीं रख सकेगा, अतः उन्होंने पोपों की प्रभुता का समर्थन करने के लिए इन प्रमाणों को गढ़ा। मध्यकाल में पोपों की निरंकुश सत्ता के दावे के समर्थन का एक प्रधान आधार ये झूठे आज्ञा-पत्र थे। सर्वप्रथम निकोलस प्रथम ने ८६५ ई० में इन को प्रमाण रूप में उपस्थित किया था। उसके बाद आठ शताब्दियों तक पोप इसे अपने

अधिकारों के समर्थन का पुष्ट प्रमाण मानते रहे। १४३९ ई० में लोरेंज़ो वाल्ला (Lorenzo Valla) ने इस जालसाजी का भण्डाफोड़ दिया, किन्तु फिर भी मध्ययुग में यह पोप की प्रभुता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण समझा जाता रहा।[1]

(२) **कांस्टैण्टाइन का दान** (Donation of Constantine)—रोम तथा इटली पर पोप की राजनीतिक सत्ता को सुदृढ़ एवं पुष्ट करने के लिए तथा पेपिन द्वारा पोप को दिये गये इटली के प्रदेश पर अपनी प्रभुता को प्राचीनकाल से चला जानेवाला सिद्ध करने के लिए आठवीं शताब्दी में यह कहानी गढ़ी गई कि प्रसिद्ध रोमन सम्राट् कांस्टैण्टाइन को एक बार कोढ़ हो गया। डाक्टरों के इलाज से वह ठीक न हो सका। तब रोम का सम्राट् पुराने प्रकृतिपूजक (Pagan) धर्म के पुरोहितों की शरण में गया। पुरोहितों ने उसकी चिकित्सा का उपाय छोटे शिशुओं की हत्या कर उनके रक्त में स्नान करना बताया। इस कार्य के लिए मारे जाने वाले बच्चों की माताओं के विलापाश्रुओं से द्रवित होकर सम्राट् ने यह इलाज नहीं किया। उसी रात को स्वप्न में पीटर ने सम्राट् को दर्शन दिये और रोम के तत्कालीन पोप सिल्वैस्टर (Sylvester) ने उससे प्रायश्चित कराया तथा उसे ईसाई बनाया। कांस्टैण्टाइन ने देखा कि स्वर्ग से एक हाथ उसका स्पर्श कर रहा है। इससे उसका कोढ़ ठीक हो गया। इस पर उसने पीटर के प्रतिनिधि पोप को सर्वोच्च सत्ता देने का निश्चय किया। लैटरन नामक अपने महल में उसने पोप के लिए चर्च बनाया, पोप को अपना राजमुकुट, विशेष प्रकार का किरीट (Tiara) तथा शाही वस्त्र दिये, उसके घोड़े की लगाम थामी और उसने सिल्वैस्टर तथा उसके उत्तराधिकारियों को "रोम, इटली तथा पश्चिम के सभी प्रान्त, जिले और नगर दान में दिये" और यह कहा कि ये सदैव रोमन चर्च के वशवर्त्ती रहेंगे। इसके बाद वह स्वयमेव पूर्व की ओर चला गया क्योंकि 'जहाँ स्वर्गीय सम्राट् ने पोप का शासन स्थापित किया है, वहाँ सांसारिक सम्राट् का (अपनी) सत्ता रखना ठीक नहीं है।'[2]

लम्बार्ड आक्रान्ताओं को इटली से हटाने के लिए पोप की प्रार्थना पर शार्लमेगन ७७४ ई० में जब यहाँ आया और उसने उन्हें हरा दिया तो पोप हेड्रियन ने इस झूठे किस्से वाला लेखपत्र (Document) उसके आगे पेश किया। शार्लमेगन अनपढ़ राजा था, उसने इसे स्वीकार कर लिया। उस समय से इटली में पोप की राजनीतिक प्रभुता की आधारशिला कांस्टैण्टाइन द्वारा चर्च को दिया गया दान समझा जाता रहा है। १४३९ ई० में लोरेंज़ो वाल्ला ने भाषा-संबंधी साक्षी के आधार पर कांस्टैण्टाइन के दान के लेख-पत्र को अकाट्य तर्कों द्वारा जाली और अप्रामाणिक ठहराया, किन्तु मध्ययुग में श्रद्धालु ईसाई इस पर विश्वास करते रहे और यह उसकी लौकिक सत्ता का मुख्य आधार बना रहा।

निकोलस प्रथम द्वारा पोप की प्रभुता दृढ़ करना—इन प्रमाणों के आधार पर पोप की सत्ता को सुदृढ़ करने वाला निकोलस प्रथम (८५८–६७ ई०) था। उसकी तुलना ग्रेगोरी प्रथम तथा सप्तम से की जाती है। उसने पोप के दावों को पुष्ट करने के लिए कहा कि ईसा ने पीटर को चर्च का पहला अध्यक्ष बनाया था, रोम के बिशप

---

१. कैम्ब्रिज मिडीवल हिस्टरी, खं० ५, पृ० ७१०-२।

२. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ४११-१२।

पीटर के उत्तराधिकारी होने से पृथिवी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, सब ईसाइयों पर —चाहे वे राजा हों या रंक—पोप की सर्वोच्च सत्ता है। पोप सब पर शासन का अधिकार रखता है। उसने दो मामलों में हस्तक्षेप करके अपने इस प्रभुत्व को क्रियात्मक रूप से पुष्ट किया। पहला मामला लोरेन के राजा लोथेयर द्वितीय (Lothair II) का था। ८६२ ई० में जब राजा ने अपनी विवाहिता पत्नी को तलाक देकर प्रेमिका वाल्डराडा (Waldrada) से शादी करनी चाही तो उस राज्य के मुख्य धर्माधिकारियों (Prelates) ने राजा को प्रसन्न करने के लिए उसकी बात मान ली। इस पर रानी ने पोप निकोलस से अपील की। उसने इस मामले की जाँच के लिए अपने प्रतिनिधि माइन्त्स (Mainz) भेजे। लोथेयर ने रानी से तलाक का निर्णय प्राप्त करने के लिए इन्हें खूब घूंस दी। इन्होंने राजा के पक्ष में निर्णय दिया। किन्तु जब पोप को इसका रहस्य ज्ञात हुआ तो उसने अपने प्रतिनिधियों को चर्च से बहिष्कृत करते हुए राजा को प्रेमिका के परित्याग करने तथा रानी को ग्रहण करने का आदेश दिया। इस पर रुष्ट होकर लोथेयर ने सेना लेकर रोम पर चढ़ाई की। पोप सैण्ट पीटर के गिर्जे में ४८ घण्टे तक अपनी पूजा और व्रत में रत रहा। इस पर लोथेयर हिम्मत हार गया और उसने पोप की बात मान ली। दूसरा मामला रीम्ज़ के आर्क बिशप हिंकमार (Hincmar) का था। उसने एक बिशप राथेराड (Ratherad) को पदच्युत किया था। इसने पोप से अपील की, पोप ने इसे अपने पद पर स्थापित करने को कहा। इस पर जब हिंकमार ने ननुनच की तो पोप ने उसके प्रदेश पर धार्मिक कार्यों की निषेधाज्ञा (Interdict) लागू करने की धमकी दी, इसपर हिंकमार को झुकना पड़ा। इस प्रकार उसने योरोप के राजाओं तथा बिशपों पर समान रूप से अपनी प्रभुता स्थापित की।

चर्च की आन्तरिक बुराइयाँ तथा इनका सुधार—किन्तु निकोलस के आँख मूंदते ही आन्तरिक बुराइयों के कारण रोमन चर्च की स्थिति बड़ी निर्बल हो गयी। ये बुराइयाँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की थीं—(१) पोपों के निर्वाचन की दूषित प्रणाली तथा घोर भ्रष्टाचार, (२) चर्च के पदों का क्रय-विक्रय (Simony), (३) चर्च के पादरियों द्वारा विवाह करना और इसके दुष्परिणाम। उन दिनों रोम के कुलीन परिवार पोप का निर्वाचन करते थे। कैथोलिक इतिहास के पिता कहे जाने वाले कार्डिनल बैरोनियस ने पोपों के इतिहास में ९०० से ९६४ ई० तक के काल को 'गणिका शासन' (Rule of Whores) का युग कहा है, क्योंकि इस समय रोम के पोपों का चुनाव उच्च कुल की एक भ्रष्टचरित्रा स्त्री थियोडोरा तथा उसकी पुत्रियों—मारोज़िया तथा थियोडोरा के हाथ में था। इन्होंने पहले मारोज़िया के प्रेमी को सर्जियस तृतीय (९०४–९११ ई०) के नाम से पोप बनवाया और बाद में बड़ी थियोडोरा का प्रेमी जॉन दशम (९१४–९२८) पोप की गद्दी पर बैठा। थियोडोरा की मृत्यु पर उसकी बेटी मारोज़िया ने इस पोप की तथा उसके समर्थकों की हत्या करवायी और स्वयं रोम की शासिका बनी, अपने हाथ के दो कठपुतली पोपों के बाद उसने अपने बेटे जॉन एकादश (९३१–९३६) को पोप बनाया, पति की हत्या की। बाद में बेटे ने माता के विरुद्ध विद्रोह करके उसकी हत्या की। उसके बाद उसका बेटा जॉन द्वादश (९५५–९६४) के नाम से १६ वर्ष की आयु में पोप बना और जब उसने धर्मगुरु होते

हुए एक रोमन कुलीन पुरुष की पत्नी के साथ बलात्कार किया तो उसने पोप को बुरी तरह पीट कर मार डाला ! "इसने अपने पतित जीवन से पोपों के अध:पतन को चरम सीमा तक पहुँचाया।"[1] जॉन द्वादश तथा अन्य दो पोपों के बाद थियोडोरा परिवार की एक बिशप से उत्पन्न अवैध सन्तान जॉन त्रयोदश (९६५–९७२) के नाम से पोप की गद्दी पर आसीन हुई। इसने अपने सात वर्ष के शासन में यह सिद्ध कर दिया कि ऐसी कोई बुराई नहीं है, जिसमें पोप प्रवीण नहीं है।[2] अन्त में इसकी भी हत्या करके इसका शव गन्दे नाले में डाल दिया गया। ३०० ई० से १६५० ई० तक होने वाले २०० पोपों में से आधे से अधिक भ्रष्टाचारी और पतित आचार द्वारा पोप के पद को कलंकित करने वाले थे।[3]

दूसरी बुराई चर्च के पदों के क्रय-विक्रय (Simony) की थी।[4] उन दिनों चर्च के पास विशाल भूसम्पत्ति थी। पादरी साधारण जनता को यह उपदेश देते थे कि चर्च को अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश दान न करने वाला व्यक्ति आत्महत्या का अपराधी होता है। ऐसा दान न करने वाले का अन्तिम संस्कार नहीं किया जाता था। बिना वसीयत के मरने वालों की सम्पत्ति चर्च द्वारा हथिया ली जाती थी। इन सब कारणों से १२वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैण्ड में आधी भूमि तथा अन्य योरोपियन देशों में आधी से अधिक भूमि चर्च के पास थी। चर्च का जीवन बड़ा आनन्दमय था। इसके विभिन्न पद प्राप्त करने के लिए व्यक्ति लालायित रहते थे और मूल्य देकर इन पदों को खरीदा करते थे। कई बार बुरे व्यक्तियों को चर्च के पदों से हटाने के लिए उन्हें बड़ी धनराशि दी जाती थी। उदाहरणार्थ, पोप-प्रथा का सुधार चाहने वाले दल को अपने १३ वर्ष के शासन काल को बलात्कारों, हत्याओं तथा अन्य अवर्णनीय कार्यों से कलंकित बनाने वाले बेनीडिक्ट नवम ने रुपये की तंगी से अपना पद २००० पौण्ड सोना लेकर बेच दिया था (मैकेब–पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५१२)। १०५९ ई० में मीलान शहर में पीटर डेमियन ने यह दशा पायी थी कि आर्क बिशप से लेकर नीचे तक के सभी धार्मिक पदों को पादरियों ने खरीदा था। सिल्वैस्टर द्वितीय ने बिशपों को खुल्लमखुल्ला यह कहा था कि मैंने सोना दिया है और यह पद प्राप्त किया है। "मैं जब किसी व्यक्ति को पुरोहित बनाता हूँ, तो उससे सोना पाता हूँ। मैं जब किसी को डीकन (Deacon) बनाता हूँ तो उससे चाँदी पाता हूँ। देखिए, मैंने जिस सोने को एक बार दिया था, वह फिर मेरी थैली में आ गया है।"[5] उन दिनों सामन्त-पद्धति में प्रधान भूमिपति होने के कारण राजा अपने प्रदेश के

---

१. कैम्ब्रिज मिडीवल हिस्टरी, खं० ३, पृ० ४५५।

२. जोसेफ मैकेब—ए रैशनलिस्ट इंसाइक्लोपीडिया, पृ० ५११-२।

३. वही, पृ० ४२९-३०।

४. बाइबल (एक्ट्स ८।९–२४) के कथनानुसार साइमन मेगस एक जादूगर था। उसे पीटर ने इस बात के लिए डाँटा था कि वह धन देकर पवित्रात्मा (Holy Ghost) को देने की शक्ति खरीदना चाहता था। उस समय से पवित्र वस्तुओं तथा चर्च के पदों के क्रय-विक्रय के लिए उसके नाम से साइमनी शब्द का व्यवहार होने लगा।

५. कैम्ब्रिज मिडीवल हिस्टरी, खं० ५, अध्याय १०। १०१६ ई० में एक दस वर्ष के बच्चे को १ लाख सोलिडी मुद्रा देने पर नारबोन (फ्रांस) में आर्क बिशप बना दिया गया। फ्रांस

बिशपों के पद बेच कर खूब रुपया कमाया करते थे और यह उनकी आय का एक प्रधान स्रोत था।

यह व्यवस्था चर्च के लिए कई कारणों से घातक थी और इसमें कई बड़े खतरे थे। यह चर्च में आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता को बढ़ावा दे रही थी, उसमें धर्मात्मा और सच्चरित्र व्यक्तियों का स्थान धनी और दुराचारी ले रहे थे। दूसरा खतरा यह था कि चर्च की भू-सम्पत्ति पर अन्तिम अधिकार राजा का होने से बिशप आदि के उच्च पदों पर व्यक्तियों की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, चर्च पर उनका प्रभाव बढ़ रहा था। तीसरा खतरा यह था कि विवाहित पादरी चर्च की सम्पत्ति अपने बेटों को देने का प्रयत्न करते थे। यद्यपि पाँचवीं शताब्दी से पादरियों के लिए अविवाहित रहना उत्तम समझा जाता था, तथापि अभी तक पादरियों के लिए यह व्यवस्था अनिवार्य नहीं हुई थी। ये सब खतरे चर्च के मौलिक सिद्धान्तों पर कुठाराघात करने वाले थे। चौथा खतरा १०वीं-११वीं शताब्दी तक पोप के चुनाव का रोमवासी कुलीनों के हाथ में होना था, इस चुनाव के कोई निश्चित नियम नहीं थे और इन चुनावों के समय उग्र दल-बन्दियाँ, दगे, क्रूरतापूर्ण हिंसाकार्य और भ्रष्टाचार होता था। पोपों की कोई प्रतिष्ठा नहीं थी, इन्हें भगाया और बंदी बनाया जाता था, इनकी हत्या की जाती थी और इन्हें विष दिया जाता था।

चर्च के इन संकटों और बुराइयों के विरुद्ध सर्वप्रथम ११वीं शताब्दी में फ्रांस की बर्गण्डी डची में अवस्थित क्लनी (Cluny) के भिक्षुओं ने प्रबल सुधार आन्दोलन आरम्भ किया। इस समय इन्होंने निम्नलिखित बातों पर बल दिया—(१) चर्च के पदाधिकारियों का आचार शुद्ध हो और वे ब्रह्मचर्य का जीवन बितायें। (२) चर्च के पदों पर योग्य व्यक्ति नियत किये जायं, इनकी नियुक्ति चर्च और पोप द्वारा हो, राजा द्वारा न हो। (३) चर्च के पदों का क्रय-विक्रय बन्द कर दिया जाय। (४) पोप का चुनाव रोम के कुलीन परिवारों द्वारा नहीं, किन्तु रोम के बिशपों, पुरोहितों तथा डीकनों द्वारा हो। पोप का निर्वाचन करने वाले इन व्यक्तियों का समूह College of Cardinals कहलाता है।

इन सुधारों से चर्च में नवीन शक्ति का संचार हुआ। वह अपनी शक्ति को सर्वोच्च मानने लगा, अपने को स्वाधीन बनाने लगा और राजाओं से उसका संघर्ष आरम्भ हुआ। अगले अध्याय में चर्च और राज्य के इस संघर्ष पर प्रकाश डाला जायगा।

साम्राज्य का विचार—पहले (पृ० २३६) पवित्र रोमन साम्राज्य के प्रादुर्भाव का परिचय दिया जा चुका है। इसने भी मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन पर गहरा

के फिलिप प्रथम ने बिशप पद पाने के प्रयत्न में एक विफल उम्मीदवार को सान्त्वना देते हुए कहा था, "इस समय मुझे तुम अपने प्रतिद्वन्द्वी से मुनाफा कमाने दो, इसके बाद तुम यह प्रयत्न करो कि इस पद को खरीदने के लिए उसकी पदावनति हो, तब हम तुम्हें सन्तुष्ट करने का यत्न करेंगे।" १०४८ ई० के लगभग एक जर्मन कार्डिनल ने लिखा था कि पुष्कल द्रव्यराशि का व्यय करके चर्च के पद पाने वाले व्यक्ति इस राशि की पूर्त्ति के लिए चर्च का सामान, यहाँ तक कि छत की टाइलें भी बेच डालते थे (विल ड्यूरैंट—एज ऑफ फेथ, पृ० ५४१)।

प्रभाव डाला, अतः इसका परिचय आवश्यक है। शार्लमेगन का पवित्र रोमन साम्राज्य तो ८१४ ई० में उसकी मृत्यु के साथ विघटित हो गया, किन्तु उसका पद और साम्राज्य का विचार बना रहा। दसवीं शताब्दी में इटली की अराजकता का अन्त करने के लिए पोप जॉन द्वादश ने जर्मन राजा ओटो प्रथम (Otto I) को बुलाया (९५९ ई०), तथा उसे पवित्र रोमन सम्राट् बनने का प्रलोभन दिया। ओटो ने निमन्त्रण स्वीकार करके इटली पर चढ़ाई की तथा ९६२ ई० में पोप जॉन द्वादश ने उसका पवित्र रोमन सम्राट् के रूप में अभिषेक किया। ओटो ने इटली को जीत कर पोप का प्रभुत्व केवल रोम की डची तथा सैबाइन प्रदेश पर रहने दिया, किन्तु केन्द्रीय तथा उत्तरी इटली अपने साम्राज्य में मिला लिया। इसी समय से जर्मन सम्राट् इटली को अपना प्रदेश समझने लगे, पोपों के चुनाव में गहरी दिलचस्पी लेने लगे तथा पोप यह मानने लगे कि कोई व्यक्ति उनसे अभिषेक कराये बिना पवित्र रोमन सम्राट् नहीं बन सकता।

९६२ ई० से पवित्र रोमन साम्राज्य का वास्तविक आरम्भ समझा जाता है। ओटो को यह दृढ़ विश्वास था कि वह रोम के पुराने सीज़र सम्राटों का उत्तराधिकारी है। पोपों का यह विचार था कि केवल वही अभिषेक द्वारा किसी व्यक्ति को रोमन सम्राट् बना सकते हैं। इस समय सब ईसाई 'रहस्यात्मक द्वित्व' (Mystic dualism) में विश्वास रखते थे और द्वैध शासन में रहते थे। पोप भूतल पर आध्यात्मिक विषयों में तथा सम्राट् लौकिक विषयों में भगवान् का प्रतिनिधि था। प्रत्येक को अपने क्षेत्र में सार्वभौम प्रभुत्व था, दोनों के क्षेत्र बँटे हुए थे तथा दोनों एक-दूसरे के लिए आवश्यक और सहायक समझे जाते थे।

किन्तु शीघ्र ही दोनों में उग्र मतभेद और संघर्ष उत्पन्न हो गये। पोपों की तथा चर्च की तत्कालीन घोर अनैतिकता और भ्रष्टाचार का संशोधन करना सम्राट् अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे और पोपों को उनका धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप अवांछनीय और असह्य प्रतीत होता था। ओटो प्रथम के समय से जर्मन सम्राट् पोपों के निर्वाचन में और अयोग्य पोपों के निष्कासन में गहरी दिलचस्पी लेते रहे। ओटो प्रथम को जब यह ज्ञात हुआ कि उसका ९६२ ई० में रोमन सम्राट् के रूप में अभिषेक करने वाला पोप जॉन द्वादश भ्रष्टचरित्र व्यक्ति है तो उसने एक धार्मिक परिषद् में उस पर अभियोग चलवाया। इसमें जॉन पर यह आरोप लगाया कि उसने लोगों को बिशप बनाने के लिए घूँस ली है, दस वर्ष के लड़के को बिशप बनाया है, अपने पिता की रखैल के साथ तथा उसकी विधवा स्त्री के साथ समागम का पाप किया है[1] तथा पोप के महल को चकले में परिणत किया है। धार्मिक परिषद् ने उसे पदच्युत करते हुए ओटो के उम्मीदवार को लिओ अष्टम (९५३–६५) के नाम से पोप चुना। किन्तु ओटो के जर्मनी वापिस लौटने पर जॉन ने सम्राट् के समर्थकों को हटाकर पोप की गद्दी पर पुनः अधिकार कर लिया। ९६४ ई० में उसकी मृत्यु पर रोमन लोगों ने ओटो के उम्मीदवार लिओ की उपेक्षा करते हुए बेनीडिक्ट को पोप बनाया। इस पर ओटो जर्मनी से इटली आया और उसने बेनीडिक्ट के स्थान पर लिओ को पोप बनाया। लिओ ने यह स्वीकार किया कि पोप बनने के लिए जर्मन सम्राट् की सहमति और स्वीकृति आवश्यक है।

---

१. विल ड्यूरैण्ट—दी एज ऑफ फेथ, पृ० ५३८-३९।

किन्तु जर्मन सम्राट् के दूर स्थित होने के कारण पोप का चुनाव रोम में परस्पर संघर्ष करने वाले कुलीन परिवारों द्वारा होता रहा। हेनरी तृतीय (१०३९–५६) के समय पोपों की दशा बड़ी शोचनीय हो गयी। इस समय पोप पद के लिए तीन उम्मीदवार थे और सभी भ्रष्टाचारी थे। धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति होने से हेनरी तृतीय अपना यह कर्त्तव्य समझता था कि वह इस शोचनीय दशा का अन्त करे। उसने रोम पर चढ़ाई की, १०४६ ई० में सूतरी में एक धर्मसम्मेलन (Synod of Sutri) बुलाया। इसने तीनों पोपों को पदच्युत करते हुए इनके स्थान पर एक जर्मन व्यक्ति क्लीमैण्ट द्वितीय (१०४६-४७) को पोप बनाया। हेनरी के इस कार्य की न केवल रोमन सरदारों ने, अपितु उच्च धार्मिक व्यक्तियों ने कड़ी आलोचना की। लीज (Liege) के बिशप वाज़ो (Wazo) ने लिखा कि सम्राट् ने घोर अन्याय किया है क्योंकि "ईश्वरीय तथा मानवीय दोनों कानूनों के अनुसार उच्चतम बिशप (पोप) के संबंध में भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति निर्णय नहीं कर सकता"।[१] किन्तु उस समय ऐसे सुधारवादी भी थे, जो सम्राट् के कार्य को सर्वथा न्यायपूर्ण समझते थे। पीटर डेमियन (Peter Demian) ने लिखा था कि भगवान् के बाद हेनरी तृतीय ने "कभी तृप्त न होने वाले अजगर के जबड़ों से हमारा उद्धार किया है।"[२] वस्तुतः हेनरी के प्रयत्न से चर्च में सुधार का आन्दोलन प्रबल हुआ। पोप लिओ नवम (१०४८–५४) ने चर्च में धार्मिक पदों के क्रय-विक्रय (Simony) को बन्द करने का भगीरथ प्रयास किया, रोम से रीम्ज़ (Reims) की यात्रा करके चर्च के बड़े पादरियों और बिशपों से इस विषय में उनके अपराध स्वीकार कराये। इस समय सम्राट् और पोप के संबंध प्रीतिपूर्ण बने रहे और पोप सम्राट् का वशवर्त्ती बना रहा।

किन्तु रोम वाले पोप को जर्मन सम्राट् के प्रभाव से मुक्त और स्वाधीन बनाना चाहते थे। १०५६ ई० में हेनरी तृतीय की मृत्यु पर उन्हें इसका स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। इस समय उसका पुत्र हेनरी चतुर्थ छः वर्ष का था, उसकी माता सम्राज्ञी एग्नेस (Agnes) उसकी संरक्षिका (Regent) बनी। मध्ययुग में स्त्री के शासन में रहना निर्बलता का चिह्न समझा जाता था, अतः १०५७ ई० में हेनरी तृतीय द्वारा समर्थित पोप की मृत्यु होने पर रोम की जनता और पादरियों ने संरक्षिका से सहमति लिए बिना साम्राज्य के एक प्रबल विरोधी और विद्रोही फ्रेडरिक को पोप चुन लिया। इसने स्टीफन नवम का नाम ग्रहण किया तथा अपने चुनाव पर सहमति लेने के लिए एक दूतमंडल रानी के पास जर्मनी भेजा। रानी ने इसे स्वीकृति प्रदान करते हुए ओटो प्रथम और हेनरी तृतीय की यह पुरानी परम्परा तोड़ दी कि पोप बनने वाला व्यक्ति पहले सम्राट् से नामज़द हो और बाद में उसका चुनाव हो।

इससे रोम वालों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। अगले पोप निकोलस द्वितीय (१०५८–६१) ने १०५९ में यह घोषणा की कि भविष्य में पोप "रोम की जनता तथा पादरियों द्वारा नहीं, किन्तु कार्डिनल बिशपों द्वारा अर्थात् रोम के चर्चों के पादरियों द्वारा

---

१. डेविस—ए हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० २३३।
२. वही, पृ० २३३।

चुने जायेंगे।" आज तक पोप इसी विधि से चुने जाते हैं, यद्यपि उन्हें चुनने वाले कार्डिनल दूसरे देशों में रहते हैं तथापि उन्हें रोम के चर्चों में नाममात्र की स्थिति प्रदान की जाती है, ताकि वे इस चुनाव में भाग ले सकें। निकोलस की इस घोषणा से पोप का चुनाव न केवल रोम की जनता तथा कुलीन परिवारों के हाथ से निकल गया, अपितु अब इस पर सम्राट् का भी कोई नियन्त्रण नहीं रहा। इसमें पोप के सम्राट् द्वारा नामजद होने या उसके संबंध में परामर्श लेने का कोई उल्लेख नहीं था। जब निकोलस ने यह आज्ञा संरक्षिका के पास भेजी तो उसने इसे अस्वीकार किया तथा इसे रद्द करने के लिए जर्मन बिशपों की परिषद् बुलाई।

निकोलस की यह आज्ञा सम्राट् के प्रति शत्रुतापूर्ण कार्य था, अतः उसने अपनी रक्षा के लिए मित्रों की खोज आरम्भ करते हुए पोपों की विदेश नीति का श्रीगणेश किया। उत्तर में, सम्राट् के प्रतिस्पर्धी फ्रांस के राजा फिलिप प्रथम को तथा टस्कनी के गाडफ्रे (Godfrey) को पोप ने अपना मित्र बनाया और दक्षिणी इटली में नार्मन लोगों से मैत्री की, २३ अगस्त १०५९ को इनके नेता राबर्ट गिस्कार्ड (Robert Guiscard) से मिल कर यह समझौता किया कि वह पोप का वशवर्त्ती होगा, सम्राट् से उसकी रक्षा करेगा और इसके बदले पोप ने उसे ड्यूक बनाना तथा कैलेब्रिया (Calabria) तथा एपुलिया (Apulia) के प्रदेश देना स्वीकार किया। उसका यह कार्य सम्राट् की स्पष्ट अवहेलना थी क्योंकि उस समय इटली जर्मन साम्राज्य का अंग था और पोप को उसका कोई प्रदेश किसी व्यक्ति को देने का अधिकार न था। इस से सम्राट् में तथा पोप में खुले संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। यह संघर्ष ग्रेगोरी सप्तम (१०७३–८५) के समय पराकाष्ठा पर पहुँचा, अगले अध्याय में इसका वर्णन होगा।

राष्ट्रीयता की भावना का विकास—मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाला एक बड़ा तत्त्व राष्ट्रीय राज्यों का तथा राष्ट्रीयता की भावना के विकास का था। इस समय रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में बोली जाने वाली लैटिन की उपभाषायें फ्रेंच, स्पेनिश, इटालियन आदि का रूप धारण कर रही थीं। जर्मन बोलियों से भी इंगलिश, जर्मन, डेनिश आदि भाषायें विकसित हो रही थीं। शक्तिशाली सरदार विजय, विवाह और उत्तराधिकार द्वारा विभिन्न भाषा-क्षेत्रों की सीमाओं में शक्तिशाली राज्य स्थापित कर रहे थे। भाषा और संस्कृति की दृष्टि से सादृश्य रखने वाले प्रदेशों में एक प्रबल राजनीतिक शासन की स्थापना द्वारा राष्ट्रीय राज्यों का अभ्युत्थान हो रहा था। १३०० ई० तक इङ्गलैण्ड और फ्रांस में प्रबल राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो चुके थे और इन्होंने पोप की सत्ता को चुनौती देनी शुरू की। इंगलैण्ड का एडवर्ड प्रथम (१२७२–१३०७ ई०) तथा फ्रांस का फिलिप फेयर इसी प्रकार के राजा थे। यद्यपि इसका पद पवित्र रोमन सम्राट् जैसा गौरवास्पद नहीं था, किन्तु जनता का समर्थन प्राप्त होने से ये पोप का विरोध अधिक सफलता के साथ कर सके। इन देशों की जनता रोम के चर्च को विदेशी समझती थी और रोमन चर्च के लिए वसूल किये जाने वाले टैक्स से परेशान थी, प्रतिवर्ष पीटरपेन्स के धार्मिक कर के रूप में रोम भेजी जाने वाली विशाल धनराशि को बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देखती थी। जनता का समर्थन होने के कारण राष्ट्रीय राज्यों के राजा पोप के ब्रह्मास्त्रों चर्च-बहिष्कार (Excommuniecati), निषेधाज्ञा (Interdict) आदि का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करने लगे।

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन की सामान्य विशेषतायें तथा प्रमुख देनें— उपर्युक्त विवरण के आधार पर इस काल के राजनीतिक विचार की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) **चर्च की सर्वोच्च सत्ता** (Supremacy of the Church)—मध्ययुग में चर्च का यह दावा था कि रोम का पोप ईसा और पीटर का उत्तराधिकारी होने से न केवल धार्मिक मामलों में सर्वोच्च शक्ति रखता है, किन्तु राजनीतिक और लौकिक क्षेत्र में भी राजाओं को दण्डित तथा पदच्युत करने का अधिकार रखता है। ३ या ४ मार्च १०७५ को पोप ग्रेगोरी सप्तम ने अपने सुप्रसिद्ध लेख Dictatus Papae के २७ वाक्यों में निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—(क) रोमन चर्च की स्थापना भगवान् द्वारा हुई थी। (ख) पोप की आज्ञा के बिना चर्च की कोई परिषद् नहीं बुलायी जा सकती। (ग) रोमन चर्च ने कभी कोई गलती नहीं की और वह कभी कोई गलती नहीं करेगा। (घ) पोप के कार्यों पर कोई अन्य व्यक्ति विचार नहीं कर सकता। (ङ) केवल पोप को ही बिशपों को पदच्युत करने का अधिकार है। (च) पोप सम्राटों को सिंहासनच्युत कर सकता है।[1] ग्रेगोरी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि पोप राजाओं को नियन्त्रित करने वाली सर्वोच्च शक्ति का दावा करता था।

पोप और उनके समर्थक अपने इस दावे की पुष्टि दो तलवारों के सिद्धान्त से (देखिये ऊपर, पृ० २५२) तथा कांस्टैण्टाइन के दानपत्र (Donation of Constantine, पृ० २७३) के आधार करते थे। उनका कथन था कि सम्राट् कांस्टैण्टाइन ने राजधानी परिवर्तित करते हुए अपने पश्चिमी साम्राज्य का दान रोम के तत्कालीन पोप सिल्वैस्टर को कर दिया था। अत: पोप को यहाँ राजनीतिक शासन के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। मध्ययुग में राजनीतिक चिन्तन का प्रधान प्रश्न पोप के दावों का समर्थन या खण्डन था। उस समय यह प्रश्न इतना विवादग्रस्त था कि १०५२ से ११२२ ई० के बीच की शताब्दी में पोप की सर्वोच्च सत्ता के दावे के मण्डन तथा खण्डन में ११५ पुस्तिकायें लिखी गईं। किन्तु इन विवादों के होते हुए भी ११वीं से १४वीं शताब्दी तक योरोप में पोप की सर्वोच्च शक्ति बनी रही।

(२) **सार्वभौमता** (Universalism) **या सम्पूर्ण मानव समाज को एक इकाई समझना**—मध्ययुग के राजनीतिक विचार की एक प्रमुख विशेषता ईसाइयत के सिद्धान्तों को पालन करने वाले सार्वभौम समाज (Universal society) की कल्पना थी, गीर्के ने मध्यकालीन सार्वभौम समाज का चित्रण करते हुए लिखा है[2] : "मध्ययुग की सभी शताब्दियों में ईसाई जनता (Christendom) को मानव जाति से अभिन्न एक सार्वभौम समाज के रूप में माना जाता रहा। इसकी स्थापना और शासन भगवान् द्वारा होता है। मानवजाति एक रहस्यात्मक शरीर (Mystical body) रखती है। यह एक है। सब मनुष्यों को अपने में सम्मिलित करने वाला यह निगम या निकाय (Corporation) धार्मिक तथा लौकिक सार्वभौम साम्राज्य का निर्माण करता है। इसे

---

१. डेविस—ए हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० १४४।

२. गीर्के—पोलिटिकल थियोरीज़ ऑफ दी मिडल एज (मेटलैण्ड का अनुवाद, कैम्ब्रिज १९००), पृ० १०।

सार्वभौम चर्च (Ecclesia Universalis) तथा मानव जाति का राज्य (Respublica generis humani) कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें एक ही कानून (Lex) तथा एक ही सरकार (Unicus principatus) हो"। इस एक मानव समुदाय के जीवन की दो संगठित व्यवस्थायें हैं— धार्मिक जीवन और राजनीतिक जीवन। इनका प्रतिनिधित्व करने वाले चर्च और राज्य दो पृथक् सत्तायें नहीं, किन्तु एक ही सिक्के के दो पार्श्व हैं, एक वस्तु के दो तत्त्व हैं।

उस समय समूचा ईसाई जगत् एक ईसाई राज्य (Respublica Christiana) समझा जाता था, क्योंकि तत्कालीन विचारक समस्त विश्व को एक इकाई मानते थे, एक ईश्वर को इसका मूल स्रोत समझते थे। आजकल राज्य की नागरिकता और चर्च की सदस्यता सर्वथा पृथक् और भिन्न समझी जाती है, उस समय इनमें कोई भेद नहीं था। मध्ययुग में चर्च का सामान्य जीवन पर इतना अधिक प्रभाव था कि चर्च से पृथक् होते ही व्यक्ति अपने कानूनी और राजनीतिक अधिकार खो बैठता था। आजकल जिस प्रकार राज्यहीन व्यक्ति निराश्रित और निरवलम्ब होता है, उस समय यह स्थिति चर्च से बहिष्कृत व्यक्ति की थी। इस समय जो महत्त्व राज्य की नागरिकता को प्राप्त है, उस समय वह चर्च का सदस्य होने का था। सब अधिकार और सुविधायें इसी से प्राप्त होती थीं। चर्च जनता के जीवन पर इतना हावी था कि फिग्गिस के शब्दों में "उस समय चर्च ही राज्य था और लौकिक सत्ता (Secular authority) चर्च का पुलिस-विभाग मात्र था।"[१] चर्च आजकल राज्य द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य करता था — विवाह, व्यापार, विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण उसके हाथ में था। उसने जीवन के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक आदि सभी क्षेत्रों में ईसाइयत के सिद्धान्त लागू कर इन्हें एक सूत्र में पिरोने का यत्न किया। विभिन्न देशों, जातियों के व्यक्तियों पर ईसाइयत ने एक जैसी धार्मिक और कानूनी व्यवस्था लागू करके उन्हें एक सार्वभौम समाज का अंग बनाया और एकत्व के सिद्धान्त पर बल दिया।

(३) **राजतन्त्र का महत्त्व**—मध्यकाल में एकत्व के सिद्धान्त पर बड़ा बल दिया जाता था, अतः चर्च और राज्य में राजतन्त्र की प्रणाली को सर्वोत्तम माना जाता था। गीर्के (Gierke) ने लिखा है कि "मध्ययुगीन विचारक यह मानते थे कि सामाजिक संगठन का मूलतत्त्व एकता है और यह शासन करने वाले अंग में होनी चाहिए और यह उद्देश्य तभी अच्छी तरह पूरा हो सकता है, जब शासक अंग स्वयमेव एक इकाई तथा परिणामतः एक व्यक्ति हो।"[२] दांते ने भी यह मत प्रकट किया था कि राजनीतिक जीवन को एक सूत्र में पिरोने वाला तत्त्व इच्छा (Will) है और इच्छाओं में एकता स्थापित करने के लिए एक व्यक्ति का शासन सर्वोत्तम है। अतः राजनीतिक क्षेत्र में राजा का तथा धार्मिक क्षेत्र में पोप का शासन होना चाहिए। राजा इस पृथिवी पर भगवान् का प्रतिनिधि होकर शासन करता है, अतः उसे भगवान् का अंश समझना चाहिए।

(४) **राजसत्ता पर प्रतिबन्ध**—राजा को देवता का अंश मानते हुए भी उसे

---

१. जे० एन० फिग्गिस—फ्राम गर्सोन टू ग्रोशियस, पृ० ५।

२. गीर्के—पोलिटिकल थियोरीज़ ऑफ दी मिडल एजेस (मेटलैण्ड का अनुवाद), पृ० ३१-३।

शासन के निरंकुश अधिकार नहीं थे, उस पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। इनके कारण उसके अधिकार सीमित (Limited) थे। पहले (पृ० २६७–६) इन प्रतिबन्धों का उल्लेख किया जा चुका है। **पहला** प्रतिबन्ध राज्याभिषेक के समय की जाने वाली प्रतिज्ञा होती थी (देखिये ऊपर, पृ० २६७)। **दूसरा** प्रतिबन्ध यह सिद्धान्त था कि राजा का अधिकार और कर्त्तव्य कानून बनाना नहीं है, किन्तु इसकी उद्घोषणा करना है।[1] राजा प्राचीन परम्परागत रिवाजों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। जनसाधारण में प्रचलित रिवाज कामन लॉ (Common Law) कहलाते थे, वह इनका पता लगाने के लिए योग्य व्यक्तियों को नियत करता था। विलियम ने इंगलैण्ड जीतने पर चौथे वर्ष पुराने रिवाजों का पता लगाने के लिए १२ व्यक्तियों को नियुक्त किया था। राजा जनता द्वारा चुने गये (Quas vulgus elegerit) इन रिवाजों या कानूनों के अनुसार शासन करने को बाध्य था। पहले (पृ० २६८) इस विषय के कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं। उस समय राजा को स्वतंत्र रूप से कानून बनाने का कोई अधिकार न था। इंगलैण्ड में वह लार्ड सभा तथा कामन्स सभा के सदस्यों के परामर्श से ही कानून बना सकता था। फ्रांस में राजा का कोई आदेश तब तक वैध नहीं समझा जाता था, जब तक न्यायालय (Parlement) उसे अपने रजिस्टर में न दर्ज कर ले। यदि न्यायालयों को राजा के किन्हीं आदेशों पर आपत्ति होती थी तो वे उसका पंजीकरण नहीं करते थे और राजा को इनमें संशोधन करना पड़ता था। यद्यपि राजा अपने पत्रों अथवा मौखिक आदेशों द्वारा कई बार न्यायालयों को अपने कानून स्वीकार करने की प्रेरणा करता था तथापि न्यायालयों के आरम्भिक इतिहास लेखक बर्नार्ड (Bernard de la Roche-Flavin) ने ऐसे अनेक दृष्टान्त दिये हैं, जिनमें राजा के आदेश की उपेक्षा की गयी थी।[2] **तीसरा** प्रतिबन्ध यह था कि तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था के कारण संविदा (Contract) का सिद्धान्त सर्वमान्य था, इसके अनुसार प्रजा के कुछ मौलिक साम्पत्तिक अधिकार माने जाते थे। इनकी अवहेलना करने वाले किसी भी राजकीय आदेश का उल्लंघन प्रजा कर सकती थी, ऐसा आदेश जारी करने वाले राजा के प्रति अपनी निष्ठा को हटा सकती थी और उसके विरुद्ध कानूनी तौर से विद्रोह कर सकती थी। १४वीं शताब्दी के आरम्भ में पेरिसवासी जॉन (John of Paris) ने यह घोषणा की थी कि न तो पोप को और न ही राजा को यह अधिकार है कि वह अपनी प्रजा के सामान को उसकी सहमति के बिना उससे ले सके।[3] इन सब प्रतिबन्धों के आधार पर मैकिलवेन ने यह सत्य ही लिखा है कि मध्यकालीन राजा यद्यपि पूर्ण (Absolute) सत्ता रखता था, किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं (Irresponsible) था, फिर भी उसके अधिकार सीमित (Limited) थे। वह एक निश्चित क्षेत्र में पूर्ण अधिकार रखता था, किन्तु उसका अतिक्रमण करते ही अत्याचारी शासक (Tyrant) बन जाता था और प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह का पूरा अधिकार था।

---

१. मैकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० १८६।

२. वही, पृ० ३६६-७।

३. वही, पृ० ३६७।

(५) **प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का सिद्धान्त**— मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन में यद्यपि राजतन्त्र की प्रधानता थी तथापि उसमें प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के बीज विद्यमान थे। चर्च में पोप को सर्वोच्च माना जाता था, फिर भी उसकी प्रभुसत्ता पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध थे। पहला पोप के चुनाव का था, इसमें रोम के विभिन्न चर्चों के प्रतिनिधियों का समूह (College of Cardinals) पोप का निर्वाचन करता था, इसमें प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था। दूसरा प्रतिबन्ध यह था कि सैद्धान्तिक विषयों में समूचे चर्च के प्रतिनिधियों की परिषद् को निर्भ्रान्त माना जाता था, यह पोप को पदच्युत कर सकती थी और विभिन्न विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय कर सकती थी। मारसिलियो (Marsiglio) ने चर्च की परिषद् का संगठन प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के आधार पर माना था। उसका यह मत था कि इस परिषद् में प्रत्येक प्रान्त से वहाँ के निवासियों की संख्या तथा गुणों के आधार पर प्रतिनिधियों को आना चाहिए। वह पोप को चर्च की परिषद् का वशवर्त्ती मानता था। ओकमवासी विलियम (William of Occam) ने यह मत रखा था कि चर्च अपने संविधान का निश्चय कर सकता है तथा पोप द्वारा शासन की प्रणाली में परिवर्त्तन करने में समर्थ है। कूसा-वासी निकोलस (Nicholas of Cusa) का यह मत था कि चर्च की सामान्य परिषद् (General Council) समूचे चर्च की प्रतिनिधि है, पोप से ऊँचा स्थान रखती है, पोप इसका सेवक है और इसके नियमों से बँधा हुआ है। राजनीतिक संगठन के संबंध में मारसिलियो इस यूनानी विचार से प्रभावित था कि जनता को या तो शासन में स्वयमेव प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना चाहिए अथवा अपने अधि-कार प्रतिनिधियों को सौंपने चाहिएँ। पहले (पृ० २६०) में यह बताया जा चुका है कि ट्यूटानिक जातियों के प्रभाव के कारण मध्ययुग में प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त को महत्त्व मिलने लगा। उस समय प्रतिनिधि शासन का मौलिक सिद्धान्त इस रूप में मान्य हो चुका था कि कानून का पालन अवश्य होना चाहिए, यह जनता में प्रचलित रिवाज है और इसका निर्धारण पार्लियामेंट द्वारा होता है। १२६४ के लेवेस (Lewes) के युद्ध के बाद जब इंगलैण्ड में 'आदर्श पार्लियामेंट' बुलाई गयी तो साइमन डि माण्टफोर्ट के एक अनुयायी ने एक गीत में लिखा था— "राज्य के समुदाय को इस विषय में परामर्श देना चाहिए और यह बताना चाहिए कि साधारण जनता किन बातों को कानून समझती है।"[1] उस समय यह विश्वास प्रचलित था कि कानून जनता से संबध रखता है, इसका लागू करना या इसमें संशोधन करना जनता की सहमति से हो सकता है। यद्यपि उस समय तक यह निश्चित नहीं हुआ था कि जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा इनका निर्धारण किस प्रकार करे, तथापि यह सिद्धान्त माना जा चुका था कि किसी विशेष स्थान, नगर या राज्य के प्रतिनिधियों के द्वारा समूची जनता को अपनी शिकायतें सुनाने और दूर कराने का अधिकार है, वे ऐसे मामलों में निर्णय का अधिकार रखते हैं, जिनमें उन्हें सैनिक भेजने हों या व्यय का भार वहन करना हो। मध्ययुग में प्रतिनिधि शासन का यह विचार स्वीकृत हो चुका था कि जनता एक सामूहिक संस्था (Corporate body) है, वह अपने सामूहिक विचारों को अपने नेताओं द्वारा अभिव्यक्त

---

१. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८४।

करती है, किन्तु उस समय इन नेताओं या प्रतिनिधियों के चुने जाने की प्रणाली निश्चित नहीं हुई थी। इस विचार की सत्ता का एक सुन्दर प्रमाण ब्रिटिश विधिशास्त्री ब्लैक-स्टोन (१७२३–१७८०) का कानून विषयक यह सिद्धान्त है कि ब्रिटिश कानूनों की उद्घोषणा (Promulgation) की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह कल्पना की जाती है कि प्रत्येक अंग्रेज पार्लियामेंट में उपस्थित रहता है।[1]

(६) **सामुदायिक जीवन** (Group life)—मध्यकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति सामुदायिक अथवा सामूहिक जीवन बिताने की थी। यह विभिन्न प्रकार के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समूहों में व्यतीत किया जाता था। इसके प्रधान रूप ईसाई मठ (Monasteries), परिव्राजक सम्प्रदाय (Monastic orders), आर्थिक श्रेणियाँ (Guilds), कम्यून और नगर थे। संभवतः उस समय इनकी आवश्यकता इसलिए थी कि तत्कालीन अराजक स्थिति में एकाकी व्यक्ति अपने को निर्बल अनुभव करता था और किसी समुदाय का सदस्य बनकर ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता था। किन्तु सामुदायिक जीवन की प्रधानता के कारण मध्ययुग में व्यक्ति के अधिकार उपेक्षित ही रहे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विचार उस युग में पनपना इसलिए भी संभव न था क्योंकि वह प्रमाणवाद (Authoritarianism) का तथा पोप की प्रभुता का युग था।

(७) **निगम विषयक सिद्धान्त** (Theory of Corporations)—मध्ययुग में सामूहिक जीवन की प्रधानता होने के कारण निगमों के सिद्धान्त का विकास हुआ। उस समय निगम के मुख्य रूप ईसाई संघ या चर्च, चर्च की परिषद्, विश्वविद्यालय, स्वतन्त्र नगर और कम्यून थे। इसका आशय यह था कि अनेक व्यक्तियों से मिलकर बनने वाली इन सत्ताओं को वर्त्तमान कम्पनियों की भाँति एक कानूनी व्यक्तित्व (Juristic Personality) और एक इच्छा रखने वाला समझा जाता था। इनका एक उद्देश्य, एक लक्ष्य और एक शक्ति मानी जाती थी। उदाहरणार्थ, चर्च ईसाइयत में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्तियों का सामूहिक संगठन या निगम माना जाता था। इसी प्रकार चर्च की सामान्य परिषद् चर्च की सामूहिक प्रतिनिधि समझी जाती थी, पोप केवल इसका अध्यक्ष होता था। मध्ययुग के विचारकों का यह मत था कि निगमों के रूप में संगठित संस्थाओं का उद्देश्य आध्यात्मिक एवं लौकिक जीवन के विविध अंगों का विकास करना है, अतः उन्हें अपना उद्देश्य सुचारु रूप से संपन्न करने के लिए इस प्रकार की सत्ता दी जानी चाहिए कि वे अपने नियम स्वयं बनायें, अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हों, कोई बाह्य-शक्ति उनके कार्यों में हस्तक्षेप न करे और वे राजनीतिक विवादों से दूर रहते हुए अपना स्वतन्त्र विकास कर सकें। उदाहरणार्थ, चर्च या आर्थिक श्रेणी (Guild) को अपने सदस्यों के लिए नियम बनाने और उन पर अनुशासन करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति और समुचित विकास के लिए स्वशासन के पूर्ण अधिकार देकर स्वतन्त्र संस्था बनाना उचित है।

मध्ययुग के निगम सिद्धान्त द्वारा एक ही राज्य में स्वशासन करने वाले तथा अपने विशेष क्षेत्र में पूरा अधिकार रखने वाले अनेक संगठन उत्पन्न हो गये। इनका

---

१. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८४।

राजनीतिक चिन्तन पर प्रबल प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्र व्यक्तित्व और सामूहिक इच्छा (Group will) रखने वाले इन संगठनों के सिद्धान्त ने निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) के स्थान पर जनता के समूह में रहने वाली प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के विचार के विकास में बड़ा सहयोग दिया। मध्ययुग में निगम सिद्धान्त के विकास का श्रेय १५वीं शताब्दी के विधिशास्त्रियों को है। इस समय रोमन कानून के अध्ययन को बहुत महत्व दिया जा रहा था। इस कानून में निगम या Corpus अथवा Universita की धारणा पहले से विद्यमान थी। इसका उपयोग इस समय उन विचारकों ने विशेष रूप से किया जो चर्च या राज्य में किसी एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता का केन्द्रीकरण करने के उग्र विरोधी थे। यह सिद्धान्त इस दृष्टि से अधिक उपयोगी था कि यह सत्ता को एक व्यक्ति में केन्द्रित न करके एक बड़े समूह या निगम में केन्द्रित करता था। यह विचार वस्तुतः एक व्यक्ति के हाथ में तथा समूची जनता के हाथ में शक्ति केन्द्रित करने की दो अतियों (Extremes) के बीच में मध्यम-मार्ग की अवस्था को सूचित करता था। इसका अधिक समर्थन उस समय इसलिए किया गया कि तत्कालीन सुधारक सत्ता को पोप या सम्राट् के रूप में किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित करने के विरोधी थे, किन्तु इसके साथ ही वे यह भी जानते थे कि इस सत्ता को सभी नागरिकों या समूची जनता को दिया जा सकता है। यह बड़ा क्रान्तिकारी विचार था, इसे स्वीकार करने के लिए वे तैयार नहीं थे। अतः स्वाभाविक रूप से उन्हें निगम या कारपोरेशन का मध्यममार्गी सिद्धान्त रुचिकर और उपयोगी प्रतीत हुआ। इसीलिए यह सिद्धान्त इस समय बड़ा लोकप्रिय हुआ।

इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए उस समय यह माना जाने लगा कि शासकों को सारी सत्ता जनता द्वारा सौंपी जाती है। चर्च में चरम अधिकार ईसाइयत में विश्वास रखने वाले समूचे ईसाई जगत् को है। चर्च की परिषद् सारे ईसाई संघ का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती है। इसके विषय में रोमन विधिशास्त्र के निगम विषयक सिद्धान्तों के आधार पर परिषद् के साथ पोप के संबंध, इसे बुलाने, कार्यवाही चलाने, कोरम पूरा करने और वोट देने के विस्तृत नियम बनाये गये। रोम के निगम कानून (Corporation Law) के अनुसार सम्राट् और पोप को चुनने की विधि निश्चित की गयी। पहले तो यह सिद्धान्त चर्च की परिषद्, विश्वविद्यालय, स्वतन्त्र नगर (Free cities) इटली, जर्मनी, फ्रांस के कम्यून आदि छोटे समूहों पर लागू किया गया, किन्तु बाद में बड़े पैमाने पर इससे चर्च और राज्य के कानूनी व्यक्तित्व की विशाल धारणा उत्पन्न हुई। इस सिद्धान्त के आधार पर ही इस विचार का जन्म हुआ कि व्यक्तियों के सम्पूर्ण समुदाय की एक कानूनी एकता (Legal unity) होती है। जनता की ऐसी एकता और व्यक्तित्व मान लेने के बाद ही यह विचार उत्पन्न हुआ कि प्रभुसत्ता राज्य की जनता में निवास करती है, न कि उसके राजा में रहती है। मध्ययुग में राज्य को सावयवी (Organism) मानने का विचार पहले ही से प्रचलित था। अब निगम सिद्धान्त ने इसमें निगमित व्यक्तित्व (Corporate personality) के नवीन विचार की वृद्धि की। इससे प्रतिनिधित्व के परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar theory of representation) का विकास हुआ (देखिये नीचे अध्याय ११)। इसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि राज्य (State) में और सरकार (Government)

में स्पष्ट अन्तर किया जाने लगा। राज्य सत्ता का अन्तिम स्रोत और सरकार शासन के वे अंग समझे जाने लगे जिन्हें यह सत्ता विशेष कार्य करने के लिए सौंपी जाती है।[1]

एक राज्य में विभिन्न संगठनों के निगमित व्यक्तित्व (Corporate personality) को स्वीकार करने वाला सिद्धान्त यद्यपि सर्वप्रथम मध्ययुग में प्रतिपादित किया गया, किन्तु उसने आधुनिक युग के राजनीतिक चिन्तन को भी बहुत प्रभावित किया है। वर्त्तमान समय में प्रभुसत्ता के बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralistic theory of sovereignty) पर और श्रेणी समाजवाद (Gulid socialism) पर इसका स्पष्ट प्रभाव है।

(८) लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) **का विचार**—मध्ययुग में जहाँ एक ओर राजा की दिव्यता में विश्वास किया जाता था, वहाँ दूसरी ओर जनता के भी कुछ दैवी अधिकार माने जाते थे। बाद में इन्हीं से जनता में निवास करने वाली प्रभुसत्ता के विचार का विकास हुआ। मध्ययुग में इस रोमन विचार को माना जाता रहा कि जनता की इच्छा ही राजनीतिक सत्ता का मूलस्रोत एवं आधार है, प्रभुशक्ति (Imperium) जनता में ही निहित है। गीर्के के शब्दों में "यदि प्रभुशक्ति जनता से प्रादुर्भूत होती है, तो इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि जब कोई वैध सम्राट् नहीं रहेगा तो यह शक्ति पुनः जनता में लौट जायगी।" इससे यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक था कि जनता को शासक चुनने का अधिकार है। मध्ययुग में यह धारणा भी प्रचलित थी कि प्रभुशक्ति का वास्तविक अधिष्ठान जनता ही है, जनता कानून से ऊपर है तथा प्रभुसत्तासम्पन्न है। इस युग के दो विचारकों मारसिलियो तथा निकोलस ने इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। पहले का यह मत था कि कानून बनाने वाला प्रभुशक्तिसम्पन्न होता है और कानून बनाने का अधिकार जनता को है। निकोलस का यह कहना था कि जब समूची जनता स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकार शासक को सौंपती है, तभी सरकार का निर्माण होता है। कानून निर्माण की शक्ति सदैव जनता में रहती है और शासक इन कानूनों से बँधा हुआ होता है। वर्त्तमान युग में प्रभसत्ता के विचार के विकास में मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव है।

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १३६-७।

नवाँ अध्याय

चर्च और राज्य का संघर्ष

संघर्ष का महत्त्व और स्वरूप—मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन का प्रधान विषय योरोप में धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले पोप और राजसत्ता के प्रतिनिधि—पवित्र रोमन सम्राट् तथा फ्रांस, इंगलैण्ड आदि देशों के राजाओं का द्वन्द्व है। यह संघर्ष इस विषय पर था कि दोनों के अधिकार-क्षेत्र क्या हैं, पोप को राजकीय मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार कहाँ तक है। इस समय पोप और उसके समर्थकों का यह कहना था कि सेण्ट पीटर का उत्तराधिकारी होने के नाते इस भूतल पर पोप की शक्ति सर्वोच्च है, उसे राजाओं के धर्म पालन न करने पर उन्हें दण्डित और सिंहासनच्युत करने का अधिकार है, चर्च के बिशप आदि सभी अधिकारी पोप या उसके प्रतिनिधियों द्वारा नियत होने चाहियें। दूसरी ओर सम्राट् एवं राजसत्ता के समर्थकों का यह दावा था कि पोप का चुनाव पवित्र रोमन सम्राट् की सहमति से होना चाहिए, चर्च के अधिकारियों के पास विशाल भूसम्पत्तियाँ हैं, राजा इनका स्वामी है, अत: इन अधिकारियों की नियुक्ति और नियन्त्रण राजशक्ति द्वारा होना चाहिए, न कि पोप द्वारा। ११वीं से १४वीं शताब्दी तक पश्चिमी योरोप में पोपों और सम्राटों के बीच में यह संघर्ष चलता रहा। सैबाइन के शब्दों में "इस समय की राजनीतिक रचनायें मुख्य रूप से ऐहिक और धार्मिक सत्ताओं के सीमा सम्बन्धी विवाद का प्रतिपादन करती हैं।"[1] इस विवाद के कारण इस समय बहुत अधिक राजनीतिक साहित्य लिखा गया। अरस्तू की मृत्यु से ११वीं शती तक राजनीतिक दर्शन पर लिखा गया साहित्य कुछ पन्नों में ही समाप्त हो जाता है, किन्तु बिशपों की राज्याधिकारियों द्वारा नियुक्ति के प्रश्न पर होने वाले विवाद के कारण उत्पन्न होने वाला साहित्य बहुत विशाल है। १०५२ से ११५२ तक सम्राट् और पोप के संघर्ष पर ११५ ग्रन्थ प्रकाशित हुए, इनमें पचास सम्राट् के पक्ष में और पैंसठ पोप के पक्ष में थे। इसने योरोप में अभूतपूर्व बौद्धिक जागृति और क्रियाशीलता उत्पन्न की।

११वीं शताब्दी तक चर्च एवं राजसत्ता के अधिकार-क्षेत्रों का सुस्पष्ट अंकन और पार्थक्य नहीं हुआ। रोमन सम्राटों द्वारा ईसाइयत ग्रहण करने के बाद वे रोम की पुरानी परम्परा के अनुसार धर्म एवं शासन दोनों के अध्यक्ष समझे जाते थे। किन्तु पश्चिम में रोमन साम्राज्य क्षीण होने पर पोप की प्रभुता बढ़ने लगी (देखिए ऊपर पृ० २३८)। ग्रेगोरी महान् (५९०–६०४) ने पोपों की सांसारिक सत्ता की नींव डाली (ऊपर पृ० २५५), राजाओं के अधार्मिक कार्यों की भर्त्सना आरम्भ की, सेण्ट एम्ब्रोज

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० १९८।

का अनुसरण करते हुए वह अनैतिक कार्यों के लिए राज्याधिकारियों को दण्ड देने लगा। ८वीं शताब्दी में पोपों ने इटली में लम्बार्ड जाति के आक्रमणों के विरुद्ध पेपिन (Pepin) की सहायता चाही और उसने इसके बदले में फ्रांस के पुराने मेरोविजियन (Merovingian) राजवंश के स्थान पर अपने वंश का शासन स्थापित करने में पोप की सहमति प्राप्त की। ८०० ई० में पोप लिओ ने चार्ल्स महान् का पवित्र रोमन सम्राट् के रूप में अभिषेक किया। पोप के अनुयायी इस घटना को बहुत महत्व देते थे, उनका कहना था कि चर्च की धर्म-शक्ति ने उसे सम्राट् बनाया है, राज्याभिषेक के समय उससे कुछ प्रतिज्ञायें करायी हैं, अतः उसे नैतिक मामलों में पोप का वशवर्त्ती रहना चाहिए। किन्तु दसवीं शताब्दी में जब रोम में गणिका शासन (Rule of Whores, देखिये पृ० २७४) स्थापित हुआ, पोपों का भीषण नैतिक अधःपतन हुआ तो सम्राटों ने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझा। ओटो प्रथम (९६२–९७३ ई०), हेनरी तृतीय (१०४६–१०५६ ई०) आदि पवित्र रोमन सम्राट् न केवल सुधार की दृष्टि से हस्तक्षेप करते रहे, किन्तु उन्होंने चर्च की परिषदों द्वारा ग्रेगोरी षष्ठ (१०५६–४६ ई०) तथा बेनेडिक्ट नवम (१०३२–४५) को पदच्युत कराया। नैतिक सुधारों की दृष्टि से उनके कार्य सर्वथा न्यायोचित थे, किन्तु चर्च के व्यक्ति इसे अपने धार्मिक मामलों में राजसत्ता का अनुचित हस्तक्षेप मानते थे और चर्च की स्वतन्त्रता के लिए बड़ा घातक समझते थे। अतः निकोलस द्वितीय (१०५९–१०६१ ई०) के समय पोप के चुनाव की प्रणाली में परिवर्तन की घोषणा की गयी और सम्राट् हेनरी चतुर्थ की नाबालगी का लाभ उठाते हुए पोप जर्मन सम्राटों के प्रभुत्व से स्वतन्त्र हो गये। जब हेनरी चतुर्थ ने पुराने सम्राटों के अधिकारों का प्रयोग करना चाहा तो तत्कालीन पोप ग्रेग्रोरी सप्तम (१०७३–१०८५ ई०) के साथ उसका संघर्ष छिड़ गया।

११वीं शताब्दी से शुरू होने वाला चर्च और राजसत्ता का संघर्ष चार शताब्दियों तक चलता रहा। पहले यह चर्च और पवित्र रोमन सम्राट् में था, बाद में चर्च और फ्रांस तथा इंगलैण्ड आदि के राष्ट्रीय राज्यों में। शुरू में इसमें पोप की विजय हुई, किन्तु बाद में राजसत्ता का पलड़ा भारी हो गया। इसमें राजनीतिक विचारों के विकास की दृष्टि से निम्नलिखित संघर्ष उल्लेखनीय हैं—ग्रेगोरी सप्तम (१०७३–१०८५ ई०) तथा सम्राट् हेनरी चतुर्थ का संघर्ष, पोप इन्नोसैण्ट तृतीय (११९८–१२१६ ई०) के संघर्ष, पोप बोनीफेस अष्टम (१२९४–१३०३ ई०) तथा फ्रांस के राजा फिलिप (राज्य-काल १२८५–१३१४) का संघर्ष, पोप जॉन बाइसवें (१३१६–१३३४ ई०) तथा बवेरिया के लुई का संघर्ष; इन संघर्षों के वर्णन से पहले इन्हें उत्पन्न करने वाले राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति के प्रश्न का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति (Lay investiture)— मध्ययुग में राजाओं ने तथा ड्यूक आदि बड़े ज़मींदारों ने चर्च को विशाल भूसम्पत्ति दान की थी। राजा अपने प्रदेश में धर्म के रक्षक समझे जाते थे। अतः राजाओं का यह दावा करना सर्वथा स्वाभाविक था कि उनके प्रदेश में रहने वाले आर्क बिशप आदि चर्च के सभी उच्च अधिकारी उनके वशवर्त्ती रहेंगे। उस समय नये बिशप तथा मठाधीश को नियुक्त करते समय

धार्मिक कार्यों के प्रतीक स्वरूप उसे एक अंगूठी और छड़ी (Ring and Staff) इन शब्दों के साथ प्रदान की जाती थी कि इस चर्च को ग्रहण करो (Accipe ecclesium)। इस प्रकार बिशपों की नियुक्ति को पदस्थापन या अभिषेक की विधि (Investiture) कहा जाता था। राजाओं और सामन्तों का यह दावा था कि उनके राज्य में भूसम्पत्ति रखने वाले बिशपों और मठाधीशों को यह भूसम्पत्ति और धर्म-चिह्न राजा से ग्रहण करने चाहिएं, उनके प्रति प्रणिपात विधि (Homage) (देखिये ऊपर पृ० २६६) करनी चाहिए। उस समय राजा और सामन्त प्रायः किसी मठाधीश और बिशप की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति हस्तगत कर लेते थे और उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति अपनी इच्छा से किया करते थे। चर्च इस व्यवस्था का विरोधी था। उसका यह मत था कि नये मठाधीश की नियुक्ति उस मठ में रहने वाले भिक्षुओं (Monks) द्वारा तथा नये बिशप की नियुक्ति उसके क्षेत्र में रहने वाले पादरियों और जनता द्वारा होनी चाहिए। राजा या सामन्त को इस प्रकार भिक्षुओं और पादरियों द्वारा निर्वाचित व्यक्ति को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना चाहिए, किन्तु उस समय वास्तव में ऐसा नहीं होता था। प्रायः सामन्त या राजा पहले से ही इस बात की घोषणा कर देता था कि वह किस व्यक्ति को बिशप या मठाधीश बनाना चाहता है। यदि ईसाई भिक्षु या जनता उस व्यक्ति को चुनते थे तो राजा उसे विधिपूर्वक रिक्त पद पर नियुक्त कर देता था, यदि उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को चुना जाता था तो राजा उसे न तो भूसम्पत्ति देता था और न उस पद पर नियुक्त करता था। चर्च इस शक्तिको राजा और सामन्तों से छीनना चाहता था। उसे यह असह्य था कि किसानों को सताने वाला, अपनी विवाहिता पत्नी के साथ दुर्व्यवहार करने वाला, कई स्त्रियों का परित्याग करने वाला, रखैल रखने वाला, निर्दोष व्यक्तियों के खून से हाथ रंगने वाला जमींदार, सामन्त या राजा ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करने वाले, उच्च नैतिक जीवन बिताने वाले, ईसा के पवित्र शिष्यों के उत्तराधिकारी बिशपों तथा पोपों की नियुक्ति करे तथा उन्हें धार्मिक चिह्न प्रदान करे। ११वीं शताब्दी में इसी प्रश्न पर सुप्रसिद्ध पोप ग्रेगोरी सप्तम और सम्राट् हेनरी चतुर्थ (१०५६–११०६ ई०) में उग्र संघर्ष छिड़ गया।

ग्रेगोरी सप्तम (१०७३–१०८५ ई०) और हेनरी चतुर्थ का संघर्ष—११ अप्रैल १०७३ को ग्रेगोरी सप्तम के नाम से पोप बनने वाला हिल्डेब्राण्ड (Hildebrand) २५ वर्ष तक आठ पोपों के आधीन कार्य करते हुए इस बात का दृढ़ संकल्प कर चुका था कि चर्च की तीन बड़ी बुराइयों का अर्थात् पदों का क्रय-विक्रय (Simony), पादरियों द्वारा विवाह करने का तथा राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति (Lay investiture) का उन्मूलन होना चाहिए। रसेल के मतानुसार[1] वह बहुत विद्वान् नहीं था, किन्तु सेण्ट आगस्टाइन के विचारों से प्रभावित था। ये विचार उसने ग्रेगोरी प्रथम से ग्रहण किये। पोप बनने के बाद वह अपने को पीटर समझने लगा था। उसका कद छोटा था, किन्तु महत्त्वाकांक्षा और इच्छा-शक्ति बहुत बड़ी थी। उसे सत्य का और अपनी विजय का ध्रुव विश्वास था। वह समझता था कि भगवान् ने उसे समूचे मानव समाज के नियन्त्रण

---

१. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ४३५।

के लिए सर्वोच्च शक्ति प्रदान की है, वह राजाओं से भी ऊपर है, उन्हें आज्ञा देने और दण्डित करने का अधिकार रखता है। उसका यह मत था कि राज्य का निर्माण पापी व्यक्तियों द्वारा होता है। १०८१ में मेत्ज़ के हर्मान्न (Hermann of Metz) को लिखे गये एक पत्र में उसने कहा था कि यह कौन नहीं जानता कि राजाओं और शासकों

ग्रेगोरी सप्तम

ने अपनी सत्ता का ग्रहण "अहंकार, हिंसा, विश्वासघात, हत्या और प्रत्येक प्रकार के अपराध द्वारा" शैतान के उकसाये जाने पर किया है। इसके विपरीत चर्च की स्थापना भगवान्, ईसा मसीह और पीटर द्वारा हुई है। अतः पोप को गलती करने वाले राजाओं को दण्ड देने का, सन्मार्ग पर लाने का अधिकार है। योरोप के सब राज्य पोप के नियन्त्रण में होने चाहिएँ और इन पर पोप का सामन्ती शासन स्थापित होना चाहिए। स्पेन, इंगलैण्ड, हंगरी, डेन्मार्क में उसने ऐसा शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। ग्रेगोरी के इरादों का परिचय ३-४ मार्च १०७५ को लिखवाये गए उसके २७ वाक्यों के लेख Dictatus Papae से मिलता है, (देखिये ऊपर पृ० २८०)। इनके अनुसार पोप कभी गलती नहीं कर सकता, वह बिशपों से ऊपर है और उसे राजाओं को पदच्युत करने का अधिकार है। ग्रेगोरी ने चर्च की स्थिति को उच्च सिद्ध करने के लिए सम्राट् कांस्टैण्टाइन की नम्रता का उदाहरण दिया। नाइसिया की धर्म परिषद (Council of Nicea) में सम्राट् निम्नतम बिशपों से भी नीचे उनके चरणों में बैठा था और उसने यह कहा था कि वह बिशपों के मामले पर विचार करने का अधिकार नहीं रखता, किन्तु बिशप उस पर निर्णय का अधिकार रखते हैं।[1] ग्रेगोरी की यह विशेषता थी कि उसने इन दावों को पूरी शक्ति के साथ क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया और इसी कारण मीलान के बिशप पद की नियुक्ति के प्रश्न को लेकर उसका सम्राट् हेनरी चतुर्थ के साथ संघर्ष आरम्भ हो गया।

मीलान इटली से मध्य योरोप को जाने वाले मार्ग में आल्पस पर्वतमाला के दर्रों पर नियन्त्रण रखने के कारण असाधारण सामरिक महत्त्व रखता था। यहाँ हेनरी अपनी पसन्द का बिशप रखना चाहता था। इसी समय फरवरी १०७५ में ग्रेगोरी की प्रेरणा से रोम में इटालियन बिशपों की एक परिषद् ने चर्च के पदों के विक्रय (Simony), पादरियों के विवाह तथा राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति (Lay investiture) के विरुद्ध आज्ञायें जारी कीं और ग्रेगोरी ने इनके अनुसार तुरन्त कार्यवाही करते हुए हेनरी चतुर्थ के चार प्रमुख परामर्शदाता बिशपों को पद-विक्रय के आरोप में चर्च से बहिष्कृत (Excommunicate) कर दिया था। बैम्बर्ग के बिशप हर्मान्न को रोम आकर पद-विक्रय के आरोप की सफाई देने को कहा। जब उसने पोप द्वारा नियुक्त उसके मामले पर विचार करने वाले न्यायाधीशों को घूंस देने का प्रयत्न किया तो उसे पदच्युत करते हुए ग्रेगोरी ने हेनरी से कहा कि वह हर्मान्न के स्थान पर बैम्बर्ग का नया बिशप नामज़द करे। हेनरी ने उसपर न केवल अपने एक कृपापात्र को नामज़द किया, किन्तु पुरानी परम्परा के अनुसार उसे अंगूठी और छड़ी के धार्मिक चिह्न प्रदान करते हुए इस पद पर अभिषिक्त भी कर दिया। इसके साथ ही उसने पोप की नाक के नीचे इटली में मीलान, फर्मो (Fermo) और स्पोलेटो के बिशपों को नियुक्त किया और ग्रेगोरी द्वारा बहिष्कृत बिशपों को अपना कृपापात्र बनाये रखा।

ग्रेगोरी के लिए यह स्थिति असह्य थी। उसने दिसम्बर १०७५ ई० में हेनरी को भेजे एक पत्र में उसकी इन कार्यों के लिए कड़ी भर्त्सना की तथा पत्रवाहकों को यह मौखिक संदेश भी देने को कहा कि यदि वह रोम की परिषद् की आज्ञाओं की अवहेलना

---

१. मरे—दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइंस, पृ० ४७।

करेगा तो उसे चर्च से बहिष्कृत कर दिया जायगा। हेनरी ने इसकी कोई परवाह न करते हुए २४ जनवरी १०७६ को राइन नदी के तट पर पश्चिमी जर्मनी के वार्म्ज़ (Worms) नगर में जर्मन बिशपों का सम्मेलन बुलाया। इसमें एक रोमन कार्डिनल ह्यूज (Hugh) ने पोप ग्रेगोरी पर व्यभिचार, क्रूरता और जादूगरी तथा रिश्वत-खोरी और हिंसा द्वारा पोप का पद पाने के गम्भीर आरोप लगाये तथा उसने बिशपों को यह भी स्मरण कराया कि शताब्दियों से यह परम्परा चली आ रही है कि पोप के चुनाव के लिए जर्मन सम्राट् की स्वीकृति होनी चाहिए, ग्रेगोरी ने इसे नहीं प्राप्त किया। इसपर सम्राट् ने उसको पदच्युत करने का प्रस्ताव रखा और बिशपों ने इसे स्वीकृत करते हुए उसके पदच्युति के आदेश पर हस्ताक्षर किये। पो नदी पर प्याचेन्त्सा (Piacenza) नगर में लम्बार्ड बिशपों के सम्मेलन ने भी इस प्रकार का आदेश दिया। इस आदेश को पोप के पास भेजते हुए सम्राट् ने अपने पत्र में लिखा था—"ईश्वर ने मुझे साम्राज्य सौंपा है, तुम्हें पोपतन्त्र (Papacy) नहीं सौंपा। क्या तुम मुझे पदच्युत करोगे! ऐसे निर्दोष राजा को जिसके आचरण कीपरीक्षा केवल भगवान् ही कर सकता है? बिशपों ने ईसाइयत का त्याग करने वाले (Apostate) जूलियन (३६१–६३ ई०) के निर्णय का कार्य भी भगवान् को सौंपा था?···क्या पीटर ने यह नहीं कहा, "भगवान् से भय खाओ, राजा का सम्मान करो।" चूंकि तुम भगवान् से नहीं डरते हो, अतः ईश्वर द्वारा नियुक्त किये हुए मेरा भी सम्मान नहीं करते हो। सन्त पाल का शाप तुम्हें लग चुका है। हमारे सब बिशपों का निर्णय तुम्हें दोषी ठहराता है और कहता है—ईसा के शिष्यों के उस सिंहासन (Apostlic throne) से नीचे उतरो, जिसे तुमने हथिया लिया है ताकि उसपर दूसरा व्यक्ति बैठ सके। ईश्वर की कृपा से नियुक्त मैं हेनरी, अपने सब पादरियों के साथ तुम से माँग करता हूँ कि (पोप के उच्च आसन से नीचे) उतरो! उतरो!!" इस पत्र के ऊपर हेनरी ने जो शीर्षलेख लिखा था वह इस प्रकार था 'ईश्वर के आदेश से, न कि हथियाने से, राजा बने हेनरी की ओर से हिल्डेब्राण्ड को जो पोप नहीं, किन्तु मिथ्याचारी भिक्षु है (Henry, King not by usurpation but by God's ordinance to Hildebrand, not Pope but false monk)। २१ फरवरी १८७६ को ग्रेगोरी को यह पत्र रोम की धर्म परिषद् में मिला और इस परिषद् ने वार्म्ज़ की उपर्युक्त आज्ञा पर हस्ताक्षर करने वाले सभी बिशपों को चर्च से बहिष्कृत कर दिया और ग्रेगोरी ने सम्राट् को चार भीषण दण्ड दिये—चर्च से बहिष्कार (Excommunication), अभिशाप (Anathema), राजसिंहासन से पदच्युति तथा हेनरी के प्रजाजनों द्वारा उसके प्रति ग्रहण की गयी राजभक्ति की शपथ से मुक्त करते हुए उन्हें उसके विरुद्ध विद्रोह के लिए प्रेरित करना। ग्रेगोरी ने हेनरी को अपने पत्र में लिखा था, "ईश्वरीय कृपा से और भगवान् से मुझको स्वर्ग में और भूतल पर मनुष्यों को बाँधने और मुक्त करने का अधिकार मिला है। इस अधिकार और सत्ता द्वारा मैं उस राजा हेनरी और सम्राट् हेनरी के जर्मनी और इटली के राज्य का अन्त करता हूँ, जिसने अश्रुतपूर्व धृष्टता के साथ भगवान् के चर्च के विरुद्ध विद्रोह किया है। मैं समस्त ईसाइयों को उन शपथों से मुक्त करता हूँ जो उन्होंने उसके प्रति भक्ति प्रगट करते हुए ली हैं। मैं प्रत्येक ईसाई को आदेश देता हूँ कि वह हेनरी को

राजा न मानकर उसकी सेवा न करे"।[1]

सारा योरोप इन घटनाओं से, सम्राट् द्वारा पोप की तथा पोप द्वारा सम्राट् की पदच्युति से स्तब्ध रह गया। धर्मप्राण जनता ने पोप का साथ दिया। हेनरी के विरोधी सैक्सनों तथा रुडोल्फ आदि सरदारों ने इसे उसके विरुद्ध विद्रोह करने और स्वतन्त्र होने का स्वर्ण अवसर समझा। जर्मन सरदारों ने ट्रिबूर (Tribur) में एकत्र होकर सम्राट् के चर्च से बहिष्कार (Excommunication) का समर्थन किया (१६ अक्तूबर, १०७६) और यह घोषणा की कि यदि २२ फरवरी, १०७७ तक सम्राट् पोप से अपने अपराध की मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता तो वे उसके स्थान पर नया सम्राट् चुन लेंगे और पोप के साथ यह भी तय हो गया कि उसकी अध्यक्षता में २ फरवरी, १०७७ को दक्षिणी जर्मनी के आवसबुर्ग (Augsburg) में चर्च और राज्य के संबंधों के निर्धारण के लिए एक सम्मेलन होगा।

इस अवस्था में असहाय और हताश हेनरी ने पोप से क्षमा माँगने में ही कल्याण समझा। उसने पहले अपने दूत पोप के पास भेजे और बाद में स्वयं इटली आया। पोप को यह डर था कि वह कहीं सेना एकत्र कर उस पर चढ़ाई न कर दे, अतः उसने अपनी मित्र और संरक्षिका टस्कनी की काउण्टैस माटिल्डा के एप्पीनाइन पर्वतमाला में रेग्गियो एमिलिया के निकट अवस्थित कानोसा (Canossa) के सुदृढ़ दुर्ग में शरण ली। भीषण जाड़े में २५ जनवरी, १०७७ को हेनरी इस दुर्ग के द्वार पर पहुँचा और तीन दिन तक 'भयंकर सर्दी में नंगे पाँव खड़ा रहकर प्रायश्चित एवं क्षमा याचना करता रहा'। इस पर पोप का दिल पसीज गया, उसने बहिष्कार का दण्ड वापिस लेते हुए उसे पवित्र चर्च में वापिस ले लिया।

यह हेनरी की बड़ी कूटनीतिक सफलता थी। इससे उसे अपनी गद्दी वापिस मिल गयी। उसके स्थान पर दूसरा राजा चुनने वाले जर्मन सामन्तों की आशायें विफल हो गयीं। फिर भी उन्होंने हेनरी के स्थान पर रुडोल्फ को राजा घोषित किया और गृह-युद्ध छेड़ दिया। इसमें ग्रेगोरी की सहानुभूति रुडोल्फ के साथ थी और उसने दूसरी बार हेनरी को चर्च से बहिष्कृत किया (मार्च १०८०)। हेनरी ने इस बार भी पहले की भाँति माइन्त्ज़ (Mainz) में अपने समर्थक बिशपों का सम्मेलन बुला कर इससे ग्रेगोरी को पोप के पद से हटाने की घोषणा की, ब्रिक्सन (इटली) के दूसरे सम्मेलन में उसने रावेन्ना के आर्क बिशप को पोप बनवा दिया। इसी बीच ग्रेगोरी का उम्मीदवार रुडोल्फ युद्ध में मारा गया। अब हेनरी ने सेना लेकर रोम पर चढ़ाई कर दी। ग्रेगोरी को भाग कर एक किले Castello sant Angelo में शरण ग्रहण करनी पड़ी। हेनरी की आज्ञा से पोप के राजप्रासाद लैटरन (Lateran) में बुलाई गई चर्च की एक परिषद् ने ग्रेगोरी को पदच्युत एवं धर्म से बहिष्कृत करते हुए गुईबर्ट को क्लेमैण्ट तृतीय के नाम से पोप बनाया (२४ मार्च, १०८४) और एक सप्ताह बाद उसने हेनरी का पवित्र रोमन सम्राट् के पद पर अभिषेक किया। ग्रेगोरी ने दक्षिण इटली के नार्मन लोगों को अपनी सहायता के लिए बुलाया। राबर्ट के नेतृत्व में इनकी ३६,००० सैनिकों की विशाल सेना आने पर हेनरी जर्मनी भाग गया। इस सेना ने रोम को बहुत बुरी तरह से लूटा।

---

१. बौले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० १०८।

इससे रोम के नागरिक नार्मन लोगों से इतने रुष्ट हो गये कि उन्हें बुलाने वाले ग्रेगोरी का रोम में रहना निरापद नहीं रहा। उसने प्राणरक्षा के लिए रोम से भाग कर सलेर्नो में नार्मन लोगों के पास शरण ली और यहाँ २५ मई, १०८५ को उसकी मृत्यु हो गयी। मरते समय उसने कहा, "मैं न्याय से प्रेम करता था और अन्याय से घृणा करता था, इसी लिए निर्वासित दशा में मेरी मृत्यु हो रही है।" ग्रेगोरी की विफलता का प्रधान कारण उसकी कठोरता, उग्र स्वभाव, असहिष्णुता एवं नीतिमत्ता का अभाव था। धर्मसत्ता और राजसत्ता के इस पहले उग्र संघर्ष में किसी पक्ष की पूरी विजय नहीं हुई, पोप की आधीनता में विश्व को संगठित करने का उसका स्वप्न पूरा नहीं हुआ। किन्तु इसके सौ वर्ष बाद इन्नोसैण्ट तृतीय ने अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण कूटनीति से उससे अधिक सफलता प्राप्त की।

इन्नोसैण्ट तृतीय (११९८-१२१६ ई०)—पोप की गद्दी पर बैठते ही इसने चर्च को सार्वभौम और सर्वोच्च सत्ता बनाने तथा तत्कालीन राजाओं को इसका वशवर्त्ती बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अपने १८ वर्ष के शासनकाल में इसने सात राजाओं को दण्ड दिया, दो जर्मन सम्राटों को चर्च से बहिष्कृत किया। उसने अपने अभिषेक के समय कहा था कि बाइबल के ये वाक्य मेरे लिए कहे गये हैं, "मैंने तुझे जनताओं और राज्यों के ऊपर स्थापित किया है ताकि तू उनके उन्मूलन का और नाश का तथा निर्माण का और वपन का कार्य कर सके।" यह भी मेरे लिए कहा गया था, "मैं तुझे स्वर्ग के राज्य की कुँजियाँ देता हूँ। जिसे तू पृथिवी पर बाँधेगा, वह स्वर्ग में भी बाँधा जायगा।" वह राजाओं के आचरण पर दृष्टि रखना अपना विशेष कर्त्तव्य समझता था। उसका यह कहना था कि राजाओं को अपने जीवन द्वारा प्रजा के सम्मुख नैतिकता और न्याय का उच्च आदर्श स्थापित करना चाहिए, अतः राजाओं द्वारा अनैतिक आचरण होने पर वह इसका निरोध करना अपना परम कर्त्तव्य मानता था। उस समय लिओन (Leon) के राजा अल्फांसो नवम (११८८-१२३०) ने चर्च द्वारा निषिद्ध संबंधियों के भीतर होने पर भी बेर्नेगरिया (Bernegarea) से विवाह किया था, उसे इसका परित्याग करना पड़ा। फ्रांस के राजा फिलिप आगस्टस ने अपनी पत्नी को छोड़ दिया था, पोप के आदेश से उसे इसे पुनः ग्रहण करना पड़ा। इन दोनों राजाओं को नतमस्तक करने के लिए पोप ने निषेधाज्ञा (Interdict) के ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। इसके अनुसार इन राज्यों में बच्चों को बप्तिस्मा देना तथा मृतकों के संस्कार के अतिरिक्त चर्च के सभी कार्य बन्द कर दिये गये। उस समय प्रायः राजाओं को चर्च का काम चलाने के लिए चाटुकार बिशप मिल जाते थे जिससे पोप के ब्रह्मास्त्र का प्रभाव नगण्य हो जाता था। फिर भी पोप के दण्ड से राजाओं के विरुद्ध इतना प्रबल लोकमत बन जाता था कि उन्हें पोप की बात माननी पड़ती थी। पुर्त्तगाल, अरागान (Aragon), हंगरी और बल्गारिया के राजाओं ने अपने को पोप का सामन्त स्वीकार किया तथा वे इसे वार्षिक कर भेजने लगे। इंगलैण्ड के राजा जॉन (११९९-१२१६) को पोप के साथ संघर्ष में नतमस्तक होना पड़ा। पोप ने कैण्टरबरी के आर्क बिशप के पद पर स्टीफेन लैंगटन को नियत किया, जॉन इसे नहीं चाहता था। इस पर पोप ने उसे चर्च से बहिष्कृत कर दिया। इंगलैण्ड में चर्च के धर्म कार्य बन्द करने (Interdict) का आदेश दिया गया (१२०८ ई०), जॉन को सिंहासन च्युत किया (१२१२ ई०) और फ्रांस के राजा फिलिप द्वितीय को

इंगलैण्ड पर चढ़ाई करने की प्रेरणा की। इसपर जॉन को झुकना पड़ा और उसने अपने राज्य को पोप की जागीर बनाना तथा १००० मार्क प्रतिवर्ष कर देना स्वीकार किया (१२१३ ई०)। जर्मन साम्राज्य पोप का पुराना शत्रु था। इन्नोसैण्ट तृतीय के सौभाग्य से इस समय वहाँ राजगद्दी के लिए ओटो चतुर्थ, फ्रेडरिक द्वितीय तथा स्वेबिया के फिलिप
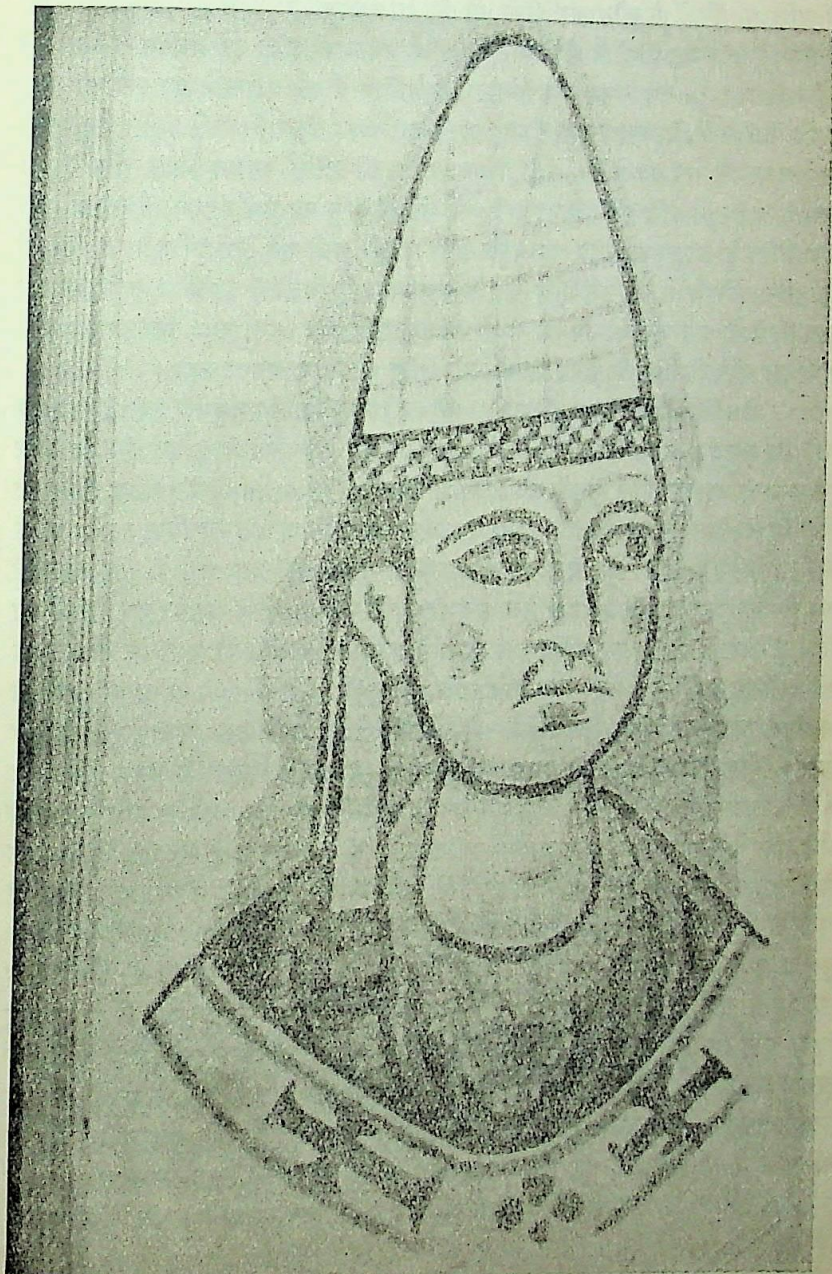
इन्नोसैण्ट तृतीय

में संघर्ष चल रहा था। पोप ने जर्मनी में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए पहले फिलिप के विरुद्ध ओटो का, तथा बाद में ओटो के विरुद्ध फिलिप का, फ्रेडरिक द्वितीय के विरुद्ध ओटो का और ओटो के विरुद्ध फ्रेडरिक का समर्थन किया। इससे इटली में पोप के प्रदेशों को जर्मन प्रभुता से मुक्ति मिली। वह सदैव यह कहा करता था कि पोपों ने ही साम्राज्य की शक्ति यूनानियों से छीन कर फ्रैंकों को दी, शार्लमेगन पोप द्वारा अभिषिक्त होने पर ही सम्राट् बना था, पोपों ने फ्रैंकों को जो शक्ति प्रदान की थी, उसे वापिस लेने का भी उन्हें अधिकार है। इस समय बाइज़ैण्टाइन से आने वाले एक प्रेक्षक ने यह सत्य ही कहा था कि 'इन्नोसेण्ट पीटर का नहीं, किन्तु कांस्टैण्टाइन का उत्तराधिकारी प्रतीत होता है।'' उसने चर्च पर पोप की भाँति नहीं, किन्तु राजा की भाँति शासन किया और उसकी सत्ता में अभूतपूर्व वृद्धि की। १२१६ ई० में उसकी मृत्यु पर चर्च संगठन, वैभव, प्रसिद्धि और शक्ति के अत्युच्च शिखर पर पहुँच गया। पहले कभी उसे ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं हुई थी, और भविष्य में भी उसे ऐसी स्थिति बहुत कम ही मिली।[1] इन्नोसैण्ट तृतीय के एक शताब्दी बाद तक चर्च योरोप का सबसे शक्तिशाली राज्य बना रहा, किन्तु इसके बाद बोनीफेस और फिलिप के संघर्ष से चर्च की शक्ति को गहरा धक्का लगा।

पोप बोनीफेस अष्टम (१२९४–१३०३) तथा फिलिप चतुर्थ (१२८५–१३१४ ई०) का संघर्ष— फ्रांस का राजा फिलिप चतुर्थ अपने राज्य को सुदृढ़ एवं संगठित और एक बनाना चाहता था। उसने अपने देश में गैस्कनी (Gascony) के ब्रिटिश प्रान्त को जीत लिया। इस पर इंगलैण्ड के राजा एडवर्ड ने उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इसे चलाने के लिए दोनों राजाओं को धन की आवश्यकता थी। उस समय चर्च के पास विशाल सम्पत्ति थी और यह राजकर से मुक्त समझी जाती थी। दोनों ने इस पर कर लगाने का विचार किया। पोप इससे पहले मुसलमानों के हाथ से ईसाइयों की धर्मभूमि पैलेस्टाइन को हस्तगत करने के लिए लड़े जाने वाले धर्मयुद्धों (Crusades) के समय चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाने की स्वीकृति दे चुके थे, किन्तु अभी तक राजाओं द्वारा लड़े जानेवाले किसी विशुद्ध लौकिक या धर्मनिरपेक्ष (Secular) युद्ध के समय ऐसा कर नहीं लगाया गया था। फ्रांस के पादरी अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने वाले राज्य को प्रतिरक्षा के लिए कर देने का कर्त्तव्य स्वीकार करते थे, किन्तु उन्हें यह भय था कि इस से राजसत्ता को उनकी शक्ति नष्ट करने का शक्तिशाली साधन मिल जायगा। फिलिप ने पहले ही उनके बहुत-से अधिकार छीन लिये थे। अतः इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए फ्रांस के एक धार्मिक सम्प्रदाय (Cistercian Order) ने फिलिप को इंगलैण्ड के साथ युद्ध चलाने के लिए उसकी आमदनी के बीस प्रतिशत का कर देने से इंकार कर दिया और इस विषय में पोप बोनीफेस से अपील की। उसके लिए इस विषय में निर्णय करना सहज न था, क्योंकि फ्रांस पोप के जर्मनी और पवित्र साम्राज्य के साथ संघर्ष में उसका प्रमुख आधारस्तम्भ रहा था। किन्तु इसके साथ ही यह भी अवांछनीय स्थिति थी कि चर्च की आमदनी पर इस प्रकार कर लगाने का राजाओं का अधिकार स्वीकार करके चर्च के आर्थिक आधार को खोखला और क्षीण बनाया जाय। अतः बोनीफेस ने

---

१. विल ड्यूरैंट— एज ऑफ फेथ, पृ० ७६४।

इसका निषेध करते हुए अपना एक आज्ञा-पत्र[1] (Bull Clericis Laicos) प्रसारित किया। इसमें यह कहा गया कि पोप की आज्ञा के बिना जो पादरी चर्च की आमदनी में से राज्य को कर देंगे तथा जो अधिकारी ऐसा कर वसूल करने के लिए चर्च की सम्पत्ति जब्त करेंगे, उन सब को चर्च से बहिष्कृत कर दिया जायगा।

फिलिप का यह दृढ़ विश्वास था कि चर्च की विशाल सम्पति का प्रयोग राज्य की रक्षा के लिए होना चाहिए। अतः उसने पोप के आदेश का क्रियात्मक रूप में विरोध करने के लिए फ्रांस से बाहर जाने वाले सोने, चाँदी, बहुमूल्य मणियों तथा अनाज के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा विदेशी व्यापारियों और प्रतिनिधियों को फ्रांस से बाहर चले जाने को कहा। इससे पोप की आमदनी का एक बड़ा स्रोत बन्द हो गया और धर्मयुद्ध के लिए चन्दा जमा करने वाले पोप के प्रतिनिधियों को फ्रांस से निर्वासित होना पड़ा। यह पोप के लिए बड़ी कड़ी चोट थी, अतः उसे झुकना पड़ा। सितम्बर १२९६ के दूसरे आज्ञा-पत्र (Bull Ineffabitis amor) में उसने राज्य की आवश्यक प्रतिरक्षा के लिए चर्च के अधिकारियों को स्वेच्छापूर्वक चन्दा देने की अनुमति दी और राजा को यह अधिकार दिया कि वह राज्य की ऐसी आवश्यकता का निर्धारण करे। इस पर फिलिप ने कर देने वाले धर्माधिकारियों के विरुद्ध जारी किये गये आदेश वापिस ले लिये और कुछ समय के लिए शान्ति स्थापित हो गयी। यह स्पष्ट है कि पोप और राजा के संघर्ष की पहली टक्कर में विजयश्री राजा के हाथ में रही।[2]

शीघ्र ही फिलिप की पोप के साथ दूसरी टक्कर आरम्भ हो गयी। फिलिप के साथियों में तथा फ्रांस में पोप के दूत (Legate) बर्नार्ड सईसैट (Bernard Saisset) में कुछ झगड़ा हुआ। इसमें बर्नार्ड को बन्दी बना कर उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने लोगों को विद्रोह के लिए उकसाया है। राजकीय न्यायालय ने उसके मामले पर विचार करके उसे दोषी ठहराया तथा नारबोन्ने (Norbonne) के आर्कबिशप को सौंप दिया। पोप के प्रतिनिधि के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार और राजकीय न्यायालय द्वारा उसका विचार बोनीफेस के लिए असह्य था। अतः उसने बर्नार्ड की अविलम्ब रिहाई की माँग की तथा फ्रांस के धर्माधिकारियों को राज्य को दिए जाने वाले

---

१. लैटिन में मुहर के लिये Bull शब्द का प्रयोग होता है। पोप के आदेशों पर उसकी मुहर लगी होती थी, अतः उसके आज्ञा-पत्र Bulls कहलाते हैं। विभिन्न आज्ञापत्रों का नामकरण उनके प्रारम्भ में आने वाले लैटिन शब्दों के आधार पर होता है।

२. प्रथम संघर्ष की समाप्ति के बाद १३०० ई० के वर्ष को पोप बोनीफेस अष्टम ने जयन्ती (Jubilee) का वर्ष घोषित किया। इसका यह अभिप्राय था कि उन सब रोमन कैथोलिक व्यक्तियों के पाप क्षमा कर दिये जायेंगे, जो इस वर्ष रोम की तीर्थयात्रा करके विशेष धार्मिक विधियों को पूरा करेंगे। इस घोषणा से ईसाई जगत के धर्मप्राण तीर्थयात्री पापों से मुक्ति के लिये प्रतिदिन ३० हजार की संख्या में रोम आने लगे और उस समय सैण्ट पीटर के चर्च में इतना अधिक चढ़ावा चढ़ा कि दिन-रात दो पुजारी हेंगे (Rake) से इस धनराशि को समेटते रहते थे (मैकेब—ए रैशन लिस्ट इंसाइक्लोपीडिया, पृ० ३४०)। इससे चर्च को इतना अधिक लाभ हुआ कि उसने जयन्ती की अवधि १०० वर्ष से घटा कर पहले ५० वर्ष तथा फिर २५ वर्ष कर दी। १३०० ई० की यह जयन्ती रसेल के मतानुसार पोप के उत्कर्ष के चरमबिन्दु को सूचित करती है, इस तिथि के बाद से उसकी शक्ति का शनैः-शनैः ह्रास होने लगा (रसेल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५०२)।

धार्मिक कर देने से मना कर दिया। दिसम्बर १३०१ में. पोप ने अपने एक आज्ञा-पत्र (Auxulta fili=शृणु पुत्र=बेटे सुनो) में फिलिप से अपील की कि वह ईसा के प्रतिनिधि की बात सुने, पोप भूतल के राजाओं का आध्यात्मिक शासक है, चर्च के व्यक्तियों पर दीवानी अदालत में मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता, चर्च की सम्पत्ति का उपयोग सांसारिक कार्यों के लिए नहीं हो सकता और वह फ्रांस के बिशपों और मठाधीशों का एक सम्मेलन "चर्च की स्वतन्त्रता के संरक्षण, राज्य के संशोधन और राजा के सुधार" पर विचार के लिए बुलायेगा। जब यह आज्ञापत्र फिलिप को दिया जा रहा था तो उसके एक सामन्त Count of Artois ने इसे पोप के प्रतिनिधि के हाथ से छीनकर आग में डाल दिया। अब दोनों पक्षों में उत्तेजना बढ़ी, दोनों ओर से दो जाली पत्र प्रकाशित किये गये। बोनीफेस ने अपने पत्र में फिलिप से यह माँग की थी कि उसे सांसारिक मामलों में भी पोप के आदेश का पालन करना चाहिए। फिलिप ने अपने पत्र में यह दावा किया था कि "सांसारिक मामलों में हम किसी के वशवर्त्ती नहीं हैं।"

११ फरवरी १३०२ को पेरिस में पोप के 'शृणु पुत्र' वाले आज्ञापत्र की होली सरकारी तौर पर राजा तथा विशाल जनसमुदाय के समक्ष की गयी। बोनीफेस द्वारा बुलायी जाने वाली परिषद् को विफल बनाने के लिए फिलिप ने अप्रैल में राज्य के तीन वर्गों (Estates)—अमीरों (Nobles), पादरियों (Clergy) तथा साधारण जनता की पहली इस्टेट जनरल बुलायी और इसने फिलिप के पक्ष का प्रबल समर्थन किया। पोप ने अक्टूबर १३०२ को रोम में इस विषय पर विचार करने के लिए बिशपों की परिषद् बुलाई। इस परिषद् से पोप के अधिकारों का समर्थन करने के लिए, Unam Sanctam का आज्ञा-पत्र निकला, इसके कथनानुसार सच्चा चर्च एक ही है, इसके बाहर किसी प्रकार की मुक्ति नहीं मिल सकती, ईसा का एक ही शरीर है और भूतल पर उसका प्रतिनिधि रोम का पोप है। उसकी दो शक्तियाँ या तलवारें हैं—धार्मिक और सांसारिक। धार्मिक तलवार को चर्च धारण करता है और **सासांरिक तलवार को राजा चर्च के लिए धारण करता है,** वह पुरोहित की इच्छा और आज्ञा से कार्य करता है। धार्मिक शक्ति सांसारिक शक्ति से श्रेष्ठ है और इसे उपदेश देने और नियन्त्रण करने का अधिकार रखती है। इस आज्ञा-पत्र के अन्त में कहा गया था, "हम यह घोषणा करते हैं कि मुक्ति (Salvation) के लिए यह आवश्यक है कि सब व्यक्ति रोम के पोप के आधीन रहें।"

फिलिप ने इसके प्रत्युत्तर में मार्च और जून १३०३ ई० में दो परिषदें बुला कर पोप बोनीफेस पर "अत्याचारी, जादूगर, हत्यारा, गबन करने वाला, व्यभिचारी, लौंडेबाज (Sodomite), चर्च के पदों का विक्रय करने वाला (Simoniac), मूर्त्ति-पूजक और काफिर होने के आरोप लगवाये तथा चर्च की सामान्य परिषद् द्वारा उसके पदच्युत किये जाने की माँग की और अपने प्रतिनिधि नोगरेट के विलियम (William of Nogaret) को रोम जाकर पोप को यह सूचना देने और सामान्य परिषद् बुलवाने के लिए कहा। इस पर पोप ने फिलिप को चर्च से बहिष्कृत करने तथा फ्रांस में धार्मिक कार्यों के निषेध (Interdict) की आज्ञा जारी करने की तैयारी की। किन्तु इसे निकालने से पहले ही २००० सैनिकों के साथ विलियम और सियार्रा कोलोन्ना (Sciarra Colonna) ने पोप के अनान्यी (Anagni) के महल में घुस कर उसे

फिलिप का पत्र देते हुए त्यागपत्र की माँग की। प्रामाणिक साक्षी के आधार पर यह कहा जाता है कि जब ७५ वर्ष बूढ़े पोप ने यह स्वीकार[1] न किया तो सियार्रा ने उसके मुँह पर ज़ोर का तमाचा मारा और यदि विलियम उसे न रोकता तो वह उसे वहीं मार देता। तीन दिन तक पोप इनकी कैद में रहा, इसके बाद पोप के समर्थकों की सेना आने पर उसे मुक्ति मिली और कुछ दिन बाद उसे अपने भौतिक देह से भी मुक्ति मिल गयी (११ अक्तूबर, १३०३)।

बोनीफेस के बाद पोप की गद्दी पर बैठने वाले बेनीडिक्ट एकादश (१३०३-४) ने पोप के महल पर हमला करने वाले विलियम, सियार्रा आदि को चर्च से बहिष्कृत किया। किन्तु एक वर्ष बाद इस पोप को विष देकर मार डाला गया। इसके बाद फिलिप ने बोर्दो के आर्कबिशप बर्ट्रेण्ड डि गोट को इस शर्त्त पर पोप चुनवाना स्वीकार किया कि वह समझौते की नीति का पालन करेगा, बोनीफेस पर हमला करने वालों का दण्ड वापिस लेगा, फ्रांस के पादरियों पर पाँच वर्ष के लिए १० प्रतिशत आयकर लगवायेगा, सियार्रा परिवार को उसकी सम्पत्ति और पद वापिस करेगा तथा बोनीफेस पर मरणोत्तर अभियोग चला कर उसे दण्डित करेगा। जब बर्ट्रेण्ड क्लीमैण्ट के नाम से पोप चुना गया तो फिलिप के प्रति झुकाव होने से उसे रोम में रहना निरापद नहीं प्रतीत हुआ। संभवत: फिलिप की प्रेरणा से वह पोपों की राजधानी को रोम से हटाकर आवीन्योन (Avignon) में ले आया (१३०९)। यह स्थान रोमन नदी के पूर्वी किनारे पर फ्रांस की दक्षिण पूर्वी सीमा के साथ लगा हुआ था। यहाँ उसे फ्रांस का संरक्षण बड़ी सुगमता से उपलब्ध हो सकता था। पहले पोप जर्मन सम्राटों के प्रभाव में था, अब 'सब राजाओं पर प्रभुत्व' का दावा करने वाले पोप फ्रांस के आधीन हो गये। १३०९ से १३७७ तक आवीन्योन ही पोपों की राजधानी बनी रही। पोप यहाँ स्वतन्त्र न होकर फ्रेंच राजाओं के प्रभुत्व में थे, अतः बाइबल के पुराने इतिहास के आधार पर इसे बेबीलोनियन बन्धन (Babylonian Captivity) का युग कहा जाता है।[2] क्लीमैण्ट ने फिलिप की इच्छानुसार सियार्रा को दोष मुक्त किया, उसको पुनः पद और जब्त की हुई सम्पत्ति दी तथा बोनीफेस पर, मृत्यु के बाद भी विभिन्न आरोपों के लिए अभियोग चलवाया।

फिलिप और बोनीफेस का यह संघर्ष धार्मिक शक्ति की क्षीणता को सूचित करता

---

१. विल ड्यूरैंट—एज ऑफ फेथ, पृ० ८१५।

२. बेबीलोन के राजा नेबुकदनज्जर (राज्यकाल ५६२–६०५ ई० पू०) ने ५९७ ई० पू० में जेरुसलम के यहूदियों द्वारा विद्रोह करने पर उन्हें परास्त किया, उनके पवित्र मन्दिर को लूट कर दस हजार यहूदियों को बन्दी बनाया और उन्हें उनकी मातृभूमि से निर्वासित करके बेबीलोन में बसने के लिये विवश किया। यहूदी यहाँ ५३८ ई० पू० तक बन्दी रहे। इन्हें मुक्त करने का श्रेय ईरान के सम्राट् साइरस (५५०–५२९ ई० पू०) महान् को है। उसने बेबीलोन जीतने के बाद यहूदियों को स्वदेश लौटने की अनुमति दी।

उनसठ वर्ष तक यहूदियों का बेबीलोन में निवास बेबीलोनियन बन्धन (Babylonian Captivity) कहा जाता है। आवीन्योन में पोप फ्रेंच राजाओं के प्रभाव में रहे, अतः ६८ वर्ष के इस समय को पोपों का बेबीलोनियन बन्धन कहा जाता है।

है। पवित्र पोप बोनीफेस के मुँह पर सियार्रा कोलोन्ना द्वारा तमाचा जड़ा जाना धर्म-सत्ता पर राजसत्ता का प्रबल प्रहार था और इसमें फिलिप की विजय चर्च पर राज्य की, धर्म पर राष्ट्रीयता की तथा ब्रह्मशक्ति (Sacerdotium) पर क्षात्र शक्ति (Imperium) की विजय थी। फ्रांस की जनता में राष्ट्रीयता की भावना जागृत हो चुकी थी। इस समय व्यापार और उद्योगों के विकास से नगरों में आधुनिक विचारों से प्रभावित एक मध्यम वर्ग का उदय हो रहा था, वह कृषकों की भाँति अन्ध-विश्वासी न था। पोपों ने चर्च से बहिष्कार आदि के ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग इतना अधिक कर दिया था कि अब जनता में इनका आतंक नहीं रहा था और ये शस्त्र कुण्ठित हो गये थे। उदाहरणार्थ, पोप बोनीफेस अरागान के फ्रेडरिक को सिसली का राजा नहीं बनाना चाहता था, जब फ्रेडरिक ने इसके लिए आग्रह किया तो पोप ने उसे चर्च से बहिष्कृत कर दिया तथा सिसलीवासियों के धर्म कार्य बन्द करने (Interdict) की आज्ञा दी। किन्तु इसकी राजा और प्रजा दोनों ने परवाह नहीं की और अन्त में बोनी-फेस को बाधित होकर फ्रेडरिक को स्वीकृति देनी पड़ी। मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन में बोनीफेस और फिलिप का संघर्ष कई कारणों से असाधारण महत्त्व रखता है। इस संघर्ष ने विशाल राजनीतिक साहित्य को जन्म दिया। पोप के पक्ष में लिखने वालों में सर्वश्रेष्ठ एगिडियस (Egidius) कोलोन्ना है, तथा राजा का पक्ष समर्थन करने वालों में पेरिसवासी जॉन, पियरे दुबोइस (Pierre Dobois) हैं। इसके अति-रिक्त फ्रेंच राजदरबार में तथा सरकार में नौकरी करने वालों ने नरेश का समर्थन करने के लिए रोमन कानून के आधार पर प्रचुर साहित्य लिखा। इसमें राजनीतिक प्रश्नों का बड़ा सुन्दर और सुस्पष्ट विवेचन था। सैबाइन के मतानुसार इससे पहले इतना अच्छा आलोचनात्मक राजनीतिक साहित्य मध्ययुग में नहीं लिखा गया था।[१] इस विवाद के महत्त्व का **दूसरा कारण** पोप के दावों की निर्बलता और राष्ट्रीयता की शक्ति का गौरव प्रकट करना था। इसमें पोप ने दावे तो बहुत अधिक किये, किन्तु वह उन्हें स्वीकार कराने में असमर्थ रहा। फ्रांस के पादरियों ने जनता में राष्ट्रीयता की भावना होने के कारण राजा का साथ दिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि पोप की शक्ति और ब्रह्मास्त्र राष्ट्रीयता का प्रतिकार करने में असमर्थ हैं। **तीसरा कारण** यह था कि इसने पोप की प्रभुता पर प्रबल आक्षेप करते हुए इसे अनेक नैतिक और धार्मिक प्रतिबन्धों द्वारा मर्यादित किया। उस समय पोप की सर्वोच्च शक्ति पर यह आपत्ति की गयी कि ऐसी शक्ति अत्याचारपूर्ण हो जाती है, अतः प्रतिनिधित्व और सहमति के सिद्धान्तों द्वारा इसका नियन्त्रण किया जाना चाहिए। ओकमवासी विलियम तथा पडुआवासी मारसिलियो ने बाद में पोप की प्रभुता को मर्यादित करने और सांसारिक सत्ता से पृथक् करने पर बल दिया और प्रतिनिधित्व का विचार कांसिलियर सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ।[२]

पोप जॉन बाइसवें (१३१६–१३३४) तथा जर्मन सम्राट् बवेरियन लुईस चतुर्थ (१३१४–१३४७) का विवाद—यह मध्ययुग में साम्राज्य और पोपतन्त्र का

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० २३३।
२. वही, पृ० २४८।

अन्तिम महान् संघर्ष था। बवेरिया के लुईस चतुर्थ को १३१४ ई० में पवित्र रोमन सम्राट् चुना गया। इसी समय कुछ निर्वाचकों ने Cologne में आस्ट्रिया के फ्रेडरिक को सम्राट् चुना। इस प्रकार एक ही समय में दो सम्राट् चुने गये और इनमें परस्पर गृहयुद्ध छिड़ गया। १३१६ ई० में जॉन बाइसवाँ आवीन्योन में पोप चुना गया, वह इटली में जर्मन सम्राट् के प्रभाव को हटाना चाहता था। अतः ३१ मार्च १६१७ को उसने यह घोषणा की कि सम्राट् का पद रिक्त होने की दशा में उसका अक्षिकारक्षेत्र, राज्य और व्यवस्था (Jurisdictio, regimen et disposito) पोप को लौट जाती हैं। इस समय सम्राट् पद के लिए दो व्यक्तियों में विवाद था। अतः पोप ने इटली में मृत सम्राट् के शाही प्रतिनिधि (Imperial Vicar) को हटाकर अपना प्रतिनिधि नियत कर दिया। जर्मनी में १३२२ ई० में लुईस ने फ्रेडरिक को युद्ध में बन्दी बना लिया और इस शर्त्त पर छोड़ा कि वह सम्राट् के पद के लिए अपने दावे का परित्याग कर दे। इसके बाद लुईस ने इटली में शासन के लिए अपना प्रतिनिधि बर्थोल्ड को नियुक्त किया। ग्रेगोरी सप्तम तथा इन्नोसैण्ट तृतीय के दावों का अनुसरण करते हुए ८ अक्तूबर १३२३ को पोप जॉन ने यह घोषणा की कि पोप को सम्राट् के पद पर चुने गये व्यक्ति की जाँच करने, उसे स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार है, लुईस ने स्वयमेव सम्राट् का पद ग्रहण करके पोप के अधिकारों का हनन किया है। २३ मार्च १३२४ को उसने लुईस को तथा १ अक्तूबर को उसके अनुयायियों को चर्च से बहिष्कार का दण्ड दिया। इस पर लुईस ने पोप पर नास्तिकता (Heresy) का आरोप लगाते हुए चर्च की सामान्य परिषद् बुलाने की माँग की (२२ जून, १३२४) एवं इटली आकर उसने अपना अभिषेक कराया (१७ जनवरी १३२८) तथा जॉन के स्थान पर नये पोप का चुनाव करवाया। इस पर जॉन ने उसकी जागीरें जब्त करने, उसे नास्तिक घोषित करने तथा ईसाई जनता को उसके विरुद्ध शस्त्र धारण करने के आदेश दिये (जनवरी १३३८)। किन्तु इसी समय जर्मनी के निर्वाचक राजाओं (Elector Princes) की एक परिषद् ने यह घोषणा की कि सम्राट् का अधिकार तथा शाही मुकुट चुनाव से प्राप्त होता है, इसके लिए पोप की स्वीकृति या सहमति आवश्यक नहीं है। लुईस द्वारा प्रसारित १३३८ के सुप्रसिद्ध नियम (Licet Juris) में कहा गया था—"हम घोषणा करते हैं कि शाही सम्मान और पद केवल भगवान् ही धारण करते हैं···निर्वाचन द्वारा चुने गए व्यक्ति को सच्चा राजा और रोमन लोगों का सम्राट् मानना चाहिए। साम्राज्य के सब प्रजाजनों को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। उसे साम्राज्य के सब अधिकारों तथा सम्पत्ति के प्रशासन का अधिकार है···उसे पोप से या किसी अन्य व्यक्ति से स्वीकृति और संपुष्टि की, अधिकार ग्रहण करने की या सहमति लेने की आवश्यकता नहीं है।"[1]

इस समय पोप की सत्ता को न केवल उसके विरोधियों द्वारा चुनौती दी जा रही थी, किन्तु चर्च के भीतर भी कुछ ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हो रहे थे, जो पोप की निर्भ्रान्तता और सर्वोच्च सत्ता पर संदेह प्रकट करने लगे। पोप जॉन बाइसवें के समय एक घटना ने इनकी संख्या बढ़ाने में सहयोग दिया। यह घटना सन्त फ्रांसिस (११८२--१२२६ ई०)

---

१. मैकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० २७७।

द्वारा स्थापित भिक्षु सम्प्रदाय Franciscan order के संबंध में थी। अपरिग्रह तथा त्याग को महत्त्व देने वाले इस सम्प्रदाय के कुछ व्यक्तियों ने इस सिद्धान्त के अपनाये जाने पर बल दिया कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक धन से अधिक सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए। इससे अधिक सम्पत्ति रखना आध्यात्मिक कार्यों के सम्पादन में बाधक है। किन्तु सांसारिक ऐश्वर्य को अत्यधिक महत्त्व देने तथा पोप की सम्पत्ति को बढ़ाने वाला और मृत्यु के समय पोप के कोश में ४५ करोड़ डालर की सुवर्ण मुद्रायें तथा ७० लाख के हीरे जवाहरात की विशाल सम्पत्ति छोड़ने वाला[1] जॉन बाइसवाँ अपरिग्रह पर बल देने वाले इस सिद्धान्त को कैसे मान सकता था। उस के जीवन का मूलमंत्र यही था कि अधिक धन बटोर कर ही भगवान् की अच्छी सेवा हो सकती है। अतः, उसने यह घोषणा की कि अपरिग्रह और धनत्याग का उपर्युक्त सिद्धान्त ईसाइयत के प्रतिकूल है, ऐसा मत रखनेवाले फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के अध्यक्ष को उसने पदच्युत और चर्च से बहिष्कृत किया। चर्च में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। इससे ओकम निवासी विलियम (William of Occum) आदि कट्टर ईसाई भी पोप की सत्ता के विरोधी हो गये तथा सम्राट् और पोप के विवाद में उन्होंने सम्राट् का साथ दिया।

पोप की शक्ति की क्षीणता—१४वीं शताब्दी में पोपों की सत्ता को निर्बल करने में और चुनौती देने में कई कारणों ने सहयोग दिया। **पहला** कारण चर्च का भीषण नैतिक पतन था। **दूसरा** कारण पोपों का रोम से आवीन्योन में आना था, इस से वे फ्रांस के राजा की कठपुतली बन गये। यह इससे स्पष्ट है कि वे पोप को चुनने वाले कार्डिनलों के पद पर अधिकतर फ्रेंच बिशपों को ही नियुक्त करते थे। पोप पर फ्रांस का यह प्रभाव अन्य देशों को सह्य नहीं था। ब्रिटिश सरकार इस बात को नहीं भुला सकती थी कि पोप उनके शत्रु फ्रांस को उसके विरुद्ध शतवर्षीय युद्ध चलाने के लिए ऋण देते रहे हैं और उसने प्रसिद्ध सुधारक विक्लिफ (१३२०–१३८४) द्वारा पोपतन्त्र के विरुद्ध किये गये आक्षेपों पर कोई कार्यवाही नहीं की। जर्मनी के निर्वाचक राजाओं (Elector Princes) ने घोषणा की कि सम्राटों के चुनाव में हस्तक्षेप करने का पोप को कोई अधिकार नहीं है। १३७२ ई० में कोलोन (Cologne) के मठाधीशों ने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की कि पोप ऐसी दुरवस्था में पड़ गया है कि इन प्रदेशों में कैथोलिक धर्म को गहरा धक्का लगा है। पोप के इटली से चले आने के बाद उसके प्रदेशों को स्थानीय शासकों (Condottieri despots) ने हथिया लिया और पोप के प्रति नाममात्र की आधीनता व्यक्त करते हुए इन प्रदेशों की सारी आय अपने अधिकार में कर ली। पोप अर्बन पंचम (१३६२–७० ई०) ने मीलान के शासक को चर्च से बहिष्कृत करने के लिए जब अपने दो प्रतिनिधि भेजे तो उसने इन्हें आज्ञापत्र की खाल, रेशम की डोरें तथा मुहरें खाने के लिए बाधित किया (१३६२)।[2] १३७६ में फ्लोरेन्स ने पोप ग्रेगोरी एकादश (१३७०–७८) के साथ विवाद में अपने प्रदेश में विद्यमान चर्च की समूची सम्पत्ति जब्त कर ली, चर्च के न्यायालय बन्द कर दिये, प्रतिरोध करने वाले

---

१. विल ड्यूरैण्ट—दी रिनैसां, पृ० ५१।

२. विल ड्यूरैण्ट—दी रिफार्मेशन, पृ० ८।

पादरियों को जेल या फाँसी की सजा दी और सारे इटली को यह प्रेरणा की कि वह चर्च की सांसारिक सत्ता को समाप्त कर दे। अगले ही वर्ष (१३७७) पोप अपनी राजधानी आवीन्योन से रोम ले आये, किन्तु उनकी सत्ता निरन्तर क्षीण होती गयी। फ्रांस और इंगलैण्ड में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो जाने के कारण अब वे पोप की वश्यता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। पोपों के आवीन्योन से रोम चले आने पर आन्तरिक झगड़े बहुत बढ़ गए। जब रोमवालों ने अपना एक पोप अर्बन षष्ठ (१३७८–८९) चुना तो फ्रांस के पक्षपातियों ने इस चुनाव को अवैध ठहराते हुए जेनेवा के राबर्ट को पोप चुना। वह आवीन्योन में क्लेमेण्ट सप्तम के नाम से शासन करने लगा। इससे रोमन कैथोलिक जगत् में दो पोप हो गये और चालीस वर्ष तक चलने वाली **बड़ी फूट** (Great Schism) चर्च को क्षीण बनाने लगी।

पोप एवं राजाओं के संघर्षों के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दोनों में प्रधान मतभेद निम्न विषयों पर थे—(१) दोनों के अधिकार-क्षेत्रों की सीमा निश्चित नहीं थी। प्रधान विवाद इस बात पर था कि पोप को सांसारिक मामलों में तथा राजा को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार कहाँ तक होना चाहिए। (२) बिशप आदि चर्च के प्रमुख अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार पोप को है या राजा को। (३) क्या राज्य को चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार है? (४) क्या राज्य चर्च के कर्मचारियों पर अभियोग चलाने और उन्हें दण्डित करने का अधिकार रखता है? (५) क्या सांसारिक मामलों में पोप को सर्वोच्च सत्ता और शक्ति प्राप्त है? (६) पवित्र रोमन सम्राट् (Holy Roman Emperor) के निर्वाचन में पोप को हस्तक्षेप करने का अधिकार कहाँ तक है?

उपर्युक्त विवादों के समय दोनों पक्षों के समर्थन में बहुत साहित्य लिखा गया। पोप की सत्ता का समर्थन करने वाले पोपवादी (Papalists) अथवा धर्मसत्तावादी (Sacerdotalist) कहलाते हैं और पोप की सर्वोच्च सत्ता का विरोध करने वाले लौकिक सत्तावादी (Secularist) कहलाते हैं। पोप की सर्वोच्च सत्ता के प्रमुख समर्थक हिल्डेब्राण्ड (१०७३–१०८५), सैण्ट बर्नार्ड (१०९१–११५३ ई०), साल्जबरी का जॉन (John of Salisbury 1115–1180 A.D.), सैण्ट थामस एक्विनास (१२२५–१२७४ ई०), आगस्टस ट्रिअम्फस (Augustus Triumphus) तथा इसके विरोधी, पेरिसवासी जॉन, पडुआवासी मारसिलियो (१२७८–१३४३), ओकमवासी विलियम (१२८०–१३४९) तथा दांते (१२६५–१३२१) हैं। इनके प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय अगले अध्याय में दिया जायगा, यहाँ केवल दोनों पक्षों द्वारा अपनी स्थिति का समर्थन करने वाले प्रधान तर्कों का संक्षिप्त उल्लेख होगा।

धर्मसत्ता को सर्वोच्च मानने की युक्तियाँ—पोप के समर्थकों की ओर से पोप की सत्ता को सर्वोच्च सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जाते थे—

(१) **आध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता**—पोप के समर्थकों का एक प्रधान तर्क यह था कि भौतिक जीवन के नियन्त्रण की अपेक्षा आत्माओं के नरक से उद्धार का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः इसे सम्पन्न करने वाले पुरोहितों को भौतिक शासन करने वाले शासकों से अधिक गौरव, सत्ता और प्रतिष्ठा दी जानी चाहिए। एम्ब्रोज़ ने कहा था—"सीसे की और सोने की चमक में जो अन्तर है, वही अन्तर राजाओं के तथा

बिशपों के गौरव में है।[1] ग्रेगोरी सप्तम ने मेत्ज़ के हर्मान्न को लिखे गये अपने सुप्रसिद्ध पत्र में धर्मसत्ता की और राजसत्ता की तुलना करते हुए कहा था कि राजा और सम्राट् शैतानों को नहीं भगा सकते, म्रियमाण पापी का नरक की रौरव यातना से उद्धार नहीं कर सकते, अतः उन्हें बप्तिस्मे और मुक्ति के लिए पादरियों की शरण में आना पड़ता है। आज तक किसी राजा ने मृतकों को जीवन की तथा अंधों को देखने की शक्ति नहीं प्रदान की, कोढ़ियों को ठीक नहीं किया। "इससे यह स्पष्ट है कि धार्मिक व्यक्तियों की प्रतिष्ठा राजाओं से अधिक है।" इसे पुष्ट करने के लिए अनेक उपमायें दी जाती थीं। पहली उपमा शरीर और आत्मा की थी। जैसे आत्मा शरीर से श्रेष्ठ है, उसका शासक है, वैसे ही पुरोहित राजा से उत्कृष्ट तथा उस पर शासन करने वाला है। दूसरी उपमा सूर्य और चन्द्रमा की थी। सूर्य ब्रह्मशक्ति (Sacerdotium) का तथा चन्द्रमा क्षात्र शक्ति (Regnum) का प्रतीक था। जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता है और उससे हीन है, वैसे ही राजसत्ता धर्मसत्ता से अधिकार ग्रहण करने वाली तथा उससे निकृष्ट है। ग्रेगोरी सप्तम तथा इन्नोसैण्ट तृतीय ने इस उपमा का प्रयोग किया था।[2]

(२) **धर्मशास्त्रों के वचन**—बाइबल के पुराने और नये धर्म-नियमों (Old and New Testaments) के वचन धर्मसत्ता की प्रधानता को पुष्ट करने के लिए दिये जाते थे। रीम्ज़ के आर्क बिशप हिंकमार ने नवीं शताब्दी में लोरेन के राजा लोथेयर के तलाक के मामले में (देखिए ऊपर पृ० २७४) पोप के हस्तक्षेप को न्याय्य सिद्ध करने के लिए प्रायः ऐसे सभी धर्म-वचनों का संग्रह किया था, जिनसे पोप की प्रभुता पुष्ट हो सके। इनमें से कुछ वचन ये हैं—(क) मैथ्यू के सुसमाचार या गास्पल (१८।१५–१८) तथा ल्यूक की गास्पल (१०।१६) में ईसा ने वादविवादों के निर्णय का अधिकार अपने शिष्यों को देते हुए कहा, "तुम पृथिवी पर जिसे बन्धन में डालोगे वह स्वर्ग में भी बँधा हुआ पाया जायगा और ज़िसे तुम भूतल पर मुक्त करोगे, वह स्वर्ग में भी मुक्त हुआ पाया जायगा"। ईसा ने पीटर के लिए यह कहा था कि मैं इस चट्टान पर चर्च का निर्माण करूंगा। पोप चर्च के अध्यक्ष होने से पीटर के प्रतिनिधि थे और उसे ईसा द्वारा दी गयी शक्ति के अनुसार सब को शासित करने का अधिकार रखते थे। (ख) जॉन के सुसमाचार या गास्पल (२१।१५–१७) में ईसा ने पीटर को यह उपदेश दिया है, "मेरी भेड़ों का तुम पोषण करो (Feed my sheep)।" इसका यह अर्थ निकाला जाता था कि उसने पीटर को तथा उसके प्रतिनिधि पोप को सब मनुष्यों की देखभाल का ऐसा सार्वभौम अधिकार दिया है कि वह राजाओं का भी नियन्त्रण कर सकता है। पोप इन्नोसैण्ट तृतीय ने इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा था कि ईसा की भेड़ों में रंक और राजा समान रूप से सम्मिलित हैं, अतः उसे राजाओं के आचरण को नियन्त्रित करने तथा युद्ध की क्रूरताओं को बन्द करने का पूरा अधिकार है। (ग) डिट्रानमी (१७।८–१२) के आधार पर इन्नोसैण्ट ने यह परिणाम निकाला कि धार्मिक तथा लौकिक—सभी प्रकार के विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय पोप द्वारा किया जाना चाहिए।

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० १७०।
२. विल ड्यूरैण्ट—दी एज ऑफ फेथ, पृ० ५४७।

(घ) पुराने धर्म-नियम में पैगम्बरों और पुरोहितों को भगवान् द्वारा राजाओं पर अधिकार दिये जाने के अनेक वचन हैं। भगवान् ने पैगम्बर जेरेमिया (Jeremiah) को आज्ञा दी थी (जेरीमिया १।११), "इस बात पर ध्यान दो, आज मैंने तुम्हें राष्ट्रों पर तथा राज्यों के ऊपर नियत किया है, तुम उनका उन्मूलन कर सकते हो, उन्हें नीचे खींचने, नष्ट करने और नीचे फेंकने का कार्य करने का अधिकार रखते हो, तुम उनका निर्माण और बीज वपन भी कर सकते हो।" (See, I have this day set thee over the nations and over the kingdoms, to root out, to pull down, and to destroy and to throw down, to build, and to plant)। इसी तरह ओल्ड टैस्टामैण्ट में भगवान् प्रायः पैगम्बरों और पुरोहितों के माध्यम से यहूदियों में अपने कोप और कृपा को प्रकट करता है। सैमुअल ने साल (Saul) को, नाहन (Nahan) ने डेविड को तथा आहीजाह ने जेरोबोम (Jeroboam) को भगवान् का आदेश और निर्णय दिया था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट था कि धार्मिक पुरोहित राजा पर नियन्त्रण का अधिकार रखते हैं।

(३) **नैतिक नियन्त्रण का अधिकार**—उस समय यह सिद्धान्त माना जाता था कि भगवान् ने पोप को यह अधिकार दिया है कि वह राजाओं के आचार पर नियन्त्रण रखे। सन्त आगस्टाइन का अनुसरण करने वाले विचारक राज्य को पाप का परिणाम मानते थे। इसे पवित्र बनाने के लिए चर्च की सत्ता आवश्यक है। पोपवादियों के मतानुसार राजा तथा अन्य सभी लौकिक मनुष्यों की प्रवृत्ति पाप की ओर होती है। उन्हें सत्य के पथ पर बनाये रखने के लिए उन पर धार्मिक व्यक्तियों और पोपों का नियन्त्रण होना चाहिए।

(४) **ऐतिहासिक प्रमाण**—राजसत्ता पर धर्मसत्ता की प्रभुता पुष्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाण भी दिये जाते थे। **पहला** प्रमाण सन्त एम्ब्रोज़ द्वारा सम्राट् थियोडोसियस की प्रबल भर्त्सना थी (देखिये ऊपर पृ० २४६)। यह कहा जाता था कि एम्ब्रोज़ ने सम्राट् को उस समय तक सम्राट् के अधिकारों से वंचित कर दिया था, जब तक कि वह अपने पाप का प्रायश्चित्त न कर ले। **दूसरा** प्रमाण प्राचीन फ्रांस में ५०३ से ७५२ ई० तक शासन करने वाले मेरोविंजयन वंश के अन्तिम राजा चिल्पेरिक (Chilperic) के स्थान पर पोप ज़कारियास (Zacharias) द्वारा केरोलिंजियन वंश के पेपिन को राजा बनाना था। पेपिन पहले चिल्पेरिक का सामन्त तथा उसके महल का प्रबन्धक (Mayor of the palace) था। इस स्थिति में उसने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली, फिर भी वह राजा न बन सका, क्योंकि मेरोविंजयन लोगों का यह अन्धविश्वास था कि उनमें राजा वही बन सकता है, जिसकी धमनियों में उनके पूर्वज मेरोवियस (Meroveus) का रक्त प्रवाहित हो और जिसके बाल लम्बे हों।[1] अतः, पेपिन ने राजा बनने के लिए पोप के पास दूतमंडल भेजकर उससे यह पूछा कि क्या यह न्यायोचित नहीं है कि जिसके पास राज्य करने की शक्ति हो, उसे राजा का नाम दिया जाय। पोप ने इससे सहमति प्रकट करते हुए इसे लिखित रूप में दिया और यह सहमति-पत्र ७५१ ई० में सोईस्सों (Soissons) में बुलाई गई फ्रैंकों की सभा में पढ़ा गया, पोप की

---

१. डेविस—ए हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० १३२।

आज्ञा से पेपिन को राजा कहा गया तथा सन्त बोनीफेस ने उसका अभिषेक किया।[1] इस प्रमाण के आधार पर पोप सम्राटों पर अपना आधिपत्य समझते थे। **तीसरा** प्रमाण कांस्टैण्टाइन का दान (Donation of Constantine) है। पहले (पृ० २७३) यह बताया जा चुका है कि सम्राट् कांस्टैण्टाइन ने राजधानी बदलते समय रोम के पोप सिलवेस्टर को किन परिस्थितियों में राज्य का दान किया था। यह जाली दानपत्र पोप हेड्रियन ने ७७४ ई० में शार्लमेगन के सम्मुख पेश किया था। १४३९ में लोरेन्ज़ो वाल्ला द्वारा इसकी जालसाज़ी का भण्डाफोड़ होने तक इसे प्रामाणिक समझा जाता रहा और मध्य युग के पोपवादियों ने इसकी प्रगतिशील व्याख्या द्वारा पोप की सत्ता का प्रदेश शनैः-शनैः बढ़ाना शुरू किया। शुरू में सम्राट् का दान केवल रोम तथा इटली में बाइज़ेण्टाइन साम्राज्य के प्रदेश तक सीमित समझा जाता था। किन्तु ग्रेगोरी सप्तम के समय बिशपों की नियुक्ति के विवाद में इसका क्षेत्र पश्चिम में समूचा रोमन साम्राज्य समझा जाने लगा और यह कहा जाने लगा कि यह कांस्टैण्टाइन का दान नहीं था, किन्तु चर्च को पहले से प्राप्त अधिकार की स्वीकृति थी। अल्वेरस पेलेगियस (Alvarus Pelagius) के मतानुसार इस दान से सम्राट् ने यह स्वीकार किया कि उसे इस प्रदेश पर कोई वैध अधिकार नहीं था, क्योंकि चर्च ने उसे यह प्रदेश प्रदान नहीं किया था। आगस्टिनस (Augastinus) का यह मत है कि यह दान नहीं, किन्तु अन्यायपूर्ण तथा अत्याचारपूर्ण रीति से पादरियों से छीने हुए अधिकारों को उन्हें पुनः लौटा देना था।[2] राजसत्ता के समर्थक पेरिसवासी जॉन आदि विचारकों ने पोपवादियों के तर्क का खंडन करते हुए कहा कि यह दान सर्वथा अवैध था क्योंकि किसी सम्राट् को अपने साम्राज्य को विघटित करने का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही वे इसका क्षेत्र भी संकुचित करते थे, फ्रांस और जर्मनी का प्रदेश इस दान में सम्मिलित नहीं करते थे।

चौथा प्रमाण शार्लमेगन को पोप लिओ द्वारा ८०० ई० में राज्याभिषेक द्वारा पवित्र रोमन सम्राट् बनाना था (देखिए ऊपर पृ० २३९)। इससे यह परिणाम निकाला जाता था कि जब पोप ने फ्रैंक राजा को सम्राट् का पद और अधिकार दिया है तो वह इसे छीनने का भी अधिकार रखता है, वह सम्राट् का नियन्त्रण करने में और उसे सिंहासनच्युत करने में पूर्ण रूप से समर्थ है।

राजसत्ता की स्वतन्त्रता की युक्तियाँ -- धर्मसत्ता के उपर्युक्त दावों के उत्तर में राजाओं की स्वाधीनता को पुष्ट करने के लिए दी जाने वाली प्रधान युक्तियाँ और प्रमाण निम्नलिखित थे :

(१) **राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त** (Doctrine of Divine Right of Kings) -- राजसत्तावादियों का यह कहना था कि ईसा ने धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के पार्थक्य पर बल दिया है (देखिए ऊपर पृ० २४०)। यदि पुरोहित का कार्य दैवीय है अर्थात् उसे भगवान् से यह कार्य करने का अधिकार मिला है तो राजा को भी शासन का कार्य भगवान् से मिला है। वह अपने कार्यों के लिए भगवान् के प्रति उत्तरदायी है। राजाओं का कर्त्तव्य है कि वे न्यायपूर्वक

---

१. डेविस—ए हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० १३२।
२. मेकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० २७०-७१।

शासन करते हुए चर्च के तथा पुरोहितों के हितों का संरक्षण करें, प्रजा का कल्याण करें। किन्तु यदि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका दैवी अधिकार नष्ट हो जाता है अथवा चर्च को उन्हें प्रायश्चित आदि विशुद्ध आध्यात्मिक दण्ड देने के सिवाय गद्दी से उतारने आदि के लौकिक दण्ड देने का अधिकार है। भगवान् के प्रति उत्तरदायी होने से इहलोक में कोई उनके कार्यों को नियन्त्रित नहीं कर सकता, उन्हें अपने बुरे कार्यों के लिए भगवान् ही मृत्यु के बाद परलोक में दण्ड देने का अधिकार रखते हैं। राजाओं का अच्छा या बुरा होना भगवान् पर निर्भर है। भगवान् अपना प्रयोजन पूरा करने के लिए आवश्यकतानुसार दोनों प्रकार के राजा भूतल पर भेजते रहते हैं। राजा यदि दयालु हो तो समझना चाहिए कि उस देश की प्रजा पर भगवान् का अनुग्रह है, यदि राजा क्रूर हो तो यह मानना चाहिए कि भगवान् उस देश की प्रजा से प्रकुपित हैं। प्रजा का परम धर्म राजा की इच्छा का पालन करना है। यदि राजा अत्याचारी है तो इसे प्रजा को अपने पापों का परिणाम समझना चाहिए और उसके अत्याचारों से परित्राण पाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए।[1] इस सिद्धान्त का सुस्पष्ट प्रतिपादन नवीं शताब्दी में इसे खण्डित करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में रीम्ज़ के आर्क बिशप हिंकमार ने किया था, यद्यपि उसने इसे शैतान की भावना से भरा हुआ बताया था, किन्तु बाद में यह राजाओं के पक्ष-समर्थन का एक प्रधान आधार हो गया।

हेनरी चतुर्थ ने ग्रेगोरी सप्तम के साथ विवाद में इस युक्ति पर बल देते हुए कहा था कि यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि सारी शक्ति का मूल स्रोत भगवान् है, सम्राट् ने तथा पोप ने अपनी शक्ति भगवान् से ग्रहण की है। चूँकि राजा ने यह शक्ति सीधे रूप में भगवान् से ली है, चर्च के माध्यम से नहीं ली, अतः वह अपने कार्यों के लिए केवल भगवान् के प्रति उत्तरदायी है, उसके कार्यों के निर्णय का अधिकार भगवान् को है, अतः पोप उसे गद्दी से हटाने का अधिकार नहीं रखता। राजसत्तावादियों की यह युक्ति बड़ी प्रबल थी, जिलेसियस के दो तलवारों के सिद्धान्त (देखिए ऊपर पृ० २५४) के अनुरूप थी। उसमें धर्मशक्ति और राजशक्ति को दो पृथक् तलवारें बताया गया था और ये एक व्यक्ति के हाथ में संयुक्त नहीं हो सकती थीं। ग्रेगोरी ने सांसारिक मामलों में हस्तक्षेप करके अपने हाथ में दोनों सत्ताओं को संयुक्त करने का प्रयत्न किया। उसका यह कार्य पुराने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। राजाओं के भगवान् के प्रति उत्तरदायी होने से चर्च उनके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यदि चर्च को ईसा का प्रतिनिधि (Vicar of Christ) होने से दैवी अधिकार प्राप्त हैं तो राजा को भी ईश्वर का प्रतिनिधि (Viceregent of God) होने से दिव्यता प्राप्त है और वह राजनीतिक मामलों में सर्वथा स्वतन्त्र है, चर्च को इसमें हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है।

(२) **धार्मिक प्रमाण**—जिस प्रकार पोपवादी (Papalists) अपने दावों का समर्थन करने के लिए बाइबल के प्रमाणों को उद्धृत करते थे, उसी प्रकार राजसत्तावादी अपने पक्ष की पुष्टि के लिए बाइबल के निम्नलिखित वचनों को उपस्थित करते थे—(क) सन्त पाल ने रोमनों के नाम लिखे पत्र (१३।१-७) में यह घोषणा की थी—

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७७।

"(संसार में जो) राजनीतिक शक्तियाँ हैं, उनकी व्यवस्था भगवान् द्वारा की गयी है। अत: जो इस शक्ति का विरोध करता है, वह भगवान् की व्यवस्था का विरोध करता है। वह (राजा) भगवान् की आज्ञाओं का पालन करने वाला सेवक (Minister) है। वह पाप करने वाले पर भगवान् का प्रकोप डालने वाला तथा बदला लेने वाला है। अत: तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि तुम न केवल प्रकोप सहन करने के लिए, किन्तु अपने अन्त:करण की दृष्टि से भी (राजा) के वशवर्त्ती बनो।"[१] इसी प्रकार ईसा के प्रधान शिष्य पीटर ने भी यह आदेश दिया है कि "भगवान् के लिए मनुष्य (राजा) के प्रत्येक आदेश का पालन करना चाहिए (१, पीटर २।१५–१७)।

राजसत्ता का प्रबल पोषण करने वाले पाल और पीटर के वचनों का खण्डन करने के लिए धर्मसत्तावादियों ने यह कहा था कि शासक दो प्रकार के होते हैं—राजा (King) तथा तानाशाह (Tyrant)। उपर्युक्त वचन राजाओं के संबंध में कहे गये हैं, अत: उन्हीं की आज्ञा का पालन करना चाहिए, न कि तानाशाहों के आदेशों का। हिंकमार के समय से धर्मसत्तावादी इन दो प्रकार के शासकों में अन्तर करते रहे। उनका दूसरा तर्क यह था कि ये वचन साधारण जनता के लिए कहे गये हैं, पादरियों के लिए नहीं हैं। पोप इन्नोसैण्ट तृतीय (११६१–१२१६ ई०) ने कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् एलेक्सियस को लिखे गये एक पत्र में इस युक्ति का समर्थन किया था। किन्तु ये दोनों तर्क बड़े लचर थे। अत: धर्मसत्तावादी ओल्ड टैस्टामैण्ट की एक पुस्तक होसिया (Hosea ८।४) के एक वचन के आधार पर राजाओं के दैवीय होने के दावों का खण्डन किया करते थे। इसमें कहा गया है—"उन्होंने राजाओं को स्थापित किया है, किन्तु वे मेरे द्वारा नहीं स्थापित किये गये। उन्होंने राजकुमारों को बनाया है, मैं इसे नहीं जानता हूँ।"[२] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि राजसंस्था भगवान् की ओर से नहीं बनाई गई। किन्तु राजसत्तावादी इसके खण्डन में ओल्ड टैस्टामैण्ट से ही अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते थे। इनके अनुसार यहूदियों में साल पर तथा अन्य राजाओं पर भगवान् की कृपा थी, भगवान् ने उन्हें अपना प्रयोजन पूरा करने के लिए भेजा था। अत: राजसंस्था को ईश्वरीय माना जाना चाहिए। किन्तु ओल्ड टैस्टामैण्ट में राजाओं पर पुरोहितों की प्रभुता का समर्थन करने वाले प्रमाणों से उनके पक्ष की पुष्टि की गयी थी। पर इन ग्रन्थों के पक्षपात से दूषित होने के कारण इन के आधार पर दिये गये उदाहरणों का प्रामाण्य राजसत्तावादियों के मतानुसार संदिग्ध था।

(३) दो सत्ताओं का विचार—ईसा के समय धार्मिक एवं लौकिक सत्ता के पार्थक्य पर बल दिया जाता था। जिलेसियस के दो तलवारों के सिद्धान्त में इसे स्वीकार किया गया था। राजसत्तावादियों का यह मत था कि ब्रह्म और क्षत्र शक्ति एक ही ईसाई राज्य (Christian Commonwealth) के दो पार्श्व हैं, इन दोनों में सामंजस्य और

---

१. Rom. XIII, 1—7.

The powers that be are ordained of God. Whosoever therefore resisteth the power resisteth the ordinance of God. He is the minister of God, a revenger to execute wrath upon him that doeth evil. Wherefore ye must needs be subject, not only for wrath, but also for conscience sake.

२. Hosea viii, 4, They have set up king, but not by me; they have made princes, and I knew it not.

सौहार्द बना रहना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब राज्य धार्मिक मामलों में चर्च का वशवर्त्ती रहे और चर्च सांसारिक मामलों में राज्य के अधीन हो। धर्मवादियों का यह तर्क ठीक नहीं है कि नैतिक जीवन का नियामक होने से वह राज्य से ऊंची स्थिति रखता है। राज्य भी नैतिक जीवन को बनाये रखने के लिए आवश्यक है, यदि वह न रहे तो समाज में अपराधों का और अनीति का साम्राज्य हो जाय। अतः नैतिक जीवन की पवित्रता को बनाये रखने के लिए राज्य की सत्ता आवश्यक है और वह इस विषय में चर्च के समान महत्त्व रखता है। चर्च नैतिक आधार पर राज्य के नियन्त्रण करने या उसे वशवर्त्ती बनाने का दावा नहीं कर सकता। दोनों सहवर्त्ती (Co-ordinate), किन्तु पृथक् एवं स्वतन्त्र अधिकारों (Postestates distinctae) को रखने वाली सत्तायें हैं।

(४) **रोमन कानून के प्रमाण**—१२वीं शताब्दी में पवित्र रोमन सम्राट् फ्रेडरिक बारबरोसा (११५३–११९० ई०) के प्रोत्साहन से इटली में बोलोन्या तथा अन्य स्थानों में जस्टीनियन के कोड (देखिये ऊपर पृ० २२८) तथा रोमन कानून के अध्ययन का पुनरुज्जीवन हुआ और विधिशास्त्री कानून के आधार पर राजसत्ता का समर्थन करने लगे। पहले (पृ० २३०) रोमन विधिशास्त्र के इस सिद्धान्त का उल्लेख हो चुका है कि राजा की इच्छा ही कानून का निर्माण करती है। अब विधिशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त के आधार पर राजा के निरंकुश अधिकार का समर्थन करते हुए पोप के अधिकार-क्षेत्र को नियन्त्रित करना शुरू किया। १२वीं शताब्दी के आरम्भ में चर्च के नियमों और कानून का संग्रह करने वाले ग्रेशियन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ Decretum Gratiani में लिखा था, "राजाओं की आज्ञायें चर्च की आज्ञाओं का अनुसरण करती हैं, अतिक्रमण नहीं करतीं" (The decrees of Princes do not take precedence over, but follow the decrees of the church)[1]। फ्रेडरिक द्वारा रोमन कानून के प्रोत्साहन से जर्मन सम्राटों के पक्ष का समर्थन होने लगा। ग्रेशियन के सिद्धान्त के विरोध में रोमन कानून का यह सिद्धान्त बलपूर्वक रखा जाने लगा कि राजा अपनी इच्छा से कोई भी कानून बना सकता है। चर्च का यह कहना था कि पोप लिओ ने शार्लमेगन को राजसत्ता प्रदान की थी। यह पहले कुस्तुन्तुनिया के बाइज़ैण्टियन सम्राटों में थी, लिओ द्वारा इसे शार्लमेगन को दिया गया। इसे कानूनी भाषा में साम्राज्य की शक्ति का संक्रमण या स्थानान्तरीकरण (Translatio imperi) कहा जाता था। इसके सर्वथा प्रतिकूल विधिशास्त्रियों ने 'अविच्छिन्न साम्राज्य शक्ति' (Imperium Continuum) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार पुराने रोमन सम्राटों के समय से साम्राज्य की शक्ति सतत एवं अव्याहत रूप में चली आ रही थी, अतः जर्मन सम्राटों को यह शक्ति पोप ने प्रदान नहीं की। १०८४ ई० में रावेन्ना में रोमन कानून के अध्यापक पीटर क्रासस (Peter Crassus) ने हेनरी और ग्रेगोरी के विवाद में हेनरी चतुर्थ का समर्थन करते हुए अपने ग्रन्थ (Defensio Henrici IV regis) में यह तर्क दिया[2] कि हेनरी का राज्य उसे बाप-दादा से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति है, पोप को इसमें

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८० ।
२. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० २१० ।

हस्तक्षेप का वैसे ही कोई अधिकार नहीं है जैसे उसे किसी व्यक्ति की पैतृक सम्पत्ति में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। इसे उसने रोमन कानून से पुष्ट किया। मध्ययुग के एक महान् विधिशास्त्री बार्टोलस (१३१४--१३७३ ई०) ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सम्राट् पृथिवी पर भगवान् का अवतार (Deus in terres) है, उसकी प्रभुशक्ति कभी दूसरे व्यक्ति को न दी जा सकने वाली या अनन्यक्राम्य (Inalienable) है, इस विषय पर विवाद करना धर्म-विरुद्ध है। पोप इन्नोसैण्ट तृतीय ने धार्मिक सत्ता की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए सार्वभौमता की युक्ति देते हुए कहा था कि राजा की सत्ता का अधिकार-क्षेत्र सीमित प्रदेश होता है, किन्तु चर्च की सत्ता समूचे मानव समाज पर लागू होने से विश्वव्यापी है। इसके उत्तर में विधिशास्त्रियों ने यह सिद्धान्त रखा कि पवित्र रोमन सम्राट् की सत्ता कानूनी तौर से समूचे प्राचीन रोमन साम्राज्य पर तथा बाद में जीते हुए जर्मनी के प्रदेश पर लागू होने के कारण सार्वभौम और विश्वव्यापी है। पुराने रोमन राजा सम्पूर्ण सभ्य जगत् पर शासन करते थे, उनके उत्तराधिकारी पवित्र रोमन सम्राट् भी समूची दुनिया के शासक हैं और चर्च के प्रभुत्व से स्वतन्त्र हैं। अगले अध्याय में दोनों पक्षों के प्रमुख विचारकों का परिचय दिया जायगा।

दसवाँ अध्याय

मध्ययुग के प्रमुख विचारक

मध्ययुग के योरोप में चर्च और राज्य के, ब्रह्म तथा क्षत्र-शक्ति के उग्र संघर्ष[1] के कारण धार्मिक सत्ता और राजसत्ता के पारस्परिक संबंध का प्रश्न राजनीतिक चिन्तन का प्रधान विषय था। इस संघर्ष ने दोनों पक्षों का समर्थन करने वाले अनेक विचारक उत्पन्न किये। यहाँ पहले धर्मसत्ता और पोप का पक्ष पुष्ट करने वाले तथा बाद में राजसत्ता अथवा क्षत्र-शक्ति की प्रधानता प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

---

१. भारतीय विचारधारा में राजा की शक्ति को क्षत्र (क्षत्रं राजन्यः; ऐतरेय ब्राह्मण ८।६, शत० ब्रा० १३।१।५।३) तथा ब्राह्मण की धार्मिक शक्ति को ब्रह्म कहा गया है। वैदिक युग से समाज में इनके समन्वय और सामंजस्य पर बल दिया गया है। शुक्ल यजुर्वेद (२०।२५) में कहा गया है कि जहाँ ब्रह्म और क्षत्र मिलकर चलते हैं उसे पुण्य लोक जानना चाहिए, वहाँ देवता अग्नि सहित निवास करते हैं (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥)। महाभारत (३।१८।१०) में दल्भपुत्र बक ने युधिष्ठिर को कहा है कि ब्रह्म क्षत्र से तथा क्षत्र ब्रह्म से संयुक्त होकर शत्रुओं का वैसे ही विनाश कर देते हैं, जैसे आग और हवा मिलकर शीघ्र ही वनों को भस्म कर देते हैं (ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह। उदीर्णौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ)। शान्तिपर्व के ऐलकाश्यप संवाद (१२।७३) द्वारा भीष्म ने युधिष्ठिर को ब्रह्म क्षत्र संघर्ष के भयंकर परिणामों को बताते हुए कहा है कि इससे राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जाता है (१२।७३।८ वृद्धं राष्ट्रं भवति क्षत्रियस्य ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरुध्यती ह। नीलकण्ठी टीका वृद्धं-छिन्नं)। प्रजा को दुस्सह दुख होता है (१२।७२।२८)। काव्य साहित्य में ब्राह्मणों की शक्ति को राज्य की समृद्धि का हेतु माना गया है। कालिदास के रघुवंश में दिलीप ने अपनी प्रजा के दीर्घायु, निश्शंक और दैवी आपत्तियों से शून्य होने का कारण वसिष्ठ के ब्राह्म तेज को बताया है '(१।६३, पुरुषायुषजीविन्यो निरातंका निरीतयः। यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद् ब्रह्मवर्चसम्॥)' भट्टिकाव्य (१।२१) में विश्वामित्र ने दशरथ को कहा है कि क्षत्रिय और ब्राह्मण की शक्तियाँ एक-दूसरे के उपकार के लिए होती हैं।

योरोप की भाँति भारत में ब्रह्म और क्षत्र शक्तियों में कोई बड़ा संघर्ष नहीं हुआ। इसका बड़ा कारण यह था कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण को समाज में सर्वोच्च सम्मान दिया गया था, किन्तु भौतिक शक्ति नहीं दी गयी। पोपों की भाँति यहाँ ब्राह्मणों का धार्मिक संगठन कभी ऐसा प्रबल शक्तिसम्पन्न नहीं हुआ कि वह क्षत्र शक्ति को चुनौती दे सके। इसके अतिरिक्त यहाँ क्षत्रिय को ब्राह्मणों की पूजा करने और श्रेष्ठ मानने को कहा गया (महाभारत १२।७३।३२, एवं राज्ञा विशेषेण पूज्याः वै ब्राह्मणाः सदा। राज्ञः सर्वस्य चान्यस्य स्वामी राजपुरोहितः॥)।

पोप की प्रभुता के समर्थक विचारक

सन्त बर्नार्ड (१०९१–११५३ ई०)—बारहवीं शताब्दी के इस सुप्रसिद्ध फ्रेंच सुधारक और बुद्धिवाद के कट्टर विरोधी बर्नार्ड को इस बात का श्रेय है कि उसने दो तलवारों के सिद्धान्त की नवीन व्याख्या द्वारा राज्य पर चर्च की प्रभुता का प्रबल समर्थन किया। उसका यह मत था कि "धार्मिक शक्ति की आध्यात्मिक तलवार तथा राजनीतिक शक्ति की सांसारिक तलवार—दोनों ही चर्च की हैं। किन्तु सांसारिक तलवार चर्च के लिए तथा आध्यात्मिक तलवार चर्च द्वारा खींची जानी चाहिए। आध्यात्मिक तलवार का प्रयोग पादरी के हाथ से होना चाहिए और सांसारिक तलवार का प्रयोग क्षत्रिय (Knight) के हाथ से, किन्तु पादरी की इच्छा पर (ad nutun) तथा सम्राट् की आज्ञा से होगा।"[1]

इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि राजदण्ड का प्रयोग राजा चर्च की इच्छा से ही कर सकता है, और सम्राट् को पोप का वशवर्त्ती रहना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही उसका यह भी मत था कि चर्च को सांसारिक मामलों में नहीं पड़ना चाहिए, ये आध्यात्मिक विषयों की तुलना में अतीव क्षुद्र हैं। अतः पोप को चर्च का प्रादेशिक विस्तार करने के लिए द्वितीय क्रूसेड के संचालन के और राजनीति के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। पोप यूजेनियस तृतीय (११४५–११५३) को लिखे एक पत्र (De consideration) में बर्नार्ड ने पोप द्वारा सांसारिक कार्यों के किये जाने की बड़ी कड़ी आलोचना की थी। ईसा मसीह ने सम्पत्ति के एक विवाद में निर्णय करने से इन्कार कर दिया था, किन्तु वे आत्माओं के भाग्य का निर्णय करते रहे। मनुष्यों को पापों से मुक्त करने के तथा जायदादों के बँटवारा करने के दोनों कार्यों में कोई तुलना ही नहीं है। पोप को अत्यन्त हेय एवं घृणित सांसारिक कार्य राजाओं के लिए छोड़ देने चाहिएँ। "तुम दूसरे के खेत में क्यों घुसते हो! तुम दूसरे की फसल पर अपना हंसिया क्यों चलाते हो!"[2] पोप का कार्य शासन करना नहीं, किन्तु ईसा की भेड़ों को चराना अर्थात् सब मनुष्यों की धार्मिक आवश्यकताओं को पूरा करना है। बर्नार्ड यद्यपि सांसारिक शक्ति पर भी पोप का प्रभुत्व मानता था, किन्तु इसे इतना हीन समझता था कि चर्च को इनसे उदासीन रहते हुए अपनी सारी शक्ति और समय धार्मिक कार्यों में लगानी चाहिए।

साल्ज़बरी का जॉन (John of Salisbury 1115—1180)—सन्त बर्नार्ड के सिद्धान्त का अधिक स्पष्ट और युक्तियुक्त प्रतिपादन साल्ज़बरी निवासी ब्रिटिश

अतः यहाँ कभी ऐसे संघर्ष की स्थिति नहीं उत्पन्न हुई। इसका एकमात्र प्रसिद्ध उदाहरण वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड अध्याय ५१-५६) में वर्णित वसिष्ठ और विश्वामित्र का संघर्ष है। इसमें विश्वामित्र ने वसिष्ठ की ब्राह्म-शक्ति से परास्त होने पर कहा था—क्षत्रिय के बल को धिक्कार है, ब्रह्म तेज ही यथार्थ बल है। वसिष्ठ के अकेले ब्राह्मदण्ड ने मेरे सब शास्त्र निष्फल कर दिए हैं (१।५६।२३, धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्। एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे)।

१. मेकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थाट इन दी वैस्ट, पृ० २३०।

२. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० १८३।

विचारक जॉन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पोलिक्रैटिकस (Polycraticus) में किया। सैबाइन के मतानुसार इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व इस बात में है कि मध्ययुग में राजनीतिक दर्शन के विस्तृत और क्रमबद्ध विवेचन का यह प्रथम प्रयास है।[1] इसके लेखक ने फ्रांस में अबीलार्ड (Abelard) जैसे सुप्रसिद्ध गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी, वह यूनान की और रोम की तथा अपने समय की विचारधारा से परिचित था, इंगलैण्ड में कैण्टरबरी के दो आर्कबिशपों का सचिव रहा था। उसने थामस बैकेट और ब्रिटिश राजा के संघर्ष को और बैकेट के बलिदान को देखा था, उसे चर्च का, और राज-दरबारों का प्रत्यक्ष अनुभव था। उसने जब पोप हेड्रियन चतुर्थ (११५४–५९ ई०) से चर्च के पतन की शिकायत की तो उसे उत्तर मिला, "मनुष्य तो मनुष्य ही रहेंगे, भले ही उन्हें (पादरी का) चोला पहना दिया जाय"। राज्यों को वह चर्च से भी गया-बीता समझता था। इनके सुधार के लिए तथा आदर्श राज्य का चित्रण करने के लिए उसने उपर्युक्त ग्रन्थ लिखा था। इसमें उसके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) **चर्च की सर्वोच्च सत्ता**—उसने बर्नार्ड के सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए कहा कि प्रारम्भ में चर्च के पास आध्यात्मिक सत्ता की और धार्मिक सत्ता की दो तल-वारें थीं। ईसा ने ये दोनों तलवारें पीटर को दी थीं। यदि ईसा पीटर को आध्यात्मिक शक्ति की केवल एक तलवार देता तो वह पीटर को यह न कहता कि मैंने तुझे स्वर्ग की कुँजियाँ (Keys) दी हैं (मैथ्यू की गास्पल १८।१५–१८), यहाँ बहुवचन का प्रयोग न होता। इससे स्पष्ट है कि पीटर ने ईसा से दोनों शक्तियों की तलवारें प्राप्त कीं और इन्हें चर्च को प्रदान किया। चर्च ने इनमें आध्यात्मिक शक्ति की तलवार अपने पास रखी और लौकिक शक्ति की तलवार राजा को इस शर्त्त पर सौंपी कि वह उसका प्रयोग चर्च की ओर से तथा चर्च की इच्छानुसार करेगा। जॉन के शब्दों में "इस तलवार (सांसारिक मामलों में दण्ड शक्ति के अधिकार) को राजा चर्च के हाथ से ग्रहण करता है। यद्यपि इस रक्तमय तलवार को चर्च अपने हाथ में नहीं थामता तथापि इस पर उसका स्वामित्व है। चर्च इस का प्रयोग राजा के हाथ से कराता है और (लौकिक विषयों में) उसे दण्ड का अधिकार देता है, किन्तु आध्यात्मिक विषय पादरियों के लिए ही सुरक्षित रख लेता है। अतः राजा वस्तुतः चर्च का सेवक है और वह पवित्र कर्त्तव्यों के उस भाग को पूरा करता है, जिसका किया जाना चर्च द्वारा उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यद्यपि ईश्वरीय नियमों का प्रत्येक कर्त्तव्य, धार्मिक और पवित्र है, तथापि अपराधों के लिए दण्ड देने का कार्य घटिया दर्जे का है, और जल्लाद का काम प्रतीत होता है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि राज्य चर्च के आधीन है, चर्च के लिए राज्य का काम जल्लाद का-सा होने के कारण, उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है, अतः यह कार्य उसने राज्य को सौंप दिया है।

(ख) **जॉन का दूसरा सिद्धान्त राज्य की जीवशास्त्रीय** (Organic) **धारणा**

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० २१७।

२. मेकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थाट इन दी वैस्ट, पृ० २२९, डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८५।

है और इससे भी वह राज्य पर चर्च की प्रभुता को पुष्ट करता है। उसका यह मत है कि राज्य में राजा का वही स्थान है, जो शरीर में सिर का है, वह उस पर शासन करता है। विधान सभा राज्य का हृदय है, न्यायाधीश और प्रान्तों के शासक आँख, कान, जीभ के समान हैं, सैनिक उसकी भुजायें हैं और किसान उसके पैर। शरीर में चर्च की प्रतीक आत्मा होती है। जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है, उसी प्रकार राज्य पर चर्च का शासन है। इसका एक प्रमाण यह है कि जब तक पादरियों द्वारा राज्याभिषेक नहीं होता, तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं बनता।

(ग) राजत्व के संबंध में उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि विभिन्न शासन प्रणालियों में राजतन्त्र ही श्रेष्ठ है। उसने अरस्तू, सिसरो आदि पुराने विचारकों का समर्थन करते हुए कानून की प्रभुसत्ता पर बल दिया, इसे मनुष्यों का शासन करने वाला बताया। कानून को वह दैवी इच्छा का शाश्वत और अपरिवर्त्तनशील सिद्धान्त समझता था। राजा इस कानून के आधीन है और उसका सेवक है।

(घ) जॉन का चौथा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त राजा (King) और अत्याचारी शासक (Tyrant) में भेद करना तथा अत्याचारी शासक के वध (Tyrannicide) का समर्थन करना था। दैवी कानून का पालन न करने वाला, न्याय (Righteousness) के अनुसार शासन न करने वाला तथा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वाला राजा अत्याचारी शासक हो जाता है। इसके वध का समर्थन करते हुए उसने लिखा था, "यदि शासक की शक्ति दैवीय आज्ञाओं का विरोध करती है, भगवान् के विरुद्ध किये जाने वाले युद्ध में मुझे सम्मिलित करना चाहती है तो मुझे मुक्तकंठ से यह उत्तर देना चाहिए कि इस पृथ्वी पर किसी भी मनुष्य की तुलना में भगवान् को महत्त्व देना चाहिए। अत्याचारी शासक का वध करना केवल वैध ही नहीं, अपितु उचित और न्याय्य है (To kill a tyrant is not merely lawful, but right and just)। उसने प्राचीन इतिहास तथा ओल्ड टैस्टामैण्ट में से अनेक अत्याचारी राजाओं Eglon Holofernes आदि के उदाहरण दिये हैं।[1]

किन्तु ऐसे राजा के वध के लिए कई कठोर शर्त्तें लगा कर वह इस अधिकार को सीमित करता है। पहली शर्त्त यह है कि किसी धर्म-विरुद्ध कार्य द्वारा ऐसे शासक का अन्त न किया जाय। उदाहरणार्थ, इसे विष नहीं देना चाहिए, क्योंकि बाइबल में इसका कोई उदाहरण नहीं है। दूसरी शर्त्त यह है कि हत्यारा राजा के प्रति भक्ति की शपथ से बँधा हुआ नहीं होना चाहिए। वह ऐसे शासक के अन्त करने का सबसे सुरक्षित और उपयोगी ढंग प्रार्थना को मानता है। अत्याचारी शासक भगवान् द्वारा पापों का दण्ड देने के लिए भेजे जाते हैं, अतः भगवान् से की गई प्रार्थना ही मनुष्यों को अत्याचारी शासकों के शिकंजे से मुक्त कर सकती है।

मेनगोल्ड (Manegold of Lutterbach)—ग्रेगोरी सप्तम और हेनरी चतुर्थ के विवाद में पोप की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल समर्थन करने वाले, आल्सेस में लटरबैक के स्थान रहने वाले मेनगोल्ड का विशेष महत्त्व राजा-प्रजा के समझौते या संविदा के

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८७, भारत में अत्याचारी राजाओं के प्रजा द्वारा वध के अधिकार और उदाहरणों के लिये देखिये ऊपर पृ० ३६।

सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में है। वह राजाओं की लौकिक सत्ता (Secular authority) को ईश्वरीय समझते हुए भी यह मानता था कि यह सत्ता उसे जनसमुदाय से एक समझौते (Pactum) के रूप में प्राप्त होती है। उसके मतानुसार राजा की शक्ति अन्य सब सांसारिक शक्तियों से अधिक होती है, अतः उसका उपयोग दुष्ट और दुश्चरित्र व्यक्तियों द्वारा नहीं होना चाहिए। शासन करने वाले राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह गौरव और सद्गुणों में सभी व्यक्तियों से बढ़ा-चढ़ा हो, शक्ति का प्रयोग निष्पक्ष भाव से करे। उसे इस लिए ऊंचा नहीं उठाया गया कि वह दूसरों पर अत्याचार करे। "यदि वह व्यक्ति जो सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के दमन के लिए चुना गया है, स्वयं दुष्टता करता है, सज्जनों का विरोध करता है, अत्याचार को रोकने के स्थान पर स्वयं अत्याचार करता है तो क्या यह स्पष्ट नहीं है कि वह उस पद का अधिकारी नहीं रह जाता और जनता उसके शासन और अधीनता से मुक्त हो जाती है। वह स्वयं सर्वप्रथम उस संविदा (Pactum) का उल्लघंन करता है जिसके द्वारा वह शासक बनाया गया था।[1]

मेनगोल्ड ऐसे अत्याचारी राजा के प्रति निष्ठा न रखना विश्वासघात या धर्म-विरुद्ध आचरण नहीं समझता। उसने एक हीनोपमा देते हुए कहा है यदि सूअरों के झुण्ड का मालिक इन्हें पालने के लिए किसी व्यक्ति को निर्धारित मजदूरी पर रखता है और वह व्यक्ति उनकी देखभाल और पालन-पोषण न करके सूअरों की चोरी या हत्या शुरू कर देता है तो क्या मालिक उसे मजदूरी देने से मना नहीं करेगा? और उसे निरादरपूर्वक नौकरी से नहीं हटा देगा? जब सूअरों जैसे हीन प्राणियों के संबंध में यह स्थिति है, तो इनसे उच्चतम मनुष्यों के शासन में विफल होने वाले तथा समझौते को तोड़ने वाले राजा की निष्ठा से उसकी प्रजा क्यों नहीं मुक्त हो सकती? उसने राजाओं की उत्पत्ति के संबंध में यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त रखा, "कोई मनुष्य अपने को स्वयमेव सम्राट् या राजा नहीं बना सकता; जनता ही किसी मनुष्य को अपने ऊपर इस उद्देश्य से स्थापित करती है कि वह उन पर न्यायपूर्वक शासन करे।"[2] मर्रे के मतानुसार मेनगोल्ड पहला मध्ययुगीन विचारक है, जिसने राजा और प्रजा के संबंध का आधार संविदा को माना है और उसने यह विचार तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था से ग्रहण किया।[3] संविदा के सिद्धान्त के कारण उसे लॉक और रूसो का पूर्वज माना जा सकता है। उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ग्रेगोरी सप्तम द्वारा हेनरी चतुर्थ की प्रजा को सम्राट् की राजभक्ति से मुक्त करने का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया। उसका कहना था कि हेनरी ने प्रजा के साथ किये हुए समझौते का भंग किया है, अतः वह प्रजा से राजभक्त रहने की माँग नहीं कर सकता।

सन्त थामस एक्विनास (१२२५–१२७४ ई०)

(क) जीवनी—मध्ययुग के दार्शनिक शिरोमणि; पोपों द्वारा सन्त और चर्च के डाक्टर घोषित किये जाने वाले थामस का जन्म एक उच्च कुल में नेपल्ज और रोम

---

१. मेकिलवेन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २१६-२०।
२. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २१२।
३. मर्रे—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टू दी प्रेज़ैण्ट, पृ० ५०।

के मध्यवर्त्ती एक्विनो के कौण्ट के यहाँ हुआ। माण्टी कास्सिनी के मठ में आरम्भिक शिक्षा पाने के बाद उसने पाँच वर्ष तक नेपल्ज़ विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी। बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होने के कारण एक्विनास सम्पन्न परिवार में जन्म लेने पर भी फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय में दरिद्रता का व्रत लेने वाला भिक्षु बनना चाहता था। माता-पिता ने जब उसे इस मार्ग से विरत करना चाहा तो वह घर से भाग निकला। किन्तु रास्ते में ही पकड़वा कर उसे एक किले में बन्दी बनाया गया और घर न छोड़ने के लिए नाना प्रलोभन दिये गये। कहा जाता है कि एक बार जब उसे सांसारिक भोग में फंसाने के लिए उसके पास एक सुन्दरी भेजी गयी तो एक्विनास ने पास के चूल्हे से एक जलती लकड़ी उसपर ऐसी फेंकी कि वह डर कर भाग गयी और उसने दीवार पर अपने संकल्प का प्रतीक क्रास का चिह्न बना दिया। अन्त में उसकी बहन का दिल पसीजा और उसने उसे किले की कैद से भागने में सहायता दी।

अपने गुरु एलबर्टस मैगनस की खोज में नंगे पांव १५०० मील पैदल चलकर एक्विनास पेरिस पहुँचा (१२४५)। किन्तु उस समय तक गुरु कोलोन जा चुका था, अतः एक्विनास ने वहाँ जाकर उसके चरणों में बैठ कर उस समय का समूचा ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद वह पेरिस में अध्यापन करता रहा। उसने शेष जीवन अध्ययन, ईसाइयत तथा धर्म-शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिपादन, ग्रन्थ प्रणयन और अरस्तू की रचनाओं पर टीकायें लिखने, धार्मिक मनन और चिन्तन में बिताया। वह अपने धार्मिक और बौद्धिक चिन्तन में इतना तल्लीन हो जाता था कि उसे आस-पास की परिस्थिति का कोई ध्यान नहीं रहता था। एक बार फ्रांस के राजा लुई नवम के निमन्त्रण पर अन्य पादरियों के साथ वह राजकीय भोज में सम्मिलित हुआ, भोजन करते समय वह अपने विचारों में तल्लीन हो गया। अकस्मात् उसने भोजन की मेज़ पर जोर से मुक्का मारते हुए कहा, "मानी-मतवादियों (देखिये ऊपर पृ० २४८) के विरुद्ध यह सबसे प्रबल युक्ति है।" उसके साथी पादरी ने उसे डांटते हुए कहा कि तुम्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि तुम फ्रांस के राजा की मेज पर बैठे हुए हो। किन्तु राजा ने अपनी सहज उदारता से नौकर को फौरन कागज, कलम, दवात लाने को कहा ताकि एक्विनास अपनी युक्ति लेखबद्ध कर सके।

(ख) **दार्शनिक पृष्ठभूमि**—तत्कालीन परिस्थिति ने एक्विनास के सिद्धान्तों और विचारों पर गहरा प्रभाव डाला। १२वीं शताब्दी में जब योरोप में पोप की सर्वोच्च सत्ता सर्वमान्य हो चुकी थी, तब ईसाइयत को यूनानी दर्शन के अध्ययन के पुनरुज्जीवन से तथा बुद्धिवाद से एक नया संकट उत्पन्न हो गया। १२वीं शताब्दी तक पश्चिमी योरोप को अरस्तू के तर्कशास्त्र के अतिरिक्त यूनानी दार्शनिकों के ग्रन्थों का बहुत कम ज्ञान था। इस शताब्दी के उत्तरार्ध में स्पेन के मुस्लिम विश्वविद्यालयों के माध्यम से यूनानी ग्रन्थों के लैटिन अनुवाद पश्चिमी योरोप में हुए। इसी समय क्रूसेडों पर जाने वाले ईसाई पूर्वी देशों से लौटते हुए अपने साथ मूल यूनानी ग्रन्थ लाये।[1] उस समय कृषि, उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति से लोगों को अध्ययन का अवकाश (Schole) मिला और इसके लिए स्कूल स्थापित हुए। इनके अध्यापक या संचालक स्कालेस्टिकस

---

१. डनिंग—वही पुस्तक, पृ० १९० ।

(Scholasticus) कहलाते थे और स्कालेस्टिक दर्शन का तात्पर्य इन स्कूलों में पढ़ाया जाने वाला दर्शन था। इनमें एक विशेष विधि से अध्यापन कराया जाने लगा, यह स्कालेस्टिक विधि (Scholastic Method) कहलाती है।[1] इसमें भारतीय दर्शनों के वात्स्यायन, शंकर आदि के भाष्यों की भाँति पहले पूर्वपक्ष की युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं और फिर विभिन्न तर्कों से इनका निराकरण करते हुए उत्तरपक्ष की स्थापना की जाती है। मध्ययुग के प्रसिद्ध दार्शनिक एबेलार्ड (Abelard), एल्बर्टस मैग्नस और सन्त थामस एक्विनास के ग्रन्थ इसी नीरस और शुष्क शैली में लिखे हुए हैं।

प्राचीन यूनान के तथा अरब जगत् के बुद्धिवादी दार्शनिकों के ग्रन्थों से ईसाई धर्म के लिए नया संकट उत्पन्न हो गया। इन ग्रन्थों के स्वाध्याय से स्वतंत्र चिन्तन, संदेहवाद और नास्तिकता की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि ईसाइयत के मौलिक सिद्धान्तों—मृतोत्थान, परलोकवाद आदि में लोगों की श्रद्धा शिथिल होने लगी। यह कहा जाने लगा कि ईसाई-धर्म ज्ञान का विरोधी है, धर्मशास्त्र से हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती, धर्मशास्त्रियों के वचन किस्से-कहानियों पर आधारित हैं। नास्तिकता की इस लहर को रोकने के लिए पहले तो चर्च ने इन ग्रन्थों के अध्ययन पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया, किन्तु ज्ञान-समुद्र के बढ़ते हुए ज्वार को रोकना संभव न था। अतः दूसरा प्रयत्न इस ज्ञान के ईसाइयत के साथ समन्वय करने का किया गया। जैसे उन्नीसवीं शताब्दी में नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों से विज्ञान और धर्म का विरोध होने पर इनमें सामंजस्य का प्रयत्न हुआ, वैसे ही मध्ययुग में दर्शन और धर्म, बुद्धि और विश्वास, मेधा और श्रद्धा का समन्वय किया गया। अब तक ईसाइयत के सिद्धान्त प्रमाणवाद के के आधार पर प्रतिष्ठित थे, अब इन्हें बुद्धिवाद से पुष्ट किया गया।

(ग) समन्वयवाद की विचारधारा—एक्विनास का विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने अरस्तू और आगस्टाइन के दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों में एकता स्थापित की। उसका यह कहना था कि समस्त मानव ज्ञान पिरामिडाकार है, इसका आधार विभिन्न ज्ञानों से मिलकर बना है और इसके शीर्ष पर दर्शन-शास्त्र और धर्मशास्त्र है। अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिक दर्शन एवं ज्ञान का साधन विवेक तथा बुद्धि को मानते थे। एक्विनास इसे स्वीकार करते हुए भी इससे आगे बढ़ता है और कहता है कि बुद्धि द्वारा प्राकृतिक विषयों के संबंध में प्राप्त होने वाला ज्ञान सम्पूर्ण सत्य नहीं है। इससे भी ऊपर एक ज्ञान है। यह अन्तर्दृष्टि और श्रद्धा से ही प्राप्त हो सकता है, यह हमें धर्मशास्त्र में मिलता है। दर्शन और धर्म में, बुद्धि और विश्वास में, मेधा और श्रद्धा में कोई विरोध नहीं है। सैबाइन के शब्दों में "विज्ञान और दर्शन जिस पद्धति को आरम्भ करते हैं, धर्मशास्त्र उसे पूर्ण करता है।...श्रद्धा विवेक (Reason) की पूर्णता है। वे दोनों साथ मिलकर ज्ञान के मन्दिर का निर्माण करते हैं, परन्तु कहीं भी वे एक-दूसरे से नहीं टकराते, एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य नहीं करते।"[2]

---

१. विल ड्यूरैण्ट—दी एज ऑफ फेथ, पृ० ६४८।

२. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २४८। इस विषय में मनुस्मृति का दृष्टिकोण भी यही है कि तर्क धर्मानुकूल होना चाहिए। मि० १२।१०६ आर्षं धर्मोपदेशं वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। वैदिक साहित्य में इसी दृष्टि से श्रद्धा और मेधा दोनों के लिये भगवान् से प्रार्थना की गई (ऋ० १०।१५१, अथर्व० ६।१०८।५, १६।६४।१)।

एक्विनास अरस्तू की बातों को सही मानते हुए भी अन्तिम सत्य नहीं मानता था, वह यह समझता था कि ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित सत्य उस ज्ञान को पूरा बनाने वाला है। इस प्रकार उसने प्राचीन यूनान की बुद्धिवादी विचारधारा का, इलहाम पर बल देने वाली ईसाई विचारधारा के साथ समन्वय किया। एक्विनास को इस बात का श्रेय है कि उसने अपने से पहले चली आने वाली विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक पद्धति का रूप प्रदान किया। वह मध्ययुग की समन्वयवादी विचारधारा का सर्वोत्तम व्याख्याता है। उससे पहले भौतिक क्षेत्र में यूनानी, रोमन और ईसाई सभ्यताओं का मिश्रण हो चुका था, उसने बौद्धिक क्षेत्र में यूनानी बुद्धिवाद और ईसाई श्रद्धा का समन्वय किया।[1]

उसके समन्वयवादी प्रयास से राजनीतिशास्त्र का नये रूप में जन्म हुआ। उसने अरस्तू की राजनीति को सिसरो, आगस्टाइन और बाइबल के विचारों से मिला कर उसका कायाकल्प कर दिया। उसके विचारों को मध्यकालीन योरोप के दर्शन का अंग बनाया। उसने ऐतिहासिक भावना से अपनी समकालीन राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया और इनकी सामग्री के आधार पर अनेक उत्कृष्ट और प्रगतिशील विचारों का प्रतिपादन किया। उसके राजनीतिक विचारों का परिचय देने वाले मुख्य ग्रन्थ **राजाओं के नियम** (De Regimine Principum), अरस्तू की राजनीति पर दो व्याख्यायें (Commentaries on the Politics of Aristotle) और **धर्मशास्त्र का संक्षेप** (Summa Theologica) है। ४७ वर्ष की अल्प आयु में मृत्यु हो जाने के कारण उसका पहला और तीसरा ग्रन्थ अधूरा रह गये थे, इन्हें बाद में उसके शिष्यों ने पूरा किया है। इन में प्रतिपादित प्रधान राजनीतिक विचार निम्नलिखित है :—

(१) **राज्य विषयक विचार**—आगस्टाइन आदि ईसाई विचारकों का यह मत था कि मनुष्य के आरम्भिक पाप (Original sin) के कारण राज्य, सम्पत्ति और दास-प्रथा की उत्पत्ति हुई (देखिये ऊपर पृ० २५३)। एक्विनास ने इसके सर्वथा विपरीत अरस्तू का अनुसरण करते हुए कहा कि इनमें से पहली दो संस्थायें मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक हैं, यदि मनुष्य का पतन न हुआ होता तो भी ये मानव समाज में पायी जातीं। **राजाओं के नियम** (De Regimine Principum) में अरस्तू के मौलिक सिद्धान्तों को अपनाते हुए उसने यह सिद्ध किया कि मनुष्य अपने स्वभाव के कारण सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी (Animal sociale et Politicum) है।[2] उसकी सामाजिक सत्ता सब के कल्याण के लिए राज्य को आवश्यक बना देती है और नगर-राज्य (Civitas) आत्मनिर्भर (Selfsufficing) और पूर्ण संगठन होना चाहिए। राज्य के ये तीनों विचार अरस्तू से लेते हुए भी (ऊपर पृ० १५५–१६०) वह उसके नगर-राज्य विषयक विचार में संशोधन करके उसे पूर्ण बनाता है। अरस्तू छोटे नगर-राज्य को आदर्श चरम राजनीतिक संगठन समझता था (ऊपर पृ० १५६, १६२)। एक्विनास इसे अपूर्ण समझते हुए यह कहता है कि कई नगर-राज्यों से मिलकर बनने वाले 'प्रान्त' में आत्मनिर्भरता की मात्रा अधिक हो सकती है, क्योंकि इसमें शत्रुओं से प्रतिरक्षा

---

१. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० २३८, २४३।

२. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १९७।

के अधिक साधन उपलब्ध हो सकते हैं। इसे उसने राज्य (Regnum) का नाम दिया है।[1]

एक्विनास मध्ययुगीन विचारकों में राष्ट्रीय राज्य के आधुनिक विचार का समर्थन करने वाला था। उसका यह मत था कि रीति-रिवाजों की एकता तथा समानता राज्य का उत्तम आधार होता है और ऐसी एकता विशाल साम्राज्य की अपेक्षा छोटे राज्यों में अधिक पायी जाती है। राज्य में पायी जाने वाली राजनीतिक सत्ता का अन्तिम मूलस्रोत वह ईश्वर को मानता है। इसके समर्थन में बाइबल के प्रमाण देता है और सन्त पाल का यह वचन प्रस्तुत करता है कि संसार में 'भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति नहीं है'। किन्तु बाइबल के वाक्यों के अतिरिक्त वह अपनी स्थापना को अरस्तू के जगत् के अन्तिम कारण तथा इसे प्रथम गति प्रदान करने वाले (Primum mobile) मत के आधार पर आध्यात्मिक सिद्धान्तों से पुष्ट करता है तथा इसके समर्थन में आगस्टाइन का यह तर्क भी उपस्थित करता है कि भगवान् योग्य जातियों को राजनीतिक सत्ता प्रदान करता है, जैसे उसने रोमन लोगों को साम्राज्य दिया। अतः भगवान् समूची सत्ता का आदि स्रोत है, उससे शासन करने की शक्ति सम्पूर्ण जनसमुदाय को प्राप्त होती है। ईश्वर के आधीन जनता को सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है।

एक्विनास ने अरस्तू और आगस्टाइन की भाँति दास-प्रथा का समर्थन किया है। अरस्तू ने इसकी पुष्टि मनुष्यों की बौद्धिक योग्यताओं के भेद के आधार पर की थी (देखिये पृ० १६२–६५)। आगस्टाइन इसे पापियों को दण्ड देने की व्यवस्था मानता है (पृ० २५३)। किन्तु एक्विनास इसके समर्थन में एक नवीन तर्क यह उपस्थित करता है कि यह प्रथा सैनिकों में वीरता की भावना को अनुप्राणित करने के लिए बनाई गई है। युद्ध में पराजित होने पर सैनिक दास बना लिए जाते हैं, अतः इसका उद्देश्य उन्हें युद्ध में अधिक-से-अधिक शौर्य के लिए प्रोत्साहित करना है ताकि वे विजयी हों तथा दास न बनें। इस मत के समर्थन में उसने रोम के इतिहास से तथा ओल्ड टैस्टामैण्ट की डिट्रानमी नामक पुस्तक से कुछ प्रमाण दिये हैं।[2]

(२) **शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण**—एक्विनास शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण अरस्तू के आधार पर करता है। अरस्तू की भाँति वह सबकी भलाई और हित चाहने वाली शासन-प्रणालियों को अच्छा और न्यायपूर्ण तथा केवल शासक का हित करने वाली शासन-प्रणालियों को निकृष्ट बताता है। अरस्तू के मतानुसार राज्य का लक्ष्य सद्गुणी जीवन (Virtuous life) की प्राप्ति है (ऊपर पृ० १६०)। किन्तु एक्विनास के मतानुसार राज्य का उद्देश्य ऐसे सद्गुणी जीवन की उपलब्धि है जिससे मनुष्य को मोक्ष मिल सके। प्रत्येक राज्य को इस उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति करनेवाला राज्य अच्छा होता है। राजतन्त्र और लोकतन्त्र प्रणालियों में अरस्तू का झुकाव लोकतन्त्र की तरफ था (देखिए ऊपर पृ० १८२-८३)। किन्तु एक्विनास निम्नलिखित कारणों से राजतन्त्र को श्रेष्ठ समझता है: (क) जिस प्रकार विश्व में एक ईश्वर का शासन है, शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १९९-८।

२. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १९९।

का साम्राज्य है, मधुमक्खियों पर रानी मक्खी का शासन होता है; वैसे ही राज्य में एक व्यक्ति का शासन होना उचित है। (ख) समाज की सबसे बड़ी भलाई इस बात में है कि उसमें एकता (Unity) हो और शान्ति सुरक्षित बनी रहे, यह राजतन्त्र में ही संभव है। मध्यकाल की अराजक और अशान्त राजनीतिक परिस्थति में शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य रखने वाले राजतन्त्र को एक्विनास द्वारा श्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक था। (ग) विभिन्न राज्यों के क्रियात्मक अनुभव से भी यह सिद्ध होता है कि राजतन्त्र की प्रणाली श्रेष्ठ है। जहाँ प्रजातन्त्र प्रणाली है, वहाँ अनेक प्रकार के झगड़े, फूट और दलबन्दियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु राजतन्त्रों में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि दिखाई देती है। निर्वाचित राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ होता है। राजा पर शपथ द्वारा यह बन्धन लगाना चाहिए कि वह शासन संविधान के अनुसार करेगा।

किन्तु राजतन्त्र का बड़ा दोष इसका तानाशाही (Tyranny) में और अत्याचारी शासन में परिणत हो जाना है। एक्विनास इससे सहमत नहीं है। उसका यह विश्वास है कि यह बुराई राजतन्त्रों की अपेक्षा प्रजातन्त्रों में अधिक पायी जाती है। अत्याचारी शासकों के नियन्त्रण और निवारण के संबंध में उसके विचार बड़े सौम्य और सुरुचिपूर्ण हैं। साल्ज़बरी के जॉन की भाँति अत्याचारी शासन की निन्दा करते हुए भी (पृ० ३१२), वह लोगों को ऐसे शासक के हनन (Tyrannicide) की अनुमति नहीं देता। उसने यह सर्वथा सत्य ही लिखा है कि प्राय: ऐसा कार्य सज्जन नहीं, किन्तु दुर्जन किया करते हैं, दुर्जनों को अत्याचारी शासकों के शासन की अपेक्षा उत्तम राजाओं का शासन बुरा प्रतीत होता है। अत: यदि अत्याचारी शासकों के वध का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय तो इस बात की पूरी संभावना है कि अत्याचारी शासकों के स्थान पर उत्तम शासकों का वध अधिक होने लगेगा।

(३) राज्य के कार्य—यूनानी, रोमन तथा ईसाई धर्म के विचारों का समन्वय करते हुए एक्विनास ने राज्य के कार्यों का निर्धारण किया है। अरस्तू का अनुसरण करते हुए उसने राज्य का **प्रधान कार्य** प्रजाजनों के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियों को उत्पन्न करना, राज्य में एकता और शान्ति बनाये रखना बताया है। इसके लिए बाह्य शत्रुओं तथा आक्रान्ताओं से राज्य की रक्षा होनी चाहिए। कानूनों के पालन के लिए पुरस्कारों की और दण्ड की व्यवस्था द्वारा जनता को नियन्त्रण में रखना चाहिए। राज्य का **दूसरा कार्य** सड़कों को सुरक्षित और चोर डाकुओं के उपद्रवों से मुक्त रखना है। एक्विनास ने यह विचार रोमन साम्राज्य से ग्रहण किया है और इसका समर्थन रोम के उदाहरणों से किया है। किन्तु इसके साथ ही उसने इसे दैवी व्यवस्था सिद्ध करने के लिए ओल्ड टैस्टामैण्ट से भी कुछ प्रमाण दिये हैं। **तीसरा कार्य** राजा द्वारा अपने राज्य के लिए विशेष मुद्रा पद्धति का चलाना तथा भार और तौल की समुचित प्रणाली निश्चित करना है। एक्विनास ने इन कार्यों का समर्थन इस आधार पर किया है कि यदि सरकार द्वारा सिक्कों तथा भार एवं तौल की व्यवस्था निश्चित हो जाय तो इससे झगड़े और मुकद्दमेबाजी बहुत कम हो जायगी।[1] एक्विनास ने यद्यपि ये विचार मध्ययुग की तत्कालीन परिस्थिति से ग्रहण किये थे, किन्तु वह इनका समर्थन बाइबल

---

१. डनिंग—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० २०३।

के प्रमाणों के आधार पर करता है। राज्य का **चौथा कार्य** दरिद्रों के भरण-पोषण का दायित्व लेना है। यह विशुद्ध रूप से ईसाई धर्म का विचार है, प्राचीन यूनान और रोम में यह नहीं पाया जाता। किन्तु एक्विनास ने यूनानी दर्शन के दो वाक्यों को लेकर अपने विलक्षण युक्तिक्रम द्वारा इसे यूनानी दार्शनिकों द्वारा समर्थित विचार सिद्ध किया है। इनमें पहला वाक्य है 'प्रकृति में मनुष्य के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी नहीं होती' और दूसरा वाक्य है, 'प्रत्येक कला (Art) प्रकृति (Nature) का अनुसरण करती है'। एक्विनास ने इन दोनों वाक्यों को मिलाते हुए यह कहा कि राज्य करने की कला सर्वोत्तम है, उसे प्रकृति का अनुकरण करते हुए यह देखना चाहिए कि राज्य में कोई व्यक्ति जीवन की आवश्यक वस्तुओं से वंचित न रहे। राज्य के इस कार्य के समर्थन में उसने दूसरा तर्क ईसाई धर्म से दिया है। राजा अपने शासन में अनेक प्रकार के पाप कर्म करते हैं, दरिद्रों के भरण-पोषण द्वारा वे इसका समुचित प्रतिकार करके पापमुक्त हो जाते हैं।

(४) **कानून और न्याय का विचार**—इनकी मीमांसा करते हुए एक्विनास ने अरस्तू (देखिये ऊपर पृ० १७७-८), स्टोइक (पृ० २०८), सिसरो (पृ० २१६), आगस्टाइन (पृ० २५१) तथा रोमन विधिशास्त्रियों (पृ० २२४) के विचारों का समन्वय किया है तथा वर्तमान युग को इस विषय में बड़ी महत्त्वपूर्ण देन दी है। यूनानी विचारधारा कानून को विवेक बुद्धि का परिणाम (Conclusion of Reason) समझती थी, यह किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति (Expression of Will) नहीं थी। रोमन विधिशास्त्र कानून को या तो बुद्धि का परिणाम मानता था अथवा सम्राट् आदि किसी विशेष व्यक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति। एक्विनास ने कानून का लक्षण करते हुए इसे विवेक-बुद्धि का परिणाम तथा इच्छा की अभिव्यक्ति माना। उसके मतानुसार 'कानून सामान्य हित के लिए विवेक-बुद्धि की वह व्यवस्था है, जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा उद्घोषित की जाती है, जिसके हाथ में किसी समाज की देखभाल का अधिकार होता है' (An Ordinance of reason for the common good, promulgated by him who has care of a community)। कानून के इस लक्षण में अरस्तू की भाँति विवेक-बुद्धि को स्वीकार किया गया है, किन्तु अरस्तू विवेक-बुद्धि को और कानून को पर्याय मानता था, उसके कानून की कल्पना में व्यक्ति की इच्छा का कोई स्थान नहीं था। एक्विनास ने इच्छा के तत्त्व (Volitional element) को भी अपने लक्षण में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। किन्तु व्यक्ति की इच्छा कई बार स्वेच्छाचारी और अत्याचारपूर्ण हो सकती है, अतः इस पर नियन्त्रण रखने के लिए वह यह आवश्यक समझता है कि इस इच्छा का उद्देश्य सब लोगों के हित या कल्याण की सिद्धि होनी चाहिए और इस इच्छा की उद्घोषणा समाज के हित की देख-भाल करने वाले सार्वजनिक व्यक्ति द्वारा होनी चाहिए।

एक्विनास ने कानून (Lex) को चार वर्गों में बाँटा है—(१) शाश्वत कानून (Lex oeterna), (२) प्राकृतिक कानून (Lex naturalis), (३) मानवीय कानून, (४) दैवी कानून। **शाश्वत** कानून विश्व के नियन्त्रण की वह योजना या व्यवस्था है, जो विधाता के मन में है। यह सारा जगत् सृष्टि का निर्माण करने वाले भगवान् की बुद्धि द्वारा परिकल्पित योजना के अनुसार संचालित हो रहा है। मानवीय बुद्धि

उसका पूरा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। **प्राकृतिक** कानून सामान्य रूप से सत्-असत् को पहचानने के नियम हैं। मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा इनका ज्ञान प्राप्त करता है। सब मनुष्यों के विवेकशील और बुद्धिमान् होने के कारण ये नियम सार्वभौम तथा एक-रूप होने चाहियें। किन्तु एक्विनास का यह कहना है कि मानवीय कल्याण की दृष्टि से इनमें संशोधन और परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक सम्पत्ति और दास-प्रथा इस प्रकार के नियम हैं। यद्यपि मानव समाज में पहला प्राकृतिक नियम तो सम्पत्ति के संयुक्त स्वामित्व (Community of goods) का तथा सामान्य स्वतन्त्रता का था, किन्तु मानवीय जीवन के लिए उपयोगी होने के तर्क के आधार पर वैयक्तिक सम्पत्ति और दास-प्रथा भी प्राकृतिक नियम माने जाने लगे। मनुष्य में कुछ स्वाभाविक इच्छायें हैं, जैसे समाज में रहना, आत्मरक्षा करना, सन्तानोत्पादन, बच्चों को शिक्षित बनाना, सत्य का अन्वेषण और बुद्धि को विकसित करना। प्राकृतिक कानून मनुष्य की इन इच्छाओं की अधिकतम पूर्त्ति की व्यवस्था करता है। **मानवीय** कानून (Human Law) मनुष्य द्वारा समाज में शान्तिपूर्ण जीवन बनाये रखने के लिए बनायी गई दण्ड-व्यवस्थायें हैं, इनके भय से समाज में शान्ति बनी रहती है। मानवीय कानून का निर्माण प्राकृतिक कानून के आधार पर होता है। इन दोनों में इतना गहरा संबंध है कि यदि कोई मानवीय कानून प्राकृतिक कानून के प्रतिकूल है तो इसे कानून नहीं, किन्तु कानून का विकार मानना चाहिए। **दैवी** कानून (Divine Law) बाइबल के पुराने और नये धर्म-नियमों (Old and New Testaments) में प्रतिपादित की गयी देववाणियाँ और ईश्वरीय व्यवस्थायें हैं। इनसे मनुष्य अपनी अपूर्ण बुद्धि को पूरा बनाता है और अपने चरम लक्ष्य–परम आनन्द की ओर अग्रसर होता है। **दैवी** वाणी के बिना मनुष्य अपने प्रधान उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता। एक्विनास के चार प्रकार के कानूनों में शाश्वत और दैवी कानून का सम्बन्ध धर्म से तथा प्राकृतिक और मानवीय कानून का सम्बन्ध राजनीति से है।

न्याय के विषय में एक्विनास ने प्रधान रूप से रोमन विधिशास्त्रियों के मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि यह "प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और सनातन इच्छा है।"[1] किन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसने अरस्तू का यह मत (ऊपर पृ० १७७) मान लिया है कि न्याय का मौलिक तत्त्व समानता है। यह समानता दो प्रकार से निश्चित होती है—

(क) **प्रकृति के आधार पर**—जैसे, जब कोई व्यक्ति अमुक राशि देता है तो उसे ठीक उतनी ही राशि वापिस दी जानी चाहिए।

(ख) **मानवीय आधार पर**—जब किसी समाज में प्रचलित रीति-रिवाज द्वारा अथवा राजा के आदेश द्वारा दो वस्तुओं में समानता निश्चित की जाय। लिखित मानवीय कानूनों को एक्विनास न्याय और अधिकारों का मूल मानता है, बशर्ते कि ये प्राकृतिक कानूनों के प्रतिकूल न हों। यदि ये इनके प्रतिकूल होंगे तो व्यक्ति इनके पालन के लिए बाध्य नहीं है।

एक्विनास के कानून और न्याय के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उससे पहले

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १९६।

कानून व्यक्तित्वशून्य (Impersonal) था, बुद्धि और प्रकृति पर आधारित था, यूनानी इसे विशुद्ध विवेक समझते थे। उसने प्रकृति के कानून को ईश्वरीय इच्छा से अभिन्न माना है, उसमें इच्छा के तत्त्व का समावेश किया, मानवीय बुद्धि और ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम में भेद किया। आजकल कानून शासक का आदेश मात्र समझा जाता है, उसके लिए नैतिक होना आवश्यक नहीं है। किन्तु एक्विनास कानून को राजसत्ता का आदेश मानते हुए भी उसके लिए दो शर्तें आवश्यक मानता है, वह बुद्धिसम्मत होना चाहिए और समाज के संरक्षक द्वारा सामाजिक हित की दृष्टि से बनाया जाना चाहिए। उसके कानून विषयक विचारों ने लॉक और हॉब्स की विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला।

(५) **राज्य और चर्च के सम्बन्ध**—इस विषय में एक्विनास का मत यह है कि मानव जीवन के दो लक्ष्य हैं। पहला लक्ष्य भौतिक सुख की प्राप्ति और उत्तम जीवन का यापन है, इसकी प्राप्ति राज्य द्वारा होती है। यहाँ तक उसका मत अरस्तू से मिलता है। दूसरा लक्ष्य पारलौकिक सुख—आत्मा की मुक्ति और परलोक में अनन्त आनन्द की प्राप्ति है। इसकी प्राप्ति का साधन चर्च है। इन दोनों में संसार का भौतिक सुख गौण और परलोक का सुख प्रधान है। अतः भौतिक सुख की प्राप्ति का साधन होने से राज्य गौण तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति का साधन होने से चर्च मुख्य है। चर्च की यह प्रधानता एक अन्य कारण से भी है। उच्चतम सत्य तर्क एवं बुद्धि से नहीं, किन्तु श्रद्धा तथा विश्वास से जाने जाते हैं। इन विषयों में चर्च ही अन्तिम प्रमाण है। अतः वह राज्य से श्रेष्ठ है। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना शासन इस ढंग से करे कि भगवान् की इच्छा पूरी हो तथा धर्म की वृद्धि हो। राज्य के अधिकारियों को चर्च के दैवी कानून के तथा पुरोहितों के शासन में रहना चाहिए। एक्विनास ने दोनों का सम्बन्ध जलपोत के रूपक से स्पष्ट किया है। राज्यरूपी जहाज पर राजा बढ़ई की भाँति है, उसका प्रधान कार्य आवश्यक मरम्मत द्वारा यात्रा के समय जहाज को ठीक बनाये रखना है; किन्तु चर्च का कार्य जहाज के चालक का है, जो इसे इसके लक्ष्य की ओर ले जाता है। जिस प्रकार जहाज पर बढ़ई चालक के अनुशासन में रहता है, उसी प्रकार राज्य को चर्च के नियन्त्रण में रहना चाहिए।[1] यदि कोई शासक चर्च के आदेशों की अवहेलना करता है तो उसे चर्च से बहिष्कृत कर देना चाहिए तथा उसकी प्रजा को उसके प्रति भक्ति की शपथ से भी मुक्त करना चाहिए। पुरोहित के पास सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शक्ति है। सब शासकों का कर्त्तव्य है कि वे सांसारिक लड़ाई झगड़ों में तथा पारलौकिक मुक्ति के विषय में पोप के आदेशों का पालन करें। एक्विनास पोप की सर्वोच्च प्रभु का प्रबल समर्थक है।

अरस्तू तथा एक्विनास के विचारों की तुलना—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि एक्विनास का प्रधान कार्य ईसाइयत के धार्मिक सिद्धान्तों का अरस्तू के दार्शनिक विचारों के साथ समन्वय करना था। इसके लिए उसने अरस्तू के विचारों का खंडन नहीं किया, उसने इन्हें सत्य माना, पर पूरा सत्य नहीं माना। ये उसी हद तक सत्य थे, जहाँ तक श्रद्धा-रहित मानवीय बुद्धि पहुँच सकती है। बाद में उत्पन्न होने वाले ईसाई धर्म ने बुद्धि द्वारा खोजे गये इन सत्यों को खण्डित नहीं किया, किन्तु पूर्ण बनाया।

---

१. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० २५६।

कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा।[1]

अरस्तू ने मनुष्य का उद्देश्य ऐहिक सुख की प्राप्ति माना था। एक्विनास इसे स्वीकार करते हुए कहता है कि मनुष्य का इससे भी बड़ा लक्ष्य पारलौकिक आनन्द और मुक्ति प्रदान करना है, जिसकी तुलना में ऐहिक सुख गौण है। अरस्तू ने कहा था कि समाज और राज्य को व्यक्ति के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ। एक्विनास इससे सहमत है कि भौतिक जीवन का उद्देश्य उत्तम है। किन्तु वह इससे भी बड़ा उद्देश्य पारलौकिक जीवन तथा मोक्ष को समझता है तथा उसकी प्राप्ति के लिए चर्च को आवश्यक मानता है। अरस्तू बुद्धिवादी है और ज्ञान का साधन मेधा या विवेक को मानता है। एक्विनास इसे स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि बुद्धि की पहुँच से भी परे कुछ ऐसे सत्य हैं, जिनका साक्षात्कार श्रद्धा और भगवत्कृपा से ही संभव है। वह श्रद्धा से प्राप्त होने वाले ज्ञान को मेधा द्वारा प्राप्त ज्ञान का पूरक मानता है, विरोधी नहीं। कानून को अरस्तू बुद्धि का परिणाम मानता है, किन्तु एक्विनास इसके साथ सहमति रखते हुए कानून में भगवान् द्वारा दिये गये शाश्वत और दैवी कानून को भी सम्मिलित करता है। उसने अरस्तू के प्राकृतिक जगत् को माना, किन्तु उससे ऊँचा भगवान् की कृपा का साम्राज्य स्वीकार किया। इस प्रकार उसने अरस्तू के अधिकांश विचार स्वीकार करते हुए ईसाइयत के विचारों को उनसे ऊँचा स्थान दिया। उसने अपने सिद्धान्तों के ऐसे प्रासाद का निर्माण किया, जिसकी दीवारें अरस्तू की विचारधारा की थीं, किन्तु शिखर ईसाई धर्म का था।

कुछ अंशों में उसने ईसाइयत के प्रचलित विचारों को छोड़कर अरस्तू के विचार माने। तत्कालीन ईसाई सांसारिक जीवन को हेय दृष्टि से देखते थे, इससे मुक्ति पाना चरम लक्ष्य समझते थे। एक्विनास इस लक्ष्य से सहमत होते हुए भी अरस्तू के उत्तम जीवन के लक्ष्य को उपादेय समझता था। ईसाई विचारक राज्य को अस्वाभाविक संस्था समझते थे, उनके मतानुसार जब आदम ज्ञान के वर्जित वृक्ष का फल खाकर पापी बना तो मानव समाज में पापों तथा अपराधों की वृद्धि हुई और मनुष्यों को नियन्त्रण में रखने वाला दण्ड देने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई, अतः राज्य मनुष्य की प्रकृति के प्रतिकूल है। एक्विनास इसके सर्वथा विपरीत अरस्तू का अनुसरण करते हुए (देखिए ऊपर पृ० १५६) राज्य को मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक मानता था। किन्तु अरस्तू के विचारों का अनुसरण करते हुए भी एक्विनास उसका अनुसरण नहीं करता पहले (पृ० १६३) यह बताया जा चुका है कि अरस्तू थोड़ी आबादी वाले नगर-राज्य को ही आदर्श राजनीतिक संगठन समझता है, किन्तु एक्विनास इससे सहमत नहीं है।

एक्विनास का मूल्यांकन—जब एक्विनास कोलोन में एलबर्ट के पास विद्याध्ययन कर रहा था तो उसके सहपाठी उसके चुपचाप रहने तथा भारी डीलडौल के कारण 'गूँगा बैल' कहकर उसकी खिल्ली उड़ाया करते थे। उस समय गुरु ने भविष्यवाणी की थी कि जब यह बैल रंभायेगा तो सारी दुनिया ध्यान से सुनेगी, ऐसा ही हुआ। रोमन कैथोलिक चर्च में सेण्ट आगस्टाइन के बाद उसकी रचनायें सबसे अधिक आदर के साथ

---

१. फोस्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २४१।

पढ़ी जाती हैं। राजनीति के क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन अरस्तू की कृतियों और विचारों का पुनरुज्जीवन है। शताब्दियों से विस्मृत यूनानी दार्शनिक का परिचय मध्ययुगीन योरोप को उस युग के 'अरस्तू कहलाने वाले एक्विनास के माध्यम से हुआ। एक्विनास से इन सिद्धान्तों को हूकर ने, हूकर से लॉक ने तथा लॉक से बर्क ने ग्रहण किया। इनसे वैधानिक शासन के आधुनिक विचारों का विकास हुआ।[1] मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन राजनीतिक विचारधारा पर एक्विनास का गहरा प्रभाव पड़ा।

एजीडियस रोमनस या कोलोन्ना (Egidius Romanus or Colonna)—इसने एक्विनास की विचारधारा को आगे बढ़ाया। वह अल्पायु में मृत्यु के कारण अपने ग्रन्थ De Regimine Principum को तथा अपनी विचारपद्धति को पूरा नहीं कर सका था। यह कार्य उसके योग्य शिष्य एजीडियस ने इसी नाम का ग्रन्थ लिख कर पूरा किया। उसने यह पुस्तक फ्रांस के राजकुमार फिलिप को शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखी थी, जिसका बाद में पोप बोनीफेस अष्टम के साथ तीव्र संघर्ष हुआ (देखिए ऊपर पृ० २६४)। उसका दूसरा ग्रन्थ चर्च की शक्ति (De Ecclesiastica Potestate) है। इसमें पोप की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल समर्थन किया है। यह समझा जाता है कि पोप बोनीफेस अष्टम द्वारा फिलिप के साथ संघर्ष में उसके विरुद्ध निकाले गये आज्ञापत्र (Bull Unam sanctum ऊपर पृ० २६६) का आधार यही ग्रन्थ था।[2] पोप के साथ फिलिप का संघर्ष होने पर इसने फ्रांस के राजा का साथ छोड़ दिया।

इस समय मुख्य विवाद इस प्रश्न पर था कि राजा चर्च की सम्पत्ति पर कर लगा सकता है या नहीं। अतः एजिडियस ने इस विषय में यह सिद्धान्त रखा कि सांसारिक वस्तुओं पर अन्तिम स्वामित्व चर्च का है, इस विषय में पोप का पूरा अधिकार है। इसकी पुष्टि के लिए उसने यह तर्क दिया है कि भौतिक पदार्थों का उद्देश्य शरीर का पोषण करना है, शरीर आत्मा के आधीन है, आत्मा का उद्धार पोप द्वारा हो सकता है। अतः सब वस्तुओं पर पोप का तथा चर्च का स्वामित्व है। प्रत्येक सांसारिक वस्तु का मूल्य इस पर निर्भर है कि वह आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए कहाँ तक उपयोगी है, अतः इस पर स्वामित्व तभी उचित और वैध हो सकता है, जब कि वह चर्च से और चर्च के द्वारा प्राप्त किया जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा की भूमि, सम्पत्ति और महलों पर भी अन्तिम अधिकार चर्च का है, वह उसकी सम्पत्ति किसी दूसरे को भी दे सकता है। पोप की सर्वोच्च शक्ति का आधार आध्यात्मिक शक्ति की स्वाभाविक श्रेष्ठता तथा अरस्तू का यह सिद्धान्त है कि उच्च शक्ति निम्न शक्ति पर नियन्त्रण तथा अनुशासन रखती है। शरीर पर आत्मा का तथा राज्य पर चर्च का शासन है। पोप को अपना शासन सामान्यतः कानून के अनुसार चलाना चाहिए, किन्तु कुछ विषयों में वह कानून का अतिक्रमण भी कर सकता है।

आगस्टिनस ट्रिअम्फस (Augustinus Triumphus)—फ्रांस के राजा और बवेरिया के लुईस के साथ संघर्षों में पोप की वास्तविक शक्ति जब १४वीं शती के आरम्भ से क्षीण होने लगी तो पोप के समर्थकों ने उसके दावों को पराकाष्ठा तक पहुँचाकर इन्हें

---

१. बार्कर—पालिटिक्स ऑफ अरिस्टाटल भूमिका, पृ० ६२।

२. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २३१।

युक्तियुक्त सिद्ध करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। इस दृष्टि से आगस्टिनस की कृति **'चर्च की शक्ति का संक्षिप्त प्रतिपादन'** (Summa de Potestate Ecclesiastica) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले पोप को ईसा का प्रतिनिधि (Vicar of Christ) माना जाता था, इसमें उसने उसे ईश्वर का प्रतिनिधि तथा अनेक ईश्वरीय गुणों से युक्त बताया है। "उसका अधिकार-क्षेत्र किसी भी देवदूत के अधिकार-क्षेत्र से अधिक विशाल है"।[1] सब व्यक्तियों को राजा तथा सम्राट् के स्थान पर उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। "उसे सम्राटों पर 'पूर्ण अधिकार' (Plenitudo potestatis) है, वह किसी भी राजा को पदच्युत और नियन्त्रित कर सकता है, उसके स्थान पर नया राजा बना सकता है बशर्ते कि इसका तर्कसंगत कारण हो"। भगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते वह सब कानूनों को बनाने वाला तथा उनकी व्याख्या करने वाला है। वह अपने विवेक से किसी कारण के आधार पर न केवल नागरिकों की किन्तु राजा महाराजाओं की भी सम्पत्ति छीन सकता है। पोप सम्राट् को पदच्युत कर सकता है, उसके राज्य का संविधान बदल सकता है, किन्तु सम्राट् को पोप के चुनाव में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है। पोप सब राजाओं, महाराजाओं के ऊपर चरम तथा सर्वोच्च शक्ति रखने वाला है तथा उच्चतम न्यायालय है, इसके आदेशों के विरुद्ध कहीं अपील नहीं हो सकती। इन सिद्धान्तों द्वारा आगस्टिनस ने पोप के दावों को चरम सीमा तक पहुँचा दिया।

पोप विरोधी विचारधारा का विकास—पोप के उपर्युक्त दावों का विरोध १४वीं शताब्दी से अनेक कारणों से प्रबल होने लगा। **पहला** कारण फ्रांस के राष्ट्रीय एवं सुदृढ़ राज्य द्वारा पोप के दावों का फिलिप (पृ० २९४) के समय उग्र क्रियात्मक प्रतिरोध था। उसने राष्ट्रीयता की भावना के कारण समूची जनता से समर्थन प्राप्त किया और चर्च से राज्य की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित बनाया। फ्रेंच राजा और पोप के संघर्ष में राजा के दावों को पुष्ट करने तथा पोप के दावों का निराकरण करने के लिए प्रचुर मात्रा में साहित्य प्रकाशित हुआ। इसमें राजा के पक्ष के समर्थन में सभी प्रकार की युक्तियाँ दी गयीं। यह कहा गया कि योरोप में ईसाई पादरियों और पोपों के आविर्भाव से पहले फ्रांस के राजाओं का शासन था। इसके लिए कल्पित इतिहास का सृजन किया गया।[2] यह कहा गया कि राजा को भगवान् से शासन करने का अधिकार मिला हुआ है, पोप का उस पर कोई प्रभुत्व नहीं है। पियरे दुबोइस (Pierre Du Bois) ने यहाँ तक दावा किया कि पोप की राजनीतिक शक्ति फ्रांस के राजा को दे देनी चाहिए। अरस्तू के विचारों और रोमन कानून के सिद्धान्तों द्वारा राजसत्ता की स्वाधीनता को पुष्ट किया गया। विधिशास्त्रियों ने सांसारिक सम्पत्ति पर चर्च के चरम स्वामित्व के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए कहा कि पोप चर्च की सम्पत्ति का स्वामी नहीं, किन्तु प्रबन्धकर्त्ता (Steward) है। यदि वह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो अत्याचारी शासक (Tyrant) के समान उसे पदच्युत कर देना चाहिए। किन्तु उस समय विधिशास्त्रियों के पास पोप की सत्ता फ्रेंच राजा के हाथ में देने का

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २१८।

२. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२६।

कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं था। अतः उन्होंने धार्मिक सत्ता का अन्तिम अधिष्ठान चर्च की सामान्य परिषद् (General Council) को माना और यह कहा कि इसे अत्याचारी तथा नास्तिक पोप को पदच्युत करने का अधिकार है।

पोप का विरोध बढ़ने का **दूसरा** कारण उसका पवित्र रोमन सम्राट् लुईस के साथ विवाद में पड़ना था (देखिये ऊपर पृ० ३०१)। पोप ने जर्मनी के सम्राट् पद के लिए दो उम्मीदवारों के गृहयुद्ध का लाभ उठाते हुए अपने अधिकारों को बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस समय पोप आवीन्योन में फ्रेंच राजाओं के प्रभुत्व में था। इस विवाद के बहाने से फ्रांस जर्मनी में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। अतः जर्मनी के सम्राट् ने राष्ट्रीयता की भावना के कारण पोप का उग्र विरोध किया और सम्राट् के चुनाव में पोप के अधिकार का प्रबल प्रत्याख्यान किया। **तीसरा** कारण फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के दरिद्रता के सिद्धान्त के संबंध में दी गई पोप की व्यवस्था थी (देखिये ऊपर पृ० ३०३)। इससे चर्च के अनेक योग्यतम लेखक पोप के कटु आलोचक हो गये। इन्होंने सम्राट् के दरबार में शरण ली और अपनी सारी योग्यता पोप के दावों का खण्डन करने में लगा दी। इनमें इंगलैंड का फ्रांसिस्कन भिक्षु ओकम निवासी विलियम के तथा पडुआ-वासी मारसिलियो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विलियम ने सम्राट् को कहा था, "यदि तुम तलवार से मेरी रक्षा करोगे तो मैं लेखनी द्वारा तुम्हारी रक्षा करूँगा।"[1] इन्होंने धार्मिक मामलों में पोप को अन्तिम अधिकार देने का विरोध करते हुए चर्च की परिषद् को सारी प्रभुता देने का समर्थन किया। **चौथा** कारण पोप द्वारा आवीन्योन में निवास और इटली के आन्तरिक झगड़ों में पड़ना था। आवीन्योन में रहने के कारण वह फ्रांस की कठपुतली बना हुआ था। इस समय इंगलैंड फ्रांस का कट्टर विरोधी था, अतः वहाँ फ्रांस के पक्षपाती पोप की प्रभुता का विरोध होना स्वाभाविक था। इसीलिए उसने जॉन के समय से पोप को दिया जाने वाला कर देना बन्द कर दिया। पार्लियामेंट में यह प्रस्ताव रखा गया कि राजकीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए चर्च की सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिए। इस समय पोप के इटालियन राज्यों में हस्तक्षेप के कारण वहाँ उसके प्रतिकूल प्रबल भावना उत्पन्न हो गयी। यहाँ उस समय ग्वैल्फ और गिबलिन[2] नामक दो दलों में द्वन्द्व चल रहा था। पोप पहले दल का समर्थक था क्योंकि वह अब इटली में सम्राट् की शक्ति का विरोधी था। पोप द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इटली में भड़काई जाने वाली युद्धाग्नि से इटली बरबाद हो रहा था, अतः दांते (Dante) जैसे देशभक्त इटालियन पोप के कट्टर विरोधी हो गये। १४वीं शताब्दी में पोप की प्रभुता का विरोध करने वाले प्रमुख विचारक निम्नलिखित थे।

---

१. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफ़ी, पृ० ४६१।

२. ग्वैल्फ (Guelph) तथा गिबलिन (Ghibbeline) दोनों Welf तथा Waiblingen नामक पारिवारिक नामों के विकृत रूप हैं। पोप के समर्थक ग्वैल्फ और सम्राट् के समर्थक गिवलिन कहलाते थे। यह संघर्ष फ्रेडरिक द्वितीय (१२१२-१२५० ई०) के समय तब शुरू हुआ, जब उसने उत्तरी इटली के राज्यों को हराया। इस समय पोप ने सम्राट् के विरुद्ध उत्तरी इटली के राज्यों की ग्वैल्फ पार्टी का समर्थन किया तथा सम्राट् की गिवलिन पार्टी उसका विरोध करती रही।

पोप विरोधी विचारक

दांते (१२६५-१३२१)—फ्लोरेन्स के अभिजात किन्तु दरिद्र कुल में जन्म लेने वाले, डिवाइन कामेडी के अमरगायक दांते को अपने शहर की राजनीति के झगड़ों में पड़ने के कारण १३०२ ई० में निर्वासित होकर जीवन के शेष १९ वर्ष प्रेम और राजनीति में निराश होकर भटकते हुए बिताने पड़े थे। इस समय उसे विभिन्न इटालियन नगरों के पारस्परिक कलह, हिंसा, फूट, विद्वेष और घृणा को देख कर यह

DANTE
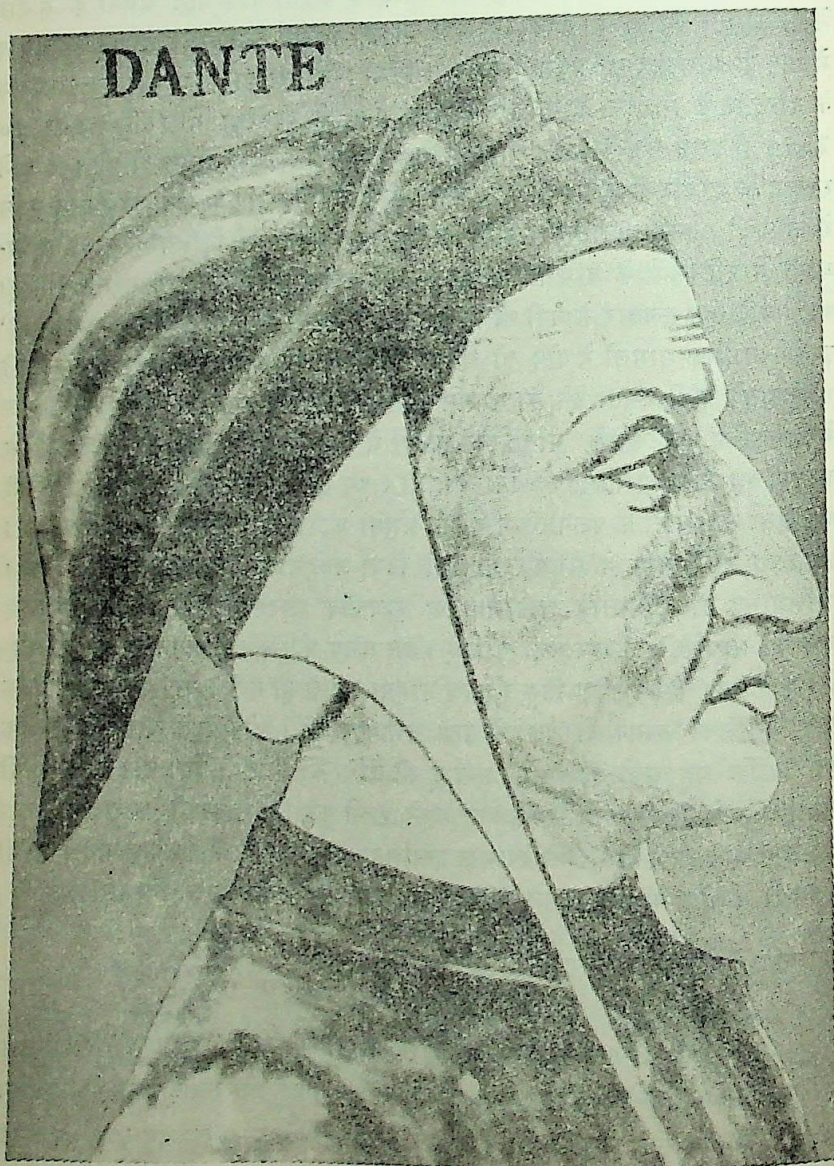
दांते

निश्चय हो गया कि इनकी अराजकता का अन्त करने के लिए उसके विभिन्न वर्गों, श्रेणियों और नगरों को एक सुदृढ़ तथा व्यवस्थित शासन में लाना आवश्यक है। उस समय इटली को एक शासनसूत्र में संगठित करने का कार्य दो ही शक्तियाँ कर सकती थीं—पोप अथवा पवित्र रोमन सम्राट्। किन्तु उसे फ्लोरेन्स से निर्वासित करने वाली पार्टी पोप का साथ देने वाली थी, पोप विभिन्न इटालियन राज्यों में दलबन्दियों द्वारा फूट उत्पन्न कर रहा था और इटली के एकीकरण का उग्र विरोधी था। अतः दांते को पवित्र रोमन सम्राट् पर ही यह आशा थी कि वह इटली में अपने साम्राज्य द्वारा प्राचीन रोमन साम्राज्य जैसी शान्ति, सुशासन तथा सुव्यवस्था स्थापित कर सकता था। बोकाचियो (Boccacio) के मतानुसार १३१० ई० में उत्तरी इटली पर हेनरी सप्तम (१३०८-१३ ई०) का आक्रमण होने पर उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के लिए राजतन्त्र या **दी मोनार्किया** (De Monarchia) का प्रणयन किया।[1]

इस ग्रन्थ में दांते राजतन्त्र शब्द का प्रयोग सब सांसारिक पदार्थों पर सार्वभौम स्वामित्व रखने वाले विश्वव्यापी साम्राज्य के अर्थ में करता है। यह ग्रन्थ तीन पुस्तकों या खंडों में विभक्त है। पहली पुस्तक में संसार के कल्याण के लिए ऐसे साम्राज्य की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। दूसरी पुस्तक में रोमन लोगों द्वारा साम्राज्य निर्माण के प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है। तीसरी पुस्तक में इस प्रश्न का विवेचन है कि सम्राट् को अपनी सत्ता सीधे भगवान् से प्राप्त होती है या पोप से।

पहली पुस्तक में सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना को आवश्यक सिद्ध करने के लिए दांते ने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये हैं—(क) अरस्तू के मतानुसार प्रत्येक समाज का एक निश्चित उद्देश्य होता है। भगवान् और प्रकृति कोई निरुद्देश्य या निरर्थक वस्तु कभी नहीं बनाते। मानव समाज का उद्देश्य है कि उसका प्रत्येक सदस्य अपना अधिकतम विकास करे। शान्ति स्थापित हुए बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। इसे स्थापित करने के लिए सार्वभौम साम्राज्य आवश्यक है। (ख) जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में भगवान् का शासन है, उसी प्रकार समूचे विश्व की सांसारिक वस्तुओं पर एक सम्राट् का शासन स्थापित होना चाहिए। समग्र जगत् के लिए एक राजा की आवश्यकता इसलिए भी है कि उसके बिना विभिन्न राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निबटारा नहीं हो सकता। (ग) सुप्रसिद्ध रोमन कवि वर्जिल के उद्धरण देते हुए उसने यह सिद्ध किया है कि ऐसे सार्वभौम शासन में ही अधिकतम न्याय उपलब्ध हो सकता है। न्याय, शक्ति और इच्छा पर निर्भर होता है। विश्व के सम्राट् में ये दोनों बातें पायी जाती हैं। उसके पास पूर्ण अधिकार और शक्ति है, उसमें संसार का सम्राट् होने के कारण दूसरे राज्यों को जीतने की लालसा, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष नहीं होते, वह सब प्रकार की वासनाओं और पक्षपातों से ऊँचा उठा हुआ होता है, अतः निष्पक्ष भाव से न्याय कर सकता है। (घ) इसी प्रकार दांते यह भी सिद्ध करता है कि वास्तविक स्वतन्त्रता विश्वव्यापी साम्राज्य में ही संभव है। (ङ) अतः, अन्त में दांते यह परिणाम निकालता है कि संसार के कल्याण के लिए विश्वव्यापी साम्राज्य आवश्यक है। इसका सबसे सुन्दर प्रमाण यह है कि ईसा ने उसी समय जन्म ग्रहण करना उचित समझा, जब

---

१. विल ड्यूरैण्ट—दी एज ऑफ फेथ, पृ० १०६३।

आगस्टस के शासनकाल में पूर्णतम रोमन साम्राज्य था।

मोनार्किया की दूसरी पुस्तक में दांते ने प्राचीन रोमन साम्राज्य के गुणगान करते हुए कहा है कि रोमन लोगों ने अपना अधिकार, साम्राज्य और शक्ति ईश्वर की इच्छा से प्राप्त की थी। उनकी अभूतपूर्व सफलता ही उनके शासन के दैवीय होने का प्रमाण है। रोमन सब जातियों में उत्कृष्ट थे और उन्होंने सार्वजनिक हित के लिए सारी दुनिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

मोनार्किया की तीसरी पुस्तक में यह बताया गया है कि वर्त्तमान पवित्र रोमन साम्राज्य पुराने रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी है। इसे उसके सभी अधिकार प्राप्त हैं। इस प्रसंग में उसने उन सब व्यक्तियों पर बड़े प्रबल तथा कटु आक्षेप किये हैं, जो सम्राट् के पद और शक्ति को सर्वोच्च मानने के विरोधी हैं।

उसने सम्राट् पर पोप की प्रभुता के समर्थन में दी जाने वाली सब प्रधान युक्तियों की धज्जियाँ उड़ाई हैं। (क) पुराने पोपों के आज्ञा-पत्रों (Decretals) की युक्ति (देखिये उपर पृ० २७२) के बारे में उसका मत है कि इनका सम्मान होना चाहिए, किन्तु ये बाइबल के वचनों से अधिक प्रामाणिक नहीं हो सकते। धर्मशास्त्र से प्रतिकूल होने के कारण इनका प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। (ख) कांस्टैं-टाइन के दान की युक्ति (देखिये ऊपर पृ० २७३) के संबंध में उसका यह कहना है कि सम्राट् को ऐसा दान देने का कोई अधिकार ही नहीं था। साम्राज्य का मूल तत्त्व एकता है और सम्राट् इसका विघटन या विभाजन नहीं कर सकता। (ग) शार्लमेगन को रोम द्वारा साम्राज्य का अधिकार देने की युक्ति (पृ० २३९) के बारे में उसका कहना था कि जब पोप के पास साम्राज्य का कोई अधिकार ही न था तो वह उसे कैसे दे सकता था। "साम्राज्य का अधिकार तो सम्राट् के पास था। किसी का अधिकार हथिया लेने से कोई अधिकार नहीं बन जाता।" (घ) सूर्य और चन्द्र की सुप्रसिद्ध युक्ति के बारे में उसका कहना था कि भले ही चन्द्र सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता हो, किन्तु इन दोनों के पृथक् अस्तित्व में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही ग्रहण के समय यह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रमा का अपना प्रकाश भी होता है। (ङ) इसी प्रकार उसने दो तलवारों की, मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष के अधिकार (पृ० ३०५) की तथा अन्य सभी युक्तियों का प्रबल निराकरण करते हुए यह परिणाम निकाला है कि उसे साम्राज्य की शक्ति का कोई अधिकार न भगवान् से मिला है, न किसी सम्राट् से मिला है, और न समूचे या अधिकांश मानव समाज से। अतः वह इसे सम्राट् को नहीं दे सकता। इसके विपरीत भगवान् ने दो प्रकार की स्वतन्त्र और पृथक् शक्तियों का निर्माण मनुष्य के कल्याण के लिए किया है और सम्राट् को अपना अधिकार ईश्वर से प्राप्त हुआ है। सम्राट् का समर्थक तथा पोप का प्रबल विरोधी होने के कारण दांते के इस ग्रन्थ का सम्राट् लुईस ने पोप के साथ झगड़े (पृ० ३०१-३) में इसे उसके विरुद्ध प्रचार का प्रबल साधन बनाया। दूसरी ओर १३२९ ई० में पोप के प्रतिनिधि की आज्ञा से इस ग्रन्थ की सार्वजनिक होली की गई और १६वीं शताब्दी में यह पोप द्वारा ईसाइयों के लिए वर्जित पुस्तकों की सूची में रखा गया।[1]

---

१. विल ड्यूरैंट—दी एज ऑफ फेथ, पृ० १०६३।

दांते और एक्विनास की तुलना—ये दोनों सर्वथा प्रतिकूल मत रखते हैं। पहला राज्य पर पोप की प्रभुता का कट्टर विरोधी है तथा दूसरा इसका प्रबल समर्थक। फिर भी इन दोनों की विचारधारा में कई मौलिक सादृश्य हैं। (क) **पहला** सादृश्य एकता के विचार का है। एक्विनास सारे विश्व को एक सुसंबद्ध योजना मानता था जिसमें प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित स्थान और कार्य हैं। दैवी नाटक में ईश्वर से लेकर निम्नतम प्राणी तक सभी व्यक्ति अपनी निर्धारित भूमिका अदा कर रहे हैं। सम्पूर्ण मानव समाज ईश्वरीय योजना का अंश है। जिस प्रकार भगवान् विश्व के नियन्ता हैं, इसी प्रकार राज्य में एक शासक होना चाहिए। इस ढंग से दांते ने एकत्व के दृष्टिकोण को अपनाते हुए सार्वभौम साम्राज्य के ऐसे सम्राट् की कल्पना की, जो राज्यों के विभिन्न झगड़ों को निबटाये, सर्वोच्च न्यायाधीश हो तथा स्वतन्त्रता एवं न्याय को बढ़ाने वाला हो। (ख) दोनों इस बात में सहमत हैं कि समूचा योरोप एकत्व के सूत्र में आबद्ध ऐसा ईसाई समाज है, जिसका शासन ईश्वर द्वारा नियुक्त की हुई ब्रह्म शक्ति (Sacerdotium) तथा क्षत्र शक्ति (Imperium) को धारण करने वाले चर्च और राज्य द्वारा होता है। (ग) राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करने का दोनों का दृष्टिकोण एक-सा है। ये दोनों आरम्भिक मध्ययुग की धार्मिक और नैतिक परम्पराओं का अनुसरण करते हुए ही सोचते हैं। (घ) दोनों शक्ति और सत्ता का मूल स्रोत भगवान् और जनता को मानते हैं। राजा कानूनी पद्धति का अध्यक्ष होते हुए भी उसका वशवर्त्ती है। उसका अधिकार यद्यपि अपने विभिन्न प्रजाजनों से अधिक है, किन्तु सारे समाज की तुलना में कम है। यद्यपि राजा की सत्ता का आधार बुद्धि है, किन्तु बुद्धि द्वारा बनाये हुए नियमों का पालन कराने के लिए दोनों राजदण्ड की शक्ति का महत्त्व मानते हैं। (ङ) समाज के संबंध में दोनों की यह धारणा है कि यह सजीव शरीर की भाँति कार्य करने वाला समुदाय (Organism) है, विभिन्न वर्ग समाज रूपी विराट् पुरुष के विविध अंग हैं। कानून द्वारा इनमें संगठन और व्यवस्था स्थापित की जाती है।

पडुआवासी मारसिलियो (१२७०–१३४२)—इटली के उत्तर पूर्व में स्थित पडुआ नगर में रहने वाला मारसिलियो १४वीं शताब्दी का सबसे अधिक मौलिक विचारक है, "जिसने न केवल अपने समय के, किन्तु अपने से आगेवाले योरोप को भी देखा"।[१] उसने आरम्भ में चिकित्साशास्त्र और धर्मशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। १३१२ ई० में वह पेरिस विश्वविद्यालय का रैक्टर (Rector) बना। जिस प्रकार लूथर को रोम की तीर्थयात्रा ने वहाँ का धार्मिक पाखंड देख कर पोप का कट्टर विरोधी बना दिया था, वैसा ही प्रभाव मारसिलियो पर पोप की तत्कालीन राजधानी आवीन्योन की यात्रा का हुआ। इसके अतिरिक्त, दांते की भाँति तथा उसके दो शताब्दी बाद होने वाले मेकियावेली की तरह वह इटली के विघटन, फूट और पारस्परिक झगड़ों का कारण पोप को मानता था। उसे अपने उग्र और पोप-विरोधी विचारों के कारण अपने मित्र ओकमवासी विलियम के साथ पेरिस विश्वविद्यालय से निकलना पड़ा, ये दोनों पोप द्वारा धर्म बहिष्कृत हुए तथा इन्होंने बवेरिया के राजा लुई के दरबार में शरण ली। १३२४ ई० में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **शान्ति का रक्षक** (Defensor Pacis) पूर्ण

---

१. मरे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८१।

की। इसका प्रधान उद्देश्य चर्च के दावों का खंडन करना तथा चर्च द्वारा राज्य को नियन्त्रण करने के अधिकारों को अधिक-से-अधिक मर्यादित करना है। वह चर्च को राज्य के आधीन रखने की कठोर व्यवस्था करने में सब मध्ययुगीन विचारकों से आगे बढ़ा हुआ है तथा इस विषय में दो शताब्दी बाद होने वाले जर्मन धर्मशास्त्री थामस एरेस्टस (१५२४–१५८३ ई०) से सादृश्य रखने वाले विचारों का प्रतिपादन करता है, अतः सैबाइन ने उसे एरेस्टस का पहला अनुयायी (First Ersatian) कहा है।[1] उसकी विचारधारा पर अरस्तू का तथा एवरोवाद (Averroism) के प्रकृतिवादी और बुद्धिवादी सिद्धान्तों का प्रबल प्रभाव है।

मारसिलियो अपने समय की अशान्ति और अराजक अवस्था से दांते की भाँति बहुत खिन्न और क्षुब्ध था। इस अशान्ति को दूर करने के लिए उसने अपनी पुस्तक का प्रणयन किया। इसके अन्त में उसने लिखा था कि इस ग्रन्थ का नाम **शान्ति का रक्षक** होगा क्योंकि इसमें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के प्रश्नों पर तथा शान्ति स्थापना में आने वाली बाधाओं का विचार किया जायगा। जिस प्रकार अरस्तू ने अपने राजनीतिशास्त्र में क्रान्तियों तथा राज्यों में उत्पन्न होने वाले लड़ाई-झगड़ों के कारणों की मीमांसा की है (ऊपर पृ० १८७–९२), उसी प्रकार मारसिलियो भी इन पर विचार करना चाहता है। उसका यह कहना है कि अरस्तू को राज्य के विवादों के एक प्रधान कारण का ज्ञान न था और वह है पोप द्वारा राजाओं पर सर्वोच्च शक्ति रखने का दावा। इस दावे ने सारे योरोप में और विशेषतः इटली में युद्ध का दावानल प्रज्वलित कर रखा है। इसे शान्त करने के लिए तथा 'चिकित्सक' की भाँति इस बीमारी की औषधि बताने के लिए मारसिलियो ने अपनी लेखनी उठायी।

उसका ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग (Dictio) के उन्नीस अध्यायों में राज्य के उद्देश्य और स्वरूप का तथा दूसरे भाग के तेंतीस अध्यायों में पोपों के दावों का निराकरण है, तीसरे भाग के तीन अध्यायों में बयालीस शीर्षकों में पहले दो भागों में निकाले गये निष्कर्षों का प्रतिपादन है। उसके राजनीति विषयक प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

(अ) राज्य विषयक विचार—इनमें मारसिलियो प्रायः अरस्तू के विचारों का अनुसरण करता है: (क) अरस्तू की भाँति वह राज्य का स्वरूप सजीव शरीर (Living Organism) का-सा मानता है, यह कई अंगों से मिल कर बनता है, ये सभी अंग इसके जीवन के लिए आवश्यक कार्य करते हैं। इसका स्वास्थ्य सब अंगों द्वारा समुचित और व्यवस्थित रूप से कार्य करने पर निर्भर है। यदि कोई अंग अपना कार्य ठीक तरह से नहीं करता या दूसरे के कार्य में बाधा डालता है तो संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। (ख) नगर-राज्य की उत्पत्ति वह यूनानी दार्शनिक की भाँति परिवार से मानता है। (ग) अरस्तू ने नगर-राज्य को अपनी सब आवश्यकतायें स्वयं पूरा करने वाला आत्मनिर्भर (Selfsufficient) माना था (देखिये ऊपर पृ० १५०)। मारसिलियो ने भी इसे पूर्ण समुदाय (Perfect community) अर्थात् उत्तम जीवन के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में समर्थ माना है। (घ) राज्य का प्रयोजन जीवन ही

---

१. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २५३।

नहीं, किन्तु उत्तम जीवन है। मनुष्य पशुओं और दासों की भाँति केवल जीना ही नहीं चाहता, किन्तु उत्तम रीति से जीना चाहता है। यहाँ तक वह अरस्तू का अनुसरण करता है, किन्तु उत्तम जीवन की व्याख्या में उससे मतभेद रखता है। अरस्तू का उत्तम जीवन इहलोक तक सीमित था, किन्तु मारसिलियो इसके दो भेद, ऐहिक और पारलौकिक मानता है। ऐहिक या सांसारिक उत्तम जीवन का परिचय दर्शनशास्त्र से तथा पारलौकिक उत्तम जीवन का ज्ञान धर्मशास्त्र से होता है। पहले का आधार बुद्धि एवं विवेक है और दूसरे का श्रद्धा और विश्वास। ऐहिक जीवन में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है, किन्तु इसके साथ ही पारलौकिक जीवन तथा मोक्षलाभ के लिए धर्म और श्रद्धा भी आवश्यक हैं। (ङ) अरस्तू की भाँति मारसिलियो समाज के निर्माण में सहयोग देने वाले विभिन्न वर्गों का परिगणन करता है। कृषक और शिल्पी भौतिक आवश्यकतायें पूरी करते हैं, शासन संचालन के लिए आवश्यक धन देते हैं, इनके अतिरिक्त समाज के अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग—सैनिक, सरकारी अधिकारी तथा पुरोहित हैं। पुरोहितों का कार्य धर्मशास्त्रों का अध्ययन, शिक्षा देना और मुक्ति पाने के लिए आवश्यक बातों को बताना है। उनका क्षेत्र केवल धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। समाज के अन्य वर्गों के समान राज्य को उन्हें नियन्त्रित करने का पूरा अधिकार है।

(आ) राज्य के विषय में उसका सबसे क्रान्तिकारी, मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का है। उसके कथनानुसार विवेकपूर्ण शासन का संचालन करने वाली शक्ति कानून है। अतः, राज्य का सारतत्त्व कानून का निर्माता होना (Legislator) है और यह जनता होती है। उसके शब्दों में "सत्य के तथा अरस्तू की सम्मति के अनुसार कानून का निर्माता (Causal egis) जनता या उसका बहुमत होता है। यह इसका आदेश देता है तथा निश्चय करता है कि समाज में मनुष्यों को कौन-से कार्य करने चाहिएँ तथा भौतिक दण्डों के भय से किन कार्यों को नहीं करना चाहिए"।[1] कानून-निर्माता की इच्छा की अभिव्यक्ति कई प्रकार से हो सकती है। सब नागरिकों की असेम्बली प्रत्यक्ष रूप से इसे प्रकट कर सकती है या वह किसी व्यक्ति को या समूह को अपना अधिकार दे सकती है। किन्तु अधिकार देने पर भी प्रतिनिधि केवल उसका अभिकर्त्ता (Agent) मात्र होता है, कानून निर्माण की अन्तिम शक्ति जनता में ही निहित रहती है। मारसिलियो राज्य के कानून का निर्माण करने वाले तथा शासन करने वाले (Executive) अंगों में स्पष्ट भेद करता है। राज्य में प्रभुसत्ता का अन्तिम स्रोत जनता है। कानून निर्माण का अधिकार उसी को है। यह शासन संचालन के लिए शासक वर्ग (Principans) को चुनती है। यदि यह अपने अधिकारों का या कानून का अतिक्रमण करता है तो जनता को इसे दण्डित करने का अधिकार है। जनता के कानूनों को क्रियात्मक रूप देने के लिए वह निर्वाचित राजतन्त्र (Elective Monarchy) को श्रेष्ठ समझता था। राजा का कार्य कानूनों की व्याख्या करना तथा इसे लागू करना था, न कि इन कानूनों का निर्माण करना। उसने जनता को प्रभु मानते हुए वैध राजतन्त्र का प्रतिपादन किया है।

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २३६।

यद्यपि मध्यकाल में रोमन कानून का जनता की प्रभुसत्ता का विचार प्रचलित था, तथापि इसमें सम्राट् को जनता का प्रतिनिधि समझा जाता था। अतः इस विषय में मारसिलियो यूनानी गणराज्यों की लोकतन्त्र की भावना से अधिक प्रभावित हुआ है। उसने संभवतः पोप के दावों का विरोध करने के लिए जनता की प्रभुसत्ता का प्रबल समर्थन किया है। किन्तु मारसिलियो का सिद्धान्त विशुद्ध रूप से लोकतन्त्रात्मक नहीं है क्योंकि उसने कानून के निर्माण में समूची जनता की अपेक्षा उसमें गौरव रखने वाले व्यक्तियों के अंश को अधिक महत्त्व दिया है। यह अंश (Pars Velentior) व्यक्तियों के गुणों के कारण विशेष गौरव रखता है।[1] फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र के इतिहास में जनता की प्रभुसत्ता का प्रथम प्रतिपादन है"। और यह कथन सर्वथा सत्य है कि "उसके विचारों में सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता का विचार हमें बोदँ और आस्टिन की अपेक्षा रूसो का अधिक स्मरण करता है"।[2]

(इ) **चर्च विषयक सिद्धान्त**—अपने ग्रन्थ के पहले भाग में राज्य विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के बाद वह दूसरे भाग में चर्च के विभिन्न अधिकारों और दावों की समीक्षा करता है तथा पोपशाही (Papacy) पर प्रबलतम आक्षेप करता है। उसने चर्च के क्षेत्र में भी जनता की प्रभुसत्ता, प्रतिनिधित्व आदि के उपर्युक्त सिद्धान्तों को लागू करते हुए पोप के सभी अधिकारों को निर्मूल, निराधार और समाज के लिए घातक सिद्ध किया है। इस क्षेत्र में उसके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं : (१) **चर्च की परिषद् का विचार**—उसके मत में चर्च के मामलों में चरम अधिकार पोप को नहीं, किन्तु चर्च की सामान्य परिषद् को हैं। चर्च (Ecclesia) कोई व्यक्ति विशेष नहीं, किन्तु ईसाइयत में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्तियों का समुदाय है, इसमें पुरोहित तथा ईसाई गृहस्थ (Laity) भी सम्मिलित हैं। जिस प्रकार राज्य की जनता में प्रभुसत्ता का निवास है, उसी प्रकार चर्च में अन्तिम सत्ता समस्त ईसाई जगत् में और इससे चुनी गई सामान्य परिषद् में रहती है। यह सारे ईसाइयों की या उनके प्रतिनिधियों की इस प्रकार चुनी हुई परिषद् है कि इसमें प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति का उसकी संख्या और स्वरूप के अनुपात में पूरा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।[3] इस परिषद् में पादरियों को तथा गृहस्थ ईसाइयों को समान रूप से भाग लेना चाहिए। इस सामान्य परिषद् को बहुमत द्वारा धर्मवचनों की व्याख्या करने का, चर्च से बहिष्कार (Excommunication) का दण्ड देने का, चर्च में धार्मिक पूजा के स्वरूप को निश्चित करने का तथा चर्च के विभिन्न पदों पर व्यक्तियों को नियुक्त करने का अधिकार है। पोप को इस विषय में कोई अधिकार नहीं है। चर्च में सब पादरियों के समान अधिकार हैं, बिशप, आर्क बिशप तथा पोप के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं है।

(ई) **चर्च के अधिकारों की मर्यादा**—चर्च का अधिकार केवल धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों तक सीमित है। उसका कार्य मनुष्य को धर्म का पालन कराना तथा मोक्ष दिलाना है। वे 'आत्मा के डाक्टर' हैं। जैसे डाक्टर रोग का निदान करता है और

---

१. मरें—पवोंक्त पुस्तक पृ० ८४।
२. बौले—वैस्टर्न पोलिटिकल थाट, पृ० २३८।
३. डनिंग—पवोंक्त पुस्तक, पृ० २४१-२।

दवाई बताता है, वैसे ही वे जनता के आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा करने वाले हैं। धार्मिक या सांसारिक क्षेत्र में इससे अधिक उन्हें कोई अधिकार नहीं है। वे किसी प्रकार की भौतिक शक्ति नहीं रखते। ईसा मसीह दुनिया में शासन करने नहीं आया था। जब उसने अपने शिष्यों को कोई भौतिक अधिकार नहीं दिये तो चर्च के पास ये अधिकार कहाँ से आ सकते हैं? चर्च के कानून (Canon Law) की कोई सत्ता नहीं है क्योंकि यहाँ केवल दो ही प्रकार के कानून हैं—परलोक में लागू होने वाला ईसा का कानून (Law of Christ) या इहलोक में तथा समाज में लागू होने वाला मानवीय कानून। पादरियों को धार्मिक विषयों में भी धर्मोपदेश के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं है। यह कहना सर्वथा मिथ्या है कि पोप को पापों के लिए मनुष्यों को दण्डित करने का अधिकार है तथा पोप के पास स्वर्ग और नरक की कुँजियाँ हैं। पाप-पुण्य का दण्ड देने वाले और निर्णय करने वाले भगवान् हैं, पोप और पादरियों की स्थिति तो उस नौकर के समान है, जो अपने जेलर या उच्चाधिकारियों की आज्ञा पर कैदियों के दरवाजों के ताले कुँजियों से खोलता या बन्द करता है। चर्च को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है। उसके पास किसी प्रकार की धन-दौलत नहीं होनी चाहिए। ईसा मसीह और उसके शिष्य अपने पास कुछ नहीं रखते थे। यदि चर्च को कुछ सम्पत्ति दान की जाय तो वह उसका स्वामी नहीं, किन्तु पवित्र धरोहर के रूप में उसकी रक्षा करने वाला होता है। तत्कालीन पोप और चर्च के पतन का प्रधान कारण धन-ऐश्वर्य में लिप्त होना था।

(उ) **पोप के अधिकारों का खण्डन**—मारसिलियो ने पोप की प्रभुता और अधिकारों के समर्थन में दी जाने वाली सभी मुख्य युक्तियों की धज्जियाँ उड़ायी हैं। सबसे बड़ी युक्ति ईसा द्वारा पीटर को अधिकार देने (Petrine theory, देखिये ऊपर पृ० २३८) तथा पीटर द्वारा रोम के चर्च की स्थापना करने की थी। उसने न्यू टैस्टामैण्ट के इस विषय में दिये जाने वाले सभी प्रमाणों की योग्यतापूर्वक समीक्षा करते हुए बताया कि बाइबल में कहीं भी पीटर को दूसरे शिष्यों पर कोई अधिकार नहीं दिया गया, पीटर का रोम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। पोपों को अपने अधिकार धर्मशास्त्र के किसी आदेश से नहीं मिले। दूसरे चर्च रोम के बिशप से परामर्श लिया करते थे और इस कारण गलती से इन चर्चों पर पोप का अधिकार मान लिया गया। आजकल पेरिस विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय कुछ प्रश्नों पर सम्मति पूछते हैं, किन्तु इस कारण अन्य विश्वविद्यालय पेरिस के वशवर्त्ती नहीं समझे जाते। इसी प्रकार अन्य चर्चों के रोमन चर्च से सलाह लेने पर वे उसके आधीन नहीं हो जाते। पोप को कोई पूर्ण अधिकार (Plenitudo Potestatis) नहीं है क्योंकि यही सब झगड़ों की जड़ हैं। पोपों के शासन करने की इच्छा ने ही इटली को तबाह कर दिया है, इसकी शान्ति नष्ट कर दी है, इसने सम्राट् के विरुद्ध सब शक्तियों को उभाड़ने का पूरा प्रयत्न किया है। यह स्थिति असह्य है। पोप को किसी राजा या सम्राट् के चुनाव में किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। पादरियों को सम्राटों पर कोई अधिकार नहीं है। उसका कार्य और पद विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है, अतः सांसारिक मामलों में उनके हस्तक्षेप करने का कोई कारण नहीं है। इन विषयों में पोप सांसारिक सत्ता के आधीन है। वह राजाओं को पदच्युत नहीं कर सकता, प्रजा को राजा की भक्ति एवं निष्ठा से भी मुक्त करने में असमर्थ है। उसे धार्मिक मामलों में भी दण्ड

देने, चर्च से बहिष्कृत करने आदि के कोई अधिकार नहीं हैं। ये अधिकार केवल चर्च की परिषद् को ही हैं। किन्तु राज्य के अधिकारी पोप को तथा अन्य धर्माधिकारियों को उनके पद से च्युत कर सकते हैं।

(ऊ) **चर्च और राज्य के सम्बन्ध**—मारसिलियो राज्य को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च संस्था समझता है। चर्च को इसके आधीन रहना चाहिए और कोई सांसारिक कार्य नहीं करना चाहिए। "चर्च के पास यदि राजनीतिक शक्ति होगी तो राज्य में दो सर्वोच्च सरकारें हो जायेंगी।...इस परिस्थिति में मानव समाज में शान्ति नहीं रह सकती। इटली के राज्य की महामारी का मूल स्रोत यही है।"[1] अतः मारसिलियो चर्च को राज्य का वशवर्ती बनाने का प्रबल समर्थक था। उसके मतानुसार राज्य को सांसारिक और धार्मिक दोनों प्रकार के कार्य करने चाहियें। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रदेश में पादरियों की संख्या नियत करे, चर्च के संगठन संबंधी नियम बनाये। पादरियों को राज्य के कानूनों से किसी प्रकार की छूट नहीं मिलनी चाहिए, अपराधी होने पर इन पर राज्य द्वारा अन्य नागरिकों की भाँति अभियोग चलाया जाना चाहिए। यदि पादरियों को कोई विशेष अधिकार या छूट दी जायगी, तो राज्य के विभिन्न वर्गों में फूट और वैमनस्य उत्पन्न हो जायगा, इनके कारण होने वाले विवादों और झगड़ों से अनेक प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न होगी, जो राज्य के प्रधान उद्देश्य शान्ति स्थापित करने के सर्वथा प्रतिकूल है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मारसिलियो राज्य पर चर्च की प्रभुता का सबसे अधिक उग्र विरोधी है। वह पोप को किसी प्रकार का कोई सांसारिक अधिकार नहीं देना चाहता और चर्च में उसकी स्थिति अन्य बिशपों के तुल्य समझता है।

पोप-विरोधी विचारों के कारण मारसिलियो के ग्रन्थ को बड़ी प्रसिद्धि मिली। पोप के समर्थकों द्वारा इसमें दोष निकालना स्वाभाविक था, किन्तु इससे इसकी लोकप्रियता बढ़ी। १३६३ ई० में इसका लैटिन से फ्रेंच में अनुवाद हुआ। इसके १५ वर्ष बाद ही आवीन्योन और रोम में दो विरोधी पोप हो जाने से रोमन चर्च बड़ी फूट (Great Schism) एवं संघभेद से क्षीण होने लगा। इस समय स्वतःविचारकों का ध्यान मारसिलियो द्वारा प्रतिपादित चर्च की सामान्य परिषद् की ओर गया और परिषदीय आन्दोलन (Conciliar movement) प्रबल हुआ। इसने क्यूसा के निकोलस को तथा मार्टिन लूथर को प्रभावित किया। ऐसी चर्च विरोधी पुस्तक का नाम पोप द्वारा निषिद्ध पुस्तकों की सूची (Index) में रखा जाना स्वाभाविक था।

मारसिलियो का मूल्यांकन—मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों में मारसिलियो कई कारणों से विशेष महत्त्व रखता है। वह बड़ा मौलिक विचारक था और पोप की प्रभुता को मर्यादित करने वाले क्रान्तिकारी विचारकों में सबसे अग्रणी था। इस दृष्टि से कोई अन्य मध्ययुगीन विचारक उसकी तुलना नहीं कर सकता। वह अपने समय से बहुत आगे के विचार रखने वाला था। उसने चर्च के संगठन और राजनीतिक क्षेत्र में जो विचार रखे, वे १६वीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन तक तथा १७वीं-१८वीं

---

१. मरे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८६।

शताब्दियों की राजनीतिक क्रान्तियों तक सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किये गये।[1] उसका एक महत्त्व इस कारण से भी है कि उसकी कृतियों द्वारा अरस्तू का तथा यूनानी विचार-धारा का पुनरुत्थान हुआ।[2] उससे पहले थामस एक्विनास ने अरस्तू का पुनरुद्धार किया था, किन्तु उसने राज्य को निम्न तथा चर्च को उच्च स्थान दिया था। मारसिलियो ने उसके ग्रन्थ—राजनीति—को सही रूप में पुनरुज्जीवित करते हुए चर्च को गौण तथा राज्य को प्रधान स्थान दिया तथा जनता की प्रभुसत्ता तथा प्रतिनिधित्व के आधुनिक विचारों का सर्वप्रथम सुस्पष्ट प्रतिपादन किया।[3]

---

१. गेटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० १२२।

२. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० २६३।

३. चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रकरण में भारत में क्षत्र और ब्रह्म शक्ति के सम्बन्धों का संक्षिप्त निर्देश उपयोगी है। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के विचार थे—(क) दोनों शक्तियों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तै० सं० (५।१०।१०।३) में कहा गया है राजन्य वाला ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण से और ब्राह्मण वाला राजन्य दूसरे क्षत्रिय से श्रेष्ठ है। ऐत० ब्रा० (८।२) के अनुसार ब्रह्म-क्षत्र एक-दूसरे पर स्थित हैं। महाभारत (७३।३२) के अनुसार ब्रह्म क्षत्र को तथा क्षत्र ब्रह्म को बढ़ाने वाला होता है (ब्रह्म वर्धयति क्षत्रं, क्षत्रतो ब्रह्म वर्धते)। क्षत्र ब्रह्म का मूल और ब्रह्म क्षत्र का मूल है (७२-५५, क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजः)। (ख) दूसरा विचार ब्रह्म शक्ति से क्षत्र शक्ति की श्रेष्ठता का था। शतपथ ब्राह्मण में राजसूय यज्ञ के प्रकरण (५।४।२।७) में तथा अन्यत्र क्षत्र को ब्रह्म से प्रधानता दी गई है (श० ब्रा० ६।४।४।१३, तस्मात्क्षत्रियं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्ति।)। (ग) तीसरा विचार ब्रह्म शक्ति की प्रधानता है। यह भारतीय विचारधारा का प्रमुख विचार है। तै० सं० (२।८।८।६) में कहा गया है कि क्षत्र का निर्माण ही ब्रह्म से हुआ है (ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम्)। ताण्ड्य ब्रा० का मत है कि ब्रह्म क्षत्र से प्रधान है (ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्)। जहाँ क्षत्रिय ब्राह्मण के वश में है वह राष्ट्र समृद्ध होता है (ऐत० ८।१।४।६ तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धम्)। सामान्यतः भारतीय साहित्य में ब्रह्मशक्ति को क्षत्रशक्ति से ऊँचा ठहराते हुए दोनों के सामंजस्य को ही उत्तम आदर्श बताया गया है—यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ शुक्ल यजुर्वेद मि० यजु० ३२।१५, १६॥ (देखिये ऊपर, पृ० ३११)।

ग्यारहवाँ अध्याय

कांसिलियर आन्दोलन

इसका स्वरूप—१३२४ ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में मारसिलियो ने पोप के दावों का निराकरण करते हुए यह सिद्धान्त रखा था कि ईसाइयत के धार्मिक प्रश्नों के सब विषयों में अन्तिम निर्णय करने का और नियम बनाने का अधिकार चर्च की सामान्य परिषद् (General Council) को है (देखिये ऊपर पृ० ३३४)। परिषद् की सर्वोच्च सत्ता पर बल देने के कारण यह परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory) कहलाता है। १४वीं शताब्दी में कई कारणों से इस सिद्धान्त को बहुत बल मिला तथा इसे क्रियात्मक रूप देने के लिए आन्दोलन हुआ। यह **परिषदीय** अथवा **कांसिलियर** आन्दोलन कहलाता है। १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसके परिणामस्वरूप कांस्टैंस (१४१५–१७ ई०) और बाज़ेल (१४३१–४३ ई०) की परिषदें बुलायी गईं। यद्यपि यह चर्च का धार्मिक आन्दोलन था, किन्तु इसने योरोप की राजनीतिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला।

प्रादुर्भाव के कारण—यह आन्दोलन कई कारणों से उत्पन्न हुआ। **पहला** कारण ईसाई चर्च का महान् संघभेद या फूट (Great Schism) थी। यह १३७८ से १४१७ ई० तक चर्च को क्षीण बनाती रही। इसका प्रादुर्भाव पोपों के आवीन्योन (Avignon) से पुनः रोम लौट आने पर हुआ। १३७८ ई० में पोप ग्रेगोरी एकादश की मृत्यु पर रोमन जनता के प्रबल दबाव से निर्वाचन करने वाले अधिकांश कार्डिनलों ने एक इटलीवासी अर्बन षष्ठ (१३७८-१३७९ ई०) को पोप चुना और उसके बाद फ्रेंच राजा की प्रेरणा से इस चुनाव को अवैध घोषित करते हुए एक फ्रेंच व्यक्ति क्लेमेण्ट सप्तम को पोप चुना गया और इसने पुनः आवीन्योन को पोपों की राजधानी बनाया। दोनों अपने को वास्तविक तथा न्याय्य पोप मानते थे। दोनों ने एक-दूसरे को चर्च से बहिष्कृत किया, अपने पृथक् कार्डिनल, बिशप तथा चर्च के अन्य अधिकारी नियत किये। इससे चर्च में भारी फूट पड़ गई और पश्चिमी योरोप का सारा ईसाई जगत् दो भागों में बँट गया। फ्रांस और उसके मित्र देश—स्काटलैण्ड, सेवाय, स्पेन और पुर्तगाल आवीन्योन के पोप क्लेमेण्ट सप्तम के समर्थक थे। इटली तथा फ्रांस के शत्रुदेश—जर्मनी, इंगलैण्ड, हंगरी, पोलैण्ड तथा स्कैण्डेवियन देश रोम के पोप अर्बन षष्ठ के समर्थक थे। यह फूट चर्च के लिए बहुत घातक थी। इसे दूर करने तथा एकता स्थापित करने के लिए दोनों पक्षों के कुछ कार्डिनलों द्वारा इटली के पीज़ा (Pisa) नामक स्थान में चर्च की एक परिषद् बुलायी गई। इसने दोनों पोपों को पदच्युत करके एलेक्ज़ैण्डर पंचम के नाम से एक नया पोप चुन दिया। किन्तु इसे पहले दो पोपों ने स्वीकार नहीं किया और चर्च **में दो के स्थान पर तीन पोप हो गये।** इससे चर्च में विवाद पहले की अपेक्षा बहुत

बढ़ गये और इनका हल करने के लिए चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त पर बल दिया जाने लगा।

दूसरा कारण तत्कालीन पोपों के तथा चर्च के भीषण नैतिक पतन से रक्षा के लिए इनके सुधार की माँग थी। आवीन्योन को अपना निवास स्थान बना लेने पर पोप राजकीय ऐश्वर्य और शाही ठाटबाट के साथ रहने लगे। अपार वैभव और विशाल सम्पत्ति के साथ पोप के दरबार में धनलोलुपता और अनाचार का साम्राज्य हो गया। अपना यौवन आविन्योन के पोपों की सेवा में बिताने वाले तथा पुनर्जागरण आन्दोलन के अग्रणी नेता पेट्रार्क (१३०४–१३७४ ई०) ने आवीन्योन का वर्णन करते हुए लिखा था, "यह भूतल का नरक, बुराइयों का आगार और संसार का गन्दा नाला है। इसमें न तो श्रद्धा है, न दान का भाव, न धर्म और न ईश्वर का भय। संसार की सारी गन्दगी और दुष्टता यहाँ एकत्र है। अनूढागमन (Fornication), माता, बहिन आदि निकटवर्त्ती निषिद्ध सम्बन्धियों के साथ संभोग (Incest), बलात्कार, परस्त्रीगमन पोप के दरबार की क्रीड़ाओं के कामुक आनन्द हैं।" सन्त कैथेराइन ने पोप एकादश को कहा था कि "उसके दरबार में उसके नथने नरक की दुर्गन्ध से भरे रहते हैं।"[1] ब्रिटिश सुधारक जॉन विक्लिफ (१३२०–१३८४ ई०) तथा बोहीमिया के जॉन हस्स (१३७३–१४७५ ई०) ने चर्च की बुराइयों के विरुद्ध प्रबल आवाज उठायी। उनका कहना था कि पोप की सांसारिकता इन बुराइयों को उत्पन्न कर रही है, इनका अन्त होना चाहिए। चर्च में परिषद् का स्थान पोप से ऊँचा है और उसी से चर्च का सुधार संभव है।

अतएव कांसिलियर आन्दोलन के तीन उद्देश्य थे—(१) ईसाई चर्च में उत्पन्न हुई फूट को दूर करना तथा एकता स्थापित करना। (२) चर्च की बुराइयों का संशोधन करना। (३) पोप की निरंकुश सत्ता और प्रभुता के स्थान पर चर्च की परिषद् को स्थान देना तथा चर्च के प्रशासन की नई व्यवस्था करना। इस आन्दोलन का समर्थन करने वाले प्रमुख विचारक जीन गर्सोन (१३६३–१४२९ ई०), कूसा (जर्मनी में ट्रियेर के निकट) रहने वाला निकोलस (१४०१–१४६४) तथा ईनियस सिल्वियस (१४०५–१४६४ ई०) थे।

जीन गर्सोन—पेरिस विश्वविद्यालय के चान्सलर और धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् गर्सोन (Gerson) ने मारसिलियो के विचारों से प्रभावित होकर चर्च में पोप

---

१. विल ड्यूरैण्ट—दि रिनेसां, पृ० ५५-५६, उस समय के कुछ पोपों का चरित्र बड़ा जघन्य था। पोप जान तेईसवाँ पहले समुद्री डाकू था। उस समय के एक प्रामाणिक लेखक जर्मन वकील Dietrich Von Neheim के कथनानुसार उसने बोलोन्या में पोप का प्रतिनिधि होते हुए २०० स्त्रियों का सतीत्व भंग किया था। वह वहाँ के जुआरियों और वेश्याओं से दलाली लिया करता था। कांस्टैंस की परिषद् ने २५ मई १४१५ को उस पर नास्तिक, अत्याचारी, झूठा, चर्च के पदों का विक्रय करने वाला, विश्वासघाती, चोर, लम्पट (Lecher) आदि होने के ५४ आरोप लगाये, इनमें १६ आरोप इतने भीषण थे कि उन्हें दबा दिया गया। इनके कारण उसे परिषद् द्वारा पदच्युत किया गया। किन्तु उसे पदच्युत करने वाली इस परिषद् में आये प्रतिनिधियों के मनोरंजन के लिये काँस्टैंस के छोटे से नगर में उस समय १००० वेश्यायें थीं। (मैकेब—रैशनलिस्ट इंसाइक्लोपीडिया, पृ० ३४८)।

की सर्वोच्च सत्ता का विरोध किया, इसका अन्तिम अधिकार चर्च की सामान्य परिषद् में माना। वह पोप को चर्च का प्रशासन करने वाला अभिकर्त्ता (Agent) मात्र समझता था और सामान्य परिषद् की सर्वोपरि सत्ता का समर्थन इसलिए करता था कि केवल वही उस समय चर्च में उत्पन्न हुई फूट को दूर कर सकती थी। वह आवश्यकता और उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर सार्वजनिक और सामान्य कल्याण के लिए पोप और राजा का प्रतिरोध करना न्यायोचित समझता था। उस समय पीज़ा की परिषद् द्वारा चुने गये पोप एलेक्ज़ैण्डर पंचम का उत्तराधिकारी जॉन तेईसवाँ था। पीज़ा की परिषद् ने यह निर्णय किया था कि दूसरी सामान्य परिषद् जल्दी बुलायी जाय। किन्तु २०० कुमारियों, विवाहिता स्त्रियों, विधवाओं और भिक्षुणियों का सतीत्व हरण करने वाले जॉन ने इसे बुलाने में बड़ी टालमटोल की थी।[1] इन परिस्थितियों में गर्सोन ने यह सिद्धान्त रखा कि यदि पोप अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं करता तथा प्रकृति के और ईश्वर के नियमों का पालन नहीं करता तो राजा को पोप की पदच्युति के लिए चर्च की परिषद् बुलाने का अधिकार है। गर्सोन वैध राजतन्त्र का, चर्च और राज्य के प्रशासन में राजतन्त्र, प्रजातन्त्र और कुलीनतन्त्रों के विचारों के सामंजस्य का पक्षपाती था। कांस्टैंस की परिषद् ने अपने नियमों में उसके विचारों को क्रियात्मक रूप दिया तथा समूचे योरोप में वैधानिक शासन के विचार का प्रसार किया।[2] वह पोप तथा राजा के अधिकारों को निश्चित मर्यादा में रखता हुआ जनता की स्वतन्त्रता का संरक्षण करना चाहता था।

गर्सोन मार्सिलियो की भाँति क्रान्तिकारी विचारक नहीं था। उसने उसके लोकतन्त्र का समर्थन नहीं किया, किन्तु चर्च में पादरियों के विभिन्न वर्गों द्वारा शासन (Hierarchy) का समर्थन किया, चर्च के सब व्यक्तियों के समूह को नहीं, किन्तु केवल इन्हें शासन का अधिकार दिया। फिर भी उसे इस बात का श्रेय है कि उसने चिरकाल से चले आने वाले, पीटर के उत्तराधिकारी होने के नाते पोप की सर्वोच्च प्रभुता के सिद्धान्त का पूर्णरूप से निराकरण किया। वह कांस्टैंस की परिषद् का प्राण था।

कूसावासी निकोलस (१४०१--१४६४ ई०)—इस जर्मन विद्वान् ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ De Concordantia Catholica में बाज़ेल की परिषद् के लिए गर्सोन से भी अधिक क्रान्तिकारी और मौलिक विचार प्रस्तुत किये। उसके दो सिद्धान्त प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं—पहला, सामंजस्य या एकता (Concordantia) का तथा दूसरा जनता की सहमति को कानून तथा शासन का आधार मानने का सिद्धान्त। पहले सिद्धान्त के अनुसार संसार की भौतिक और आध्यात्मिक सभी वस्तुओं में बड़ी एकता और सामंजस्य है। यह विश्व भगवान् का विराट् पुरुष या देह (Organism) है, इसमें प्रत्येक वस्तु और तत्त्व दूसरे तत्त्वों के साथ मिलकर पूर्ण सामंजस्य के साथ अपना कार्य कर रहा है। समस्त मानवीय कार्य और व्यापार चर्च और साम्राज्य की दो संस्थाओं में व्यवस्थित है और इन दोनों के सभी अंग और तत्त्व

---

१. विल ड्यूरैण्ट—दि रिनैसां, पृ० ३६४।

२. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० १३४।

एक-जैसे हैं। अतः जब चर्च के शासन का केन्द्रीय अंग परिषद् है तो राजनीतिक संगठन में भी परिषद् का केन्द्रीय स्थान होना चाहिए।

इसी प्रकार निकोलस ने अपना दूसरा सिद्धान्त भी दोनों संगठनों के सादृश्य के आधार पर निश्चित किया है। चर्च की प्रारम्भिक परिषदों की ऐतिहासिक समीक्षा के आधार पर वह यह परिणाम निकालता है कि उनकी घोषणायें इसलिए बलवती थीं कि उन्हें उन परिषदों में विद्यमान सभी व्यक्तियों की सहमति प्राप्त हुई थी। अतः प्रत्येक कानून की वैधता इस बात पर निर्भर है कि वह जिन पर लागू होता है, उन सब की सहमति या स्वीकृति उसे प्राप्त हो। यह सहमति रिवाज द्वारा भी मिल सकती है। निकोलस सामान्य सहमति (General Consent) को सब प्रकार के मानवीय और प्राकृतिक अधिकारों का आदि स्रोत मानता है। उसका यह कहना है कि यतः सब मनुष्य अपनी प्रकृति के कारण स्वतन्त्र होते हैं, अतः प्रत्येक प्रकार का शासन प्रजाजनों की सहमति से प्रादुर्भूत होता है, भले ही यह शासन लिखित कानून के रूप में हो या शासक की इच्छा के रूप में हो। प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान मात्रा में शक्ति दी है, अतः किसी व्यक्ति को उच्च स्थिति शेष व्यक्तियों के चुनाव और सहमति से ही प्राप्त हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि संसार में वैयक्तिक प्रभुता का और कानून के शासन का मूल स्रोत जनता है। सर्वोच्च सत्ता तथा प्रभुता जनता में निहित है।[1]

जनता की प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त के आधार पर उसने इस सिद्धान्त का निर्माण किया है कि वैयक्तिक शासक कानून का पालन कराने के लिए जनता द्वारा चुना हुआ प्रतिनिधि मात्र होता है। वस्तुतः वह उसे चुनने वाली जनता का प्रतीक है। जनता की इच्छा का पालन करना उसके लिए आवश्यक है।

उससे पहले समूची सत्ता का स्रोत भगवान् माना जाता था, वह इसका उद्गम जनता को मानता है। इन दोनों सिद्धान्तों में विरोध है। एक सत्ता का उद्गम ईश्वर को तथा दूसरा मनुष्य को मानता है। किन्तु निकोलस के मत में यह विरोध वास्तविक नहीं है। शक्ति का आदि स्रोत भगवान् ही है, किन्तु उसकी शक्ति जनता में और जनता के माध्यम से कार्य करती है। वह शक्ति का अन्तिम और परोक्ष (Indirect) स्रोत तथा जनता साक्षात् स्रोत है। सब प्रकार की भौतिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक शक्ति जनता में प्रसुप्तावस्था में निहित होती है, किन्तु ऊपर से भगवान् की प्रेरणा इसे प्रबुद्ध करती है।[2]

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर निकोलस ने यह परिणाम निकाला कि पोप की सत्ता का मूल समूचे ईसाई समुदाय की सहमति है। सामूहिक रूप से चर्च पोप अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति से बड़ा है। इसकी परिषद् में ईसा की आत्मा का आविर्भाव होता है, अतः परिषद् पोप से ऊँची स्थिति रखती है। पोप को ईसा के सब अधिकार नहीं मिले हुए, वह तो उस का कार्य करने वाला एजेण्ट मात्र है। पोप को अपनी सत्ता ईसा या सैण्ट पीटर से नहीं, किन्तु चर्च की जनता से मिली हुई है। वह ईश्वरीय और दैवी नियमों से बँधा हुआ है, मनुष्य होने के नाते वह पापी और भ्रान्त हो सकता है।

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ़ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० २७३-७४।
२. वही, पृ० २७५।

कोई व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, उसके निर्णय में उतनी सचाई नहीं आ सकती, जितनी समूचे चर्च का प्रतिनिधित्व करने वाली सामान्य परिषद् में होती है। पोप पादरी वर्ग द्वारा चलाये जाने वाले शासन (Hierarchy) का मुखिया मात्र है। सामान्य परिषद् को उसे नास्तिकता आदि दोषों के होने पर पदच्युत करने का अधिकार है। धर्म सम्बन्धी विषयों पर निर्णय करने का अधिकार भी पोपों को नहीं, किन्तु सामान्य परिषद् को है।

निकोलस यह समझता था कि चर्च का नैतिक सुधार पोप की अपेक्षा स्थानीय परिषदों द्वारा अधिक क्षमता और सफलता के साथ सम्पन्न हो सकता है। अतः वह राष्ट्रीय सीमाओं के आधार पर पोप की सत्ता विभिन्न प्रांतों की परिषदों को देने का पक्षपाती था और सत्ता का विकेन्द्रीकरण राष्ट्रीयता के आधार पर करना चाहता था। उसकी सम्मति में राजाओं को चर्च के सुधार के लिए राष्ट्रीय परिषदें बुलानी चाहिएँ, किन्तु उन्हें धार्मिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसने चर्च और साम्राज्य दोनों में प्रतिनिधि-शासन और विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त लागू किया, साम्राज्य को १२ भागों में बाँटने का तथा जर्मन सम्राट् द्वारा एक स्थायी परिषद् से परामर्श लेने की व्यवस्था का समर्थन किया।

सब लोगों की समानता, स्वतन्त्रता, सामान्य सहमति (General consent), जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty), प्रतिनिधियों की परिषदों द्वारा शासन, राष्ट्रीय आधार पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण के निकोलस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा नवीन थे। यद्यपि रोमन विधिशास्त्रियों के समय से जनता की प्रभुसत्ता की चर्चा की जा रही थी, किन्तु इसे नैतिकता के और वैयक्तिक कानून के क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाता था। निकोलस की यह विशेषता थी कि उसने इन्हें सार्वजनिक कानून और राजनीति के क्षेत्र में लागू किया और यह कहा कि प्रभुसत्ता का स्रोत जनता है, शासक का निर्वाचन और कानूनों का निर्माण जनता की सम्मति से होता है, कानूनों का पालन करना शासक का कर्त्तव्य है। डनिंग के शब्दों में निकोलस ने इन विचारों में साहसी नवप्रवर्त्तक (Innovator) की अन्तर्दृष्टि और हिम्मत प्रदर्शित की है।[1] किन्तु ये विचार उसके समय से दो-तीन शताब्दी आगे के थे। उस समय इनका क्रियात्मक रूप दिया जाना संभव न था। अतः जब बाज़ेल की परिषद् में उग्र विवादों और झगड़ों के कारण इन्हें व्यावहारिक रूप देना असंभव प्रतीत हुआ तो निकोलस निराश होकर पोप की पार्टी में आ गया तथा कार्डिनल बनाया जाने पर जर्मनी में पोप की प्रभुता का समर्थन करने लगा।[2]

ईनियस सिल्वियस (१४०५–१४६४ ई०)—उसने अपने ग्रन्थ रोमन साम्राज्य का उद्गम और अधिकार (De ortu et Auteritate Imperii Romani) में राजसत्ता के आविर्भाव के इतिहास के आधार पर पोप की प्रभुसत्ता का खण्डन किया। इसके मतानुसार मनुष्य पहले स्वर्ग से निकाला जाने पर आदिम प्राकृतिक दशा में पशुओं की तरह रहता था। उस समय उसने समुदाय बना कर रहने का महत्त्व अनुभव किया। इसमें

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७४।
२. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७६।

सब स्वतन्त्र थे और समानाधिकार रखते थे। किन्तु जब समाज में अत्याचार करने वाले व्यक्ति अन्य मनुष्यों के अधिकारों को कुचलने लगे तो मनुष्यों ने एक प्रबल शक्तिशाली व्यक्ति को अपनी सत्ता सौंपने का निश्चय किया। इस प्रकार राजसत्ता का उदय हुआ। किन्तु जब राजा अत्याचारी हो जाता है तो उसे राजा बनाने वालों को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। पोप को भी ऐसी परिस्थितियों में गद्दी से उतारा जा सकता है। १७वीं १८वीं शताब्दियों के प्राकृतिक अधिकारों के और सामाजिक समझौते के सिद्धान्त निकोलस और सिल्वियस की रचनाओं में पाये जाते हैं। सिल्वियस के विचार हाब्स की अपेक्षा लॉक के सिद्धान्तों से अधिक मिलते हैं।

कांसिलियर आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त—गर्सोन, निकोलस और सिल्वियस के विचारों के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(१) चर्च की प्रभुसत्ता पोप में नहीं, किन्तु चर्च की सामान्य परिषद् में निहित है। अतः चर्च का संगठन और शासन इस तरह से होना चाहिए कि वास्तविक शक्ति सामान्य परिषद् के पास रहे। गर्सोन मिश्रित शासन-व्यवस्था को आदर्श समझता था, अतः उसने चर्च के लिए पोप, उसे चुनने वाले कार्डिनलों, प्रिलेट और बिशप आदि अधिकारियों द्वारा चर्च का शासन चलाने की व्यवस्था का समर्थन किया। (२) पोप चर्च का प्रशासक या प्रबन्धक मात्र है। वह इसके लिए कोई कानून नहीं बना सकता, यह अधिकार केवल चर्च की परिषद् को है; पोप इसके नियमों से बंधा होता है। (३) चर्च की परिषद् पर पोप का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु सर्वोच्च सत्तासम्पन्न होने के कारण परिषद् को पोप पर पूर्ण अधिकार है। (४) पोप इस पृथ्वी पर ईसा का या पीटर का नहीं, किन्तु चर्च का प्रतिनिधि (Vicar) है। संसार का उद्धार पोप के बिना संभव है, किन्तु चर्च के बिना संभव नहीं है। (५) चर्च अपने आप में पूर्ण समाज है, उसे अपनी बुराइयाँ स्वयमेव दूर करनी चाहिएँ। राज्य को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। (६) पूर्ण प्रभुतासम्पन्न होने के कारण चर्च की परिषद् को को दुश्चरित्र तथा नास्तिक पोपों को पदच्युत करने का अधिकार है। (७) कानून का आधार जनसहमति है। पोप की आज्ञायें उसी दशा में कानून की भाँति पालनीय हो सकती हैं, जब कि उन्हें चर्च की सामान्य परिषद् की सहमति प्राप्त हो तथा वे मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकारों के प्रतिकूल न हों। (८) पोप मनुष्य होने के कारण गलती कर सकता है तथा पापी हो सकता है। (९) सब धार्मिक विषयों में निर्णय करने का अन्तिम अधिकार पोप को नहीं, किन्तु चर्च की सामान्य परिषद् को है। इस आन्दोलन का मूल तत्त्व पोप की निरंकुश सत्ता के स्थान पर चर्च की प्रभुसत्ता स्थापित करना था। यह वस्तुतः निरंकुश शासन और मर्यादित एवं वैध शासन का सिद्धान्त मानने वालों के मध्य में उग्र संघर्ष था।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए दो परिषदें बुलायी गईं। इनके तीन प्रधान उद्देश्य थे: (१) ईसाई संघ की फूट को दूर करना, (२) पोप के निरंकुश शासन के स्थान पर चर्च की परिषद् की सत्ता स्थापित करना, (३) चर्च की बुराइयों का संशोधन करना।

कांस्टेन्स की परिषद् (१४१४–१४१८)— पहले यह बताया जा चुका है कि पीज़ा की परिषद् के बाद ईसाई जगत् में दो के स्थान पर तीन पोप— जॉन तेईसवाँ

(पीज़ा परिषद् द्वारा निर्वाचित एलेक्ज़ैण्डर पंचम का उत्तराधिकारी), रोम का ग्रेगोरी द्वादश तथा ग्राविन्योन का बेनीडिक्ट त्रयोदश—हो गये थे। इस फूट को दूर करने तथा चर्च के सुधार के लिए परिषद् बुलाने में पहले तो जॉन तेईसवाँ बड़ी टालमटोल करता रहा, किन्तु अन्त में सम्राट् सिगिसमुण्ड (Sigismund) द्वारा विवश किये जाने पर उसने इसे इटालियन प्रभाव से मुक्त रखने के लिए जर्मनी के बाडेन प्रान्त में कांस्टेन्स नामक झील के किनारे बसे नगर में इस परिषद् को बुलाया। ३२५ ई० में होने वाली नाइसिया की परिषद् (Council of Nicaea) के बाद यह चर्च का सब से बड़ा सम्मेलन था। छः हजार की ग्राबादी के इस कस्बे में पाँच हजार प्रतिनिधि एकत्र हुए,[१] जिन में तीनों पोपों के प्रतिनिधि, २९ कार्डिनल, २२ ग्रार्कबिशप, १५० बिशप, १०० मठाधीश, ३०० धर्मशास्त्री, २६ राजा, १४० कुलीन ज़मीन्दार ग्रौर २६ विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि तथा चार हज़ार पुरोहित थे। पोप जॉन इसमें सदल बल सम्मिलित हुग्रा था, किन्तु जब उसे यह पता लगा कि उसके विरोधी उसके ग्रपराधों ग्रौर दुराचारों की पोल परिषद् के ग्रागे खोलने वाले हैं, तो वह साईस का वेश बदल कर कांस्टेन्स से भाग खड़ा हुग्रा (२० मार्च १४१५) ग्रौर उसने २९ मार्च को यह घोषणा की कि उसे मारने की धमकी देकर कांस्टेन्स की परिषद् बुलायी गयी है, वह इसे स्वीकार नहीं करता। इस पर इस परिषद् ने निम्नलिखित ऐतिहासिक घोषणा तथा ग्रादेश (Decree Sacrosancta) जारी किया :—

"कांस्टेन्स का यह पवित्र धर्म सम्मेलन सामान्य परिषद् है, कानूनी तौर से पवित्र भावना के साथ एकत्र हुग्रा है ताकि भगवान् की स्तुति, वर्त्तमान फूट की समाप्ति, भगवान् के चर्च की एकता तथा चर्च के ग्रध्यक्ष ग्रौर सदस्यों का सुधार कर सके।···यह परिषद् निम्न नियम बनाती है, घोषणा करती है, तथा ग्रादेश देती है—**पहला**, यह घोषणा करती है कि यह परिषद् ग्रपनी सत्ता सीधे ईसा मसीह से ग्रहण करती है ग्रौर कोई भी व्यक्ति भले ही वह कोई भी पद या प्रतिष्ठा रखता हो या पोप हो, ऐसे सब विषयों में इस परिषद् की ग्राज्ञायें मानने को बाधित है, जो विषय धर्म से, इस फूट को समाप्त करने से, या चर्च के ग्रध्यक्ष ग्रौर सदस्यों के सुधार करने से संबंध रखते हों। यदि कोई व्यक्ति इस परिषद् के ग्रादेशों की ग्रवहेलना करेगा तो भले ही वह पोप भी क्यों न हो, वह परिषद् के दण्ड का ग्रधिकारी होगा।" फिग्गिस के मतानुसार 'विश्व के इतिहास में यह सब से ग्रधिक क्रान्तिकारी सरकारी दस्तावेज (Official Document) है।'[२] इस घोषणा के बाद फूट को समाप्त करने के लिए परिषद् ने पहले तो पोप जॉन तेईसवें से पदत्याग करने को कहा ग्रौर उससे उत्तर न मिलने पर उस पर ५४ दोष लगाकर उसे पदच्युत किया (२९ मई, १४१५ ई०)। ग्रब शेष दो पोप रह गये। ग्रेगोरी ने इस शर्त्त पर त्यागपत्र देना स्वीकार किया कि उसे पोप के रूप में इस परिषद् को पुनः बुलाने का ग्रधिकार दिया जाय। ४ जुलाई १४१५ को इस प्रकार बुलाई जाने वाली परिषद् ने उसका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। तीसरा पोप बेनेडिक्ट पद छोड़ने को तैयार नहीं था। किन्तु उसके कार्डिनलों ने उसका साथ छोड़ दिया ग्रौर परिषद् ने

---

१. विल ड्यूरैंएट—दी रिनैसां, पृ० ३६५।
२. फिग्गिस—फ्राम गर्सोन टु ग्रोशियस, पृ० ४१।

उसे पदच्युत कर दिया (२६ जुलाई, १४१७)। इसके बाद परिषद् द्वारा निर्वाचित समिति ने मार्टिन पंचम नया पोप को चुना। इस प्रकार ३९ वर्ष की अराजकता के बाद ईसाई चर्च के महान् भेद (Great Schism) को समाप्त करके परिषद् ने सबसे बड़ी सफलता पायी। इस परिषद् ने अपनी एक आज्ञा (Decree Frequens) द्वारा यह निश्चय किया कि पाँच वर्ष के भीतर दूसरी परिषद् बुलाई जाय।

यद्यपि यह परिषद् अपने एक बड़े उद्देश्य—ईसाई संघ की फूट को दूर करने में सफल हुई तथापि अपने दूसरे उद्देश्य चर्च के सुधार में सफल नहीं हो सकी। इसका बड़ा कारण नवनिर्वाचित पोप मार्टिन पंचम का तीव्र विरोध था। इस परिषद् में सब विषयों पर वोट व्यक्तिशः नहीं दिये जाते थे, किन्तु चार राष्ट्रीय वर्गों—फ्रेंच, इटालियन, इंगलिश और जर्मन—के आधार पर दिये जाने की व्यवस्था थी। मार्टिन ने इन राष्ट्रों के मतभेदों का लाभ उठाते हुए इन्हें आपस में खूब लड़वाया, कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं होने दिया, सब के साथ अलग-अलग संधि करते हुए इसके सुधारों को प्रभावशून्य बना दिया। २ अप्रैल, १४१८ ई० को विस्तृत सुधारों का जटिल प्रश्न अगली परिषद् के लिए छोड़ते हुए कांस्टैन्स की परिषद् भंग हो गयी।

राजनीतिक विचारधारा पर इस परिषद् के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए फिग्गिस ने लिखा है कि "इस परिषद् ने पहली बार विशुद्ध राजनीति के संघर्षों को बड़े पैमाने पर प्रदर्शित किया। परिषद् द्वारा वैधानिक शासन के विचार योरोप द्वारा स्वीकृत हुए। इसने राजनीतिशास्त्र में ऐसी पद्धति का प्रतिपादन किया, जिसने राजाओं के अधिकारों की रक्षा करते हुए जनता को उसकी स्वतन्त्रतायें प्राप्त करायीं।...इसने भावी पीढ़ियों के वैधानिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया।[1]

बाज़ेल (Basel) **की परिषद्** (१४३१–१४४३ ई०)—तीन पोपों को अपदस्थ करके चर्च में एकता स्थापित करने वाली उपर्युक्त परिषद् के बाद अगली परिषद् स्विट्ज़रलैण्ड में राइन नदी के तट पर बसे सुरम्य नगर में बुलाई गई, किन्तु यह बारह वर्ष के ४५ अधिवेशनों में पोप के विरोध और आन्तरिक झगड़ों के कारण कुछ नहीं कर सकी। इस परिषद् ने आरम्भ में ज्यों ही पोपों पर परिषद् की प्रभुता की घोषणा की तो तत्कालीन पोप यूजेनियस चतुर्थ ने इसके विघटन की आज्ञा दी। इसने उसे अस्वीकार करते हुए पोप को परिषद् में उपस्थित होने की आज्ञा दी तथा उस पर आक्रमण के लिए मीलानी सेना भेजी। पोप को रोम से भाग कर फ्लोरेन्स में शरण लेनी पड़ी और अगले ९ वर्ष तक वह रोम से निर्वासित रहा। बाज़ेल में फ्रेंच प्रतिनिधियों की संख्या अधिक थी और टूर्स के बिशप के शब्दों में उनका उद्देश्य पोप के पद को या तो रोम से छीनना था अथवा ऐसा नगण्य बना देना था कि उसका कोई महत्त्व ही न रहे।[2] अतः इस परिषद् ने अपनी विभिन्न आज्ञाओं द्वारा पोप के सभी अधिकार लेना शुरू कर दिया। इसने पापों की क्षमा के लिए मुक्ति-पत्रों (Indulgences) का निकालना, चर्च के पदों के साथ लगी जागीरों (Banefices) का देना शुरू किया तथा यह कहा कि इन जागीरों की पहले वर्ष की आमदनी (Annates) पोप के स्थान पर परिषद् को

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७०।
२. विल ड्यूरैण्ट—दी रिनैसां, पृ० ३६९।

दी जानी चाहिए। इसी बीच में फ्रांस के चार्ल्स सप्तम द्वारा बुलाई गई बूर्ज (Bourges) की परिषद् ने पोपों पर परिषदों की प्रभुता की घोषणा करते हुए मौलिक कानून के समान महत्त्व रखने वाली आज्ञा (Pragmatic Sanction of Bourges, १४३८ ई०) द्वारा फ्रांस में पोप से सर्वथा स्वतंत्र, राजा के आधीन फ्रेंच चर्च का निर्माण किया। जर्मनी और बोहीमिया में भी स्वतन्त्र राष्ट्रीय चर्च स्थापित हुए। ईसाई संघ में विघटन-कारी प्रवृत्तियों के प्रबल होने से एक नया संकट पैदा हुआ।

इस समय तुर्क लोग पूर्व के बाइज़ैण्टियन साम्राज्य की राजधानी पर प्रबल आक्रमण कर रहे थे। वहाँ के सम्राट जॉन अष्टम ने विधर्मी तुर्कों के विरुद्ध पश्चिमी योरोप के ईसाइयों से सैनिक सहायता पाने के लिए यह प्रस्ताव रखा कि यूनान और रोम के चर्च मिला दिए जायं। उसने यह प्रस्ताव अपने दूत से पोप यूजेनियस को भेजा, उधर बाज़ेल की परिषद् ने जॉन को यह संदेश भेजा कि परिषद् पोप से ऊँची है, उसे सम्राट् सिजिसमुण्ड का संरक्षण प्राप्त है, वह उसे अधिक मात्रा में सैनिक सहायता भेज सकती है, अतः जॉन को परिषद् से बात करनी चाहिए। किन्तु जॉन ने पोप से ही बात करना श्रेयस्कर समझा और पोप ने यह उत्तर दिया कि वह दोनों चर्चों के सम्मिलन का विचार फेरारा (वेनिस से ५७ मील दक्षिण-पश्चिम) में बुलायी जाने वाली परि-षद् के आगे रखेगा। उस समय बाज़ेल की परिषद् में सम्मिलित कुछ व्यक्तियों ने चर्च की एकता की दृष्टि से फेरारा के सम्मेलन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा और उसमें सम्मिलित होने के लिए चले गये। इनमें सेसारीनी (Cesarini) तथा कूसा के निकोलस के नाम उल्लेखनीय हैं। फेरारा की परिषद् में बाइज़ैण्टियन सम्राट् जॉन यूनानी बिशपों और विद्वानों के साथ बड़ी संख्या में सम्मिलित हुआ (८ फरवरी, १४३८)। फेरारा की परिषद् वहाँ प्लेग फैलने के कारण मेदिची परिवार के निमन्त्रण पर फ्लोरेन्स में हुई और यूनानी विद्वानों के भारी संख्या में वहाँ पहुँचने से (१४३९ ई०) इटली में पुनर्जागरण (Renaissance) का आन्दोलन अर्थात् पुराने यूनानी तथा रोमन ज्ञान-विज्ञान के प्रति प्रबल अभिरुचि आरम्भ हुई। इस सम्मेलन के सफलतापूर्वक समाप्त होने (जुलाई १४३९ ई०) तथा ग्रीक और यूनानी चर्चों के कुछ समय तक सम्मिलन से बाज़ेल के सम्मेलन को गहरा धक्का लगा और यह परिषद् चर्च में सुधार के जटिल प्रश्नों को हल किये बिना ही स्थगित हो गई। इससे परिषदीय (Conciliar) आन्दोलन विफलतापूर्वक समाप्त हो गया।

परिषदीय आन्दोलन की विफलता के कारण—इसकी विफलता का **पहला** और सबसे बड़ा कारण पोपों का कटु एवं उग्र विरोध था। इसका लक्ष्य पोपों के निरंकुश शासन के स्थान पर चर्च की परिषद् की प्रभुता स्थापित करना था। अपनी शक्ति और स्थिति पर कुठाराघात करने वाले आन्दोलन को क्षीण बनाने में पोपों ने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। पहले (पृ० ३४५) यह बताया जा चुका है कि कांस्टैन्स की परिषद् को उस द्वारा निर्वाचित पोप मार्टिन ने राष्ट्रीय विवादों को उत्पन्न करके विफल बनाया। दूसरी परिषद् को यूजेनियस ने विघटित और भंग करने का पूरा प्रयत्न किया और अन्त में उसकी फ्लोरेन्स की परिषद् के कारण बाज़ेल की परिषद् विफल हो गई। इसकी विफलता का **दूसरा** कारण इसमें योग्य नेताओं का अभाव था। इसने धर्मसुधार (Reformation) और प्रतिसुधार आन्दोलन (Counter Reformation) के लूथर,

कैल्विन या लायोला जैसा एक भी नेता उत्पन्न नहीं किया। इसके नेता मारसिलियो से और ओकमकेन विलियम से प्रेरणा ग्रहण करने वाले विश्वविद्यालयों के कुछ प्रोफेसर थे, अतः यह आन्दोलन विश्वविद्यालयों तक ही सीमित रहा, जनता का आन्दोलन नहीं बन सका। **तीसरा** कारण यह था कि यह पोप की केन्द्रीय निरंकुश सत्ता के स्थान पर परिषद् का संघीय शासन स्थापित करना चाहता था। यह तभी हो सकता था, जब पोप का पद और सत्ता बिल्कुल समाप्त कर दी जाती। किन्तु जब इस आन्दोलन ने पोप को एक बार स्वीकार कर लिया तो उसका सुदृढ़ केन्द्रीय संगठन तथा सुव्यवस्थित नौकरशाही परिषद् के शिथिल संघीय संगठन पर हावी हो गयी। पोप की विजय के साथ चर्च में उसकी निरंकुश सत्ता को बल मिला और इससे राज्यों में भी निरंकुश शासन की प्रवृत्ति प्रबल हुई। **चौथा** कारण यह था कि इस आन्दोलन का प्रधान उद्देश्य संघ में फूट को दूर करना था। मार्टिन पंचम के चुनाव के साथ यह उद्देश्य पूरा होते ही इस आन्दोलन में लोगों का आकर्षण कम हो गया। **पाँचवाँ** कारण योरोप के विभिन्न राष्ट्रों—इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि का इसमें कोई दिलचस्पी न लेना था। वे अपने झगड़ों में इतने उलझे हुए थे कि उन्होंने इस आन्दोलन में कोई अभिरुचि नहीं ली। इसके अतिरिक्त यदि यह आन्दोलन चर्च के सुधार में सफल हो जाता तो इससे चर्च की सत्ता सुदृढ़ हो जाती। यह राज्यों के लिए अवांछनीय स्थिति थी। वे चर्च को निर्बल एवं अपना वशवर्त्ती बनाये रखना चाहते थे। **छठा** कारण परिषदीय आन्दोलन के द्वारा चर्च के नवीन संविधान बनाने और सुधारों को क्रियान्वित करने के कार्य का अत्यन्त जटिल और अशक्य होना था। योरोप के विभिन्न देशों में फैले हुए सार्वभौम चर्च का संगठन बनाना सुगम कार्य न था। यदि यह बन भी जाता तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द और सहयोग के वातावरण में ही व्यावहारिक रूप दिया जा सकता था। किन्तु इस कार्य को करने वाली कांस्टेन्स की परिषद् का वातावरण कटु, तीव्र तथा उग्र राष्ट्रीय विवादों से परिपूर्ण था। राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीय चर्च के निर्माण में प्रबल बाधा थी, अतः यह आन्दोलन अपने प्रमुख उद्देश्यों में सफल नहीं हो पाया।

आन्दोलन का महत्त्व—यद्यपि यह अपने प्रधान उद्देश्य—पोप के स्थान पर चर्च की प्रभुसत्ता स्थापित करने तथा चर्च का सुधार करने—में सफल नहीं हुआ तो भी कई कारणों से इसका विलक्षण महत्त्व है। (क) इसने असंदिग्ध रूप से यह प्रमाणित कर दिया कि चर्च पोप से ऊँचा है, चर्च का शासन परिषद् द्वारा होना चाहिए। यद्यपि इसमें पोप की विजय हुई, किन्तु अब पोपों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे इस बात का पूरा ध्यान रखें कि उनकी शक्ति का प्रयोग चर्च के हित की दृष्टि से हो। पोपों का मुख्य कार्य अब शासन-प्रबन्ध करना रह गया, नियम-निर्माण का कार्य चर्च की परिषदों का माना जाने लगा। (ख) इसकी विफलता ने धर्म-सुधार आन्दोलन को उत्पन्न करने में सहयोग दिया। इसका एक प्रधान उद्देश्य १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चर्च की बुराइयों का संशोधन करना था। जब यह इसके द्वारा पूरा नहीं हुआ तो इसके लिए १६वीं शताब्दी में लूथर और कैल्विन का आविर्भाव हुआ। (ग) इसने रोमन चर्च के संगठन में एक नये तत्त्व का समावेश किया। इस आन्दोलन के आघात से संभलने के लिए चर्च ने अपना संगठन राष्ट्रीयता के आधार पर किया, इससे राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति को बहुत बल मिला। (घ) यह प्रवृत्ति इस आन्दोलन के फलस्वरूप

इंगलैण्ड, जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड, हालैंड में स्थापित होने वाले राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना से भी पुष्ट हुई। चर्च अपने उपासकों के हितों की ओर अधिक ध्यान देने लगे। (ङ) राजनीतिक क्षेत्र में इसकी सबसे बड़ी देन जनता की प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) तथा सामान्य सहमति (General consent) के विचारों को लोकप्रिय तथा सुप्रतिष्ठित बनाना था। इस आन्दोलन में पहली बार निरंकुशवाद (Absolutism) तथा वैधानिक शासन (Constitutional Government) के सिद्धान्तों में उग्र संघर्ष हुआ, इससे उत्पन्न विचारों का प्रयोग बाद में निरंकुश राजा और जनता के बीच में होने वाले विवाद में किया गया। इस आन्दोलन ने जनता को सारी सत्ता का अन्तिम स्रोत माना और निरंकुश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह और निरंकुश शासक की पदच्युति को वैध ठहराया। १६८८ ई० की ग्रेट ब्रिटेन की गौरवपूर्ण क्रान्ति के तथा १७८९ ई० की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बीज इस आन्दोलन में निहित थे। सैबाइन के मतानुसार इस आन्दोलन के समय "चर्च में हुए विवाद ने सर्वप्रथम निरंकुश और वैधानिक शासन के मध्य होने वाले द्वन्द्व की सीमासूचक रेखाओं को सुस्पष्ट किया। इसने ऐसे दर्शन का प्रचार किया, जिसकी सहायता से प्रधान रूप से निरंकुशवाद के साथ संघर्ष किया जा सकता था।"[1]

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३२६।

बारहवाँ अध्याय

मेकियावेली (१४६९-१५२७ ई०)

आधुनिक युग का श्रीगणेश—राजनीतिशास्त्र में सत्ता प्राप्त करने के लिए धूर्त्तता, धोखाधड़ी, मक्कारी और कुटिलता के सभी साधनों के प्रयोग का खुल्लमखुल्ला प्रबल समर्थन करने वाले मेकियावेली के आविर्भाव के साथ इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ होता है। पन्द्रहवीं तथा १६वीं शताब्दी के दो महान् आन्दोलनों ने तथा कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने मध्ययुग को वर्त्तमान युग में परिणत किया। पहला आन्दोलन प्राचीन यूनानी और रोमन ग्रन्थों, कलाओं और विद्याओं के पुनर्जागरण (Renaissance) और पुनरुद्धार का था। यद्यपि इन विषयों का अध्ययन मध्यकाल में होता रहा था, किन्तु १४०० ई० से बाइज़ैण्टियन साम्राज्य पर तुर्कों का दबाव बढ़ने से तथा १४५३ ई० में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया के जीत लेने पर वहाँ के यूनानी विद्वान् बड़ी संख्या में इटली के फ्लोरेन्स आदि शहरों में आने लगे। इनके कारण उस समय प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन की ओर अधिक महत्त्व देने वाले आन्दोलन की लहर चल पड़ी। पुराने ग्रन्थों की खोज होने लगी। टैसिटस, सिसरो, क्विण्टिलियन तथा ल्यूक्रेशियस की रचनाओं को अनुराग से पढ़ा जाने लगा। कला में यूनानी और रोमन आदर्शों को सर्वोच्च स्थान दिया जाने लगा, शिक्षाक्रम में होमर, जूलियस सीज़र, वर्जिल के उपेक्षित ग्रन्थों को स्थान मिला। मध्ययुग में ईसाइयत एवं धर्मशास्त्र संबंधी पारलौकिक विषयों का ही अध्ययन होता था; आत्मा, परमात्मा की चर्चा होती थी। अब मानव को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाने वाले यूनानी विचारकों की रचनाओं से मानववाद (Humanism) की भावना प्रबल हुई। मनुष्यों के सामाजिक संबंधों को प्रतिपादित करने वाली विद्याओं (Humanities) के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा। प्राचीन इतिहास के आधार पर युद्ध, कूटनीति, शासन-प्रणाली तथा मानवीय व्यवहार के सिद्धान्त निश्चित किये जाने लगे। इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा। ईसाइयत के धार्मिक प्रभाव की क्षीणता आरम्भ हुई। दूसरा आन्दोलन १६वीं शताब्दी का धर्म-सुधार आन्दोलन था। अगले अध्याय में इसका वर्णन किया जायगा।

इनके अतिरिक्त इस समय कई महत्त्वपूर्ण घटनायें वर्त्तमान युग को लाने में सहायक सिद्ध हो रही थीं। १३५० ई० में जॉन गुटनबर्ग ने माइंत्ज (Mainz) के जर्मन शहर में पहला छापाखाना स्थापित करके पुस्तकों का मुद्रण आरम्भ किया। शीघ्र ही लाखों की संख्या में छपने वाली पुस्तकों ने ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न की और नवीन विचारों को साधारण जनता तक पहुँचाने का सस्ता और शक्तिशाली साधन प्रदान किया। चीन से बारूद बनाने का ज्ञान अरबों के माध्यम से १३वीं शती में योरोप पहुँचा, १४वीं शती में इसकी सहायता से बन्दूकें और तोपें बनाई

जाने लगीं। तोपों ने सुदृढ़ किलों में सुरक्षित बैठ कर राजाओं की शक्ति का प्रतिरोध करने वाले सामन्तों और जमीन्दारों की शक्ति का अन्त कर दिया, क्योंकि अब तोप के गोलों से उनके अजेय समझे जाने वाले दुर्गों का विध्वंस सुगमता से हो सकता था। इससे योरोप में निरंकुश राजाओं की शक्ति बढ़ने लगी। इस समय का तीसरा अविष्कार नाविकों का दिग्द्योतक यन्त्र (Mariners' Compass) था। इसका ज्ञान भी चीन से अरब के नाविकों द्वारा योरोप को बारहवीं-तेरहवीं शतियों में हुआ। इसने अज्ञात समुद्रों में यात्रा करने का मार्गदर्शक साधन प्रस्तुत करके नौचालन, नवीन प्रदेशों के अन्वेषण एवं अनुसन्धान, उपनिवेशन तथा व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी। कोलम्बस (लग० १४४६--१५०६) की अमरीका यात्रा (अगस्त १४९२) तथा वास्कोडीगामा (लग० १४६९--१५२४ ई०) की भारत यात्रा (१४९७--१४९९) से भौगोलिक अन्वेषण का वह नया युग शुरू हुआ, जिसने शनैः शनैः सारे विश्व पर योरोपियन जातियों की प्रभुता स्थापित की। ऐसे विलक्षण समय में जब योरोपियन इतिहास में वर्त्तमान युग का आरम्भ हुआ तो राजनीतिशास्त्र के इतिहास में मेकियावेली ने नवयुग का श्रीगणेश किया।

मेकियावेली का जीवन (१४६९–१५२७ ई०)—दूसरे राजनीतिज्ञों को सफलता के रहस्य बताने वाले किन्तु स्वयमेव अपने जीवन में विफल रहने पर भी इतिहास पर गहरा प्रभाव डालने वाले इस कूटनीतिज्ञ, ऐतिहासिक, साहित्यिक, दार्शनिक और राजनीति-शास्त्री का जन्म इटली में पुनर्जागरण आन्दोलन में अग्रणी फ्लोरेन्स के एक सम्पन्न कुल में १४६९ ई० में हुआ। समुचित शिक्षा ग्रहण करने के बाद २५ वर्ष की आयु में उसने अपने गणराज्य के गृह एवं विदेश कार्यालय (Chancery) में एक साधारण क्लर्क के रूप में नौकरी आरम्भ की (१४९४ ई०)। चार वर्ष में ही वह उन्नति करते हुए चान्सरी के द्वितीय सचिव के उच्च पद तक पहुँचा और १५१२ ई० तक इस पद पर बना रहा। इस समय उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे फ्लोरेन्स का दूत बना कर विशेष कार्य करने के लिए विदेशी राज्यों में भेजा गया, इससे उसे फ्रांस के लुई द्वादश (रा० १४९८--१५१५ ई०), सम्राट् मेक्सिमिलियन प्रथम (रा० १४९३--१५१९ ई०), पोप जूलियस द्वितीय (१५०३--१५१३ ई०) के दरबारों में जाने से कूटनीति के दांव-पेचों और राजनीतिक षड़यन्त्रों और कुचक्रों के अध्ययन का स्वर्ण अवसर मिला। अपने इसी कार्य में १५०२ ई० में उसे पोप एलेक्जैण्डर षष्ठ (१४९२--१५०३) के अवैध किन्तु सैनिक दृष्टि से योग्य बेटे, नैतिकता के नियमों की परवाह न करते हुए नृशंस, अत्याचारों के द्वारा मध्य इटली का शासन कुछ समय तक करने वाले वेलेन्शियो (Valentio) के ड्यूक सीजर बोर्जिया (१४७४--१५०७ ई०) के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और वह इसके सांसारिक तथा इटली में शान्ति स्थापित करने के कार्य से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपने बड़े भाई और बहनोई के हत्यारे तथा इटली में अपनी क्रूरताओं से हाहाकार मचाकर आतंक स्थापित करने वाले बोर्जिया को आदर्श महापुरुष माना और 'प्रिन्स' में 'आदर्श राजा' के रूप में चित्रित किया (अध्याय ७)।

१५१२ ई० में फ्लोरेन्स के गणराज्य में प्रबल राजनीतिक परिवर्त्तन के साथ मेकियावेली के बुरे दिन आ गये। वस्तुतः उन दिनों इटली के विभिन्न राज्यों पर प्रभुता

पाने के लिए फ्रांस और स्पेन में होड़ चल रही थी। १४९४ ई० से पहले तक फ्लोरेन्स में मेदिची (Medici) नामक व्यापारी परिवार का शासन था। इस वर्ष फ्रेंच सेनाओं के इटली में आगमन पर यहाँ क्रान्ति के बाद इस परिवार को निर्वासित होना पड़ा और फ्रेंच पक्षपाती सरकार १५१२ तक बनी रही। मेकियावेली इसी सरकार का कर्मचारी था और फ्रेंचों का प्रबल समर्थक था। १५१२ ई० में मेदिची परिवार ने स्पेन के राजा के सहयोग से पुनः फ्लोरेन्स की शासन-सत्ता हस्तगत की और मेकियावेली को इस
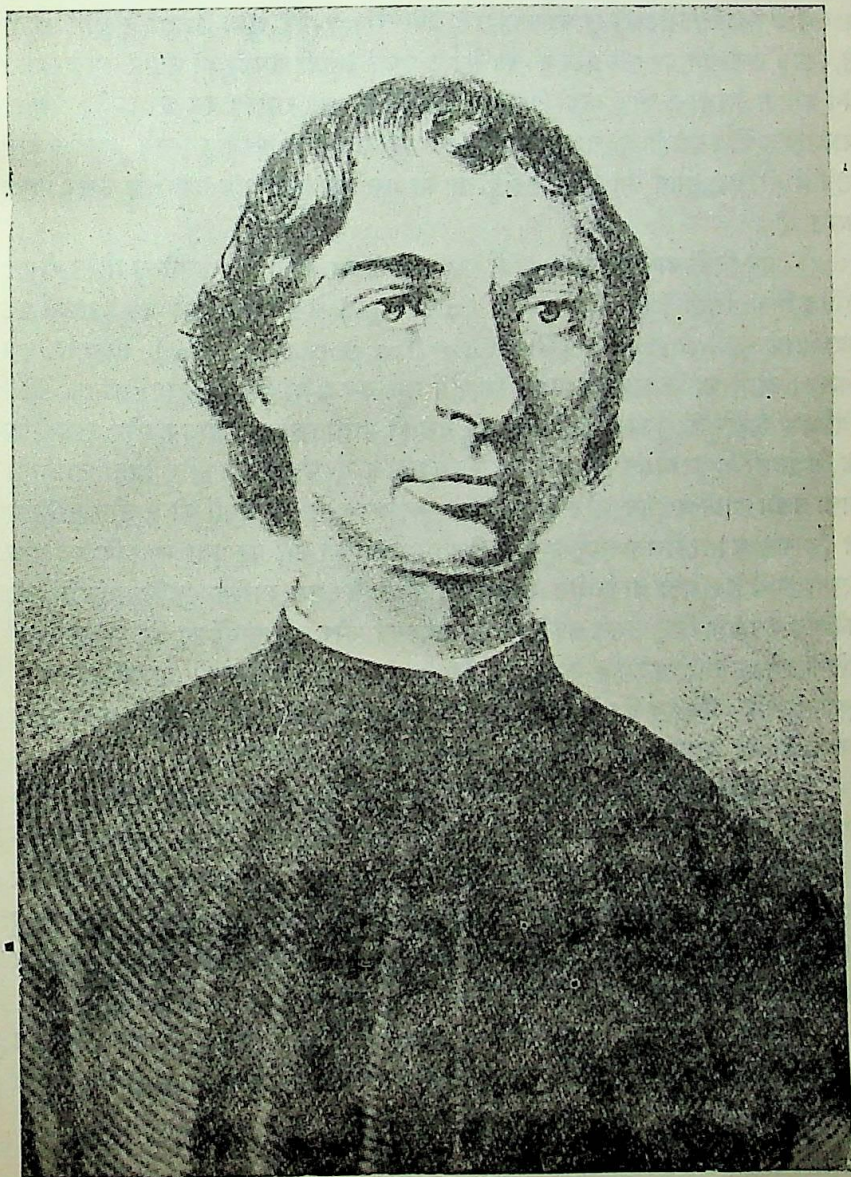
मेकियावेली

परिवार के शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र के संदेह में जेल की हवा खानी पड़ी। मित्रों के प्रयत्नों से उसकी जेल से तो रिहाई हुई, किन्तु इस शर्त पर कि वह सार्वजनिक जीवन में कोई भाग नहीं लेगा। अपने जीवन के शेष पन्द्रह वर्ष उसने सैन कैसियानो (San Casciano) के अपने फार्म में बड़े दुःख से व्यतीत किये। यदि उस पर यह मुसीबत न आती तो शायद आज उसे कोई स्मरण नहीं करता क्योंकि इसी समय में उसने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'प्रिन्स' तथा अन्य रचनायें लिखीं। उसने रोम में फ्लोरेन्स के राजदूत को लिखे एक पत्र में इन दिनों की दिनचर्या बताते हुए कहा कि वह सूर्योदय के साथ उठकर वन में भ्रमण के लिए जाता है, लकड़हारों के साथ बात करता है, सराय में वापिस लौटकर खाना खाता है और दोपहर-भर जुआ खेलता है और लड़ता है, किन्तु रात होने पर धूल और कीचड़ से सने अपने देहाती कपड़ों को उतार कर दरबारी वेष धारण करता है और पुराने लेखकों की कृतियों का रसास्वादन करता है। उसका वास्तविक भोजन यही है, चार घंटे तक इन का स्वाध्याय करते हुए उसे कोई थकान नहीं आती, इस समय वह अपने सब दुःखों को भूल कर इनसे सब प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करता है।[1]

इन दिनों प्राचीन रोमन ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए उसने सुप्रसिद्ध रोमन ऐतिहासिक लिवी (५९ ई० पू० से १७ ई० पू०) **के इतिहास की दस पुस्तकों पर व्याख्यायें** (Discourses on the First Ten Books of Livy) लिखना शुरू किया। इसमें उसका यह उद्देश्य था कि जैसे उस समय प्राचीन साहित्य, कानून और चिकित्साशास्त्र का पुनरुद्धार हो रहा था, वैसे ही प्राचीनकाल के शासन और राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन और वर्त्तमान राजनीति में उसका उपयोग होना चाहिए। अतः उसने अपने अनुभव और विचारों को पुष्ट करने वाले प्रमाणों को प्राचीन साहित्य से ढूंढ़ कर अपना लेखन कार्य आरम्भ किया। जल्दी ही उसे यह पता लगा कि यह बड़ा लम्बा कार्य है। अतः तत्कालीन शासक परिवार के एक व्यक्ति गुइलियानो मेदिची को भेंट करने के लिए उसने अपने सम्पूर्ण अध्ययन और परिणामों का निचोड़ संक्षेप में देने के उद्देश्य से १५१३ ई० में 'नरेश' (Ie principe) को लिखा। इसका उद्देश्य—**एक राजा के** —विशेष रूप से नया प्रदेश जीतने वाले नरेश के लिए अपनी सत्ता सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक उपायों और साधनों का वर्णन करना है।

परिस्थितियों का प्रभाव —मेकियावेली की रचनाओं पर उस समय की परिस्थितियों का प्रबल प्रभाव है। यों तो सभी व्यक्तियों की रचनाओं पर समय का थोड़ा-बहुत प्रभाव होता है, किन्तु मेकियावेली पर यह बहुत अधिक था। उसके विचार तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थे। अतः डनिंग ने उसे पूरे अर्थों में **अपने युग का शिशु** (Child of his times) कहा है।[2] उसको प्रभावित करने वाली राजनीतिक और बौद्धिक परिस्थितियाँ निम्नलिखित थीं—

(१) शक्तिशाली राजतन्त्रों की स्थापना—जब मेकियावेली का आविर्भाव हुआ तो चर्च में पोप की निरंकुश सत्ता को नियन्त्रित करने वाला १५वीं शताब्दी

---

१. विल ड्यूरैंएट—दी रिनैसां, पृ० ५५०-५१।

२. **डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० १, पृ० २८५।**

का परिषदीय आन्दोलन (Counciliar Movement) समाप्त हो चुका था (पृ० ३४६)। इंगलैण्ड में हेनरी सप्तम (१४८५–१५०९ ई०) ने, फ्रांस में लुई एकादश (१४६१–१४८३ ई०), चार्ल्स अष्टम (१४८३–१४८९) व लुई द्वादश (१४९८–१५१५ ई०) ने, स्पेन में फर्डिनैण्ड (१४७९–१५१६ ई०) ने सामन्तों और उनकी प्रतिनिधि सभाओं का दमन करते हुए शक्तिशाली और निरंकुश राजतन्त्र स्थापित किये थे। वह समय राज्य और चर्च में शक्तिशाली वीर पुरुषों की निरंकुश सत्ता का युग था। इसने मेकियावेली के 'प्रिन्स' बहुत प्रभावित किया। (२) **राष्ट्रीयता की भावना**—उस समय इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन के राज्य राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर सुदृढ़, संगठित और शक्तिशाली बने थे। मेकियावेली को इस विषय में फ्रांस का प्रत्यक्ष अनुभव था। इन शक्तिशाली राज्यों की तुलना में इटली पाँच राज्यों में बँटा हुआ था—दक्षिण में नेपल्स का राज्य, मध्य इटली में रोमन चर्च के प्रदेश, मीलान की डची वेनिस और फ्लोरेंस के गणराज्य। मेकियावेली इन सभी राज्यों का एकीकरण फ्रांस की भाँति एक राष्ट्रीय राजा के नेतृत्व में करना चाहता था। 'प्रिन्स' के अन्तिम अध्याय में उसने इटली की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए मेदिची घराने के गुइलियानो से यह आशा प्रकट की है कि वह इटली का एकीकरण करे और मूसा की भाँति उसे विदेशी बर्बरों की दासता से मुक्त करे। किन्तु उसका यह मनोवांछित कार्य ३५० वर्ष बाद १९वीं शती के उत्तरार्ध में कावूर और गैरीबाल्डी ने पूरा किया। उस समय पोप इटली के एकीकरण का विरोधी था। वह अपनी सत्ता सुदृढ़ करने के लिए इटली में विदेशी राजाओं और सेनाओं को बुलाता रहता था। १४९४ ई० में मेकियावेली के सरकारी नौकरी के प्रवेश के साथ फ्रांस के चार्ल्स अष्टम का इटली पर आक्रमण हुआ और वह फ्रांस, स्पेन और जर्मनी के आपसी झगड़ों का अखाड़ा बन गया। इस समय इटली के छोटे राज्य अपनी रक्षा मुख्य रूप से कूटनीति और कपट के साधनों से ही कर सकते थे। मेकियावेली के कार्यकाल (१४९८–१५१२) के चौदह वर्षों में यह नीति पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी और उसकी रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। (३) **पुनर्जागरण** – यह आन्दोलन योरोप में इटली से और इटली में मेकियावेली की मातृभूमि फ्लोरेन्स से (देखिए ऊपर पृष्ठ ३४६) आरम्भ हुआ था। इसके कारण कला, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में मध्यकालीन आदर्शों का परित्याग करके यूनानी और रोमन आदर्शों को अपनाया जा रहा था। धर्म और नैतिकता के क्षेत्र में भी यही दशा थी। उस समय के इस बौद्धिक आन्दोलन की विशेषता थी मध्ययुग के विचारों के प्रभाव से मुक्ति। फ्लोरेन्सवासी होने से मेकियावेली पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उसने इस बौद्धिक स्वतन्त्रता के कारण मध्ययुग के धार्मिक और नैतिक विचारों की मर्यादा से ऊपर उठते हुए प्राचीन रोमन ऐतिहासिकों का अध्ययन करके उनके उदाहरणों से अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन किया और निराले विचार रखे। उसके विचारों की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

मेकियावेली के विचारों की विशेषतायें : (१) मध्ययुगीन विचारधारा से विच्छेद—उसके विचारों की पहली और बड़ी विशेषता यह है कि उसके विचार प्राचीन व मध्यकालीन विचारों की परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। उसके साथ मध्ययुग की विचार-पद्धति का अवसान और आधुनिक विचारों का सूत्रपात होता है। पिछले

अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि मध्ययुग में राजनीतिशास्त्र के विचारकों ने प्रधान रूप से इन समस्याओं तथा प्रश्नों पर विचार किया था—धर्मसत्ता और राजसत्ता का पारस्परिक सम्बन्ध, दो शक्तियों और दो तलवारों का सिद्धान्त, पोप के राजकीय मामलों में तथा राजाओं और सम्राट् के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार तथा दोनों के अधिकार-क्षेत्र, राज्य पर पोपों की प्रभुता के दावों के पक्ष-विपक्ष में दी जाने वाली प्रधान युक्तियों का खण्डन-मण्डन, पीटर द्वारा पोप को चर्च का अधिकार दिये जाने की तथा कांस्टैण्टाइन के दान के तर्कों की समीक्षा। उन दिनों राजनीतिशास्त्र के विषय में सन्त आगस्टाइन आदि आरम्भिक ईसाई आचार्यों (Church Fathers) तथा मध्ययुग के सन्त थामस एक्विनास को मूर्धन्य विचारक समझते हुए इनके ग्रंथों को उद्धृत किया जाता था, इनकी युक्तियों से अपने पक्ष का समर्थन किया जाता था। उस समय स्कालेस्टिक पद्धति (देखिए ऊपर पृ० ३१६–७) को आदर्श समझते हुए उसके अनुसार अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता था।

किन्तु मेकियावेली की रचनाओं में उपर्युक्त मध्यकालीन विचारों में से एक भी विचार नहीं पाया जाता। उसने कहीं भी दो शक्तियों के सिद्धान्त की तथा मध्ययुग के अन्य विषयों की चर्चा नहीं की। उसके ग्रन्थ पढ़ते हुए हमें यह प्रतीत नहीं होता कि हम मध्ययुग में हैं। ऐसा लगता है कि हम सर्वथा नये युग और नये लोक में आ गए हैं। कोलम्बस ने १४९२ ई० में नई दुनिया का पता लगाया था, मेकियावेली ने १५२३ ई० में प्रिन्स द्वारा राजनीतिक विचारों की नई दुनिया की खोज की। कोलम्बस ने यदि पृथ्वी गोल होने के क्रान्तिकारी विचार के आधार पर पश्चिम दिशा में समुद्री यात्रा करते हुए अमरीका के महाद्वीप का अन्वेषण किया था तो मेकियावेली ने नवीन ऐतिहासिक पद्धति द्वारा अपने नूतन विचार-जगत् का अनुसंधान किया था।

(२) **ऐतिहासिक पद्धति**—मध्ययुग में धार्मिक और राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याओं का चिन्तन स्कालेस्टिक पद्धति (ऊपर पृ० ३१६–७) के आधार पर किया जाता था, पूर्व पक्ष के रूप में विरोधी पक्ष की सभी युक्तियों को देने के बाद उत्तर पक्ष के रूप में उनका खण्डन प्रबल तर्कों के आधार पर किया जाता था। मेकियावेली ने इस पद्धति का परित्याग करते हुए ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया। उसका यह मत था कि सभी देशों और कालों में मनुष्य का स्वभाव एक जैसा रहता है,[1] वह एक ही प्रकार के उद्देश्यों से संचालित होता है तथा उसे एक ही प्रकार की समस्याओं का समाधान करना होता है। अतः वर्त्तमान काल की समस्याओं का समाधान भूतकाल के इतिहास के गम्भीर अनुशीलन से हो सकता है, और इसके आधार पर आगे होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की जा सकती है। उसका यह दावा था कि सर्वप्रथम उसी ने इतिहास और राजनीति के संबंध को ढूंढ़ निकाला है। उसने इस दृष्टि से प्राचीन यूनान और रोम के इतिहास का अध्ययन किया, लिवी के सुप्रसिद्ध इतिहास पर व्याख्या लिखी और प्रिन्स के पन्नों में उसने अपने प्रत्येक मन्तव्य को रोम और यूनान के प्राचीन इतिहास के उदाहरणों से पुष्ट किया है।

---

१. डनिंग—पूर्वेक्त पुस्तक, पृ० २९१-२।

इस दृष्टि से उसकी तुलना अरस्तू से की जा सकती है। अरस्तू ने अपनी राजनीति यूनान के १५८ नगर-राज्यों के संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर लिखी थी। वह सर्वत्र विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते हुए उन्हें यूनानी इतिहास के उदाहरणों से पुष्ट करता है (देखिये, पृ० १८७–६१)। मेकियावेली के ग्रंथों में भी ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं। किन्तु उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक नहीं है, वह प्राचीन इतिहास के तथ्यों के निष्पक्ष अध्ययन, वर्गीकरण और निरीक्षण पर आधारित नहीं है। अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए मेकियावेली ने पहले से ही कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लिए हैं और इनके समर्थन के लिए वह प्राचीन इतिहास से प्रमाणों को ढूँढ़ता है। डनिंग (पृ० ३०२) ने इस विषय में उसकी तुलना ईसप से की है, जैसे वह नैतिक शिक्षा का समर्थन करने के लिए पशु-पक्षियों की मनोरंजक कहानियाँ गढ़ा करता था, वैसे ही मेकियावेली अपनी अनुभूति के आधार पर निकाले परिणामों (Empirical Conclusions) को इतिहास से पुष्ट करता है।[1]

(३) **संकीर्ण दृष्टिकोण, केवल शासन कला का प्रतिपादन**—अरस्तू और मेकियावेली दोनों ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, किन्तु दोनों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अरस्तू शासन-प्रबन्ध के विषयों का प्रतिपादन करते हुए भी राजनीतिशास्त्र के मौलिक प्रश्नों का तत्त्वचिन्तन करता है। किन्तु मेकियावेली का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित है, उसका तत्त्वदर्शन केवल इसी बात तक सीमित है कि शासन की प्राप्ति और उसका संचालन किन विधियों से होना चाहिए[2] और इसमें भी वह शासक के दृष्टिकोण से सोचता है, शासित की दृष्टि से नहीं। उसके 'प्रिन्स' में यह बताया गया है कि किसी व्यक्ति को किन उपायों से राज्य लेना चाहिए और किन विधियों से उसको दृढ़ एवं विस्तृत बनाया जाना चाहिए। 'डिस्कोर्सेज़' में इसका विवेचन है कि एक स्वतन्त्र नगर का और गणराज्य साम्राज्य का निर्माण किस प्रकार कर सकता है।

(४) **राजनीति का नैतिकता और धर्म से पृथक्करण** – मेकियावेली के विचारों की एक प्रधान विशेषता राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के प्रभाव से सर्वथा मुक्त, पृथक् और स्वतन्त्र करना है। इस दृष्टि से वह सर्वथा मौलिक विचारक था और प्राचीन एवं मध्यकालीन विचारकों से सर्वथा भिन्न था। सोफिस्टों के अतिरिक्त सभी यूनानी विचारक सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू नैतिक जीवन को बहुत महत्त्व देते थे। सिसरो आदि स्टोइक विचारक प्राकृतिक नियम (Law of Nature) के रूप में नैतिक नियमों को स्वीकार करते थे। चर्च के विचारक ईश्वरीय नियमों (Divine laws) में तथा ईश्वरीय ज्ञान में अगाध श्रद्धा रखते थे, उसका समूचा राजनीतिक चिन्तन धर्म से अनुप्राणित था।

किन्तु मेकियावेली मध्ययुग का पहला ऐसा विचारक है, जिसने राजनीति में स्पष्ट रूप से नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि दी, धर्म को धता बताते हुए अर्धचन्द्र देकर उसे इस क्षेत्र में प्रभुता के पद से वंचित किया और इस प्रकार प्राचीन तथा मध्य

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २६३।

२. वही, पृ० २६४।

काल से चली आने वाली विचारधारा से विच्छेद स्थापित किया। वह 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि शक्ति और सत्ता प्राप्त करने और सुदृढ़ बनाने के लिए सब प्रकार की अनीति, कुकर्म, अधर्म, पाप, विश्वास-घात, हत्या, हिंसा और क्रूरता जायज है। यद्यपि राजनीति में व्यावहारिक रूप से इस सिद्धान्त का पालन अनादिकाल से हो रहा है, तथापि इसे नग्न सत्य के रूप में सर्वप्रथम मेकियावेली ने ही घोषित किया। उसका यह कहना है (प्रिन्स, अध्याय १०) कि राजा के लिए धर्मविहित शुचिता और पवित्रता का जीवन बिताना सराहनीय भले ही हो, किन्तु इतिहास में उसी राजा को अधिक सफलतायें मिली हैं, जिसने धार्मिक जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। अतः उसे ऊपर से दयालु, विश्वासी, मानवीय, धार्मिक, सच्चा होने का ढोंग करते हुए आवश्यकता पड़ने पर निर्दयी, विश्वासघाती, अमानवीय, अधार्मिक और झूठा बनने के लिए तैयार रहना चाहिए और इसे उसने पोप अलेक्ज़ेण्डर षष्ठ के उदाहरण से पुष्ट करते हुए कहा है कि उसने लोगों को धोखा देने के सिवा और कुछ नहीं किया, उसके धोखे उसकी इच्छाओं के अनुसार सफल होते रहे।[1] वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता है और कहता है कि राजा में जहाँ एक ओर शेर का साहस होना चाहिए, वहाँ दूसरी ओर लोमड़ी की घूर्तता, मक्कारी और चालाकी भी आवश्यक है। "राजा को विजय पर तथा राज्य को सुस्थिर बनाये रखने पर ही ध्यान देना चाहिए और यदि वह अपने इस लक्ष्य में सफल रहा तो उसका हर साधन सम्मानपूर्ण और प्रशंसनीय समझा जायगा (प्रिन्स, अ० १८)।" डिस्कोर्सेज़ (पुस्तक १, अध्याय ५९) में उसने लिखा है कि, "मैं यह विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन संकट में हो तो राजाओं और गणराज्यों को रक्षा के लिए विश्वासघात और कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।" वह यह समझता है कि सांसारिक सफलता सबसे बड़ा साध्य या लक्ष्य है, उसके लिए अनैतिक साधनों को अपनाना अनुचित नहीं, किन्तु आवश्यक है। साध्य की सफलता साधनों को पवित्र या न्यायोचित बना देती है। उसने क्रूरता, विश्वासघात, आदि जघन्य कृत्य करने वालों के अनेक उदाहरण प्रिन्स में दिये हैं। रोम के विरुद्ध युद्ध करने वाले कार्थेज के प्रसिद्ध सेनापति हन्नीबाल (२४७–१८३ ई० पू०) की सेना में कभी कोई विद्रोह नहीं हुआ, 'यह सफलता उसे तभी मिल सकी जब उसने अमानवीय क्रूरता का परिचय दिया' (प्रिन्स, अध्याय १७)। राजसत्ता को हथियाने के लिए विश्वासघात के उदाहरण देते हुए उसने सिराक्यूज़ के एगेथोक्लीज़ का उल्लेख किया है जिसने एक दिन प्रातःकाल सिराक्यूज़ के निवासियों और राज्य परिषद् के सदस्यों को गणतन्त्र के शासन के बारे में आवश्यक परामर्श के बहाने बुलाया और अपने सैनिकों द्वारा समस्त धनी व्यक्तियों और राज्य परिषद् के सदस्यों को मरवा डाला। इसी प्रकार ओलिवेरोत्तो ने अपने मामा फोगलियानी को तथा फर्मो शहर के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों को दावत पर बुला कर और गुप्त मन्त्रणा के लिए

---

१. प्रिन्स, एवरीमैन्स लाइब्रेरी का मैरियट द्वारा अनुवादित संस्करण, पृ० ९८-९९, २१०। इटली में यह कहावत प्रचलित है कि एलेक्ज़ेण्डर ने जो बात कही, उसे कभी पूरा नहीं किया; (उसके बेटे) सीज़र बोर्जिया ने जो किया, उसे कभी नहीं कहा।

एक कमरे में बुला कर मरवा डाला (प्रिन्स, अध्याय ८)। उसने बागलियोनी की निन्दा इसलिए की है कि उसे जब पोप जूलियस द्वितीय की हत्या करने का स्वर्ण अवसर मिला तो उसने लाभ क्यों नहीं उठाया। गनीमत यही है कि मेकियावेली ऐसे जघन्य कृत्य सफलता पाने के लिए एक ही बार करने को कहता है। "एक बार इष्टसिद्धि हो जाने के बाद फिर उनका प्रयोग न किया जाय और फिर **उनके स्थान पर** ऐसे कार्य किये जायं जिनसे प्रजा को लाभ ही लाभ हो" (प्रिन्स, अ० ८)। यह व्यवस्था भी उसने राज्य को सुदृढ़ रखने की दृष्टि से ही की है क्योंकि बार-बार ऐसे कार्य करने से राजा की स्थिति संकट में पड़ सकती है। अतः एकबार में ही उसे अधिक-से-अधिक दुष्कृत्य और कुकर्म कर लेने चाहिएँ।

मेकियावेली ने घोर अनैतिक कार्यों का समर्थन तथा राजनीति और नीतिशास्त्र का पृथक्करण तीन कारणों के आधार पर किया है—(१) यूनानी दार्शनिकों की भाँति वह राज्य को सर्वोत्तम और सर्वोच्च संगठन समझता है। यह मनुष्यों की रक्षा और कल्याण के लिए अत्यावश्यक है। राज्य के हित सब व्यक्तियों के हितों से ऊपर हैं। अतः जब "राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो इस बात का कोई विचार नहीं करना चाहिए कि क्या न्यायोचित है या क्या अन्यायपूर्ण है, क्या दयालुतापूर्ण है या क्या निर्दयतापूर्ण, क्या गौरवपूर्ण है या क्या निर्लज्जतापूर्ण।" (डिस्कोर्सेज़, पुस्तक ३, अध्याय ४१)।[1]

---

१. महाभारत में कई स्थानों पर राज्य के हित और स्वार्थ को सर्वोपरि समझते हुए आपत्तिकाल में आपद्धर्म के रूप में अनैतिक कार्य करने की स्वीकृति दी गई है। भीष्म से युधिष्ठिर ने कहा है कि यह निश्चित नहीं है कि शक्ति धर्म से ही मिलती है, अतः आपत्ति काल में अधर्म को भी धर्म कहा जाता है (१२।१३०।१५-१६, यस्माद् बलस्योपपत्तिरेकान्तेन न विद्यते। तस्मादापत्स्वधर्मोपि श्रूयते धर्मलक्षणः।) संकट काल में मनुष्य अपने या दूसरे के धर्म की ओर न देखे, किन्तु सभी उपायों द्वारा अपनी उन्नति की अभिलाषा करे, (१८, सर्वात्मनैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः। सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः।) इसका तात्पर्य यह है कि राजा द्वारा अपने उत्कर्ष तथा स्वार्थसिद्धि के लिये किया जाने वाला प्रत्येक कार्य जायज है। उदाहरणार्थ, राज्य का मूल कोश है, यदि कभी राजा को धन की कमी हो जाय तो उसे प्रजा का पीड़न करके भी उससे धन प्राप्त करना चाहिए क्योंकि पहले कोश का संग्रह कर लेने पर ही धर्म का पालन हो सकता है। प्रजा से जबर्दस्ती कर वसूल करना अधर्म नहीं है क्योंकि जीवन निर्वाह का साधन प्राप्त करना धर्म से भी बड़ा है (१४, प्राक् कोशात्प्राप्यते धर्मो वृत्तिर्धर्माद् गरीयसी)। धन का तथा सेना का संग्रह दूसरों को पीड़ा दिये बिना नहीं हो सकता, अतः इसके लिए लोगों को पीड़ित करने में कोई दोष नहीं है। राज्य का कार्य तो यज्ञ है, यज्ञ को पूरा करने के लिये कई बुरे कार्य भी किये जाते हैं, जैसे यज्ञ का यूप बनाने के लिये वृक्ष का छेदन होता है, उस वृक्ष को काटकर बाहर लाने में जो पेड़ और वनस्पतियाँ बाधक होती हैं, उन्हें काटा जाता है, इसी प्रकार राज्यरूपी यज्ञ के लिये आवश्यक कोश के संग्रह में जो बाधक हों, उनका वध किये बिना कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती (३७, ४०-४२)। इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि राजा के लिये राज्य की रक्षा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है (४७, न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परंतप।)। राजा तब तक बड़ी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता जब तक वह मछलीमारों की भाँति दूसरों के मर्म को न विदीर्ण करे, अत्यन्त क्रूर कर्म न करे और दूसरों के प्राण न ले (१२।१४०।५०, नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्। नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥)

(२) दूसरा कारण उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण—'वस्तुओं के वास्तविक सत्य तक पहुँचने की आकांक्षा' थी। आगे बताया जायगा कि वह मनुष्य को घोर स्वार्थी मानता था। राजनीति की प्रधान प्रेरणा स्वार्थसिद्धि है। अतः इसकी पूर्त्ति के लिए किया गया प्रत्येक कार्य न्यायोचित है। उस समय की राजनीति में स्वार्थ का बोलबाला था, ईसाइयत के जीवन को ऊँचा उठाने वाले तत्त्व बहुत क्षीण हो चुके थे। जब पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ के सम्बन्ध में मेकियावेली का यह मत था कि उसने जीवन भर धोखा

इस प्रसंग में कौटिल्य की कुछ व्यवस्थायें उल्लेखनीय हैं। उसने राजा के पास धन की कमी होने पर (५।२) उसे न केवल किसानों, पशुपालकों और व्यापारियों से जबर्दस्ती अधिक कर वसूली करने का विधान किया है, अपितु देवताध्यक्ष नामक राजकर्मचारी द्वारा सब देवमन्दिरों का धन छीन लेने को कहा है तथा लोगों की अन्ध श्रद्धा का लाभ उठाने के लिये यह कहा है कि उसके गुप्तचर कहीं झूठमूठ यह प्रचार करें कि यहाँ देवता भूमि फोड़कर निकले हैं, वहाँ मन्दिर बना कर उसके चढ़ावे की आय राजा को दें। उसके गुप्तचर बड़े व्यापारी का रूप धर कर लोगों से बहुमूल्य आभूषण और नगदी अमानत में रख दें और फिर उनकी चोरी करवा दें अथवा किसी प्रीतिभोज करने के बहाने धनिकों के यहाँ से सोने-चाँदी के बर्तन मँगनी या भाड़े पर मँगवायें और इनकी चोरी करवा दें। राजद्वेषी धनी पक्षों में दाय भाग का झगड़ा होने पर राजा गुप्तचरों द्वारा दोनों पक्षों को जहर दिलवा कर, अन्य प्रकार से मरवा कर या अपराधी सिद्ध करके और झूठे मुकद्मे चलवा कर उनकी सम्पत्ति जब्त कर ले। राजा धनी व्यक्तियों पर नाना प्रकार के दोषारोपण करवा के और उन्हें मरवा के उनका धन हड़प ले। किन्तु इस प्रकरण में यह स्मरण रखना चाहिए कि मेकियावेली की भाँति कौटिल्य केवल एक ही बार ऐसे उपायों को बरतने के लिये कहता है (५।१ सकृदेव न द्विः प्रयोज्यः)। औपनिषदिक अधिकरण (१४) में उसने अधार्मिक शत्रु के नाश केलिये विविध प्रकार के उपायों, विष, मंत्र-तंत्र आदि का समर्थन किया है। अन्यत्र (५।१) उसने कहा है कि राज्य को हानि पहुँचानेवाले (राज्योपघातिनः) मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि जैसे उच्च अधिकारियों को यदि राजा खुले रूप में दमन न कर सके तो वह किसी भी प्रकार गुप्त रूप से उन्हें मरवा डाले।

प्राचीन भारत के कुछ विचारक राजगद्दी पाने के लिये सब प्रकार के अनैतिक कार्यों के समर्थक थे। आचार्य भारद्वाज (५।६) का मत है कि राजा की मृत्यु होने पर अमात्य राजकुमारों तथा राज्यों के प्रमुख पुरुषों में लड़ाई करवा दे, मुख्य अधिकारियों का प्रच्छन्न रूप से वध करा दे और स्वयं इस अवसर को न छोड़ते हुए 'स्वयमारूढा हि स्त्री त्यज्यमानामभिशपतीति' के नियम के अनुसार राज्य पर अधिकार कर ले, यतः जीवन में ऐसा समय एक बार ही आता है। किन्तु कौटिल्य (५।६) इसका घोर विरोध करता है, क्योंकि यह जनता में क्षोभ उत्पन्न करने वाला है, धर्म-विरुद्ध है (प्रकृतिकोपकमधर्मिष्ठमनैकान्तिकं चैतदिति कौटिल्यः)।

इसी प्रकार राजपुत्रों के सम्बन्ध में भी भारद्वाज (कौ० १।१७) की यह धारणा है कि राजपुत्र केंकड़े के स्वभाव वाले होते हैं, जिस प्रकार केंकड़ा अवसर पाकर अपने पिता को खा लेता है, उसी प्रकार राजा के बेटे भी बाप को मार कर राजगद्दी लेते हैं। अतः भारद्वाज के मत में पुत्र पैदा होने पर उनमें स्नेह विकसित होने से पहले ही चुपचाप उनका वध (उपांशुदण्ड) कराना ही अच्छा है। आचार्य विशालाक्ष शिशुवध के इस नृशंस कार्य से क्षत्रिय वंश का बीजनाशक होने के कारण असहमत है तथा इनको एक स्थान पर अपने पास निरीक्षण में रखने का विधान करता है। आचार्य वातव्याधि का मत है कि इन्हें स्त्रियों के साथ सहवास की खुली

देने के सिवाय कोई दूसरा कार्य नहीं किया (प्रिन्स, अ० १८) तो अन्य व्यक्तियों के नैतिक आचार की कल्पना स्वयमेव की जा सकती है। इस परिस्थिति में उसका उपर्युक्त सिद्धान्त बनाना सर्वथा स्वाभाविक था। (३) **तीसरा कारण** उसका शक्ति को और वीर पुरुषों को असाधारण महत्त्व देना था। उसके मत में शक्तिलाभ की इच्छा ही मानव समाज की वास्तविक आधारशिला है। शक्ति प्राप्त करने वाले वीर पुरुषों को वह वन्दनीय समझता था। अतः शक्ति प्राप्त करने के लिए किसी भी उपाय का अवलम्बन करना उचित समझता था। उसके इस दृष्टिकोण के कारण धार्मिक प्रभाव से सर्वथा मुक्त, कोरी सांसारिक सफलता को महत्त्व देने वाले इहलोकवादी, भौतिक और धर्महीन राजनीतिशास्त्र का जन्म हुआ। वह राज्य को विशुद्ध रूप से मानवीय संस्था समझता था, उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं मानता था। फ्लोरेन्स के गण-राज्य में सैवानेरोला नामक ईसाई साधु के शासन के समय में वह राजनीति में धर्म के के हस्तक्षेप के दुष्परिणाम देख चुका था, अतः उसने राजनीति को ईसाइयत और धर्मशास्त्र के बन्धनों से सर्वथा मुक्त किया।

मेकियावेली के विचारों की अन्य विशेषतायें बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद हैं। उससे पहले राजनीतिशास्त्र में प्रमाणवाद का प्राधान्य था। सब सिद्धान्त बाइबल के और ईसाई धर्माचार्यों के वचनों के आधार पर तय किये जाते थे। उसने सब प्रश्नों को प्रमाणवाद की उपेक्षा कर विवेक और बुद्धि की कसौटी से तय करना शुरू किया। वह व्यक्ति के साम्पत्तिक अधिकारों का भी प्रबल समर्थक था। उसने राजा को यह सलाह दी कि वह नागरिकों या प्रजा की सम्पत्ति में कोई हस्तक्षेप न करे।

मेकियावेली के प्रमुख सिद्धान्त—(१) मानव की दानवता और स्वाभाविक दुष्टता—प्लेटो मनुष्य को स्वभावतः सद्गुणी समझता था, किन्तु मेकियावेली मानव को दानव समझता है, उसे प्रकृति से घोर स्वार्थी और दुष्ट मानता है। उसकी सब सामाजिक और राजनीतिक चेष्टाओं तथा क्रियाओं का मूल घोर स्वार्थवाद की भावना है। प्रिन्स के बहुधा उद्धृत १७वें अध्याय में उसने लिखा है, "सामान्य रूप से मनुष्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे कृतघ्न, चंचल, झूठे, कायर और लोभी होते हैं। जब तक आपको सफलता मिलती है, वे पूर्णरूप से आपके बने रहेंगे। वे आपके लिए उस समय तक अपने रक्त, सम्पत्ति, जीवन और बच्चों का बलिदान करने के लिए तैयार रहेंगे, जब तक इनकी आवश्यकता दूर रहती है, ज्यों ही यह आवश्यकता निकट आती है तो वे आपके विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं।"...."मनुष्य किसी से तभी तक प्रेम करते हैं, जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है, जब उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो वे विद्रोह कर देते हैं।" उसका कहना है कि मनुष्य इतने सीधे, सरल और अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति

छूट दी जाय ताकि विषयसुख में मग्न रहने के कारण ये पिता के विरुद्ध विद्रोह न करें। किन्तु आचार्य कौटिल्य इसके सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि यह तो जीवित होते हुए उसकी हत्या करने के समान है, घुन खायी हुई लकड़ी की भाँति अशिक्षित पुत्र से बिना किसी युद्ध आदि के राजवंश नष्ट हो जाता है। अतः राजपुत्रों का उत्तम पालन-पोषण तथा योग्य विद्वानों द्वारा प्रशिक्षण होना चाहिए। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कौटिल्य भारद्वाज द्वारा प्रतिपादित धर्म और नीति की अवहेलना करने वाले अनेक कार्यों का उग्र विरोधी है।

के लिए लालायित रहते हैं कि जो धोखा देना चाहता है, वह धोखा खाने वाले व्यक्तियों को पा लेता है, (प्रिन्स, अध्याय १८)। मनुष्य प्रायः दुर्बल, अज्ञानी और दुष्ट होते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर ही भले बनते हैं। डिस्कोर्सेज़ में भी उसने मानव की दानवता का विस्तार से प्रतिपादन किया है। हाब्स की तरह वह यह मानता है कि मनुष्य में असीम और अनन्त इच्छायें हैं, इनकी पूर्त्ति के लिए ही वह सब कार्य करता है, उसकी एक बड़ी इच्छा सम्पत्ति रखने की होती है। मनुष्य पिता की मृत्यु भूल जाते हैं, पर पैतृक सम्पत्ति का छीना जाना नहीं भूलते। अतः वह राजा को यह उपदेश देता है कि मनुष्यों को प्राणदण्ड भले ही दे, किन्तु उनकी सम्पत्ति कभी न छीने (प्रिन्स, अ० १७)। अपने भौतिक स्वार्थों की पूर्त्ति के लिए वे स्वतंत्रता, सम्पत्ति और स्वशासन की आकांक्षा रखते हैं।

(२) **राज्य का प्रादुर्भाव और स्वरूप**—मानव स्वभाव की दानवता और दुष्टता में अगाध विश्वास रखने के कारण वह राज्य के आविर्भाव का कारण मनुष्य का स्वार्थ समझता है। व्यक्ति शक्ति का पुजारी है, अतः वह अपनी शक्ति को और राज्य को बढ़ाना चाहता है। राज्य की मुख्य विशेषता उसका निरन्तर विस्तार है। "सब मानवीय व्यापार गतिशील हैं, यह असंभव है कि कोई निश्चल खड़ा रहे।" या तो उन्नति की ओर बढ़ना होगा या पतन की ओर। अतः कोई राज्य स्थिर नहीं रह सकता, उसका विस्तार अवश्यम्भावी है। उसे यूनानियों का लघु नगर-राज्य पसन्द नहीं है, वह निरन्तर वृद्धिशील रोमन साम्राज्य का उपासक है।

उसने राजतन्त्रीय राज्यों के प्रसार का **प्रिन्स** में तथा गणराज्यों के प्रसार का **डिस्कोर्सेज़** में वर्णन किया है। प्रिन्स में पहले राज्य की प्राप्ति के उपायों का प्रतिपादन साइरस, रोमुलस, थेसियस के उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। इन्होंने अपनी योग्यता और साधनों से राज्य का निर्माण किया था। सीज़र बोर्जिया की सफलता का कारण उसका भाग्य और दूसरों की सहायता थी। राज्य प्राप्त कर लेने के बाद राजा अपनी शक्ति बढ़ाने की कभी पूरी न होने वाली तृष्णा के कारण राज्य विस्तार के लिए बाधित होता है। इस विषय में राजाओं द्वारा अपनाये जाने वाले आचरण का उल्लेख आगे होगा। गणराज्यों के लिए भी शक्ति का विस्तार करना आवश्यक होता है। रोमन गणराज्य के उदाहरण के आधार पर मेकियावेली इसके लिए निम्न बातें आवश्यक मानता है—(१) नगर की जनसंख्या में वृद्धि करना, (२) मित्रों की प्राप्ति, (३) विजित प्रदेशों में उपनिवेश बसाना, (४) लूट के माल को कोश में डालना, (५) किलों के घेरे डालने के स्थान में खुले-मैदानों में जम कर लड़ाई करना, (६) सुशिक्षित सेना को रखना। उसके समय में वेतनभोगी सैनिकों की प्रथा प्रचलित थी। वह इसके दुष्परिणामों को देखते हुए इस परिणाम पर पहुँचा था कि गणराज्य में नागरिकों को सुशिक्षित करके उनकी राष्ट्रीय सेना बनानी चाहिए। उसने कहा था कि धन युद्ध का साधन नहीं है। 'धन से सदैव अच्छे सैनिक प्राप्त नहीं किये जा सकते, किन्तु अच्छे सैनिकों से सदैव धन प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

राज्य की महत्ता का आधार वह भौतिक शक्ति तथा छल-कपट (Craft)—

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३२४-२५।

दोनों को समझता था। उसका कहना था कि कोई मनुष्य शक्ति और कपट के बिना बड़ा नहीं बन सकता। इन दोनों में छल-कपट अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि शक्ति कपट के बिना अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होती, किन्तु कपट शक्ति के बिना भी सफल हो जाता है (डिस्कोर्सेज़ ३।५)।

(३) **राजा का कर्त्तव्य और आचरण** – प्लेटो का आदर्श राजा कामिनी-कांचन के मोह से ऊपर उठा हुआ दार्शनिक व्यक्ति था। किन्तु मेकियावेली का आदर्श राजा वह है जो किन्हीं भी उपायों से राजनीतिक शक्ति उपलब्ध करके उसका निरन्तर विस्तार करता है। प्रिन्स के २६ अध्यायों में मुख्य रूप से नया प्रदेश जीत कर अपना शासन स्थापित करने वाले नरेश को अपना राज्य बनाये रखने की शिक्षा यूनान और रोम के प्राचीन इतिहास के तथा वर्त्तमान इतिहास के उदाहरणों के आधार पर दी गयी है। उसकी मुख्य शिक्षायें ये हैं : मनुष्य मानवीयता और पशुता के अंशों से मिलकर बनता है, अतः राजा को इन दोनों के साथ व्यवहार करने के उपायों का ज्ञान होना चाहिए। राजा में शेर की शूरता और लोमड़ी की चालाकी होनी चाहिए। "प्रत्येक मनुष्य यह स्वीकार करता है कि वह राजा प्रशंसनीय होता है, जो विश्वासघात और चालाकी से बच कर अपने सब काम ईमानदारी से करता है। किन्तु अनुभव से यह ज्ञात होता है कि उन राजाओं ने, जिनके वचन का कोई मूल्य न था और जो चालाकी तथा मक्कारी में सबसे आगे थे, उनकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किये, जो अपने सब कार्यों को ईमानदारी से करते थे।" मनुष्य स्वभावतः बुरा होता है और वह स्वयं धर्म के अनुसार आचरण नहीं करता, अतः राजा के लिए भी मनुष्यों के साथ धर्म का पालन आवश्यक नहीं है। राजा को ऊँचे दर्जे का बहुरूपिया और ढोंगी होना चाहिए, शत्रुओं को मारकर उनके लिए आँसू बहाने चाहिएँ। उसे ऊपर से यह दिखाना चाहिए कि वह दयालु, वचनों का पालन करने वाला, सच्चा और धार्मिक है, किन्तु उसकी मानसिक रचना ऐसी होनी चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर क्रूरता, विश्वासघात, अधर्म और अनीति के सभी कार्य कर सके, क्योंकि राजाओं के मामलों में उनको मिलने वाली सफलता उनके अनीतिपूर्ण साधनों को भी न्यायोचित बना देती है (प्रिन्स, अध्याय १८)।

प्रत्येक राजा को दयालु होते हुए भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का अनुचित लाभ न उठाये। नये राज्यों में नरेश को क्रूर होने से नहीं डरना चाहिए। सीज़र बोर्जिया बड़ा क्रूर समझा जाता था किन्तु उसकी क्रूरता से रोमान्या (Romogna) प्रान्त में शान्ति स्थापित हो गई। हन्नीबाल ने अमानवीय क्रूरता से अपनी सेना में शान्ति बनाये रखी (अध्याय १७)। प्रजा में राजा का आतंक सदैव बना रहना चाहिए उसे अपने वचनों का पालन उसी समय तक करना चाहिए, जब तक इससे उसे कोई हानि या घाटा न हो। उसे सदैव कीर्ति प्राप्त करने के लिए उद्योग करना चाहिए और इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वह प्रजा की घृणा का पात्र न बने। इससे बचने के लिए उसे अपने राज्य के नागरिकों की सम्पत्ति नहीं छीननी चाहिए, स्त्रियों का सतीत्व नहीं भंग करना चाहिए। इन दोनों कार्यों के न होने पर अधिकांश जनता सुखी और सन्तुष्ट रहती है। यदि राजा को प्रजा में चंचल, छिछोरा (Frivolous), स्त्रैण, नीच प्रकृति का और अनिश्चयी समझा जाय तो उसका मान घट जाता है। अतः, उसे

सदैव ऐसे कार्य करने चाहिएँ, जिनसे उसकी महानता, उत्साह, गम्भीरता और सहिष्णुता प्रकट हो (अध्याय १९)। उसे उपयुक्त समय पर प्रतिवर्ष प्रजा के मनोरंजन के लिए मेलों की व्यवस्था करनी चाहिए। लड़ाई में प्राप्त लूट का माल चुपचाप अपने कोश में न रखकर उदारतापूर्वक प्रजा और सैनिकों में बाँटना चाहिए। राजा को दण्ड आदि के अप्रिय कार्यों का पालन अपने अफसरों द्वारा कराना चाहिए क्योंकि इनके कारण होने वाली बदनामी उन अफसरों के सिर पर पड़ेगी और यदि इनमें कुछ पीछे हटना पड़ा तो वह दोष अफसरों के सिर पर मढ़ कर आसानी से बच सकता है। इसके विपरीत प्रजा को प्रसन्न करने वाले कार्य – पुरस्कारों, उपाधियों का वितरण स्वयं करना चाहिए ताकि वह जनता में अधिक लोकप्रिय हो। राजा को साहित्य और संगीत का संरक्षक, कलाकारों का सम्मान करने वाला गुणग्राहक होना चाहिए (प्रिन्स, अ० २१)। राजा को मन्त्रियों के चुनने में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए (अ० २२), चापलूसों से बचा रहना चाहिए (अ० २२)। उसे प्रजा का दिमाग बड़ी योजनाओं में लगाये रहना चाहिए। जब वह किसी नये राज्य पर अधिकार करे तो उसे वहाँ के पुराने संविधान में कोई परिवर्त्तन नहीं करना चाहिए।[1]

---

१. भारतीय साहित्य में मेकियावेली की भाँति राजशास्त्रवेत्ता कणिक ने धृतराष्ट्र को राजा के आचरण के विषय में उपदेश दिया है (आदिपर्व, अध्याय १३९)। राजा को दण्ड देने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिए, ऐसे राजा से प्रजा सदा डरती है (आदिपर्व १३९।६-७, नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः। मि० १२।१४०।७)। शत्रु पर दया नहीं करनी चाहिए (१४) उसको भले बुरे सभी प्रकार के साधनों से नष्ट करना चाहिए। जैसे व्याध झूठी नींद का बहाना करके सो जाता है और जब मृग उसके आस-पास विश्वस्त होकर चरने लगते हैं तब वह उन्हें बाणों से घायल कर देता है, वैसे ही राजा सामादि उपायों से शत्रु में विश्वास उत्पन्न करके उसे मार डाले (१३)। "अग्निहोत्र और यज्ञ करके, गेरुये वस्त्र, जटा और मृग चर्म धारण करके पहले लोगों में विश्वास उत्पन्न करे, फिर अवसर देख कर भेड़िये की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़े और उन्हें नष्ट कर दे (१९—अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः। लोकान्विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद् यथा वृकः ॥ मि० १२।१४०।४९)। कणिक के मतानुसार सदाचार आदि के नियमों का पालन तो अपने मतलब को पूरा करने वाला और लोगों को अपनी ओर खींचने वाला साधन (अंकुश) मात्र है, फलों से लदी हुई वृक्ष की शाखा को अपनी ओर झुका कर ही फल तोड़े जाते हैं (२०)। समय अनुकूल न होने तक शत्रु को कंधे पर बिठा कर भी ढोये, किन्तु समय आने पर उसे उसी तरह नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर फोड़ा जाता है। (मि० १२।१४०।१८, २१-२२)।

मेकियावेली ने राजा को लोमड़ी की धूर्त्तता का अनुकरण करने को कहा है, कणिक ने धृतराष्ट्र को एक कहानी द्वारा गीदड़ की तरह चालाक होने का उपदेश दिया है (१।१३९।२८-४९)। पुत्र, मित्र, भाई, पिता या गुरु तक को शत्रु होने पर मार डालना चाहिए (५२ मि० १२।१४०।४७)। शपथ खाकर, धन अथवा ज़हर देकर या धोखे (माया) से भी शत्रु को मार डाले (५३)। राजा को ढोंगी बनने का उपदेश देते हुए कहा गया है—"मन में क्रोध भरा हो तो भी ऊपर से क्रोधशून्य बना रहे, मुस्कराकर बातचीत करे। कभी क्रोध में आकर दूसरे का तिरस्कार न करे। शत्रु पर प्रहार करने से पहले और प्रहार करते समय भी मीठे वचन बोले, उसे मारकर भी उसके प्रति दया दिखाये, उसके लिये शोक करे और आँसू बहाये (५५-५६,

मेकियावेली यह मानता है कि आदर्श और व्यवहार में बड़ा अन्तर है, कोई व्यक्ति आदर्श राजा नहीं हो सकता है, उसे नीतिशास्त्र या धर्म द्वारा बताये गये आदर्शों के अनुसार जीवन-यापन नहीं करना चाहिए, यदि वह ऐसा करेगा तो दुःखी रहेगा। धर्म के अनुसार उसे ईमानदार और दयालु होना चाहिए, किन्तु सफलता पाने के लिए उसे बेईमान और क्रूर होना चाहिए। उसके मतानुसार "हम जिस प्रकार रहते हैं और हमें जिस प्रकार रहना चाहिए, इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जो राजा वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा करके आदर्श का पालन करता है, वह अपने विनाश और विध्वंस को स्वयमेव बुलाता है। क्योंकि जो व्यक्ति नीतिशास्त्र के आदर्शों के अनुसार ईमानदार बना रहना चाहता है, वह सदैव कष्ट पायेगा क्योंकि संसार में बेईमानों की बहुतायत है। अतः जो राजा अपनी शक्ति बनाये रखना चाहता है, उस के लिये यही उचित है कि वह बेईमान बनना सीखे और परिस्थितियों के अनुसार अपने इस ज्ञान का प्रयोग करे।"

इस बेईमानी के अतिरिक्त वह राजा के लिये क्रूरता के कार्यों का भी समर्थन करता हुआ इस विषय में विस्तृत निर्देश देता है कि ये कार्य किस प्रकार किये जाने चाहिएँ। "क्रूरतापूर्ण कार्यों के बारे में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे अच्छे ढंग से किये जाते हैं या बुरे ढंग से। अच्छे ढंग से किये जाने वाले क्रूर कार्य वे हैं, जो एकदम किये जाते हैं, जिनका उद्देश्य अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना होता है और जो कार्य एकबार करने के बाद दुबारा नहीं किये जाते। इस विषय में पहले से अच्छी तरह यह विचार

क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता। न चाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित्कोपसंयुतः॥
प्रहरिष्यन्प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि च भारत। प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत रुदंत च॥ म० शान्तिपर्व
१४०।५४)। शत्रु के आने पर उठ कर उसकी अगवानी करे, आसन, भोजन और भेंट दे, इस
प्रकार विश्वास उत्पन्न करके उसकी हत्या करदे, साँप की तरह ऐसे तेज़ दाँतों से काटे कि वह
उठ ही न सके (द० म० शा० प० १२।१४०।४६)। राजा बातचीत में अत्यन्त नम्र और हृदय में
छुरे के समान तीखा हो, अत्यन्त भयानक कर्म करने के लिए तैयार हो तो भी मुस्करा कर ही बात
करे। अवसर देखकर हाथ जोड़ना, शपथ खाना, आश्वासन देना, पैरों पर सिर रख कर प्रणाम
करना और आशा बँधाना—ये सब ऐश्वर्य प्राप्ति की इच्छा वाले राजा के कर्त्तव्य हैं। नीतिज्ञ राजा
को ऐसे पेड़ के समान होना चाहिए जिसमें फूल तो खूब हों, पर फल न हो अर्थात् वह लोगों को
आशा तो बहुत दिलाये, पर उसकी पूर्ति न करे, फलवाला पेड़ होने पर भी उस पर चढ़ना कठिन
हो, अर्थात् लोगों की स्वार्थसिद्धि जल्दी न होने दे (६६–६८, वाचा भृशं विनीतः स्याद् हृदयेन
तथा क्षुरः। स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सृष्टो रौद्राय कर्मणे। अंजलिः शपथः सान्त्वं शिरसा
पादवन्दनम्। आशाकरणमित्येव कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता। सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् दुरारुहः॥
(म० शान्तिपर्व १४०।१३, १७, ३१)। जिस प्रकार छुरा चमड़े की पेटी में छिपा रहता है और
अवसर आने पर बाल काटता है, वैसे ही राजा को अपने मनोभाव छिपा कर रखते हुए अनुकूल
समय आने पर शत्रुओं के प्राण ले लेने चाहिएँ (१।१३९।८६)। कणिक ने इस प्रकार की
नीति से धृतराष्ट्र को पाण्डवों का संहार करने का उपदेश दिया है। अतः अंग्रेजी में जिसे
Machiavellism कहते हैं, उसे हमें कणिकनीति कहना चाहिए। महाभारत के शान्तिपर्व
अध्याय १४० में एक अन्य भारद्वाज कणिक ने सौराष्ट्र देश के राजा शत्रुञ्जय को आपत्ति काल में
इस प्रकार की कूटनीति का उपदेश दिया है।

कर लेना चाहिए कि क्रूरता के कौन से कार्य आवश्यक हैं, इन्हें एक बार में ही कर डालना चाहिए और इसके बाद प्रजा को यह आश्वासन देना चाहिए कि ऐसे कार्यों की पुनरावृत्ति नहीं होगी, अन्यथा आपको सदैव अपने हाथ में तलवार रखनी पड़ेगी। अकस्मात् और सहसा किये जाने वाले प्रहारों के बारे में लोग अधिक देर तक बुरा अनुभव नहीं करते, इनसे सब प्रकार के अच्छे परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत, राजा को अपनी कृपायें प्रजा को शनैः-शनैः देनी चाहिएँ ताकि प्रजा चिरकाल तक इनका उपभोग करते हुए राजा का गुणगान कर सके।"

मेकियावेली ने राजा के लिए इस बात पर बल दिया कि वह प्रजा पर नाना प्रकार की कृपायें तथा उपकार करके अपना सौम्य रूप दिखाने के स्थान पर अपने क्रूर कार्यों द्वारा रौद्र रूप अधिक प्रकट करे क्योंकि यह शासन की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली और लाभदायक होता है। उसके शब्दों में "यदि सम्भव हो तो राजा को एक ही समय में अपना सौम्य तथा रौद्र रूप प्रदर्शित करना चाहिए। यदि यह संभव न हो और दोनों में से चुनाव करना हो तो यह अधिक अच्छा है वह अपना ऐसा रौद्र रूप दिखाये, जिससे प्रजा भयभीत रहे। क्योंकि राजा के प्रति प्रेम उसके द्वारा किये गये उपकारों के कारण होता है किन्तु मनुष्य का स्वभाव इतना दुष्ट है कि यदि राजा के किसी कार्य से मनुष्यों के स्वार्थों को थोड़ी सी भी क्षति पहुँचती है तो वे उसके उपकारों को भूल जाते हैं। किन्तु राजा का आतंक उसके रौद्र रूप के कारण सदा बना रहता है। मनुष्य प्रेम को भूल जाते हैं, पर दण्ड के भय को कभी नहीं भूलते हैं। मनुष्य अपने स्वार्थ पूर्ण होने के कारण राजा से प्रेम करते हैं, किन्तु राजदण्ड के भय से उससे भयभीत और आतंकित रहते हैं। अतः राजा को अपने दण्ड का भय सदा बनाये रखना चाहिए। किन्तु राजा को अपने दण्ड की शक्ति का प्रयोग करते हुए ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे प्रजा राजा से घृणा या द्वेष करने लगे। ऐसे कार्य प्रजा की सम्पत्ति छीनना तथा स्त्रियों को सताना है।"

(४) **शासन-पद्धति के विभिन्न प्रकार**—प्रायः मेकियावेली को राजतन्त्र का पक्षपाती समझा जाता है। इस धारणा का आधार मुख्य रूप से उसका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रिन्स है, जिसमें उसने राजा को आवश्यकता पड़ने पर समस्त नैतिक बन्धनों से ऊपर उठ कर शक्तिशाली राज्य स्थापित करने के लिए उपर्युक्त परामर्श दिये हैं। वह फ्रांस, स्पेन, इंगलैण्ड के सुदृढ़ एवं शक्तिशाली राजतन्त्रों का प्रशंसक था और अनेक राज्यों में विभक्त होने के कारण शोचनीय दुरवस्थापन्न इटली के उद्धार के लिए भी प्रबल राजतन्त्र को आवश्यक समझता था। अतः उसे राजतन्त्र का समर्थक समझा जाना स्वाभाविक है।

किन्तु वह राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था नहीं समझता था। यह 'डिस्कोर्सेज' में उसके विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों के वर्गीकरण और इनके गुण-दोषों के विश्लेषण से स्पष्ट है। इनके वर्गीकरण में वह अरस्तू का अनुसरण करता है (डिस्कोर्सेज, पुस्तक १, अध्याय २)। इनके तीन मुख्य भेद राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, वैध प्रजातन्त्र तथा इनके तीन विकृत रूप तानाशाही, अल्पजनतन्त्र या धनिक तन्त्र और प्रजातन्त्र मानता है और पोलिबियस तथा सिसरो की भाँति (देखिये ऊपर पृ० २१८, २२२) मिश्रित शासन-प्रणाली को सर्वोत्तम तथा सबसे अधिक स्थिर समझता है। उसने

'प्रिन्स' में राजतन्त्र का विवेचन किया है और **'डिस्कोर्सेज'** में गणराज्य का।

डनिंग के मतानुसार अरस्तू की भाँति उसका झुकाव गणराज्य की प्रणाली की ओर है और इस विषय में उसके विचार यूनानियों से मिलते हैं।[1] उसके मत में जहाँ सामान्य रूप से आर्थिक समानता पायी जाती हो, वहाँ गणराज्य (Commonwealth) की प्रणाली न केवल सर्वोत्तम है, किन्तु इस अवस्था में केवल यही पद्धति संभव हो सकती है। वह कई कारणों से गणराज्य की व्यवस्था को राजतन्त्र से उत्कृष्ट समझता है : (१) अरस्तू की भाँति उसकी भी यह धारणा है कि समग्र रूप से जनता एक राजा से अधिक समझदार होती है। "जनता राजा की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और दृढ़ होती है। उसके निर्णय अधिक अच्छे होते हैं। 'जनता का निर्णय ईश्वर का निर्णय होता है।' इस कथन में बहुत कुछ तथ्य है। जनता आने वाली भली और बुरी बातों का अनुमान इतने आश्चर्यजनक ढंग से लगा लेती है, मानो उसमें कोई अलौकिक शक्ति हो। यदि समान योग्यता के दो वक्ता दो विभिन्न मतों का प्रतिपादन करते हैं तो वह लाभकारी मत के पक्ष में ही अपना निर्णय देती है। सरकारी अधिकारियों के निर्वाचन में भी वह अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देती है। वह किसी ऐसे व्यक्ति का निर्वाचन नहीं करती जो बदनाम हो गया हो या जो भ्रष्टाचार का दोषी हो। जिन राज्यों का शासन जनता के हाथ में होता है, वे बड़े वेग से उन्नति करते हैं। गणतन्त्रात्मक सरकारें स्थायी भी होती हैं।"— (डिस्कोर्सेज़)। (२) अधिकारियों का चुनाव और व्यक्तियों का सम्मान करने में जनता का निर्णय सामान्य रूप से ठीक होता है। (३) राजा भले ही राजनीतिक और कानूनी संस्थाओं की स्थापना करने में अधिक सफल हो, किन्तु इन्हें बनाये रखने की क्षमता गणराज्य में अधिक होती है। (४) गणराज्य राजाओं की अपेक्षा सन्धियों के पालन का कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकते हैं क्योंकि राजा जब चाहे अपनी सन्धि का भंग कर सकता है, किन्तु गणराज्यों में सन्धियों को पुष्ट अथवा भंग करने के लिए सब नागरिकों की सहमति आवश्यक होती है। इसे पाने में काफी समय लगता है, अतः एक बार सन्धि हो जाने पर वह सुगमता से नहीं टूटती। दूसरे देश सन्धिपालन के लिए राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र पर अधिक भरोसा रख सकते हैं। (५) गणराज्य इसलिए भी श्रेष्ठ है कि इसमें सभी व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है, उन्हें शासन कला की शिक्षा मिलती है। इससे प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित होता है। किन्तु राजतन्त्र में यह लाभ केवल राजा को ही मिलता है, प्रजा राजकार्य के संचालन का अनुभव पाने से सर्वथा अछूती रहती है।

मेकियावेली गणतन्त्र के गुणों के साथ उसके दोषों को भी समझता है तथा उनके निवारण करने के उपायों का निर्देश करता है। गणराज्यों का **पहला** दोष यह है कि संकटकाल की परिस्थितियों का सामना करने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती। ऐसे समय में गणराज्यों में शक्तिशाली व्यक्ति का शासन होना चाहिए। **दूसरा** दोष गणराज्य में ऊँचे सरकारी पदों पर किसी एक व्यक्ति का नियन्त्रण न होने से इनका अन्यायी हो जाना है। ऐसे अधिकारियों के कार्यों की जाँच की और दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए। **तीसरा** दोष दलबन्दी का है। गणराज्यों में ऐसा होना सर्वथा

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३०७।

स्वाभाविक है। उसके मतानुसार प्रत्येक दल को अपने विचारों की अभिव्यक्ति की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। यदि इसे रोका जायगा तो असन्तोष की आग भीतर ही भीतर सुलगती रहेगी और किसी भी समय विद्रोह के रूप में फूट सकती है। अतः उन्हें असंतोष प्रकट करने का पूरा अवसर देना चाहिए।[1] दलबन्दी के कारण राज्य में फूट न पड़े, इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य की जनसंख्या एक ही जाति की हो। उसमें जितने विजातीय तत्त्व होंगे, उतने ही सांस्कृतिक भेद होंगे तथा सामाजिक परम्परायें भिन्न होंगी। इनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था गणराज्य को विघटित कर देगी। अतः गणराज्य में सजातीय तत्त्वों की प्रधानता होनी चाहिए। इसके साथ ही गणराज्य में बनाये जाने वाले सब कानून उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुकूल होने चाहिएँ, अन्यथा राज्य के विभिन्न तत्त्वों के पारस्परिक संघर्ष में वृद्धि होने से राज्य की सत्ता के लिए संकट उत्पन्न हो जायगा।

राजतन्त्र के संबंध में उसका यह विचार है कि निर्वाचित राजतन्त्र स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाये रखने का सबसे प्रभावशाली साधन है। इसमें कुलीनतन्त्र (Aristocracy) की अपेक्षा आन्तरिक झगड़े कम होते हैं (प्रिन्स, अध्याय १)। वह भूमिपति सामन्तों द्वारा संचालित शासन-प्रणाली (Gentilnomini) का घोर विरोधी है। उच्च वर्ग में अधिकार का लालसा होती है, सामान्य जनता शान्ति और व्यवस्था चाहती है। जब सामन्तों के पास अपने दुर्ग और स्वतन्त्र शक्ति हो तो यह सामाजिक व्यवस्था के लिए घातक होती है और शासन को असंभव बना देती है। इटली के कई हिस्सों में ऐसी दशा होने के कारण न केवल वहाँ गणराज्य की स्थापना असंभव है, किन्तु राजतन्त्र भी स्थापित नहीं हो सकता।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शासन-प्रणाली के संबंध में मेकियावेली का यह विचार है कि विभिन्न समयों और विभिन्न परिस्थितियों में विविध प्रकार की शासन-प्रणालियाँ उपयुक्त होती हैं, कोई एक शासन-प्रणाली सब परिस्थितियों के लिए ठीक नहीं होती। विभिन्न शासन-प्रणालियों में उसका झुकाव समानता रखने वाले नागरिकों के गणराज्य की ओर है।

(५) **कानून का विचार**—मध्ययुग में ईश्वरीय (Divine) और प्राकृतिक कानून (Natural law) की सत्ता स्वीकार की जाती थी। वह इन दोनों को अस्वीकार करता है। पहले यह बताया जा चुका है कि एक्विनास मानव जीवन के दो प्रकार के उद्देश्य मानता था—ऐहिक सुख की प्राप्ति तथा पारलौकिक सुख या मोक्ष की उपलब्धि। पहले के लिए वह मानवीय कानून को तथा दूसरे उद्देश्य के लिए ईश्वरीय व्यवस्था को आवश्यक समझता था। मेकियावेली मानव का एक ही उद्देश्य शक्ति और सत्ता को प्राप्त करना मानता है, अतः उसे मोक्ष की प्राप्ति में सहायक ईश्वरीय कानून को मानने की आवश्यकता नहीं है।

प्राकृतिक कानून का अभिप्राय यह है कि न्यायोचित मानवीय आचरण और व्यवहार के कुछ शाश्वत नियम हैं, प्रत्येक भले आदमी को इनका पालन करना

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३२१।

२. वही, पृ० २०६।

चाहिए। मेकियावेली इनकी सत्ता से इसलिए भी इंकार करता है कि उसकी दृष्टि में मनुष्य का उद्देश्य शक्ति और ख्याति की प्राप्ति है और उसके चरित्र का मूल्यांकन और आचरण के नियमों का निर्धारण इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए। अतएव उसने राजा के आचरण के लिए ऊपर बताये नियमों को निश्चित किया है (पृ० ३६१)।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के कानूनों का विचार अस्वीकार करते हुए भी मेकियावेली राज्य द्वारा नागरिकों के आचरण के नियन्त्रण के लिए बनाये नियमों तथा कानून की महत्ता को स्वीकार करता है। उसके मत में "राज्य की स्थापना और संरक्षण इसके कानून की उत्कृष्टता पर निर्भर है। नागरिकों के सब गुणों का मूल स्रोत कानून है। राजतन्त्र में भी स्थायी शासन की सबसे बड़ी शर्त्त यह है कि यह कानून द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए।"[१] मेकियावेली इस बात पर बड़ा बल देता है कि सरकारी अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले हिंसा के अवैध कार्यों को रोकने के लिए कानूनी व्यवस्था होनी चाहिए। वह राजा को शक्ति के प्रयोग में नर्मी और विवेक प्रदर्शित करने की सलाह देता हुआ कहता है कि उसे प्रजा की सम्पत्ति और स्त्रियों से छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए। शक्ति का परम उपासक होते हुए भी मेकियावेली यह समझता था कि इसके प्रयोग की सीमायें हैं, राज्य केवल बल तथा भय पर आधारित नहीं होता, उसको सुप्रतिष्ठित करने के लिए कानून भी आवश्यक है (प्रिन्स, अ० १२)। अतः राज्य के लिए बुद्धिमान् कानून-निर्माता होना चाहिए। वह कानून के नियमों द्वारा न केवल नागरिकों के कार्यों का नियन्त्रण करता है, किन्तु नैतिक गुणों के विकास और चरित्र निर्माण का भी कार्य करता है।

(६) **धर्म के प्रति दृष्टिकोण**—राज्य की आवश्यकता के लिए धर्मविरुद्ध कार्यों का प्रबल समर्थक होने पर भी वह राजनीतिक दृष्टि से धर्म को बड़ा उपयोगी समझता है क्योंकि धर्म के भय से लोग राज्य के नियमों का पालन करते हैं। उसका यह मत है कि "धार्मिक नियमों का पालन गणराज्यों की महत्ता का कारण होता है, इनकी उपेक्षा राज्यों के विनाश को उत्पन्न करती है। जहाँ भगवान् का भय नहीं है, वहाँ यदि राजा का भी भय न हो तो राज्य जल्दी नष्ट हो जायगा। राजा का भय कुछ समय के लिए धर्म के अभाव की पूर्त्ति कर सकता है, किन्तु राजाओं का जीवन क्षणभंगुर होता है। ...जो राजा और गणराज्य अपने को बनाने रखना चाहते हैं, उन्हें धार्मिक विधियों की पवित्रता को सुरक्षित रखना चाहिए, इनके प्रति उचित श्रद्धा का व्यवहार करना चाहिए।...सब मनुष्यों में सबसे अधिक प्रशंसा के योग्य वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने धर्मों की स्थापना की है। इसके बाद गणराज्यों और राज्यों के संस्थापकों की स्तुति की जाती है।"[२] राज्य में धर्म की महत्ता उसकी दृष्टि में इसलिए है कि यह सभ्य समाज का आधार है, लोग शासकों द्वारा बनाये हुए नियमों की कई बार उपेक्षा करते हैं, किन्तु धर्म के दैवीय नियमों को ईश्वरीय आदेश समझ कर उनका उल्लंघन नहीं करते। अतः समाज के कानून-निर्माता प्रायः यह कहा करते हैं कि ये नियम उनको भगवान् से प्राप्त हुए हैं। इसे उसने रोम के ऐतिहासिक उदाहरणों से पुष्ट किया है। यद्यपि रोम

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० २९८।
२. विल ड्यू रैण्ट—दी रिनेसां, पृ० ५५७।

का संस्थापक रोमुलस था, किन्तु उसकी असली शासन-व्यवस्था सीनेट द्वारा निर्वाचित होने वाले न्यूमा पोम्पिलियस ने की, उसने राज्य के लिए जो नियम आवश्यक समझे, उन्हें बनाकर यह कहा कि ये उसे दिव्य परी ने बताये हैं और लोग इन नियमों का पालन करने लगे।

सामान्य रूप से धर्म का समर्थक होते हुए भी वह ईसाइयत का कड़ा आलोचक है, क्योंकि यह परलोक पर तथा नम्रता आदि के गुणों पर बहुत बल देती है, जब कि प्राचीन धर्म इहलोक में ऐश्वर्य, शूरवीरता, साहस, पौरुष आदि गुणों पर अधिक बल देता था। ईसाइयत के नम्रता आदि के सिद्धान्तों ने इटालियनों को भीरु और दब्बू बना दिया है (डिस्कोर्सेज़ २।१)। वर्त्तमान ईसाइयत ने अपने संस्थापक की शिक्षाओं को छोड़ दिया है, इसके अध्यक्ष पोप से जो जितना निकट है, वह धर्म से उतना ही अधिक दूर है।[1] इसका घोर पतन हो चुका है। यदि सन्त फ्रांसिस और सन्त डोमिनिक जैसे व्यक्ति न हुए होते तो ईसाइयत कभी की समाप्त हो चुकी होती।

मेकियावेली के समय के पोप अव्वल दर्जे के धूर्त्त और दुराचारी थे।[2] वह उनका विरोधी केवल इसलिए नहीं था कि वे अधार्मिक थे, किन्तु इसलिए भी था कि वे इटली की एकता में बाधक थे। "हम इटालियन रोम के चर्च और उसके पुरोहितों के कारण अधार्मिक ही नहीं हुए, किन्तु वह हमारे विनाश का भी कारण है, उसने हमारे देश को विभक्त कर रखा है।" अतः वह पोप का विरोधी था। चर्च और धर्म के संबंध में उसकी यह धारणा थी कि यह राज्य से स्वतन्त्र और उसके ऊपर नहीं होना चाहिए, किन्तु उसके उद्देश्यों को पूरा करने वाला हो तथा राज्य के आधीन रहे।

मेकियावेली की विचारधारा के दोष— इसका **पहला** दोष एकांगी दृष्टिकोण है। मनुष्य में देव और दानव दोनों के अंश हैं, किन्तु उसने दानवीय अंश को प्रधानता देते हुए उसके दैवी अंश की उपेक्षा की है। मनुष्य न तो केवल अच्छा होता है और न केवल बुरा। उसने केवल उसकी बुराइयों को देखा है, अच्छाइयों की ओर दृष्टिपात नहीं किया। **दूसरा** दोष धर्म और नीतिशास्त्र की घोर उपेक्षा थी। वह इनका उपयोग उसी हद तक वांछनीय समझता था, जहाँ तक ये राजा के लिए या राज्य के लिए उपयोगी हों। इटली की तत्कालीन परिस्थिति से उसकी दृष्टि इतनी सीमित और मर्यादित हो चुकी थी कि वह मानव समाज में इनका सही महत्त्व आंकने में सर्वथा असमर्थ था। जब वह 'प्रिन्स' लिख रहा था, उसी समय जर्मनी में लूथर धर्मसुधार आन्दोलन का सूत्रपात कर रहा था और इस आन्दोलन ने अगले दो सौ वर्ष तक योरोप की राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला। यह उसके प्रिन्स की मौलिक मान्यताओं को चुनौती देने वाला प्रबल प्रत्याख्यान था। इस विषय में सैबाइन ने सत्य ही लिखा है, "यह निश्चित है कि १६वीं शताब्दी के आरंभ में मेकियावेली ने योरोपियन विचारधारा को बिल्कुल गलत रूप में चित्रित किया। उसकी दो पुस्तकें लिखे जाने के दस वर्ष के भीतर ही मार्टिन लूथर ने विट्टनबर्ग के चर्च के द्वार पर अपने मन्तव्यों को लगा दिया और प्रोटेस्टैण्ट धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण राजनीति और राजनीतिक चिन्तन···मध्ययुग की अपेक्षा धर्म से अधिक संबद्ध हो

१. विल ड्यूरैण्ट—दी रिनैसां, पृ० ५५८।
२. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८६।

गया। अन्त में मेकियावेली की धर्म की उपेक्षा आधुनिक विचार की एक सामान्य विशेषता बन गयी, किन्तु उसके दो शताब्दी बाद तक यह स्थिति सत्य नहीं रही।"[1] उसका यह विचार इटली की सामयिक परिस्थितियों के कारण था। यदि वह किसी दूसरे देश में होता या धर्म सुधार आन्दोलन के बाद लिखता तो धर्म की ऐसी उपेक्षा न करता। अतः उसकी विचारधारा देश और काल की दृष्टि से बड़ी सीमित और संकुचित (Narrowly local and narrowly dated) थी। **तीसरा** दोष ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग है। उसने अतीत इतिहास के निष्पक्ष और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने मन्तव्य और सिद्धान्त निश्चित नहीं किये, किन्तु अपने अनुभव से कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लेने पर इतिहास में से इन्हें पुष्ट करने के लिए उदाहरण ढूंढ़े। **चौथा** दोष राजनीतिशास्त्र के मौलिक प्रश्नों की उपेक्षा का है। उसने अपने दोनों ग्रन्थों में राज्य के स्वरूप, उद्देश्य व शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक संबंधों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। वह राज्य विषयक आधारभूत प्रश्नों के संबंध में सर्वथा मौन है। उसका प्रिन्स मुख्य रूप से इस बात की चर्चा करता है कि राजा राज्य को किस प्रकार हस्तगत करे, अपनी सत्ता सुदृढ़ करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करे, किस प्रकार का आचरण रखे और अपने प्रदेश की वृद्धि और संरक्षण कैसे करे। डिस्कोर्सेज़ में गणराज्यों द्वारा प्रादेशिक विस्तार तथा संरक्षण के व इसे सुरक्षित रखने के उपायों का वर्णन है। अतः गैटिल ने यह सत्य ही लिखा है कि उसका सिद्धान्त राज्य के संरक्षण का सिद्धान्त है, न कि राज्य का प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त।[2]

मेकियावेली की देन—किन्तु उपर्युक्त गंभीर दोषों के होते हुए भी उसने राजनीतिशास्त्र को कई महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय देनें (Contributions) दी हैं। उसकी **पहली देन** धर्म और नीतिशास्त्र से राजनीति का संबंध विच्छिन्न करना था। उससे पहले धर्म न केवल राजनीति से संयुक्त था, किन्तु कई बार उस पर हावी भी हो जाता था। उसने सर्वप्रथम धर्म-निरपेक्ष (Secular) राजनीतिशास्त्र को जन्म दिया। **दूसरी देन** वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता में भेद स्थापित करना और दोहरे नैतिक मानदण्ड (Double Standard of Morality) का निर्माण करना था। वैयक्तिक रूप से अपने स्वार्थ के लिए झूठ बोलना, विश्वासघात, क्रूरता, चोरी और हत्या महापाप हैं, किन्तु राज्य के हित की दृष्टि से ये सब कार्य न्यायोचित हैं। भाई को मारना जघन्य कार्य है, किन्तु रोम के संस्थापक रोमुलस द्वारा अपने भाई की हत्या राज्य के हित की दृष्टि से की गई थी अतः वह ठीक थी। उसके सुप्रसिद्ध शब्दों में "जब कोई (जघन्य) कार्य किसी को दोषी ठहराता है तो यदि उसका परिणाम (अच्छा होता है तो यह उसे दोष से) मुक्त कर देता है···जैसे रोमुलस के उदाहरण में उसके भाई की हत्या।··· क्योंकि निन्दा तो उस व्यक्ति की की जानी चाहिए, जिसने विध्वंस के उद्देश्य से हिंसा की हो, उपकार के प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा निन्दनीय नहीं है" (डिस्कोर्सेज़ १।९)। उसके इस सिद्धान्त का यह परिणाम हुआ कि राजनीति और देशभक्ति के नाम पर सभी प्रकार के कुकर्म किये जाने में कोई दोष नहीं समझा जाने लगा। इटली का

---

१. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३९२।
२. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १४०।

एकीकरण करने वाले राजनीतिज्ञ कावूर ने कहा था, "हमने इटली के लिए जो कुछ किया है वह यदि हम अपने लिए करते तो हम बहुत बड़े धूर्त्त (Rascal) होते। उस के इस कुटिल सिद्धान्त के कारण अंग्रेजी में Machiavellianism का अर्थ ही शठता-पूर्ण नीति हो गया है। दुष्ट अपने बुरे कार्यों को छिपाने के लिए देश और राज्य के हित की आड़ लेते हैं। डॉ० जानसन ने कहा था कि बदमाशों का आखिरी सहारा देश-भक्ति होता है। यह मेकियावेली के वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता को पृथक् करने का स्वाभाविक परिणाम था।

उसकी **तीसरी देन** यथार्थवाद (Realism) की थी। गैटिल ने उसे पहला यथार्थवादी (First Realist) कहा है।[१] वह यह विश्वास करता था कि राज्य की सत्ता केवल अपने लिए ही है, इसे केवल अपने संरक्षण और संवर्द्धन के लिए सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करने का अधिकार है। इसके साथ ही उसने अपने यथार्थवाद के कारण राजनीतिक अध्ययन को नई दिशा प्रदान की। उससे पहले इसका अध्ययन बाइ-बल के वचनों तथा ईसाई धर्मगुरुओं के ग्रन्थों के आधार पर होता था।[१] यह केवल हवाई चिन्तन था। उसने इसका संबंध वास्तविक परिस्थितियों के साथ जोड़ा और इनके अध्ययन के आधार पर राजनीतिक विषयों का चिन्तन आरम्भ किया। वह अरस्तू के बाद राजनीति के सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य करने वाला पहला विचारक था। उसने इसे निरीक्षण और अनुभव के आधार पर स्थापित किया। उसकी **चौथी देन** राज्य संबंधी नवीन सिद्धान्त थे। वस्तुतः राज्य की वर्त्तमान कल्पना का जन्मदाता उसी को मानना चाहिए। सैबाइन के मतानुसार सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के रूप में राज्य शब्द का प्रयोग आधुनिक भाषाओं में उसी की रचनाओं द्वारा शुरू हुआ।[२] वह राज्य को ऐसी संगठित शक्ति मानता था, जो अपने प्रदेश में सर्वोच्च अधिकार रखती है और पड़ोसी राज्यों में प्रादेशिक विस्तार की नीति ग्रहण करती है। राज्य के प्रदेश में रहने वाले सभी व्यक्ति और संस्थायें राज्य द्वारा नियन्त्रित होती हैं। वह शासक की शक्ति को अविभाज्य और अखण्ड मानता था। इस प्रकार उसने राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) के विचार का बीजारोपण किया। बाद में बोदें (Bodin) तथा हॉब्स ने इसका विकास करके इसे राज्य का आवश्यक अंग माना। **पाँचवीं देन** मानवस्वभाव की दुष्टता का सिद्धान्त था। इसके आधार पर बाद में विचारकों ने कई महत्त्वपूर्ण परि-णाम निकाले। हॉब्स ने मेकियावेली की भाँति मनुष्य को दुष्ट मानते हुए यह कहा कि इस कारण मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में बड़ा दुःखी था, इससे मुक्ति पाने के लिए उसने एक सामाजिक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। उसकी **छठी देन** राष्ट्री-यता का सिद्धान्त था। वह इटली के विभिन्न राज्यों का एकीकरण फ्रांस और स्पेन की भाँति एक शक्तिशाली राजा के नेतृत्व में करना चाहता था। उसका कहना था, "एक राष्ट्र तब तक कभी संयुक्त और सुखी नहीं हो सकता, जब तक कि यह एक शासन को न माने, भले ही यह शासन राजतन्त्र का हो यह गणतन्त्र का।...इटली में इस

---

१. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४०।
२. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३०१।

स्थिति के न होने का कारण चर्च है।"[1]

अपने उपर्युक्त विचारों के कारण मेकियावेली को पहला आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक कहा जाता है।[2] इसमें कोई संदेह नहीं कि वह राष्ट्रीय, सर्वशक्तिमान् और धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना करने वाला पहला विचारक था।

मैकियावेली का प्रभाव और महत्व—पोप सन्त पायस पंचम (१५६६–७२) ने १५५७ ई० में ईसाइयों के अध्ययन के लिए निषिद्ध पुस्तकों की सूची में सर्वोच्च स्थान मेकियावेली की कृतियों को दिया था। किन्तु इससे इनकी लोकप्रियता और प्रभाव में कोई कमी नहीं हुई। मध्यकालीन राजा और राजनीतिज्ञ इन्हें बड़े चाव से पढ़ते और इसके अनुसार आचरण करते रहे। प्रिंस चार्ल्स पंचम, फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय (१५७४–८९ ई०) तथा हेनरी चतुर्थ (१५८९–१६१० ई०) की यह प्रिय पुस्तक थी। फ्रेंच राजनीतिज्ञ रिशेलू (१५८५–१६४२ ई०) इसका प्रशंसक था, आरेन्ज का विलियम इसे अपने सिरहाने रखा करता था। प्रशिया के फ्रेडरिक महान् ने पहले तो इसके खण्डन में Anti-Machiavel नामक ग्रन्थ लिखा और शासन-सत्ता हस्तगत करने पर उसके विस्तार के लिए उन सभी उपायों का अवलम्बन किया, जो प्रिन्स में दिये गये थे। मुसोलिनी ने प्रिन्स को अपनी शोध का विषय चुना था। हिटलर ने इस पर क्रियात्मक आचरण किया। १९वीं शताब्दी तक योरोप में राज्य विस्तार के लिए प्रिन्स में वर्णित साधनों का खूब प्रयोग होता रहा।

मेकियावेली की उसके अनैतिक सिद्धान्तों के कारण बड़ी कटु आलोचना होती रही है। उसे धूर्त्तता और शठता का प्रतीक माना जाता रहा है। मैकाले ने लिखा है कि इतिहास में मेकियावेली से अधिक बदनाम कोई व्यक्ति नहीं है, उसका वर्णन शैतान के रूप में किया जाता है, उसे महत्वाकांक्षा, प्रतिशोध, धूर्त्तता और धोखाधड़ी का आविष्कारक और प्रचारक समझा जाता है। एक लेखक ने बड़ी गम्भीरता से यह विश्वास दिलाया है कि जर्मनी में सैक्सनी के एक शासक मारिस ने धोखाधड़ी के अपने सभी उपाय मेकियावेली की 'प्रिन्स' नामक पुस्तक से सीखे थे। एक दूसरे लेखक का यह मत है कि इस ग्रन्थ के तुर्की भाषा में अनुवाद हो जाने के बाद ही तुर्की के खलीफा अपने भाइयों के खून के प्यासे होने लगे हैं।···कुछ लेखकों का विचार है कि "इंगलैण्ड के राजा जेम्ज़ प्रथम की हत्या के लिये बारूद्ध के षड्यन्त्र की योजना (Gunpowder plot) प्रधान रूप से उसके सिद्धान्तों का परिणाम थी।···इंगलिश भाषा में उसका उपनाम मेकियावेली धूर्त्त का तथा उसका अपना नाम निकोलो शैतान का पर्याय बन गया है।" मर्रे ने लिखा है, 'उसने वस्तुओं को उस रूप में नहीं देखा, जिस रूप में उन्हें होना चाहिए, किन्तु उसने उन्हें यथार्थ रूप में देखा'। प्रो० जास्ज़ी (Jaszi) ने लिखा है कि उससे पहले कुछ राजा राजनीतिक अपराध करते थे, उसने इनका उत्साहपूर्ण समर्थन करते हुए इन्हें इतना गौरवपूर्ण बनाया और ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण किया कि इससे विश्व के अधिकांश भागों में लोकमत दूषित होने लगा और इसने राजनीतिक

---

१. विल ड्यूरैण्ट—दी रिनैसां, पृ० ५६०।
२. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३२०।

वातावरण को विषैला बना दिया"।[1] क्या वस्तुतः मेकियावेली को राजनीतिक हत्याओं और भ्रष्टाचार का दोषी ठहराया जा सकता है ?

मेकियावेली ने स्वयमेव इस आरोप का उत्तर देते हुए कहा था कि 'कोई व्यक्ति पुस्तक पढ़कर अनैतिक बन गया हो, यह मैंने कभी नहीं सुना'। उसने अपनी पुस्तक में वही बातें लिखी हैं, जो राजा अक्सर किया करते थे, किन्तु जिन पर पर्दा पड़ा रहता था। उसका बड़ा दोष यही है कि उसने उन कुकृत्यों को खोल कर रख दिया, जिन्हें राजा छिप कर किया करते थे। उसकी बड़ी विशेषता तत्कालीन राजनीतिक जीवन का यथार्थवादी दृष्टिकोण से सूक्ष्म विश्लेषण करना मात्र था। वह नैतिक पतन का कारण नहीं है, यह तो पहले से ही हो चुका था, वह केवल उसका नग्न चित्रण करने वाला है। मैक्सी ने इस विषय में सत्य ही लिखा है, "उसने राजनीति की नैतिकता को भ्रष्ट नहीं किया, वह तो सदियों पहले हो चुकी थी। किन्तु उसने प्रशंसनीय तथा निर्मम स्पष्टवादिता के साथ ऊँचे पदों में पाये जाने वाले पवित्र कपटों के दम्भपूर्ण ढोंग का पर्दाफाश किया। उसे इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वह सच्चा उत्साही देशभक्त था तथा आधुनिक राष्ट्रीयता का एक अग्रदूत था।"[2]

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० १३८।

२. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १३६।

तेरहवाँ अध्याय

धर्मसुधार आन्दोलन के राजनीतिक सिद्धान्त

धर्मसुधार आन्दोलन का स्वरूप—भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना से नौ वर्ष पहले ३१ अक्तूबर, १५१७ को एक जर्मन भिक्षु मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६ ई०) ने सैक्सनी राज्य के विट्टनबर्ग नगर के चर्च के आंगन के दरवाजे पर तत्कालीन ईसाइयत के और पोप के सिद्धान्तों से मतभेद रखनेवाले अपने ९५ मन्तव्य (Theses) कील से टांग कर प्रोटेस्टेण्ट धर्मसुधार आन्दोलन (Protestant Reformation) का सूत्रपात किया। लूथर का उद्देश्य रोमन कैथोलिक चर्च की बुराइयों का संशोधन करना था। उससे पहले इस उद्देश्य से अनेक आन्दोलन और सुधारक हो चुके थे। क्लनी के भिक्षुओं, विक्लिफ (१३२०–१३८४ ई०) और जॉन हस (१३६९–१४१५ ई०) ने ऐसे प्रयत्न किये थे। १५वीं शताब्दी में कांसिलियर आन्दोलन (ऊपर पृ० ३३७) ने इस प्रकार का प्रयास किया था। किन्तु इन सब आन्दोलनों की अपेक्षा लूथर के आन्दोलन को कई राजनीतिक और आर्थिक कारणों से अधिक सफलता मिली।

उसकी सफलता का सबसे बड़ा कारण उत्तरी जर्मनी के विभिन्न राजाओं द्वारा उसको दिया गया प्रबल सहयोग था। यदि उसे यह सहयोग न मिलता तो शायद उसे भी जॉन हस की भाँति रोमन चर्च द्वारा चिता पर जला दिया जाता। वह केवल सैक्सनी जैसे उत्तरी जर्मनी के राजाओं के प्रबल संरक्षण तथा जनता के समर्थन के कारण पोप का आजीवन सफल प्रतिरोध कर सका। जनता चर्च के तत्कालीन भ्रष्टाचार तथा विभिन्न प्रकार के टैक्सों की वसूली से खिन्न होने के कारण लूथर के साथ थी। किन्तु जर्मन राजा किसी धार्मिक भावना से नहीं किन्तु स्वार्थपूर्ण भौतिक और आर्थिक उद्देश्यों से लूथर के साथ थे। राजाओं को इसमें कई बड़े लाभ थे। **पहला** लाभ जर्मनी में रोमन चर्च की विशाल सम्पत्ति थी।[1] उस समय तक इस पर पोप का अधिकार था। अब उसका सफल प्रतिरोध करके राजा कैथोलिक चर्च की अमित सम्पत्ति पर स्वामित्व पा सकते थे। **दूसरा** लाभ जर्मनी के पवित्र रोमन सम्राट् के विरुद्ध अपनी शक्ति बढ़ाना था। **तीसरा** लाभ अपने देश से चर्च के विभिन्न प्रकार के टैक्सों द्वारा रोम को जाने वाले विशाल धनप्रवाह को रोकना, इसे अपने ही देश में रखते हुए उससे अपना कोश समृद्ध करना था। इसने इस संघर्ष को राष्ट्रीय रूप भी प्रदान किया। यह समझा जाता था कि श्रद्धालु धर्मप्राण जर्मनों से उनकी गाढ़े पसीने की कमाई का रुपया इकट्ठा करके उसे इटालियनों के भोग-विलास पर व्यय किया जाता है। इटली

१. १५२२ ई० की न्यूरैम्बर्ग की डायट ने यह कहा था कि जर्मनी की समूची सम्पत्ति के आधे भाग पर चर्च का स्वामित्व था (विल ड्यूरैण्ट—दी रिफार्मेशन, पृ० १७)।

के लिए जर्मनी का शोषण किया जाता है। लूथर ने अपनी एक अपील में लिखा था—'इस भूतल पर अब तक हुए या भविष्य में होने वाले चोरों और लुटेरों में रोम सब से बड़ा है। हम गरीब जर्मन ठगे जा रहे हैं, हम शासक बनने के लिए उत्पन्न हुए थे; किन्तु हमें बाधित किया जा रहा है कि हम अपने अत्याचारियों के जुए के नीचे अपना सिर झुकायें। अब समय आ गया है कि गौरवपूर्ण ट्यूटानिक (जर्मन) जाति रोम के पोप की कठपुतली बना रहना बन्द करदे।''[1]

इससे यह स्पष्ट है कि धर्मसुधार आन्दोलन मूलत: धार्मिक होने पर भी शीघ्र ही टच्यूटानिक और लैटिन जातियों का राजनीतिक संघर्ष बन गया। यह कोरा धार्मिक आन्दोलन नहीं रहा, इसने अनेक जटिल राजनीतिक प्रश्न उत्पन्न करके इन समस्याओं पर राजनीतिक चिन्तन में सहयोग प्रदान किया। अतः मैक्सी के मत में यद्यपि "इस आन्दोलन ने प्रथम कोटि के राजनीतिक विचारक उत्पन्न नहीं किये, किन्तु इसने ऐसे घटनाचक्र को और ऐसे विचारों को जन्म दिया, जिन्होंने आनेवाली पीढ़ियों के राजनीतिक विचारों का निर्माण किया। यह विद्रोह धार्मिक एवं राजनीतिक था।''[2] इससे उत्पन्न हुए राजनीतिक सिद्धान्तों ने इसके धार्मिक विचारों की अपेक्षा योरोप के जीवन पर अधिक गहरा प्रभाव डाला। इसके प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त निम्नलिखित थे।

धर्मसुधार आन्दोलन के परिणाम, इसके प्रमुख राजनीतिक विचार – राजा की दैवी सत्ता —धर्मसुधार से उत्पन्न परिस्थितियों ने जिन राजनीतिक विचारों का पोषण किया, उनमें **पहला** और बड़ा विचार राजा की निरंकुश और दैवी सत्ता का समर्थन था। इसका **पहला कारण** यह था कि धर्मसुधारक इस समय पोप की सत्ता को चुनौती दे रहे थे। पोप का यह दावा था कि उसे अपने अधिकार भगवान् से मिले हुए हैं और यदि कोई राजा उसके किसी आदेश की अवहेलना करता है तो उसे राजा को दण्ड देने का, चर्च से बहिष्कृत करने और उसकी प्रजा को उसके प्रति भक्ति की शपथ से मुक्त करने का तथा राजा के विरुद्ध विद्रोह करवाने का अधिकार है। पोप के इन अधिकारों का निराकरण एवं प्रतिवाद करने के लिए धर्मसुधारकों ने राजाओं के अधिकारों का समर्थन करते हुए उनकी स्थिति को ऊँचा उठाना शुरू किया और यह कहा कि राजा अपने क्षेत्र में पूरी प्रभुसत्ता रखते हैं और उनको यह शक्ति भगवान् से प्राप्त होती है। अपने संरक्षक प्रोटेस्टेण्ट राजाओं का सैद्धान्तिक समर्थन करना सुधारकों के लिए सर्वथा स्वाभाविक था। इस सिद्धान्त के आधार पर उनका यह मत था कि यदि राजा भगवान् से प्राप्त होने वाले अधिकार के कारण प्रजा पर शासन करता है तो वह अपनी प्रजा से सर्वथा स्वतन्त्र है। भगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते राजा का यही कर्त्तव्य है कि वह आँख मूंद कर उसके आदेशों का पालन करे। उसे राजा की किसी बात पर ननु-नच करने तथा आज्ञा की अवज्ञा करने का कोई अधिकार नहीं है। राजा के विरुद्ध विद्रोह राजनीतिक अपराध ही नहीं, किन्तु भगवान् की इच्छा के प्रतिकूल कार्य होने से महान् पाप भी है। पहले पोप की सत्ता में संदेह करना अधर्म था, अब राजा के आदेश का विरोध पाप माना जाने लगा।

---

१. हेनरी बेटेन्सन—डाकुमैण्टस् ऑफ क्रिश्चियन चर्च (न्यूयार्क १९४७), पृ० २७८-९।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० १५४।

इस विचार को पुष्ट करने वाला **दूसरा कारण** तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं। लूथर कृत बाइबल के जर्मन अनुवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हुए जर्मनी में कृषकों ने विद्रोह किया (१५२४-२५ ई०), उनके नेता अपने विद्रोह का समर्थन बाइबल के प्रमाणों के आधार पर करने लगे। इस विद्रोह से राजाओं को बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया। इस समय लूथर ने राजाओं के पक्ष का समर्थन करते हुए यह घोषणा की कि राजा की आज्ञा का प्रतिरोध करना महापाप है। "राजा इस संसार के देवता हैं और साधारण जनता शैतान है।" भगवान् कई बार जनता से शैतान द्वारा किये जाने वाले कार्य कराता है। जनता के पापों का दण्ड देने के लिये वह उनसे विद्रोह कराता है।[1] इस समय ईसाइयत की मूल शिक्षाओं पर बल देने वाले एनाबैप्टिस्ट जैसे कुछ क्रान्तिकारी आन्दोलन भी चले। इनसे राजा और उसके प्रधान समर्थक – शहरों में रहने वाले व्यापारी मध्यमवर्ग को भीषण भय उत्पन्न हो गया। इस संघर्ष में लूथर, कैल्विन आदि धर्मसुधारकों ने शासन-सत्ता का समर्थन किया तथा इन्हें क्रूरतापूर्वक दमन करने वालों को अपना आशीर्वाद दिया।[2]

दूसरा विचार धर्मसत्ता को राजसत्ता का वशवर्ती बनाना था। इस आन्दोलन से पहले धार्मिक विवादों का अन्तिम निर्णायक पोप को समझा जाता था। अब इन प्रश्नों में सुधारकों द्वारा व्यक्ति के अपने निर्णय (Individual Judgment) को बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। इससे विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त रखने वाले सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, इनमें आपस में बड़ा विद्वेष और वैमनस्य था। इनमें शान्ति स्थापित रखने और धार्मिक विषयों में यथार्थ सिद्धान्तों को तय करने का अधिकार राजा का समझा जाने लगा।

तीसरा विचार राष्ट्रीयता का था। पहले बताया जा चुका है कि लूथर का विद्रोह इटालियन प्रभुता और शोषण के विरुद्ध समूची जर्मन जनता का प्रबल प्रतिवाद था। यही स्थिति इंगलैण्ड में तथा अन्य देशों में थी। सर्वत्र पोप का विरोध राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया। इन देशों में राजा के आधीन राष्ट्रीय चर्च स्थापित किये गये। इससे राष्ट्रीयता की भावना को बहुत बल मिला।

चौथा विचार वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के विकास का था। यद्यपि आरम्भ में धर्मसुधारकों ने राजा की निरंकुश दैवी सत्ता का समर्थन किया, किन्तु अन्ततोगत्वा इस आन्दोलन ने प्रजातन्त्र के विचारों को पुष्ट किया। गैटिल ने लिखा है कि धर्म सुधार का तात्कालिक प्रभाव तो राजा की सत्ता को दृढ़ करना था किन्तु चरम परिणाम वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के विचार को बढ़ाना था।"[3] उसके मतानुसार इसका मूल कारण इस समय ईसाइयत के तथा ट्यूटानिक भावना के व्यष्टिवाद का पुनरुज्जीवन था। लूथर तथा अन्य सभी सुधारक इस बात पर बहुत बल देते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को बाइबल पढ़ने का तथा अपने अन्तःकरण के विचारों के अनुसार धार्मिक मन्तव्य निश्चित करने का अधिकार है। इस विषय में सब व्यक्ति समान

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३०९।
२. वही—पृ० ३०६।
३. गैटिल—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १४७।

अधिकार रखते हैं। वे पोप के प्रमाणवाद के स्थान पर अन्तःकरण की स्वाधीनता (Freedom of conscience) पर बहुत बल देते थे। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष पाने का अधिकार था। वे पुनर्जागरण आन्दोलन के मानववादियों (Humanists) का कार्य आगे बढ़ाने वाले थे। मध्यकाल में प्रचलित प्रवृत्ति के अनुसार सामूहिक जीवन को महत्त्व देते हुए मनुष्य को समूह का अंग समझा जाता था। मानववादियों ने इसे व्यक्ति के रूप में देखना शुरू किया तथा यह माना कि प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक जीवन के विचारों और सिद्धान्तों से बँधा हुआ नहीं है। उसे अपने विचारों के चिन्तन का तथा विभिन्न विषयों में स्वतन्त्र निर्णय का पूरा अधिकार है। धर्मसुधारकों ने इस मत का अनुसरण करते हुए अपने स्वतन्त्र धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किये थे, वे यद्यपि अपने से मतभेद रखने वाले अन्य सम्प्रदायों के दमन के पक्ष में थे, किन्तु उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्त का कभी परित्याग नहीं किया और इस दृष्टि से उन्होंने पुनर्जागरण आन्दोलन के नेता और मानववाद के प्रबल पोषक इरेस्मस (Erasmus) का अनुसरण किया। प्रायः यह कहा जाता था कि "धर्मसुधार का जन्मदाता अर्थात् अंडा देने वाला तो इरैस्मस था, पर उसे सेने वाला लूथर था।"

राजाओं की निरंकुश सत्ता का प्रतिरोध करने वाले लोकतन्त्र के विचारों के विकास का कुछ श्रेय धर्मसुधार आन्दोलन को है। आरम्भ में धर्मसुधारक उन्हें संरक्षण प्रदान करनेवाली राजा की सत्ता के प्रबल पोषक रहे। इस कारण योरोप के विभिन्न राष्ट्रों में निरंकुश राजतन्त्रों का प्राधान्य हो गया। इन्होंने शक्ति के मद में धर्म और राज्यविस्तार के लिये युद्ध आरम्भ किये। इन युद्धों में निरंकुश राजाओं द्वारा भीषण अत्याचार हुए। इनके कारण राजाओं के स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन के विरुद्ध आवाज उठाई जाने लगी। कैल्विन ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सामान्य रूप से प्रजा को राजा के आदेश का पालन करना चाहिए। किन्तु ये आदेश ईश्वर की आज्ञाओं के अनुकूल होने चाहिएँ। "यदि वे भगवान् के विरुद्ध कोई आज्ञा देते हैं तो हमें इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए।"[१]

राजसत्ता विरोधी सिद्धान्त — १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राजाओं की निरंकुश सत्ता का विरोध करने वाला प्रचुर साहित्य प्रकाशित होने लगता है। यद्यपि तत्कालीन राजनीति पर इसका कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु राजनीतिक विचारों की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। १५७३ ई० एक फ्रेंच विधिशास्त्री फ्रैन्सिस हार्टमैन ने Franco-Gallia नामक ग्रन्थ में ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि फ्रांस ने राजतन्त्र के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया। यहाँ जनता अत्यन्त प्राचीन काल से राजाओं को निर्वाचित और पदच्युत करती रही है। राज्य के मौलिक कानूनों का निर्माण तथा अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य भी जनता द्वारा सम्पन्न होते रहे हैं। १५७९ ई० में 'निरंकुश शासकों के विरुद्ध स्वतन्त्रता को न्यायसंगत सिद्ध करना' (Vindiciae contra tyrannos) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसके लेखक का प्रश्न

---

१. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० १५७।

अभी तक विवादग्रस्त है,[1] किन्तु यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि यह इस विषय के क्रान्तिकारी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। इंगलैण्ड में तथा अन्य देशों में जब कभी राजा और प्रजा में संघर्ष छिड़ता था तो इस ग्रन्थ का बार-बार मुद्रण होता था। इसमें यह सिद्ध किया गया था कि जब शासक का आदेश ईश्वर के नियम के प्रतिकूल हो तो प्रजा उसका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। इसके लेखक का यह विचार था कि राजा का शासन करने का अधिकार प्रजा के साथ एक समझौते पर आश्रित है। यह ओल्ड टैस्टामैण्ट में दिये गये राजाओं के विवरण से प्रमाणित होता है। सर्वोच्च प्रभुसत्ता भगवान् ने जनता को प्रदान की है। यह सत्ता जनता में निहित है और जनता को यह अधिकार है कि वह ईश्वरीय आदेशों के प्रतिकूल शासन करने वाले राजा के विरुद्ध विद्रोह करे।

स्काटलैण्ड में प्रोटेस्टैण्ट धर्मसुधार आन्दोलन के प्रबल पोषक जॉन नॉक्स (१५०५–१५७२ ई०) के शिष्य जार्ज बुकानन ने १५५९ में प्रकाशित 'स्काट लोगों में सर्वोच्च सत्ता' (On Sovereign Power Among the Scots) नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया कि राजनीतिक समाज का प्रादुर्भाव मनुष्य को प्राकृतिक दशा (State of Nature) के दुःखों से बचने के लिए होता है। भगवान् मनुष्य के जीवन को उत्तम और सुखी बनाने के लिए राजनीतिक संगठन बनाने की प्रेरणा प्रदान करता है। अतः राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार शासन करे कि प्रजा का भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण हो। उसने यह भी सिद्ध किया कि राजा को शासन करने का अधिकार जनता के साथ किये गये एक समझौते से प्राप्त होता है। जनता को अपने प्रतिनिधियों की परिषद् के माध्यम से राजा की सत्ता कानूनों द्वारा सीमित करनी चाहिए और न्यायाधीशों द्वारा कानूनों की समुचित व्याख्या की जानी चाहिए। जनता अत्याचारी शासकों के विरोध और वध करने का अधिकार रखती है।

एक स्पेनिश जेसुइट ह्वान डि मार्याना (Mariana) ने स्पेन के राजा फिलिप को समर्पित की गयी तथा १५९९ ई० में लिखी गई **'राजत्व और राजा की शिक्षा'** (On Kingship) नामक पुस्तक में यह बताया कि राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक दशा से होती है। सबसे पहले राजतन्त्र की शासन-प्रणाली विकसित होती है। आरम्भ में इस पर कानून का कोई नियन्त्रण नहीं होता, किन्तु राजनीतिक जीवन के विकास के साथ कुछ नियन्त्रण आवश्यक हो जाते हैं। राजतन्त्र प्रायः अपने दूषित रूप तानाशाही में बदल जाता है। ऐसा होने पर प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार है, क्योंकि उसे शासन-सत्ता देने वाली जनता ही है।

एम्डन नगर निवासी जर्मन विद्वान् जोहान्नेस एल्थुसियस (Althusius) ने १६१० ई० में 'व्यवस्थित राजनीतिक शास्त्र' (Systematic Politics) नामक पुस्तक में राज्य की उत्पत्ति समाज के सदस्यों के पारस्परिक समझौते द्वारा मानते हुए इसका

---

१. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३२२। इस पर स्टीफेन जूनियस ब्रूटस नामक छद्मलेखक का नाम छापा गया था। इसके असली लेखक के सम्बन्ध में १६वीं शताब्दी से विवाद चल रहा है। पहले इसे ह्यूबर्ट लैंग्वेट (Languet) समझा जाता था, बाद में यह श्रेय फिलिप दु प्लेसिस मोर्निस को दिया जाने लगा। बार्कर ने लैंग्वेट वाले पक्ष का समर्थन किया है।

उद्देश्य समाज में कानून की स्थापना करना निश्चित किया। उसने प्रभुसत्ता का लक्षण करते हुए कहा कि यह राज्य के सदस्यों के आध्यात्मिक तथा भौतिक कल्याण के लिए कोई भी कार्य कर सकने का अधिकार है। यह अधिकार समूची जनता में निहित है।

इससे यह स्पष्ट है कि १६वीं शताब्दी के धर्मसुधार आन्दोलन के समय लोकतन्त्र की प्रवृत्तियों को पुष्ट करने वाले अनेक विचारक उत्पन्न हुए। इन्होंने प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, क्रान्ति या विद्रोह का अधिकार, जनता की प्रभुशक्ति तथा प्रतिनिधि शासन के विचारों को प्रतिपादित किया। किन्तु उस समय निरंकुश राजतन्त्रों का युग था। इन विचारों का तात्कालिक प्रभाव बहुत कम पड़ा। किन्तु ये खमीर की तरह समूचे राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करते रहे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि धर्मसुधार आन्दोलन में दो प्रकार की विरोधी विचारधारायें पायी जाती हैं। इसमें इन दोनों के बीज निहित है। पहली विचारधारा निरंकुश राजसत्ता के समर्थन की है, इसके अनुसार प्रजा को राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं है; राजा देवता है, उसका विरोध महापाप है। दूसरी ओर प्रजातन्त्र की विचारधारा है। इसके अनुसार प्रजा को अत्याचारी शासकों के प्रतिरोध का पूर्ण अधिकार है।

योरोप के धर्मसुधार आन्दोलन को राजनीतिक विचारों की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जाता है: (१) १५१७–१५३० ई० का काल — इस समय इसका नेता लूथर था और प्रमुख राजनीतिक विचार निरंकुश राजसत्ता और राष्ट्रीय राज्य के थे। चर्च और इसके अधिकारी पूर्णरूप से राज्य के वशवर्ती माने गये। लूथर का मुख्य उद्देश्य धार्मिक सुधार था। उसके राजनीतिक विचार तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न हुए थे। (२) दूसरा काल १५३०–१५६४ ई० तक का था। इसका नेता कैल्विन था। इसके सिद्धान्त लूथर की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत हैं। उसने अधिक विस्तार और स्पष्टता के साथ राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। (३) तीसरा काल १५६४ से १६१८ ई० तक का है। इसमें विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों की तुलना पर अधिक ध्यान दिया गया और निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाले लोकतन्त्रीय विचारों का विकास हुआ। धर्मसुधार करने वाले विचारकों के विचार निम्नलिखित हैं—

मार्टिन लूथर (१४८३–१५८६ ई०) — जर्मनी में सुधार आन्दोलन के प्रवर्त्तक लूथर ने एक कृषक परिवार में जन्म लिया। विश्वविद्यालय की उच्च एवं कानून की शिक्षा पाने के बाद वह विट्टनवर्ग के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का अध्यापक हो गया। बचपन से वह धार्मिक प्रवृत्ति का था। १५०५ ई० में एक तूफान में फँस जाने पर उसने सन्त एन से रक्षा की प्रार्थना की और इसके बाद वह आगस्टाइन सम्प्रदाय का साधु बन गया। उसे सदैव यह चिन्ता व्यथित करती थी कि उसकी मुक्ति किस प्रकार होगी। इस विषय में प्रकाश पाने के लिए जब उसने रोम की तीर्थ-यात्रा की (१५१०-११ ई०) तो उसे वहाँ नैतिक पतन का घनान्धकार ही मिला[1] और उसे यह

---

१. रोमन चर्च की कुछ प्रधान बुराइयों के उल्लेख से उस समय के नैतिक पतन का कुछ अनुमान हो सकता है। पहली बुराई चर्च का धर्म के स्थान पर धन की उपासना में रत होना

विश्वास हो गया कि पोप ईसा विरोधी सिद्धान्तों का अवतार (Anti Christ) है, रोमन चर्च की बुराइयों का संशोधन होना चाहिए। रोम में सैण्ट पीटर के नये गिरजाघर

मार्टिन लूथर

था। पोपों का उद्देश्य अधिक से अधिक धन बटोरना और भोग-विलास में मस्त रहना था। १४३० ई० में रोम में आये एक जर्मन राजदूत ने लिखा था, "रोम के दरबार में लोभ का साम्राज्य है।...जर्मनी से धन वसूल करने के लिए नये-नये उपाय खोजे जा रहे हैं। (विल

के निर्माण के लिए अपेक्षित धनराशि बटोरने के लिए पोप के प्रतिनिधि टैटज़ेल ने जब उसके शहर में आकर पापमुक्ति-पत्र (Indulgences) बेचने शुरू किये तो लूथर ने इस पाखण्ड का विरोध करने के लिए तथा इन्हें बेचने में बरते जाने वाले साधनों की आलोचना करते हुए अपने ९५ मंतव्य विट्टनबर्ग के चर्च के दरवाजे पर

ड्यूरेण्ट—दी रिफार्मेशन, पृ० ११)। पोप पायस द्वितीय का यह मत था कि हमारे दरबार का भोग-विलास तथा शानशौकत इतनी अधिक है कि लोग हमसे घृणा करने लगे हैं। पोपों के वैभव की यह दशा थी कि पाल द्वितीय (१४६६–७१ ई०) ने पोप के जिस बहुमूल्य मणिजटित मुकुट (Papal Tiara) को धारण किया था, उसका मूल्य एक राजमहल से भी अधिक था। पोपों की धनलोलुपता की यह दशा थी कि रोम में किसी भी पाप से मुक्ति धन द्वारा पायी जा सकती थी और कोई भी वस्तु बिना धन के नहीं मिलती थी। प्रसिद्ध ईसाई भिक्षु सावोनेरोला (१४५२–९८) ने कहा था कि रोम 'वेश्या' के समान धन के लिए अपनी सब कृपाओं का विक्रय करने के लिए तैयार है। पोप धन कमाने के लिए नये पदों की सृष्टि करते थे और इन पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों से घूँस के रूप में भारी धनराशि लिया करते थे। एलेक्जेण्डर षष्ठ (१४९२–१५०३ ई०) ने ८० नये पद बनाये और प्रत्येक पदाधिकारी से ७६१ ड्यूकट (=१९ हजार डालर=९५ हजार रुपये) वसूल किये (विल ड्यूरेण्ट—वही, पृ० १९)।

पादरियों के नैतिक आचार का स्तर भी बहुत गिरा हुआ था। वे अपना समय धार्मिक उपासना में नहीं, किन्तु स्वादिष्ट भोजन, मद्यपान और अश्लील बातों की चर्चा में बिताते थे। १५०३ ई० में पोप के एक प्रतिनिधि Guy Jouenneux ने फ्रांस के बेनेडेक्टाइन सम्प्रदाय के भिक्षुओं के मठ देखने के बाद लिखा था कि अनेक भिक्षु जुआ खेलते हैं,…भटियारखानों का चक्कर काटते हैं, तलवार धारण करते हैं, पैसा बटोरते हैं और दुराचार करते हैं। इरैस्मस का कहना था कि स्त्रियों और पुरुषों के बहुत-से ईसाई मठों (Convents) तथा सार्वजनिक वेश्यालयों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। ईसाई पादरियों के लिए ब्रह्मचर्य का बन्धन आवश्यक रूप से लागू कर देने पर चर्च में नैतिक पतन पराकाष्ठा तक पहुँच गया, इसने कुछ चर्चों को चकलों में परिणत कर दिया। पोप लिओ दशम ने १५१६ ई० में फ्रांस के भिक्षुओं के बारे में लिखा था कि उनका अनैतिक जीवन इस हद तक पहुँच गया है कि वहाँ राजा और श्रद्धालु धार्मिक व्यक्ति उनका कोई सम्मान नहीं करते। कई बार पादरी स्त्रियों से पाप स्वीकार कराते समय उनके साथ अनैतिक आचरण करते थे। हजारों पुरोहित रखैल स्त्रियाँ रखते थे। १ लाख की आबादी के रोम में रखैलों के अतिरिक्त ६००० वेश्यायें थीं। १५०० ई० में पोमीनेरिया (जर्मनी) में पादरियों के लिए रखैल रखना (Concubinage) बुरी नहीं, किन्तु अच्छी प्रथा समझी जाती थी, क्योंकि इससे लोगों की बहू-बेटियों का सतीत्व सुरक्षित रहता था (विल ड्यूरेण्ट—वही, पृ० २०–२२)।

चर्च की एक बड़ी बुराई धन बटोरने के लिए पापमुक्ति-पत्रों (Indulgences) का बेचना था। लूथर ने इसके विरोध के द्वारा ही धर्मसुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया था। इसका विकास बड़ा मनोरंजक है। ईसाइयत के सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्यों को अपने पापों के लिए रौरव नरक की ज्वालाओं में जलना पड़ता है और स्वर्ग में प्रवेश से पहले Purgatory में शुद्ध होना पड़ता है। नरक के भीषण दण्ड से बचने का यह उपाय है कि पापी अपने पापों को स्वीकार कर ले और इसके लिये आवश्यक प्रायश्चित करे। किन्तु प्रायश्चित करना कठिन कार्य है, यदि कोई दूसरा व्यक्ति किसी को अपने पुण्य दे दे तो प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं रहती। उस समय यह समझा जाता था कि ईसा का प्रतिनिधि होने से चर्च के पास ईसा के पुण्यों की तथा अन्य

लगा दिये, सार्वजनिक रूप से इनका विरोध करते हुए पोप से चर्च की परिषद् बुलाने का अनुरोध किया तथा जुलाई १५१६ ई० में पोप के प्रतिनिधि धर्मशास्त्री जोहन्न एक (Johanne Eck) के साथ शास्त्रार्थ में न केवल पापमुक्ति-पत्रों का खण्डन किया, किन्तु पोप की सर्वोच्च सत्ता का निराकरण किया। इस विषय में अनेक ओजस्वी लेख लिखे। इस पर पोप लिओ दशम ने उसे चर्च से बहिष्कृत करने की आज्ञा (Bull) निकाली (१५ जून १५२० ई०)। लूथर ने सार्वजनिक रूप से इस आज्ञा-पत्र की होली जलायी। इस पर पोप ने पवित्र रोमन सम्राट् चार्ल्स पंचम से उसे दण्ड देने को कहा। १५२० में सम्राट् द्वारा वार्म्ज शहर में बुलायी गई जर्मन परिषद् (Diet of Worms) ने उसके विरुद्ध एक आज्ञा (Edict) निकाली, उसकी पुस्तकों को जलाने तथा उसे कोई संरक्षण न देने का आदेश दिया गया। किन्तु इस समय तक लूथर को जर्मन जनता और राजाओं का समर्थन मिल चुका था। सैक्सनी का राजा फ्रेडरिक उसका मित्र था। उसने उसे शरण दी, दो वर्ष वार्टबुर्ग के किले में छिपाकर उसकी रक्षा की। इस समय लूथर ने बाइबल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। कुछ समय बाद वह पुनः विट्टनबर्ग लौट आया और मृत्युपर्यन्त अपने सिद्धान्तों के प्रचार और चर्च के संगठन में लगा रहा।

उसके प्रमुख राजनीतिक विचार ये थे : (१) **पोप की सत्ता का विरोध**—उसने 'जर्मन राष्ट्र के ईसाई कुलीन वर्ग' के नाम लिखी अपनी अपील में इस बात पर बहुत बल दिया है कि पोप का रोम के चर्च से बाहर के प्रदेशों पर कोई अधिकार नहीं है, जर्मनी में अथवा अन्य देशों में चर्च की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार वहाँ के राजाओं का है। चर्च के कर्मचारियों को सब मामलों में अपने देश के राजा के आधीन रहना चाहिए। विक्लिफ और दांते की भाँति उसने राजकीय शक्ति को धार्मिक शक्ति के ऊपर तथा उसका नियन्त्रण करने वाला माना। उसने चर्च के अधिकारियों द्वारा शासन का विरोध करते हुए उनके धार्मिक कानून (Canon Law) को सांसारिक सत्ता, शक्ति और सम्पत्ति हस्तगत करने का धर्मशास्त्रविरोधी साधन बताया।

ईसाई सन्तों द्वारा उपार्जित पुण्यों की अमित राशि संचित है। पोप को यह अधिकार है कि वह इस राशि में से थोड़े-से पुण्य देकर किसी भी व्यक्ति को प्रायश्चित करने से मुक्त कर सके। पहले पोप यह मुक्ति धर्म-युद्ध (क्रूसेड) में सम्मिलित होने वालों, सड़क, पुल, हस्पताल आदि उपयोगी कार्य करने वाले व्यक्तियों को ही दिया करता था। बाद में ये मुक्ति-पत्र धन द्वारा भी खरीदे जाने लगे। पोप अपने पास पुण्यों के संचित कोश के आधार पर निश्चित धन राशि देने पर पापी को स्वर्ग के नाम एक हुण्डी काट दिया करता था जिसे स्वर्ग का प्रहरी सैंट पीटर सकार लेता था। पोप के लिए पैसा बटोरने की दृष्टि से सभी प्रकार से इन मुक्ति-पत्रों को बेचा जाने लगा। १४५० ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के चान्सलर Thomas Gascoigne ने यह शिकायत की कि पोप के व्यक्ति शराब पीने तथा वेश्यागामी होने के लिए इन मुक्ति-पत्रों को बेच देते हैं (विल ड्यूरेण्ट—दी रिफार्मेशन, पृ० २२-२३)। कहा जाता है कि एक बार मुक्ति-पत्रों की बिक्री से प्राप्त धनराशि का कोश जब रोम भेजा जा रहा था तो मार्ग में डाकुओं ने उसे लूट लिया। जब पोप के प्रतिनिधियों ने उन्हें इस पाप कर्म के लिए नरक का भय दिखलाया तो उन्होंने अपने पापों की माफी के लिए खरीदे हुए मुक्ति-पत्र दिखाते हुए कहा कि हम पोप द्वारा पहले ही इस पाप से मुक्ति पा चुके हैं।

(२) **राजसत्ता का समर्थन**—लूथर ने पोप और सम्राट् दोनों की सत्ता का विरोध करते हुए राजाओं की सत्ता का प्रबल समर्थन किया। राज्य को अपने प्रदेश के सांसारिक और आध्यात्मिक सभी विषयों में पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। ये अधिकार उसे भगवान् से प्राप्त हुए हैं, वह अपने कार्यों के लिए भगवान् के प्रति उत्तरदायी है। उसे अपनी प्रजा पर अमर्यादित और निरंकुश अधिकार प्राप्त हैं। १५२५ ई० में जर्मनी में कृषकों के विद्रोह के समय उसने राजाओं के अधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए घोषणा की, "इन परिस्थितियों में हमारे राजाओं को यह समझना चाहिए कि वे भगवान् के प्रकोप को क्रियान्वित करने वाले अधिकारी हैं। दैवी प्रकोप ऐसे दुष्टों को दण्ड देने की आज्ञा देता है। इन परिस्थितियों में जो राजा रक्तपात से बचना चाहेगा, वह उन सब हत्याओं और अपराधों के लिए उत्तरदायी होगा, जो ये सूअर (विद्रोही किसान) कर रहे हैं। उन्हें बन्दूक के जोर से अपने कर्त्तव्य समझाये जाने चाहिएँ।"[1] वह पाल के सुप्रसिद्ध वाक्य (देखिये ऊपर पृ० २४१) के आधार पर राज्य को ईश्वर की व्यवस्था मानता है।

(३) **प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार नहीं है**—उसके मतानुसार प्रजा का सबसे बड़ा कर्त्तव्य राजा की आज्ञा का मूकभाव से पालन करना है। वह इस का विरोध नहीं कर सकती। यह अधर्म है। राजा पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि है। उसके आदेशों की अवहेलना ईश्वर की आज्ञा को भंग करना है। लूथर ने अपने एक निबन्ध On Secular Authority, How far is Obedience Due to it में बाइबल के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भगवान् द्वारा बनायी गई राज्य की सत्ता गैर-ईसाई और ईसाई दोनों प्रकार की प्रजा के लिए आवश्यक है। ईसाइयों को राज्य के आदेशों का पालन करके गैर-ईसाइयों के आगे उत्तम आदर्श रखना चाहिए और गैर-ईसाइयों को राज्य की तलवार के दण्ड के भय से सत्पथ पर बनाये रखना इसलिए आवश्यक है कि वे ईसाई न होने के कारण ईसा के उपदेशों से अपना उचित मार्ग प्रदर्शन करने में समर्थ नहीं हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह शान्त, निष्क्रिय और मूकभाव से राजा की आज्ञाओं का पालन करे। उसके शब्दों में "एक ईसाई के लिए यह किसी भी प्रकार उचित नहीं है कि वह अपनी सरकार के विरोध में अपने को खड़ा करे। सरकार चाहे न्यायपूर्ण रीति से कार्य करे या अन्यायपूर्ण रीति से (उसे सरकार के विरोध का अधिकार नहीं है)। जो व्यक्ति हमसे उत्कृष्ट स्थान पर रखे गये हैं, उनकी आज्ञा का पालन और सेवा से बढ़कर कोई सत्कर्म नहीं है। इस कारण आज्ञा-भंग करना हत्या, असतीत्व, चोरी और बेईमानी···से अधिक बड़ा पाप है।"[2] इससे स्पष्ट है कि राजा के आदेश के प्रतिरोध को लूथर घोर नैतिक अपराध समझता है।

किन्तु इसके साथ ही उसने अपने वैयक्तिक उदाहरण से उपर्युक्त मत में कुछ संशोधन भी किया। पवित्र रोमन सम्राट् चार्ल्स पंचम (१५००–१५५६ ई०) उसके सुधारों और विचारों का विरोधी था। उस अवस्था में क्या लूथर का यह कर्त्तव्य नहीं था कि वह सम्राट् के आदेश का पालन करता हुआ अपने विचारों का परित्याग करे।

---

१. वौले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० २७५।
२. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१०।

लेकिन लूथर ने इस विषय में यह सिद्धान्त बनाया कि धर्म और विश्वास संबंधी विषयों में राजसत्ता को धार्मिक सहिष्णुता की एक मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उसे इस विषय में अपनी दण्डशक्ति का तभी प्रयोग करना चाहिए, जब इस मर्यादा का अतिक्रमण हो तथा राज्य की शक्ति के लिए महान् संकट उत्पन्न हो जाय। सामान्य रूप से वह राजशक्ति के प्रतिरोध को पाप ही समझता था।

लूथर के सभी सिद्धान्त तात्कालिक परिस्थितियों के परिणाम थे। यदि पोप या सम्राट् उसके सुधारों को स्वीकार कर लेते तो शायद वह उनके दैवी अधिकारों का विरोध न करता। राजाओं ने वैयक्तिक स्वार्थ से, अपनी शक्ति और सम्पत्ति बढ़ाने के उद्देश्य से लूथर का समर्थन किया, उसे संरक्षण प्रदान किया और उसके सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए तैयार हो गये। अतः लूथर ने इन्हें पोप और सम्राट् से स्वतन्त्र बताते हुए उनके दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थन किया। लूथर के विचारों में अनेक विरोध, असंगतियाँ और अस्पष्टतायें हैं। इस कमी को कैल्विन ने दूर किया।

कैल्विन (१५०९–१५६४ ई०)—धर्मसुधार आन्दोलन के सबसे प्रबल, स्पष्ट और सुसंगत राजनीतिक विचार इसकी रचनाओं में मिलते हैं। पेरिस, आर्लियन्ज़ (Orleans) आदि में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाला यह विचारक शनैः-शनैः धर्मसुधार के सिद्धान्तों का समर्थक हो गया। किन्तु १५२८ ई० में जब उसने इन्हें स्वीकार करने की सार्वजनिक घोषणा की तो इसे कैथोलिक फ्रांस से भाग कर स्विट्ज़रलैण्ड में शरण ग्रहण करनी पड़ी। यहाँ बाज़ेल (Basel) में १५३६ ई० में इसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ईसाई धर्म के नियम' (Institution chretienne) लिखी। जेनीवा में निमन्त्रित किये जाने पर इसने कैटेल के साथ मिल कर जब इन नियमों के आधार पर एक धर्मतन्त्रीय शासन की स्थापना की और इसके लिए बड़े कठोर नियम बनाये, तो जनता के विद्रोह के कारण कैल्विन को यहाँ से भागना पड़ा (१५३८ ई०)। इसके बाद तीन वर्ष तक वह दक्षिण पश्चिमी जर्मनी में धर्मसुधार आन्दोलन के केन्द्र स्ट्रासबुर्ग में रहा। तीन वर्ष बाद इसे पुनः जेनीवा बुलाया गया। इसे यहाँ अपने विचारों के अनुसार धर्म-प्रधान शासन स्थापित करने में सफलता मिली। अपनी मृत्युपर्यन्त यह इस नगर का धार्मिक और राजनीतिक डिक्टेटर बना रहा। मार्टिन लूथर की अपेक्षा इसके विचारों द्वारा प्रोटेस्टैण्ट धर्म का अधिक प्रचार हुआ और इसके विचार योरोप के विभिन्न देशों में कई कारणों से बहुत जल्दी फैल गये। पहला कारण इसके विचारों का अधिक लोकतन्त्रीय होना था तथा दूसरा कारण उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रोटेस्टैण्ट धर्म के सिद्धान्तों का अतीव सुबोध और स्पष्ट प्रतिपादन था। डनिंग के मतानुसार वह धर्मसुधार आन्दोलन का नियमनिर्माता (Law-giver) था।

कैल्विन द्वारा इंस्टीट्यूटस् का ग्रन्थ लिखे जाने का मुख्य उद्देश्य यह था कि वह बाइबल के उपदेशों के अनुसार उत्तम ईसाई जीवन को बिताने के संबंध में आवश्यक व्यवस्थाओं का सुव्यवस्थित रीति से प्रतिपादन करे। इसमें वह कुछ मौलिक सिद्धान्तों को मान कर चला है। पहला सिद्धान्त नियतिवाद (Predestination) का है। इसके अनुसार यह सृष्टि भगवान् द्वारा पहले से ही निर्धारित की गई एक प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार चल रही है। मनुष्य इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। दूसरा सिद्धान्त यह है कि यह प्राकृतिक व्यवस्था मनुष्यों के सब नैतिक और कानूनी सिद्धान्तों का

आधार है, यह सभी प्राकृतिक अधिकारों को तथा प्राकृतिक कानून को उत्पन्न करती है। **तीसरा** सिद्धान्त यह है कि बाइबल में वर्णित, मूसा को भगवान् द्वारा दी गयी दस आज्ञायें (एक्सोडस २०।२—१७) प्राकृतिक कानून का सारांश हैं। इनमें तीन बातों का समावेश होता है : (क) भगवान् द्वारा दिये गये स्वाधीनता और धार्मिक स्वतन्त्रता आदि के प्राकृतिक अधिकार। (ख) इन अधिकारों को स्वीकार करने वाला समझौता। (ग) इन अधिकारों का हनन किये जाने पर इसे रोकने के लिए प्रतिरोध करने का अधिकार। इन सिद्धान्तों के आधार पर उसने जो आदर्श व्यवस्था की, उसके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :—

(१) **चर्च और राज्य का पार्थक्य** – कैल्विन से पहले जूरिक के स्विस विचारक त्स्विगली (Zwingli 1484–1531) ने चर्च और राज्य को अभिन्न मानते हुए यह विचार रखा था कि समाज को अपने राजनीतिक और धार्मिक विषयों के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। किन्तु कैल्विन यह मानता है कि ईसाई चर्च और राज्य दोनों भगवान् द्वारा सर्वथा विभिन्न प्रयोजन पूरा करने के लिए बनाये गये हैं। उन्हें स्वतन्त्र और पृथक् ही बनाये रखना चाहिए। चर्च का उद्देश्य आध्यात्मिक है, उसे सांसारिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राजा का अधिकार-क्षेत्र लौकिक विषयों तक सीमित रहना चाहिए। शासक और पुरोहित दोनों समान रूप से पूज्य और वन्दनीय हैं। स्काटलैण्ड और फ्रांस में कैल्विन के अनुयायियों ने प्रोटेस्टैण्ट दृष्टिकोण से तथा जेसुइटों ने कैथोलिक दृष्टिकोण से इस विचार को बाद में बहुत विकसित किया।

कैल्विन का यह विचार बड़ा क्रांतिकारी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। गैटिल ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि "लूथर और त्स्विगली ने चर्च को राज्य का वशवर्त्ती मानते हुए राजाओं और शासकों को यह अधिकार दिया था कि वे धार्मिक सिद्धान्तों का स्वरूप निश्चित करें और उनका धर्म सारे राज्य के निवासियों का धर्म समझा जाय। इस प्रकार 'राजा का धर्म प्रजा का धर्म' मानने का सिद्धान्त (Cujus regio, ejus religio, यस्य राज्यं तस्य धर्मः) सर्वमान्य हुआ और राजा के धर्म से मतभेद रखने वाले व्यक्तियों पर अत्याचार किये जाने लगे। किन्तु कैल्विन की यह विशेषता थी कि उसने राज्य और चर्च दोनों को पृथक् करते हुए इनकी सीमारेखा खींच दी, जिसका दोनों अतिक्रमण नहीं कर सकते थे। न तो चर्च राज्य के कार्य कर सकता था और न राज्य चर्च के कार्य करने का अधिकार रखता था। इनका महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक परिणाम यह हुआ कि कैल्विनवाद जहाँ-जहाँ फैला, वहाँ इसके अनुयायियों ने उन सब शासकों का विरोध किया, जो धर्म के मामले में हस्तक्षेप करते थे। इससे धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं में सूक्ष्म भेद करने का विचार उत्पन्न हुआ।

(२) **चर्च का संगठन** — कैल्विन ने इसमें लोकतन्त्र की कुछ बातों का समावेश करते हुए निम्न तत्त्वों का होना आवश्यक माना — (क) उचित आचार के नियमों को निश्चित करनेवाली स्थविरों (Elders) की एक असेम्बली। (ख) नास्तिकों को चर्च से बहिष्कृत करने का अधिकार, (ग) राज्य को धार्मिक कार्यों से सर्वथा पृथक् करना और चर्च द्वारा स्वयमेव कोई लौकिक कार्य न करना। कैल्विन के चर्च का संगठन गणतन्त्रीय था। इसके पुरोहित निर्वाचित होते थे। कुछ देशों में कैल्विन मतानुयायी

अल्प संख्या में थे और यहाँ राज्य द्वारा इन पर बहुसंख्या का धर्म मानने के लिए अत्याचार होते थे। ऐसे देशों में इन्होंने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया। चर्च के संगठन में ये जिस स्वशासन और प्रजातन्त्र की व्यवस्था को चला रहे थे, राजनीतिक मामलों में भी इन्होंने वैसी व्यवस्था की माँग की। (अमेरिका में) न्यू इंगलैण्ड के उपनिवेशों में यह विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।[1]

(३) **राज्य विषयक विचार**—उसके मत में राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की दुष्ट प्रकृति का निरोध करने के लिए हुई थी। आदम-हव्वा के आदिम पाप (Original sin) और स्वर्ग से पतन के कारण मनुष्य स्वभावतः बुरा है। "उसका हृदय पाप से इतना विषाक्त है कि वह अपने श्वास द्वारा भ्रष्टाचार और सड़ांद के अतिरिक्त कुछ नहीं निकाल सकता।" यदि कभी कुछ लोग भलाई का दिखावा भी करते हैं तो उनका मन सदैव ढोंग और धोखे से आच्छन्न रहता है, उनकी आत्मा अन्दर से दुष्टता की बेड़ियों से बँधी रहती है।" अतः इनकी दुष्ट प्रकृति का निरोध करने के लिए भगवान् ने नियम बनाये हैं और इनका पालन कराने के लिए राजसत्ता का होना आवश्यक है। इसके दो प्रधान कार्य हैं—(क) लोगों की सम्पत्ति, प्राणों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करना, व्यवस्था को बनाये रखना। (ख) सत्य की रक्षा करते हुए समाज से मूर्त्तिपूजा और ईश्वरनिन्दा की बुराइयों का उन्मूलन करना। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि वह इन कार्यों में राज्य की पूरी सहायता करे। कैल्विन विभिन्न समयों के लिए सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों को अच्छा समझता है। किन्तु उसका झुकाव कुलीनतन्त्र की ओर है। उसे भीड़ के शासन से बड़ी चिढ़ है। वह कठोर शासन के पक्ष में है और स्वतन्त्रता का विशेष समर्थक नहीं है। स्वयमेव वह जेनीवा का तानाशाह बनकर रहा था।

(४) **आज्ञा पालन विषयक विचार**—कैल्विन लूथर की भाँति राजा की आज्ञा का मूकभाव से पालन करना प्रजा का पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य समझता है। राज्य समाज में सुशासन और व्यवस्था रखता है, धर्म का पालन कराता है, अतः उसके आदेश का पालन होना चाहिए। किन्तु कुछ दशाओं में वह प्रजा को राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है—(क) यदि राजा के आदेश ईश्वर की आज्ञाओं के प्रतिकूल हैं तो इनकी अवहेलना की जानी चाहिए। (ख) यदि कोई व्यक्ति अनुचित रूप से राज्य की सत्ता हथिया लेता है तो इसका प्रतिरोध करने के लिए ईसाइयों को शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार है। (ग) जनता की प्रतिनिधिसभायें अत्याचारी राजाओं का विरोध कर सकती हैं।[2] कैल्विन के इन विचारों ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में बड़ा भाग लिया। उसके सिद्धान्त लूथर के सिद्धान्तों की अपेक्षा फ्रांस, हालैण्ड, स्काटलैण्ड और इंगलैण्ड में अधिक लोकप्रिय हुए।

इस विषय में लूथर और कैल्विन की तुलना बड़ी रोचक है।[3] लूथर अन्तःकरण की स्वतन्त्रता को बड़ा महत्त्व देता था। फिर भी उसने कृषकों के विद्रोह से भयभीत

---

१. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५६।
२. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० ३४२, ४४।
३. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५५।

होकर राजाओं के निरंकुश अधिकार का समर्थन किया। दूसरी ओर कैल्विन स्वयमेव स्वतन्त्रता का विरोधी और निरंकुश शासन-सत्ता का प्रबल समर्थक था। किन्तु उसके अनुयायियों ने लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता के विचारों का विकास किया।

इसका मुख्य कारण यह था कि कैल्विन का सिद्धान्त उन्हीं देशों में लोकप्रिय हुआ, जहाँ इस मत के अनुयायी अल्पसंख्या में थे। यहाँ इस अल्पसंख्या पर इससे धार्मिक मतभेद रखने वाली बहुसंख्या अपने विचारों को बलपूर्वक लादना चाहती थी। इंगलैण्ड में ऐसी ही स्थिति थी। अतः यहाँ कैल्विन-मत वालों ने अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए दृढ़संकल्प किया और अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए राजसत्ता का विरोध किया। यह उनके लिए जीवन-मरण का संघर्ष था। सैद्धान्तिक रूप से वे राजसत्ता द्वारा धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप के विरोधी थे, अतः वे अपने मत में हस्त-क्षेप करने वाली राजसत्ता के कार्यों का विरोध करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। उन्होंने फ्रांस, हालैण्ड, स्काटलैण्ड और इंगलैण्ड में धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के ऐसे सिद्धान्तों का विकास किया, जिनके अनुसार प्रत्येक मत के अनुयायियों के धार्मिक अधिकार सुरक्षित रहें और इन मामलों में राज्य के अधिकारों को मर्यादित किया जाय तथा राजाओं की निरंकुश सत्ता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जा सकें। इन परिस्थितियों के कारण कैल्विन के राजसत्ता का प्रबल पोषक होने पर भी उसके अनुयायियों ने हालैण्ड, फ्रांस, इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड में लोकतन्त्र के विचारों को प्रोत्साहन दिया।

धर्मसुधार आन्दोलन की देन और महत्त्व—धर्मसुधार आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य चर्च की बुराइयों का संशोधन था। उसकी सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने पोप की प्रभुता पर कुठाराघात करते हुए अनेक शताब्दियों से चली आने वाली धार्मिक एकता को समाप्त कर दिया। पहले योरोप में एक ही रोमन कैथोलिक चर्च था, अब उसके स्थान पर उसका विरोध करने वाले अनेक राष्ट्रीय चर्च जर्मनी, इंगलैण्ड, हालैण्ड और स्काटलैण्ड में स्थापित हो गये। **दूसरी** देन यह थी कि इसने चर्च को राज्य का वशवर्त्ती बनाते हुए मध्ययुग के विश्वसाम्राज्य की धारणा में बड़ा क्रान्तिकारी और मौलिक परिवर्तन किया। अब इस साम्राज्य का स्थान अपने प्रदेश में पूर्ण प्रभुत्व रखने वाले राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया। **तीसरी** देन राष्ट्रीयता की भावना का पोषण था। जर्मनी के राजाओं ने तथा इंगलैण्ड ने इसी आधार पर पोप की प्रभुता का विरोध किया था। **चौथी** देन राजसत्ता के निरंकुश अधिकारों में वृद्धि और राजाओं को देवता बनाना था। **पाँचवीं** देन वैयक्तिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के तथा निरंकुश राजसत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध के विचारों का विकास था।

आरम्भ में यह आन्दोलन कुछ अंशों में प्रतिगामी था। फिग्गिस के शब्दों में इसने अरस्तू के तथा पुनर्जागरण के प्रभाव से लुप्त होने वाली कुछ मध्ययुगीन प्रवृत्तियों को, धर्मतन्त्रीय आदर्शों को, धर्मशास्त्र से अनुप्राणित राजनीति को तथा बाइबल के प्रमाणों से शासन-प्रणाली के प्रश्नों को निश्चित करने की पुरानी परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। किन्तु इसके साथ ही इसने कुछ आधुनिक प्रवृत्तियों, वैयक्तिक स्वतन्त्रता को तथा सुसंगठित, सर्वशक्तिशाली प्रादेशिक राज्य के विचार को भी उत्पन्न

किया।[1] अतः यह आन्दोलन दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। आरम्भ में इसमें धर्मशास्त्रों पर बल देने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल रहीं, किन्तु अन्त में इससे लोकतन्त्र की ओर निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं; प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, जनता की प्रभुसत्ता और प्रतिनिधि शासन के विचार उत्पन्न हुए। इन्होंने १७वीं, १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के महान् राजनीतिक विवादों को जन्म दिया। इन विचारों के समर्थन और विरोध में भीषण रक्तपात की नदियाँ बहायी गयीं। अतः इन विचारों का सूत्रपात करने की दृष्टि से धर्मसुधार आन्दोलन धार्मिक होते हुए भी राजनीति के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है।

---

१. फिग्गिस, जे० एन०—फ्राम गर्सोन टू ग्रोशियस, पृ० ६१।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० १६१।

चौदहवाँ अध्याय

बोदँ तथा ग्रोशियस

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि – सोलहवीं शताब्दी में धर्मसुधार आन्दोलन से उत्पन्न तीव्र विवादों और गृहयुद्ध से संत्रस्त और विध्वस्त फ्रांस में राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) विषयक आधुनिक सिद्धान्त के जन्मदाता और प्रथम विशद व्याख्याता जीन बोदँ (Jean Bodin 1530-1596) का आविर्भाव हुआ। उस समय फ्रांस में राजतन्त्र अपने को पूरी तरह शक्तिशाली नहीं बना पाया था। इसके प्रत्येक भाग में पादरी तथा कुलीन वर्ग, प्रान्तों तथा विभिन्न समुदायों के विशेषाधिकार और रूढ़ियाँ केन्द्रीय सरकार के कार्य को मर्यादित कर रही थीं या इसमें बाधा डाल रही थीं। प्रत्येक प्रान्त और शहर का कानून विभिन्न प्रकार का था।[1] फ्रांस में प्रोटेस्टैण्ट धर्म के प्रसार से धार्मिक मतभेद उग्र हो गये। कैथोलिक फ्रेंच प्रोटेस्टैण्टों या ह्यूगनाटों (Huguenots) का उन्मूलन करना चाहते थे और ह्यूगनाट धार्मिक अत्याचारों से बचने के लिए राजसत्ता हस्तगत करके कैथोलिकों के दमन के इच्छुक थे। फ्रांस का राजा कभी एक दल का साथ देता था और कभी दूसरे का। अगस्त १५७२ में अपनी माता कट्टर कैथोलिक कैथेराइन की प्रेरणा से चार्ल्स नवम (१५५०–१५७४ ई०) ने ह्यूगनाटों के सामूहिक संहार की आज्ञा दी और सैण्ट बार्थोलोम्यू के पवित्र पर्व के दिन (२४ अगस्त को) बीस हजार प्रोटेस्टैण्टों का जीवन एक निर्मम हत्याकाण्ड (The Massacre of St. Bartholomew) द्वारा समाप्त कर दिया गया। इन धार्मिक और गृहयुद्धों के भीषण रक्तपात से उत्पन्न अराजक स्थिति का अन्त करने के लिए उस समय कुछ विचारक धार्मिक मामलों में उदारता और सहिष्णुता की नीति अपनाना चाहते थे तथा शक्तिशाली राजतन्त्र द्वारा अराजक तत्त्वों का दमन करते हुए राष्ट्रीय एकता द्वारा सुदृढ़ शासन स्थापित करने के पक्षपाती थे। इन विचारकों में बोदँ का नाम उल्लेखनीय है। उसने राजा की सत्ता सुदृढ़ करने के लिए प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया और उसके ग्रन्थों में तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव स्पष्ट झलक रहा है।

धार्मिक सहिष्णुता तथा राजा के सर्वोच्च अधिकारों पर बल देने वाले विलक्षण प्रतिभाशाली, कानून के उद्भट विद्वान्, यूनान और रोम के लेखकों का, ओल्ड टैस्टामैण्ट का तथा विभिन्न देशों के संविधानों और कानूनों का गम्भीर अनुशीलन करने वाले जीन बोदँ (१५३०–१५९६ ई०) ने अपना जीवन तूलूज़ (Toulouse) के विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने के बाद वहाँ विधिशास्त्र के अध्यापक के रूप में आरम्भ किया। १५६०-६१ में उसे वकालत के लिए पेरिस ने आकृष्ट किया। यहाँ

---

१. एलेन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट इन दी सिक्सटीन्थ सेंचुरी, पृ० २१२।

यद्यपि एडवोकेट के रूप में उसे बड़ी सफलता नहीं मिली, तथापि चिन्तन और विशाल अध्ययन का तथा अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखने का अवकाश मिला। उसकी रचनाओं से प्रभावित होकर फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय (१५७२–१५८९) ने उसे १५७६ ई० में लाओं (Laon) नगर का तथा बाद में राजा का न्यायवादी (Attorney) नियत कर दिया। यहाँ बस जाने के बाद वह उस समय ब्लवा (Blois) नामक स्थान में होने वाली तत्कालीन फ्रेंच पार्लियामैण्ट या एस्टेस्टस जनरल (Estates General) का सदस्य चुना गया। इसमें उसने अपने आश्रयदाता राजा हेनरी तृतीय की कई नीतियों का बड़ी निर्भीकता से उग्र विरोध किया। वह ह्यूगनाटों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने तथा राजा द्वारा भू-सम्पत्ति छीनने के पक्ष में नहीं था। १५८१ ई० में वह रानी एलिज़ाबेथ के साथ फ्रांस के राजा के विवाह की प्रार्थना लेकर भेजे जाने वाले फ्रेंच दूतमण्डल के साथ इंगलैण्ड भेजा गया। इसके बाद राजनीति से पृथक् होकर उसने मृत्युपर्यन्त अपना शेष जीवन कानूनी और साहित्यिक कार्यों में ही बिताया। वह उस समय के एक राजनीतिक दल पोलीतीक (Politiques) का प्रमुख सदस्य था। इस दल की यह नीति थी कि फ्रांस के आन्तरिक विवादों तथा गृहयुद्धों के दमन के लिए एक शक्तिशाली और सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना होनी चाहिए तथा धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अवलम्बन उचित है। बोदें ने अपने ग्रन्थों में इसी नीति का समर्थन करते हुए उस समय फ्रांस में प्रादुर्भूत होने वाले शक्तिशाली राजतन्त्र की राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) का सैद्धान्तिक प्रतिपादन और प्रबल समर्थन किया। १५९६ ई० की प्लेग में बोदें की मृत्यु हो गई और वह अपने आदर्शों को नावारे के हेनरी चतुर्थ (१५८९–१६१० ई०) के राजत्व में फ्रांस को एकीकृत प्रभुसत्तासम्पन्न सुदृढ़ राज्य के रूप में मूर्त्त होते हुए नहीं देख सका।

रचनायें -- बोदें ने न केवल कानून की शिक्षा ग्रहण की थी और क्रियात्मक राजनीति का अनुभव पाया था, अपितु उसे तत्कालीन ज्ञान विज्ञान की सभी शाखाओं के अध्ययन में गहरी अभिरुचि थी। उसके सार्वजनिक राजस्व (Public finance) और मुद्रा पर लिखे हुए कुछ निबन्ध इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि फ्रांस में उसकी गणना आधुनिक अर्थशास्त्रीय विचारधारा के जन्मदाताओं में की जाती है। शिक्षाशास्त्र और अर्थशास्त्र पर उसके विचार उस समय बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। लैटिन का वह इतना पण्डित था कि उसने ओप्पियन की Cynegeticon का अनुवाद किया था। उसके अध्ययन के विशेष विषय इतिहास, विधिशास्त्र (Jurisprudence) और राजशास्त्र थे। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'इतिहास के सरल अध्ययन की पद्धति' (Methodus ad facilem Historiarum cognitionem 1566) में इतिहास की व्याख्या और महत्त्व पर बल देते हुए उसने यह बताया कि ऐतिहासिक का सबसे बड़ा गुण निष्पक्ष भाव से घटनाओं का वर्णन करना तथा उन पर अपना निर्णय देना है। यदि इतिहास का निष्पक्ष तथा बुद्धिमत्तापूर्ण अध्ययन किया जाय तो यह हमारी अनेक समस्याओं का समाधान कर सकता है। उसका एक प्रिय सिद्धान्त यह था कि कानून के स्वरूप और उद्गम का स्पष्टीकरण इतिहास के अध्ययन से हो सकता है। प्रत्येक देश की जनता कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ आदर्श मानती है और इन आदर्शों को अपने कानून द्वारा मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न करती है। अतः उसका यह मत था कि

सब देशों की कानूनी पद्धतियों के विकास के तुलनात्मक अध्ययन से हम कानून का वास्तविक स्वरूप जान सकते हैं। इस दृष्टि से उसे कई बार **तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विधिशास्त्र का जन्मदाता** भी कहा जाता हैं। इतिहास में वह मनुष्य के कर्त्तृत्व को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी जलवायु, पर्वतों, नदियों, वर्षा, भूमि, हवा आदि के तथा ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव को भी स्वीकार करता है। उसने भौतिक परिस्थितियों के राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित करने के सिद्धान्त का विवेचन अरस्तू की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया तथा इस विषय में अपने परवर्त्ती मांतेस्क्यू आदि का पथ-प्रदर्शन किया। अतः उसे इतिहास के दर्शन का प्रतिपादन करने वाला पहला आधुनिक लेखक माना जाता है। उसका मानवीय प्रगति में दृढ़ विश्वास था और वह अतीतकाल में स्वर्ण युग की कल्पना का विरोधी था।

राजनीतिक विचारों की दृष्टि से उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति १५७६ ई० में प्रकाशित 'गणराज्य की छः पुस्तकें' (De Republica Libri sex) हैं। मैक्सी ने इसे सच्चे अर्थों में राजनीतिशास्त्र पर पहला आधुनिक ग्रन्थ माना है।[1] इसमें किसी आदर्श गणराज्य का वर्णन नहीं है, राजनीतिक जीवन के दोषों को दूर करने के लिए रामबाण दवाइयों का वर्णन नहीं है, मेकियावेली की भाँति कुछ पहले से निश्चित सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए प्रमाण नहीं दिये गये। किन्तु राजनीतिक जीवन की घटनाओं का निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है, इससे कुछ परिणाम निकाले गये हैं और इनके आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया गया है। इसके ये सिद्धान्त ऐतिहासिक निरीक्षण पर तथा विभिन्न समयों की राजनीतिक संस्थाओं के तथा कानूनी पद्धतियों के विश्लेषण और तुलना पर आधारित हैं। गैटिल के कथनानुसार बोदँ हाब्स की विश्लेषणात्मक पद्धति तथा मांतेस्क्यू की ऐतिहासिक पद्धति का श्रीगणेश करने वाला था, इसके बाद इन दोनों ने बोदँ से लाभ उठाते हुए इन पद्धतियों का विकास किया।[2] बोदँ ने अपने ग्रन्थ में अरस्तू की 'राजनीति' (Politics) की पद्धति का अनुसरण किया। जिस प्रकार अरस्तू ने १५८ यूनानी गणराज्यों के संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया था, उसी प्रकार बोदँ ने प्राचीन, मध्यकालीन तथा तत्कालीन इतिहास के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया। इसमें उसने राजनीति के क्रियात्मक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार के प्रश्नों पर समान रूप से बल दिया है। मेकियावेली ने क्रियात्मक पक्ष को प्रधानता देते हुए राजनीतिशास्त्र की मौलिक समस्याओं के दार्शनिक चिन्तन की उपेक्षा की थी। बोदँ की रचना में यह दोष नहीं है। कोकर ने राजनीतिशास्त्रविषयक समस्याओं के गम्भीर चिन्तन और विस्तृत विवरण के कारण इस ग्रन्थ को अरस्तू की पालिटिक्स तथा मांतेस्क्यू की कानूनों की भावना (Spirit of Laws) के समकक्ष और महत्त्वपूर्ण माना है।[3] इस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० १६४।

२. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, १८२।

३. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० ३६६।

(१) **प्रभुसत्ता का सिद्धान्त** (Doctrine of Sovereignty)—(क) **उत्पादक परिस्थितियाँ**—कोकर ने इसे राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में बोदँ की सबसे बड़ी और विशिष्ट देन मानी है।[1] यद्यपि वह इस विचार का जन्मदाता नहीं था, इस सिद्धान्त के बीज यूनान और रोम के प्राचीन विचारकों में उपलब्ध होते हैं, फिर भी वह पहला व्यक्ति था, जिसने इसका सुस्पष्ट लक्षण किया और इसे राजनीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बनाया।[2] इसका कारण उसके समय की विशिष्ट परिस्थिति थी। प्राचीन एवं मध्यकाल में **कई कारण** इस सिद्धान्त के विकास में बाधक थे। (१) अरस्तू राज्य की प्रधान विशेषता आत्मनिर्भरता (Self-sufficiency) को समझता था। यह कानूनी नहीं, किन्तु नैतिक विचार मात्र था। प्रभुसत्ता के रोमन सिद्धान्त के लिए सार्वभौम साम्राज्य और विश्वव्यापी कानून की सत्ता अनिवार्य मानी जाती थी। रोम के पतन के बाद प्राकृतिक और दैवी (Natural and Divine) नियम के सिद्धान्त का ऐसा विकास हुआ कि उसमें राजा द्वारा बनाये तथा लागू किये जाने वाले भावात्मक कानून (Positive Law) के विचार का विकास संभव ही न था। (२) उस समय राज्य और चर्च को एक ही सार्वभौम समाज का अंग माना जाता था, चर्च राज्य पर प्रभुता का दावा कर रहा था, अतः ऐसी परिस्थितियों में राज्य की प्रभुसत्ता का विचार पनप नहीं सका। (३) सामन्त पद्धति (Feudal system) से उत्पन्न परिस्थितियाँ (देखिए ऊपर पृ० २६४–७१) ऐसी थीं कि इनमें शासनसत्ता राजा से निम्न वर्ग तक के सामन्तों और सरदारों में बँटी हुई थी, ये सब अपने प्रदेश में पूर्ण प्रभु (Sovereign) थे, अतः इस दशा में सर्वोच्च प्रभुसत्ता का विचार ही कैसे उत्पन्न हो सकता था। सामन्तवाद राजनीतिक एकता और सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता का प्रबल विरोधी था। (४) मध्यकाल में अनेक प्रकार के निगमों (Corporations) का विचार (देखिए ऊपर पृ० २८४) था तथा नगरों द्वारा अपनी स्वतन्त्रता के लिए किये जाने वाले दावे थे। इनकी स्वतन्त्रता एक राष्ट्रीय राज्य में बाधक थी। मध्ययुग के अन्त में इन परिस्थितियों में अन्तर आने लगा। सामन्तवाद के विध्वंस के साथ राजाओं की शक्ति बढ़ने लगी। इंगलैण्ड और फ्रांस में राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युत्थान के साथ यह समझा जाने लगा कि राजाओं को अपने प्रदेश में कानून बनाने के तथा जनता पर शासन करने के अपरिमित अधिकार हैं। जनता ने सामन्तों के उत्पीड़न तथा सदैव होने वाले लड़ाई-झगड़ों से मुक्ति पाने के लिए राजा के अधिकारों का समर्थन किया और विचारकों ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन किया। गैटिल के मतानुसार सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस के राजा ने देश को संगठित बनाते हुए उसका एकीकरण किया और अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाया और "फ्रांस के एक लेखक जीन बोदँ ने पहली बार सर्वोच्च प्रभुसत्ता को राज्य की अनिवार्य विशेषता मानते हुए राजा को इस सत्ता का अधिष्ठान माना।"[3]

---

१. कोकर—वही पुस्तक, पृ० ३७०।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० १६५।
३. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८०।

(ख) **प्रभुसत्ता का स्वरूप और विशेषतायें** – बोदें के मतानुसार अन्य सामाजिक संगठनों की अपेक्षा राज्य की यह विशेषता है कि केवल इसी में प्रभुसत्ता होती है। इसका लक्षण करते हुए उसने कहा है, "प्रभुसत्ता (राज्य का) नागरिकों तथा प्रजाजनों पर सर्वोच्च अधिकार है और यह कानूनों द्वारा नियन्त्रित नहीं होता" (Sovereignty is supreme power over citizens and subjects, unrestrained by law)। इसका यह आशय है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए किसी प्रकार का कोई भी कानून बनाने का अधिकार रखता है, वह अपने प्रदेश में जैसी चाहे, वैसी व्यवस्था कर सकता है, मनचाहा आदेश दे सकता है। उसे अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य करने का पूरा अधिकार है और इस विषय में वह किन्हीं कानूनों या नियमों से बँधा हुआ नहीं होता। उसकी इच्छा ही सबसे बड़ा कानून है। उसकी शक्ति सर्वोच्च है, राज्य के सभी व्यक्ति उसके वशवर्ती होते हुए उसके आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य हैं।

इस सर्वोच्च शक्ति की कई विशेषतायें हैं। **पहली** विशेषता इसका स्थायी (Perpetual) होना है। यदि किसी व्यक्ति को कुछ वर्षों के लिए ऐसा अधिकार दिया जाय तो इसे प्रभुसत्ता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह अधिकार निश्चित अवधि के बाद समाप्त हो जायगा और वह इसे देने वाले के पास लौट जायगा। अतः वस्तुतः प्रभुसत्ता उसी के पास होती है, जो इसे प्रदान करता है। अल्पकाल के लिए इसका उपभोग करने वालों को सर्वोच्च शासक नहीं कहा जा सकता। वे केवल उस समय तक इस सत्ता का संरक्षण करने वाले हैं, जब तक कि उन्हें यह शक्ति प्रदान करने वाला या जनता उनसे इसे वापिस नहीं ले लेती। जिस प्रकार दूसरे की अमानत या बन्धक सम्पत्ति को रखने वाला उसका स्वामी नहीं होता, इसी प्रकार दूसरे से कुछ समय के लिए ये अधिकार प्राप्त करने वाला भी सर्वोच्च शासक नहीं हो सकता।

दूसरी विशेषता इसका जनता में निहित होना है। "मैं यह मानता हूँ कि प्रभुसत्ता···व्यक्तियों में नहीं रहती, किन्तु जनता में रहती है, जनता के प्रसादपर्यन्त वे अपना अधिकार रखते हैं और निश्चित अवधि के बाद वह शक्ति जनता में लौट जाती है। उदाहरणार्थ, प्राचीन एथेन्स में जनता ऐसी सत्ता आर्खन (Archon) चुने जाने वाले व्यक्ति को दस वर्ष के लिए देती थी। इस अवधि में इसके सर्वोच्च होने पर भी यह केवल जनता का प्रतिनिधि था और अपने कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी था। दस वर्ष बाद यह शक्ति पुनः जनता में लौट जाती थी। यही अवस्था लघु एशिया के एक पुराने यूनानी राज्य निडस (Cnidus) की थी। यहाँ के निवासी (Cnidians) प्रतिवर्ष ६० एमीमोन (Amymone) चुनते थे, इसका अर्थ है मर्यादा या निन्दा से ऊपर उठे उत्कृष्ट व्यक्ति। किन्तु इनमें प्रभुसत्ता का निवास नहीं था क्योंकि एक वर्ष पूरा होने पर इन्हें अपना अधिकार जनता को सौंपना पड़ता था। अतः प्रभुसत्ता जनता में ही रहती है।"[१]

इसकी **तीसरी** विशेषता सब प्रकार के बंधनों, कानूनों और मर्यादाओं से मुक्त होना (Legibus soluta) है। कोई भी सर्वोच्च शासक या राजा न तो अपने से

---

१. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३७५।

पहले शासकों के और न अपने कानूनों या आदेशों से बँधा होता है। वह न तो किसी दूसरे व्यक्ति से आदेश ग्रहण करता है और न अपने-आपको कोई आदेश देता है। उसकी इच्छा ही आदेश या कानून होता है।

सर्वोच्च सत्ता के कार्यों में पहला और सबसे बड़ा कार्य नागरिकों के लिए कानूनों का बनाना है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस कार्य में उसे अपने से बड़े, समान या हीन दर्जे के व्यक्तियों की सहमति लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि वह अपने से ऊँचे दर्जे वाले व्यक्तियों की सहमति लेना आवश्यक समझता है तो वह राजा नहीं, किन्तु दूसरे की वश्यता स्वीकार करने वाला प्रजाजन है। यदि अपने से समान दर्जा रखने वालों की सहमति लेना जरूरी हो तो ये सब उसकी सत्ता में हिस्सा बँटाने वाले होंगे और यदि उसे अपने से हीन दर्जे वाले व्यक्तियों—जनता, सीनेट आदि की सहमति चाहिए तो इसका यह अर्थ होगा कि उसमें प्रभुसत्ता नहीं है।

अत: राजा की इच्छा, आदेश या निर्णय ही कानून होता है। यद्यपि जनता में प्राचीन काल से चले आने वाले रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ (Customs) भी कानून के समान समझी जाती हैं। किन्तु इनमें तथा कानून में बड़ा अन्तर है। रूढ़ि का विकास सब लोगों की सहमति से शनैः-शनैः होता है। कानून प्रभुसत्ता रखने वाले व्यक्ति द्वारा एक क्षण में दिया जाने वाला आदेश है और यह प्रायः शासित जनता की इच्छा के विरुद्ध होता है। अत: क्रिसोस्तोम ने कानून की तुलना तानाशाह (Tyrant) से तथा रूढ़ि की राजा से की है। किन्तु कानून रूढ़ि से प्रबल होता है क्योंकि रूढ़ियाँ कानूनों द्वारा निरस्त या प्रभावशून्य की जा सकती हैं, किन्तु ये कानूनों का स्थान नहीं ले सकती। रूढ़ि के पालन या उल्लंघन के लिए कोई पुरस्कार या दण्ड नहीं होता, किन्तु कानूनों के साथ उनका उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था होती है। रूढ़ि उसी समय तक प्रभाव रखती है, जब तक राजा इसे कानून के रूप में स्वीकार करता है।[1]

कानून का निर्माण प्रभुसत्ता की इच्छा पर अवलम्बित है। बोदँ के मत में "यह प्रभुसत्ता का पहला और प्रमुख चिह्न (Mark) है" और इसे प्रजाजनों को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता, किन्तु कई बार प्रभु-शक्ति अपने किसी नागरिक को कानून निर्माण का अधिकार (Legum condendarum) प्रदान करती है, और तब इस व्यक्ति द्वारा बनाये कानून ऐसे ही समझे जाते हैं, जैसे वे प्रभुसत्ता द्वारा बनाये गये हों। स्पार्टावालों ने लाइकरगस (नवीं शताब्दी ई० पू०) को तथा एथेन्सवासियों ने सोलन (६३८–५५९ ई० पू०) को ऐसा अधिकार दिया था। किन्तु इन दोनों के कानून प्रभुसत्ता रखने वाली जनता द्वारा संपुष्ट होने पर ही लागू किये गये।

प्रभुसत्ता के अन्य कार्य निम्नलिखित हैं: (१) संधि करना या युद्ध छेड़ना, (२) उच्चतम न्यायालय का कार्य करना तथा प्रजाजनों की अपीलें सुनना, (३) अधिकारियों को शासन करने का अधिकार देना, (४) करों को माफ करना तथा कानून से मुक्ति देना, (५) प्राणदण्ड देना, (६) मुद्रा-प्रणाली का मूल्य और स्वरूप निश्चित करना, (७) सब नागरिकों से उनकी शपथों का पालन कराना।

---

१. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३८०।

(ग) प्रभुसत्ता की मर्यादायें (Limitations on Sovereignty)— प्रभुसत्ता को सर्वोच्च मानते हुए भी बोदँ इसे मर्यादित करने वाले कई प्रतिबन्धों का उल्लेख करता है। **पहला** प्रतिबन्ध तो भगवान् के तथा प्रकृति के नियमों का है। राजा सर्वशक्तिमान् प्रभु होता हुआ भी ईश्वरीय तथा प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके शब्दों में "कानून की बाध्यकारी शक्ति से प्रभुसत्ता के स्वतन्त्र होने के संबंध में जो कुछ कहा गया है, उसका ईश्वरीय या प्राकृतिक कानून से कोई संबन्ध नहीं है।"[1] राजा इन कानूनों का पालन करने के लिए बाधित है।

यदि ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों के पालन का बंधन प्रभुसत्ता वाले राजा पर लागू न किया जाय और इसे केवल सर्वोच्च तथा पूर्णतया निरपेक्ष (Absolute) और निरंकुश शक्ति माना जाय तो इससे बड़ा अनिष्ट परिणाम यह उत्पन्न होगा कि चोर-डाकुओं के विशाल संगठन के नेता को भी प्रभु मानना पड़ेगा क्योंकि उसमें उनके सरदार की इच्छा ही कानून होती है और वह किसी बाह्य शक्ति के आधिपत्य में नहीं होता।[2] ऐसा होने पर भी वह प्रभु नहीं है, क्योंकि वह प्राकृतिक नियमों का पालन नहीं करता। बोदँ के मतानुसार प्राकृतिक नियम बुद्धि द्वारा ज्ञात किये जाने वाले, मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करने वाले नैतिक नियम हैं, वे भगवान् के आदेश हैं। उनका पालन अवश्य किया जाना चाहिए। मनुष्य आदम के पतन के बाद पापी और दुष्ट प्रकृति का हो जाने के कारण इन नियमों का पालन नहीं करता। अतः सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न राजा मनुष्यों को इन ईश्वरीय नियमों का पालन कराने के लिए बाधित करता है। मनुष्य अपनी वासनाओं के वशीभूत होकर इन नियमों का उल्लंघन करते हैं। किन्तु ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह बुद्धि एवं न्याय से शासन करता हुआ जनता को ईश्वरीय नियमों के पालन के लिए विवश करे और स्वयं इनका अनुसरण करे। उसके शब्दों में उत्तम राजा "प्रकृति के नियमों का पालन करता है।" इसका यह अर्थ है कि वह "सूर्य की चमक के समान स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाले प्राकृतिक न्याय के अनुसार अपने प्रजाजनों का शासन और मार्गदर्शन करता है।"[3] सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए ईश्वरीय और नैतिक नियमों का पालन करना अनिवार्य है। उसके मतानुसार वही व्यक्ति प्रभु है, जो अमर भगवान् के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति को अपने से ऊंचा नहीं समझता।" (१।६)।

दूसरा प्रतिबन्ध देश के मौलिक कानूनों का है। प्रत्येक देश में संविधान संबंधी कुछ ऐसे नियम होते हैं, जिन्हें कोई राजा नहीं तोड़ सकता। उदाहरणार्थ, फ्रांस की एक पुरानी जाति—सेलियम फ्रेंकों के सुप्रसिद्ध सैलिक कानून (Salic Law) के अनुसार स्त्रियाँ भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित थीं, अतः उन्हें भाई न होने पर भी राजगद्दी पर बैठने का कोई अधिकार नहीं था। बोदँ का यह मत है कि फ्रांस का कोई भी राजा इस पुराने कानून का उल्लंघन करके अपनी पुत्री को अपना उत्तराधिकारी नहीं बना सकता था।

---

१. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० ३७६।
२. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ६०।
३. बौले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० २६०।

तीसरा प्रतिबन्ध सम्पत्तिविषयक है। उसका यह कहना है कि प्रभुसत्ता राजनीतिक क्षेत्र से संबंध रखती है। इस क्षेत्र में राजा को पूर्ण एवं सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु साम्पत्तिक क्षेत्र में उसे ऐसे कोई स्वत्व नहीं हैं। राजनीतिक और साम्पत्तिक क्षेत्रों को पृथक् एवं विभिन्न मानने में उसने रोमन कानून की "प्रभुशक्ति (Imperium) तथा स्वामित्व (Dominium) में सूक्ष्म अन्तर करने की पद्धति का अनुसरण किया है। वह सम्पत्ति को इतना पवित्र समझता है कि राजा स्वामी की सहमति के बिना सम्पत्ति का स्पर्श तक नहीं कर सकता। अतएव उसने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि राजा को स्वयमेव अपनी इच्छा से प्रजा पर कोई टैक्स लगाने का अधिकार नहीं है। जनता के तीनों वर्गों के प्रतिनिधियों की सभा (Estates General) के परामर्श और स्वीकृति से ही वह कोई कर लगा सकता है।

(घ) प्रभुसत्ता के विचार की असंगतियाँ (Contradictions in the concept of Sovereignity)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बोदें के प्रभुसत्ता के विचार में अनेक प्रकार के विरोध और असंगतियाँ हैं। एक ओर तो वह प्रभु को सर्वशक्तिमान् समझता है, उसकी सत्ता को किसी भी कानून से अमर्यादित (Legibus soluta) समझता है। दूसरी ओर वह इस पर कई प्रकार की मर्यादायें और प्रतिबन्ध लगाता है। ये दोनों परस्पर-विरोधी और असंगत विचार हैं। प्रभु पर यदि कोई प्रतिबंध होंगे, तो वह सर्वोच्च शासक कैसे हो सकता है? असीम शक्ति का उपभोग कैसे कर सकता है? किन्तु बोदैं प्रभु को सर्वोच्च शासक मानते हुए भी तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उस पर तीन प्रकार के प्रतिबन्ध मानता है। बोदें का युग धार्मिक कट्टरता का था। यद्यपि मेकियावेली ने धर्म और नैतिकता के विचार को राजनीति के क्षेत्र में सर्वथा तिलांजलि दे दी थी, किन्तु बोदैं ऐसा नहीं कर सका। वह अपने युग की धार्मिक भावना से प्रभावित हुआ। उसने यह कहा कि यद्यपि प्रभुसत्ता रखने वाला शासक सर्वोच्च एवं निरंकुश होता है, उसकी इच्छा ही कानून होती है, फिर भी वह भगवान् के और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करे तो उसके राज्य में तथा चोर-डाकुओं के गिरोह में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अतः उसे प्रकृति और ईश्वर के नियमों का पालन करना चाहिए। उदाहरणार्थ, राजा यदि अपनी प्रजा या दूसरे राज्यों के साथ कोई समझौता करे तो उसे पूरा करना चाहिए। यदि राजा अपने अधिकारियों को ईश्वरीय नियमों के प्रतिकूल कोई आदेश दे तो उनका कर्त्तव्य है कि वे उन आदेशों का पालन न करें।

बोदें के प्रभुसत्ता के विचार की **दूसरी** बड़ी असंगति यह थी कि निरंकुश प्रभु के असीम अधिकार को मानते हुए भी उसने उन पर यह प्रतिबन्ध लगाया कि उसे राज्य के मौलिक तथा संवैधानिक कानून (Fundamental and constitutional Laws) को तोड़ने का अधिकार नहीं है। वह इन कानूनों (Leges imperii) में रंच मात्र परिवर्तन नहीं कर सकता था। राज्य की पुरानी परम्पराओं और व्यवस्थाओं के पालन के लिए वह बाधित था। उदाहरणार्थ, प्रभुसत्तासम्पन्न राजा अपने राज्य का कोई प्रदेश अपनी इच्छा से किसी दूसरे राज्य को नहीं दे सकता। अपनी बेटी को अपना उत्तराधिकारी नहीं बना सकता। **तीसरी** असंगति साम्पत्तिक अधिकारों की है। वह नागरिकों की सम्पत्ति को इतना पवित्र समझता था कि निरंकुश सत्ता रखने वाला

प्रभु इसे उनसे छीनने का कोई अधिकार नहीं रखता। वह इस पर कर भी जनता के प्रतिनिधियों की सहमति से ही लगा सकता था। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता था कि प्रतिनिधिसभा राजा को परामर्श देने का ही अधिकार रखती है और यह अधिकार उसे प्रभुसत्तासम्पन्न राजा प्रदान करता है।

किन्तु इन असंगतियों तथा विरोधों के होते हुए भी बोदँ का प्रभुसत्ता का विचार राजनीतिक विचारों के इतिहास में बहुत महत्त्व रखता है। यही आगे चलकर राष्ट्रीय राज्य के विकास का आधार बना। इस समय तो यह विचार सर्वथा स्वाभाविक समझा जाता है, किन्तु १६वीं शताब्दी के लिए यह बिल्कुल नवीन क्रान्तिकारी विचार था। उस समय भगवान् की व्यवस्था द्वारा बनाये हुए एक सार्वभौम ईसाई समाज का विचार प्रचलित था (देखिये पृ० २८०)। बोदँ ने अपने विचार द्वारा व्यक्तियों से बनने वाले एक सर्वशक्तिशाली राज्य की नवीन विचारधारा को जन्म दिया। गीर्के ने लिखा है, "अब यह विचार समाप्त होने लगा कि राजा भगवान् द्वारा व्यवस्थापित सार्वभौम समाज के सामंजस्य से उत्पन्न हुआ है।...अब (राज्य की) विचारधारा को आरम्भ करने का बिन्दु सामान्य मानव समाज नहीं रहा।...राज्य को व्यक्तियों के सम्मिलन पर आधारित समझा जाने लगा।.. प्रभुसत्ता का शब्द ऐसी जादू की छड़ी बन गया, जिससे राज्य के समूचे अर्थ और अन्तर्वस्तु को इन्द्रजाल की भाँति प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता था।"[1] इस प्रकार वर्त्तमान प्रभुशक्तिसम्पन्न राज्य के उस विचार का श्रीगणेश हुआ, जिसकी चरम परिणति योरोप के अनेक नागरिकों के जीवन पर असाधारण अधिकार रखने वाले वर्त्तमान राज्यों में दिखाई देती है। बौले के मतानुसार बोदँ के इस विचार के बाद "प्राचीन रोम की विश्व-व्यवस्था के तथा सन्त थामस और दांते द्वारा परिकल्पित ईसाई समाज के विचारों का परित्याग कर दिया गया और योरोप ने बीसवीं शताब्दी के महायुद्धक्षेत्र (Armageddon) की ओर प्रयाण आरम्भ किया।"[2]

(२) **राज्य विषयक विचार**—राज्य की उत्पत्ति के संबंध में बोदँ अरस्तू की भाँति यह मानता था कि इसका मूल परिवार है। मनुष्य समाज में रहने की अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण पहले परिवार का और फिर राज्य का निर्माण करता है। विभिन्न पारिवारिक समूहों में लड़ाइयाँ होती हैं तो विजेता अपनी शक्ति द्वारा दूसरों को दास बनाता है। ये राज्य की प्रजा तथा विजेता शासक बन जाता है। यद्यपि राज्य में परिवार, व्यापारिक कम्पनियाँ, कम्यून आदि अनेक प्रकार के संगठन होते हैं, किन्तु इनके अपने कोई अधिकार नहीं होते। ये पूर्णरूप से राज्य के आधीन होते हैं। राज्य के नागरिक विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों के व्यक्ति हो सकते हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता राज्य की प्रभुशक्ति के आधीन होना है। उसके मतानुसार नागरिक ऐसा स्वतन्त्र व्यक्ति है, जो राज्य की प्रभुशक्ति का वशवर्त्ती है।

वह राजा की दैवी सत्ता में आस्था रखता है, बाइबल के प्रमाणों से यह सिद्ध करता है कि उसे अपने अधिकार भगवान् से प्राप्त होते हैं। उसने राज्य और सरकार

---

१. गीर्के—नेचुरल ला एण्ड दी थियोरी ऑफ दी स्टेट, खं० १, पृ० ४०-४१।
२. बौले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० २९१।

का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रभुसत्ता राज्य की विशेषता है और यह जिस पद्धति द्वारा क्रियात्मक रूप में आती है, वह सरकार है। प्रभुशक्ति एक व्यक्ति में निहित हो तो राज्य राजतन्त्र होता है, यदि यह नागरिकों की अल्पसंख्या में हो तो कुलीनतन्त्र तथा बहुसंख्या में हो तो लोकतन्त्र बनता है। वह अरस्तू, पोलिबियस, सिसरो आदि के मिश्रित राज्य (Mixed State) का विरोधी था, क्योंकि उसके मत में प्रभुसत्ता एक ही स्थान में रह सकती थी। वह अपने जमाने की पार्लियामेंटों तथा इस्टेट्स जनरल द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अधिकारविषयक दावों का उग्र विरोधी था। उसका यह कहना था कि इनमें से कोई भी प्रभुशक्ति नहीं है, ये केवल परामर्श देने का ही अधिकार रखती हैं। उसने योरोप की तत्कालीन शासन-प्रणालियों का विशद तथा तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया। वह विभिन्न शासन-प्रणालियों में आनुवंशिक राजतन्त्र (Hereditary monarchy) को श्रेष्ठ समझता था क्योंकि इसमें राज्य को निर्बल बनाने वाली दलबन्दियाँ और झगड़े सबसे कम होते हैं।

(३) **क्रान्तियाँ** —अरस्तू की भाँति बोदें ने क्रान्तियों (Revolutions) का बड़ा रोचक विवेचन किया है। मैक्सी के मतानुसार इस विषय में उसका विवेचन यूनानी दार्शनिक से आगे बढ़ा हुआ है। अरस्तू क्रान्तियों को असाधारण (Abnormal) मानता था, बोदें इसे सर्वथा सामान्य समझता है। मनुष्यों के जीवनचक्र की भाँति राज्य भी जन्म लेते हैं, युवा होकर पूर्ण विकास को पाते हैं, इसके बाद उनकी क्षीणता आरम्भ होती है और अन्त में उनका अवसान हो जाता है। राज्यों में परिवर्तन होना अवश्यंभावी है और यह सदैव होता रहता है। यह शनैः-शनैः अज्ञात रीति से तथा सहसा बड़े उग्र-रूप में भी होता है। किन्तु जब तक राज्य की सर्वोच्च प्रभुशक्ति के अधिष्ठान में कोई परिवर्तन नहीं होता तब तक क्रान्ति नहीं होती। क्रान्ति का अर्थ ही प्रभुशक्ति के अधिष्ठान में परिवर्तन आना है।

क्रान्ति के उत्पादक कारणों के संबंध में बोदें ने बड़ा मनोरंजक विवेचन किया है। उसका यह मत है कि ये क्रान्तियाँ तीन प्रकार से होती हैं—(१) दैवी कारणों से, (२) मानवीय कारणों से, (३) प्राकृतिक कारणों से। इनमें से पहले दो कारणों का जानना मनुष्य के लिए संभव नहीं। विधाता की इच्छा और रहस्य को कौन जान सकता है? मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा के इतने विभिन्न रूप होते हैं कि यह हमारे लिए अज्ञेय है। हम केवल सम्यक् निरीक्षण से प्राकृतिक कारणों को ही समझ सकते हैं। इनमें वह ग्रह-नक्षत्रों, जलवायु और भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव का विस्तृत रूप से वर्णन करता है।

(४) **फलित ज्योतिष और ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव** —उसके मतानुसार ग्रह-नक्षत्र मानवीय जीवन तथा राज्यों को बहुत प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, वृश्चिक राशि में बड़े ग्रहों का योग बड़े उपद्रव और अनर्थ का सूचक होता है। रोमन गणराज्य के राजतन्त्र में परिणत होने से चार-पांच वर्ष पहले ऐसे ग्रहों का योग हुआ था तो योरोप में युद्ध का दावानल भड़क उठा। पुनः ऐसी ग्रहदशा ६३० ई० में आई, उस समय इस्लाम का उत्थान हुआ और उसने बाइज़ैण्टाइन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करके निकट पूर्व के राजनीतिक संगठन, भाषा, रीति रिवाज और धर्म को बदल डाला। १४६६ ई० में पुनः वृश्चिक राशि में ग्रहों का ऐसा योग हुआ और योरोप, एशिया तथा अफ्रीका में गृहयुद्धों

की अग्नि भड़क उठी।[1] बोदँ ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि ग्रह-नक्षत्रों और ग्रहणों के प्रभाव का गम्भीर वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। जैसे चिकित्सक रोगों के निवारण के लिए शरीरशास्त्र, द्रव्यगुणशास्त्र आदि का अनुशीलन करते हैं, वैसे ही राजनीतिज्ञों को ज्योतिष का स्वाध्याय करना चाहिएं ताकि वे राज्य में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले मौलिक कारणों का ज्ञान प्राप्त कर सकें और आगामी संकटों का समुचित प्रतिकार करें। कुछ विद्वानों ने उसके इन दकियानूसी मध्यकालीन विचारों की कटु आलोचना की है। किन्तु मैक्सी का कहना है कि क्या पता वह इनके वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा उन आधुनिक विचारों की पूर्व सूचना दे रहा है, जो मानवीय घटनाओं का संबंध सूर्य के धब्बों और सौर शक्ति के विभिन्न चक्रों के साथ जोड़ते हैं।[2]

(५) **जलवायु का प्रभाव**—उसने अपनी **'इतिहास की पद्धति'** (अध्याय ५) तथा गणराज्य के ग्रन्थ (५।१) में राज्य पर प्रभाव डालने वाली भौगोलिक परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन किया है। उसका यह कहना है कि मनुष्यों का स्वभाव, उनके कानून, शासन-व्यवस्था तथा सामाजिक संगठन जलवायु से निश्चित होते हैं। अतः सब राज्यों में एक जैसे कानून नहीं चल सकते। जैसे वास्तुकार विविध स्थानों में अपने भवनों का निर्माण वहाँ पायी जाने वाली मिट्टी के आधार पर विभिन्न रूप से करता है, उसी तरह राज्य का रूप भी प्राकृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आने से बदल जाता है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो उत्तरी, दक्षिणी तथा मध्यवर्त्ती प्रदेशों के निवासी क्रमशः युवकों, बूढ़ों और अधेड़ उम्र वालों के गुण रखने वाले प्रतीत होंगे। उत्तरी राज्यों का शासन शक्ति से, मध्यवर्त्ती राज्यों का न्याय से तथा दक्षिणी राज्यों का धर्म से होता है। उत्तर की जर्मन जातियों के बारे में टैसिटस ने लिखा है कि उनके शासकों के पास तलवार को छोड़कर कोई दूसरी शक्ति या आधार नहीं है। सीज़र ने लिखा था कि वे लड़ने के सिवाय किसी अन्य वस्तु में दिलचस्पी नहीं लेते। मध्यवर्त्ती प्रदेशों के लोग न तो दक्षिण वालों की भाँति अधिक अन्ध-विश्वासी होते हैं और न उत्तर वालों की भाँति अधिक हिंस्र स्वभाव वाले लड़ाकू योद्धा होते हैं। वे अपने झगड़ों का निबटारा बुद्धि से, न्यायाधीशों द्वारा तथा कानूनी प्रक्रिया से करते हैं। लघु एशिया, यूनान, इटली और फ्रांस के मध्यवर्त्ती प्रदेशों में सब बड़े वक्ता, कानून-निर्माता, विधिशास्त्री, ऐतिहासिक और कवि उत्पन्न हुए हैं। दक्षिण वाले लोमड़ी की तरह चालाक और धूर्त्त होते हैं, इन में धर्म की अधिक उपासना होती है।

प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण मानव स्वभाव भिन्न होने से सब जगह एक-जैसी शासन-व्यवस्था नहीं चल सकती। पहाड़ों में रहने वाले तथा उत्तरी जातियाँ लड़ाकू और साहसी होती हैं, उनमें निर्वाचित राजतन्त्र (Elective monarchy) या लोकप्रिय शासन ही चल सकता है। अपने पर अत्याचार करने वाले किसी तानाशाह का शासन वे सहन नहीं कर सकते। अतः स्विस लोगों में लोकप्रिय शासन को हटाकर राजतन्त्र की स्थापना करना भारी भूल होगी।[3]

---

१. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खं० २, पृ० ७६-७।
१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० १७०।
३. जोन्स—वही पुस्तक, पृ० ७६-८०।

बोदँ ने जलवायु के प्रभाव के संबंध में जो बातें लिखी हैं, उनमें से अधिकांश आजकल निरर्थक समझी जाती हैं। किन्तु इस विषय में उसे इस बात का श्रेय है कि इस अध्ययन में उसने इस महत्त्वपूर्ण विचारधारा को पुष्ट किया कि मनुष्य केवल राजनीतिक प्राणी ही नहीं है, वह सामाजिक प्राणी भी है। राजनीतिशास्त्र में मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन को बहुत महत्त्व देना चाहिए। इसकी उपेक्षा करने वाला विशुद्ध बौद्धिक चिन्तन फलप्रद नहीं हो सकता। बोदँ ने इस अध्ययन की प्रेरणा अरस्तू से ग्रहण की तथा अपने परवर्त्ती विचारक मांतेस्क्यू पर भी इस विषय में गहरा प्रभाव डाला।

प्राचीनता और नवीनता का मिश्रण—बोदँ के उपर्युक्त विचारों में हमें दो प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। एक ओर तो वह मध्ययुगीन धार्मिक भावना और अन्ध-विश्वासों का अनुयायी प्रतीत होता है, दूसरी ओर वह सर्वोच्च सत्ता के विचार तथा राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति में सर्वथा आधुनिक विचार रखता है। उसके प्रमुख मध्ययुगीन विचार ये हैं—फलित ज्योतिष और ग्रह-नक्षत्रों के शुभाशुभ प्रभाव में अगाध आस्था, जादू-टोने, भूत-प्रेत आदि में विश्वास रखना। उसने १५८० ई० में तत्कालीन अन्ध-विश्वासों पर तथा शैतानशास्त्र पर De la Demonomanie के नाम से एक ग्रन्थ लिखा था। यह पाँच पुस्तकों में विभक्त है और इसकी दूसरी पुस्तक के छठे-सातवें खण्डों में तत्कालीन अन्ध-विश्वासों का बड़ा सुन्दर चित्रण है। उसे वृक-विद्या (Lycanthropy) के इस सिद्धान्त में विश्वास था कि आदमी बच्चों को खाने से भेड़िया बन जाता है। उसके मतानुसार प्रेत या शैतान हमारे सब कामों को प्रभावित करते रहते हैं। बोदँ का कहना था कि उसके जीवन में ३७वें वर्ष से एक मित्र शैतान उसका पथ-प्रदर्शन करता रहा है। यदि वह कोई बुरा काम करने लगता था तो वह उसके बायें कान को छूकर उसे इसके दुष्परिणाम की सूचना दे देता था तथा अच्छा काम किया जाने से पहले उसके दायें कान का स्पर्श करता था।[1] उसने अपनी पुस्तक में यह भी बताया है कि सरकारी अफसरों को जादू-टोना करने वालों को किस प्रकार पकड़ना चाहिए। उसका यह मत था कि यह संसार भूत-प्रेतों, पिशाचों और शैतान-आत्माओं से भरा हुआ है।

किन्तु इन प्राचीन अन्ध-विश्वासों को मानते हुए भी उसने अनेक सर्वथा नवीन विचार रखे हैं। विधिशास्त्र के अध्ययन में ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रणाली का श्रीगणेश करने का श्रेय उसे प्राप्त है। उसका यह मत था कि राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त का विवेचन केवल इतिहास के आधार पर ही नहीं, किन्तु भौगोलिक, भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के गंभीर अनुशीलन पर होना चाहिए। धार्मिक कट्टरता के युग में भी उसने धार्मिक सहिष्णुता के आधुनिक विचार का प्रबल समर्थन किया। भूत-प्रेतों के बारे में वह प्रत्येक दन्तकथा और किंवदन्ती को सत्य मानता था, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों और स्रोतों के विश्लेषण और विवेचन में उसकी दृष्टि सर्वथा आधुनिक थी। वह राष्ट्र के भौतिक और आर्थिक कल्याण की दृष्टि से संचालित की जाने वाली नीतियों का प्रबल समर्थक था, अर्थशास्त्र के नवीन विज्ञान का फ्रांस में

---

१. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६३।

जन्मदाता था। इस विषय पर उसने १५६८ ई० में Response aux paradoxes de M. de Malestroict नामक पुस्तक भी लिखी थी। इस प्रकार बोदैं में एक ओर जहाँ प्राचीन एवं मध्ययुग की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसमें अर्वाचीन युग के विचारों का परिचय मिलता है। अतः सैबाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि वह प्राचीन और नवीन का विचित्र मिश्रण है।...**वह मध्ययुगीन नहीं रहा,** किन्तु (पूरी **तरह से) आधुनिक भी नहीं बना।**...बोदैं की विचारधारा अन्ध-विश्वास, बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद और पुरातनवाद (Antiquarianism) की पंचमेल खिचड़ी है।"[1]

बोदैं का प्रभाव – उसके ग्रन्थों में मध्ययुग का पुट होते हुए भी उसने तत्कालीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला। गणराज्य पर लिखे उसके ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ और वह कैम्ब्रिज में पाठ्य-पुस्तक बना।[2] इसने ब्रिटिश विचारक हाब्स और फिल्मर की रचनाओं को प्रभावित किया। इसके सर्वोच्च सत्ता के विचार ने राजा को भावात्मक कानून (Positive Law) की मर्यादाओं से मुक्त किया और उसे पार्लियामेंट के इस दावे का विरोध करने की प्रेरणा की कि वह राजा की शक्ति पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार रखती है। बोदैं ने अपने ग्रन्थ में कई स्थानों पर यह सम्मति प्रकट की थी कि इंगलैण्ड में प्रभुसत्ता राजा में निहित है, अतः उसकी रचना का इस देश में विशेष प्रभाव पड़ा और उसकी प्रभुसत्ता का विचार राजनीतिक विचारधारा को आज तक प्रभावित कर रहा है।

राजनीतिशास्त्र में बोदैं की देन—इस क्षेत्र में उसकी **पहली** और सबसे बड़ी देन प्रभुसत्ता का विचार है। पहले (पृ० ३७७-८) बताया जा चुका है कि सर्वप्रथम उसने इसका सुस्पष्ट लक्षण और प्रतिपादन किया, उसने उसे ईश्वर से नहीं, किन्तु मानवीय स्वभाव और आवश्यकताओं से प्रादुर्भूत हुआ माना है। पुराने सार्वभौम ईसाई समाज के स्थान पर उसने इस विचार द्वारा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के नवयुग का श्रीगणेश किया और शनैः-शनैः उसका नवीन विचार सर्वमान्य हो गया और इस समय वह राष्ट्रीय राज्यों का मूलाधार बना हुआ है। उसकी **दूसरी** मौलिक देन राज्य और सरकार में सूक्ष्म भेद का प्रतिपादन करना था। **तीसरी** देन राजनीतिक जीवन पर भौगोलिक और भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव का सुन्दर विवेचन करना था।

आधुनिकता का अग्रदूत (Pioneer of modernity); **बोदैं तथा मेकियावेली की तुलना**—राजनीतिशास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों को आरंभ करने का वास्तविक श्रेय बोदैं को है। इस विषय में मेकियावेली से उसकी तुलना बड़ी मनोरंजक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मेकियावेली ने कुछ आधुनिक प्रवृत्तियों का श्रीगणेश किया। मध्ययुग का राजशास्त्र धर्मप्रधान, रूढ़िवादी, राजसत्ता और धर्मसत्ता के पारस्परिक संबंध निर्धारण करने, धर्मग्रन्थों के वचनों तथा ईसाई आचार्यों के कथनों पर अपने परिणाम निकालने वाला, प्रमाणवादी तथा सार्वभौम ईसाई समाज पर गहरी आस्था रखने वाला

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ३४१-४२।
२. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १८५।

था। किन्तु आधुनिक राजशास्त्र अतीत और वर्त्तमान काल के राज्यों के सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने परिणाम निकालता है, अतः इसकी पद्धति अनुभूतिमूलक (Empirical), आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक है। यह सार्वभौम समाज के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों में तथा इनकी प्रभुसत्ता में विश्वास रखता है। मेकियावेली ने कई अंशों में राजनीतिशास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों का बीजारोपण किया, किन्तु इसे विकसित करने और पूर्ण बनाने का श्रेय बोदैं को है, अतः उसे ही आधुनिकता का अग्रदूत माना जाना चाहिए। इन दोनों के इस विषय में प्रमुख भेद और विचार निम्नलिखित हैं।

(क) अध्ययन पद्धति—इसमें कोई संदेह नहीं कि मेकियावेली ने विशुद्ध धर्म-निरपेक्ष (Secular) दृष्टिकोण को अपनाते हुए प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन से अपने परिणामों को पुष्ट किया, मध्ययुग की निगमनात्मक (Deductive) पद्धति को छोड़ते हुए उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति को अपनाया। एलेन ने मेकियावेली की पद्धति को सबसे महत्त्वपूर्ण माना है। बर्ड के मतानुसार उसने अनुभूति द्वारा तथ्यों को संकलित करके इतिहास के अध्ययन पर आधारित सिद्धान्तों की कसौटी पर उन्हें कसा। किन्तु पहले (पृ० ३५५) यह बताया जा चुका है कि मेकियावेली की इस पद्धति में अनेक दोष थे। उसने इतिहास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया, किन्तु अपने पहले से निश्चित किये गये विचारों की पुष्टि की दृष्टि से ही उसका अनुशीलन किया और उसमें अपने पक्ष के पोषक प्रमाण ढूंढ़े। डनिंग ने इस विषय में उसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि मेकियावेली ने ऐतिहासिक अनुसन्धान की तथा समकालीन राज्यों के निरीक्षण की पद्धति का महत्त्व तो समझा, किन्तु इसे पूरी तरह लागू नहीं किया। उसने इसे अपने अनुभूतिवाद (Empiricism) तक ही सीमित समझा और राज्य के कुछ ऐसे नियम प्रतिपादित किये, जो शासन-संचालन के क्षेत्र तक ही मर्यादित थे, जिनका राज्य के मौलिक सिद्धान्तों से कोई संबंध न था।[1] मेकियावेली की इस अपूर्णता को बोदैं ने दूर किया। उसने अपने Methodus में इस पद्धति का बड़ी स्पष्टता और विस्तार के साथ प्रतिपादन किया तथा विधिशास्त्र में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक पद्धति का श्रीगणेश किया।

(ख) प्रभुसत्ता—मेकियावेली ने आधुनिक राज्य की इस प्रमुख विशेषता का स्पष्ट रूप से कोई विस्तृत उल्लेख या प्रतिपादन नहीं किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह जिस राज्य का वर्णन करता है, वह पूर्ण प्रभुतासम्पन्न है, उसे अपने प्रदेश में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं, वह दूसरे राज्यों पर आक्रमण करके प्रादेशिक विस्तार करने में पूरी तरह स्वाधीन है। किन्तु उसने कहीं भी इसका सुस्पष्ट लक्षण या विवेचन नहीं किया।[2] बोदैं ने लिखा है कि वह प्रभुसत्ता का वर्णन करने वाला पहला लेखक है। इस उक्ति में बहुत सत्य है कि उसने इसके स्वरूप और कामों का पहली बार विस्तृत विवेचन किया। जार्ज कैटलिन ने लिखा है[3] कि वर्त्तमान युग में इस शब्द (Souverainete,

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, खं० २, पृ० १०२।
२. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३०१।
३. कैटलिन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० २०१।

sovereignty) का प्रयोग सर्वप्रथम उसके ग्रन्थ De la Republique में मिलता है और इसके लैटिन अनुवाद में उसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि यह नागरिकों और प्रजाजनों पर ऐसी सर्वोच्च शक्ति है, जो कानून के बन्धन से ऊपर है। प्राचीन एवं मध्यकालीन विचारकों के लिए यह बड़ा क्रान्तिकारी और भयावह विचार था। वे किसी ऐसी शक्ति को मानने को तैयार नहीं थे, जो कानूनों द्वारा मर्यादित न हो। सन्त थामस एक्विनास ने ऐसी शक्ति की तुलना यूनान के अत्याचारी शासक निकेनोर के उच्छृंखल दावों के साथ की थी। इसीलिए बोदैं ने अपनी सर्वोच्च शक्ति पर भगवान् और प्रकृति के नियमों के पालन के प्रतिबन्ध लगाये थे। किन्तु फिर भी वह यह मानता है कि राज्य में सर्वोच्च शक्ति रखने वाले व्यक्ति की इच्छा ही कानून है। अपने समय की अराजक परिस्थितियों का समाधान करने के लिए वह इसे अनिवार्य समझता था और उसने इसे राज्य का आवश्यक सारतत्त्व माना है। उसके मतानुसार यही एक ऐसा तत्त्व था, जो राज्य को एकता तथा शक्ति प्रदान कर सकता है। अतः उसने इसके स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया, जबकि मेकियावेली ने इसकी कोई परिभाषा न करते हुए अस्पष्ट संकेत मात्र किया। अतः इस दृष्टि से बोदैं को ही आधुनिकता का अग्रदूत मानना चाहिए।

(ग) **राज्य की कल्पना**—पहले (पृ० ३५५) यह बताया जा चुका है कि मेकियावेली केवल राज्य संचालन के और राज्य विस्तार के उपायों का निर्देश करता है, राज्य के मौलिक तत्त्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा करता है। एलेन के मतानुसार इसमें बड़ा संदेह है कि वह राज्य के स्वरूप को ठीक तरह से समझता था। उसने इटली के एकीकरण पर बल दिया था, राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का निर्देश किया। किन्तु वह राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप को नहीं समझ सका, इसकी कल्पना नहीं कर सका। प्राचीन एवं मध्यकाल से चली आने वाली विश्वव्यापी साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य को प्रतिष्ठित करने का श्रेय बोदैं को था। मर्रे के शब्दों में "यह कार्य बोदैं के लिए ही सुरक्षित था कि वह यह बताये कि विश्वव्यापी साम्राज्यों के दिन चाहे वे रोमन हों या फ्रेंच, अब बिलकुल लद चुके हैं। नवजात (Nascent) राष्ट्रीयता का दिन आ गया है। इसके साथ ही प्रभुसत्ता का सिद्धान्त बनाने का समय आ गया है। बोदैं ने अपने Republique में यही कार्य किया है और यही उसकी सबसे अधिक स्थायी अवाप्ति है।"[1]

(घ) **भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव**—पहले (पृ० ३९८) यह बताया जा चुका है कि बोदैं ने वर्त्तमान युग में सर्वप्रथम राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव का विशद प्रतिपादन करते हुए इस बात पर बल दिया कि जातियों का स्वभाव उनकी अक्षांश (Latitude) तथा देशान्तर (Longitudes) रेखाओं से निश्चित होता है। उससे पहले प्लेटो तथा अरस्तू (पृ० १९३) ने इस विषय का स्पर्शमात्र किया था, बोदैं की मौलिकता इसका विस्तृत प्रतिपादन करने में है। उसका यह मत है कि उत्तरी अक्षांश रेखाओं के निवासी शारीरिक और भौतिक शक्ति में बढ़े-चढ़े होते हैं तथा दक्षिणी लोग मक्कारी और प्रतिभा में। क्षात्र शक्ति का निवास

---

१. मर्रे—दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टू दी प्रेजेण्ट, पृ० १७१।

उत्तर में है, दर्शन का और सूक्ष्म विषयों का चिन्तन दक्षिण में होता है, मध्यवर्त्ती प्रदेशों के निवासी राजनीति और विधिशास्त्र में पटु होते हैं।[1] उसने विभिन्न शासन-प्रणालियों के स्वरूप और स्थिरता पर पड़ने वाले भौतिक प्रभाव के विस्तृत विवेचन से आधुनिक राजनीतिशास्त्र में एक नई पद्धति का श्रीगणेश किया। मेकियावेली ने इस विषय का कोई वर्णन नहीं किया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बोदँ ने मेकियावेली के अधूरे कार्य को पूरा किया और राजनीतिशास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों को सुप्रतिष्ठित किया। अतः उसे ही आधुनिकता का अग्रदूत मानना चाहिए। जोन्स के सुन्दर शब्दों में "बोदँ मेकियावेली की अपेक्षा अधिक अच्छे रूप में आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के प्रारम्भ का प्रतिनिधि है। वह नवयुग (के प्रासाद) की देहरी (Threshold) पर खड़ा है, जब कि मेकियावेली उसके बैठकखाने (Drawing Room) तक ही पहुँचा है।"[2] डनिंग ने इन दोनों के पारस्परिक संबंध का प्रतिपादन करते हुए कहा है, बोदँ ने एक इटालियन (मेकियावेली) द्वारा प्रारम्भ किये कार्य को पूरा किया।"[3]

बोदँ का राजनीतिक विचारों के इतिहास में स्थान—इस विषय में पहले राजनीतिशास्त्रियों में बड़ा मतभेद था। उसके अपने देश फ्रांस के विचारक झाने (Janet) और बोद्रिलार (Baudrillart) उसे बहुत ऊँचा स्थान नहीं देते, किन्तु जर्मन विद्वान् ब्लुंशली (Bluntschli) तथा गीर्के (Gierke) ने इससे असहमति प्रकट करते हुए उसे ऊँचा स्थान दिया। डनिंग ने इन विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय करते हुए यह सत्य ही लिखा है, कि ऐतिहासिकों तथा आलोचकों में इस विषय में सहमति है कि "बोदँ अरस्तू के पश्चात् अपने स्वरूप और पद्धति से पदच्युत राजनीतिक सिद्धान्त को उसके वास्तविक रूप में वापिस लाया और उसने इसे पुनः विज्ञान का बाह्य रूप प्रदान किया।"[4] पश्चिम में अरस्तू वैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र का विवेचन करने वाला पहला व्यक्ति था। किन्तु उसके बाद यह शास्त्र ईसाइयत से अभिभूत हुआ और धर्मशास्त्र का अंग माना जाता रहा। बोदँ ने इसे पुनः अरस्तू की भाँति निरीक्षण की ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित स्वतन्त्र शास्त्र बनाया। "उस (बोदँ) का प्रशंसनीय रीति से पूर्ण होने वाला कार्य राज्य के सिद्धान्त तथा शासन-संचालन के विज्ञान को इतिहास और निरीक्षण के आधार पर नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के विज्ञानों से पृथक् किन्तु सहवर्त्ती बनाते हुए उस स्थान पर प्रतिष्ठित करना था, जहाँ अरस्तू ने इसे स्थापित किया था।"[5] उसने मध्यकाल के अनेक अन्ध-विश्वासों को स्वीकार करते हुए भी मध्ययुग के प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तों — विश्वव्यापी राज्य की कल्पना आदि को तिलांजलि दी। मेकियावेली की भाँति उसने ऐतिहासिक अनुसंधान तथा समकालीन राज्यों के निरीक्षण की पद्धति पर बल दिया। मेकियावेली की दृष्टि क्रियात्मक

---

१. डनिंग—पोलिटिकल थियोरीज फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० १३३।
२. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ८३।
३. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२१।
४. डनिंग—वही, पृ० १२०।
५. डनिंग—वही, पृ० १२३।

राजनीति (Staatslehre) तक मर्यादित थी, बोदँ ने इसे विशाल और पूर्ण बनाते हुए इसमें राज्य के मौलिक प्रश्नों का चिन्तन किया तथा इसे आधुनिक राजनीतिशास्त्र का रूप प्रदान किया।

ह्यूगो ग्रोशियस (१५८३–१६४५ ई०)

जीवनी—जब बोदँ का अवसान हुआ (१५९६) तो ७ वर्ष की अवस्था में सुललित लैटिन पद्य रचना करने वाला एक डच बालक लीडन के विश्वविद्यालय में ११ वर्ष की आयु में प्रविष्ट होने के बाद विद्वानों को अपनी विलक्षण प्रतिभा से आश्चर्यचकित कर रहा था। १५८३ ई० में ईस्टर रविवार के पवित्र पर्व पर हालण्ड के डेल्फ्ट स्थान में एक सुसंस्कृत सम्पन्न कुल में जन्म लेने वाले इस बालक को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता होने का गौरव प्राप्त है। इसका वास्तविक नाम Huig Van Groot था, किन्तु यह अपने लैटिन उपनाम Hugo Grotius से अधिक प्रसिद्ध है। १४ वर्ष की आयु में उसने विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी करके गणित, दर्शन और कानून पर शोध-निबन्ध लिखे, ग्रीक तथा लैटिन में अनेक कवितायें रचीं। १५ वर्ष की आयु में उसे हालैण्ड के चमत्कार के रूप में एक डच दूतमंडल ने फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ के समक्ष उपस्थित किया, आर्लियन्ज़ के विश्वविद्यालय ने उसे कानून के डाक्टर की उपाधि दी। १६ वर्ष की अवस्था में उसे वकालत की आज्ञा मिली। २० वर्ष की आयु में अन्य सुप्रसिद्ध विद्वानों के होते हुए भी उसे स्पेन के विरुद्ध हालैण्ड के वीरतापूर्ण स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास लिखने का कार्य सौंपा गया। ३० वर्ष की आयु में उसे राटरडम का प्रधान मजिस्ट्रेट (Pensionary) बना दिया गया और एक दूतमंडल के साथ इंगलैण्ड भेजा गया। इंगलैण्ड से विफल होकर लौटने के बाद हालैण्ड के आन्तरिक धार्मिक विवादों के कारण उसका सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया (देखिये नीचे अगला प्रकरण)। मई १६१९ ई० में उसे आजीवन कारावास का दण्ड मिला। किन्तु दो वर्ष बाद अपनी बुद्धिमती पत्नी के सहयोग से वह मार्च १६२१ में पुस्तकों के एक बड़े बक्से में बन्द होकर जेल से भाग निकला और फ्रांस पहुँच गया। उसने अपना शेष जीवन विदेश में ही बिताया। २९ अगस्त १६४५ को यह अपूर्व प्रतिभासम्पन्न विद्वान् दिवंगत हो गया।

ग्रोशियस के समय की परिस्थितियाँ—ग्रोशियस पर अपने समय की परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। १५९९ में एक स्पेनिश जेसुइट मार्याना (Mariana १५३६–१६२३ ई०) ने 'राजत्व और राजा की शिक्षा' (De Rege et Regis Institutione) नामक ग्रंथ में जनता में प्रभुसत्ता निहित होने के (Popular sovereignty) के सिद्धान्त के आधार पर जनता द्वारा शासक के विरुद्ध विद्रोह करने तथा अत्याचारी शासक के वध (Tyrannicide) का समर्थन किया। इसके बाद योरोप में कई राजाओं के वध का प्रयत्न किया गया। १६०५ ई० में इंगलैण्ड में फाक्स गाई (१५७०–१६०६ ई०) ने पार्लियामेंट के भवन को उड़ाने के उद्देश्य से सुप्रसिद्ध गनपाउडर षड़यन्त्र (Gun Powder Plot) रचा। १६१० ई० में फ्रांस में नावारें के हेनरी चतुर्थ (१५८९–१६१० ई०) की हत्या की गयी। इन हत्याओं से

उत्तेजित और संत्रस्त ग्रोशियस जनता के अधिकारों का विरोधी तथा निरंकुश राजसत्ता का प्रबल पोषक हो गया। उसके समय में लूथर और कैल्विन के अनुयायियों में तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में क्षुद्र बातों को लेकर बड़े उग्र विवाद हो रहे थे। उसके अपने देश में लीडन विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक आर्मीनियस (Arminius) ने जब नियतिवाद (Predestination) और प्रायश्चित के संबंध में कुछ उदार विचार रखे तो इनका एक दूसरे प्राध्यापक गोमर (Gomar) ने घोर विरोध किया। सारे हालैण्ड में आर्मिनियस तथा गोमर के अनुयायियों (Arminians and Gomarists) में तीव्र संघर्ष छिड़ गया। इसे शान्त करने के प्रयत्न में ग्रोशियस गोमरमतवादियों का कोपभाजन बना और उसे आजीवन कारावास का दण्ड मिला। इन धार्मिक झगड़ों से उसे गहरा आघात पहुँचा। बोदें की भाँति वह भी धार्मिक उदारता तथा सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रबल पोषक बन गया और ईसाइयत की असली शिक्षाओं के पालन पर बहुत बल देने लगा। इसका प्रतिपादन उसने अपने ग्रंथ De Veritate Christian oe Religionis में किया।

ग्रोशियस पर प्रभाव डालने वाली **तीसरी** परिस्थिति तत्कालीन युद्ध और उनमें बरती जाने वाली बर्बरता और नृशंसता थी। उसके जीवनकाल में फ्रांस में गृहयुद्ध हुए और हालैण्ड में धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष हुए, जर्मनी में तीसवर्षीय युद्ध (१६१८–१६४८ ई०) चला। इनमें "जंगली जातियों को मात देनेवाली स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता प्रदर्शित होती थी। अत्यन्त तुच्छ कारणों से या अकारण युद्ध छेड़ दिये जाते थे। एक बार युद्ध छिड़ जाने पर सभी ईश्वरीय और मानवीय नियम भुला दिये जाते थे। बिना किसी प्रतिबन्ध के सब प्रकार के अत्याचार और क्रूरतापूर्ण कार्य करने की दोनों पक्षों को खुली छूट मिल जाती थी।"[1] इन युद्धों में तटस्थ एवं छोटे राज्यों के हितों का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था। ग्रोशियस हालैण्ड के व्यापारी राज्य का निवासी था। ऐसे छोटे राज्यों को युद्ध के समय तटस्थ रहने पर भी भीषण क्षति उठानी पड़ती थी क्योंकि योद्धा राष्ट्र उनके कोई अधिकार स्वीकार नहीं करते थे। इस भयावह अराजक स्थिति का प्रतिकार करने के लिए ग्रोशियस ने विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों के विषय में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का निर्धारण करना आवश्यक समझा। इसके अतिरिक्त १६वीं शताब्दी से कई अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें उग्र हो रही थीं। इसके प्रधान कारण थे—अमरीका तथा अन्य नये प्रदेशों की खोज, इनमें बस्ती बसाने तथा व्यापार करने के लिए विभिन्न राष्ट्रों की तीव्र प्रतिद्वन्द्विता, योरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में सहायक पवित्र रोमन सम्राट् की तथा पोप की प्रभुता में क्षीणता आना, धर्मसुधार आन्दोलन के कारण उत्पन्न होने वाले विवाद। इन विवादों से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए उस समय अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का निर्माण आवश्यक हो गया।

ग्रोशियस के ग्रन्थ—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ओर ग्रोशियस का ध्यान सर्वप्रथम एक कानूनी मामले द्वारा आकृष्ट हुआ। इस समय हालैण्ड और स्पेन का युद्ध चल रहा था। इसमें डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के बेड़े ने मलक्का के समीप पुर्त्तगाल का एक जहाज

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६१।

पकड़ लिया। पुर्तगाल उस समय स्पेन के आधीन था और इस जहाज पर बहुमूल्य माल लदा हुआ था। इस जहाज को हालैण्ड लेजाकर इसका माल बेच दिया गया। किन्तु कम्पनी के हिस्सेदारों ने इस कार्य पर इस कारण आपत्ति की कि ईसाइयों को आपस में नहीं लड़ना चाहिए। कम्पनी ने इस विषय में ग्रोशियस से सम्मति माँगी। उसने इसके सभी पहलुओं का गंभीर अध्ययन और मौलिक चिन्तन करके 'लूट के माल का कानून' (De Jure Praedea) नामक पुस्तक तैयार की। इसी के एक अध्याय में युद्ध के समय समुद्री व्यापार का विस्तृत वर्णन करते हुए उसने 'स्वतन्त्र समुद्र' (Mare Liberum) नामक पुस्तक प्रकाशित की (१६०९ ई०)। इसके बाद भी वह निरन्तर इस विषय का अध्ययन और मनन करता रहा और अन्त में हालैण्ड के कारावास से पलायन के बाद पेरिस में १६२५ ई० में उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **'युद्ध और शान्ति पर'** (De Jure belli ac pacis) प्रकाशित की। इसमें उस समय तक के अन्तर्राष्ट्रीय विधिविषयक चिन्तन का बड़ा हृदयंगम और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन और अब तक के इस विषय के समूचे विचारों का संकलन और समन्वय था। हर्नशा के शब्दों में 'इसमें प्राचीन (विद्वानों) की सर्वमान्य बुद्धिमत्ता का सारांश था और इसे पुनर्जागरण और धर्मसुधार आन्दोलनों से उत्पन्न परिस्थितियों में लागू किया गया था। इसमें प्रकृति के कानून और राष्ट्रों के कानून के संबंध में स्टोइक दार्शनिकों, रोमन वकीलों, स्कालेस्टिक धर्मशास्त्रियों द्वारा लिखी गई सभी बातों का संक्षेप था और इन सब को मिला कर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और रिवाज के बहुमूल्य प्रासाद की ठोस नींव रखी गई थी।'[1] इसमें मुख्यरूप से तीन सिद्धान्तों का वर्णन है—(१) प्राकृतिक नियम, (२) राष्ट्रों का कानून, (३) प्रभुसत्ता और सरकार विषयक सिद्धान्त।

ग्रोशियस के सिद्धान्त—(क) प्राकृतिक नियम (Law of Nature)— अरस्तू की भाँति ग्रोशियस यह मानता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की सत्ता बनाये रखने के लिए कानून अनिवार्य है। उसका यह कहना है कि चोरों तथा डाकुओं को भी अपना समाज बनाने के लिए कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। जब उनकी यह दशा है तो मानव जाति के उच्च समाजों के लिए कानून की सत्ता और भी अधिक आवश्यक हो जाती है। अतः कानून और समाज का चोलीदामन का साथ है। एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। इसके साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि मनुष्य तर्क करने वाला बुद्धिमान् प्राणी है और मानव समाज तर्क और बुद्धि का परिणाम है। इससे यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि समाज की भाँति कानून भी बुद्धि से प्रादुर्भूत होता है। जहाँ कहीं सामाजिक जीवन है, वहाँ बुद्धि तथा बुद्धि पर आधारित कानून अवश्य होगा।

सब मनुष्यों की प्रकृति एक-जैसी होती है, अतः उनकी बुद्धि से बना हुआ कानून भी सब जगह एक-जैसा तथा विश्वव्यापी होगा। यही प्राकृतिक कानून है। इसका लक्षण करते हुए उसने कहा है, "प्राकृतिक कानून सद्बुद्धि द्वारा दिया गया आदेश (Dictate of Right Reason) है। यह इस बात को सूचित करता है कि

---

१. हर्नशा—दी सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज ऑफ दी सिक्सटीन्थ एण्ड सेवन्टीन्थ सेंचुरीज़, पृ० १३७।

कोई कार्य मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति के अनुकूल या प्रतिकूल होने के कारण या तो नैतिक दृष्टि से सत्, असत् या आवश्यक है।"[1] यह प्राकृतिक कानून सर्वथा अपरिवर्त्तनशील है। इसमें भगवान् स्वयं कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकता, क्योंकि वह किसी सत् कार्य को उसी प्रकार असत् नहीं बना सकता, जैसे वह दो और दो का जोड़ पाँच नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियम भगवान् के नियम से किसी भी अंश में हीन नहीं है और यह ईश्वरीय नियम (Divine Law) से तथा इलहाम से सर्वथा स्वतन्त्र है। यदि भगवान् और उसका नियम न होता तो भी मानवीय प्रकृति और बुद्धि पर आधारित प्राकृतिक नियम होता। ग्रोशियस प्राकृतिक कानून का एकमात्र मूलस्रोत बुद्धि को मानता है और हाब्स आदि अन्य विचारकों की भाँति उपयोगिता (Utility) अथवा औचित्य (Expediency) को इसका मूल कारण नहीं स्वीकार करता।

ग्रोशियस दो प्रकार का प्राकृतिक नियम (Jus Naturalae) मानता है—(क) राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व प्रकृति की आदिम दशा का विशुद्ध प्राकृतिक कानून (Pure Law of Nature)। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक स्वामित्व की प्रथा आरम्भ होने से पहले सभी वस्तुओं पर सब व्यक्तियों का संयुक्त स्वामित्व था, वे इनका उपभोग कर सकते थे। अतः संयुक्त सम्पत्ति का नियम विशुद्ध प्राकृतिक कानून है। (ख) समाज के निर्माण के बाद तथा विभिन्न देशों के राजनीतिक कानून बनने से पहले के प्राकृतिक नियम। प्राकृतिक कानून को पहचानने की तीन कसौटियाँ हैं—(१) सामान्य व्यक्ति का अन्तःकरण,[2] (२) सर्वोत्तम दिमाग और मन रखने वाले व्यक्तियों की एकमतिता, (३) सभ्य राष्ट्रों की नीति, रिवाज और आचार।

प्राकृतिक कानून बुद्धि पर आधारित है। किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के कानून इच्छा (Volition) पर आधारित हैं। इनका मूल किसी की इच्छा होती है। इसे वह इच्छामूलक कानून (Jus Voluntarium, Volitional Law) कहता है। जिस प्रकार प्राकृतिक कानून बुद्धि का आदेश होता है, उसी प्रकार इच्छामूलक कानून इच्छा का आदेश होता है। इसके कई भेद किये जाते हैं: **पहला भेद** ईश्वरीय नियम (Jus Divinum) भगवान् की इच्छा होता है। **दूसरा भेद** राज्य का नियम (Jus civile) राज्य की इच्छा होता है। **तीसरा भेद** राष्ट्रों का कानून या जस जैन्शियम (Jus Gentium) होता है। पहले (पृ० २२७) रोमन कानून के प्रकरण में इसके विकास का प्रतिपादन करते हुए यह बताया जा चुका है कि यह रोमन साम्राज्य में रहने वाले विदेशियों के पारस्परिक संबंधों का नियन्त्रण करने के लिए विकसित हुआ था। किन्तु मध्ययुग में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न नस्लों और संस्थाओं वाले स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक संबन्धों को नियन्त्रित करने वाले नियमों के लिए होने लगा। ग्रोशियस ने जस जैन्शियम का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। निम्नलिखित तालिका से उसके विभिन्न प्रकार के कानूनों का स्पष्टीकरण हो जायेगा :—

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६५।

२. मि० अभिज्ञानशाकुन्तलम् (१।२३)—सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। 'स्वस्य च प्रियमात्मन'—मनु २।१२।

कानून
- प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae)
- इच्छामूलक कानून (Jus Voluntarium)
  - ईश्वरीय इच्छामूलक कानून (Jus Divinum)
  - मानवीय इच्छामूलक कानून
    - राजकीय कानून (Jus Civile)
    - अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium)
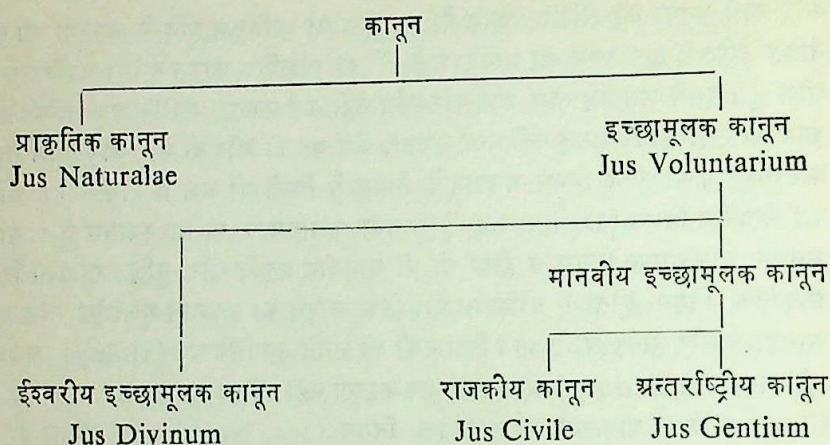
अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रों का कानून (Jus Gentium) – ग्रोशियस ने इसे इच्छामूलक कानून (Volitional Law) माना है। इसमें उन सब नियमों का समावेश होता है, जिनका पालन करना सब राज्य या अधिकांश राज्य आवश्यक समझते हैं। इसमें सम्मिलित किये जाने वाले नियम दो प्रकार के होते हैं — (क) निरन्तर चली आने वाली प्रथाओं से प्रमाणित और पुष्ट होने वाले नियम। (ख) विद्वानों की साक्षी (Testimonic peritorum Private) से प्रमाणित होने वाले नियम। इस प्रकार के नियमों को बनाने का उद्देश्य सब अथवा अधिकांश राष्ट्रों की भलाई या कल्याण की कामना होती है, जैसे राज्य के कानूनों का लक्ष्य उसमें निवास करने वाले सभी व्यक्तियों की सामूहिक भलाई होती है। इन नियमों का मूल कारण किसी राष्ट्र द्वारा केवल अपने हितों की रक्षा या स्वार्थसिद्धि नहीं होती। जिस प्रकार राज्य में व्यक्ति केवल कोरी स्वार्थ भावना से नहीं, किन्तु सामाजिक जीवन बिताने की भावना से कानूनों का निर्माण करता है, उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय नियम भी अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सामूहिक कल्याण की दृष्टि से बनाये जाते हैं। जैसे राज्य में संगठित होते समय व्यक्ति सामुदायिक हित की दृष्टि से अपनी कुछ स्वतन्त्रता छोड़ देते हैं, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सामूहिक कल्याण की दृष्टि से राज्य अपनी सर्वोच्च सत्ता का कुछ अंश छोड़ते हैं।

जस जैन्शियम को ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून से हीन कोटि का समझा है, यदि दोनों में विरोध हो तो प्राकृतिक कानून को ही ठीक माना है। डच विचारक जस जैन्शियम की कल्पना के संबंध में बोदँ और विंकलर का ऋणी है। बोदँ से उसने यह विचार लिया है कि वह दैवी नियम नहीं, किन्तु मानवीय बुद्धि का आदेश है। विंकलर के प्रभाव से वह यह मानता है कि जस जैन्शियम वैयक्तिक (Private) नहीं, किन्तु सार्वजनिक कानून (Public Law) है। रोमन साम्राज्य में जस जैन्शियम विदेशियों की सम्पत्ति, विवाह और ठेकों से संबंध रखने वाला वैयक्तिक कानून था, अब इसे विभिन्न राज्यों में पाये जाने वाले सामान्य कानून अथवा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्पर्क को नियन्त्रित करने वाला कानून माना जाने लगा।

इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण और जटिल प्रश्न यह था कि क्या अधिकांश या सभी राज्यों में पाये जाने वाले कानून को जस जैन्शियम माना जा सकता है।

उदाहरणार्थ, ग्रोशियस युद्ध को तभी न्यायोचित मानता है, जब यह जान और माल की रक्षा करने के लिए लड़ा जाय। किन्तु क्या इसे ऐसे शत्रु के विरुद्ध छेड़ा जा सकता है, जो अभी तक तो अपने पड़ोसी के लिए खतरनाक नहीं हुआ, किन्तु ऐसी शक्ति का विकास और संचय कर रहा है कि निकट भविष्य में दूसरे देश को भीषण संकट में डाल दे। ग्रोशियस ऐसे युद्ध को अन्यायपूर्ण मानता है, किन्तु उससे पहले के एक विचारक जैण्टिली ने ऐसे युद्ध को सर्वथा न्यायोचित बताया था। इस प्रश्न को यदि राज्यों में प्रचलित परम्परा और कानून की दृष्टि से देखा जाय तो जैण्टिली का मत यथार्थ प्रतीत होगा, क्योंकि सभी राज्य ऐसी स्थिति में अपने शत्रु पर हमला कर देते हैं। किन्तु ग्रोशियस इसे इसलिए ठीक नहीं मानता कि ऐसा कार्य करने वाले राज्य अनुकरण करने योग्य उच्च कोटि के या उत्कृष्ट राष्ट्र (Better nations) नहीं हैं, अथवा ऐसी प्रथाओं का समावेश अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सत्ता को बनाये रखने के लिए आवश्यक नियमों में नहीं होता।[1]

ऐसा मान लिया जाने पर प्राकृतिक कानून और जस जैन्शियम में बहुत थोड़ा अन्तर रह जाता है। ग्रोशियस अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के निर्धारण के लिए कोई एक निश्चित कसौटी नहीं, किन्तु कई कसौटियाँ मानता है। पहली कसौटी प्राकृतिक नियम है, दूसरी कसौटी अच्छे अथवा योरोपियन राज्यों में प्रचलित रीति-रिवाज हैं। उदाहरणार्थ, समुद्री डाकुओं के विरुद्ध युद्ध में छीनी गयी सम्पत्ति पर वह विजेता का स्वत्व एक पहले विचारक अयाला (Ayala) की भाँति राष्ट्रों के कानून के आधार पर नहीं स्वीकार करता, किन्तु इसे प्राकृतिक कानून का नियम होने से ठीक मानता है। लेकिन इसके विपरीत शत्रुओं की हत्या में विष का प्रयोग ग्रोशियस प्राकृतिक कानून द्वारा सम्मत होने पर भी आम राष्ट्रों के कानून द्वारा वर्जित मानता है। विषबुझे तीरों के प्रयोग का निषेध वह योरोपियन राज्यों की प्रथा के आधार पर करता है। दास-प्रथा यद्यपि विशुद्ध प्राकृतिक कानून के प्रतिकूल है, फिर भी वह राष्ट्रों में प्रचलित प्रथा के आधार पर इसका समर्थन करते हुए कहता है कि यह युद्ध की भीषणता को कम करने के लिए शुरू की गई है। यदि यह न होती तो युद्ध में पकड़े गये सभी व्यक्ति मार डाले जाते।

ग्रोशियस ने मुख्य रूप से प्राकृतिक कानून को कसौटी बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्राचीन काल से चले आने वाले सभी विवादास्पद प्रश्नों को इस पर कसा। क्या युद्ध न्यायपूर्ण हो सकता है? न्याय्य युद्ध के क्या आधार हैं? युद्ध में दोनों पक्षों को कैसा आचरण रखना चाहिए? संधियों के क्या नियम होने चाहिएँ? युद्ध के विषय में विचार करते हुए उसने उसकी बर्बरता, क्रूरता और निर्दयतापूर्ण कार्यों का प्रबल निषेध किया। उसकी दृष्टि में पराजित और बन्दी बनाये शत्रु का वध केवल उसी दशा में उचित है, जब विजेता के प्राण संकट में हों या उस व्यक्ति ने कुछ भीषण अपराध किये हों। सैनिक आवश्यकता होने पर ही शत्रु की सम्पत्ति का विध्वंस किया जाना चाहिए, अपराधों के नियन्त्रण के लिए अपराधियों का प्रत्यर्पण (Extradition) होना

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७६।

चाहिए। उसने महासमुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of High Seas) का प्रबल समर्थन किया, राजदूतों की अवध्यता और प्रदेशबाह्यता (Exterritoriality) का समर्थन किया। तटस्थता के संबंध में कानूनी दृष्टि से विचार करने वाला वह पहला लेखक था। उसका यह मत था कि तटस्थ राज्य को अन्यायपूर्ण प्रयोजन के समर्थन के लिए कुछ नहीं करना चाहिए और इस प्रकार न्याय्य पक्ष की सहायता करना उचित है।

अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की सर्वप्रथम सूक्ष्म, विशद, व्यवस्थित, क्रमबद्ध और प्रौढ़ व्याख्या करने के कारण ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक (Father of International law) कहा जाता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए प्राध्यापक लौटरपाख्ट (Lauterpacht) ने लिखा है, "इस विषय पर यह पहला विस्तृत और व्यवस्थित ग्रन्थ था। ग्रोशियस इस विषय का पहला लेखक नहीं था। युद्ध के नियमों पर १५४३ ई० में बेल्ली ने, १५८१ में अयाला ने तथा १५९८ में जैण्टली ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण रीति से लिखा था। १५३२ ई० के लगभग विटोरिया ने तथा १६१२ में सुआरेज ने अन्तर्राष्ट्रीय समाज की समस्या को समग्ररूप से, विधिशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की आधारशिलायें स्थापित की थीं। किन्तु ग्रोशियस से पहले किसी व्यक्ति ने इस विषय का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन करने का प्रयास नहीं किया।"

राज्य तथा प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के संबंध में उसने दो विरोधी सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। पहले सिद्धान्त के अनुसार इसका निर्माण मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण हुआ है। मनुष्य की प्रकृति है कि वह समूह या समाज में रहे, इस लिए वह अपनी इस सहज सामूहिक प्रवृत्ति (Gregarious instinct) से समाज को बनाता है। इस विषय में वह अरस्तू का अनुसरण करता है (देखिये ऊपर पृ० १५६–७)। दूसरा सिद्धान्त संविदा या अनुबंध (Contract) का है। यह रोमन विधिशास्त्र के तथा तत्कालीन विचारधारा के प्रभाव से है। इसके मतानुसार "आरंभ में मनुष्यों ने ईश्वर की आज्ञा से नहीं, किन्तु अपनी इच्छा से यह अनुभव पाने के बाद राजनीतिक (Civil) समाज का संगठन किया कि पृथक् परिवारों में रहते हुए वे (दूसरों की) हिंसा से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। इसी से सरकार की शक्ति प्रादुर्भूत हुई।"[1] यदि यह मान लिया जाय कि वह समाज का प्रादुर्भाव मनुष्य की स्वाभाविक सहज भावना के परिणामस्वरूप मानता है और राज्य की उत्पत्ति उपर्युक्त संविदा से हुई तो उसके विरोधी सिद्धान्तों में सुन्दर समन्वय हो जाता है। यहाँ समाज का तात्पर्य समूचे मानव समाज से है तथा राज्य का आशय इस विशाल मानव समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा अपने लिए बनाये गये राजनीतिक संगठन से है।

वह राज्य की स्थापना होने से पहले की स्थिति **प्राकृतिक दशा** (State of Nature) को ऐतिहासिक रूप से सत्य मानता है। मनुष्य की इस प्राकृतिक (Natural) अवस्था में विशुद्ध प्राकृतिक कानून (Merum jus naturalae) का साम्राज्य था। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा स्वयमेव करता था। उस समय

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८१।

सार्वजनिक न्यायालयों की सत्ता नहीं थी, क्योंकि ये बाद में मनुष्य द्वारा बनाये गये हैं। उस समय प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह अपने विरुद्ध होने वाले अपकृत्य (Wrong) या अन्याय का स्वयं प्रतिकार करे। किन्तु जब सार्वजनिक शान्ति के लिए राज्य का निर्माण हो जाता है तो प्रतिरोध (Resistance) का यह अधिकार सर्वोच्च शासक को प्राप्त हो जाता है। उसके राज्य में उसके विरुद्ध किसी को प्रतिरोध का अधिकार नहीं रहता क्योंकि समाज का निर्माण करते समय सब अपने अधिकार स्वेच्छापूर्वक सर्वोच्च शासक या प्रभु को दे देते हैं। आगे यह बताया जायगा कि ग्रोशियस जनता द्वारा राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के अधिकार का उग्र विरोधी तथा निरंकुश राजतन्त्र का प्रबल समर्थक है। यह बड़ी मनोरंजक स्थिति है कि एक ओर तो वह राज्य की उत्पत्ति के लिए संविदा के सिद्धान्त को मानता है, जिसके आधार पर अन्य विचारकों (देखिये पृ० ३६७) ने राजा की निरंकुश सत्ता का विरोध किया था। दूसरी ओर वह इसी के आधार पर निरंकुश सत्ता का समर्थन करता है।

ग्रोशियस के प्रभुसत्ता के विचार पर यद्यपि बोदैं तथा सुआरेज़ का प्रभाव है, तथापि वह कुछ अंशों में इनसे इस विषय में प्रबल मतभेद रखता है। उसके मतानुसार प्रभुसत्ता राज्य का शासन करनेवाली "सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति" (Potestas civilis) है। यह उस व्यक्ति में निहित होती है, जिसके कार्य किसी दूसरे व्यक्ति के कानूनी नियन्त्रण में न हों और जिन कार्यों को किसी दूसरे मनुष्य की इच्छा से अवैध नहीं बनाया जा सकता।[1] वह प्रभुसत्ता का अधिकार किसी भूखण्ड के स्वामित्व या मार्गाधिकार (Right of way) जैसा मानता है। इसे पाने वाला व्यक्ति इस पर कई तरह से अधिकार रखता है, कई बार उसे भूसम्पत्ति के अधिकार की भाँति पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता है। न्याय्य युद्ध में विजेता को विजित प्रदेश पर पूर्ण अधिकार (Pleno Jure) होता है। दूसरा प्रकार भोगाधिकार (Usufruct) का है, इसका उदाहरण निर्वाचित राजा का है। तीसरा प्रकार कुछ निश्चित अवधि के लिए सर्वोच्च सत्ता रखना है, जैसी प्राचीन रोमन गणराज्य में डिक्टेटरों को प्राप्त होती थी। वह इस सत्ता को तभी वास्तविक (Real) मानता है, जब इसे भगवान् के अथवा प्रजा के प्रति शपथ ग्रहण करके लिया जाय। सर्वोच्च शक्ति एक होते हुए भी राजा और प्रजा में विभक्त हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रोशियस का प्रभुसत्ता का विचार बोदैं से मौलिक भेद रखता है। बोदैं इसे अखंड, अविभाज्य और काल की अवधि से अपरिच्छिन्न मानता है, किन्तु ग्रोशियस का ऐसा मत नहीं है।

ग्रोशियस जनता की प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) का घोर विरोधी है। उसका यह मत है कि जनता एक बार अपनी इच्छानुसार अपनी शासन-प्रणाली चुनने का अधिकार रखती है, किन्तु इसे चुन लेने के बाद शासक पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता। इसका यह आशय है कि एक बार जब उसने राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र की व्यवस्था चुन ली तो उसका कार्य समाप्त हो जाता है। फिर वह इस शासन सत्ता के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं कर सकती, इस सत्ता को वापिस नहीं ले सकती। एक बार

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० १८१।

सत्ताहस्तान्तर करने के बाद वह इसे नहीं लौटा सकती। जैसे पुराने यहूदी या रोमन कानून में कोई व्यक्ति अपने को दूसरे का दास बना कर अपनी स्वतंत्रता सदा के लिए खो बैठता था, उसी तरह प्रजा अपनी प्रभुसत्ता राजा को हस्तान्तरित करने के बाद स्थायी रूप से उसकी वशीभूत दास हो जाती है। राजा का अपनी प्रजा पर वैसा ही शासन है, जैसा स्वामी का दास पर, पति का पत्नी पर। राजा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह प्रजा के हित की दृष्टि से शासन करे। राजा का प्रजा पर वैसा ही अधिकार है जैसा किसी व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति (Dominium) पर होता है। जैसे वह इसे बेच सकता है, विरासत में किसी को दे सकता है, वैसे ही राजा को अपनी प्रभुसत्ता के विक्रय, दान या विरासत में दूसरे को देने का अधिकार है।

ग्रोशियस के इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजा राजा के विरुद्ध प्रतिरोध या विद्रोह का अधिकार नहीं रखती। यदि राजा उन पर कोई अत्याचार करे तो उसके मत में प्रजा को इसका कोई प्रतिकार नहीं करना चाहिए। यदि वह ईश्वर के या प्रकृति के किसी नियम के प्रतिकूल कोई आदेश दे तो इसका पालन नहीं करना चाहिए, किन्तु इस आज्ञा-भंग के दुष्परिणामों को चुपचाप बिना किसी विरोध के सहन कर लेना उचित है क्योंकि यदि प्रतिकार का अधिकार मान लिया जाय तो सामाजिक जीवन असंभव हो जायगा। इस प्रकार उसने राजाओं के निरंकुश अधिकार का प्रबल समर्थन किया। राजा पर वह केवल प्राकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून, वैधानिक कानून और राष्ट्रों के कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिबन्ध ही मानता है, उसे इन कानूनों की व्यवस्था का पालन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त राजा किसी अन्य मानवीय इच्छा या राजकीय कानून के आधीन नहीं है। वह इनसे मुक्त, सर्वथा स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द शासक है। ग्रोशियस के प्रभाव से लगभग एक शताब्दी तक योरोप में राजाओं की निरंकुश राजसत्ता का सिद्धान्त बहुत प्रबल बना रहा। किन्तु इसके साथ ही उसके उपर्युक्त संविदा के सिद्धान्त (पृ० ४१०) से निरंकुश राजसत्ता के विरोधियों को भी बहुत बल मिला। इस प्रकार उसने इसके पक्ष और विपक्ष दोनों को पुष्ट किया। डनिंग ने लिखा है, "अतः एक ओर जब ग्रोशियस के ग्रन्थ ने निरंकुश राजसत्ता के पक्ष को प्रोत्साहित किया, वहाँ दूसरी ओर इसने सीमित (वैध) शासन के पक्षपातियों को बड़ी सहायता और सान्त्वना प्रदान की।"[1]

ग्रोशियस का मूल्यांकन —उसकी सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का, राष्ट्रों के एक-दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्त्तव्यों और पारस्परिक संबंधों का सुस्पष्ट एवं विशद प्रतिपादन था। इसकी उस समय अत्यधिक आवश्यकता थी। ईसाइयत उस समय राष्ट्रों द्वारा किये जानेवाले बर्बरतापूर्ण कृत्यों का निरोध करने में विफल हो चुकी थी। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में चारों ओर अराजकता, नृशंसता और क्रूरता का साम्राज्य था। उस समय इसके निरोध के लिए ईसाइयत से पृथक् एक नया धर्म-भिन्न आधार आवश्यक था। ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून और राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करके यह नया सुदृढ़ आधार प्रस्तुत किया। उन दिनों मेकियावेली के प्रभाव

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६०।

से राज्य के लिए नैतिक और अनैतिक सभी उपायों को वांछनीय समझे जाने से (ऊपर पृ० ३५५) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के क्षेत्र में अराजकता छा गयी थी। ग्रोशियस का सबसे बड़ा कार्य इसका विरोध करना था। वह युद्ध बन्द करने में तो सफल नहीं हो सका, किन्तु उसे इनकी बर्बरता और नृशंसता को कम करने में और युद्धों में किये जाने वाले अमानवीय कार्यों के नियन्त्रण में अवश्य कुछ सफलता मिली।

पन्द्रहवाँ अध्याय

हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०)

जीवनी—जिस वर्ष स्पेन के विशाल बेड़े (१५८८ ई०) ने ग्रेट ब्रिटेन पर आक्रमण किया, उसी वर्ष इसके भीषण भय से संत्रस्त इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर माम्ज़बरी (Malmesbury) में, अंग्रेजी में राजनीति-शास्त्र पर पहला क्रमबद्ध और व्यवस्थित ग्रन्थ लिखने वाले विचारक थामस हाब्स का जन्म एक पादरी के घर में हुआ। वह बचपन से विलक्षण प्रतिभाशाली था और ९१ वर्ष की परिपक्व आयु तक उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों में कोई क्षीणता नहीं आयी। १४ वर्ष की आयु में उसने यूरीपाइडीज़ की दी मिडीआ (The Medea) का यूनानी से लैटिन पद्यों में भाषान्तर किया तथा ८८ वर्ष की आयु में उसने होमर के काव्यों का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया और ९१ वर्ष की अवस्था में वह अपने एक ग्रन्थ की प्रेस कापी तैयार करने में संलग्न था। १५ वर्ष की आयु में वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और पाँच वर्ष बाद वह विश्वविद्यालयों में प्रचलित तत्कालीन स्कालेस्टिक शिक्षा पद्धति के प्रति तीव्र घृणा लेकर स्नातक हुआ।

१६०८ ई० में वह बीस वर्ष की अल्पायु में इंगलैण्ड के कैवेन्डिश नामक एक सम्भ्रान्त उच्च कुल में विलियम कैवेन्डिश का शिक्षक नियत हुआ, जीवन-भर इस परिवार के साथ उसका संबंध बना रहा और इसने उसके बौद्धिक विकास पर गहरा प्रभाव डाला। १६१० ई० में अपने शिष्य के साथ योरोप की पहली यात्रा करते हुए उसे वहाँ के दार्शनिक विद्वानों के तथा नवीन भौतिक विज्ञान के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और यह ज्ञात हुआ कि आक्सफोर्ड का दर्शन बहुत पुराना पड़ चुका है। इसके साथ ही इस परिवार में शिक्षा देने के कारण उसे तत्कालीन इंगलैण्ड के बेकन, बेन जान्सन जैसे बुद्धिजीवियों से परिचित होने का अवसर मिला और उसकी बौद्धिक क्रियाशीलता में बड़ी वृद्धि हुई। ४१ वर्ष की अवस्था में वह यूक्लिड की पुस्तक देखते ही रेखागणित का प्रेमी हो गया। इसी समय उसे यह विश्वास हो गया कि सब अनुभूतियाँ गति (Motion) का परिणाम हैं। अपने शिष्य के साथ योरोप की दूसरी यात्रा में उसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलिओ से भेंट का अवसर मिला। वह फ्रेंच दार्शनिक देकार्त्त (Descartes) के मित्रों के सम्पर्क में आया। १६४० ई० में राजा और पार्लियामेंट में संघर्ष छिड़ने पर उसका ध्यान गणितशास्त्र से राजनीतिशास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उसने निरंकुश राजसत्ता के समर्थन में एक पुस्तक लिखी और इस कारण इंगलैण्ड में अपना रहना संकटपूर्ण समझते हुए वह भागकर फ्रांस चला गया। अगले ११ वर्ष पेरिस और हालैण्ड में निवास करते हुए वह De cive तथा सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लेवियाथन के प्रणयन में लगा रहा। औब्रे (Aubrey) के शब्दों में "इस समय वह बहुत घूमता था

और विचार करता रहता था। घूमते समय वह अपनी छड़ी की मूठ में एक लेखनी और दवात तथा जेब में नोटबुक रखता था ताकि नया विचार आते ही वह उसे लिपिबद्ध कर ले।"[1] इसी समय वह पेरिस में इंगलैण्ड से भाग कर आये हुए युवराज तथा भावी राजा चार्ल्स द्वितीय का गणितशास्त्र का शिक्षक भी रहा।

१६५१ ई० में लन्दन से उसका लेवियाथन प्रकाशित हुआ। इसके अन्तिम भाग में उसने रोमन कैथोलिक चर्च पर 'अन्धकार के राज्य' के नाम से एक विस्तृत प्रकरण लिख कर इसकी बड़ी कटु आलोचना और तीव्र भर्त्सना की थी। इस अवस्था में उसका कैथोलिक फ्रांस में रहना भी निरापद नहीं रहा। साथ ही पेरिस में ब्रिटिश राजसत्ता के पक्षपाती भी उससे प्रसन्न नहीं थे, क्योंकि इसमें उसने लिखा था कि जो भी सरकार शक्तिशाली हो, उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। अतः उसे फ्रांस से भाग कर पुनः क्रामवेल के इंगलैण्ड में शरण लेना ही श्रेयस्कर जान पड़ा। १६५५ ई० में उसने De corpore तथा १६५८ में De Homine नामक ग्रंथ लिखे। इनसे वह नास्तिक-शिरोमणि समझा जाने लगा और कट्टर प्यूरिटन शासन में उसके जीवन पर पुनः संकट के बादल मंडराने लगे। किन्तु उसके सौभाग्य से १६६० ई० में क्रामवेल द्वारा स्थापित कामनवैल्थ की समाप्ति हुई, इंगलैण्ड में राजतन्त्र की पुनःस्थापना (Restoration) हुई और पेरिस में उससे गणित पढ़ने वाला युवराज चार्ल्स द्वितीय के नाम से ग्रेट ब्रिटेन की राज गद्दी पर बैठा, इससे उसके जीवन का संकट टल गया।

कहा जाता है कि चार्ल्स ने लन्दन वापिस लौटने पर अपने पुराने शिक्षक को सड़कों पर पहचान लिया, उसके आदर के लिए अपना टोप उतार लिया[2] और बुद्धिमानों के सत्संग के प्रेमी राजा ने यह आज्ञा दी कि यह अनुभवी दार्शनिक जब कभी दरबार में आये, तो इसे अन्दर बुला लिया जाय और वह उसके आने पर कहा करता था कि चारे के प्रलोभन से वश में किया जाने वाला भालू आ रहा है (Here comes the bear to be baited)। उसने हॉब्स के लिए १०० पौण्ड की वार्षिक पेंशन बाँध दी।

किन्तु लार्ड चान्सलर क्लेरैण्डन तथा अन्य बिशप हॉब्स के घोर विरोधी थे। १६६६ ई० के बाद हॉब्स का विरोध बढ़ने लगा। लन्दन में प्लेग फैलने तथा महान् अग्नि (Great Fire) लगने पर धार्मिक व्यक्तियों ने इसे नास्तिकता का परिणाम समझा, इसके दमन के लिए पार्लियामेंट ने लेवियाथन जैसे नास्तिक ग्रंथों की जाँच के लिए कमेटी बनायी। कुछ बिशपों ने हॉब्स को नास्तिक के रूप में चिता पर जलाने का सुझाव दिया।[3] इससे ७८ वर्ष का वृद्ध दार्शनिक इतना आतंकित हुआ कि उसने अपने कुछ कागज जला डाले और एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया कि वैध रूप से उसे नास्तिकता के लिए फांसी नहीं दी जा सकती और अपने को धार्मिक सिद्ध करने के लिए उसने गिरजे में जाना शुरू कर दिया।[4] राजा ने हॉब्स को विवादास्पद लेख लिखने

---

१. थामस हॉब्स—लेवियाथन (एवरीमैन्स लाइब्रेरी संस्करण, १९५९), भूमिका पृ० ६।
२. गूच—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड फ्राम बेकन टू हैलिफक्स, पृ० ३९।
३. लेवियाथन का पूर्वोक्त संस्करण, भूमिका, पृ० १०।
४. गूच—वही पुस्तक, पृ० ३९।

के लिए मना किया और उसके विरोधियों को भी कोई कड़ी कार्यवाही करने से रोक दिया। ८० वर्ष की आयु में लिखी गयी अपनी रचना Behemoth or a Dialogue on the Civil Wars में १६४० से १६६० तक के गृहयुद्ध की विवेचना करते हुए उसने इसका उत्तरदायित्व पार्लियामेंट के समर्थकों पर डाला तथा उन वैध राजतन्त्रवादियों की आलोचना की, जो इंगलैण्ड में राजा का शासन और अधिकार पार्लियामेंट द्वारा सीमित करना चाहते थे। इसी समय (१६६८ ई०) लिखे गये Dialogue of the Common Laws में उसने यह सिद्ध किया कि राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश और एकमात्र विधिनिर्माता है, प्रजा में उसे नियन्त्रित करने की कोई क्षमता नहीं है। १६७९ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

हॉब्स पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियाँ—दो परिस्थितियों ने हॉब्स को विशेष रूप से प्रभावित किया। पहली तो नवीन वैज्ञानिक खोजों का आकर्षण था। आक्सफोर्ड में पढ़ते हुए उसके मन में मध्ययुगीन दर्शन की स्कालेस्टिक पद्धति (देखिये ऊपर पृ० ४१४) के प्रति घोर घृणा उत्पन्न हो गयी थी। उसे गैलीलिओ के गति के नियम (Law of motion) बहुत पसन्द आये और उसने इन्हें अपने राजनीतिक चिन्तन का नवीन आधार बनाया। इनके अनुसार उसका यह मत है कि जैसे विश्व अणुओं से बना हुआ है, अणु सदैव गतिशील हैं और आपस में टकराते रहते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्य भी सदैव गतिशील हैं और आपस में टकराते रहते हैं।

दूसरी परिस्थिति इंगलैण्ड की राजनीतिक दशा और विभिन्न विचारधारायें थीं। १७वीं शताब्दी के आरम्भ से यहाँ सुदृढ़ शासन नहीं था। स्टुअर्ट वंश के राजा यद्यपि राजाओं की दैवी सत्ता का प्रबल प्रतिपादन कर रहे थे, किन्तु उनके अधिकारों को चुनौती देने वाले कई वर्ग उत्पन्न हो गये थे। उस समय राज्य द्वारा केवल एंग्लिकन चर्च को ही स्वीकार करते हुए उसे विशेष स्थिति प्रदान की जाती थी, यह अन्य धार्मिक मतों को सर्वथा अनुचित जान पड़ता था। वे अपने मतों को राज्य द्वारा स्वीकृत कराना चाहते थे। इस समय भारत, पूर्वी देशों तथा अमरीका के साथ व्यापार का विकास होने से समाज में एक नवीन समृद्ध व्यापारिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। इसे कोई सामाजिक या राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, यह इन्हें पाने के लिए आन्दोलन करने लगा। ये नवीन आर्थिक और धार्मिक शक्तियाँ अपने अधिकार बढ़ाने के लिए राजा से यह माँग करने लगीं कि पार्लियामेंट की शक्ति को बढ़ाया जाय।

इस समय वहाँ दो विरोधी विचारधाराओं में संघर्ष था। पहली निरंकुश राजतन्त्रीय विचारधारा (Absolutism) राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानती थी। इसके मुख्य समर्थक जेम्स प्रथम (१६०३–२४ ई०) तथा उसके पुत्र चार्ल्स प्रथम (१६२४–४९ ई०) का यह मत था कि भगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते राजा को प्रजा के जान और माल पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। दूसरा पक्ष, पार्लियामेंट के समर्थकों का था, वे प्रजा के प्रतिनिधियों की संसद् द्वारा राजा के अधिकारों को नियन्त्रित करना चाहते थे। १६३९ ई० में इसी प्रश्न पर गृहयुद्ध छिड़ गया, इससे सारे देश में भीषण अशान्ति और अराजकता मच गयी, जीवन सर्वथा असुरक्षित हो गया। इस परिस्थिति में हॉब्स ने अराजकता का अन्त करने के लिए शक्तिशाली सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निरंकुश सत्ता का प्रबल समर्थन किया।

हॉब्स की पद्धति—उसने राजनीतिक समस्याओं के चिन्तन में अपने पूर्ववर्त्ती बोदँ आदि से सर्वथा भिन्न पद्धति का अनुसरण किया है। पहले (पृ० ३९०) बताया जा चुका है कि बोदँ ने प्राचीन, मध्यकालीन और वर्त्तमान इतिहास के गम्भीर अनुशीलन तथा कानूनी संस्थाओं के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति पर बल दिया था। मध्यकालीन लेखक बाइबल के तथा ईसाई धर्माचार्यों के वचनों और प्रमाणों के आधार पर राजनीतिक प्रश्नों की विवेचना करते थे। किन्तु हॉब्स ने इन सब का परित्याग करते हुए विशुद्ध भौतिकवादी (Materialistic) दृष्टिकोण अपनाया और यूक्लिड की रेखागणित की पद्धति को आदर्श समझते हुए उसका अनुसरण किया। वह केवल रेखागणित को ही विज्ञान मानता था (लेवि० अध्याय ४) और इसी की प्रणाली का अनुसरण करते हुए परिणाम निकालना श्रेष्ठ समझता था। अतः उसकी पद्धति में इतिहास का या प्रमाणवाद का कोई स्थान नहीं है। वह इतिहास के उदाहरणों के आधार पर तथा दूसरे लेखकों के प्रमाणों के आधार पर परिणाम निकालने वालों की निन्दा किया करता था। लेवियाथन में रेखागणित की भाँति पहले सब विचारों की सुस्पष्ट परिभाषायें और लक्षण किये गये हैं और फिर निगमनात्मक (Deductive) तर्कप्रणाली के आधार पर ऐसे परिणाम निकाले गये हैं जिनसे पाठक को बरबस लेखक से सहमत होना पड़ता है। हॉब्स विशुद्ध बुद्धिवाद का पुजारी है और इसकी सहायता से अपने सब परिणामों को पुष्ट करता है। "वह मनुष्यों के अनुभव में आने वाले तथ्यों से बहुत कम तथा अन्य दार्शनिकों के निर्णयों से कोई भी सहायता नहीं लेता।" इंगलैण्ड में वैज्ञानिक प्रणाली के जन्मदाता समझे जाने वाले बेकन के तथा गैलीलियो के सत्संग में आने से भौतिक विज्ञानों का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा था। यद्यपि उसकी महत्वाकांक्षा थी कि वह इन विज्ञानों में महत्त्वपूर्ण नई देन दे, उसको यह मिथ्या विश्वास था कि वह रेखागणित के क्षेत्र में 'वृत्त को वर्ग बनाने में सफल हुआ है', तथापि उसे भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में कोई सफलता नहीं मिली। उसकी सबसे बड़ी सफलता रेखागणित की पद्धति को राजनीतिशास्त्र में लागू करते हुए राज्य के संबंध में महत्त्वपूर्ण परिणाम निकालना था।

लेवियाथन—उसके राजनीतिक विचारों का सर्वोत्तम परिचय १६५१ ई० में प्रकाशित लेवियाथन से मिलता है। बाइबल के कथनानुसार यह एक समुद्री राक्षस है। किन्तु हॉब्स इसका प्रयोग प्राकृतिक दशा की अराजकता और मात्स्यन्याय का अन्त करने की दृष्टि से मनुष्यों द्वारा किये गये समझौते से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राजशक्ति के लिए करता है। उसने अपनी पुस्तक के मुखपृष्ठ पर इसे सब मनुष्यों से मिलकर बनने वाले एक विराट् पुरुष या महामानव के रूप में चित्रित किया है। मुखपृष्ठ के उपरले आधे हिस्से में यह दिखाया गया है कि एक सुव्यवस्थित रीति से बसाये नगर और पहाड़ के पीछे लेवियाथन के रूप में मुकुट मण्डित, दायें हाथ में तलवार तथा बायें हाथ में धर्मदण्ड धारण किये हुए महामानव खड़ा हुआ है। इसका यह अर्थ है कि शासन और धर्म के दोनों क्षेत्रों में उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। कटिपर्यन्त दृष्टिगोचर होनेवाली उसकी सारी देह उसकी ओर कृपा के लिए निहार रहे छोटे-छोटे मनुष्यों के चित्रों से ढकी हुई है। यह इस बात का प्रतीक है कि सब मनुष्यों ने समझौते द्वारा अपनी शक्ति उसे समर्पित कर दी है तथा वे भक्तिभाव से प्रणत होकर
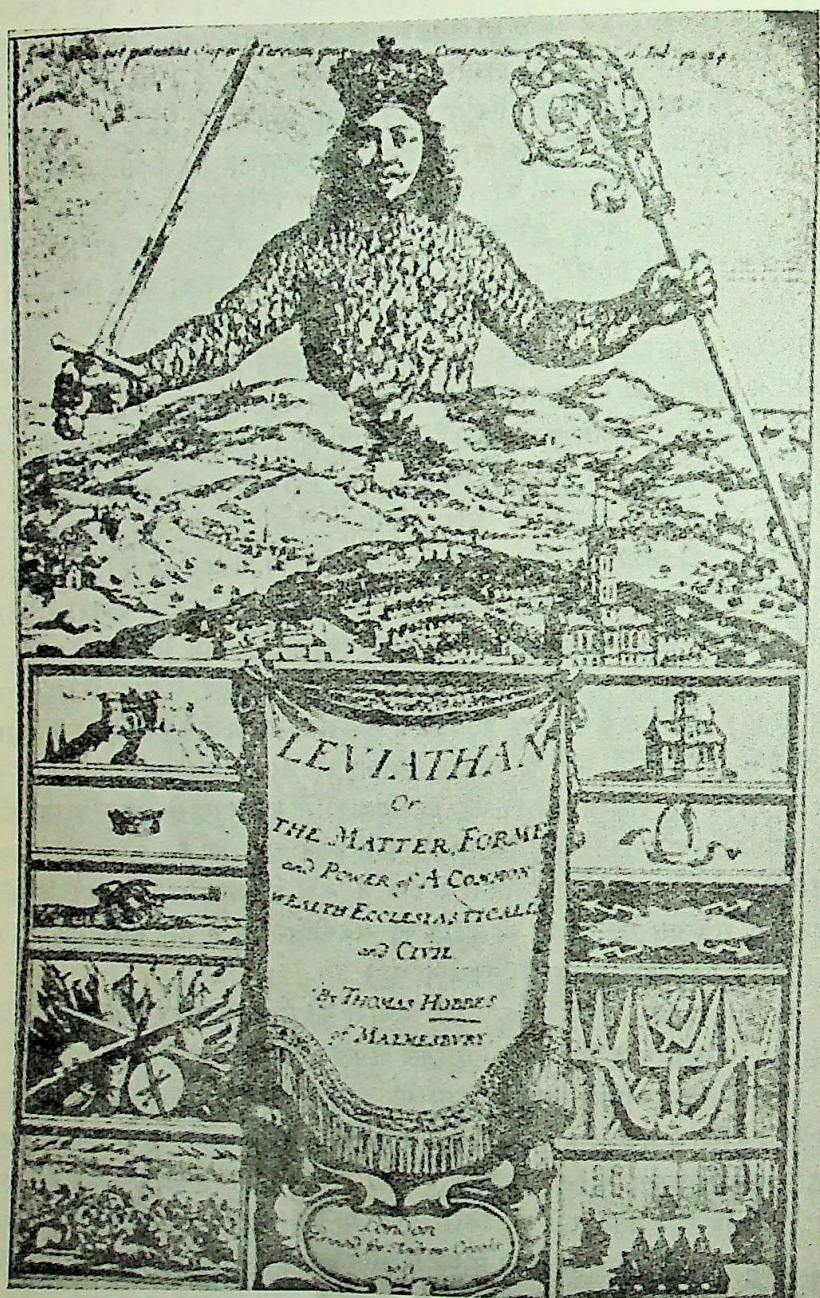
लेवियाथन का मुखपृष्ठ

इसमें हॉब्स ने अपनी पुस्तक के मौलिक विचार को चित्र द्वारा स्पष्ट किया है। मनुष्यों द्वारा किये समझौते से उत्पन्न होने वाले लेवियाथन या महामानव की सारी देह, उसकी ओर कृपा के लिये निहार रहे छोटे-छोटे मनुष्यों के चित्रों से ढकी हुई है, ये सब अपने अधिकार महामानव को दे देते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न

लेवियाथन को जन्म देते हैं। इसके दायें हाथ में राजशक्ति का प्रतीक तलवार तथा बायें हाथ में धार्मिक सत्ता का प्रतीक पादरी का धर्मदण्ड है। यह शासन और धर्म के दोनों क्षेत्रों में उसके सर्वोच्च अधिकार सूचित करता है।

उसकी सब आज्ञाओं का पालन करने के लिए प्रस्तुत हैं। मुखपृष्ठ के निचले हिस्से के बीच में ग्रन्थ तथा लेखक का नाम तथा दोनों ओर फ्रेमों में राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ता को अभिव्यक्त करने वाले चार-चार चित्र बने हुए हैं। लेवियाथन के मस्तक पर लैटिन के ये प्रभावशाली शब्द अंकित हैं—Non est potestas super terram quoe comparetur ei (भूतल पर इसके तुल्य शक्ति रखने वाला कोई दूसरा नहीं है)। हॉब्स ने अपने प्राक्कथन में लिखा है कि यह महान् लेवियाथन ही राज्य है, जो यद्यपि डीलडौल और शक्ति की दृष्टि से प्राकृतिक मनुष्य की अपेक्षा बड़ा है, पर स्वयं कृत्रिम मानवमात्र है और इसकी रचना प्राकृतिक मनुष्य की रक्षा के लिए हुई है। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है --Leviathan or the Matter, Form, and Power of a Commonwealth, Ecclesiastical and Civil.

हॉब्स का ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है। पहले भाग में १६ अध्याय हैं, इसका नाम मनुष्य विषयक (of man) है। इसके पहले १२ अध्यायों में इन्द्रियों द्वारा ज्ञान, कल्पना, वाणी की शक्ति, बुद्धि, विज्ञान, विभिन्न मनोभावनाओं, ज्ञान के विषयों और धर्म का वर्णन है। १३वें अध्याय में प्राकृतिक दशा (State of Nature) का तथा १४वें से १६वें अध्याय तक प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) का प्रतिपादन है। १७ से ३१ अध्याय तक के राज्यविषयक (of Commonwealth) दूसरे भाग में राज्य संबंधी प्रश्नों की मीमांसा है। ३२ से ४३ अध्याय तक के तीसरे भाग का नाम 'ईसाई राज्यविषयक' (Of Christian Commonwealth) है, इसमें उसके धार्मिक विषयों का उल्लेख है। अध्याय ४४ से ४७ तक के अन्तिम भाग का नाम है 'अंधकार के राज्य के विषय में' (of the Kingdom of Darknesse)। इसमें धर्म ग्रन्थों की व्याख्या तथा प्रेतशास्त्र (Daemonology) का वर्णन करते हुए रोमन कैथोलिक धर्म पर प्रबल आक्षेप किये गये हैं। अन्त में सारे ग्रन्थ का एक संक्षिप्त उपसंहार है। इसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

मानव स्वभाव का स्वरूप -- हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव समाज (Human Nature) के विश्लेषण से आरम्भ करता है। उसने विशुद्ध भौतिकवाद का अनुसरण करते हुए मनुष्य की आँख, कान, जिह्वा, नाक, त्वचा से होने वाली ऐन्द्रियिक प्रतीतियों का कारण बाह्य पदार्थों का हमारी इन्द्रियों पर दबाव डालना माना है। इसी तरह वह मनुष्य की ज्ञान प्राप्ति और कल्पना करने (Imagination) की प्रक्रिया को भी भौतिक और यान्त्रिक मानता है। उसके मतानुसार मनुष्य में दो प्रकार की गतियाँ हैं—(क) अनैच्छिक (Involuntary) अथवा आवश्यक जैसे श्वास-प्रश्वास का चलना। (ख) ऐच्छिक (Voluntary), जैसे बोलना, चलना। कल्पनाशक्ति के कारण मनुष्य प्रयास करता है और यही सब ऐच्छिक क्रियाओं का मूल स्रोत है। यह प्रयास यदि इसे उत्पन्न करने वाले किसी पदार्थ की ओर होता है, तो इसे क्षुधा (Appetite), राग या अभिलाषा (Desire) कहते हैं। यदि यह इसे उत्पन्न

करने वाले पदार्थ से दूर हटने का होता है तो इसे द्वेष (Aversion) या घृणा कहते हैं। इस प्रकार उसने भौतिक शास्त्र के आधार पर यह परिणाम निकाला कि अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उनकी ओर गति करना या प्रवृत्त होना राग और अनभीष्ट पदार्थों से हटने की गति करना या निवृत्त होना द्वेष है। मनुष्य की सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय, साहस, क्रोध आदि की सब मनोभावनायें और वासनायें राग-द्वेष के कारण होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्ति का परिचय है।[1]

भलाई या बुराई का विचार भी हमारी गति की दिशा से निश्चित होता है। अपने-आपमें कोई चीज़ अच्छी या बुरी नहीं है। यदि हम किसी पदार्थ की ओर अपने राग या अभिलाषा से प्रवृत्त होते हैं तो वह अच्छा है, और यदि हम किसी से परे हटना चाहते हैं तो वह बुरा है। मनुष्य आनन्द (Felicity) प्राप्त करना चाहता है। समय-समय पर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना तथा वांछित वस्तुओं के पाने में सफलता प्राप्त करना ही आनन्द है।[2] जिन साधनों से अपनी इच्छायें पूर्ण करते हुए आनन्द प्राप्त किया जाता है, उन साधनों को ही शक्ति (Power) कहते हैं। यह कई प्रकार की होती है, शारीरिक और मानसिक गुणों की उत्कृष्टता, धन-सम्पत्ति, कीर्त्ति, मित्र और सौभाग्य।[3] मनुष्य इन साधनों के द्वारा आनन्द पाने का यत्न करते हैं।

प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान बनाया है। शारीरिक और मानसिक शक्तियों के संयोग से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। यह संभव है कि कोई व्यक्ति शारीरिक बल की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल हो, किन्तु वह मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान्, धूर्त्तता और मक्कारी में उसकी अपेक्षा अधिक बलवान् हो सकता है। इस समानता के कारण मनुष्यों में संघर्ष छिड़ जाता है। वे एक-दूसरे को हराना और नष्ट करना चाहते हैं। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है। मनुष्यों में तीन कारणों से निरन्तर संघर्ष चलता रहा है। ये तीन कारण हैं—प्रतिद्वन्द्विता, भय (Diffidence) और कीर्त्ति कमाने और इसे बढ़ाने की लालसा। यद्यपि मनुष्य शान्ति चाहता है किन्तु उसे सदैव दूसरों से भय लगा रहता है, वह अपनी सम्पत्ति और अधिकार बढ़ाना चाहता है, अतः वह अपने साथियों के साथ शाश्वत संघर्ष में संलग्न रहता है।

प्राकृतिक दशा—अपने उपर्युक्त स्वभाव के कारण मनुष्य इन्हें नियन्त्रित करने वाली शक्ति के अभाव में सदैव आपस में लड़ते रहते हैं। प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्त्ति प्राप्त करने की आकांक्षा सतत संघर्ष उत्पन्न करती है। जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु को पाने के लिए प्रयास करते हैं, तो उनमें प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जाती है। जब एक व्यक्ति इस आशंका से व्यथित रहता है कि दूसरे की शक्ति उससे अधिक न बढ़ जाय तो वह भयाक्रान्त होता है। मनुष्य में यह इच्छा भी स्वाभाविक है कि अन्य व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें, उसे अपने से बड़ा तथा ऊँचा समझें। अतः सब व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ संबंध स्पर्धा, अविश्वास और कीर्त्ति की कामना से निर्धारित होते हैं, आर इसके

---

१. लेवियाथन, अध्याय ५।
२. वही, अध्याय ११।
३. वही, अध्याय १०।

फलस्वरूप सब एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं, जंगली जानवरों की तरह एक-दूसरे पर हमला करते हैं। प्राकृतिक अवस्था युद्ध की दशा होती है। हॉब्स के शब्दों में इसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अन्य व्यक्ति का शत्रु होता है, प्रत्येक मनुष्य का जीवन बड़ा असुरक्षित होता है। वह केवल अपनी शक्ति का ही भरोसा कर सकता है। हॉब्स ने इसे **'सब की सब के विरुद्ध लड़ाई'** (Bellum ominum contra omnes) की स्थिति कहा है।

हॉब्स के मतानुसार "इस प्राकृतिक दशा में किसी उद्योग या कला-कौशल का विकास नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य को यह भरोसा नहीं है कि वह उससे प्राप्त हो सकने वाले लाभ का उपभोग कर सकेगा। इस दशा में किसी प्रकार की संस्कृति, सभ्यता, भवन निर्माण, ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य का विकास नहीं हो सकता। मनुष्यों को सदैव भय और मृत्यु की आशंका बनी रहती है।" "मनुष्य का जीवन **एकाकी, निर्धन, कुत्सित, पशुतुल्य (Brutish) तथा छोटा होता है।**" यह एकाकी इसलिए होता है कि इस दशा में सब एक-दूसरे के शत्रु हैं और अपने से भिन्न व्यक्तियों को प्रबल आशंका, भय और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। इस दशा में उनमें किसी प्रकार का कोई सहयोग न होने से उन्हें एकाकी जीवन बिताना पड़ता है। वाणिज्य, व्यवसाय, कला और उद्योग-धन्धों का विकास न होने की दृष्टि से इस जीवन में निर्धनता का साम्राज्य था। यह कुत्सित (Nasty) इसलिए था कि इसमें युद्ध, मार-काट, हिंसा और हत्या का बोलबाला था। यह जीवन पशुतुल्य इसलिए था कि मनुष्य आपस में जंगली पशुओं जैसा व्यवहार करते थे। यह छोटा इसलिए था कि किसी भी क्षण कोई शक्तिशाली दूसरे व्यक्ति के जीवन का अन्त कर सकता था। मनुष्य इस दशा में नरपशु और रक्त-पिपासु थे, शत्रुओं का दमन करने, शक्ति बढ़ाने और यश प्राप्त करने के लिए सब प्रकार की हिंसा और हत्या का अवलम्बन करते थे।

हॉब्स ने सतत संघर्ष और युद्ध की इस प्राकृतिक दशा की कई विशेषतायें बतायी हैं। **पहली** विशेषता इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव तथा सत् और असत् (Right and Wrong) का कोई विवेक न होना है। इसमें सभी मनुष्य अपनी मानसिक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। सभी अपने लिए हिंसा और हत्या को ठीक समझते हैं। उस समय तक समाज में विभिन्न कार्यों को नैतिकता की कसौटी पर कसने का कोई मानदण्ड या नियम नहीं होता, अतः सभी कार्य नैतिक या अनैतिक माने जा सकते हैं। **दूसरी** विशेषता न्याय और अन्याय के विचार का अभाव है। हॉब्स का यह कहना है कि जब तक सब मनुष्यों के ऊपर शासन करने वाली कोई शक्ति नहीं होती, तब तक समाज में कोई कानून नहीं होता क्योंकि कानून शासक का आदेश होता है। जब कोई कानून नहीं होता तो न्याय और अन्याय का विचार नहीं हो सकता, क्यों-कि वही बात न्यायपूर्ण (Just) होती है, जो कानून के अनुकूल हो, इससे प्रतिकूलता रखने वाली बात अन्यायपूर्ण (Unjust) और अवैध होती है। **तीसरी** विशेषता इस दशा में वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव है। जहाँ सब व्यक्ति एक-दूसरे से लड़ने और गला काटने को तैयार बैठे हों, वहाँ किसी की स्थायी वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं हो सकती। जब तक किसी के पास शक्ति है, तब तक उसका अपनी वस्तुओं पर अधिकार है, शक्ति

न रहने पर दूसरे व्यक्ति उससे यह सम्पत्ति छीन लेते हैं।[1] उसकी यह दशा भारतीय साहित्य के **मात्स्य-न्याय** से मिलती है।

ऐसी प्राकृतिक अवस्था की सत्ता को हॉब्स किसी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं करता, किन्तु दैनिक जीवन से ऐसे तथ्य उपस्थित करता है, जिसके आधार पर इसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। इस समय राज्य के संरक्षण में रहते हुए भी हमारा सामाजिक जीवन संदेह, अविश्वास और शंका की भावनाओं से ओत-प्रोत है। जब मनुष्य यात्रा पर निकलता है तो संभावित आक्रमण से रक्षा के लिए अपने को शास्त्रों से सुसज्जित करके चलता है। जब व्यक्ति घर में सोता है, तो दरवाजे बन्द कर लेता है। घर में व्यक्ति स्वयं रहने पर भी संदूक में ताला लगाता है। यह दशा तो उस समय की है, जब वह यह जानता है कि समाज और राज्य के नियम तथा कर्मचारी उसके रक्षक हैं। इसे देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि राज्य न रहने पर उपर्युक्त प्राकृतिक दशा अवश्य रही होगी।[2] इसका **दूसरा** प्रमाण अमरीका के रैड इंडियनों में पायी जाने वाली स्थिति है। **तीसरा** प्रमाण गृहयुद्धों के समय सभ्य राज्यों के निवसियों द्वारा अपने देशवासियों के विरुद्ध प्रदर्शित की जाने वाली बर्बरता तथा क्रूरता है। हॉब्स को इंगलैंड के गृहयुद्ध का इस विषय में बड़ा कटु अनुभव था। **चौथा** प्रमाण वर्त्तमान राज्यों का एक-दूसरे के प्रति व्यवहार है। प्रत्येक देश अपने शत्रु के विरुद्ध सेनायें, दुर्ग और बन्दूकें तैयार रखता है, अपने जासूसों द्वारा शत्रु के देशों की गुप्त-सूचनायें प्राप्त करता है। विभिन्न राज्य इन पर प्रभुता रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सर्वोच्च शासक के अभाव में जंगली जानवरों की तरह पड़ोसियों से लड़ने के लिए अपने नाखून और पंजे तेज करते रहते हैं। जब सभ्य राज्यों में यह स्थिति है तो राजसत्ता के अभाव में मनुष्यों में उपर्युक्त शाश्वत संघर्ष की स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।

प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम (Natural Rights and Natural Laws)—लेवियाथन के १४वें अध्याय में हॉब्स ने इनका प्रतिपादन किया है। प्राकृतिक अधिकार (Jus Naturalae) का तात्पर्य उसके मतानुसार, अपने जीवन के संरक्षण के लिए मनुष्य को किसी कार्य को करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वह अपने जीवन-धारण के लिए किसी को लूटने, पीटने या जान से मार डालने की स्वतंत्रता रखता है। टी० एच० हक्सली ने ऐसे अधिकार को शेर का अधिकार (Tiger right) कहा है। जैसे शेर को अपना शिकार मारने की स्वतंत्रता है, वैसे ही मनुष्य को भी हिंसा और हत्या की खुली छूट है बशर्ते कि इससे उसकी इच्छाओं की पूर्त्ति हो सके।

किन्तु सब मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सब को एक-दूसरे की हत्या और लूट-पाट का अधिकार मिल जाता है। इससे जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। पर सब मनुष्य इसे सुरक्षित बनाये रखना चाहते हैं। अतः वे प्राकृतिक दशा में भी अपनी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ नियम बनाते हैं। ये प्राकृतिक नियम (Lex

---

१. लेवियाथन, अध्याय १३।

२. हाब्स की उपर्युक्त प्राकृतिक दशा से सादृश्य रखने वाले वर्णन के लिए देखिये महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ६८; वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, अध्याय ६७; विष्णु-धर्मोत्तरपुराण, द्वितीय खण्ड, द्वितीय अध्याय।

naturalis) कहलाते हैं। हॉब्स ने विभिन्न प्रकार के १९ नैसर्गिक नियम गिनाये हैं। इनमें तीन मुख्य हैं—(१) व्यक्ति को शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। (२) प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति स्थापना के लिए तथा व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से अपने सब अधिकारों का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए, बशर्ते कि अन्य व्यक्ति भी ऐसा करने के लिए सहमत हों। (३) व्यक्ति को अपने समझौतों का पालन करना चाहिए। इन्हें यद्यपि नियम या कानून कहा जाता है, किन्तु वास्तव में ये ऐसे नहीं हैं। "वास्तव में ये ऐसे परिणाम या प्रमेय (Theorems) हैं, जो आत्मसंरक्षण में सहायक होते हैं। वस्तुत: कानून तो उस व्यक्ति का वचन होता है, जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है" (लेविया० अध्याय १५)। इसका यह अर्थ है कि इन नियमों का पालन स्वार्थ बुद्धि से होता है। मनुष्य समाज में एक-दूसरे के साथ किये जाने वाले समझौतों का पालन इसलिए करते हैं कि यदि ऐसा न किया गया तो उनका अपना कार्य भी नहीं चल सकेगा।

राज्य की उत्पत्ति—लेवियाथन का आविर्भाव—प्राकृतिक दशा के शाश्वत संघर्ष की स्थिति से संत्रस्त और चिन्तित होकर मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने यह सोचा कि आत्म-संरक्षण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस भयावह दशा का अन्त एक ऐसी शक्तिशाली सत्ता की स्थापना द्वारा किया जाय, जो प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करने में समर्थ हो। ऐसी सामान्य सत्ता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि अनेक इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का प्रभुत्व स्थापित हो तथा इसे स्थापित करने के लिए उपर्युक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार सब व्यक्ति अपने अधिकारों और शक्ति को एक व्यक्ति को या मनुष्यों की एक सभा को प्रदान करें, वे अपनी समूची इच्छायें एक व्यक्ति की इच्छा को समर्पित कर दें। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ एक समझौता (Covenant), संविदा या अनुबन्ध (Contract) करता है। प्रत्येक व्यक्ति इस आशय की शपथ लेता है—"मैं इस व्यक्ति को या व्यक्ति-समूह को इस शर्त्त पर अपना अधिकार देता हूँ तथा स्वयमेव अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूँ कि तू भी अपने अधिकार इसी प्रकार इस व्यक्ति को देगा और स्वशासन के अधिकार छोड़ देगा।" 'ऐसा करने पर सारा जनसमुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है, इसे राज्य (Commonwealth) या लैटिन में Civitas कहते हैं। यही उस महान् लेवियाथन या नश्वर देवता (Mortal God) का प्रजनन है, जिससे अविनश्वर ईश्वर (Immortal God) के बाद हमें अपनी शान्ति और प्रतिरक्षा प्राप्त होती है। यह लेवियाथन प्राकृतिक दशा की अराजकता और सभ्यता के मध्य एक दीवार की भांति खड़ा है। इससे पहले समाज और राज्य की कोई सत्ता नहीं थी। इसके जन्म से ही इन दोनों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी समय से ज्ञान, संस्कृति, कला, व्यापार, व्यवसाय का श्रीगणेश हुआ, न्याय-अन्याय, सत-असत् के विचार उत्पन्न हुए। इसमें सब व्यक्तियों के अधिकार पुंजीभूत हैं। इसे ही सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक या संप्रभु (Sovereign) कहते हैं, इसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं। उसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति उसका दास है (लेवियाथन, अध्याय १०)।

हॉब्स के राज्य को उत्पन्न करने वाले इस समझौते या अनुबन्ध की कई उल्लेखनीय विशेषतायें हैं। पहली विशेषता यह है कि यह इस विषय में उस समय तक के

प्रचलित विचारों से मौलिक भेद रखता है। इससे पहले भी समझौते, अनुबन्ध या संविदा का प्रतिपादन किया गया था, किन्तु यह अनुबन्ध शासक और शासित, राजा और प्रजा के बीच शासन की दृष्टि से होता था, अतः इसे शासनात्मक संविदा (Governmental Contract) कहते थे। किन्तु हॉब्स का समझौता राजा और प्रजा के मध्य में नहीं है, किन्तु विभिन्न व्यक्तियों के बीच में हुआ है। इन लोगों ने लेवियाथन या नश्वर देव के सम्मुख अपने अधिकारों को छोड़ने की शपथ ली है। वह इन शपथों से ऊपर उठा हुआ है क्योंकि इसने कोई प्रण नहीं किया। मनुष्य देवता के आगे शपथ लेते हैं, देवता कोई शपथ नहीं लेता। अतः लेवियाथन इस समझौते से ऊपर उठा हुआ, इससे सर्वथा स्वतन्त्र और पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी स्वच्छन्द शासक है। इस समझौते को करने वाली पार्टी न होने के कारण वह इसके पालन के लिए बाध्य नहीं है। इस समझौते से प्राकृतिक अवस्था में एकाकी रहने वाले व्यक्तियों ने समाज का निर्माण किया है। अतः यह सामाजिक समझौता (Social Contract) है और पूर्ववर्त्ती विचारकों के शासनात्मक समझौते से भिन्न है।[1] **दूसरी** विशेषता यह है कि इस समझौते का लक्ष्य आन्तरिक शान्ति और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना है। यह समझौते का आवश्यक तत्त्व है। अतः ससझौता बनाये रखने के लिए इस शर्त्त का पालन होते रहना आवश्यक है। इन विशेषताओं के आधार पर प्रभुसत्ता के संबंध में हॉब्स ने कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निश्चित किये हैं।

प्रभुसत्ता (Sovereignty)—हॉब्स का लेवियाथन अथवा सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सर्वोच्च शासक या संप्रभु पूर्ण रूप से निरंकुश है, उसका आदेश ही कानून है। उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। प्रभुसत्ता सर्वथा अविभाज्य और अखण्ड है। इसी लिए वह मिश्रित शासन-व्यवस्था (Mixed Government) का विरोधी है। उसका यह मत है कि इंगलैण्ड में गृहयुद्ध की ज्वालायें भड़कने का मुख्य कारण यह भ्रान्त धारणा थी कि प्रभुसत्ता राजा, लार्डसभा तथा लोकसभा (House of Commons) में विभक्त थी।

प्रभुसत्ता को प्रजाजनों पर अपरिमित, असीम अधिकार प्राप्त हैं। ये लोगों ने प्राकृतिक दशा की अराजकता से परित्राण पाने तथा जीवन की रक्षा करने के लिए उसे प्रदान किये हैं, एक बार इन्हें दे देने के बाद उनके पास कोई अधिकार नहीं रह जाते। उनका एक मात्र कार्य प्रभु के आदेशों का पालन करना है। भले ही ये आदेश ईश्वर के तथा प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल हों, किन्तु राजा का आदेश होने के कारण ये न्यायपूर्ण और वैध हैं, अतः इनका पालन होना चाहिए। उसे अपनी प्रजा की सम्पत्ति को भी छीनने का अधिकार है क्योंकि वही इसका स्रष्टा और प्रदान करने वाला है। यदि उसकी तलवार का भय न रहे तो किसी के पास कोई सम्पत्ति न रहे। इसी प्रकार उसे अपने प्रजाजनों के प्राण लेने का भी अधिकार है, क्योंकि यदि उसका नियन्त्रण हट जाय तो समाज में किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता।

हॉब्स उपर्युक्त सामाजिक समझौते के आधार पर प्रभुसत्ता के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकालता है। **पहला** परिणाम यह है कि प्रभु द्वारा इस समझौते

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़ फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० २७१।

का भंग होने पर भी प्रजा को इसे उल्लंघन करने का अधिकार नहीं मिल सकता, क्योंकि वह इस समझौते को करने वाली है। यह समझौता विशाल जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के साथ किया है और अपने अधिकार तीसरे पक्ष या संप्रभु को प्रदान किये हैं। संप्रभु (Sovereign) ने कोई समझौता नहीं किया, उसके पास अपने सब अधिकार तथा शक्तियाँ बनी हुई हैं। वह कोई भी कार्य करे, प्रजा के साथ कभी अन्याय नहीं कर सकता, क्योंकि हॉब्स के मत में अन्याय का अर्थ है समझौते की शर्तें तोड़ना। जब प्रभु ने कोई समझौता ही नहीं किया तो वह उसकी शर्तें कैसे तोड़ सकता है? वह अपने प्रजाजनों के साथ पक्षपातपूर्ण और विषम व्यवहार (inequality) तो कर सकता है, किन्तु अन्याय कभी नहीं कर सकता।[1]

दूसरा उल्लेखनीय परिणाम यह है कि प्रजा द्वारा किसी भी कारण से किया जाने वाला आज्ञाभंग अन्यायपूर्ण है क्योंकि यह अपनी वैयक्तिक इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन कर देने वाले उपर्युक्त समझौते के प्रतिकूल है। **तीसरा** उल्लेखनीय परिणाम यह है कि राज्य की अल्पसंख्या प्रभुसत्ता का विरोध इस आधार पर नहीं कर सकती कि बहुसंख्या द्वारा चुने जाने वाले सर्वोच्च शासक को उसने स्वीकार नहीं किया था। इस विषय में अल्पसंख्यकों की दो ही स्थितियाँ सम्भव हैं। पहली तो यह कि उन्होंने उस समय बहुमत का निर्णय स्वीकार किया था और दूसरी यह कि इसे स्वीकार नहीं किया था। यदि स्वीकार किया था तो अब इसका उल्लंघन हॉब्स की परिभाषा के अनुसार अन्यायपूर्ण है और यदि नहीं स्वीकार किया तो वे अब भी प्राकृतिक दशा में हैं और उनके विरुद्ध युद्ध के सभी अधिकार प्रभु को प्राप्त हैं।

प्रभुसत्ता या संप्रभुता (Sovereignty) का मुख्य उद्देश्य अराजकता का अन्त करके शान्ति स्थापित करना है। इसे वह निम्नलिखित विशेष कार्यों (Specific functions) से पूरा करती है—(१) यदि प्रजाजनों को भाषण, लेखन और विचारों की अभिव्यक्ति की मिल्टन द्वारा प्रतिपादित निर्बाध स्वतन्त्रता दी जाय तो इस से लोगों में मतभेद, वैमनस्य, कलह और अशान्ति की वृद्धि होगी। अतः सर्वोच्च सत्ता का यह कार्य है कि वह जनता के विचारों और सिद्धान्तों का नियन्त्रण करे। (२) प्रभुसत्ता को प्रजाजनों की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है, वह इसे अपनी इच्छानुसार छीनने का भी अधिकार रखती है। (३) उसे अपने प्रजाजनों के सब विवादों के निर्णय करने का अन्तिम अधिकार है, यदि वह ऐसा न करे तो राज्य में आन्तरिक शान्ति नहीं बनी रह सकती। (४) उसे अन्य देशों से युद्ध छेड़ने और संधि करने का तथा अपनी नीति को क्रियान्वित करने के लिए प्रजाजनों के सम्पूर्ण साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का अधिकार है। (५) प्रभु शासन के सब अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत है। ये कार्य और अधिकार प्रभुसत्ता की मौलिक विशेषतायें और भेदक चिह्न हैं। इन्हें किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता, अतः ये असम्प्रदेय (Incommunicable) हैं। ये उससे पृथक् नहीं किये जा सकते। ये अवियोजनीय (Inseparable) हैं। इनके अतिरिक्त उसे अपनी मुद्रा चलाने आदि के भी कुछ अधिकार हैं, किन्तु इन्हें प्रभुसत्ता अपनी इच्छा से दूसरे को दे सकती है। हॉब्स का प्रभुसत्ता का विचार बोदैं के विचार से

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८२।

महत्त्वपूर्ण भेद रखता है। बोदँ प्रभुसत्ता पर ईश्वर के नियम (Divine Law), प्रकृति के नियम (Natural Law) तथा राज्य के मौलिक नियमों (Fundamental Law) के तीन प्रकार के प्रतिबन्ध स्वीकार करता है (ऊपर पृ० ३६३–५), किन्तु हॉब्स अपनी प्रभुसत्ता पर ऐसी कोई मर्यादा या प्रतिबन्ध नहीं मानता। बोदँ के मत में राजा को प्रजा की वैयक्तिक सम्पत्ति छीनने का अधिकार नहीं है, हॉब्स उसे यह अधिकार प्रदान करता है। अतः हॉब्स की प्रभुसत्ता बोदँ की प्रभुसत्ता की अपेक्षा अधिक निरंकुश और पूर्ण अधिकार रखने वाली है। उसकी प्रभुसत्ता असीम, अखण्ड, अविभाज्य और अदेय है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकार—हॉब्स अपने राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्राकृतिक दशा के व्यक्तियों के वैयक्तिक अधिकारों के साथ करता है और इसकी समाप्ति प्रभुसत्ता की निरंकुशता के साथ। वह इस दृष्टि से व्यष्टिवादी है कि उसके राजनीतिक सिद्धान्त का श्रीगणेश व्यक्ति के हित से होता है (लेवियाथन, अध्याय २१), किन्तु जब एक बार राज्य बन जाता है तो व्यक्ति अपने अधिकार प्रभुसत्ता को सौंप देते हैं।[1] इसके बाद वह मिल्टन की भाँति व्यक्ति की स्वतन्त्रता, भाषण, लेखन और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के कोई अधिकार नहीं मानता क्योंकि आरम्भिक सामाजिक समझौता करते समय मनुष्यों ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे राज्य के नियमों का पालन करेंगे। वह व्यक्ति के केवल **दो ही** अधिकार मानता है—(१) ऐसे सब काम करने की स्वतन्त्रता, जो राज्य के कानूनों द्वारा न रोके गये हों। कानूनों के भीतर रहते हुए व्यक्ति इच्छानुसार कोई भी कार्य करने का अधिकार रखता है, किन्तु इन्हें भंग करने पर राजदण्ड का भागी होता है। नागरिकों का हित इसी में है कि वे राजाज्ञाओं का पालन करें, अन्यथा अराजकता की भयावह स्थिति उत्पन्न हो जायगी। अतः राज्य की दासता व्यक्ति के हित की दृष्टि से आवश्यक है। वह केवल उन्हीं स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकता है, जो उसे राज्य द्वारा प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकरण में यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रजा को प्रभु या राजा के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं, किन्तु प्रभु को प्रजा के विरुद्ध यहाँ तक अधिकार प्राप्त हैं कि वह कोई वैध कारण न होने पर भी किसी नागरिक को निर्वासित कर सकता है, मार सकता है, उसकी सम्पत्ति छीन सकता है। उसका यह कार्य अन्यायपूर्ण नहीं है, क्योंकि उसने किसी समझौते को नहीं तोड़ा।

आत्मसंरक्षण का अधिकार- हॉब्स ने इस विषय में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा निरंकुश प्रभुसत्ता का पूर्ण विरोध करने का अधिकार दिया है। अपने जीवन की रक्षा के लिए ही प्राकृतिक दशा का अन्त करने के उद्देश्य से मनुष्यों ने सामाजिक समझौता किया था, राज्य की दासता स्वीकार की थी। राज्य के बन जाने से उनके शेष सब अधिकार समाप्त हो जाते हैं, किन्तु यह अधिकार नहीं समाप्त होता। राज्य का प्रादुर्भाव, सत्ता और उपयोग इसी अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए है, उसका उद्देश्य ही जीवन की रक्षा है। अतः राज्य इस अधिकार का अपहरण नहीं कर सकता। यदि राज्य का कोई नियम नागरिक के जीवन पर आघात करता है तो वह

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २९५।

इसका विरोध कर सकता है। हॉब्स ने लिखा है कि "प्रजा प्रभु की आज्ञा उसी समय तक मानने के लिए बाध्य है, जब तक उसमें प्रजा को संरक्षण प्रदान करने की शक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह राजा की ऐसी आज्ञाओं का पालन न करे, जिनमें उसे अपने-आपको मारने, घायल करने या अंगभंग (Maim) करने का आदेश हो अथवा उसपर हमला करने वालों के प्रतिरोध करने का निषेध हो अथवा जीवन चलाने के लिए आवश्यक अन्न, हवा, दवाई या अन्य किसी वस्तु को लेने का निषेध किया गया हो।" वह व्यक्ति अपने पर आक्रमण का प्रतिरोध कर सकता है, अपने प्राणों को संकट में डालने वाले अपराध को न्यायालय में अस्वीकार कर सकता है, सेना में भर्ती होने से इंकार कर सकता है, डरपोक होने के कारण प्राणरक्षा के लिए युद्धक्षेत्र से भाग सकता है। जीवन रक्षा के आधार पर ही हॉब्स ने व्यक्ति को यह अधिकार भी दिया है कि जब किसी राज्य में गृहयुद्ध की स्थिति हो, इसमें पहले शासन करने वाली राजसत्ता निर्बल हो जाने के कारण नागरिकों की प्राणरक्षा करने में समर्थ न हो तो नागरिक अपनी राजभक्ति और निष्ठा पहली सत्ता से हटाकर नई सत्ता में रख सकते हैं। यह सिद्धान्त उसने लेवियाथन के अन्तिम उपसंहार में रखा है और उसके आलोचकों का यह कहना था कि यह सिद्धान्त उसने अपने वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से प्रतिपादित किया है। पहले वह राजपक्षपाती था, किन्तु इंगलैण्ड में राजा के विरोधी क्रामवेल की सत्ता सुदृढ़ होने पर हॉब्स उसके साथ मिल गया और इसे न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उसने इस मत का प्रतिपादन किया है।

व्यष्टिवाद (Individualism)—आत्मसंरक्षण का अधिकार हॉब्स के राजनीतिक दर्शन में असाधारण महत्त्व रखता है। यह न केवल सर्वोच्च सत्ता के निरंकुश अधिकारों को मर्यादित करता है, किन्तु यह भी सूचित करता है कि हॉब्स ने राजनीति में व्यष्टिवाद की विचारधारा का प्रवर्त्तन किया। उससे पहले राज्य और समाज को व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था, इनके हित को सर्वोपरि स्वीकार किया जाता था। हॉब्स पहला दार्शनिक था, जिसने व्यक्ति के हित को, उसके जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना, उसके मतानुसार राज्य और समाज की उत्पत्ति भी इसी हित को सुरक्षित बनाने के लिए हुई है। अतः राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीने के अधिकार की रक्षा करना है। यही राज्य की सबसे बड़ी उपयोगिता है कि वह अराजकता का अन्त करके व्यक्तियों के जीवन संकट को दूर करता है। राज्य अत्यधिक निरंकुश अधिकार रखते हुए भी व्यक्ति के जीवन को नहीं कुचल सकता, उसके हितों का बलिदान नहीं कर सकता। उसको निरंकुश अधिकार इसी दृष्टि से दिये गये हैं कि वह समाज में शान्ति स्थापित रखे, व्यक्तियों का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित रखे। राजा की निरंकुश सत्ता का समर्थन व्यक्ति के हित की दृष्टि से किया गया है। हॉब्स के बारे में यह कथन यथार्थ है कि **हॉब्स निरंकुशतावादी होते हुए भी पूर्णरूप से व्यक्तिवादी है।**

अतः सैबाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि हॉब्स की "प्रभु की सर्वोच्च शक्ति उसके व्यष्टिवाद का आवश्यक पूरक (Necessary complement) है।"[1] उसकी रचनाओं में हमें सर्वप्रथम व्यष्टिवाद का आधुनिक तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। व्यक्ति के

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ४०३।

हित पर बल देने के कारण हॉब्स को आधुनिक व्यष्टिवाद (Individualism) का अग्रदूत कहा जा सकता है। उसका समूचा राजनीतिक दर्शन विशुद्ध व्यष्टिवादी है। डनिंग ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है, "उसके सिद्धान्त में राज्य की शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी इसका मूलाधार पूर्ण रूप से व्यष्टिवादी है। यह सब मनुष्यों की प्राकृतिक समानता पर उतना ही बल देता है, जितना मिल्टन या किसी अन्य क्रान्तिकारी विचारक ने बल दिया है। हॉब्स ने सर्वशक्तिशाली राज्य के विचार को स्वतन्त्र और समान व्यक्तियों के समुदाय से तर्कसंगत रीति से निकालने के लिए ही अपने इस नवीन विचार का विकास किया कि राज्य केवल व्यक्ति के साथ व्यक्ति के समझौते से जन्म ग्रहण करता है।"[1]

हॉब्स ने आत्मसंरक्षण के लिए व्यक्ति को प्रभुसत्ता की आज्ञा के प्रतिरोध का अधिकार देकर उसकी निरंकुश सत्ता को बहुत कुछ नगण्य बना दिया है। इससे व्यक्ति को यह अधिकार मिल गया है कि वह स्वयं यह निर्णय करे कि कब उसके प्राण संकट में हैं और उसे राजा के आदेश का विरोध करना है। इस प्रकार व्यक्ति को राज्य की निरंकुशता का प्रतिरोध करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण ब्रह्मास्त्र मिल गया है। व्यक्ति इस से राजा की निरंकुश सत्ता का सफल प्रतिकार कर सकता है। अतः यद्यपि ऊपर से देखने में तो यह प्रतीत होता है कि हॉब्स निरंकुश सत्ता का समर्थक है, वास्तव में वह व्यक्ति के हितों का समर्थक होने से प्रबल व्यष्टिवादी है।

शासन के भेद—शासन तीन प्रकार के हैं। यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में निहित हो तो राजतन्त्र (Monarchy) होता है, यदि कुछ व्यक्तियों में निहित हो तो कुलीनतन्त्र तथा समाज के सब व्यक्तियों के निहित हो तो लोकतन्त्र।[2] इन तीन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कोई शासन नहीं होता। प्रभुसत्ता को अविभाज्य मानने के कारण वह अरस्तू आदि की मिश्रित संविधान (Mixed constitution) की व्यवस्था का घोर विरोधी है। इन तीनों में से वह राजतन्त्र को निम्नलिखित कारणों से श्रेष्ठ समझता है—(क) इसमें राजा का तथा राज्य का वैयक्तिक और सार्वजनिक हित एक होता है। राजा के धन और कीर्त्ति की वृद्धि राज्य की सम्पत्ति और यश को बढ़ाने वाली होती है। (ख) इसमें शासन की स्थिरता और स्थायित्व अधिक होता है। मनुष्य का स्वभाव बड़ा चंचल होता है, यदि कई व्यक्तियों का अथवा लोकतन्त्र का शासन होगा तो इसमें अधिक व्यक्तियों के कारण अत्यधिक चपलता और अस्थिरता होगी। एक व्यक्ति के हाथ में शासन रहने से अस्थिरता अधिक नहीं बढ़ पाती। (ग) राजतन्त्र में यद्यपि अपने कृपापात्रों को धन और अधिकार देने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु कुलीनतन्त्र एवं लोकतन्त्र में यह बुराई बहुत अधिक बढ़ जाती है क्योंकि इनमें शासकों की संख्या अधिक होने से उनके कृपापात्र भी बढ़ जाते हैं। राजतन्त्र का सबसे बड़ा दोष उत्तराधिकार के कारण होने वाले झगड़े होते हैं। राज्य के सब विभाग, पार्लियामेंट, कारपोरेशन और मैजिस्ट्रेट अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, वे प्रभुसत्ता की इच्छा तथा आदेशों को पालन कराने के साधन मात्र हैं। प्रभुसत्ता के प्रधान

---

१. डनिंग—पोलिटिकल थियोरीज़ फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० ३०२।
२. लेवियाथन, अध्याय १६।

कार्य शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना, व्यापार और उद्योग-धंधों की देखभाल, शिक्षा का तथा धार्मिक उपासना का संचालन करना है। इन सब कार्यों को कानून बनाकर पूरा किया जाता है।

कानून – डनिंग का यह मत है कि हॉब्स ने बोदँ के कानून के विचारों में सबसे बड़ा परिष्कार किया है।[1] उसके मतानुसार "कानून उचित रूप से उसका वचन है, जिसे अन्य व्यक्तियों के शासन का अधिकार है।"[2] यह लक्षण १९वीं शताब्दी के ब्रिटिश विधिशास्त्री आस्टिन के इस लक्षण से मिलता है कि कानून प्रभुसत्ता का आदेश होता है। हॉब्स सभी राजकीय कानूनों को प्रभु की इच्छा समझता है। उस समय राजाज्ञा के अतिरिक्त कई प्रकार के नियमों को कानून माना जाता था, जैसे प्रकृति के नियम, रीति-रिवाज, ईश्वरीय नियम। उसके मतानुसार प्रकृति के नियम (Natural Laws) कानून नहीं हैं, वे राज्य के संरक्षण और प्रतिरक्षा में सहायक समझे जाने वाले अनुमान या प्रमेय (Theorem) मात्र हैं। रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ (Customs) प्राचीनकाल से चले आने के कारण कानून नहीं हैं, किन्तु इसलिए कानून माने जाते हैं कि प्रभुसत्ता इनका पालन कराना चाहती है। ये उसकी सहमति और स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकते। ईश्वर का नियम राजकीय कानून से ऊंचा होता है, किन्तु इसकी व्याख्या करने का अधिकार केवल राजा को है। प्रजा के लिए राजा की इच्छा ही कानून है।

राज्य और चर्च का संबंध – लेवियाथन के लगभग आधे भाग में धर्मशास्त्र और चर्च से संबंध रखने वाले प्रश्नों की मीमांसा है, उसने इन्हें विशुद्ध तर्क की कसौटी पर कसा है। इसीलिए उसे नास्तिक कहा गया और कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा। वह चर्च को राज्य से पृथक् और भिन्न सत्ता नहीं मानता। चर्च के लिए आवश्यक है कि वह प्रभुसत्ता के आदेश से संगठित हो। इसके आदेश के बिना चर्च नहीं बन सकता और न ही व्यक्ति उपासना के लिए किसी स्थान पर एकत्र हो सकते हैं। लेवियाथन के हाथ में जहाँ एक ओर राजसत्ता की तलवार है, वहाँ दूसरी ओर धर्मदण्ड भी है। धार्मिक सत्ता पूर्णरूप से राजसत्ता की वशवर्त्ती है। यदि राजा की आज्ञा के बिना कोई धार्मिक सम्मेलन या संगठन बनता है तो यह अवैध है। आध्यात्मिक शासन (Spiritual Government) जैसी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि राज्य में केवल राजनीतिक प्रभुसत्ता रखने वाले का ही शासन होता है। सार्वभौम चर्च (Universal Church) जैसे नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि प्रत्येक राज्य का चर्च उसका एक अंग मात्र है। राज्य में सबसे ऊँची आध्यात्मिक शक्ति प्रभु (Sovereign) ही है और वह यह शक्ति सीधा भगवान् से ग्रहण करता है। बिशप भगवान् की कृपा से (Dei gratia) नहीं, किन्तु राजा की कृपा से आध्यात्मिक सत्ता को ग्रहण करते हैं।

हॉब्स का यह मत है कि राज्य में तब अव्यवस्था और अराजकता मच जाती है, जब कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क में यह भावना बैठ जाती है, कि भगवान् ने उन्हें प्रेरणा तथा सत्य का प्रकाश दिया है और ऐसे भ्रान्त व्यक्ति शिक्षा और बुद्धि को गौण स्थान

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २९३।

२. लेवियाथन, अध्याय १५।

देते हुए यह आग्रह करते हैं कि सच्ची पवित्रता और सत्-असत् का सच्चा ज्ञान केवल अलौकिक (Supernatural) अनुभवों से प्राप्त हो सकता है। उसने अपनी पुस्तक में रोमन कैथोलिक चर्च का वर्णन करने वाले प्रकरण का नाम 'अन्धकार का राज्य' रखा है। उसका यह मत है कि सामान्य आदमी में अन्धकार का तथा भूत-पिशाच का भय अन्य भयों से अधिक होता है, वह शाश्वत नरक के भय से काँपता है। आध्यात्मिक सत्ता उसकी इस कमजोरी से लाभ उठाती है। अतः राज्य को इस खतरे से अपनी तथा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। पादरी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अन्धविश्वासों को प्रोत्साहित करते हैं। रोमन चर्च के दावों का खण्डन करते हुए उसने लिखा था "यदि कोई व्यक्ति चर्च की विशाल सत्ता के आरम्भिक रूप पर विचार करे तो वह सरलता से देख लेगा कि पोपशाही मृत रोमन साम्राज्य का ही भूत है, जो उसकी कब्र पर मुकुट धारण किये हुए आसीन है।"

हॉब्स की आलोचना—चर्च की सत्ता और महत्ता को नगण्य बनाने वाले ऐसे नास्तिक, धर्म-विरोधी सिद्धान्तों के कारण हॉब्स को गालियों का तथा कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा। कौली (Cowley) ने उसे माम्ज़बरी का महाराक्षस (Monster of Malmesbury) कहा था। ह्वाइटहाल (Whitehall) के मतानुसार लेवियायन वैसी ही निन्दनीय सम्मतियों से भरा हुआ है, जैसे भेक (Toad) विष से परिपूर्ण होता है। ब्रैमहिल का विचार था कि यह ग्रन्थ सबको आग लगाने वाला है, ...उसने जितनी गड़बड़ पैदा कि है, उतनी वनस्पतियों के बगीचे में सूअर भी नहीं पैदा कर सकता।[1] अनेक वर्षों तक संदेहवाद और स्वतन्त्र विचार को हॉब्सवाद (Hobbism) कहकर निन्दित किया जाता रहा। बैंटली (Bentley) ने हॉब्स को नैतिक पतन का जिम्मेवार ठहराया था। क्लेरेण्डन (Clerendon) ने लिखा था कि "हॉब्स की पुस्तक जला देनी चाहिए। मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी, जिसमें राजद्रोह, गद्दारी और अधार्मिकता इतनी अधिक मात्रा में हो।"[2]

न केवल धार्मिक, अपितु राजनीतिक दृष्टि से भी हॉब्स के विचारों की कटु आलोचना की गयी है। रूसो ने लिखा है कि हॉब्स का सिद्धान्त आत्मविरोधी (Self-contradicting) तथा उद्वेगजनक है, उसका राज्य की उत्पत्ति का तथा इसके प्रति सदस्यों की निष्ठा का विचार बड़ा भ्रान्त है। उसके सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज इससे पहले की अराजक दशा से बहुत गया बीता है। वस्तुतः यह कोई समाज नहीं है, किन्तु केवल भय से संचालित होने वाला पशुओं का रेवड़ है, जो तलवार के ज़ोर से बाड़े में बन्द है। लेवियाथन का राज्य दासता पर आधारित है। हॉब्स के विचारों का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे तानाशाही और निरंकुश शासन स्थापित करते हैं। रूसो के मतानुसार जो व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करता है, वह अपने मनुष्यत्व को छोड़ देता है। उसके समझौते से बना हुआ समाज वास्तव में कोई समाज नहीं है। इसमें सारा जीवन केवल एक ही व्यक्ति—लेवियाथन में केन्द्रित है, शेष सब व्यक्ति निरर्थक भूभार मात्र हैं। समाज का मूल तत्त्व यह है कि उसके सब व्यक्तियों

---

१. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० ४६-४७।
२. गूच—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड फ्राम बेकन टू हैलिफैक्स, पृ० ३३-४।

में जीवन का स्पन्दन और संचार हो, प्रत्येक व्यक्ति सामुदायिक विकास में अपना थोड़ा-बहुत अंश प्रदान करे, किन्तु हॉब्स के समाज में, सभी व्यक्ति लेवियाथन के समक्ष नतमस्तक और करबद्ध दास मात्र हैं। रूसो ने प्राकृतिक दशा मनुष्य के हॉब्स द्वारा प्रतिपादित हिंस्र स्वभाव पर आपत्ति करते हुए कहा कि अपने बंधुओं के विनाश से आनन्द प्राप्त करने वाला वह प्राणी बड़ा विचित्र ही रहा होगा। यदि वास्तव में मनुष्यों का स्वभाव एक-दूसरे का गला काटने वाला हो तो मानव जाति दो पीढ़ियों से अधिक नहीं चल सकती। यदि यही मानव स्वभाव है तो हमें अपने बच्चों और बन्धुओं की मृत्यु पर प्रसन्न होना चाहिए। दया और सहानुभूति राक्षसों का गुण मानना चाहिए, सोते हुए तथा असहाय व्यक्तियों की हत्या कर देनी चाहिए।

वॉन (Vaughan) ने उसके प्रकृति के नियम (Law of Nature) की आलोचना करते हुए लिखा है कि उसने इसका प्रयोग दो विभिन्न विरोधी अर्थों में किया है। एक ओर इसे वह पाशविक सहज बुद्धि (Brute instinct) मानता है और दूसरी ओर एक नैतिक नियम। जब उसका उद्देश्य प्राकृतिक दशा को भयावह रूप में उपस्थित करना होता है, तो वह इसे छल कपट से विषाक्त पशु-शक्ति के रूप में चित्रित करता है। किन्तु जब वह इस अवस्था में समझौते द्वारा परिवर्तन लाना चाहता है तो जो मनुष्य कुछ समय पहले जंगली पशु थे, अब सहसा अपने को कर्त्तव्यों से बँधा हुआ नैतिक प्राणी समझने लगते हैं। दानवों को एक ही क्षण में देवताओं में कायाकल्प करने की कपोल कल्पना तो पौराणिक साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होती। "हॉब्स के मतानुसार प्राकृतिक दशा युद्ध की अवस्था है, इसमें सब व्यक्ति एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध में रत हैं। इस दशा में सबसे बड़े गुण बल और छल हैं। यह ऐसी दशा है, जिसमें सत्-असत् की, न्याय-अन्याय की धारणाओं का कोई स्थान नहीं होता। यह सब बिल्कुल असंगत है। किन्तु इसकी इसके परिणाम (सामाजिक समझौते) के साथ तो कोई भी संगति नहीं बैठ सकती। हमें यह कौन विश्वास दिला सकता है कि इस प्रकार के मनुष्य ऐसी दशा में प्रवेश कर सकते हैं, या प्रवेश करना चाहते हैं, जिसमें ये परिस्थितियाँ बिल्कुल ही बदल जाती हैं। वह युद्ध की नहीं, किन्तु शान्ति की स्थिति है···यह न्याय के विचारों पर आधारित राज्य है। एक हब्शी अपना रंग नहीं बदल सकता और न ही लेवियाथन के आरम्भिक अध्यायों में वर्णित दूसरे का गला काटने वाला चालाक व्यक्ति एकदम शान्तिप्रिय श्रमिक बन सकता है।"[1] लॉक ने भी हॉब्स की इसी प्रकार की आलोचना करते हुए कहा है कि "वह हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे जंगली बिल्लियों और लोमड़ियों की शरारतों से बचने के लिए शेरों द्वारा निगला जाना अधिक सुरक्षित समझते हैं।"

हॉब्स की विचारधारा के दोष—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उसके विचारों में कई गम्भीर दोष हैं। **पहला दोष** मानव स्वभाव का एकांगी, दूषित और निराशावादी दृष्टिकोण है।[2] वह मनुष्य को घोर स्वार्थी, कपटी, क्रूर और दूसरों का गला काटने वाला बताता है। किन्तु मनुष्य यदि पशु है तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह कोरा

---

१. वॉन—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल फिलासफी, खं० १, पृ० ३७।

२. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १४७।

पशु नहीं, किन्तु मानवीय (Human) पशु है। उसमें एक ओर जहाँ उपर्युक्त पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ दूसरी ओर सहानुभूति, उदारता, दयालुता, परोपकार और प्रेम के मानवीय गुण भी है। हॉब्स इन्हें सर्वथा भुला देता है। वह केवल उसकी पाशविक प्रवृत्तियों पर ही बल देता है, जैसे रूसो ने उसकी मानवीय प्रवृत्तियों पर बल दिया। दोनों दृष्टिकोण एकांगी होने से दूषित हैं और इनके आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो सकता। हॉब्स का अपने सिद्धान्तों का मौलिक आधार ही दोषपूर्ण है।

दूसरा दोष उसके सिद्धान्तों की अनेक असंगतियाँ और पारस्परिक विरोध हैं। पहले (पृ० ४३१) इनका निर्देश किया जा चुका है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य एकाकी और ऐसी दशा में रहता था, जिसमें हत्या, हिंसा, छल, कपट का साम्राज्य था। किन्तु समझौता होने के बाद वह सामाजिक बनकर शान्तिपूर्ण समाज में रहने लगा। उसकी प्रकृति में इस प्रकार सहसा परिवर्त्तन कैसे आ गया कि उसने अराजकता और अव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिणत कर लिया। वाल्मीकि जैसे एक-दो व्यक्ति भले ही सहसा डाकू से मुनि बन जायँ, किन्तु हॉब्स के पशुतुल्य रक्त-पिपासु नरपशु एकदम समझौतों का पालन करने वाले नैतिक प्राणी बन जायं, यह सर्वथा असंभव प्रतीत होता है। एक ही क्षण में प्राकृतिक दशा में रहने वाले मनुष्यों ने संघर्षपूर्ण जीवन को छोड़कर सहयोगी जीवन की पद्धति को कैसे अपना लिया? यह नहीं समझ आता कि जिस समाज में कुछ समय पहले जंगली जानवरों की-सी स्थिति थी, कोई कायदा कानून नहीं था, इसे लागू करने वाली कोई सर्वोच्च शक्ति नहीं थी, उसमें सहसा समझौता कैसे हो गया। हॉब्स स्वयं यह मानता है कि तलवार की शक्ति के बिना कोई नियम या समझौता नहीं टिक सकता। किन्तु वह यह भी मानता है कि सामाजिक समझौता पहले हुआ तथा लेवियाथन की उत्पत्ति बाद में हुई। उसके अपने सिद्धान्तों में ही परस्पर विरोध है। अराजकता के एकदम बाद समझौते की उत्पत्ति तथा शान्ति की स्थिति वास्तव में कभी नहीं हो सकती, यह केवल हॉब्स की कल्पना की जादू की छड़ी से या अलाउद्दीन के चिराग से ही संभव है।

तीसरा दोष उसकी यह भ्रान्त धारणा है कि आदिम समाज में मनुष्य एकाकी रहता है। उसे यह ज्ञात नहीं था कि मनुष्य में सामाजिक जीवन के तत्त्वों का कभी अभाव नहीं रहा। उसकी कल्पना के विपरीत आदिम समाज की इकाई व्यक्ति नहीं वरन् कुटुम्ब या दूसरे समुदाय थे। इन समाजों में केवल संघर्ष की ही नहीं, किन्तु उसके साथ सहयोग की भावना भी पायी जाती है। वस्तुतः उसकी अपेक्षा अरस्तू का यह मत अधिक सत्य था कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और राज्य की उत्पत्ति परिवार से होती है।

चौथा दोष उसकी यह धारणा है कि समाज को अराजकता से बचाने के लिए इसका एक मात्र विकल्प सर्वोच्च एवं निरंकुश शासन सत्ता को मानना है। उसके सामने योरोप के मध्ययुग का इतिहास था, इसमें शासन सत्ता चर्च और राज्य में बँटी हुई थी। इस दशा में यद्यपि अनेक संघर्ष होते थे, किन्तु यह हॉब्स की प्राकृतिक दशा

---

१. गूच—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३४-३५।

२. गूच—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३८।

से बहुत अच्छी थी। वह यह समझता था कि प्रभुसत्ता सदैव अविभाज्य रहनी चाहिए, अन्यथा समाज में अराजकता उत्पन्न हो जायगी। किन्तु आधुनिक राज्यों का उदाहरण इसे झुठलाने के लिए पर्याप्त है। सं० रा० अमरीका में यह शासन के तीन प्रधान अंगों में बँटी हुई है, किन्तु वहाँ कोई अराजकता नहीं है। **पाँचवाँ** दोष उसकी यह कल्पना है कि अराजकता दूर करने और कानून का पालन कराने के लिए राज्य की दण्डशक्ति को दी जाने वाली प्रधानता अनुचित है। वह यह भूल जाता है कि लोकमत, बुद्धि और धार्मिक विश्वास भी मानव समाज में व्यवस्था बनाये रखने में सहायक होते हैं। **छठा** दोष राज्य को कोई रचनात्मक कार्य नहीं सौंपना है। इसका एकमात्र कार्य शान्ति बनाये रखना है। लेवियाथन पुलिस का सिपाही मात्र है। हॉब्स यूनानी विचारकों की तरह राज्य के भावात्मक कार्यों पर बल नहीं देता। वह अरस्तू की यह बात मानता है कि राज्य मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए है, किन्तु यह भूल जाता है कि इसका लक्ष्य उसे सुखमय जीवन की सुविधायें प्रस्तुत करना है। उसके लिए राज्य एक आवश्यक बुराई है, यह एक प्रगतिशील सभ्यता का नहीं, किन्तु मनुष्य की बर्बर वृत्तियों से उनकी रक्षा करने का साधन है। **सातवाँ** दोष हॉब्स का अपने राज्य में मनुष्यों को सर्वथा अधिकार-शून्य करके लेवियाथन की दासता के पाश में जकड़ना था। इसमें मनुष्यों की स्थिति लेवियाथनरूपी चरवाहे द्वारा हाँके जाने वाले पशुओं के रेवड़ जैसी थी। यदि अराजकता की दशा शोचनीय स्थिति थी तो यह उससे भी बुरी अवस्था थी।

हॉब्स का यह दुर्भाग्य था कि उसके लेवियाथन ने इंगलैण्ड के सभी महत्त्वपूर्ण दलों को रुष्ट किया था। उसके चर्च और धर्म-संबंधी विचारों के कारण पादरी उससे असन्तुष्ट थे, वे चर्च को राज्य का एक विभाग मात्र नहीं बनाना चाहते थे। राजा की दैवी सत्ता में विश्वास रखने वाले राजतन्त्रवादी (Monarchists) उसके सामाजिक समझौते के विचार को पसन्द नहीं करते थे। राजसत्तावादियों (Royalists) को उससे यह असन्तोष था कि वह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ किसी भी शासन को भले ही वह किसी डिक्टेटर का या पार्लियामेंट का क्यों न हो, मानने को तैयार था। पार्लियामेंट वाले उससे इसलिए नाराज थे कि वह प्रभुसत्ता की अविभाज्यता का सिद्धान्त मानने के कारण राजा को नियन्त्रित करने के दावों का विरोधी था। इन परिस्थितियों में हॉब्स का तत्कालीन ब्रिटिश विचारकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

हॉब्स का प्रभाव—उसके सिद्धान्तों का प्रभाव इंगलैण्ड की अपेक्षा योरोप में अधिक पड़ा। स्पिनोज़ा (१६३२–७७ ई०) ने उसके सिद्धान्तों को अपनाकर उसका विकास किया। १८वीं शताब्दी के मध्य से उसका प्रभाव बढ़ने लगा। यह पहले बेन्थम और आस्टिन की रचनाओं में दिखाई देता है। आस्टिन ने हॉब्स के इस विचार का समर्थन किया कि कानून प्रभुसत्ता का आदेश होता है, उसके प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर हॉब्स की स्पष्ट छाप है। बाद में उसकी राज्य की जीवित प्राणी के शरीर से तुलना को स्पेन्सर ने तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने ग्रहण किया।[1] हॉब्स ने राजाओं की दैवी सत्ता के अधिकार का पूरी तरह निराकरण किया। २०वीं शताब्दी के अधिनायकवादी देश फासिस्ट इटली तथा नाज़ी जर्मनी हॉब्स की भाँति राज्य की निरंकुश सर्वोच्च सत्ता के

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० २२१।

सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

हॉब्स की देन—हॉब्स राजनीतिशास्त्र पर इंगलिश भाषा में आधुनिक ढंग से सूक्ष्म विवेचन करने वाला न केवल पहला अपितु अत्यधिक मौलिक विचारक था। उसकी सबसे बड़ी देन प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का पहली बार सुस्पष्ट रीति से प्रतिपादन करना था। उससे पहले मेकियावेली, बोदँ तथा ग्रोशियस ने इसकी कुछ बातों का प्रतिपादन किया था, किन्तु इसकी पूर्ण एवं विशद व्याख्या करने का, इसके स्वरूप, मर्यादाओं तथा कार्यों की सूक्ष्म विवेचना करने का श्रेय हॉब्स को ही है। उसने सर्वप्रथम इस बात को स्पष्ट रूप से अनुभव कर लिया था कि राज्यविषयक किसी भी सिद्धान्त का निर्माण करने के लिये प्रभुसत्ता का विचार आवश्यक है, यह राज्य का अनिवार्य अंग है। उसकी दूसरी देन राजनीतिशास्त्र को आधुनिक रूप प्रदान करना है। इस विषय में इसकी तुलना मेकियावेली तथा बोदँ से करना बड़ा रोचक है। पहले इन दोनों के विचारों का विवेचन (पृ० ३४२, ३७५) तथा इनके आधुनिकता का अग्रदूत होने का प्रतिपादन किया जा चुका है (ऊपर पृ० ३८७)। किन्तु हॉब्स का कार्य कई दृष्टियों से इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। मेकियावेली ने धर्मनिरपेक्ष राजनीतिशास्त्र के प्रतिपादन का श्रीगणेश, राजनीति का नैतिकता और धर्म से पृथक्करण करते हुए किया था (पृ० ३४४-५)। किन्तु हॉब्स की यह विशेषता थी कि उसने राज्य को चर्च से ऊँचा स्थान दिया, चर्च की सत्ता को नगण्य बनाया (पृ० ४१४), धार्मिक सत्ता को पूर्णरूप से राजसत्ता का वशवर्त्ती बनाया और धर्मनिरपेक्षता (Secularism) की आधुनिक प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। इसी प्रकार प्रभुसत्ता का विचार उससे पहले बोदँ ने भी किया था, किन्तु उसे पूर्णता देने वाला हॉब्स ही था। हॉब्स की महत्ता इस बात में नहीं है कि उसने निरंकुशवाद (Absolutism) का समर्थन किया, यह उससे पहले बोदँ ने भी किया था। उसकी महत्ता इस बात में है कि उसने निरंकुशवाद तथा धर्मनिरपेक्षतावाद का समर्थन भौतिकवाद के दर्शन के आधार पर किया और इस प्रकार राजनीतिशास्त्र में आधुनिक युग का सूत्रपात किया। यह उसकी एक महत्त्वपूर्ण देन है।

हॉब्स का महत्त्व—उपर्युक्त दोषों (पृ० ४३२) के होते हुए भी हॉब्स कई दृष्टियों से असाधारण महत्त्व रखता है। वह राजनीतिशास्त्र की विस्तृत और व्यवस्थित पद्धति का निर्माण करने वाला पहला अंग्रेज विचारक है। डनिंग के शब्दों में उसके ग्रन्थ ने उसे एकदम प्रथम कोटि के विचारकों में स्थान दिया और उसके ग्रन्थ ने अनेक तीव्र विवाद उत्पन्न करके 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध:' के अनुसार राजनीतिक प्रश्नों के चिन्तन को अधिक स्पष्टता प्रदान की। उसने राजनीतिशास्त्र में भौतिकवाद का दृष्टिकोण अपना कर नई परम्परा स्थापित की। हॉब्स ने राजनीतिक सत्ता को मेकियावेली की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठाया। इटालियन लेखक ने तो राजनीतिशास्त्र को धर्म और नीतिशास्त्र से स्वतन्त्र और पृथक् किया था, किन्तु हॉब्स ने इसे इनसे ऊपर उठाया।[1] हॉब्स का प्रभुसत्ता और कानून का विचार अपने पूर्ववर्त्ती बोदँ के विचारों से अधिक आगे बढ़ा हुआ था। असीम, अमर्यादित प्रभुसत्ता का प्रतिपादन करने वाला वह पहला विचारक था,

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३०१।

उसने अपने बुद्धि-कौशल से राजाओं की वैध सत्ता के समर्थन में प्रस्तुत किये जाने वाले सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से प्रभुसत्ता की निरंकुशता को पुष्ट किया। उसकी एक बहुत बड़ी देन व्यष्टिवाद (देखिये ऊपर पृ० ४२८) की है। हॉब्स का इस दृष्टिकोण से भी महत्त्व है कि उसने मध्यकालीन परम्पराओं के धार्मिक जाल को अपने बुद्धिवाद से विच्छिन्न किया। रसेल ने लिखा है कि वह अन्धविश्वास से सर्वथा मुक्त है। वह इस आधार पर तर्क नहीं करता कि आदम और हव्वा के पतन के समय क्या हुआ, सभी मध्यकालीन लेखक बाइबल के आधार पर तर्क करते हुए दैवी और प्राकृतिक नियमों पर बहुत बल देते थे, उसने इनको अस्वीकार करते हुए धर्मसत्ता को राजनीतिक सत्ता का वशवर्त्ती बनाया तथा राज्य को मनुष्यों द्वारा बनायी हुई कृत्रिम तथा मानवीय संस्था माना, जबकि उससे पहले के विचारक इसको ईश्वरीय संस्था मानते थे।[१]

---

१. रसेल, बर्टेण्ड—ए हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ५७८।

सालहवाँ अध्याय

जॉन लॉक (१६३२-१७०४ ई०)

जीवन-चरित्र—हॉब्स के बाद, ब्रिटिश राजनीतिक चिन्तन में सबसे ऊँचा स्थान रखने वाले और उसके प्रतिकूल मत प्रकट करने वाले जॉन लॉक का जन्म एक मध्यमवर्गीय परिवार में सॉमरसैट काउण्टी के रिंगटन नामक स्थान में १६३२ ई० में उस समय हुआ, जब पार्लियामेंट राजा चार्ल्स प्रथम (१६२५–४६ ई०) के साथ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही थी। उसके होश संभालते ही इंगलैण्ड का गृहयुद्ध (१६४२–५६ ई०) आरम्भ हो गया। उसका पिता १६४२ ई० में पार्लियामेंट की ओर से लड़ने वाली सेना में स्वयंसेवकों की एक कम्पनी का कप्तान बना। लॉक ने लिखा है कि जब मुझे कुछ ज्ञान हुआ तो मैंने अपने को तूफान में पाया। १६५८ ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० करने के बाद वह वहीं यूनानी भाषा, काव्यशास्त्र और दर्शन का शिक्षक बना। यह काम पसन्द न आने पर उसने चर्च का पुरोहित बनना चाहा, पर उसका कठोर नियन्त्रण उसके लिए सह्य न था। अतः उसने १६६० ई० के बाद आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध चिकित्सक डेविड थामस से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया और शीघ्र ही अच्छा डाक्टर बना। डाक्टर बनने पर भी वह स्वयं आजीवन बीमार रहा और उसका कहना था कि स्वास्थ्य मेरी ऐसी प्रेयसी है कि चिरकाल तक उसे रिझाने पर भी मैं उसकी कृपा नहीं पा सका।[1]

१६६६ ई० में लॉक के समूचे जीवन पर प्रभाव डालने वाली घटना घटित हुई। उस समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा ह्विग (उदार) दल के संस्थापक लार्ड एशली (बाद में अर्ल ऑफ शेफ्टस्बरी) अपने इलाज के लिए डेविड थामस के पास आक्सफोर्ड आये, थामस द्वारा लॉक का परिचय एशली से हुआ और वे इससे इतने प्रसन्न और प्रभावित हुए कि १६६७ में उन्होंने लॉक को लन्दन आकर उनका चिकित्सक बनने को कहा। इससे लॉक को ब्रिटिश राजनीति के तथा राजनीतिज्ञों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिला। एशली पार्लियामेंट की ओर से राजा के विरुद्ध लड़ने वाली सेनाओं के फील्ड मार्शल, संसद् के अधिकारों के प्रबल समर्थक और उदारवाद के परम भक्त राजनीतिज्ञ थे। लॉक १५ वर्ष तक उनका सचिव रहा। १६७२ में लार्ड चांसलर बनने पर शेफ्टस्बरी ने उसे कुछ सरकारी पदों पर भी रखा, किन्तु १६७३ में शेफ्टस्बरी से राजा उसकी प्रेयसियों को दिये जाने वाले रुपये की अदायगी में बाधा डालने के कारण रुष्ट हो गया। शेफ्टस्बरी के साथ लॉक को भी सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी और वह अपने क्षय या दमे के इलाज के लिए फ्रांस चला गया। १६७९ ई० में शेफ्टस्बरी के दुबारा पदारूढ़ होने पर लॉक फ्रांस से लौट कर उसके साथ काम करता रहा। किन्तु १६८१ ई० में

१. काटलिन, जार्ज—ए हिस्टरी ऑफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० २८२।

राजा पुनः शेफ्टस्बरी से रुष्ट हो गया क्योंकि वह प्रोटेस्टैण्ट धर्मावलम्बी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाने के षड्यन्त्र में संलग्न था। उसे इंगलैण्ड छोड़ना पड़ा और जब लॉक को स्वदेश में अपने प्राण संकट में प्रतीत हुए तो वह हालैण्ड भाग गया। हालैण्ड में जब उसे यह आशंका हुई कि वहाँ की सरकार उसे पकड़ कर ब्रिटिश सरकार को सौंप देगी तो वह वेश बदल कर और छिप कर रहने लगा। यहीं १६८३ ई० से उसने ग्रन्थ लेखन का कार्य आरम्भ किया। तत्कालीन स्टुअर्ट वंशी राजा को गद्दी से उतारने तथा विलियम आफ आरेञ्ज को गद्दी पर बिठाये जाने की षड्यन्त्र-योजनाओं में लॉक ने बड़ी दिलचस्पी ली। १६८८ ई० में इंगलैण्ड में क्रान्ति होने पर तथा विलियम को इंगलैण्ड बुलाये जाने पर, वह उसकी पत्नी मेरी वाले जहाज पर बैठ कर स्वदेश पहुँचा। क्रान्ति सफल होने पर उसे अनेक सरकारी पद दिये गये, किन्तु उसने स्वास्थ्य खराब होने के कारण कोई पद स्वीकार नहीं किया।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—लॉक के विचार तत्कालीन परिस्थिति का परिणाम थे। उसने अपने शैशव में गृहयुद्ध, यौवन में क्रामवेल का शासन तथा राजतन्त्र की पुनः स्थापना (Restoration) तथा बुढ़ापे में १६८८ की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) की महत्त्वपूर्ण घटनायें देखी थीं और अन्तिम घटना में कुछ भाग भी लिया था। १५ वर्ष तक शेफ्टस्बरी के सचिव रहने तथा राजनीतिज्ञों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने से इसका उसके विचारों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। ग्रेट ब्रिटेन के इतिहास में १७वीं शताब्दी राजा और पार्लियामेंट के उग्र संघर्ष का युग है। स्टुअर्ट वंशी राजा जेम्स प्रथम (१६०३–२५ ई०) और चार्ल्स प्रथम (१६२५–४९ ई०) राजा के दैवी अधिकारों (Divine Rights) के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने पार्लियामेंट से स्वीकृति लिये बिना व्यापारियों, जहाज के मालिकों आदि मध्यमवर्ग के व्यक्तियों पर नये टैक्स लगाये, देश का शासन पार्लियामेंट के बिना चलाना चाहा। १६४२ ई० से १६४९ ई० तक राजा के समर्थकों (Cavaliers) तथा पार्लियामेंट के समर्थकों (Roundheads) में गृहयुद्ध छिड़ गया और १६४९ में चार्ल्स प्रथम के वध और क्रामवेल के सैनिक शासन के साथ इसका अवसान हुआ।

१६६० ई० में अभागे चार्ल्स प्रथम के सौभाग्यशाली बेटे चार्ल्स द्वितीय के गद्दी पर बैठने के साथ राजतन्त्र की पुनः स्थापना हुई। उसने अपनी एक घोषणा में जनता को यह आश्वासन दिया कि वह पार्लियामेंट की सहमति से शासन करेगा। किन्तु वह तथा उसका उत्तराधिकारी और भाई जेम्स द्वितीय (१६८५–८८ ई०) अपने मन के भीतर निरंकुश तथा दैवी राजसत्ता में विश्वास रखने वाले तथा इंगलैण्ड के राजकीय प्रोटेस्टैण्ट धर्म के विरोधी और कैथोलिक धर्म के समर्थक थे। जेम्स द्वितीय खुल्लमखुला कैथोलिक हो गया तथा उसने सार्वजनिक रूप से यह दावा किया कि वह अपनी प्रजा को पार्लियामेंट द्वारा पास किये गये कानूनों से मुक्त कर सकता है। उसने अपनी कैथोलिक पक्षपाती नीति से प्रोटेस्टैण्टों को तथा निरंकुश सत्ता के समर्थन से पार्लियामेंट के पोषकों को रुष्ट कर दिया। जेम्स की दोनों लड़कियाँ मेरी और एन प्रोटेस्टैण्ट थीं, अतः उसके विरोधी यह समझते थे कि उसकी मृत्यु के बाद पुनः प्रोटेस्टैण्ट शासन स्थापित हो जायगा।

किन्तु १६८८ ई० में जेम्स की दूसरी पत्नी से पुत्र उत्पन्न होने पर विरोधियों को यह चिन्ता हुई कि उसका पालन-पोषण कैथोलिक की भाँति होगा और वह राजाओं

के दैवी अधिकार के अनुसार शासन करेगा। अतः इसके प्रतिकार के लिए उसके विरोधियों ने जेम्स की प्रोटेस्टैण्ट पुत्री मेरी तथा उसके पति आरेंज के विलियम (William of Orange) को इंगलैण्ड आकर राजगद्दी पर बैठने का निमन्त्रण दिया। उनके सेना सहित लन्दन आने पर जेम्स द्वितीय के सैनिकों ने उसका साथ छोड़ दिया और इंगलैण्ड में बिना किसी संघर्ष और रक्तपात के आरेंजवासी विलियम को पार्लियामेंट ने राजा बनाया और राजा पर निर्विवाद रूप से संसद् की प्रभुता स्थापित हुई। यही १६८८ ई० की गौरवपूर्ण क्रान्ति है। लॉक ने अपने ग्रन्थों में इसके मौलिक सिद्धान्तों का बड़ा युक्तियुक्त और प्रबल प्रतिपादन किया।

लॉक के ग्रन्थ—उसने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षा, धर्मशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, उद्यानशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर तीस से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। उसकी गणना पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिकों में होती है। राजनीतिशास्त्र के संबंध में उसके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं - **सहिष्णुता पर एक पत्र** १६८६ (A Letter on Toleration), **शासन पर दो निबन्ध** १६६० (Two Treatises on Government), **सहिष्णुता पर दूसरा** (१६६० ई०), **तीसरा** (१६६२ ई०) तथा **चौथा पत्र**, **कैरोलिना का मौलिक संविधान** (The Fundamentals of Constitutions of Carolina)। इनमें उसका दूसरा ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह राजा के दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थन करने वाले सर राबर्ट फिल्मर के १६८० ई० में प्रकाशित ग्रन्थ Patriarcha का खण्डन करने के लिए लिखी गई है। इसके पहले निबन्ध में तो फिल्मर की युक्तियों का बड़े विस्तार से निराकरण किया गया और दूसरे निबन्ध में राज्य विषयक अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

लॉक ने अपना पहला निबन्ध फिल्मर की पुस्तक प्रकाशित होते ही १६८० ई० में उसका प्रबल प्रतिकार करने के लिए लिखना शुरू किया। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० पीटर लास्लेट के नवीन अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो चुका है कि यह समूची रचना १६८३ ई० से पहले ही तैयार हो गयी थी।[1] किन्तु लॉक ने इसे ७ वर्ष बाद १६६० ई० में, ग्रन्थलेखक का नाम न देते हुए प्रकाशित किया, क्योंकि उसे यह आशंका थी कि यदि स्टुअर्ट राजा पुनः सिंहासनारूढ़ हुए तो इसके लेखक को दण्ड भोगना पड़ेगा। उसके जीवन काल में इसके तीन संस्करण १६६०, १६६४, १६६८ ई० में प्रकाशित हुए, किन्तु इन तीनों में बड़ी अशुद्धियाँ थीं। उसकी मृत्यु के बाद ही उसके द्वारा संशोधित प्रति के आधार पर इसका शुद्ध संस्करण छपा।

इस पुस्तक की भूमिका में लॉक ने लिखा है कि यह पुस्तक विलियम के सिंहासनारूढ़ होने का औचित्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसका प्रकाशन भी गौरवपूर्ण क्रान्ति के दो वर्ष बाद हुआ। इससे यह धारणा बन गई है कि इसकी रचना १६८८ ई० के बाद हुई और यह १६८८ की क्रान्ति को न्यायोचित सिद्ध करने का सिद्धान्तीकरण (Theorization) है। किन्तु आधुनिक अन्वेषण से यह धारणा सर्वथा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है, क्योंकि लॉक इसका लेखन १६८३ ई० में ही पूरा कर चुका था। इसके

---

१. लॉक—शासन पर दो निबन्ध, सरला मोहनलाल कृत हिन्दी अनुवाद (हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, १६६०), भूमिका, पृ० १२-१३।

कुछ अंश या वाक्य भले ही १६८८ ई० के बाद लिखे गये हों, किन्तु अधिकांश भाग का प्रणयन और इसके मौलिक विचार क्रान्ति से ७ वर्ष पहले ही लिपिबद्ध हो चुके थे। अतः पीटर लास्लेट के मतानुसार इसमें भावी क्रान्ति की माँग की गयी है, न कि घटित हुई क्रान्ति को उचित सिद्ध करने का प्रयास है। इस ग्रन्थ के प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

मानव स्वभाव की धारणा (Conception of Human Nature)—हॉब्स और लॉक के मानव स्वभाव विषयक विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। हॉब्स मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों का दर्शन करता है, किन्तु लॉक उसके मानवीय गुणों पर बल देता है। मनुष्य की एक बड़ी विशेषता बुद्धिमान् (Rational) तथा विचारवान् प्राणी होना है। वह अपनी विवेक बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता स्वीकार करता है और इसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है। उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति, प्रेम और दयालुता के गुण होते हैं। **दोनों विचारकों की मानव प्रकृति** की धारणा में **पहला** भेद यह है कि हॉब्स का मनुष्य कोरा पशु है, किन्तु लॉक का मनुष्य नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करने वाला तथा उसके अनुसार आचरण करने वाला प्राणी है।[1] लॉक यह मानता है कि मनुष्य सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते। उदाहरणार्थ, वे सत्य नहीं बोलते, पड़ोसी की हत्या करते हैं, किन्तु उन्हें यह ज्ञात है कि सत्य बोलना चाहिए, हत्या नहीं करनी चाहिए। यह विवेक और ज्ञान ही उन्हें पशुओं से भिन्न बनाता है। **दूसरा** भेद यह है कि हॉब्स का मनुष्य विशुद्ध भौतिकवादी तथा चार्वाक है, उसकी सब क्रियाओं का मूल प्रेरणा स्रोत शरीर को सुख पहुँचाना है। किन्तु लॉक का मनुष्य कर्त्तव्य की पुकार को सुनता है, उसके अनुसार आचरण करता है। हॉब्स का मनुष्य घोर स्वार्थी है, किन्तु लॉक का मनुष्य कई बार वास्तव में परोपकारी होता है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)—हॉब्स ने मनुष्य के घोर स्वार्थी होने के कारण इसे सतत् संघर्ष की और युद्ध की दशा माना था। किन्तु लॉक मानव प्रकृति के संबंध में लेवियाथन के लेखक से सर्वथा प्रतिकूल मत रखने के कारण इसे युद्ध की नहीं, किन्तु शान्ति की दशा मानता है। "प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान हैं, क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और सब एक ही सर्वशक्तिमान् और अनन्त बुद्धि-सम्पन्न स्रष्टा की कृतियाँ हैं। समानता के अतिरिक्त प्राकृतिक अवस्था की **दूसरी** विशेषता मानव की स्वतन्त्रता है। किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता नहीं है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक नियम (Natural Law) के द्वारा होता है। बुद्धि पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल है क्योंकि इसका ज्ञान हमें इस प्रकार के तर्क से होता है, जैसे व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता, वैसे ही वह दूसरों के जीवन को भी नष्ट नहीं कर सकता। वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता, उसे ऐसा व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' इसके साथ ही उसका अपना जीवन जहाँ संकट में न हो, वहाँ उसे यह चाहिए कि वह यथाशक्ति दूसरों के जीवन की रक्षा का प्रयत्न करे। स्वतन्त्रता का

---

१. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १६२।

आधार बुद्धि है, वह मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह प्राकृतिक विधान के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होने के कारण लॉक की प्राकृतिक दशा हॉब्स की नैसर्गिक दशा की भाँति अतीव भयावह और संघर्षमय नहीं है। मनुष्य में स्वभावतः सामाजिकता की प्रवृत्ति है। अतः यह अवस्था शान्ति, सौहार्द, पारस्परिक सहयोग और आत्मरक्षा की अवस्था है।

प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)—प्राकृतिक दशा में लॉक के मतानुसार सब व्यक्तियों को तीन प्रकार के—जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति के अधिकार, प्राकृतिक नियम के द्वारा प्राप्त थे[1] :—

(१) **जीवन का अधिकार**—आत्मसंरक्षण मनुष्य की सब से प्रबल आकांक्षा है और उसकी सब क्रियाओं का प्रधान प्रेरक तत्त्व है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाने वाले बुद्धिसंगत कार्य मनुष्य के विशेषाधिकार हैं और उसे प्राकृतिक नियम से उपलब्ध होते हैं। इस विषय में उसका मत हॉब्स से मिलता है।

(२) **स्वतंत्रता का अधिकार**—हॉब्स इसे सब प्रकार के बन्धनों और नियमों से मुक्त होकर प्राकृतिक दशा में अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य करना समझता है। किन्तु लॉक इससे असहमति प्रकट करता हुआ इसे प्राकृतिक नियम के अतिरिक्त अन्य नियमों से मुक्त होकर कार्य करना समझता है। प्राकृतिक नियम की नैतिक व्यवस्था का पालन मनुष्य के लिए आवश्यक है।

(३) **सम्पत्ति का अधिकार**—इसका तात्पर्य प्राकृतिक दशा में जीवन को धारण करने में समर्थ बाह्य वस्तुओं पर वैयक्तिक नियन्त्रण स्थापित करना है। लॉक ने दूसरे निबन्ध के पाँचवें अध्याय में वैयक्तिक स्वामित्व के संबंध में अपने सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है। उसके मतानुसार आरम्भ में वस्तुओं पर सब का समान अधिकार था, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने शरीर का श्रम किसी वस्तु के साथ जोड़ लेता है तो उस पर उसका वैयक्तिक अधिकार हो जाता है। ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियों को सामूहिक रूप से प्रदान की हैं। मनुष्य का शरीर ही उसके पास ऐसी सम्पत्ति है, जिस पर उसका एकमात्र अधिकार होता है। वह जब अपने शरीर के श्रम को ईश्वर प्रदत्त सामूहिक वस्तुओं के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लेता है (अध्याय २, खं० २६)। अतः श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है, इसीसे वस्तुओं का मूल्य निश्चित होता है (अध्याय २, खण्ड ४०)। उदाहरणार्थ, भूमि सब मनुष्यों को भगवान् ने समान रूप से प्रदान की है, किन्तु जब कोई व्यक्ति भूमि से मिट्टी खोद कर अपना घर बनाता है, तो यह उसकी निजी सम्पत्ति हो जाती है। लॉक के इस श्रम-सिद्धान्त को बाद में समाजवादी विचारकों ने विशेष रूप से विकसित किया। उसका यह भी कहना है कि व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिए, जिसका वह उपयोग कर सके। किन्तु इसके साथ ही तत्कालीन ह्विग भूमिपतियों के भूसम्पत्ति के अधिकारों को उचित ठहराते हुए उसने कहा है कि व्यक्ति अपनी शक्ति और श्रम के अनुसार यथेच्छ भूमि पर अधिकार कर सकता है, बशर्ते कि वह उसकी उपज का उपभोग कर सके, द्रव्य के रूप में उसे भविष्य में उपयोग के लिए एकत्र कर सके।

---

१. लॉक—दूसरा निबन्ध, खण्ड ८७।

उसके सामाजिक विचारों में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के कुछ मूलतत्त्व बीज रूप में निहित हैं। व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकारों को वह इतना महत्त्व देता है कि वह इसी में अन्य दोनों अधिकारों को सम्मिलित करता है। उसने लिखा है कि मनुष्य को स्वाभाविक रूप से यह अधिकार है कि वह अपनी सम्पत्ति को अर्थात् जीवन, स्वतन्त्रता और जायदाद को सुरक्षित रखे।[1]

लॉक के मतानुसार प्राकृतिक दशा में मनुष्य बुद्धिपूर्वक प्राकृतिक विधान का पालन करते हुए एक-दूसरे के उपर्युक्त तीनों अधिकारों का सम्मान करते हैं। अतः यह दशा हॉब्स की प्राकृतिक दशा से मौलिक रूप से भिन्न हो जाती है। हॉब्स के मत में इस अवस्था में मनुष्य स्वार्थान्ध होकर अपने बुद्धि और विवेक का प्रयोग न करते हुए एक-दूसरे के उन्मूलन, हिंसा और हत्या का प्रयत्न करते हुए युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। उस समय कोई सामाजिक जीवन नहीं होता। किन्तु लॉक की प्राकृतिक दशा में मनुष्य अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए शान्ति-पूर्वक सभ्य समाज में रहते हैं। किन्तु कुछ असुविधाओं के कारण इन्हें राज्य के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

प्राकृतिक दशा की सुविधायें—प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक नियम के अनुसार शान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य को तीन प्रकार की असुविधायें थीं। **पहली** असुविधा प्राकृतिक कानून (Natural Law) के स्वरूप की अस्पष्टता है। यद्यपि भगवान् ने इसका ज्ञान सब मनुष्यों को प्रदान किया है, किन्तु उनकी बुद्धियों में तथा स्वार्थों में भेद होने के कारण वे इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से और विविध रूपों में करते हैं, अतः इसके यथार्थ स्वरूप में संदेह उत्पन्न हो जाता है। साथ ही प्राकृतिक नियम के अमूर्त्त होने के कारण उसे पहचानने में बड़ी कठिनाई होती है। **दूसरी** असुविधा यह है कि प्राकृतिक नियम या विधान को तथा इसके अनुरूप निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए प्राकृतिक दशा में कोई साधन या संस्था नहीं होती। **तीसरी** असुविधा यह है कि इसमें सब व्यक्तियों को न्याय करने और दण्ड देने का अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति अन्यायपूर्ण रीति से हत्या करने वाले को या चोर को दण्ड देने का अधिकार रखता है। किन्तु सब व्यक्तियों के दण्ड देने के साधनों में तथा पद्धति में एकरूपता और निष्पक्षता संभव नहीं है। इससे जीवन बड़ा असुरक्षित और अनिश्चित हो जाता है। इस अनिश्चितता और गड़बड़ी को रोकने के लिए सुस्पष्ट नियम बनाने वाली और उन्हें पालन कराने वाली, नियमों का उल्लंघन करने वालों को निश्चित दण्ड देने वाली तथा निष्पक्ष न्याय करने वाली शासन-सत्ता होनी चाहिए।

डनिंग ने लॉक की प्राकृतिक दशा की तुलना एक सामान्य सर्वोच्च राजनीतिक शासक के अभाव में ऐसी अवस्था से की है, जिसमें अमरीका के जंगलों में एक स्विट्ज़र-लैण्ड वासी और फ्रेंच मिलते हैं।[2] यहाँ न तो इन दोनों पर लागू होने वाला कानून स्पष्ट और सुनिश्चित है और न इन्हें इसे लागू करा सकने वाला और इसका भंग करने वाले को दण्ड देने वाला और इस पर निष्पक्ष विचार करने वाला कोई उच्च शासक

---

१. लॉक—शासन पर दो निबन्ध, दूसरा निबन्ध, खण्ड ८७।
२. डनिंग—पोलिटिकल थियोरीज़ फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० ३४८।

है। प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त तीनों असुविधाओं को दूर करने की दृष्टि से मनुष्यों ने एक सामाजिक समझौते या संविदा (Social Contract) द्वारा राज्य का निर्माण किया।

सामाजिक संविदा या अनुबन्ध (Social Contract)— **स्वरूप तथा हॉब्स के विचार से भेद** – प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त असुविधाओं को दूर करने के लिए लॉक के मतानुसार मनुष्यों ने एक समझौता किया। सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह **समाज** के सब व्यक्तियों का सब व्यक्तियों के साथ किया जाने वाला अनुबन्ध था, अतएव इसे सामाजिक अनुबन्ध कहते हैं। इससे यद्यपि राजनीतिक समाज और राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु यह समझौता किसी सरकार (Government) या शासक के साथ नहीं किया गया था। इस समझौते का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाह्य संकटों से रक्षा करना था। इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति अपने इस प्राकृतिक अधिकार को छोड़ने के लिए सहमत हुआ कि वह स्वयमेव प्राकृतिक नियम को लागू करने का तथा इसके अनुसार दूसरों को दण्ड देने का कार्य नहीं करेगा।

इस समझौते से मनुष्य ने केवल इसी एक अधिकार का परित्याग किया, न कि हॉब्स की कल्पना के अनुसार अपने सभी अधिकारों को छोड़ा। इस विषय में उसका हॉब्स से **दूसरा** मतभेद यह है कि उसने अपना यह अधिकार लेवियाथन जैसे व्यक्ति-विशेष, किसी व्यक्ति समूह या सामान्य विधान सभा को समर्पित नहीं किया, किन्तु इस समूचे समुदाय (Community) को समष्टिरूपेण प्रदान किया है। हॉब्स से **तीसरा** भेद यह है कि उसके सामाजिक समझौते के परिणाम स्वरूप लेवियाथन बनता है, वह असीम अधिकारों वाला, सर्वशक्तिशाली, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न प्रभु होता है। लॉक के समझौते से बनने वाले समाज को इस प्रकार के असीम और अर्यादित अधिकार नहीं होते। वह केवल प्राकृतिक नियम के विरुद्ध अपराधों के निर्धारण और अपराधियों को दण्ड देने का कार्य करता है। इससे अधिक उसे किसी प्रकार के कोई अधिकार नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का पालन कराने तथा उन्हें सुरक्षित करने के लिए ही यह समझौता हुआ है। इस समझौते द्वारा उत्पन्न समुदाय या राज्य मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का अतिक्रमण या हनन नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है और जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार होता है। हॉब्स से उसका **चौथा** भेद यह है कि हॉब्स के अनुबन्ध द्वारा प्राकृतिक दशा (State of Nature) तथा प्राकृतिक नियम (Natural Law) का अन्त हो जाता है। किन्तु लॉक के मतानुसार इस समझौते के बाद भी मनुष्य प्राकृतिक कानून का पालन करने के लिए उसी प्रकार बाध्य है, जैसा वह इससे पहले था। लॉक के शब्दों में "प्राकृतिक विधि के बन्धनों का राजनीतिक समाज में अन्त नहीं होता"।

लॉक ने इस समझौते के आधार पर राजनीतिक समाज (Civil Society) का प्रादुर्भाव होने से **दो महत्त्वपूर्ण परिणाम** निकाले हैं। **पहला** समुदाय के **बहुमत द्वारा शासन** का अधिकार है। अल्पसंख्या को बहुमत की इच्छा का पालन करना ही चाहिए। यह समाज की व्यवस्था के संचालन के लिए नितान्त आवश्यक है। उसके सामाजिक अनुबन्ध की एक महत्त्वपूर्ण शर्त्त बहुमत की इच्छा का वशवर्त्ती होना है। **दूसरा** परिणाम यह है कि इस समझौते से व्यक्तियों ने अपना यह कर्त्तव्य स्वीकार

कर लिया है कि वे राज्य के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए पूरी शक्ति के साथ अपना सहयोग प्रदान करेंगे।[१]

लॉक इस समझौते को बुद्धिसंगत तथ्य होने के साथ-साथ **ऐतिहासिक सत्य** भी मानता है। उसका यह मत है कि इससे राजनीतिक संगठन की उत्पत्ति इतिहास के उषाकाल में उस समय हुई, जब इस तथ्य को लिपिबद्ध करने के साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था। इसका कोई ऐतिहासिक उल्लेख या विवरण उपलब्ध न होने पर इसे अनैतिहासिक समझना वैसा ही है, जैसे कोई यह कहे कि यूनान पर आक्रमण करने वाले जरक्सीज़ के सैनिक कभी बालक नहीं थे, क्योंकि हमें उनके बाल्यकाल का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। उसने रोम, वेनिस और स्पार्टा के उदाहरणों से इसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि की है। उसका यह कहना है कि जैसे व्यक्ति अपने जन्म तथा बचपन की बातें भूल जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्रों को भी अपनी उत्पत्ति और शैशव की स्मृति नहीं रहती।

लॉक के समझौते की कुछ विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। **पहली** विशेषता इसके एक बार हो जाने के बाद इसका कभी रद्द न हो सकना (Irrevocable) है। इस बात में वह हॉब्स से सहमत है। उसके मतानुसार जिसने इस समझौते को स्वीकार कर लिया है, उसे प्राकृतिक दशा में लौट कर जाने की कभी स्वतन्त्रता नहीं है। **दूसरी** विशेषता इसका सहमति (Consent) पर आधारित होना है। कोई व्यक्ति इस नवीन समाज में सहमति के बिना प्रविष्ट नहीं हो सकता। "सहमति ही दुनिया में प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है।" वह यह मानता है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक के बच्चे सर्वथा स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न होते हैं, इन्हें इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि वे उस राज्य में सम्मिलित होने की या न होने की सहमति प्रदान करें और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उस राज्य से बाहर जाने पर वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वचित हो जायेंगे।

तीसरी विशेषता इस समझौते का राज्य के निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करना है। वॉन (Vaughan) का यह मत है कि यद्यपि लॉक ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी वह दो प्रकार के समझौते मानता है। पहला समझौता प्राकृतिक दशा को समाप्त करके उसके स्थान पर सभ्य नागरिक समाज (Civil Society) की स्थापना करता है। इसके बाद दूसरे समझौते द्वारा व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं। किन्तु यह व्यक्तियों में ही होता है, सरकार के साथ नहीं किया जाता। यदि लॉक ऐसा मानता तो राज्य को एक विशेष गरिमा और सत्ता प्राप्त हो जाती। अतः वह यह मानता है कि लोग मिलकर एक ट्रस्ट या न्यास बनाते हैं और सरकार का निर्माण कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विश्वासाश्रित (Fiduciary) शक्ति के रूप में करते हैं। इस प्रकार जनता इस ट्रस्ट को बनाने वाली तथा इससे लाभ उठाने वाली है। सरकार ट्रस्टी होने के नाते अपने अधिकारों की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती।[२]

लॉक का सामाजिक समझौते का विचार हॉब्स की अपेक्षा रूसो के विचार से अधिक मिलता है। लॉक तथा रूसो दोनों यह मानते हैं कि सरकार की संस्था संविदा

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३५०।

२. बार्कर—सोशल कांट्रेक्ट, वर्ल्ड क्लासिक्स आक्सफोर्ड, भूमिका, पृ० २६।

या समझौता नहीं है और सामाजिक समझौते से जनता के सर्वोच्च अधिकारों में कोई कमी नहीं आती। लॉक के शब्दों में सरकार की संस्था बन जाने पर भी 'सर्वोच्च सत्ता जनता में ही निहित रहती है।' हॉब्स के समझौते से सारी प्रभुसत्ता लेवियाथन को मिल जाती है, जनता सब अधिकारों से वंचित हो जाती है। लॉक और रूसो के मतानुसार समझौते के बाद भी जनता की प्रभुसत्ता (Sovereignty) अक्षुण्ण बनी रहती है।

डनिंग के मतानुसार लॉक के सामाजिक समझौते के विचारों में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसका प्रतिपादन उससे पहले के दार्शनिकों ने न किया हो।[1] किन्तु उसकी बड़ी विशेषता यह है कि उसने इसे अत्यधिक सुनिश्चितरूपता प्रदान की और इसे व्यष्टिवादी (Individualist) बनाया। हॉब्स और प्यूफेनडोर्फ (Pufendorf) ने इसके आधार पर सरकार की सत्ता को निरंकुश बनाया था, किन्तु लॉक ने इसी सिद्धान्त से उस पर अनेक मर्यादायें और प्रतिबन्ध लगाये तथा इसका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित करना स्वीकार किया।

राज्य का स्वरूप और विशेषतायें— प्राकृतिक दशा की तीन बड़ी कमियाँ— सुनिश्चित और ज्ञात कानून का, न्यायाधीश का तथा कानून एवं निर्णयों को क्रियान्वित करने वाली शासन सत्ता का अभाव है। इन अभावों की पूर्त्ति करके व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाना ही राज्य का प्रधान लक्ष्य है। इसे पूरा करने के लिए राज्य तीन कार्य करता है—(१) सर्वप्रथम वह प्राकृतिक कानून की व्याख्या द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित करता है। आजकल यह कार्य कानून बनाने वाली विधान सभाओं का समझा जाता है। लॉक इसे "राज्य में सर्वोच्च सत्ता" मानता है। किन्तु सर्वोच्च होते हुए भी यह मनमाना कानून नहीं बना सकती। इसके सब नियम प्राकृतिक कानून (Natural Law) से अनुकूलता रखने वाले होने चाहियें। यदि समुदाय बहुमत से कानून निर्माण का अधिकार एक व्यक्ति को देता है तो वह राजतन्त्र होता है, कुछ व्यक्तियों को देने पर कुलीनतन्त्र तथा समूची जनता को यह अधिकार देने पर लोकतन्त्र होता है। विधिपूर्वक व्यवस्थापिका सभा में एकत्र होने वाले व्यक्तियों को सार्वजनिक कल्याण के लिए ही नियम बनाने चाहियें। जहाँ विधान सभा या पार्लियामेंट में जनता के प्रतिनिधि हों, वहाँ उन्हें वास्तव में निष्पक्ष और न्यायपूर्ण रीति से चुना हुआ होना चाहिए। इस प्रसंग में उसने पार्लियामेंट के लिए पुरानी राजाज्ञाओं के अनुसार उन स्थानों से प्रतिनिधि चुने जाने की कटु आलोचना की है, जो काल के प्रभाव से उजड़ चुके हैं। उजड़े नगरों (Rotten Boroughs) से प्रतिनिधि भेजने की बुराई का अन्त **इंगलैण्ड में १८३२ ई० के सुधार कानून** (Refom Act) द्वारा हुआ। (२) राज्य का दूसरा अंग कानून को लागू करते हुए शासन का कार्य चलाने वाला है। इसे लॉक ने Federative अंग कहा है। उसका यह मत है कि कानून बनाना तथा उन्हें क्रियान्वित करना —दोनों विभिन्न प्रकार के कार्य हैं। पहला कार्य जल्दी समाप्त हो जाता है, शासन का कार्य सदैव चलता रहता है। अतः ये दोनों कार्य पृथक् व्यक्तियों को दिये

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३५२।

जाने चाहियें। उसका यह भी मत है कि कानून बनाने वालों को इन्हें क्रियान्वित करने का कार्य देना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में "ये अपने बनाये कानूनों के पालन से अपने को मुक्त समझने लगेंगे और कानून का निर्माण और क्रियान्विति अपनी वैयक्तिक इच्छा से करने लगेंगे। यह शेष समुदाय की इच्छा से भिन्न तथा समाज और राज्य के उद्देश्य के प्रतिकूल हो सकता है।"[1] इस प्रकार लॉक ने शक्तिपार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त को यहाँ बीज रूप में प्रतिपादित किया है। इसका विस्तृत प्रतिपादन, फ्रेंच विचारक मांतेस्क्यू ने किया (देखिए आगे अध्याय १८)। (३) राज्य का तीसरा कार्य विधान सभा द्वारा बनाये कानूनों का उल्लंघन करने वाले अपराधियों को दण्ड देने का काय है। यह न्याय विभाग और न्यायाधीशों द्वारा होता है।

लॉक के राज्य की कुछ विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। **पहली** विशेषता यह है कि राज्य की सत्ता जनता के लिए है, न कि जनता राज्य के लिए है। वह बारबार इस बात पर बल देता है कि सरकार का लक्ष्य **समुदाय की भलाई** (Good of the Community) करना है। वस्तुत: राज्य-रूपी यन्त्र का निर्माण उसके नागरिकों की भलाई के लिए हुआ है। **दूसरी** विशेषता राज्य का **नागरिकों की सहमति** (Consent) पर आधारित होना है। उसका यह कहना है कि नागरिक अपने हितों की सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के आदेशों का पालन करना स्वीकार करते हैं। यदि शासक इन हितों के प्रतिकूल आचरण करते हैं तो वे उनकी सहमति के बिना शासन करते हैं और इस दशा में प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार है। **तीसरी** विशेषता राज्य का कानून के नियम (Rule of Law) से अनुशासित, अनुप्राणित और संचालित होना है। उसके शब्दों में यदि किसी राज्य में मनुष्य "किसी दूसरे व्यक्ति की चंचल, अनिश्चित और स्वेच्छाचारी इच्छा के आधीन रहेंगे तो वहाँ कोई राजनीतिक स्वतंत्रता संभव नहीं है"। अत: "सरकार का शासन जनता में उद्घोषित तथा उसे ज्ञात स्थायी कानूनों द्वारा होना चाहिए, न कि फौरन जल्दी में दी गई सद्य:स्फूर्त आज्ञाओं (Extemporary decrees) से।" वैधानिकता (Constitutionalism) का विचार लॉक की बहुत बड़ी देन है। **चौथी** विशेषता राज्य के कार्यों का सीमित होना है। वह केवल सुरक्षा, सुव्यवस्था और न्याय के तीन कार्य कर सकता है, इनके अतिरिक्त लोगों को शिक्षा देने, उनका स्वास्थ्य सुधारने, उन्हें सुसंस्कृत और नैतिक बनाने का कोई कार्य राज्य नहीं कर सकता। वह नागरिकों की सम्पत्ति पर भी मनमाना कर नहीं लगा सकता, क्योंकि सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है। प्रजा के प्रतिनिधियों की सहमति से ही उसे इस पर कर लगाने का अधिकार है। १७वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में राजा और पालियामेंट के बीच उग्र विवाद और गृहयुद्ध का यह कारण था कि राजा कर लगाने के विषय में पालियामेंट के कोई अधिकार नहीं मानना चाहता था। इस विवाद में लॉक ने पालियामेंट के पक्ष का प्रबल पोषण करते हुए राज्य के कार्यक्षेत्र को बड़ा संकुचित और मर्यादित कर दिया। **पाँचवीं** विशेषता राज्य के अधिकारों का दो कारणों से सीमित और मर्यादित होना है। पहला तो यह कि राज्य अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करता है और दूसरा

---

१. लॉक का दूसरा निबन्ध, अध्याय १२।

यह कि राज्य को यह सत्ता या अधिकार न्यास (Trust) के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है। उसके मतानुसार "मनुष्यों द्वारा समाज के बनाये जाने का उद्देश्य सम्पत्ति का संरक्षण है"। राज्य कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता, जो इस मूल उद्देश्य के प्रतिकूल हो। राज्य तो इस उद्देश्यरूपी न्यास का संरक्षक (Trustee) है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को मन्दिर बनवाने या स्कूल चलाने के लिए रुपया दिया जाता है तो वह इसका व्यय मनमाने ढंग से किसी तीसरे कार्य में नहीं कर सकता। इसी प्रकार राज्य अपनी समूची शक्ति और अधिकारों का प्रयोग केवल नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और हित के लिए कर सकता है। जिस प्रकार धन का दुरुपयोग करने पर ट्रस्टी को अपने पद से हटा दिया जाता हैं, उसी तरह राजसत्ता भी यदि अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पालन न करे तो उसे पदच्युत किया जा सकता है।

विद्रोह का अधिकार—पहले यह बताया जा चुका है कि राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त होता है। उसे शासन का अधिकार न्याय या ट्रस्ट के रूप में मिला हुआ है। वह जनता की सहमति पर आधारित तथा वैधानिक होता है। किन्तु यदि उसे जनता की सहमति प्राप्त न हो, वह अपने न्यास या ट्रस्ट के विरुद्ध आचरण करे और वैधानिक शासन के स्थान पर स्वेच्छाचार बरतने लगे, अपनी मर्यादाओं का पालन न करे तो जनता को शासनसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने तथा उसे बदलने का अधिकार है। उसके शब्दों में "जब जनता यह अनुभव करे कि विधानपालिका उसमें रखे जाने वाले विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है तो जनता को यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है कि वह विधानपालिका को हटा दे या बदल डाले।"[१] जनता इस अधिकार का प्रयोग भगवान् से अपील करने के तथा शक्ति और हिंसा के विरुद्ध भगवान् द्वारा दिये गये अन्तिम उपाय अर्थात् विद्रोह के द्वारा कर सकती है। उसके मतानुसार विद्रोह द्वारा सरकार के भंग हो जाने पर भी समाज बना रहता है। विद्रोह का अधिकार वह केवल बहुसंख्या को ही देता है। इस प्रकार उसने १६८८ ई० की क्रान्ति को न्यायोचित सिद्ध किया है।

लॉक ने जनता द्वारा विद्रोह एवं क्रान्ति के अधिकार पर इतना अधिक बल दिया है कि उसके संबन्ध में यह कहा जाता है कि उसने **शासन विषयक सिद्धान्त का नहीं, अपितु क्रान्ति विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है**। इसका यह कारण है कि लॉक व्यक्ति को जितना अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभुसत्ता सम्पन्न समझता है, उतना राज्य को नहीं समझता है। राज्य का प्रधान उद्देश्य तथा प्रयोजन जनता एवं समुदाय का कल्याण करना है, राजा या सरकार को शासन करने की शक्ति इस लिए दी गई है कि वह व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखे। राजा को प्रजा ने शासन करने का अधिकार दिया है। अतः राजा प्रजा का वशवर्त्ती सेवक है, वह अपने पद पर तभी तक रह सकता है, जब तक वह इस कार्य को समुचित रीति से पूरा करता रहे। यह बात राजा के साथ-साथ, शासन करने वाली पार्लियामेंट पर भी लागू होती थी। लॉक ने अपने जीवन में देखा था कि किस प्रकार इंगलैण्ड के राजा

---

१. लॉक—दूसरा निबन्ध, खण्ड १४९।

चार्ल्स प्रथम (१६२५–४६) ने तथा जेम्स द्वितीय (१६८५–८८) ने तथा **लम्बी पार्लियामेंट** (Long Parliament) ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया था, जन-हित की उपेक्षा की थी, जनकल्याण के अपने पवित्र दायित्व को पूरा नहीं किया था। लॉक इस प्रकार के दुरुपयोग और दुर्व्यवहार को रोकना चाहता था, अतः उसने जनता को ऐसे शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान किया। यदि कोई शासन अपने पवित्र दायित्व और कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता तो जनता क्रान्ति द्वारा इस शासन को बदल सकती है। यदि कोई सरकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग करती है तो वह अत्याचारी शासक (Tyrant) का रूप धारण कर लेती है। यह अत्याचार शक्ति द्वारा किया जाता है, अतः इसके प्रतिकार के लिए क्रान्ति की शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। लॉक न केवल अत्याचारी शासन को हटाने के लिये क्रान्ति का समर्थन करता है, अपितु वह इसका इसलिए भी प्रबल पोषण करता है कि क्रान्ति के भय से आतंकित रहने वाले कमजोर तथा मर्यादित अधिकारों वाले शासन अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करते रहेंगे। इन कारणों से लॉक 'विद्रोह के पवित्र अधिकार' (Sacred right of insurrection) में विश्वास रखता है।

अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह करना नागरिकों का स्वाभाविक अधिकार है किन्तु यदि जनता को ऐसा अधिकार दिया जायगा तो इसका दुरुपयोग होने की अत्यधिक संभावना है। वह अपने शासक से किसी छोटी सी बात पर रुष्ट होने पर भी बगावत का झण्डा खड़ा कर सकती है। अतः लॉक कहता है कि विद्रोह के अधिकार का प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जब अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच जायें और यह स्पष्ट हो जाय कि सरकार जनता के हितों की उपेक्षा करते हुए उसे हानि पहुँचाने पर तथा व्यक्तियों के अधिकारों को कुचलने पर तुली हुई है। १६८८ में इंगलैण्ड में ऐसी ही स्थिति थी, अतः उस समय लॉक ने क्रान्ति का प्रबल समर्थन किया, उसे पुष्ट करने के लिए अपने ग्रन्थ की रचना की। अतः लॉक को **क्रान्तियों का प्रतिपादन करने वाला दार्शनिक** (Philosopher of Revolutions) भी कहा जाता है। उसे यह नाम देने का एक कारण यह भी है कि वह शासन में सुधार का एकमात्र उपाय क्रान्ति को ही बताता है।

अतः लॉक के संबंध में यह विचार भी प्रकट किया जाता है, कि वह दार्शनिक नहीं था, अपितु विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने वाला लेखक था, उस का उद्देश्य १६८८ की क्रान्ति का समर्थन करना, उसको न्यायोचित सिद्ध करना था, उसने अपनी पुस्तक नागरिक शासन (Of Civil Government) इसी उद्देश्य से इस क्रान्ति के २ वर्ष बाद १६९० में प्रकाशित की। इसकी भूमिका में उसने लिखा है कि इसमें उसका उद्देश्य 'हमारे वर्त्तमान राजा विलियम के सिंहासन पर बैठने की घटना को सुप्रतिष्ठित बनाना है"। इसमें उसने १६८८ की गौरवपूर्ण क्रान्ति के सभी मौलिक सिद्धान्तों का प्रबल समर्थन किया। ये सिद्धान्त राजाओं के दैवी अधिकार का खण्डन, वैध शासन, पालियामेंट की सर्वोच्च सत्ता और कानून के शासन का विचार था। इन्हें स्थापित करने के लिए उसने १६८८ की क्रान्ति का प्रबल पोषण किया है।

व्यष्टिवाद (Individualism)—लॉक इसका परम उपासक और भक्त है।

यह उसके राजनीतिक विचारों की आधारशिला है। वह प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के तीन अधिकार प्रदान करता है (पृ० ४४०)। इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) समझता है (ऊपर पृ० ४४०)। राज्य का प्रादुर्भाव इन्हीं की रक्षा के लिए होता है, उसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। इसी दृष्टि से वह राज्य की सत्ता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध और मर्यादायें लगाता है। मैक्सी के मतानुसार लॉक का कार्य राजसत्ता को ऊँचा उठाना नहीं, किन्तु उसके प्रतिबन्धों का प्रतिपादन करना है।[1] शासक समाज के प्रतिनिधिमात्र हैं। वे हॉब्स के लेवियाथन की भाँति निरंकुश प्रभु नहीं हैं, किन्तु केवल उतने ही अधिकार रखते हैं, जो उन्हें व्यक्तियों द्वारा दिये जाते हैं। अतः लॉक के राज्य की तुलना एक बड़ी **लिमिटेड कम्पनी** से की जाती है, जिसमें कम्पनी के संचालकों तथा हिस्सेदारों के दायित्व मर्यादित होते हैं। डनिंग के कथनानुसार व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न समाज के अधिकारों को ठीक वैसे ही सीमित करते हैं, जैसे प्राकृतिक अवस्था में एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को मर्यादित करते हैं।

उसके धर्म-विषयक विचारों में भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार धार्मिक पूजा और उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। उसके मतानुसार राज्य के सभी नागरिकों को इस बात की खुली छूट होनी चाहिए कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का सदस्य बन सके। उसकी दृष्टि में व्यक्ति मुख्य और राज्य गौण है। मनुष्य सामाजिक समझौता करके प्राकृतिक दशा का अन्त ही इसलिए करता है कि वह अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा कर सके (पृ० ४४२)। ये उसके ऐसे अधिकार हैं, जिन्हें कोई राजसत्ता नहीं छीन सकती। यदि कोई इन्हें छीनने का यत्न करे तो ऐसी राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार उसने व्यक्ति के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से स्वीकार किया है।

लॉक की उपर्युक्त व्यष्टिवादी विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए वान (Vaughan) ने लिखा है कि "लॉक की पद्धति में प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के चारों ओर चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रहे। बार्कर के शब्दों में लॉक में व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली (Puritan) महान् भावना थी, उसमें यह प्यूरिटन अनुभूति थी कि आत्मा को परमात्मा के साथ अपने संबंध निश्चित करने का अधिकार है।···उसमें यह प्यूरिटन सहज बुद्धि थी कि वह राज्य की सीमा निश्चित करते हुए उसे यह कह सके कि उसका कार्यक्षेत्र कहाँ तक है, वह इससे आगे नहीं बढ़ सकता।"[2] डनिंग ने व्यक्तिवाद की आधारशिला—मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लॉक की सबसे महत्वपूर्ण देन स्वीकार की है।[3] मैक्सी इसे महत्त्वपूर्ण ही नहीं, किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० २५५।
२. बार्कर—सोशल कांट्रेक्ट, भूमिका, पृ० २२।
३. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६४।

और गतिशील (Dynamic) भी मानता है। पिछले दो सौ वर्षों में इसी आधार पर व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए सर्वोच्च सत्ता पर वैधानिक नियन्त्रण स्थापित किये गए हैं, वैयक्तिक स्वतन्त्रता को संविधान द्वारा सुरक्षित किया गया है, स्वेच्छाचारी तथा अमर्यादित सत्ता पर प्रत्येक प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया गया है और लिखित संविधानों में व्यक्ति के अधिकारों की घोषणा की गई है। "लॉक ने व्यक्तिवाद को अजेय राजनीतिक तथ्य बनाया है।"[1]

लॉक और हॉब्स की तुलना —(क) सादृश्य ये दोनों अपने राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्राकृतिक दशा (State of Nature) से करते हैं और इसका अवसान सामाजिक समझौते (Social Contract) द्वारा। दोनों राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के हितों की सुरक्षा मानते हैं। अतः वे राज्य का प्रादुर्भाव इस विशेष प्रयोजन की पूर्त्ति मानते हुए उसका उद्देश्यमूलक (Teleological) वर्णन करते हैं। वे इसमें भी सहमत हैं कि इस प्रयोजन को व्यक्ति अपने सामूहिक और सहयोगी प्रयत्न से पूर्ण करते हैं। किन्तु इसके साथ ही उनकी समानताएँ समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि मानवीय प्रकृति के संबंध में उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। अतः जोन्स ने यह सत्य ही लिखा है कि लॉक तथा हॉब्स राज्य की सत्ता के प्रयोजन के संबंध में सहमत हैं कि यह इसके प्रजाजनों के लिए शान्ति स्थापित करना, इन्हें सुरक्षा प्रदान करना तथा इनका कल्याण करना है, किन्तु वे इस विषय में मौलिक मतभेद रखते हैं कि इस उद्देश्य की पूर्त्ति सर्वोत्तम रीति से किस प्रकार हो सकती है[2] क्योंकि मानवीय प्रकृति के संबंध में दोनों के मत सर्वथा भिन्न हैं। दोनों के महत्त्वपूर्ण मतभेद निम्नलिखित हैं।

(ख) मतभेद – पहला भेद मानवीय प्रकृति के संबंध में है। हॉब्स मनुष्य में केवल आसुरी और पाशविक प्रवृत्तियों—हिंसा, क्रूरता, निर्दयता, स्वार्थ लोलुपता का ही दर्शन करता है, किन्तु लॉक उसे दैवी और मानवीय प्रवृत्तियों वाला, दयालुता, प्रेम, सहिष्णुता, उदारता, सहयोग प्रभृति उदात्त भावनाओं से युक्त मानता है। दोनों के दृष्टि-कोण के इस मौलिक अन्तर का समुचित कारण बता सकना संभव नहीं है। हॉब्स का पिता अशिक्षित एवं दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति था, उसे चर्च के दरवाजे पर पड़ोसी पादरी के साथ लड़ाई करने पर चर्च की सेवा से मुक्त होना पड़ा था और इसके बाद हॉब्स का लालन-पालन उसके चाचा ने किया।[3] पारिवारिक प्रेम और सुख से वंचित रहने के कारण हॉब्स को संभवतः अपने पिता के कारण, बचपन से ही मानव स्वभाव की दुष्टता में अगाध विश्वास हो गया। किन्तु लॉक को अपने पिता से असीम वात्सल्य, तथा कठोर अनुशासन द्वारा समुचित शिक्षा मिली।[4] अतः उसका दृष्टिकोण बाल्य-काल से मानव स्वभाव की श्रेष्ठता और उत्कृष्टता में विश्वास रखने वाला हुआ। यद्यपि लॉक को बचपन में गृहयुद्ध के तूफान के कारण बहुत कष्ट झेलने पड़े, अपने स्वामी शेफ्ट्सबरी के पतन के बाद विदेश में शरणार्थी के रूप में उसे भारी दुःख उठाना पड़ा,

---

१. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २६१।
२. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० १५५।
३. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ५६८।
४. जोन्स—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५३।

किन्तु इससे उसके विचारों में अन्तर नहीं आया। वह आजीवन दमे, क्षय आदि की बीमारियों से पीड़ित होने के कारण अस्वस्थ रहा, किन्तु मनुष्य के प्रति उसका दृष्टि-कोण सदैव स्वस्थ और आशावादी बना रहा। हॉब्स द्वारा मानव जीवन के कृष्णपक्ष पर और लॉक द्वारा उसके शुक्लपक्ष पर बल दिए जाने से ही उनकी विचारधारायें प्रतिकूल दिशाओं में प्रवाहित हुई हैं। विभिन्न विषयों में उनके भेदों का पहले उल्लेख किया जा चुका है, यहाँ केवल इनका संक्षिप्त निर्देश होगा।

दूसरा भेद प्रकृति की दशा (State of Nature) के संबंध में है। हॉब्स के मतानुसार यह सतत संघर्ष और अनवरत युद्ध की दशा है। इसके सर्वथा विपरीत लॉक इसे शान्ति, सौहार्द और पारस्परिक सहयोग की अवस्था मानता है। **तीसरा भेद** सामाजिक समझौते या अनुबन्ध (Social Contract) का है। पहले (पृ० ४२२) यह बताया जा चुका है कि हॉब्स के समझौते में सब व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार लेवियाथन (Leviathan) या राज्य को सौंप देते हैं, अतः उसकी राजसत्ता पूर्णरूप से निरंकुश और सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होती है, किन्तु लॉक के समझौते में व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को अर्पित नहीं करता, प्रत्युत केवल उन्हीं अधिकारों का अर्पण करता है, जिनसे प्राकृतिक नियम (Natural Law) का निर्बाध रूप से पालन होता रहे तथा उन लोगों को दण्ड दिया जा सके, जो उन विधियों के विपरीत चलते हों। ये अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को नहीं दिये जा सकते, प्रत्युत सारे समाज को दिये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति समाज के साथ समझौता करते हुए यह शर्त्त लगा देता है कि उसके मौलिक अधिकारों का अपहरण किसी भी दशा में नहीं हो सकता। अतः लॉक का समझौता हॉब्स जैसी निरंकुश (Absolute) राजसत्ता के स्थान पर मर्यादित (Limited) अधिकारों वाली शासनसत्ता की स्थापना करता है। **चौथा भेद** यह है कि हॉब्स की सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) अनन्यक्राम्य (Inalienable) है, वह किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती। जब एक बार लेवियाथन को सत्ता मिल गयी तो कोई उससे यह सत्ता छीन नहीं सकता। किन्तु लॉक के मतानुसार वास्तविक शक्ति सदैव जनता में निहित रहती है, वह कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए इसे शासक को प्रदान करती है। **पाँचवाँ भेद** यह है कि हॉब्स के मतानुसार प्रजा को राज-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु लॉक बहुसंख्यक प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करता है।

छठा भेद यह है कि लॉक सरकार को एक पवित्र धरोहर या न्यास (Trust) के रूप में समझता है। इस शासन का अन्तिम स्वामी या सर्वोच्च प्रभु समूचा मानवीय समुदाय है, यह सरकार को शासन करने का कार्य इस विश्वास के साथ सौंपता है कि वह इसे कल्याण की दृष्टि से तथा व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से करेगा। यदि सरकार ऐसा नहीं करती तो प्रभुसत्तासम्पन्न सरकार को इसे बदलने का तथा इसके स्थान पर नई सरकार स्थापित करने का पूरा अधिकार है। लॉक के विचारों में शासक विशेष महत्त्व नहीं रखता, इसे विशिष्टता प्रदान करने वाली तथा राजनीतिक एकता और सुदृढ़ता का निर्माण करने वाली शक्ति जनसमुदाय (Community) है, अतः उसके मतानुसार राजनीतिक एकता समूचे जनसमुदाय की इच्छा में सामान्य (General) रूप से निहित है। किन्तु हॉब्स के मतानुसार यह

एकता एक विशिष्ट प्रभुसत्तासम्पन्न शासक (determinate sovereign) में रहती है, यह इसकी वास्तविक इच्छा (Actual Will) होती है, यह जनसमुदाय की सामान्य इच्छा (General Will) में नहीं रहती। अतः बोसांके ने यह सत्य ही लिखा है कि "हॉब्स के लिये राजनीतिक एकता एक वास्तविक इच्छा में निहित है, यह इच्छा सामान्य नहीं है, लॉक के मतानुसार यह ऐसी इच्छा में निहित है जो सामान्य है, किन्तु वास्तविक नहीं है। इसका यह अभिप्राय है कि हॉब्स इस बात पर बल देता है कि प्रभुसत्ता एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्तिसमूह में रहती है, यह ऐसे शासक या राजा की वास्तविक इच्छा होती है, किसी मानव समुदाय की काल्पनिक सामान्य इच्छा नहीं होती। हॉब्स का जनसमुदाय किसी शासक की सामान्य इच्छा से राजनीतिक एकता को धारण करता है, जनता की सामान्य इच्छा से नहीं। किन्तु लॉक इसके लिए जनता की सामान्य इच्छा और सहमति पर बल देता है तथा उसके आधार पर शासन की समूची व्यवस्था करता है। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिये कि इनके बाद होने वाले रूसो ने अपनी सामान्य इच्छा के विचारों में हॉब्स की वास्तविक इच्छा का तथा लॉक की सामान्य इच्छा का समन्वय किया। हॉब्स और लॉक के विचारों की तुलना करने से यह प्रतीत होता है कि हॉब्स के राज्य-विषयक विचार अधिक मौलिक, तर्कसंगत, युक्तियुक्त और संबद्धता रखने वाले हैं। फिर भी उसके विचार भविष्य में लोकप्रिय एवं प्रबल होने वाली लोकतन्त्र की विचारधारा के अनुकूल नहीं थे। अतः यह कहा जाता है कि **जहाँ हॉब्स और लॉक के विचारों में मतभेद है, वहाँ भावी पीढ़ियों ने लॉक के विचारों का समर्थन किया है।** इस कथन में बड़ी सचाई है। लॉक में हॉब्स जैसी पैनी दृष्टि, सूक्ष्म विवेचन की शक्ति तथा कल्पना की ऊँची उड़ान लेने का सामर्थ्य नहीं था। फिर भी लॉक ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया, वे हॉब्स के विचारों की तुलना में अधिक लोकप्रिय हुए। आजकल लॉक के प्रमुख विचार—व्यक्ति के मौलिक अधिकार, जन-सहमति से शासन, वैध एवं मर्यादित शासन, कानून और पार्लियामैण्ट की सर्वोपरि सत्ता, शक्तिपार्थक्य का सिद्धान्त (Theory of separation of powers) न केवल सर्वमान्य सिद्धान्त बन गये हैं, अपितु लोकतन्त्रीय शासनपद्धति के अनिवार्य अंग समझे जाते हैं। अधिकांश आधुनिक राज्यों का संविधान हॉब्स के नहीं, अपितु लॉक के सिद्धान्तों पर आधारित है।

लॉक की विचारधारा के दोष—लॉक के विचार हॉब्स की भाँति सुस्पष्ट और तर्कसंगत नहीं हैं। उसके लेखों में बड़ी अस्पष्टता, परस्पर-विरोध और असंगतियाँ हैं। एक ओर वह नैतिक व्यवस्थाओं को शाश्वत, पूर्ण तथा अन्तिम समझता है, दूसरी ओर वह उन्हें अस्थायी तथा समाज की विभिन्न परिस्थितियों का परिणाम मानता है। उसने एक शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों में एक ही अर्थ में नहीं किया। कई बार वह सम्पत्ति को आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त करता है और कई बार इससे उसका आशय तीन वस्तुओं से अर्थात् व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और धन-दौलत से होता है।[1] उसने सर्वोच्च प्रभुसत्ता का मूल स्रोत तीन विभिन्न तत्त्वों को माना है—जनता या समुदाय (Community), विधानसभा, कार्यपालिका (Executive) के अधिकार रखने वाले

१. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० ७८।

व्यक्ति। एक ओर वह मनुष्य को अपना सुख चाहने वाला मानता है, दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि सब मनुष्य सामान्य, सार्वजनिक सुख की आकांक्षा रखते हैं। परस्पर विरोध और असंगतियों के अतिरिक्त उसकी विचारधारा के प्रधान दोष निम्नलिखित हैं।

पहला दोष उसका मानव स्वभाव के शुक्लपक्ष को ही देखना था। यदि हॉब्स का मत उसका कृष्णपक्ष देखने के कारण एकांगी होने से दूषित है तो लॉक का मत भी दूषित है क्योंकि वह उसमें केवल अच्छाइयों को देखता है। वस्तुतः मनुष्य में न केवल अच्छाइयाँ हैं और न केवल बुराइयाँ हैं, वह इन दोनों का सम्मिश्रण है।

दूसरा दोष मानव स्वभाव के भ्रान्त दृष्टिकोण के आधार पर ऐसी प्राकृतिक दशा (State of Nature) का चित्रण है, जो इस भूतल में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। उसके मतानुसार इस अवस्था में केवल अखण्ड शान्ति का साम्राज्य था, किन्तु सब मनुष्य न्याय की स्थापना करने वाले प्राकृतिक नियम का पालन करते थे। यह स्थिति २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मनुष्य द्वारा अभूतपूर्व वैज्ञानिक उन्नति कर लेने के बाद भी मानव समाज में नहीं पायी जाती। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घोर अशान्ति, आशंका, अराजकता और भय का साम्राज्य है। यदि लॉक की कल्पना सत्य हो तो यह मानना पड़ेगा कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से मनुष्य का निरन्तर अधःपतन हो रहा है। किन्तु इसके सत्य न होने के कारण लॉक की प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त कल्पना असत्य जान पड़ती है।

तीसरा दोष वैयक्तिक सम्पत्ति के संबंध में भ्रान्त धारणा और सम्पत्तिशाली वर्ग का अनुचित रूप से प्रबल समर्थन है। उसके मतानुसार व्यक्ति सामूहिक सम्पत्ति में अपने श्रम को जोड़ कर इसे वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में परिणत करता है (देखिये पृ० ४४०)। लॉक के शब्दों में 'मेरे घोड़े ने जो घास खायी, या मेरे सेवक ने जो घास छीली या मैंने किसी सार्वजनिक स्थान पर खोदने से जो कच्ची धातु प्राप्त की, वह किसी की अनुमति के बिना ही मेरी सम्पत्ति बन जाती है। मेरे ही श्रम ने उसे उस प्राकृतिक अवस्था से हटाया है, जहाँ वह सार्वजनिक सम्पदा थी, अतः वह मेरी सम्पत्ति हो गयी।"[1] रिची ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि इसके अनुसार अपने घोड़े तथा अपने नौकर के माध्यम से तथा श्रम से प्राप्त की गयी सम्पत्ति मेरी हो जाती है, इसी प्रकार पूंजीपति मजदूरों को लगाकर उनके श्रम से जो सम्पत्ति प्राप्त करता है, वह उसकी निजी सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि उसने पूंजीवाद का प्रबल पोषण किया है।[2] आजकल इस सिद्धान्त को कोई भी सत्य नहीं मानेगा।

चौथा दोष सहमति (Consent) के सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना है। वह इसे प्राकृतिक कानून के साथ संबद्ध मानता है। उसके मतानुसार इसका आशय यह है कि न्याय-अन्याय का निर्णय अधिकांश व्यक्तियों की सहमति से होता है। यदि बहुत-से व्यक्ति किसी कार्य को उचित या अनुचित कहते हैं तो उसे ऐसा ही समझना चाहिए। यह प्राकृतिक नियम के मौलिक सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि

---

१. लॉक—शासन पर दो निबन्ध। पूर्वोक्त हिन्दी अनुवाद, पृ० १४४।
२. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० ७६।

उसके अनुसार जो सार्वभौम शाश्वत सत्य है, वह मनुष्यों द्वारा अस्वीकार करने पर भी वैसा ही बना रहता है। यदि लॉक की बात मान ली जाय तो प्राकृतिक नियम मनुष्यों के बहुमत पर आधारित हो जायेंगे और उनकी स्वतन्त्र वास्तविक सत्ता समाप्त हो जायगी।

पाँचवाँ दोष राज्य के कार्यक्षेत्र का अत्यन्त संकुचित और सीमित करना है। उसकी दृष्टि में राज्य को केवल पुलिस का कार्य करना चाहिए, इससे अधिक नागरिकों की शिक्षा संबंधी, सांस्कृतिक या नैतिक उन्नत्ति का कार्य उसकी सीमा से परे है, क्योंकि व्यक्ति प्रकृति से ही विवेकशील और नैतिक है, वह स्वयं अपनी उन्नति करेगा। लॉक का पुलिस राज्य (Police State) का विचार बड़ा संकीर्ण और दूषित है।

छठा दोष व्यक्ति को असाधारण महत्त्व देकर राज्य की स्थिति को क्षीण बनाना है। उसका राज्य कोई स्वतन्त्र सामूहिक संस्था नहीं, किन्तु ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र है, जो निश्चित तथा सीमित प्रयोजनों के लिए इसका निर्माण करते हैं। इन प्रयोजनों के अतिरिक्त वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। सर्वोच्च सत्ता उनमें निहित है। उसने व्यक्तिवाद के प्रबल समर्थन के कारण व्यक्ति को राज्य से बड़ा बना दिया है। उसके मत में राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए।

इसीलिये उसके राज्य की तुलना एक सीमित दायित्व वाली कम्पनी (Limited Liability Company) से की जाती है और यह कहा जाता है कि लॉक राज्य को अपनी कोई विशिष्ट सत्ता या जीवन रखने वाला नहीं समझता, अपितु ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है जो एक निश्चित सीमित प्रयोजन को पूरा करने के लिए इसका निर्माण करने के लिए सहमत होते हैं किन्तु अन्य सभी कार्यों के लिए अपनी पूरी स्वतन्त्रता बनाये रखते है। अतः उसके विचारानुसार राज्य **एक सीमित दायित्व रखने वाली कम्पनी मात्र** है, वास्तविक प्रभुसत्ता और सर्वोच्च शक्ति व्यक्तियों में निहित है। लॉक की विचारधारा का बहुत बड़ा दोष व्यक्ति को राज्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बनाना है, उसकी दृष्टि में प्रभुसत्ता राज्य में नहीं किन्तु व्यक्ति में निहित है। इससे राज्य व्यक्ति की तुलना में नगण्य रह जाता है।

राजनीतिशास्त्र में लॉक की देन—किन्तु इन त्रुटियों और दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कई महत्त्वपूर्ण देनों के कारण लॉक का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी **पहली देन** प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) का सिद्धान्त है। उसने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को मनुष्य के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार मानते हुए यह कहा कि राज्य का कर्त्तव्य इनकी रक्षा करना है, वह किसी मनुष्य को कभी इससे वंचित नहीं कर सकता। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। आजकल सभी देशों के संविधानों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा को प्रथम स्थान दिया जाता है। यह वर्त्तमान प्रजातन्त्र (Democracy) और उदारवाद (Liberalism) की आधार-शिला है। उसकी **दूसरी देन** व्यक्तिवाद (Individualism) की है (देखिये ऊपर पृ० ४४८)। **तीसरी देन** जनता की सहमति पर आधारित वैधानिक शासन (Constitutional government) का विचार है। मैक्सी के शब्दों में उससे पहले किसी राजनीतिक विचारक ने इतने स्पष्ट और शक्तिशाली रूप में इस सिद्धान्त की स्थापना नहीं

की थी कि यदि कोई शासन प्रजाजनों की सहमति पर आधारित न हो तो वह अवैध तथा निराधार होता है। इससे पहले प्रतिनिधि संस्थाओं के माध्यम से बहुमत द्वारा शासन-संचालन की आवश्यकता और संभावना को इतने विश्वासदायक व प्रबल शब्दों में किसी अन्य व्यक्ति ने अभिव्यक्त नहीं किया था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि कार्यपालिका तथा विधानसभा तभी तक अपना कार्य कर सकती हैं, जब तक वे लोकहित का अनुसरण करती हैं और उसकी सहमति के अनुसार कार्य करती हैं। लॉक ने इस सिद्धान्त से राजाओं के दैवी अधिकार (Divine Right) द्वारा शासन करने के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया। १८वीं-१९वीं शताब्दी के राजनीतिक सुधारकों का मुख्य प्रेरणास्रोत लॉक का वैधानिक शासन का दर्शन था। ये सुधार चाहे किसी वालपोल, जेफरसन, गैम्बेट्टा या कावूर ने किये हों, इनकी प्रेरणा लॉक की रचनाओं से मिलती थी। **चौथी देन** जनता में प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के निहित होने का विचार है। वह यह मानता था कि व्यक्ति राज्य को अपने अधिकार कुछ विशेष प्रयोजनों की पूर्ति के लिए ही सौंपते हैं, शेष अधिकार तथा प्रभुसत्ता जनता में ही बनी रहती है। **पाँचवीं देन** राज्य की विधानपालिका, कार्यपालिका और न्याय-पालिका की तीनों शक्तियों के पार्थक्य (Separation of powers) के सिद्धान्त का बीजारोपण है (देखिये पृ० ४४६–७)। इसने अमरीका की राजनीतिक संस्थाओं पर गहरा प्रभाव डाला। पोलिबियस के बाद लॉक ने ही इसका सुस्पष्ट और तर्कसंगत प्रतिपादन किया था। राजनीतिज्ञों और विचारकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। मांतेस्क्यू ने इसी के आधार पर अपने शक्ति-पार्थक्य के तथा शासन संबंधी कार्यों के त्रिवर्गीय विभाजन के सिद्धान्त का विकास किया और अमरीका के संविधान-निर्माताओं ने लॉक तथा मांतेस्क्यू के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अपने विधान का निर्माण किया। **छठी देन** उपयोगितावाद (Utilitarianism) का सिद्धान्त है। उसने यह कहा था कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य सुखों की प्राप्ति और दुःखों के निवारण के लिए होते हैं। मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों का अनुसरण इसलिए करता है कि वह इनसे आनन्द पा सके। बेन्थम पर इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा।

लॉक का मूल्यांकन और प्रभाव – लॉक की रचनाओं में मौलिकता, संबद्धता और स्पष्टता का अभाव है। हॉब्स की रचना लॉक के ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक तर्क-संगत, सुसंगत और स्पष्ट है। फिर भी भावी पीढ़ियों ने हॉब्स का नहीं, किन्तु लॉक का समर्थन किया। इसका कारण यह था कि हॉब्स का निरंकुश राजसत्ता का सिद्धान्त समय के प्रतिकूल था और लॉक का वैधानिक शासन का विचार तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप था। अतः उसके व्यक्तिवाद, जनता की प्रभुसत्ता, व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों तथा वैध शासन के विचार बड़े लोकप्रिय हुए। सामाजिक संविदा, प्राकृतिक नियम, विद्रोह के अधिकार आदि के सिद्धान्त लॉक से पहले भी अनेक विचारक प्रति-पादित कर चुके थे, किन्तु उसने इन्हें इस ढंग से रखा कि इनका भावी इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसका विवेचन करते हुए बार्कर ने लिखा है, "लॉक के राजनीतिक सिद्धान्त ने केवल इंगलैण्ड को ही प्रभावित नहीं किया। वह फ्रांस में प्रविष्ट हुआ, रूसो के माध्यम से फ्रेंच राज्यक्रान्ति में आया। यह उत्तरी अमरीका की बस्तियों में प्रविष्ट हुआ और सेमुअल एडम्ज़ तथा थामस जेफरसन के माध्यम से अमरीका की

स्वतन्त्रता की घोषणा में भी इसका समावेश हुआ।"[1] अमरीका और फ्रांस की क्रान्तियों ने १९वीं शताब्दी में योरोप में तथा २०वीं शताब्दी में एशिया में होने वाली सभी राजक्रान्तियों को प्रभावित किया। इन सब पर लॉक के प्रभाव की स्पष्ट छाप है। वह उदारवाद, जनतन्त्र, नागरिकों के मौलिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रवक्ता है। अतः मैक्सी ने यह सत्य ही लिखा है कि १७वीं शताब्दी के इंगलैण्ड के इस दुबले-पतले, किताबी कीड़े डाक्टर की गणना राजनीतिशास्त्र के अमर विचारकों में की जानी चाहिए।[2]

---

१. बार्कर—सोशल कांट्रैक्ट, भूमिका, पृ० १८।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० २६२।

सत्रहवाँ अध्याय

रूसो (१७१२-१७७८ ई०)

जीवनी—फ्रेंच राज्यक्रान्ति को जन्म देने वाले विचारों के प्रबल प्रसारक, राजनीतिशास्त्र, शिक्षा, धर्म और साहित्य के क्षेत्रों में आधुनिक युग पर गहरा प्रभाव डालने वाले, सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रबल पोषक, जीन जेकस रूसो (Jean Jacques Rousseu) का जन्म धार्मिक अत्याचारों के कारण फ्रांस से भाग कर स्विट्ज़रलैण्ड के जेनेवा शहर में शरण लेनेवाले, निर्धन आइज़क नामक घड़ीसाज़ के घर में हुआ। दार्शनिकों का जीवन प्रायः घटनापूर्ण नहीं होता, उनकी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। किन्तु रूसो इसका अपवाद है। उसने अपना अधिकांश जीवन आवारागर्दी में बिताया, किसी पेशे या धंधे को सीखने में सफलता नहीं पायी और न किसी स्थान पर टिका। उसने स्वयमेव अपने जीवन के सन्ध्याकाल में अतिरंजित शैली में लिखी अपनी आत्मकथा (Confessions) में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला कि वह किस प्रकार किन बुराइयों में फँसा, किन स्त्रियों से उसने प्रेम किया और कौन-सी उच्च कुलों की सम्भ्रान्त महिलायें उसके प्रेम में विह्वल रहीं, किस प्रकार उसने एक अनपढ़, बदसूरत भटियारिन Therese le Vasseur को अपनी प्रेयसी बनाया, उससे पाँच बच्चे पैदा करने पर 'प्लेटो की शिक्षाओं का अनुसरण करते हुए' (ऊपर पृ० ११९), उसने एक को भी स्वयं नहीं पाला और पाँचों को अनाथ बच्चे पालनेवाले हस्पताल में दे दिया।

उसके राजनीतिक विचारों पर प्रभाव डालने वाली उसके जीवन की घटनाओं के संबंध में यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि १६ वर्ष की अवस्था में वह अपने घर से भाग निकला, इसके बाद बीस वर्ष तक मुख्य रूप से फ्रांस के विभिन्न स्थानों में निरुद्देश्य भ्रमण और आवारागर्दी करता रहा। किन्तु उसके जीवन में यह काल बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इस समय वह फ्रांस की निर्धन जनता के सम्पर्क में आया, उसे उनके विचारों और भावनाओं को जानने का बहुमूल्य अवसर मिला। १७४१ ई० में वह पेरिस में बस गया, यहाँ वह दिदरो (Diderot) के तथा अन्य विद्वानों के सम्पर्क में आया। १७४६ ई० में उसने एक गीतिनाट्य (Opera) लिखा। १७४९ ई० में डिजोन की अकादमी द्वारा घोषित एक निबन्ध प्रतियोगिता में स्वर्णपदक तथा ३०० फ्रांक का पुरस्कार पाने के कारण उसे असाधारण ख्याति प्राप्त हुई। निबन्ध का विषय था, "विज्ञान की उन्नति ने नैतिक जीवन को उन्नत किया है या उसे भ्रष्ट किया है?" अपने निबन्ध (Discours sur les Arts et Sciences) में उसने यह सिद्ध किया कि मानव समाज की प्रारंभिक अवस्था में सब मनुष्य सरल और निष्पाप जीवन बिताते हुए आनन्दपूर्वक रहते थे। वर्तमान समाज की सब बुराइयों का मूल सभ्यता की उन्नति, ज्ञान का प्रेम और सभ्य समाज का कृत्रिम जीवन है। १७५४ ई० में उसने एक दूसरी निबन्ध प्रतियोगिता के

लिए इस विषय पर लेख लिखा कि—**"मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने का क्या कारण है ? क्या प्राकृतिक कानून इसका समर्थन करता है ?"** इसमें उसने समानता और सामंजस्य की स्थिति में रहने वाले आदिम मानव समाज का प्रतिपादन अधिक विस्तार से करते हुए उसमें वैयक्तिक सम्पत्ति तथा आर्थिक विषमता उत्पन्न होने की प्रक्रिया पर तथा इसके कारणों पर प्रकाश डाला।

रूसो
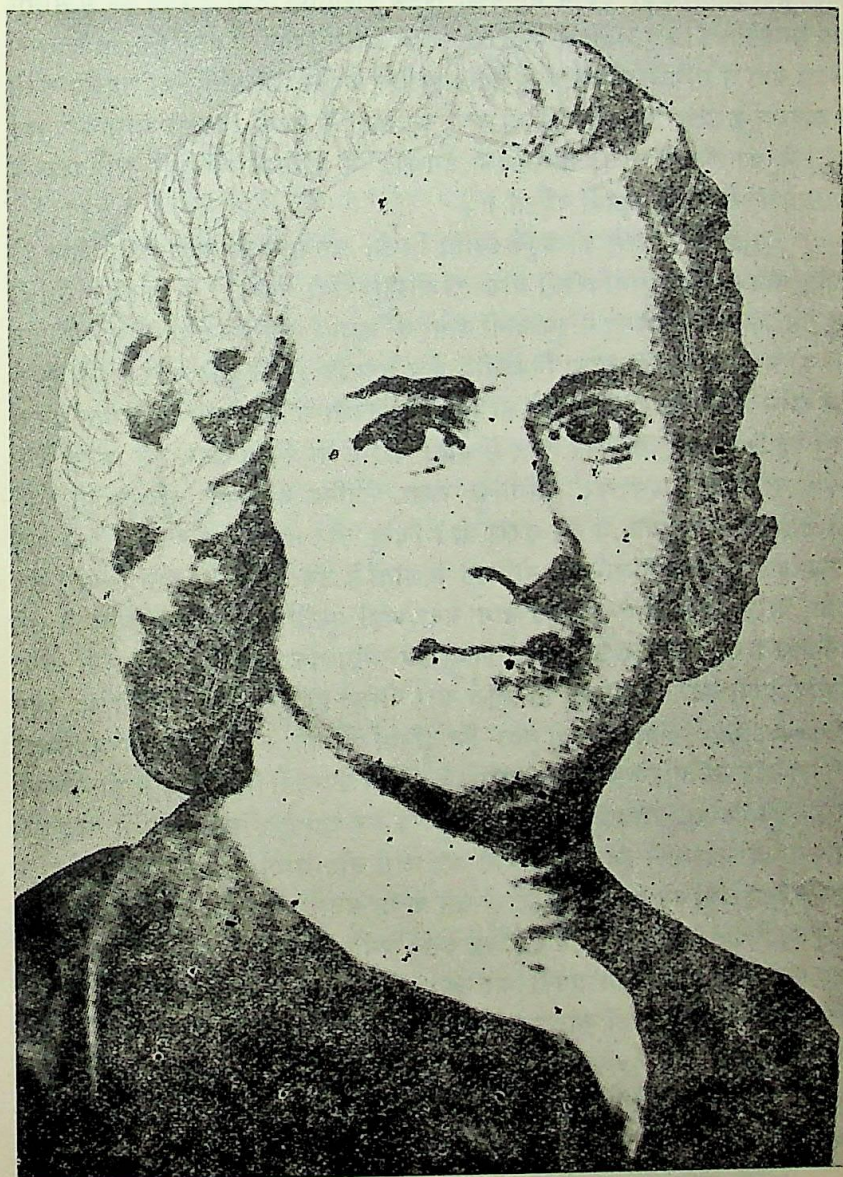
इस समय तक उसकी आजीविका का कोई स्थायी साधन नहीं था, वह केवल मित्रों द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता से अपना जीवन निर्वाह कर रहा था। १७५६ ई० के प्लासी की लड़ाई वाले वर्ष में सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखिका मदाम एपीने (Epinay) ने पेरिस के निकट माण्टमेरेन्सी (Montmerancy) के जंगल में रूसो को रहने के लिए तपोवन (Hermitage) नामक एक कुटिया बनवा दी, उसके लिए भोजनादि की पूरी व्यवस्था कर दी और अगले छः वर्ष पेरिस के कृत्रिम जीवन से दूर प्राकृतिक जीवन को बिताते हुए उसने १७६१ ई० में Julie या New Heloise तथा १७६२ ई० में सामाजिक समझौता (Le Contrat Social) तथा शिक्षा-विषयक ग्रन्थ Emile लिखा। अन्तिम ग्रन्थ में एमिली नामक बच्चे को प्राकृतिक ढंग से शिक्षा देने का समर्थन करते हुए बाइबल के ईश्वरीय ज्ञान होने का तथा ईसाइयत के नरक विषयक तथा अन्य कई सिद्धान्तों का खण्डन था। 'सामाजिक समझौते' में राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ायीं गई थीं।

इन ग्रन्थों से रूसो को अपूर्व ख्याति मिली, पर साथ ही असाधारण कष्ट भी भोगना पड़ा। इन के धर्मविरोधी और राजतन्त्रविरोधी विचारों के कारण उसकी मातृभूमि जेनेवा की परिषद् ने इन दोनों ग्रन्थों को जला डालने की तथा जेनेवा आने पर रूसो को बन्दी बनाने की आज्ञा निकाली। फ्रेंच सरकार ने भी इसी कारण उसे गिरफ्तार करने का आदेश दिया। रूसो को अपनी प्राणरक्षा के लिए फ्रांस से पलायन करना पड़ा। वह स्विट्ज़रलैण्ड के बर्न नगर में जाना चाहता था, किन्तु उसने उसे शरण देना अस्वीकार किया। इस पर जर्मनी के राजा फ्रेडरिक ने अपने प्रदेश के मोटियर्स (Motiers) नामक गाँव में उसे शरण दी। किन्तु तीन वर्ष बाद (१७६५ ई०) वहाँ के पादरी द्वारा भड़काये जाने पर मोटियर्स के लोगों ने उसे मारने का यत्न किया। इस पर वह प्राणरक्षा के लिए इंगलैण्ड भाग गया, यहाँ सुप्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने उसे अपने पास शरण दी (१७६६ ई०)। किन्तु इस समय तक रूसो विभिन्न राज्यों तथा व्यक्तियों द्वारा इतना प्रताड़ित, तिरस्कृत और पीड़ित हो चुका था कि उसे यह वहम (Persecuation mania) हो गया कि दुनिया के सब व्यक्ति उस पर अत्याचार करने का और उसे मारने का प्रयत्न कर रहे हैं। अपने उपकारी मित्र ह्यूम से भी उसे यह आशंका हुई कि वह उसके प्राण लेने का षड्यन्त्र कर रहा है। इसी वहम में वह कुछ पागल-सा हो गया और इंगलैण्ड से भाग कर फ्रांस लौट आया (१७६७ ई०)। ह्यूम ने अपने मित्र टूर्जो को फ्रेंच सरकार की उसे बन्दी बनाने की आज्ञा को क्रियान्वित न कराने को लिखा। जीवन के शेष ११ वर्ष उसने अर्धविक्षिप्तावस्था में पेरिस में बिताये, किन्तु इस समय भी उसने अपनी आत्मकथा (Confessions) और पोलैण्ड तथा कोर्सिका के लिए संविधानों का प्रणयन किया। फ्रेंच राज्यक्रान्ति से ११ वर्ष पहले २ जुलाई १७७८ ई० को ६० वर्ष की आयु में इस विलक्षण प्रतिभाशाली, अत्यन्त संवेदनशील किन्तु अर्धविक्षिप्त व्यक्ति का देहावसान हो गया। रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :—

मानव स्वभाव – इस विषय में रूसो का विचार हॉब्स तथा लॉक दोनों से भिन्न है। उसने पुरस्कार प्राप्त करने वाले उपर्युक्त निबन्ध में प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अच्छा, सुखी, सीधा, चिन्तारहित, स्वस्थ, शान्तिप्रेमी और एकान्तप्रिय

बताया। कई कारणों से उसने आदिम मनुष्य को ऐसा समझा। पहला कारण अपनी मातृभूमि जेनेवा में बचपन से कैल्विन की शिक्षाओं में दीक्षित होने के कारण आदिम मानव को सर्वथा निर्दोष और निष्पाप मानना था क्योंकि बाइबल के मतानुसार आदम शैतान के बहकावे में आने के बाद पापी बना था। दूसरा कारण इस समय प्रशान्त महासागर के टापुओं में रहने वाले आदिवासियों के ऐसे विवरणों का प्रकाशित होना था, जिनमें उन्हें शान्तिप्रेमी, अबुद्धिवादी तथा अन्ध-विश्वासों और रीति-रिवाजों का अनुसरण करने वाला बताया गया था। हॉब्स के समय में उत्तरी अमरीका की युद्ध-प्रिय आदिम जातियों के वर्णन प्रकाशित होने से उसने मानव प्रकृति को एक-दूसरे का गला काटने को तत्पर रक्तपिपासु माना था।[1] रूसो ने इसके सर्वथा विपरीत उसे शान्ति-प्रेमी माना।

अतः रूसो ने हॉब्स और लॉक दोनों के मानव प्रकृति विषयक विचारों का खण्डन किया। हॉब्स का कहना था कि प्राकृतिक मनुष्य न केवल हिंस्र और क्रूर था, प्रत्युत कपटी भी था। पहले रूसो द्वारा इस धारणा की आलोचना का वर्णन हो चुका है (देखिये पृ० ४३१)। रूसो का यह कहना था कि इसमें हॉब्स ने प्राकृतिक मनुष्य को इतना बुद्धिमान् और नैतिक मान लिया है, जो सर्वथा असंभव है। दूसरी ओर लॉक ने मनुष्य को प्राकृतिक नियम और ईश्वरीय नियम से अनुशासित होने वाला माना था। रूसो आदिम युग में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असंभव मानता है। इन दोनों विचारों को भ्रान्त मानते हुए उसने आदिम मानव को लगभग पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष और स्वाभाविक रूप से अच्छा माना। वह सहज भावना से काम करने वाला, बुद्धि-हीन, नैतिकता के विचारों से रहित और सम्पत्तिशून्य था।[2] उसमें आत्मसंरक्षण और सहानुभूति की दो प्रधान भावनायें थीं।

प्राकृतिक दशा (State of Nature)— रूसो की मानव स्वभाव की कल्पना हॉब्स और लॉक के विचारों से भिन्न थी, अतः उसकी प्राकृतिक दशा की धारणा भी स्वाभाविक रूप से इन दोनों की धारणा से मौलिक भेद रखती है। रूसो के मतानुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक तथा अनैतिक भावनाओं से मुक्त, निःस्वार्थ, सम्पत्ति और परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था। उस समय उसमें ममत्व की, मेरे-तेरे की कोई भावना नहीं थी, उसका जीवन उदात्त वनेचर (Noble Savage) जैसा था। वह सुखी और सन्तुष्ट था।

किन्तु यह स्वर्गीय स्थिति देर तक नहीं रही। सम्पत्तिरूपी सांप ने इसमें प्रवेश किया। मनुष्य में परिवार और वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। एक मनुष्य ने भूमि के एक टुकड़े को घेर लिया, उसे अपना कहने लगा। उसने दूसरे मनुष्यों से भी उस टुकड़े पर अपना अधिकार स्वीकृत कराया। अन्य मनुष्यों ने भी इसी तरह भूमि के अन्य टुकड़ों पर स्वामित्व स्थापित किया। इससे उदात्त वनेचर (Noble Savage) की स्वाभाविक समानता, स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी, दास-प्रथा का तथा सभ्यता की अन्य बुराइयों का प्रादुर्भाव हुआ। परिवार, वैयक्तिक सम्पत्ति, समाज,

---

१. फिलिस डायल—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० २०७-८।

२. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ४८२।

कानून और सरकार की संस्थाएँ सुदृढ़ हुईं।

ये सब समाज में विषमता को स्थायी बनाने में, गरीबों पर अमीरों के अत्याचार बढ़ाने में सहायक हुईं। सभ्य समाज के जन्म से निर्धनता और दुःख का प्रादुर्भाव हुआ। सभ्यता की वृद्धि के साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और बीमारी बढ़ती गई। इस प्रसंग में रूसो ने तत्कालीन फ्रांस की निर्धन जनता के सम्पन्न वर्गों द्वारा शोषण, अत्याचारों, दुःखों और कष्टों का बड़ा सजीव, हृदयद्रावक मर्मवेधी तथा प्रभावशाली चित्रण किया। उसके ग्रन्थ की लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण यह था कि फ्रांस की जनता जिन कष्टों को मूक भाव से सह रही थी और अनुभव कर रही थी, उसने अपने ओजस्वी शब्दों में उन्हें अभिव्यक्त कर दिया। उसके सामाजिक समझौते की पुस्तक के प्रथम वाक्य में यह घोषणा की गयी है —"मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा हुआ है, किन्तु सर्वत्र बेड़ियों से जकड़ा हुआ है।" (Man is born free; but everywhere he is in chains)। इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य को स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होना चाहिए, यही उसके लिए सर्वोत्तम दशा है। किन्तु समाज के नियम, रूढ़ियाँ तथा प्रतिबन्ध उसे दास बना रहे हैं, उसकी विशुद्ध प्राकृतिक दशा के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार से उसे वंचित कर रहे हैं। वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए इन बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो, यह रूसो के राजनीतिक चिन्तन की मौलिक समस्या है। रूसो इसका समाधान ऐसा संगठन बना कर करना चाहता है जिसमें सब एक-दूसरे के साथ संयुक्त होने पर भी प्राकृतिक दशा की स्वतन्त्रता के अधिकार को अक्षुण्ण बनाये रखें। यह सामाजिक समझौते से राजनीतिक समाज के निर्माण द्वारा हो सकता है।

सामाजिक समझौते का स्वरूप — रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज की सुव्यवस्था में समन्वय स्थापित करने के लिए एक सामाजिक संविदा (Social Contract) की कल्पना करता है। हॉब्स की भाँति रूसो इसमें व्यक्तियों द्वारा सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण आवश्यक मानता है, न कि लॉक की भाँति केवल कुछ अधिकारों का सौंपना। उसने लॉक की भाँति ये अधिकार एक ऐसे संघ को दिये हैं, जो सब व्यक्तियों का समूह है। यह समझौता सब सदस्यों की स्वीकृति पर आधारित है और निम्न प्रकार से सम्पन्न होता है। समाज का संगठन बनाने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति एकत्र होकर यह कहते हैं, "हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर को और समूची शक्ति को अन्य सब के साथ संयुक्त सामान्य इच्छा (General Will) के सर्वोच्च संचालन में रखता है और हम अपने सामूहिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में ग्रहण करते हैं।"[१] इसमें व्यक्ति अपने विभिन्न व्यक्तित्वों को पूर्णरूप से समाज में निमज्जित करके एक ऐसी नैतिक और सामूहिक संस्था का निर्माण करते हैं जो इसके सब सदस्यों से मिलकर बनती है। इस संस्था की, इसके सदस्यों से पृथक् अपनी विशिष्ट एकता, जीवन और इच्छा होती है। इसे इसके सदस्य निष्क्रिय होने पर राज्य (State) कहते हैं, क्रियाशील होने पर सर्वोच्च प्रभु (Sovereign) तथा अन्य संस्थाओं के साथ तुलना में शक्ति (Power) कहते हैं। इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों का सामूहिक नाम जनता होता है, वैयक्तिक रूप से इन्हें नागरिक कहा जाता है। इसमें

१. रूसो—सोशल कांट्रैक्ट, पुस्तक १, अध्याय ६।

सब व्यक्तियों के अधिकारों में समानता बनी रहती है, क्योंकि सब व्यक्ति अपने अधिकार समर्पित करने के बाद अधिकारहीन होने के कारण बराबर हो जाते हैं। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रहती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने किसी व्यक्ति विशेष को नहीं, किन्तु समूचे समुदाय को समर्पण किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर वही अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, जो अन्य व्यक्तियों को उस पर प्राप्त हैं। यह समझौता इसलिए किया जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों की परस्पर-विरोधी शक्तियों के स्थान पर एक सामान्य शक्ति स्थापित हो जाय।

रूसो का समझौता या अनुबन्ध यद्यपि समुदाय या राज्य का निर्माण करता है, किन्तु यह इस समझौते को करने वाला पक्ष नहीं बनता। प्रत्येक व्यक्ति समझौता करते हुए दो प्रकार के संबंध उत्पन्न करता है—(क) सर्वोच्च प्रभुसत्ता का अंग होने से वह दूसरे व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्यों से बँधा है। (ख) राज्य का सदस्य होने के नाते वह प्रभुशक्ति के साथ कर्त्तव्यों से बँधा हुआ है। सामाजिक अनुबंध को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति सामान्य इच्छा का पालन करने से इंकार करता है, उसे जबर्दस्ती नागरिकों के समूचे समाज द्वारा इसका पालन करने के लिए बाधित किया जाय। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उसे स्वतन्त्र रहने के लिए बाधित किया जाय। सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज के बहुमत की इच्छा का पालन करना चाहिए, यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे इसके लिए बाधित किया जाना चाहिए क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता और सब व्यक्ति स्वच्छन्द आचरण करने लगते हैं तो समझौता भंग होकर उससे पहले की अवांछनीय स्थिति उत्पन्न हो जायगी, जिसमें विषमता का साम्राज्य होगा तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायगी। अतः व्यक्ति को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए उसे सामान्य इच्छा के पालन के लिए बाधित किया जाना आवश्यक है, जैसे गेलीलियो को अपने समय के समाज के पृथ्वी के चारों ओर सूर्य के घूमने के सिद्धान्त को स्वीकार करने की सामान्य इच्छा मानने के लिए बाधित होकर अपना यह मत छोड़ना पड़ा कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है।

यह अनुबन्ध जीवन और इच्छा-शक्ति रखने वाली एक नैतिक और सामूहिक संस्था की रचना करके प्राकृतिक दशा का अन्त करता है; एक नये सभ्य समाज और राज्य का निर्माण करता है। इससे व्यक्ति नागरिक का रूप धारण करता है, उसके कार्य नैतिक बनते हैं, उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty) नागरिक स्वतन्त्रता में परिणत होती है। रूसो का समझौता किसी विशेष समय में होने वाली एकाकी घटना मात्र नहीं किन्तु निरन्तर जारी रहने वाली, मनुष्य की प्रकृति को उन्नत, उच्च, उदात्त और नैतिक बनाने वाली प्रक्रिया है, क्योंकि इस समझौते से मनुष्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन होता है। रूसो के शब्दों में "प्राकृतिक दशा से सभ्य समाज में परिवर्त्तन होने से मनुष्य अपने आचरण में सहज भावना (Instinct) का स्थान न्याय को देता है, अपने कार्यों को नैतिक स्वरूप प्रदान करता है, जो उसमें पहले नहीं था। शारीरिक प्रेरणाओं का स्थान कर्त्तव्य की भावना ले लेती है।···अब तक केवल अपने स्वार्थ का चिन्तन करने वाला मनुष्य पहली बार अपने-आपको अन्य सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने के लिए बाध्य अनुभव करता है, वह अपनी इच्छाओं की पुकार

सुनने से पहले अपनी बुद्धि से परामर्श करता है। यह सत्य है कि इस नागरिक राज्य में वह अपने को प्राकृतिक दशा के अनेक लाभों से वंचित कर लेता है किन्तु इसके साथ ही वह अनेक नये लाभ भी प्राप्त करता है, उसकी शक्तियों का प्रशिक्षण, और विचारों का विस्तृत विकास होता है, उसकी आत्मा बहुत ऊँची उठती है।"[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि **लॉक तथा रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के स्वरूप में दो बड़े भेद हैं** –(क) लॉक का अनुबन्ध एक निश्चित समय में होने वाला एक विशेष कार्य है। रूसो का समझौता निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। (ख) लॉक का मनुष्य समझौता करने से पहले प्राकृतिक नियम का पालन करने वाला नैतिक प्राणी था, किन्तु रूसो का मनुष्य समझौता करने के बाद नैतिक प्राणी बनता है, इससे पहले वह केवल वैयक्तिक हित और स्वार्थ की सिद्धि में रत था, इसके बाद वह सामाजिक हित को वैयक्तिक हित से ऊपर और महत्त्वपूर्ण समझता है, वह सामान्य इच्छा के निर्माण में भाग लेता हुआ दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला, विवेकशील नैतिक मानव का रूप धारण करता है।

सामान्य इच्छा (General Will) **का सिद्धान्त**—यह रूसो का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त है। जोन्स के शब्दों में "सामान्य इच्छा का विचार रूसो के सिद्धान्त का न केवल सबसे अधिक केन्द्रीय विचार है अपितु यह उसका सबसे अधिक मौलिक तथा रोचक विचार है, ऐतिहासिक दृष्टि से यह राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन है।" सब व्यक्ति समझौते द्वारा समुदाय के के लिए अपने अधिकारों का परित्याग करते हैं। इसके साथ ही उनकी वैयक्तिक इच्छा का स्थान एक 'सामान्य इच्छा' (Volonte generale) ले लेती है। इसे भली-भाँति समझने के लिए **दो प्रकार की इच्छाओं का भेद** समझ लेना आवश्यक है।

(क) स्वार्थपूर्ण इच्छा (Actual Will)—मनुष्य के मन में अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उठने वाली विभिन्न प्रकार की अविवेकपूर्ण, अस्थायी और क्षणिक इच्छायें होती हैं। ये स्वार्थ तथा वैयक्तिक हित को दृष्टि में रखती हैं, सामाजिक हित का विचार नहीं करतीं। उदाहरणार्थ, खाद्य-वस्तुओं में मिलावट करने वाले व्यापारी का लक्ष्य केवल अपना मुनाफा कमाने का विचार होता है, इससे समाज को पहुँचने वाली हानि को वह कभी नहीं सोचता।

(ख) वास्तविक इच्छा (Real Will)—दूसरे प्रकार की सामाजिक इच्छा (Real Will) में मनुष्य अपने विवेक से व्यक्ति के तथा समाज के हित में समन्वय करता है। यह सामाजिक हित से संबद्ध होने के कारण अस्थायी, क्षणिक और भंगुर नहीं होती, यह मनुष्य की बुद्धि के चिन्तन का परिणाम और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण व्यक्ति को **वास्तविक इच्छा** (Real Will) होती है। यह व्यक्ति के क्षणिक स्वार्थ को ही नहीं, किन्तु उसके समूचे जीवन को तथा समाज के हित को दृष्टि में रखती है। सामान्य व्यक्ति में आत्मालोचन तथा आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति होती है। इससे उसकी सामाजिक इच्छा का निर्माण होता है। प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार की इच्छायें होती हैं। ऊपर के उदाहरण में घी या तेल में मिलावट का कार्य स्वार्थ की दृष्टि

---

१. रूसो—सोशल कांट्रैक्ट, पुस्तक १, अध्याय ६।

से लाभदायक है, किन्तु जब व्यक्ति अपने विवेक से यह सोचता है कि यह ग्राहकों के साथ धोखा है, समाज को हानि पहुँचाने वाला है तो समष्टि के हित को दृष्टि में रखने के कारण उसकी यह इच्छा सामाजिक है। स्वार्थी (Actual) और सामाजिक (Real) इच्छाओं में प्रायः विरोध होता है।

समाज के विभिन्न व्यक्तियों की सामाजिक इच्छाओं का सर्वयोग ही सामान्य इच्छा है। सभी व्यक्तियों की यह सामाजिक इच्छा है कि खाद्य वस्तुओं में मिलावट न की जाय, अतः यह समाज की सामान्य इच्छा है। यह न तो बहुमत की इच्छा है और न सब नागरिकों की इच्छा। रूसो का इस विषय में यह दृष्टिकोण है कि प्रत्येक मनुष्य की राजनीतिक इच्छा स्वार्थ से प्रेरित होती है। किन्तु स्वार्थ के भी दो अंश हैं—(क) व्यक्ति को लाभ पहुँचाने वाला, (ख) समाज को लाभ पहुँचाने वाला। सब नागरिकों के वैयक्तिक स्वार्थ विभिन्न प्रकार के होते हैं, वे एक-दूसरे का निराकरण करते रहते हैं, इसके बाद उनके जो स्वार्थ बचते हैं, वे सामाजिक हित से संबंध रखने वाले होंगे। परिणामतः इनका सर्वयोग ही सामान्य इच्छा होगी। इसे गुरुत्वाकर्षण के उदाहरण से समझा जा सकता है। इस भूतल पर विश्व का प्रत्येक कण और पिण्ड दूसरे पिण्ड को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, वायुमण्डल हमें ऊपर खींच रहा है और भूमि नीचे की ओर। ये विभिन्न स्वार्थपूर्ण परस्पर-विरोधी आकर्षण एक-दूसरे की शक्ति को काट रहे हैं और इसके परिणामस्वरूप पृथ्वी के केन्द्र की ओर होने वाला आकर्षण बचा रह जाता है। यदि भूतल को समुदाय मानें तो यह आकर्षण इसकी सामान्य इच्छा होगा।[1]

रूसो ने **सामान्य इच्छा** (General Will) और **सब की इच्छा** (Will of All) में भेद करते हुए कहा कि "सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, सब की इच्छा (Will of All) वैयक्तिक हितों का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योगमात्र है। उदाहरणार्थ, सब विद्यार्थियों की इच्छा छुट्टी मानने की तथा परीक्षा भवन में नकल करने की और बातचीत करने की होती है। किन्तु उन की सामान्य इच्छा शान्तिपूर्वक अध्ययन करने तथा नकल न करने की है। सामान्य इच्छा सब इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के निराकरण मात्र से नहीं बनती, किन्तु समाज के उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है। यह समाज के सामान्य हित को ध्यान में रखती है। किन्तु आवश्यक नहीं है कि यह समाज की बहुसंख्या द्वारा निर्धारित हो। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष और पाकिस्तान के नागरिकों की युद्ध की इच्छा सब की इच्छा है, किन्तु उनके समझदार नेताओं की अल्पसंख्या द्वारा दोनों के सामान्य हित की दृष्टि से निर्धारित शान्ति स्थापित रखने की इच्छा सामान्य इच्छा है। यह किसी विषय पर विवेकपूर्वक विचार-विमर्श द्वारा व्यक्ति और समाज का समान रूप से कल्याण चाहने वाली इच्छा है।

रूसो की सामान्य इच्छा के **प्रधान तत्त्व** निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी इच्छा सामान्य इच्छा का अंग होती है, उसमें सम्मिलित होती है।

---

१. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ७२५।

(२) किसी मानव-समूह या वर्ग की सामान्य इच्छा उसका निर्माण करने वाले सभी सदस्यों का सामान्य हित होती है।

(३) सामान्य इच्छा का ज्ञान इस प्रकार हो सकता है कि किसी मानव-समूह के सभी सदस्यों से वोट द्वारा यह पूछा जाय कि वे अपना सामान्य हित क्या समझते हैं।

(४) सामान्य इच्छा कभी गलत या भ्रान्तिपूर्ण नहीं हो सकती है क्योंकि यह समुदाय के सर्वोत्तम हितों का प्रतिनिधित्व करती है।

(५) सामान्य इच्छा सदैव सामान्य हित का पोषण करती है।

(६) सामान्य इच्छा सब व्यक्तियों की इच्छा से भिन्न होती है।

(७) सामान्य इच्छा सब मानवीय कानूनों का अन्तिम स्रोत होती है।

(८) सामान्य इच्छा सदैव ठीक तथा सार्वजनिक हित का पोषण करने वाली होती है।

सामान्य इच्छा तीन दृष्टियों से सामान्य होती है —(क) **उद्गम की दृष्टि से**— इसे सब नागरिकों की सहमति प्राप्त होनी चाहिए। (ख) **क्षेत्र की दृष्टि से**— यह राज्य की समस्त जनता से संबंधित होनी चाहिए। (ग) **ध्येय की दृष्टि से**—यह समाज के हित के अनुकूल होनी चाहिए। इन तीनों विशेषताओं से युक्त होने पर ही कोई इच्छा सामान्य इच्छा होती है।

रूसो के सामान्य इच्छा के उपर्युक्त स्वरूप से कुछ **महत्त्वपूर्ण परिणाम** निकालता है—

(१) राजनीतिक संगठन या राज्य को अन्य मनुष्यों की भाँति एक संगठित और सजीव शरीर या विराट् पुरुष मानना चाहिए। इसमें अन्य शरीरों की भाँति सावयवी एकता (Organic Unity) होती है। राज्य-रूपी शरीर में सर्वोच्च सत्ता से सम्पन्न विधानसभा सिर की भाँति है, न्यायाधीश और सरकारी कर्मचारी मस्तिष्क के अंगों की भाँति, व्यापार-व्यवसाय तथा कृषि मुँह और पेट की भाँति तथा आय रक्त की भाँति है।

(२) यह राजनीतिक संगठन (Body Politic) या विराट् पुरुष नैतिक प्राणी होता है। इसकी अपनी इच्छा होती है।

(३) इसकी **सामान्य इच्छा** सदैव इस समाज के सामूहिक एवं प्रत्येक अंग के वैयक्तिक कल्याण के लिए प्रयत्न करती है। यह सब कानूनों और विधियों का मूल स्रोत है।

(४) यह अपने राज्य के सब सदस्यों के लिए न्याय और अन्याय का निर्धारण करती है। सामान्य इच्छा के अनुकूल कार्य न्याय तथा प्रतिकूल कार्य अन्याय है।

(५) जो इच्छा जितनी अधिक सामान्य होगी, वह उतनी अधिक न्यायपूर्ण होगी।

(६) सामान्य इच्छा सदैव सामान्य और सार्वजनिक हित के लिए होती है। अतः इसका पालन करने के लिए व्यक्तियों को बाधित किया जाना चाहिए।

(७) सामान्य इच्छा क्रान्ति को ला सकती है क्योंकि यह व्यक्तियों को स्वतन्त्र रहने के लिये बाधित कर सकती है।

सामान्य इच्छा तभी सामाजिक हित के अनुकूल हो सकती है, जब व्यक्तियों तथा राज्य में सीधा संबंध हो, इनके बीच में कोई अन्य संस्था न हो। रूसो का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य सदैव सामाजिक हित की दृष्टि से चिन्तन करेगा, मत देगा और अपना जीवन बितायेगा। वह प्रवंचना का शिकार भले ही बने, किन्तु सामाजिक हित की उपेक्षा करने का अनाचार नहीं कर सकता। उसे प्रवंचित करने वाले तत्त्व राजनीतिज्ञ और राजनीतिक दल होते हैं। ये मनुष्यों को विभिन्न पार्टियों की कृत्रिम संस्थाओं से विभक्त करके अपने आकर्षक प्रोग्रामों द्वारा जनता को लुभाकर पथभ्रष्ट करते हैं। जब मनुष्य इन राजनीतिक दलों, उदाहरणार्थ, कांग्रेस पार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टी आदि के सदस्य बनते हैं, तो उनकी इच्छा इन दलों की नीति से प्रभावित होने लगती है। परिणामतः वे नागरिक राज्य की सामान्य इच्छा का नहीं, किन्तु पार्टियों की इच्छाओं का अनुसरण करते हैं। यह स्थिति व्यक्ति एवं राज्य—दोनों के हित के लिए घातक है। अतः सामान्य इच्छा को सुरक्षित बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य में कई राजनीतिक पार्टियाँ या दल न हों। रूसो इंगलैण्ड आदि की प्रतिनिधि-मूलक (Representative) शासन-प्रणाली का उग्र आलोचक है, वह यूनानी नगर-राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) का प्रबल पोषक है।

विशेषतायें—रूसो की 'सामान्य इच्छा' की कई उल्लेखनीय विशेषतायें हैं।[1] (१) **पहली** विशेषता यह है कि यह प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किये जाने योग्य नहीं (Unrepresentable) है। ऊपर बताया जा चुका है कि रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का उपासक है। इसमें सब व्यक्ति अपनी इच्छा की स्वयमेव अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे व्यक्तियों अथवा प्रतिनिधियों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति करना व्यक्तियों के बहुमूल्य अधिकारों का हनन तथा लोकतन्त्र की हत्या है।

(२) **दूसरी** विशेषता इसकी अदेयता और अनन्यक्राम्यता (Inalienability) है। रूसो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता (Sovereignty) को सामान्य इच्छा में ही निहित मानता है, वह इसका प्राण है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, वैसे ही प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग करना संभव नहीं है।

(३) **तीसरी** विशेषता इसकी अखण्डता (Indivisibility) तथा एकता (Unity) है। यह अखंड है, क्योंकि यदि यह कई अंशों में विभक्त होती तो यह सामान्य नहीं हो सकती। यह बुद्धिपूर्वक चिन्तन और विचार-विमर्श का परिणाम होती है, अतः इसमें कोई परस्पर विरोध या असंगति नहीं होती, यह एकत्व वाली होती है तथा राज्य को एकत्व की भावना से अनुप्राणित करती है।

(४) **चौथी** विशेषता इसका स्थायी होना है, क्योंकि यह क्षणिक भावावेश का नहीं, किन्तु सुविचारित तर्क और बुद्धि का परिणाम होता है। यह राष्ट्र की संस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करती है।

(५) **पाँचवीं** विशेषता इसका न्यायोचित (Right) होना है। यह समाज के कल्याण के लिए नैतिक विचार की दृष्टि से निश्चित होती है, अतः इसके सत्य एवं

---

१. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ७२५।

न्याय्य होने में कोई संदेह नहीं हो सकता।

(६) छठी विशेषता इसका सर्वोच्च एवं निरंकुश होना है, इसपर किसी प्रकार के दैवी नियमों या प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं है, यह किसी व्यक्ति के या व्यक्ति समूह के अधिकारों से नियन्त्रित नहीं होती। यह इस धर्म की और नियम की संदेशवाहक है कि राज्य के हित में ही स्वहित निहित है। यह समूचे नैतिक और सामाजिक जीवन की संचालक है। जब तक राज्य है, जनहित की प्रतीक सामान्य इच्छा उसमें सर्वोच्च शासक है। वह जनवाणी है और जनवाणी ही देववाणी होती है। इसकी कोई अवहेलना या अवज्ञा नहीं कर सकता, सब को इसका पालन करना चाहिए। जो इसका पालन नहीं करता, वह अपना सच्चा हित नहीं जानता, भ्रम में है और भ्रान्ति में आबद्ध होने के कारण स्वतंत्र नहीं है। उसे 'सामान्य इच्छा' के अनुसार जीवनयापन करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए।

(७) सातवीं विशेषता यह है कि सामान्य इच्छा को राज्य का आधार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, किन्तु जनता की सहमति से संचालित होता है।

सामान्य इच्छा तथा आदर्शवादी विचारधारा (General Will and Idealist Thought)—रूसो की सामान्य इच्छा ने आदर्शवादी विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला है। जर्मन आदर्शवादी विचारक काण्ट और हेगल पर तथा ब्रिटिश आदर्शवादी दार्शनिक ग्रीन और बोसांके पर इस विषय में रूसो की स्पष्ट छाप है। काण्ट ने रूसो की भाँति सामान्य इच्छा को कानून का मूल स्रोत तथा जनता को सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न प्रभु (Sovereign) माना। काण्ट का नैतिक स्वतन्त्रता का विचार रूसो की वास्तविक इच्छा (Real Will) से मिलता है। वह उसी इच्छा को स्वतन्त्र मानता है, जो तर्कसंगत तथा विवेक सम्पन्न (rational) और सार्वभौम है तथा समाज के हित एवं कल्याण को सम्पन्न करने वाली है। हेगल भी रूसो का ऋणी है। उसका सम्पूर्ण मानव-समुदाय में निवास करने वाली विश्वात्मा का विचार (Idea of Spirit) रूसो की सामान्य इच्छा के विचार से गहरा सादृश्य रखता है। रूसो के मतानुसार सामान्य इच्छा के अनुसार नियमों और कानूनों का पालन करने वाला व्यक्ति स्वतन्त्र है। हेगल भी इसी प्रकार राज्य के नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति को स्वाधीन मानता है। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक ग्रीन पर रूसो का गहरा प्रभाव है। उसका यह विचार है कि केवल उत्तम या अच्छी इच्छा ही स्वतन्त्र होती है, बुरी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह इन्द्रियों के वशीभूत होने का परिणाम है। यह रूसो के समाज के कल्याण को बढ़ाने वाली वास्तविक इच्छा के विचार से मिलता है। रूसो तथा ग्रीन दोनों राज्य को इसलिये सर्वोत्तम समझते हैं कि यह सामान्य इच्छा पर आधारित है। ग्रीन ने यह लिखा है कि "इस भूमण्डल पर पालियामेंट तथा राज्य की अपेक्षा अधिक भव्यता रखने वाली वस्तु (Auguster thing) सामान्य इच्छा है।" ग्रीन ने राज्य का आधार शक्ति को नहीं, अपितु इच्छा को माना है। एक अन्य ब्रिटिश दार्शनिक बोसांके (Bosanquet) सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को तथा स्वार्थपूर्ण (Actual) तथा वास्तविक इच्छा (Real Will) के भेद को स्वीकार करता है।[१]

१. आदर्शवादी विचारकों के विचारों के लिये देखिये हरिदत्त वेदालंकार—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० १००-२२४।

आलोचना - रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में कुछ गम्भीर दोष हैं। **पहला** दोष तो यह है कि रूसो विस्तृत रूप से यह नहीं बताता कि सामान्य इच्छा का निर्धारण किस प्रकार होगा। वैयक्तिक और सार्वजनिक हितों के संघर्ष में व्यक्ति के लिए सार्वजनिक हित को स्वीकार करना कठिन होता है। **एमिली** में रूसो ने स्पार्टा की एक माता का दृष्टान्त दिया है। उसने जब युद्धक्षेत्र से समाचार लाने वाले से उसका परिणाम पूछा तो उसने उत्तर दिया कि तुम्हारे पाँच पुत्र मारे गये हैं। इस पर उसने समाचारवाहक की भर्त्सना करते हुए कहा—"दुष्ट दास, मैंने तुझसे यह नहीं, किन्तु युद्ध का परिणाम पूछा है।" जब उसे यह उत्तर मिला कि युद्ध में स्पार्टा की विजय हुई है तो वह बच्चों के शोक के वैयक्तिक दुःख की परवाह न करते हुए सार्वजनिक हित की दृष्टि से लाभकर विजय के लिए भगवान् को धन्यवाद देने के लिए मन्दिर में चली गयी। किन्तु वैयक्तिक हितों को सार्वजनिक हित की बलिवेदी पर चढ़ाने वाले ऐसे व्यक्तियों की संख्या समाज में बहुत कम होती है। रूसो स्वयमेव यह मानता है कि जनता का बहुमत ऐसी 'सामान्य इच्छा' का निर्धारण करने में असमर्थ होता है। इसके निर्धारण में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। **पहली** कठिनाई यह है कि हमारे पास सामान्य जनहित की ऐसी कोई कसौटी नहीं है कि जिसके आधार पर सब लोगों की इच्छा में भेद किया जा सके। **दूसरी** कठिनाई यह है कि रूसो व्यक्ति की इच्छा (Individual Will) को दो भागों में विभक्त करता है – (क) स्वार्थी इच्छा (Actual Will) तथा (ख) सामाजिक इच्छा (Real Will)। व्यक्तियों की सामाजिक इच्छाओं का सर्वयोग सामान्य इच्छा है। किन्तु व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसका विभाजन संभव ही नहीं है।

दूसरा दोष इस सिद्धान्त से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होना है। पहले (पृ० ४६६) यह बताया जा चुका है कि वह सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके पालन के लिए बाधित करता है। यह स्थिति बहुधा अत्याचारपूर्ण तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में बाधक होती है। पहले (पृ० ४६२) बताये गये गैलीलिओ के उदाहरण से यह स्पष्ट है।

तीसरा दोष यह है कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त केवल छोटे राज्यों में ही सफल हो सकता है क्योंकि जनसंख्या कम होने के कारण वहाँ इस इच्छा का सुगमता से पता लग सकता है। आधुनिक युग के बड़े राज्यों में इतने विभिन्न प्रकार के स्वार्थों वाले व्यक्तियों का निवास होता है कि उनके सामान्य हित का निर्धारण करना असंभव है।

चौथा दोष रूसो द्वारा सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलों की सत्ता का तथा प्रतिनिधिमूलक शासन-व्यवस्था (Representative Government) का विरोध करना है (ऊपर पृ० ४६५)। आजकल लोकतन्त्रों की सफलता के लिए प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था तथा पार्टी प्रणाली को, प्रेस और प्लेटफार्म के साधनों को अनिवार्य समझा जाता है।

पाँचवाँ दोष यह है कि वर्त्तमान राज्यों में सामान्य इच्छा कभी-कभी राष्ट्र पर आने वाले महान् संकटों के अवसर पर ही अभिव्यक्त होती है। उस समय सब लोग वैयक्तिक स्वार्थों की क्षुद्र भावना से ऊँचा उठकर सामान्य हित का निर्धारण करते हैं,

किन्तु सामान्य रूप से वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतने आबद्ध रहते हैं कि 'सामान्य इच्छा' का निर्धारण संभव नहीं होता।

छठा दोष अधिनायकवाद (Dictatorship) तथा सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सामान्य जनता में सामान्य हित के निश्चय करने का सामर्थ्य नहीं है। रूसो ने स्वयमेव लिखा है कि "जनता सदैव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सदैव इसे देख नहीं सकती"।[१] अतः जनता को इसे बताने का कार्य करने वाले नेता और पथप्रदर्शक उत्पन्न होते हैं। स्पार्टा में लाइकरगस तथा एथेन्स में सोलन इसी प्रकार के नेता थे। किन्तु ऐसे नेता सम्पूर्ण सत्ता हस्तगत करके निरंकुश शासक बन सकते हैं। रूसो के सिद्धान्तों में इसकी बहुत बड़ी संभावना है। उसने वैयक्तिक हित को सार्वजनिक हित से सर्वथा भिन्न और पृथक् समझते हुए राज्य को इसका निर्माण करने वाले तत्त्वों से अधिक ऊँची, पवित्र और पूजनीय सत्ता बना दिया है, इसके लिए व्यक्तियों को अपने हितों का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। इससे सरकार के हाथ में असाधारण सत्ता और शक्ति आ जाती है। वह अपने को जनमत और जनहित के अनुकूल बनाने के स्थान पर उसे अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने का प्रयास करती है। हिटलर और मुसोलिनी जैसे शासक प्रचार के प्रभावशाली साधनों द्वारा जनमत को अपने अनुकूल बनाकर मनमाना शासन और अत्याचार आरम्भ कर देते हैं। इससे निरंकुशतापूर्ण अत्याचारी शासन स्थापित हो जाता है और उस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूर्णरूप से हनन हो जाता है, जिसकी रक्षा के लिए रूसो ने सामाजिक समझौते की व्यवस्था की थी।

किन्तु इन दोषों के होते हुए भी रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व रखता है। इसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का नहीं, किन्तु समूचे समाज का कल्याण और जनता का हित सम्पादन करना होना चाहिए। सामाजिक और सामान्य हित वैयक्तिक हितों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट हैं। राज्य एक नैतिक संगठन है, यह सामुदायिक हित पर बल देकर मनुष्य की स्वार्थमय तथा असामाजिक और हीन प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है। मनुष्य को भावनाओं से संचालित होने वाले पशु के स्तर से ऊँचा उठाकर बुद्धि से संचालित होने वाला परोपकारपरायण, सामाजिक हितों को महत्त्वपूर्ण समझने वाला व्यक्ति बनाता है। इसने प्रभुसत्ता के जनता में निहित होने के विचार (Popular Sovereignty) को लोकप्रिय बनाकर प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का पोषण किया और फ्रेंच राज्यक्रान्ति को प्रभावित किया। रूसो की मृत्यु यद्यपि फ्रेंच राज्यक्रान्ति आरम्भ होने से ११ वर्ष पहले १७७८ में हो गयी थी, किन्तु यदि किसी एक व्यक्ति को इस क्रान्ति के लिये उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तो वह रूसो ही है। उसके ग्रन्थ न केवल फ्रेंच क्रान्तिकारियों के लिये, किन्तु उसके बाद योरोप के अन्य देशों में होने वाली क्रान्तियों के लिये प्रबल प्रेरणा का स्रोत तथा पथप्रदर्शक रहे हैं।

प्रभुसत्ता (Sovereignty)—रूसो के मतानुसार "प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छाओं में निहित होती है।" बोदैं तथा हॉब्स ने प्रभुसत्ता के विचार से राजा की

---

१. रूसो—सोशल कांट्रैक्ट, पुस्तक २, अध्याय ६।

निरंकुश सत्ता को पुष्ट किया था, रूसो की यह विशेषता है कि उसने इससे जनता की सत्ता का समर्थन किया।

रूसो की प्रभुसत्ता की **पहली** विशेषता **अनन्यक्राम्यता** (Inalienability) है, चूँकि सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है, अतः यह उससे कभी पृथक् नहीं हो सकती। अधिकार तो दूसरे को दिये जा सकते हैं किन्तु जनता अपनी इच्छा किसी दूसरे को नहीं दे सकती। इस विषय में रूसो ने लिखा है—"मैं यह कहता हूँ कि प्रभुसत्ता सामान्य इच्छा का व्यावहारिक रूप में प्रयोग करना मात्र है। अतः यह किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दी जा सकती है क्योंकि शक्ति या अधिकार तो किसी दूसरे व्यक्ति को दिये जा सकते, हैं किन्तु अपनी इच्छा किसी दूसरे को देना संभव नहीं है।" अतः सामान्य इच्छा सदैव जनता में ही निहित होती है और किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दी जा सकती। इसकी **दूसरी** विशेषता इसका **प्रतिनिधित्व न हो सकना** (Unrepresentability) है, चूँकि यह समूची जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है, अतः कोई भी व्यक्ति इसका समूचे रूप में कभी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। **तीसरी** विशेषता इसका असीम और अमर्यादित (Illimitable) होना है। यह जनता की सामान्य इच्छा से पृथक् कुछ भी नहीं है, जनहित के सिवाय इसका अपना कोई हित नहीं है, अतः इसपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं है, जनता स्वयमेव अपने पर कोई बन्धन नहीं लगाती। इस प्रकार रूसो अपने प्रभु या शासक को हॉब्स की भाँति पूर्ण रूप से निरंकुश तथा सर्वोच्च बनाता है। किन्तु रूसो के शासक की निरंकुश शक्ति का आधार या मूल स्रोत ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तर्क द्वारा समर्थन न किया जा सकने वाला मानवसमाज के उषाकाल में किया जाने वाला कोई सामाजिक अनुबन्ध या समझौता (Social Contract) नहीं है, जैसा हॉब्स का विश्वास है, अपितु इस निरंकुश सत्ता का आधार सहमति (Consent) है, इसका आशय यह है कि प्रत्येक नागरिक ने अपनी इच्छा से इस बात को स्वीकार कर लिया है कि उसकी शक्ति और अधिकारों का प्रयोग उस समूह या समाज द्वारा किया जायगा जिसका वह सदस्य है तथा इसका प्रयोग इस समूह के सामान्य जीवन के संरक्षण के तथा कल्याण के लिये किया जायगा। **चौथी** विशेषता इसका सब कानूनों का मूल स्रोत होना है, राज्य की सभी मौलिक विधियाँ और नियम इससे प्रादुर्भूत होते हैं। **पाँचवीं** विशेषता इसका अविभाज्य होना है, पहले बताया जा चुका है कि समूची जनता में इसका निवास होने के कारण इस का विभाजन संभव नहीं है। **छठी** विशेषता **एकता** (Unity) का पोषण करना है। सामान्य इच्छा किसी देश के सभी व्यक्तियों की सामान्य अभिलाषा और आकांक्षा को व्यक्त करती है, यह सब व्यक्तियों के मनों में विद्यमान एक सामान्य उद्देश्य को प्रकट करती है, इसलिये यह उनमें एकता का निर्माण करने वाली तथा इसे बढ़ाने वाली होती है। इसे पुष्ट करने के कारण सब नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ होती है। इस प्रकार रूसो ने जनता की असीम, अमर्यादित, अनन्यक्राम्य और अविभाज्य प्रभुसत्ता का प्रतिपादन किया।

रूसो की प्रभुसत्ता **हॉब्स की प्रभुसत्ता की भाँति पूर्ण रूप से निरंकुश** (Absolute) है। किन्तु दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि हॉब्स इस प्रभुसत्ता को राज्य

के अध्यक्ष—लेवियाथन में—एक व्यक्ति में या अनेक व्यक्तियों के समूह में निहित मानता है, किन्तु रूसो इसे समूची जनता को प्रदान करता है। इस अन्तर को मूर्त्त रूप देने के लिए रूसो ने अपने ग्रन्थ 'सामाजिक समझौते' के प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर **कटे सिर वाले लेवियाथन** का चित्र दिया था। हॉब्स ने जो निरंकुश सत्ता राजा को प्रदान की थी, वह रूसो ने प्रजा को प्रदान की। हॉब्स की भाँति रूसो भी यह मानता है कि प्रभुसत्ता रखने वाला व्यक्ति इसे किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकता। रूसो ने राज्य के निरंकुश अधिकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रकृति जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर के अंगों पर निरंकुश अधिकार देती है, वैसे ही सामाजिक अनुबन्ध राजनीतिक संगठन (Body Politic) को अपने सब अंगों पर पूर्ण अधिकार प्रदान करता है। किन्तु हॉब्स के निरंकुश अधिकारों का आधार अराजकता से उत्पन्न भय की भावना है। यदि ऐसे अधिकार नहीं दिये जायेंगे, तो अराजकता का अन्त नहीं हो सकेगा। रूसो इसका आधार सहमति (Consent) को मानता है। प्रजा शासक को पूर्ण अधिकार अपनी इच्छा से सामाजिक अनुबन्ध द्वारा इसलिए देती है कि इससे सब नागरिकों को लाभ पहुँच सके।

इसके साथ ही रूसो लॉक की भाँति व्यक्ति के अधिकारों का भी प्रबल समर्थक है। वह इसकी सुरक्षा के लिए सर्वोच्च शासक (Sovereign) द्वारा शासन में कई बातों का पालन आवश्यक समझता है: (क) उसे ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए, जो समूचे समुदाय के लिये हितकर न हो। (ख) उसे कानून के समक्ष सब व्यक्तियों की समानता को तथा न्याय के शासन को बनाये रखना चाहिए। (ग) वह अपने प्रजाजनों पर कोई ऐसे बन्धन नहीं लगायेगा, जो समुदाय के लिए निरर्थक हों।[१] इसके साथ ही सामान्य इच्छा के लिए वह सब की सहमति को आवश्यक मानता है। उसने यह सिद्धान्त लॉक से ग्रहण किया है। इस प्रकार उसकी प्रभुसत्ता के विचार में **हाब्स और लॉक के विचारों का समन्वय** है। अर्नेस्ट रीज़ (Ernest Rhys) ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि "रूसो हॉब्स की निरंकुश प्रभुसत्ता के विचार को, लॉक के जनता की सहमति (Popular Consent) के विचार से संयुक्त करके जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण करता है।"[२]

राज्य और सरकार—लॉक की भाँति रूसो ने इन दोनों में स्पष्ट भेद किया। उसके मतानुसार राज्य तो समूचा राजनीतिक संगठन (Body Politic) है, यह सर्वोच्च सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इस इच्छा को क्रियात्मक रूप देने के लिए समुदाय द्वारा चुने गये व्यक्ति सरकार का निर्माण करते हैं। हॉब्स यह मानता था कि सरकार का निर्माण सामाजिक समझौते या अनुबन्ध द्वारा होता है, किन्तु रूसो इसे जनता द्वारा बनाया हुआ समझता था। यह केवल जनता की इच्छा को पूरा करने का साधन थी। वह इसके कार्य से असन्तुष्ट होने पर इसे बदल सकती है। हॉब्स के मतानुसार इसे न तो बदला जा सकता था और न इसके विरुद्ध विद्रोह हो सकता था। कार्यपालिका को जनता की सामान्य इच्छा की पूर्त्ति का साधन मानने के कारण रूसो

१. रूसो—सोशल कांट्रैक्ट, दूसरी पुस्तक, चौथा अध्याय।
२. अर्नेस्ट रीज़—इण्ट्रोडक्शन टू सोशल कांट्रैक्ट, पृ० २६।

अधिनायकवाद को बुरा नहीं समझता था। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय, सार्वजनिक सुरक्षा समिति (Committee of Public Safety) ने इसी आधार पर फ्रांस का शासन किया। रूसो सरकार का काम केवल शासन करना समझता था, कानून बनाने का कार्य सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न विधानसभा का था। यह सर्वोच्च होने के कारण सरकार से शासन के अधिकारों को छीन सकती थी।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अन्य अधिकार—यद्यपि व्यक्ति सामाजिक समझौता करते हुए अपने अधिकार एक सामूहिक संस्था को सौंप देता है; यह कोई बाह्य सत्ता नहीं है, किन्तु समझौता करने वाले सब व्यक्तियों का समुदाय मात्र है। अतः इससे उसकी स्वतन्त्रता पर लगाये गये प्रतिबन्ध वास्तविक नहीं होते हैं, इनसे उसकी स्वतन्त्रता को कोई क्षति नहीं पहुँचती, क्योंकि जिस कानून को हम स्वयमेव बनाते हैं, उसके पालन से हमारी स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। इसका पालन करते हुए हम अपनी इच्छा का ही पालन करते हैं।

रूसो के मतानुसार स्वतन्त्रता (Liberty) का अर्थ स्वच्छन्दता (License) या मनमाना कार्य करने की आजादी नहीं है। समाज सामान्य हित की दृष्टि से कुछ नियम बनाता है, इनका पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सड़क पर बाईं ओर चलने का नियम इसलिए बनाया जाता है कि यातायात में सुव्यवस्था स्थापित हो और दुर्घटनायें न हों। सामाजिक हित की दृष्टि से यह वांछनीय है कि सब इसका पालन करें। इस नियम का पालन करते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता खण्डित नहीं होती, किन्तु यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रता की दुहाई देते हुए स्वच्छन्द आचरण करे और सड़क के बीच में या दाईं ओर अपनी गाड़ी चलाने लगे तो वह अपनी तथा दूसरों की जान खतरे में डालकर सामाजिक हित को तथा सामान्य इच्छा को हानि पहुँचाता है। रूसो लॉक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति के अधिकार मनुष्य के प्राकृतिक (Natural) नहीं, किन्तु राज्य द्वारा दिये जाने वाले नागरिक (Civil) अधिकार मानता है। समानता का अधिकार भी इसी प्रकार का है। सामुदायिक और सामाजिक हित की दृष्टि से वह अपनी स्वतन्त्रता और अधिकारों का उस सीमा तक परित्याग कर देता है, जहाँ तक सर्वोच्च सत्ता इनको छोड़ना आवश्यक समझे।

शासन-प्रणाली विषयक विचार—रूसो ने चार प्रकार की शासन-प्रणाली मानी है – राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र और मिश्रित (Mixed) शासन। मांतेस्क्यू की भाँति उसका यह मत था कि भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ किसी देश की शासन-प्रणाली पर गहरा प्रभाव डालती है। कृषिप्रधान तथा औद्योगिक देशों की शासन-प्रणालियाँ सर्वथा भिन्न होंगी। शासन के विविध प्रकारों में उसका झुकाव यूनानी नगर-राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की ओर था। वह प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का घोर विरोधी था, इसे वह राजनीतिक अधःपतन का परिणाम मानता था। उसका कहना था कि प्रतिनिधित्व का अर्थ है स्वतन्त्रता का हनन। ब्रिटेन की निर्वाचन प्रथा के विषय में उसका यह मत था कि वहाँ नागरिक केवल निर्वाचन काल में ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद दास बन जाते हैं। किसी भी शासन-प्रणाली की सफलता की कसौटी वह जनसंख्या की वृद्धि को समझता था। उसे यह अभीष्ट नहीं था कि सरकार अपने अधिकारों को बढ़ाये। इसे रोकने के लिए वह यह आवश्यक समझता है

कि कुछ निश्चित अवधि के बाद जनता की लोकसभायें बुलाई जायँ और वे यह निश्चित करें कि वर्त्तमान शासन व्यवस्था में और अधिकारियों में परिवर्त्तन किया जाना उचित है या नहीं। जब जनता इस लोकसभा के रूप में एकत्र होती है तो शासन के अधिकार इसे मिल जाते हैं। रूसो के इन सिद्धान्तों से यह विचार उत्पन्न हुआ कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जाय। जेफरसन ने यह सिद्धान्त बनाया कि प्रत्येक पीढ़ी को संविधान पर पुनर्विचार का अधिकार होना चाहिए। अनेक अमरीकी राज्यों में निश्चित अवधि के बाद संविधान के संशोधन के लिए सम्मेलन बुलाये जाने लगे।

रूसो का प्रभाव—उसके विचारों ने उसकी मृत्यु के दस वर्ष बाद होने वाली फ्रेंच राज्यक्रान्ति पर गहरा प्रभाव डाला। नैपोलियन कहा करता था कि यदि रूसो न होता तो फ्रेंच राज्यक्रांति न हुई होती। रोबेस्पीयर ने उसे फ्रेंच राज्यक्रान्ति का देवता घोषित किया था। इस क्रान्ति के नेताओं पर रूसो की रचनाओं का गहरा प्रभाव था। १७८९ ई० के मानवीय अधिकारों के घोषणापत्र में रूसो का अनुसरण करते हुए कहा गया था—"मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा होते हैं और वे स्वतन्त्र तथा अधिकारों में समान बने रहते हैं" (धारा १)। "कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है" (धारा ६)। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के मूलमन्त्र 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव' की दीक्षा देने वाला गुरु रूसो ही था। ग्रेट ब्रिटेन से १७७६ ई० में स्वतन्त्रता पाने वाले अमरीकन राज्यों ने अपने नये संविधानों में रूसो के सिद्धान्तों का अनुसरण किया। जेफरसन ने उसके विचारों को नई दुनिया में बड़ा लोकप्रिय बनाया। जर्मनी में काण्ट, फिक्टे (Fichte) तथा हेगल के विचारों पर रूसो की रचनाओं की स्पष्ट छाप है।

रूसो के विलक्षण प्रभाव का प्रधान कारण यह था कि उसने सभ्य जगत् की सर्वमान्य फ्रेंच भाषा में बड़े ओजस्वी शब्दों में तत्कालीन दूषित शासन-पद्धति और सामाजिक व्यवस्था पर प्रबल आक्षेप किये थे, आर्थिक विषमता और शोषण के भीषण दुष्परिणामों का नग्न चित्र उपस्थित करते हुए जनसाधारण के मानस में समाज की पुरानी व्यवस्था के प्रति उग्र असन्तोष और तीव्र विरोध की भावना उत्पन्न की। इसका भीषण विस्फोट फ्रेंच राज्यक्रान्ति के रूप में हुआ।

रूसो के प्रभाव की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें वर्तमान काल की सभी प्रमुख विचारधाराओं— **समाजवाद** (Socialism), **निरंकुशवाद** (Absolutism) **तथा लोकतन्त्रवाद के बीज मिलते हैं। समाजवाद** के विषय में उसके विचार 'विषमता के उद्गम' (Discourse on Inequality) के निबन्ध में मिलते हैं, इसमें उसने वैयक्तिक सम्पत्ति पर प्रबल आक्रमण करते हुए आर्थिक विषमताओं के उन्मूलन पर बल दिया है। लॉक की भाँति वह सम्पत्ति को मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार नहीं मानता। उसने 'कोर्सिका के संविधान की योजना' (Plan for a Constitution of Corsica) में यहाँ तक कहा है कि राज्य को ही समूची सम्पत्ति का स्वामी होना चाहिए। किन्तु, उपर्युक्त निबन्ध में वह सम्पत्ति को पवित्र अधिकार मानता है। सैबाइन के मतानुसार वह पक्का कम्यूनिस्ट नहीं था। उससे पहले मेसलिये (Meslier) ने तथा उसके बाद मैबली और मोरेली (Morelly) ने भूमि तथा उसकी पैदावार को सामूहिक सम्पत्ति बनाने की योजनायें रखी थीं। रूसो की योजना भी इसी प्रकार

की थी। कल्पनावादी समाजवाद (Utopian Socialism) में उसकी बड़ी देन यह सामान्य विचार है कि सम्पत्ति आदि सभी अधिकार मनुष्य को समाज या समुदाय से प्राप्त होते हैं, वह इनका प्रयोग सामुदायिक हित के विरुद्ध नहीं कर सकता।[1]

समाजवाद का एक प्रधान विचार यह है कि समाज व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, समाज के हितों को व्यक्ति के हितों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिए, व्यक्ति को अपना कल्याण और भलाई समाज के हित में ही समझना चाहिए। समाजवाद समूचे समाज के हित की दृष्टि से राज्य के कार्यों के क्षेत्र में वृद्धि करने का समर्थक है। रूसो की सामान्य इच्छा भी व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज के हित को सम्पन्न करने पर अधिक बल देती है। इस प्रकार रूसो के ग्रन्थों में वर्त्तमान समाजवाद के कुछ विचार पाये जाते है।

रूसो की विचारधारा में निरंकुशवाद के भी कुछ तत्त्व मिलते हैं। उसने निरंकुशवाद की विचारधारा का समर्थन करते हुए कहा है कि जनता की सामान्य इच्छा सदैव ठीक होती है, प्रत्येक व्यक्ति को इसका आदेश शिरोधार्य करने के लिए बाधित किया जाना चाहिए (ऊपर पृ० ४६६), उसकी स्वतन्त्रता इसकी दासता करने से ही सुरक्षित रह सकती है। राज्य में कोई राजनीतिक पार्टी, चर्च, धार्मिक, आर्थिक या श्रमिक संगठन नहीं होना चाहिए। आगे चलकर यह बताया जायगा कि हेगल को प्रशिया के निरंकुश राज्य का समर्थन करने की प्रेरणा रूसो से मिली थी। वह जर्मन और ब्रिटिश आदर्शवाद (Idealism) का अग्रदूत है। लोकतन्त्र पर उसका स्पष्ट प्रभाव है। उसने जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के विचार को फ्रेंच राजक्रान्ति के माध्यम से आधुनिक काल का एक सबसे प्रभावशाली विचार बनाया। लिंकन ने प्रजातन्त्र का लक्षण करते हुए कहा है कि यह ऐसी शासन-पद्धति है, जिसमें जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए शासन होता है। रूसो ने अपने ग्रन्थों में ऐसी पद्धति का प्रबल पोषण और समर्थन किया है। उसके मतानुसार सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित रहती है, सामान्य इच्छा जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है और यह इच्छा सदैव जनता के सामान्य हित के पोषण और वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहती है। रूसो प्रत्यक्ष जनतन्त्र (Direct Democracy) का समर्थक है। लोकतन्त्र में व्यक्ति के अधिकारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। रूसो व्यक्तियों को न केवल सामूहिक रूप से अपितु वैयक्तिक रूप से सर्वोच्च प्रभुसत्तासम्पन्न समझता है। रूसो के सामाजिक अनुबन्ध से व्यक्तियों को स्वतन्त्रता और समानता के वे महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं, जो लोकतन्त्र का आवश्यक तत्त्व समझे जाते हैं। उसके मतानुसार व्यक्ति स्वतन्त्र रहने के लिए बाधित किया जाता है और उसे यह स्वतन्त्रता उसकी भलाई एवं हित का सम्पादन करने के लिए दी जाती है। उसकी स्वतन्त्रता पर लगाये गये कानूनी बन्धन वस्तुतः बन्धन नहीं हैं क्योंकि कानून सामान्य इच्छा द्वारा बनाया जाता है और सामान्य इच्छा में उसकी अपनी इच्छा सम्मिलित होती है, अतः यदि उसकी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं और तो वे उसकी अपनी इच्छा से प्रादुर्भूत होने के कारण प्रतिबन्ध नहीं रहते हैं और उसकी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनते हैं। रूसो की

---

१. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ४६१-२।

व्यवस्था में व्यक्तियों को समानता का अधिकार भी प्राप्त होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समान सर्वोच्च अधिकार और कर्त्तव्य रखता है। लोकतन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व शासन के कार्य में जनता की सहमति और सहयोग तथा भाग लेना है। रूसो सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा शासन में जनता के सहयोग और भाग लेने पर बहुत बल देता है। इस तरह वह लोकतन्त्र के सभी आधारभूत तत्त्वों और मौलिक विचारों का प्रबल पोषक है।

इस प्रकार रूसो की विचारधारा में समाजवाद, निरंकुशवाद और लोकतन्त्र की विचारधाराओं के महत्त्वपूर्ण अंश मिलते हैं। उसके ग्रन्थों में इन सबका विलक्षण सम्मिश्रण हुआ है।

लोकतन्त्र तथा निरंकुशवाद की विचारधारायें सर्वथा विरोधी और प्रतिकूल हैं। एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देती है, दूसरी इसे कोई महत्त्व नहीं देती; एक व्यक्ति को तथा दूसरी समाज को महत्त्वपूर्ण मानती है। रूसो ने दोनों का समर्थन किया है, अतः उसके विचारों में बड़ा विरोध है और यह कहा जाता है कि उसके **ग्रन्थों में बढ़िया गड़बड़ी पैदा करने वाले विचारों की खिचड़ी** है (Medley of magnificent confusions) है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर उसके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त ने १७७६ की अमेरिकन राज्यक्रान्ति का तथा १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति का समर्थन करके प्रजातन्त्र को पुष्ट किया, वहाँ दूसरी ओर उसने राज्य की निरंकुशता के समर्थक आदर्शवादी विचारकों—काण्ट और हेगल तथा ग्रीन को भी प्रेरणा प्रदान की है। अर्नेस्ट रीज़ के शब्दों में वह जर्मन तथा ब्रिटिश आदर्शवाद का अग्रदूत है। इंगलैण्ड में रूसो के विचारों को इसलिए भी महत्त्व मिला कि ये बेन्थम द्वारा प्रतिपादित 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम हित' के इस सिद्धान्त से बहुत मेल खाते थे। जिस प्रकार इस सिद्धान्त में साधारण जनता के सामान्य हितों के पोषण एवं वृद्धि पर बल दिया गया था, उसी प्रकार रूसो की सामान्य इच्छा भी अधिकांश जनता के कल्याण पर बल देती थी। ब्रिटिश लेखक गाडविन (Gadwin) की पुस्तक 'राजनीतिक न्याय' प्रधान रूप से रूसो की पुस्तक 'विषमता के उद्गम' (Origin of Inequality) पर आधारित है। रूसो का एक बड़ा प्रभाव यह भी था कि उसने तर्क एवं युक्ति पर बल देने वाले बुद्धि के युग (Age of Reason) को समाप्त करके उसके स्थान पर भावना पर अत्यधिक बल देने वाले रोमांचवाद के युग (Age of Romanticism) का आरम्भ किया। उससे पहले तर्क एवं बुद्धि को बहुत महत्त्व दिया जाता था, रूसो ने इनके स्थान पर भावना को महत्त्व दिया। रूसो की रचनाओं के विशाल और व्यापक प्रभाव का एक मनोरंजक प्रमाण यह भी है कि इसके बाद विभिन्न प्रकार की विचारधारायें रखने वाले लेखक, विचारक और दार्शनिक अपने मन्तव्यों की पुष्टि रूसो के ग्रन्थों के उदाहरणों से करते हैं। व्यक्तिवादी और समष्टिवादी (Collectivists), एकत्ववादी (Monists) और बहुत्ववादी (Pluralists) रूसो के ग्रन्थों में शरण ढूंढ़ते हैं, वह दार्शनिक अराजकतावाद, समाजवाद, हेगलवाद, संघवाद, सिण्डिकेलिज़्म आदि अनेक विचारों का प्रेरणास्रोत है। अर्नेस्ट रीज़ ने उसे मध्ययुग के परम्परागत सिद्धान्त तथा राज्य के आधुनिक दर्शन को संबद्ध करने वाला

बताया है।[1]

रूसो की आलोचना तथा दोष—किन्तु रूसो का अत्यधिक प्रभाव होते हुए भी उसके आलोचकों की कमी नहीं है। उसकी विचारधारा के बड़े दोषों में पहला उसकी रचनाओं की असंगतियाँ, विरोध और अस्पष्टताएँ हैं। वह अपने सामाजिक समझौते का आरम्भ व्यक्ति के अधिकारों पर बल देने वाले व्यष्टिवाद (Individualism) से करता है, किन्तु इसकी समाप्ति व्यक्ति पर प्रभुता रखने वाली सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) तथा राज्य की समष्टिवादी (Collectivist) विचारधारा के साथ करता है। बार्कर के मतानुसार 'रूसो वस्तुतः सर्वाधिकारवादी है···उसने सर्वोच्च प्रभु (Sovereign) की सर्वशक्तिमत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये।"[2] यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वह सामाजिक समझौते' के ग्रन्थ की समाप्ति धार्मिक अत्याचार के सुझाव के साथ करता है। कांस्टैण्ट का मत है कि वह निरंकुश सत्ता के सभी रूपों का प्रबल समर्थक है। उसके देशवासी दुगी (Duguit) ने उसे जेकोबिन निरंकुशवाद का जन्मदाता तथा काण्ट और हेगल के निरंकुशवादी सिद्धान्तों को प्रेरणा देने वाला कहा है। वॉन (Vaughan) ने यह सत्य ही लिखा है कि एक ओर तो वह राज्य का प्रबल पोषक था, दूसरी ओर व्यक्ति का उग्र समर्थक था और वह इन दोनों विरोधी आदर्शों को नहीं छोड़ सका। एक ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, दूसरी ओर उसे राज्य का दास बनाता है। एक ओर सहिष्णुता की नीति का उपदेश देता है, दूसरी ओर अपने गणराज्य से नास्तिकों को निष्कासित करता है।[3] इन असंगतियों के कारण मार्ले ने उस पर यह टिप्पणी की है कि उसे यद्यपि एक महान् विचारक कहा जाता है, किन्तु वह यह नहीं जानता था कि विचार किस प्रकार किया जाता है। एक ओर वह सम्पत्ति को सब बुराइयों का मूल स्रोत बताता है, दूसरी ओर उसे पवित्र संस्था मानता है। संभवतः रूसो की रचनाओं में जितनी अधिक असंगतियाँ और परस्परविरोधी विचार पाये जाते हैं, इतने किसी अन्य बड़े लेखक की कृतियों में नहीं मिलते।

उसका दूसरा दोष बुद्धिवाद, विज्ञान तथा कला का विरोध है। भावुकतावाद (Romanticism) का घोर उपासक होने के कारण वह यह मानता है कि हमें अपने जीवन का संचालन भावनाओं के आधार पर करना चाहिए। बुद्धिपूर्वक चिन्तन करने वाला मनुष्य दुष्ट पशु (Depraved animal) मात्र है। बुद्धि भक्ति की भावना का, विज्ञान श्रद्धा का और तर्क नैतिक अन्तर्दृष्टि का विनाश करने वाला है। इन विचारों को प्रतिपादित करने वाली तथा पुनः प्रकृति की ओर लौटने (Back to nature) पर बल देने वाली अपनी पुस्तक जब रूसो ने वाल्तेयर के पास भेजी तो उसने इसकी व्यंग्यपूर्ण आलोचना करते हुए लिखा था, "किसी ने अभी तक ऐसा मनोरंजक कार्य नहीं किया, जैसा आप हमें फिर से पशु बनाने के बारे में कर रहे हैं। आपकी पुस्तक पढ़कर मुझमें चौपाये पशुओं की भाँति चार टांगों पर चलने की इच्छा उत्पन्न हुई है।

---

१. अर्नेस्ट रीज़—इंट्रोडक्शन टू दी सोशल कांट्रैक्ट, भूमिका पृ० ७।
२. बार्कर—सोशल कांट्रैक्ट, भूमिका, पृ० ५१।
३. वॉन—स्टडीज़ इन दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल फिलासफी, पृ० २४२।

किन्तु क्योंकि मैंने ६० वर्ष पहले यह अभ्यास छोड़ दिया था, अतः दुर्भाग्यवश यह असंभव प्रतीत होता है कि मैं इसे पुनः आरम्भ कर सकूं।" अपने एक मित्र को वाल्तेयर ने एक पत्र में लिखा था कि "रूसो में और दार्शनिक में उतना ही साम्य है, जितना बन्दर और आदमी में है।"[1]

रूसो का **तीसरा दोष** उसके मानव स्वभाव और सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त हैं। वह मानव जाति के अतीत को अत्यन्त स्वर्णिम युग के रूप में देखता है, प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है। वस्तुतः मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नहीं। उसके मतानुसार मानव आरम्भ में सद्भावनापूर्ण, भला, सुखी, सीधा और शान्तिप्रिय था। वह मनुष्य में केवल उत्कृष्ट और भली प्रवृत्तियाँ देखता है, वस्तुतः मनुष्य में भली और बुरी, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का समावेश है।

चौथा दोष व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन है। यद्यपि वह अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सामाजिक समझौते का आरम्भ व्यक्ति को उसे पराधीन बनाने वाली बेड़ियों से मुक्त कराने की आशा के साथ करता है, किन्तु शीघ्र ही वह उसे सामान्य इच्छा का दास बना देता है।

पाँचवाँ दोष लोकतन्त्र का विरोध तथा अधिनायकवाद का समर्थन है। यद्यपि रूसो लोकतन्त्र का पोषक, क्रान्तिकारी विचारक समझा जाता है, किन्तु वास्तव में वह केवल छोटे नगर-राज्यों के लिए ही प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है। वर्त्तमान काल के बड़े राज्यों के संबंध में उसकी धारणा यह है कि इनमें लोकतन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता क्योंकि इनमें जनता एकत्र नहीं हो सकती, उसे अपने काम-धन्धों से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। "यदि देवताओं की जनता हो तो उनका शासन लोकतन्त्रात्मक हो सकता है। ऐसा पूर्ण शासन मनुष्यों के लिए नहीं है।" इसमें कोई संदेह नहीं कि "उसकी पुस्तक 'सामाजिक संविदा' फ्रेंच क्रान्तिकारियों का 'धर्मग्रन्थ या बाइबल' थी। किन्तु रसेल के शब्दों में बाइबल की भाँति लोगों ने इसे पढ़ा नहीं, किन्तु इसकी पूजा की। इसे पढ़ने वालों ने इससे अधिनायकवाद के सिद्धान्त निकाले। हेगल ने इसकी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के आधार पर प्रशिया के निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। रसेल के कथनानुसार इसका पहला फल रोबेस्पियर का आतंक राज्य था और बोल्शेविक रूस तथा नाज़ी जर्मनी के अधिनायकवाद भी रूसो की शिक्षाओं का परिणाम हैं।[2] इस समय हिटलर रूसो के विचारों का फल है, रूज़वैल्ट और चर्चिल लॉक के विचारों का परिणाम हैं।"[3]

आलोचकों ने रूसो की निन्दा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। वाल्तेयर ने उसे नीमहकीम जंगली (Charltan savage), हू-हू करने वाला उल्लू (Hoot Owl), स्विट्ज़रलैण्डवासी सेवक (Swiss valet), डायोजीनीस के कुत्ते तथा हीरोस्ट्रेटस

---

१. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० २७०-७१।
२. रसेल, बर्ट्रेण्ड—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ७२६-७।
३. वही, पृ० ७११।

(Herostratus) की कुतिया की दोगली सन्तान कहा है।[1] लार्ड मार्ले ने यह विचार प्रकट किया है कि "क्या संसार के लिए यह अधिक अच्छा न होता कि रूसो का जन्म ही न हुआ होता।"[2] संभवतः, यह समझा जाता है कि यदि वह जन्म न लेता तो फ्रेंच राज्यक्रान्ति का भीषण रक्तपात और नरमेध न हुआ होता।

रूसो का मूल्यांकन—किन्तु इन आलोचनाओं के बावजूद, राजनीतिक विचारों के इतिहास में रूसो का नाम उसकी महत्त्वपूर्ण देनों और विचारों के लिए अमर है। उसने लोकतन्त्र, समानता, स्वतन्त्रता के विचारों का शंखनाद किया, किसी भी पहले विचारक की अपेक्षा इस पर बहुत बल दिया कि जनता ही सारी राजनीतिक सत्ता का मूल स्रोत है, प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित है, सरकार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता की सेवक मात्र है, उत्तम शासन तथा कानून की कसौटी जनता के हित का सम्पादन करना है। राज्य हॉब्स के विचारानुसार केवल एक कृत्रिम यन्त्र (Machine) मात्र नहीं है, किन्तु सजीव शरीर (Organism) है। जनवाणी देववाणी है, शासन का आधार जनता की सहमति है। व्यक्ति और राज्य में तथा स्वतन्त्रता और सत्ता में विरोध नहीं है। रूसो के इन विचारों ने फ्रेंच राज्यक्रान्ति को प्रभावित किया, फ्रेंच राज्यक्रान्ति की सफलता के साथ लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचारों का प्रसार योरोप के सभी देशों में हुआ। इससे आधुनिक जगत् के राजनीतिक विचारों का निर्माण हुआ। वेपर के मतानुसार अर्वाचीन विश्व के मस्तिष्क पर रूसो से अधिक प्रभाव डालने वाले व्यक्ति इने-गिने हैं।[3] फ्रेंच दार्शनिक बर्गसों (Bergson) के मतानुसार देकार्त्त (Descartes) के बाद मानव मन पर सबसे अधिक प्रबल प्रभाव रूसो का पड़ा है। उसने अपनी मौलिक प्रतिभा की छाप राजनीति, साहित्य, शिक्षा, धर्म आदि के सभी क्षेत्रों में छोड़ी है। डनिंग ने उसे राष्ट्रीय राज्य (National state) के सिद्धान्त का पोषक माना है। कोल का यह मत है कि उसका 'सामाजिक समझौता' राजनीतिशास्त्र की सर्वोत्तम पाठ्यपुस्तक है, रूसो का महत्त्व न केवल वर्त्तमान काल के लिए, किन्तु सभी कालों के लिए है।[4]

हॉब्स, लॉक और रूसो की तुलना—ये तीनों सामाजिक समझौते या अनुबन्ध के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु इसके विभिन्न पहलुओं के संबंध में इनमें मौलिक मतभेद हैं। पहले इसका विस्तृत प्रतिपादन हो चुका है। उपसंहार के रूप में इनके प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(१) **मानव प्रकृति** (Human Nature)—हॉब्स मनुष्य को स्वार्थी, भय, शक्ति और कीर्त्ति की भावना से संचालित होने वाला, क्रूर, हिंसक, धूर्त्त और दुष्ट तथा रूसो इसे स्वाभाविक रूप से अच्छा मानता है। लॉक इन दोनों की मध्यवर्त्ती स्थिति में मनुष्य को शान्तिप्रिय, सद्भावना और सहयोग की भावना से अनुप्राणित मानता है।

---

१. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० १३७।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ३६७।
३. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० १३६।
४. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६७।

(२) **प्राकृतिक दशा** (State of Nature)—हॉब्स इसे सतत युद्ध की दशा, लॉक सद्भावना, सौहार्द, पारस्परिक सहायता की तथा रूसो परम आनन्द (Idyllic Happiness) की दशा मानता है।

(३) **प्राकृतिक नियम** (Law of Nature)—प्राकृतिक दशा में हॉब्स के मतानुसार कोई राजकीय (Civil) कानून नहीं था। प्राकृतिक नियम से ही मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार नियन्त्रित होते थे। इनके दो अर्थ थे : (क) जीवन के संरक्षण के लिए उचित विवेक बुद्धि का आदेश (Dictate of right reason), (ख) दूर-दर्शिता और उपयोगिता पर आधारित यह विचार कि प्रत्येक को शान्ति बनाये रखने के लिए अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर अपने प्राकृतिक अधिकार एक शासक को सौंप देने चाहिएँ और समझौते का पालन करना चाहिए। लॉक प्राकृतिक नियम को सहज भावना (Instinct) नहीं, किन्तु ऐसा नैतिक नियम (Moral law) मानता है, जो बुद्धि पर आधारित है तथा मानवीय व्यवहार को नियन्त्रित करता है। रूसो प्राकृतिक नियम को बुद्धि का परिणाम नहीं मानता, वह इसका आधार सहज भावना (Instinct) तथा अनुभूति (Feeling) से उत्पन्न होने वाली सामाजिकता (Sociability) को बताता है।

(४) **प्राकृतिक अधिकार** (Natural Rights)—हॉब्स 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के अनुसार इसका आधार केवल शक्ति को मानता है। लॉक जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को स्वभाव से मनुष्य को उपलब्ध होने वाले जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। रूसो प्राकृतिक दशा में मनुष्य को सर्वथा स्वतन्त्र और इस स्वतन्त्रता से मिलने वाले अधिकारों से सम्पन्न मानता है।

(५) **सामाजिक संविदा या अनुबन्ध** (Social Contract) **की आवश्यकता**—हॉब्स इसे सतत संघर्ष से उत्पन्न अराजकता और असुरक्षा की भावना को दूर करने के लि ए आवश्यक समझता है। लॉक के मतानुसार प्राकृतिक नियमों की अस्पष्टता और इन्हें लागू करने के लिए आवश्यकता के कारण यह समझौता किया गया; रूसो वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण से पैदा हुई सामाजिक विषमता के उन्मूलन के लिए इसे आवश्यक मानता है।

(६) **सामाजिक अनुबन्ध का स्वरूप**—हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति इसमें आत्मरक्षा और प्राणरक्षा के अतिरिक्त सभी अधिकार एक सर्वोच्च प्रभु को समर्पित कर देता है। इस समझौते से राज्य (Commonwealth) का तथा प्रभु (Sovereign) का निर्माण होता है। यह अनुबन्ध केवल प्रजा के लिए है, राजा के लिए इसका पालन आवश्यक नहीं है। राजा की सत्ता सर्वथा निरंकुश होती है। लॉक के मतानुसार व्यक्ति इस समझौते द्वारा सब नहीं, किन्तु कुछ निश्चित अधिकार ही छोड़ते हैं। सरकार की सत्ता निरंकुश नहीं, किन्तु सीमित होती है। रूसो के मतानुसार राज्य का जन्म व्यक्तियों की वैयक्तिक और सामूहिक (Corporate) दशा में किये गये समझौते से होता है। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक रूप में क ख ग घ के मिलने से बनी सामूहिक संस्था (क+ख+ग+घ) को वे अपने सब अधिकार सौंपते हैं।

(७) **प्रभुसत्ता** (Sovereignty)—हॉब्स की प्रभुसत्ता या संप्रभुता निरंकुश, अमर्यादित, असीम, अविभाज्य, अनन्यक्राम्य, पूर्ण, कानून से ऊपर उठी हुई, कानून,

न्याय और सम्पत्ति का स्रोत तथा राज्य और चर्च से ऊपर है। प्रजा को इसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार नहीं है। लॉक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की कल्पना नहीं करता, उसकी सरकार निश्चित कार्यों को करने वाली है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अधिकार सरकार पर प्रबल अंकुश है, वह इन अधिकारों की अवहेलना नहीं कर सकती। रूसो के मतानुसार जनता सामूहिक रूप में सर्वोच्च प्रभु है, सर्वोच्च सत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित होती है। इसकी मुख्य विशेषतायें एकता, अविभाज्यता, अनन्यक्राम्यता (Inalienability) और प्रतिनिधित्व के योग्य न होना (Unrepresentability) है (देखिये ऊपर पृ० ४६५)।

(८) **स्वतन्त्रता**—हॉब्स के मतानुसार प्राकृतिक दशा में स्वतन्त्रता (Liberty) और स्वच्छन्दता (License) में कोई अन्तर न था। राज्य की स्थापना के बाद उसने प्रजा को नागरिक (Civil) स्वतन्त्रता प्रदान की। यह व्यक्ति को राज्य की भेंट है और वह इसे अपनी इच्छा से किसी भी समय उससे छीन सकती है, व्यक्ति इसके लिए कोई विरोध या प्रतिवाद नहीं कर सकता। लॉक के मतानुसार जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार हैं, राज्य इन्हें व्यक्ति से नहीं छीन सकता। रूसो राज्य में वैयक्तिक स्वाधीनता को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की ओर से व्यक्ति को दी जाने वाली भेंट समझता है। राज्य की निरकुशतापूर्ण सत्ता के साथ इसका समन्वय होना चाहिए।

(९) **व्यक्ति और राज्य के संबंध**—व्यक्ति का राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार—हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति को सब अधिकार, शान्ति, व्यवस्था और सुशासन राज्य से प्राप्त होता है, अतः उसका प्रधान कर्त्तव्य राज्य के आदेशों का आँख मूँदकर पालन करना है। राज्य उसके सब अधिकारों को छीन सकता है। वह राज्य के विरुद्ध विद्रोह का या उसके आदेशों की अवज्ञा का अधिकार नहीं रखता। इस विषय में हॉब्स दो महत्त्वपूर्ण अपवाद मानता है—(क) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राणरक्षा का अधिकार है, यदि सर्वोच्च प्रभु किसी व्यक्ति को मारना चाहे तो वह आत्मरक्षा के लिए उसका प्रतिरोध कर सकता है। (ख) देश में गृहयुद्ध छिड़ जाने की स्थिति में यदि पहला शासक उसके जीवन की रक्षा करने में असमर्थ है तो वह अपनी निष्ठा और राजभक्ति उससे हटाकर दूसरे शासक के प्रति रख सकता है। लॉक के मतानुसार व्यक्ति का स्थान राज्य से ऊँचा है, राज्य का जन्म व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है, राज्य यदि अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का तथा शासन को बदलने का पूरा अधिकार है। उसके मतानुसार राज्य सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) नहीं है, किन्तु व्यक्ति पूरी प्रभुसत्ता रखने वाला है। रूसो के मतानुसार राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। उसे समानता, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार नागरिक बनने पर राज्य से प्राप्त होते हैं, लॉक की भाँति ये उसके स्वाभाविक अधिकार नहीं हैं। उसकी स्वतन्त्रता प्राकृतिक (Natural) है, उसे राज्य द्वारा दी गयी (Civil) है। राज्य के आधीन होता हुआ भी व्यक्ति स्वाधीन है, क्योंकि राज्य द्वारा उस पर लगाये गये प्रतिबन्ध और बन्धन उसने स्वयमेव अपने पर सामान्य हित की दृष्टि से अपनी सामाजिक या वास्तविक इच्छा (Real Will) से लगाये हैं (देखिये ऊपर पृ० ४६५)। उसकी यह इच्छा

सर्वोच्च प्रभुत्व रखने वाली सामान्य इच्छा (General Will) का अंग है। अतः स्वयमेव अपने पर लगाये हुए ये बन्धन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं होते।

(१०) **राज्य और सरकार का भेद**—हाब्स ने इन दोनों में कोई अन्तर नहीं माना। उसके लिए तथ्यानुयायी (De facto) तथा विध्यनुसारी (De Jure) शासनों में कोई अन्तर नहीं था। उसका यह मत था कि सरकार में परिवर्त्तन आने से राज्य का विघटन हो जाता है और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लॉक का यह विचार था कि जनता को अपनी सरकार चुनने का सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है, इससे असंतुष्ट होने पर वह इसे बदल सकती है। रूसो के मतानुसार सरकार तो सर्वोच्च प्रभुसत्ता रखने वाली जनता की इच्छा को पूरा करने वाली अभिकर्त्ता (Agent) मात्र है। लॉक और रूसो सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) जनता में निहित मानते हुए सरकार के अधिकारों को नियन्त्रित करते हैं। लॉक यह समझता है कि जनता अपनी सर्वोच्च सत्ता सुरक्षित रूप में रख छोड़ती है, उसका प्रयोग उन्हीं असाधारण परिस्थितियों में करती है, जब विद्रोह और क्रान्ति करना नितान्त आवश्यक हो जाय। किन्तु रूसो प्रभुसत्ता को सदैव सक्रिय मानता है, जनता इसका प्रयोग करते हुए कानूनों के निर्माण का कार्य निरन्तर करती रहती है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण से स्पष्ट है कि रूसो कुछ अंशों में हॉब्स का तथा कुछ अंशों में लॉक का अनुसरण करता है। एक ओर वह राज्य के निरंकुशवाद (Absolutism) का समर्थन करते हुए राज्य को सर्वोपरि मानता है, व्यक्ति का कार्य उसकी आज्ञाओं का पालन है। राज्य व्यक्ति के लिए नहीं, किन्तु व्यक्ति राज्य के लिए है। राज्य को व्यक्तियों पर पूर्णाधिकार है। यह प्लेटो तथा हॉब्स की विचारधारा है और रूसो की पिछली रचनाओं में विशेष रूप से मिलती है। यद्यपि हॉब्स और रूसो दोनों राज्य के निरंकुशवाद (Absolutism) के समर्थक हैं, तथापि इन दोनों में इस विषय में कई मौलिक अन्तर हैं—(१) हॉब्स का व्यक्ति सामाजिक अनुबन्ध के समय अपने सब अधिकार लेवियाथन या प्रभुसत्ता को सौंप देता है, इसके बदले में उसे शान्ति और सुरक्षा के सिवाय कुछ नहीं मिलता। किन्तु रूसो का व्यक्ति सब कुछ खो देने पर भी कुछ नहीं खोता क्योंकि यद्यपि वह अपने अधिकार खो देता है, किन्तु दूसरे सभी व्यक्तियों के अधिकारों में उसे साझा मिल जाता है। इस तरह रूसो द्वारा प्रतिपादित समाज की निरंकुशता में प्रत्येक व्यक्ति का साझा हैं, क्योंकि उसका प्रभु या सर्वोच्च शासक समाज के सब व्यक्तियों के संयोग से मिलकर बनता है। (२) हॉब्स के लेवियाथन या प्रभु पर किसी प्रकार का अंकुश या प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु रूसो प्रभु समझी जाने वाली जनता की सामान्य इच्छा के लिए नैतिक और न्यायपूर्ण होना आवश्यक मानता है। यही उसके प्रभुत्व का आधार है। यह तभी तक नैतिक और न्यायपूर्ण होती है, जब तक जनता के सामान्य हित (Common good) का सम्पादन करती है। लॉक की वैध प्रभुसत्ता के विचार के सर्वथा प्रतिकूल रूसो हॉब्स की भाँति प्रभुसत्ता को निरंकुश मानता है।

दूसरी ओर रूसो की आरम्भिक रचनाओं में 'विषमता के उद्गम पर निबन्ध' (Discourse on the Origin of Inequality) में वह घोर व्यक्तिवादी (Individualist) है। इसमें उसपर लॉक का स्पष्ट प्रभाव है। उसके सामाजिक अनुबन्ध

या समझौते का आधार सहमति (Consent) की भावना है। इसके आधार पर हॉब्स ने लेवियाथन की निरंकुश सत्ता को पुष्ट किया था, किन्तु लॉक ने इससे सरकार की सत्ता को मर्यादित करते हुए यह कहा कि वह समाज की ट्रस्टी है और उसका कार्य व्यक्ति तथा समाज की भलाई करना है। रूसो ने लॉक के **सहमति के सिद्धान्त** को स्वीकार करते हुए उसमें दो संशोधन किये। लॉक के अनुसार सामाजिक समझौता होने के समय जब एक बार इसे करने वाले अपनी सहमति प्रदान कर देते हैं, तो इसके बाद वे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेते। वे तब तक प्रसुप्त रहते हैं, जब तक कि शासनसत्ता उनके वैयक्तिक अधिकारों का हनन न करे। किन्तु रूसो की सर्वोच्च शासक-जनता सतत क्रियाशील और जागरूक रहते हुए सामान्य इच्छा द्वारा नियम निर्माण के कार्य में लगी रहती है। (२) रूसो को लॉक का दूसरा दोष यह प्रतीत हुआ कि वह बहुमत के शासन को श्रेष्ठ समझते हुए बहुत महत्त्व देता है और उसे अल्पमत पर मनमाना अत्याचारपूर्ण शासन स्थापित करने की खुली छूट दे देता है। रूसो ने लॉक के इस दोष का समाधान सामान्य इच्छा के सिद्धान्त (देखिये ऊपर पृ० ४६३) से किया है। अतः रूसो का सिद्धान्त हॉब्स की भाँति निरंकुश होता हुआ भी लॉक की अपेक्षा अधिक लोक-तन्त्रात्मक है।

वस्तुत: रूसो लॉक द्वारा निर्धारित विचार-पद्धति को अधिक विशद, स्पष्ट और सुदृढ़ बनाने वाला तथा उसे आगे बढ़ाने वाला है। उस पर हॉब्स की अपेक्षा लॉक का अधिक प्रभाव है। यह बात निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होती है। उसने लॉक से इन विचारों को ग्रहण करते हुए अधिक विशद बनाया है—(१) **जनता की प्रभुसत्ता का विचार** (Idea of Popular Sovereignty)—लॉक के मतानुसार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता अपने अधिकार जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को दे सकती है। रूसो यह मानता है कि सर्वोच्च सत्ता सदैव जनता में निहित रहती है, वह अपना यह अधिकार प्रतिनिधियों को नहीं दे सकती। (२) **मर्यादित शासन** (Limited Government)—रूसो इस विषय में लॉक का अनुसरण करते हुए इस बात पर बल देता है कि सरकार जनता की सामान्य इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने का साधन है, यह सरकार कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती, जो समूची जनता के हितों के प्रतिकूल हो।

हॉब्स, लॉक और रूसो के विभिन्न विचारों के उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण को संक्षेप में निम्नलिखित तालिका में प्रकट किया गया है—

हॉब्स	लॉक	रूसो
१. मानव का स्वभाव यह स्वार्थी, क्रूर, हिंसक, दुष्ट, भय, शक्ति तथा कीर्ति की भावना से प्रेरित होने वाला, आसुरी प्रवृत्तियों की प्रधानता रखने वाला है।	शान्तिप्रिय, सद्भावना और सहयोग की भावना से अनुप्राणित है।	आरम्भ में स्वाभाविक रूप से अच्छा, दैवी प्रवृत्तियों वाला तथा उदार भावनाओं की प्रधानता रखने वाला है।
२. प्राकृतिक दशा सतत युद्ध की तथा विषमता की दशा है।	यह सद्भावना, सौहार्द तथा पारस्परिक सहायता की दशा है।	परम आनन्द तथा सुख की दशा है। इसमें स्वावलम्बी एवं आदर्श जीवन था, वैयक्तिक सम्पत्ति न होने से विषमता का अभाव था, बाद में वैयक्तिक सम्पत्ति से विषमता, ईर्ष्या, द्वेष उत्पन्न हुआ।
३. प्राकृतिक नियम आरम्भिक प्राकृतिक दशा में राजकीय (Civil) कानूनों का अभाव था, प्राकृतिक नियमों से ही मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का नियन्त्रण होता था। प्राकृतिक नियम जीवन के संरक्षण के लिये उचित विवेक-बुद्धि का आदेश थे।	प्राकृतिक नियम विवेक-बुद्धि पर तथा नैतिकता पर आधारित थे, ये मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का नियन्त्रण करते थे।	प्राकृतिक नियम का आधार बुद्धि नहीं, किन्तु सहज भावना (Instinct) से तथा अनुभूति से पैदा होने वाली सामाजिकता है।
४. प्राकृतिक अधिकार ये व्यक्ति की शक्ति तथा बल पर आधारित हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम सर्वमान्य है।	मनुष्य के तीन जन्मसिद्ध अधिकार—जीने का अधिकार, स्वतन्त्र रहने का तथा सम्पत्ति रखने का अधिकार हैं।	प्राकृतिक दशा में मनुष्य को सब प्रकार के प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे और वह इच्छानुसार इनका उपभोग कर सकता था।

हॉब्स	लॉक	रूसो
५. सामाजिक समझौते (Social Contract) की आवश्यकता		
सामाजिक समझौते की आवश्यकता सतत संघर्ष से उत्पन्न अराजकता को दूर करने के लिये होती है।	प्राकृतिक नियमों की अस्पष्टता दूर करने तथा इन्हें लागू करने के लिये सामाजिक समझौता किया जाता है।	वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण से पैदा हुई सामाजिक विषमता के उन्मूलन के लिये सामाजिक समझौता किया गया था।
६. सामाजिक अनुबन्ध का स्वरूप		
इसमें व्यक्ति आत्मरक्षा तथा प्राणरक्षा के अतिरिक्त सभी अधिकार एक सर्वोच्च प्रभु को सौंप देता है। यह समझौता केवल प्रजा के लिये है, राजा की सत्ता सर्वथा निरंकुश होती है।	व्यक्ति इस समझौते द्वारा सब नहीं किन्तु कुछ निश्चित अधिकार छोड़ते हैं। राज्य की सत्ता निरंकुश नहीं, मर्यादित होती है।	यह समझौता दो प्रकार से व्यक्तियों की वैयक्तिक तथा सामूहिक दशा में किये गये समझौते से सम्पन्न होता है।
७. प्रभुसत्ता		
यह निरंकुश, अमर्यादित असीम, अविभाज्य, अनन्यक्राम्य, कानून से ऊपर उठी हुई, कानून, न्याय तथा सम्पत्ति का स्रोत तथा राज्य और चर्च से ऊपर है। प्रजा को इसके विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति का अधिकार नहीं है।	राज्य पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अधिकार सरकार पर प्रबल अंकुश है, वह इन अधिकारों की अवहेलना नहीं कर सकती, प्रजा इन अधिकारों की प्राप्ति के लिये विद्रोह या क्रान्ति कर सकती है।	जनता सामूहिक रूप में सर्वोच्च प्रभु है, सर्वोच्च सत्ता जनता की इच्छा में निहित है। इसकी विशेषतायें एकता, अविभाज्यता, अनन्यक्राम्यता और प्रतिनिधित्व के योग्य न होना है।
८. स्वतन्त्रता		
प्राकृतिक दशा में स्वतन्त्रता (Liberty) तथा स्वच्छन्दता (Licence) में कोई अन्तर न था। राज्य की स्थापना के वाद उसने प्रजा को स्वतन्त्रता	यह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, राज्य इसे व्यक्ति से कभी छीन नहीं सकता है।	वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की ओर से व्यक्ति को दी जाने वाली भेंट है।

हॉब्स	लॉक	रूसो
के अधिकार का उपहार दिया। वह इसे अपनी इच्छा से छीन सकता है।		
९. व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध—राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार व्यक्ति को सब अधिकार, शान्ति, व्यवस्था और सुशासन राज्य से प्राप्त होता है, अतः उसका प्रधान कर्त्तव्य पूर्ण प्रभुतासम्पन्न, निरंकुश राज्य के आदेशों का आँख मूँद कर पालन करना है। राज्य उसके सब अधिकारों को छीन सकता है, किन्तु उसे प्राणरक्षा या गृहयुद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी भी दशा में राज्य के विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है।	व्यक्ति राज्य से ऊँचा है, राज्य का जन्म व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिये हुआ है। राज्य यदि अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो प्रजा को उसके विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का तथा शासन को बदलने का पूरा अधिकार है।	राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है, उसे समानता, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के अधिकार राज्य से प्राप्त होते हैं। राज्य के आधीन होता हुआ भी व्यक्ति स्वाधीन और स्वतन्त्र है क्योंकि राज्य द्वारा उस पर लगाये गये बन्धन उसने स्वयमेव सामान्य हित की दृष्टि से अपनी वास्तविक इच्छा से लगाये हैं, उसकी यह इच्छा सर्वोच्च प्रभुत्व रखने वाली सामान्य इच्छा का अंग है, अतः स्वयमेव अपने पर लगाये ये बन्धन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं हैं। सामान्य इच्छा सर्वोच्च प्रभु है, वह जब चाहे सामान्य हित की दृष्टि से क्रान्ति कर सकती है। सामान्य इच्छा को रखने वाली जनता को क्रान्ति करने का अधिकार है।

अठारहवाँ अध्याय

मांतेस्क्यू (१६८९-१७५५ ई०)

जीवन तथा कृतियाँ—१८वीं शताब्दी के सबसे बड़े फ्रेंच राजनीतिक विचारक तथा इसी शती के सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ग्रन्थ - **कानूनों की भावना** (Expret des Lois) का प्रणयन करने वाले मांतेस्क्यू का जन्म फ्रेंच राज्यक्रान्ति से ठीक सौ वर्ष पहले बोर्दो के निकट एक सम्पन्न कुलीन परिवार में ला ब्रेदे (La Brede) की ज़मीन्दारी में हुआ। उसका अपना निजी नाम शार्ल लुई (Charles Louis de Secondat) था। १७१४ ई० में कानून की उच्च शिक्षा ग्रहण करने पर वह वकील (Counselor) बना, अगले ही वर्ष एक विशाल जायदाद की उत्तराधिकारिणी स्त्री से उसका विवाह हुआ तथा १७१६ ई० में उसके ताया ने मरते समय अपनी विशाल सम्पत्ति तथा बोर्दो के न्यायालय (Parlement) की अध्यक्षता का पद शार्ल को इस शर्त्त पर विरासत में दिया कि वह उसके वंश की मांतेस्क्यू के लार्ड की उपाधि धारण करेगा। शार्ल को इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी। उसने मांतेस्क्यू का नाम और जागीर लेते हुए बोर्दो के प्रधान न्यायाधीश के पद पर १२ वर्ष तक बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य किया।

लक्ष्मी का कृपापात्र बनने पर मांतेस्क्यू ने सरस्वती की आराधना का भी संकल्प किया। १७२१ ई० में उसने अपनी पहली पुस्तक **ईरानी पत्र** (Persian Letters) प्रकाशित किये। फ्रांस की यात्रा करने वाले दो ईरानियों द्वारा स्वदेश में बन्धुओं को लिखे गये कल्पित पत्रों के बहाने से इनमें मांतेस्क्यू ने तत्कालीन राजनीति, धर्म, समाज और राजतन्त्र के दोषों तथा मूर्खताओं पर बहुत बढ़िया तथा प्रभावशाली व्यंग्य कसे हैं। इनके प्रकाशित होते ही फ्रांस में हलचल मच गई, इनके कई संस्करण छपे। इन पर यद्यपि जानबूझ कर लेखक का नाम नहीं दिया गया था, किन्तु सब को यह विदित था कि यह मांतेस्क्यू की कृति हैं और इनसे उसे अपूर्व साहित्यिक ख्याति मिली। अब मांतेस्क्यू को सरस्वती तथा साहित्य साधना का आकर्षण इतना प्रबल प्रतीत हुआ कि न्यायाधीश का कार्य दूभर प्रतीत होने लगा। वह अपने इस पद को बेचकर साहित्य-सेवा के लिए पेरिस चला गया।

१७२८ ई० में उसने योरोप के विभिन्न देशों आस्ट्रिया, हंगरी, इटली, जर्मनी, इंगलैण्ड की यात्रा की। इन देशों में उसने राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों का गम्भीर अनुशीलन किया। उसका कहना था कि "जर्मनी की यात्रा करनी चाहिए, इटली में थोड़े दिन के लिए पड़ाव (Sojourn) डालना चाहिए, इंगलैण्ड में सोचना चाहिए और फ्रांस में रहना चाहिए।" 'इंगलैण्ड में सोचने के लिए' वह १८ महीने रहा, उसने वहाँ के प्रमुख राजनीतिज्ञों और विद्वानों से परिचय प्राप्त किया,

ग्रेट ब्रिटेन की राजनीतिक संस्थाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया। वह ब्रिटिश संस्थाओं के प्रति अगाध भक्ति और प्रशंसा के भाव लेकर स्वदेश वापिस लौटा और उसने अपना शेष जीवन अपनी ज़मीन्दारी ला ब्रेदे में स्वाध्याय एवं ग्रन्थ लेखन में बिताया। १७३४ ई० में उसका दूसरा ग्रन्थ 'रोमन लोगों की महानता और पतन के कारणों पर विचार' तथा १७४५ ई० में तीसरा ग्रन्थ 'सुल्ला और एक्रेटीज़ का संवाद' (Dialogue of

मांतेस्क्यू

Sulla and Ecrates) छपा, १७४८ में १९ वर्ष के घोर परिश्रम से प्रणीत **कानून की भावना** (The Spirit of Law) प्रकाशित हुआ।[1] यह इतना लोकप्रिय हुआ कि २ वर्ष में इसके २२ संस्करण छपे और योरोप की विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। यह उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसने मांतेस्क्यू का नाम अमर कर दिया। प्लासी के युद्ध से दो वर्ष पहले १७५५ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

अध्ययन पद्धति—मांतेस्क्यू के ग्रन्थ की अभूतपूर्व सफलता का एक प्रधान कारण उसका अपने समकालीन लेखकों से सर्वथा भिन्न अनुभूतिमूलक (Empirical) दृष्टिकोण तथा निरीक्षण (Observation) पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) को अपनाना था। उस समय ऐसे दार्शनिकों का बोलबाला था, जो अपनी बुद्धि और तर्क द्वारा प्रकृति के निरीक्षण से कुछ कल्पनायें और विचार बना लेते थे और इनके आधार पर, न कि ऐतिहासिक घटनाओं के पर्य-वेक्षण की नींव पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया करते थे। सामाजिक सविदा या अनुबन्ध (Social Contract) का सिद्धान्त इसका सुन्दर उदाहरण है। हॉब्स और लॉक ने प्राकृतिक दशा (State of Nature) के संबंध में कुछ कल्पनायें कीं, इनको अपनी बुद्धि और तर्क से पुष्ट किया। प्लेटो के समय से सामान्य से विशेष की ओर जाने की (A priori) निगमनात्मक (Deductive) पद्धति द्वारा ज्ञान सम्पादन की प्रणाली प्रचलित थी (देखिये ऊपर पृ० १५२)। किन्तु मांतेस्क्यू ने अपने समय के प्रवाह के प्रतिकूल अरस्तू का अनुसरण करते हुए प्राचीन एवं समकालीन मानव समाज के इतिहास के अध्ययन और अनुभव को आधार बनाया और इस पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रासाद का निर्माण किया। अरस्तू की लुप्त पद्धति को पुनरुज्जीवित करने की दृष्टि से उसे **अठारहवीं सदी का अरस्तू** कहा जाता है।

डनिंग के शब्दों में राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए "मांतेस्क्यू की पद्धति अरस्तू की है, प्लेटो, बोदैं, हॉब्स या लॉक की नहीं है। अपने समय के सब विचारकों की भाँति वह अपने न्याय के विचार की कसौटी के लिए प्रकृति की ओर देखता है। किन्तु उसकी प्रकृति की शिक्षायें (नियम) विशुद्ध तर्क की अमूर्त्त कल्पनाओं पर आधारित नहीं हैं, किन्तु ये वर्त्तमान और अतीत जीवन के ठोस तथ्यों पर अवलम्बित हैं।"[2] उसने सामाजिक घटनाओं की तथा इन्हें संचालित करने वाले नियमों की खोज इतिहास के निरीक्षण और पर्यवेक्षण के आधार पर की है। उसके राजनीतिक दर्शन की सामान्य पद्धति का निर्माण करने वाले मूलतत्त्व दो स्रोतों से ग्रहण किये गये हैं। **पहला** स्रोत रोमन इतिहास है, जिस पर उसने १७४५ में एक पुस्तक भी लिखी थी। **दूसरा** स्रोत इंगलैण्ड की समकालीन राजनीतिक संस्थायें हैं। इन संस्थाओं के विशेष अध्ययन और अनुभवों से उसने आगमनात्मक या उद्गमनात्मक (Inductive) प्रणाली की ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) से अपने राजनीतिक निष्कर्ष निकाले हैं।

मांतेस्क्यू के मतानुसार विभिन्न देशों की मानवीय संस्थाओं, रीति-रिवाजों

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ३०६।
२. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० ३९५।

और कानूनों में जलवायु और भूमि की भौगोलिक तथा भौतिक एवं सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण बहुत भेद पाया जाता है। ये संस्थायें या कानून एकदम किसी दैवी स्रोत से प्रादुर्भूत नहीं होतीं, किन्तु पेड़-पौधों की भाँति इनका अनुकूल परिस्थितियों में शनैः-शनैः विकास होता है। जिस प्रकार एक वनस्पतिशास्त्री किसी पेड़ की विभिन्न परिस्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन करके इसके जीवन और विकास के लिए आवश्यक नियमों का निर्धारण करता है, वैसे ही राजनीतिशास्त्र का उसकी समूची परिस्थितियों में, सम्पूर्ण मानवीय संबंधों के साथ अध्ययन किया जाना चाहिए। राजनीतिशास्त्र का तात्पर्य केवल मनुष्यों में पाये जाने वाले राज्य के संगठन का अनुशीलन मात्र नहीं है, किन्तु इसमें मनुष्य से संबंध रखने वाले सभी विषयों—धर्म, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि विज्ञानों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। आजकल जिन विज्ञानों का समावेश समाजशास्त्र में किया जाता है, मांतेस्क्यू ने इनको राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत समझा था। इन सब के विस्तृत और गंभीर अध्ययन के आधार पर राजनीतिशास्त्र के नियमों का प्रतिपादन होना चाहिए।

मांतेस्क्यू से पहले इस ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण अरस्तू (पृ० १५२, १८७–९०), मेकियावेली (पृ० ३५४) और बोदें ने (पृ० ३९०) किया था। किन्तु उसने इस पद्धति का प्रतिपादन इन सब पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से किया है, क्योंकि इन तीनों की दृष्टि योरोप के सभ्य राज्यों तक सीमित थी, इन्होंने केवल इनके इतिहास के आधार पर कुछ नियम बनाये और परिणाम निकाले थे। किन्तु मांतेस्क्यू ने अमरीका के महाद्वीप की खोज के बाद प्रकाश में आने वाली वहाँ की बर्बर और जंगली तथा एशिया की विभिन्न जातियों के रीति-रिवाजों और परम्पराओं का अध्ययन और मनन करके इनके आधार पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया। वह प्रायः चीन, जापान, अफ्रीका, दक्षिणी महासागर के टापुओं में रहने वाली जातियों की तथा तातारों की परम्पराओं के उदाहरण देता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसके बहुत-से तथ्य अपुष्ट, अप्रामाणिक, कपोल कल्पित हैं, फिर भी उसे यह श्रेय प्राप्त है कि उसने ऐतिहासिक पद्धति के लिए निरीक्षण और पर्यवेक्षण के क्षेत्र को योरोप तक सीमित न रखकर विश्वव्यापी बनाया।[1] यह पद्धति ही राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन है। जोन्स के शब्दों में मांतेस्क्यू का विशेष महत्त्व राजनीतिक सिद्धान्तों में नई देन के कारण इतना नहीं है, जितना राजनीतिक और सामाजिक अध्ययन की पद्धति के शास्त्र (Methodology) का विकास करने में है।[2]

कानून का स्वरूप—मांतेस्क्यू से पहले कानून के स्वरूप के संबंध में विभिन्न प्रकार की धारणायें प्रचलित थीं। एक ओर कुछ विचारक इसे विवेक-बुद्धि का आदेश (Dictate of Reason) समझते थे, दूसरी ओर इसे प्रभुत्वसम्पन्न उत्कृष्ट सत्ता की आज्ञा (Command of a Superior) माना जाता था। किन्तु मांतेस्क्यू ने इन दोनों मतों से असहमति प्रकट करते हुए कानून का एक निराला ही लक्षण किया। उसके मतानुसार कानून अपने विस्तृत अर्थ में 'वस्तुओं की प्रकृति या स्वरूप से उत्पन्न होने वाले

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३०-३१।
२. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खं० २, पृ० २१८।

आवश्यक संबंध हैं।"[1] उसका यह लक्षण बहुत व्यापक है और विश्व की समग्र जड़ चेतन वस्तुओं के संबंध में है। इसके अनुसार इस जगत् में प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तु से किसी-न-किसी प्रकार का कोई संबंध है। यही उसका नियम या कानून है। उदाहरणार्थ, आग और कागज का एक निश्चित संबंध है, जब कागज आग के साथ सम्बन्ध में आयेगा, तो वह जलेगा। अतः आग का नियम जलाना है। भारतीय दर्शन की परिभाषा में अग्नि का धर्म दाहकत्व है। मांतेस्क्यू यह मानता है कि प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म, कानून और नियम होता है। भगवान् के भौतिक जगत् के, पशुओं के, मनुष्यों के दूसरी वस्तुओं के साथ संबंध के अपने नियम और धर्म हैं। जड़ जगत् के नियम शाश्वत, सार्वभौम, सत्य, सनातन, अविकारी और अपरिवर्त्तनशील हैं। अग्नि सदैव वस्तुओं को जलायेगी, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति सब वस्तुओं को हमेशा अपनी ओर आकृष्ट करेगी। किन्तु मनुष्य संबंधी नियम शाश्वत और सार्वभौम नहीं होते क्योंकि मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा और कर्त्तृत्वशक्ति है, वह अज्ञानी है, काम-क्रोध-मोहादि की भावनाओं का दास बनता है। भगवान् के प्रति अपने संबंधों को भूल जाता है, अतः उसे इनका स्मरण कराने के लिए धर्म के नियम या कानून (Laws of Religion) हैं। वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है, इसकी याद कराने के लिए दर्शनशास्त्र नैतिकता की विधियाँ (Laws of Morality) बताता है। समाज में रहते हुए व्यक्ति अपने पड़ोसियों के साथ संबंधों को भुला सकता है, उसे इस विषय में अपने कर्त्तव्य का ज्ञान कराने के लिए राजनीतिक (Political) और दीवानी (Civil) कानून होते हैं। राजनीतिक कानून मनुष्य के राज्य के साथ तथा दीवानी कानून एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के साथ संबंधों को निर्धारित करते हैं।

किन्तु इन सब नियमों के बनने से पहले मनुष्य प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) से अनुशासित होता था। प्रकृति का पहला नियम आत्म-संरक्षण, शान्ति और सुरक्षा की आकांक्षा है। प्राकृतिक मानव को मांतेस्क्यू ने हॉब्स और लॉक की भाँति बुद्धिमान् प्राणी न मानते हुए, अत्यन्त भीरु, आत्मरक्षा की भावना से संकटों से बचने के लिए सुरक्षित स्थान और खाद्य सामग्री को ढूंढ़ने वाला स्वीकार किया। वह दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाता है। इस प्रकार समाज में युद्ध की स्थिति उत्पन्न होती है और इस अवस्था में तीन प्रकार के भावात्मक कानून (Positive Laws) बनते हैं—(क) विभिन्न वर्गों, जनताओं, जातियों और राज्यों के संबंधों को नियन्त्रित करने वाले नियम। ये राष्ट्रों के कानून (Law of Nations) का मूल होते हैं। (ख) शासक और शासितों के संबंधों को अनुशासित करने वाले नियमों से राजनीतिक कानून (Political Law, Le droit politique) का प्रादुर्भाव होता है। (ग) एक राज्य में नागरिकों के एक-दूसरे के साथ सबंध निर्धारित करने वाले नियम दीवानी कानून (Civil Law) की सृष्टि करते हैं।

इन तीन में से पहला राष्ट्रों का कानून सब देशों और समाजों के लिए एक-सा होता है। किन्तु राजनीतिक और दीवानी कानून सब देशों में वहाँ की विशिष्ट परि-स्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। मांतेस्क्यू के मत में कोई कानून या

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६५।

नियम तथा शासन-प्रणाली ऐकान्तिक रूप से सब देशों या जातियों के लिए सर्वोत्तम नहीं होती। प्रत्येक देश की परिस्थितियों के अनुसार बुद्धि द्वारा बनने वाले नियम ही उसके लिए स्वाभाविक हैं। प्रत्येक देश की भौगोलिक, प्राकृतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के साथ उस देश के कानूनों का गहरा संबंध होता है। फिर इन कानूनों में एक का दूसरे के साथ संबंध होता है। इन सब विभिन्न संबंधों की समष्टि या समग्र रूप को ही मांतेस्क्यू '**कानून की भावना**' का नाम देता है, इसी का प्रतिपादन उसका प्रधान लक्ष्य है और इसीलिए उसने अपने ग्रंथ को भी यही नाम दिया है।

शासन के प्रकार—मांतेस्क्यू ने विभिन्न शासन-प्रणालियों को कुछ मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर पहले निरंकुश (Despotic), राजतन्त्रीय (Monarchic), तथा गणराज्य (Republican) नाम के तीन वर्गों में बाँटा है और इसके बाद गण-राज्य के दो अवान्तर भेद लोकतन्त्र (Democracy) तथा कुलीनतन्त्र (Aristocracy) किये हैं। इस वर्गीकरण का आधार इनका स्वरूप और संगठन है। निरंकुश शासन में एक व्यक्ति कानून के बिना तथा राजतन्त्र में कानून के अनुसार शासन करता है। गण-राज्य में राजनीतिक शक्ति जनता में निहित होती है, जब यह समूची जनता में हो तो लोकतन्त्र होता है तथा कुछ व्यक्तियों के अल्पसंख्यक वर्ग में होने पर शासन कुलीनतन्त्र कहलाता है। यहाँ तक तो इस वर्गीकरण का मौलिक तत्त्व शासन की सर्वोच्च सत्ता रखने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर है और यह अरस्तू (पृ० १७८-६) के वर्गीकरण से मिलता है।

किन्तु इसके साथ ही मांतेस्क्यू इसका आधार इनके 'स्वरूप' (Nature) में पाये जाने वाले सिद्धान्त (Principle) की भिन्नता समझता है। स्वरूप से उसका तात्पर्य इनकी बनावट से तथा सिद्धान्त से उन मानवीय भावनाओं से है, जिनके कारण कोई पद्धति क्रियाशील होती है। उदाहरणार्थ, गणराज्य का सिद्धान्त अथवा इसे सक्रिय बनाने वाली भावना अर्थात् सद्गुण (Virtue) देशप्रेम और समानता का भाव है। प्रजातन्त्र में यह भाव अपने विशुद्ध रूप में होता है, किन्तु कुलीनतन्त्र में यह संयम (Moderation) का रूप धारण कर लेता है, इसमें शासक एक-दूसरे के प्रति तथा अपने से हीन जनता के प्रति शासन में संयत व्यवहार के नियम का पालन करते हैं। राजतन्त्र का सिद्धान्त सम्मान है, इसमें राजा तथा उच्च शासक वर्ग को उच्चतम प्रतिष्ठा, विशेषाधिकार और पद दिए जाते हैं, इनसे प्रेरित होकर शासक अपनी योग्यता से राज्य को वैसे ही संचालित करते हैं, जैसे समानता की भावना से अनुप्राणित होकर प्रजातन्त्र का संचालन होता है। निरंकुश शासन का प्रेरक तत्त्व भय का भाव होता है, राजा के प्रचण्ड कोप और शक्ति द्वारा राज्य का संचालन होता है।

प्रत्येक शासन-प्रणाली के विशिष्ट कानून और संस्थायें होती हैं। गणराज्य के कानून समानता के सिद्धान्त को बनाये रखते हैं, मताधिकार तथा निर्वाचन के विभिन्न नियमों का निर्धारण करते हैं। राजतन्त्र में कानूनों का उद्देश्य उच्च कुलीन वर्ग की सत्ता और प्रभुता को बनाये रखना होता है, क्योंकि उसका मूल मन्त्र है—"जहाँ राजतन्त्र नहीं है वहाँ कुलीन वर्ग नहीं है; जहाँ कुलीन वर्ग नहीं है, वहाँ राजतन्त्र नहीं है (No

Monarchy, no Nobility, no Nobility, no Monarchy)।" निरंकुश शासन (Despotism) की विशेष संस्था वज़ीर या मन्त्री होता है।

मांतेस्क्यू किसी भी शासन-प्रणाली को निरपेक्ष रूप से (Absolutely) सर्वोत्तम या आदर्श नहीं मानता था। वह सापेक्षतावाद (Relativity) का उपासक था। विशेष परिस्थितियों में तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली प्रणाली ही सर्वोत्तम होती है और इनके बदल जाने पर वह निष्प्रभाव और महत्त्वहीन हो जाती है। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र की मौलिक भावना समानता है, यदि यह लुप्त हो जाय तो इसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। कुलीनतन्त्र का प्राण संयम (Moderation) का तत्त्व है, यदि शासक वर्ग इसका पालन न करे तो इस शासन-प्रणाली का अन्त निश्चित है। शासकों में सम्मान की भावना निर्बल हो जाने पर राजतन्त्र का चलाना असंभव हो जाता है। यूनानी विचारकों की भाँति (देखिये पृ० ५७-८) मांतेस्क्यू विभिन्न शासन-प्रणालियों के परिवर्त्तन-चक्र के नियम में विश्वास नहीं रखता।

शासन-प्रणाली का धर्म और राज्य के आकार के साथ विशिष्ट संबंध— मांतेस्क्यू के मतानुसार विभिन्न धर्मों का विशेष प्रकार की शासन-प्रणालियों के साथ गहरा संबंध है। प्रजातन्त्र और प्रोटेस्टेंट धर्म, राजतन्त्र और रोमन कैथोलिक धर्म, निरंकुश राजशासन और इस्लाम घनिष्ठ रूप में संबद्ध हैं, एक-दूसरे के लिए उपयोगी तथा आवश्यक हैं। राज्य के आकार के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। छोटा आकार गणराज्य के लिए, बीच का आकार राजतन्त्र के लिए तथा विशाल साम्राज्य निरंकुश शासन के लिए सर्वथा उपयुक्त होता है। आकार में परिवर्त्तन आने के साथ शासन-प्रणाली में परिवर्त्तन आना सर्वथा स्वाभाविक है। जब लघुराज्य का आकार बड़ा हो जाता है तो वह गणराज्य के लिए नहीं, किन्तु राजतन्त्र के लिए उपयुक्त होता है। मांतेस्क्यू के समय का फ्रांस इसी प्रकार का था। किन्तु निरंकुश शासन को निकृष्ट समझने के कारण मांतेस्क्यू मेकियावेली की भाँति राज्यों के प्रादेशिक विस्तार (पृ० ३६०) का पक्षपाती नहीं था, क्योंकि इससे निरंकुश शासन को प्रोत्साहन मिलता था। छोटे राज्यों के बड़े राज्यों द्वारा हड़पे जाने को रोकने के लिए उसने संघ (Federation) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। ग्रेट ब्रिटेन से स्वतन्त्र होने वाले अमरीकी राज्यों पर मांतेस्क्यू के इस विचार का प्रभाव पड़ा और उन्होंने संघीय शासन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उसकी दृष्टि में इसका एक बड़ा लाभ यह था कि इसमें केन्द्र एवं राज्यों में अधिकारों और शक्ति का विभाजन होने के कारण राज्यों की स्वतन्त्रता बनी रहती थी और यह उनके मत में बहुत महत्त्वपूर्ण लाभ था।

स्वतंत्रता का विचार (Concept of Liberty)— इसे डनिंग के मतानुसार, मांतेस्क्यू के सिद्धान्त में संभवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए।[1] व्यापकतम अर्थ में इसकी परिभाषा करते हुए उसका कहना है कि यह व्यक्ति का ऐसा विश्वास है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर रहा है। स्वतन्त्रता के दो भेद हैं —राजनीतिक (Political) और नागरिक या दीवानी (Civil)। राजनीतिक

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४०९-१०।

स्वतन्त्रता राज्य के कानून द्वारा अनुमति दिये जाने वाले किसी भी कार्य को करने की स्वाधीनता है। यदि कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है तो वह स्वतंत्र नहीं रह सकता, क्योंकि यदि सभी ऐसा कार्य करने लगेंगे तो किसी की भी स्वतंत्रता नहीं रहेगी। अतः स्वतन्त्रता का अर्थ कानून की मर्यादा में रहते हुए कोई भी काम कर सकने की आज़ादी है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ कोई व्यक्ति या व्यक्तिसमूह कानून से ऊपर उठकर मनमानी करने का अधिकार रखता है, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। यही कारण है कि निरंकुशवाद में एक वैयक्तिक शासक की मनमानी इच्छा का साम्राज्य होने से व्यक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता से वंचित हो जाते हैं। मांतेस्क्यू के मत में नागरिक (Civil) स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ संबंध का परिणाम है, इसका दासता के साथ वही संबंध है, जो निरंकुशवाद का राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ है। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दास बना लेता है तो उसकी नागरिक स्वाधीनता का अन्त हो जाता है। मांतेस्क्यू नागरिक स्वाधीनता को महत्त्व देते हुए दासता की प्रथा का प्रबल विरोध करता है। वह इसे अमानवीय तथा अप्राकृतिक और ईसाइयत-विरोधी समझता है। पर उसका मुख्य उद्देश्य शासन की ऐसी व्यवस्था करना है जिसमें सबको राजनीतिक स्वतन्त्रता उपलब्ध हो। ऐतिहासिक दृष्टि से वह योरोप में इसका श्रीगणेश करने का श्रेय गाथ जाति को देता है। शासन में राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए शक्तियों के पार्थक्य का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।

शक्तिपार्थक्य (Separation of Powers) **का सिद्धान्त**—मांतेस्क्यू का यह विचार है कि व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता वहीं पर मिल सकती है, जहाँ शासन अथवा सरकार के तीन अंग या शक्तियाँ—कार्यपालिका (Executive), विधानपालिका (Legislative) तथा न्यायपालिका (Judicial) कानून के नियन्त्रण में हों। यह तभी हो सकता है, जब ये तीनों शक्तियाँ सर्वथा पृथक् रखी जायं। "यदि विधानपालिका या व्यवस्थापिका की शक्ति कार्यपालिका की शक्ति के साथ संयुक्त होकर एक व्यक्ति के या अधिकारीसमूह के हाथ में आ जाती है तो कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती और यदि न्याय करने की शक्ति को विधानपालिका और कार्यपालिका की शक्तियों से पृथक् न किया गया तो भी कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। यदि वही व्यक्ति चाहे वे कुलीन वर्ग के हों या जनता हो —कानून बनाने, सार्वजनिक प्रस्तावों के क्रियान्वित करने तथा व्यक्तियों के मुकद्दमे सुनने के तीनों कार्य करेंगे तो (स्वाधीनता) का अन्त हो जायगा।"। शासन की तीनों शक्तियों के पृथक् कर देने से सरकारी अधिकारियों की निरंकुशता पर प्रबल अंकुश स्थापित हो जाता है और प्रत्येक शक्ति एक-दूसरे के मनमाने कार्यों पर रोक या प्रतिबन्ध (Check) लगा देती है, सत्ता किसी एक व्यक्ति या संस्था में केन्द्रित नहीं हो पाती, शासन के तीन अगों में संतुलन (Balance) बना रहता है। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्र न्यायपालिका शासक या कार्यपालिका को किसी व्यक्ति को अवैध रूप से पकड़ने नहीं देती, यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार पकड़ा जाता है तो उसके आवेदन पर वह उसे छोड़ने की आज्ञा देती है। इसके साथ ही वह विधानपालिका को कोई ऐसा कानून नहीं बनाने देती, जो राज्य के मौलिक नियमों के प्रतिकूल हो। इस प्रकार जब शासन के तीनों अंग एक-दूसरे पर प्रतिबन्ध और संतुलन (Checks and Balances) स्थापित करते हैं तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित हो जाती है।

मांतेस्क्यू का यह विचार था कि ऐसी व्यवस्था केवल इंगलैण्ड में पायी जाती है, अतः वहाँ व्यक्ति को सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसने अपने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में लॉक का अनुसरण किया और ब्रिटिश संस्थाओं की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है।[1] किन्तु उसका यह विचार ठीक नहीं था कि ग्रेट ब्रिटेन में शक्तिपार्थक्य के सिद्धान्त का पालन पूर्ण रूप से होता है क्योंकि वहाँ कार्यपालिका के रूप में कैबिनेट तथा मंत्रिमण्डल शासन-संचालन और विधान-निर्माण के दोनों कार्य करता है, लार्ड सभा कानून के बनाने और न्याय करने के दोनों कार्य करती है। फिर भी मांतेस्क्यू का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि राज्य की तीनों शक्तियाँ सर्वथा पृथक् रहनी चाहियें, इनका एक व्यक्ति या संस्था में केन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए बहुत घातक सिद्ध होता है। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में शक्तिपार्थक्य का सिद्धान्त मांतेस्क्यू की बहुत बड़ी देन है और इसने संयुक्त राज्य अमरीका के संघीय तथा राज्यों के संविधान-निर्माताओं पर गहरा प्रभाव डाला। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय तैयार किये गये मानवीय अधिकारों के घोषणापत्र में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव—बोदें की भाँति मांतेस्क्यू का यह विश्वास था कि किसी देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संस्थायें भौतिक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित होती हैं।[2] इन परिस्थितियों में जलवायु बहुत महत्त्वपूर्ण है। गर्मी मनुष्यों में संन्यास (Monasticism) तथा आलस्य की भावना उत्पन्न करती है। ठंड से पौरुष, क्रियाशीलता और मद्यपान की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। शीत-प्रधान देशों के व्यक्ति बड़े चंचल और चिड़चिड़े (Irritable) होते हैं। जलवायु के अनुसार मनुष्यों की आवश्यकतायें और जीवन पद्धतियाँ बदल जाती हैं, अतः उनके कानूनों और संस्थाओं में भी अन्तर आ जाता है। मांतेस्क्यू के मतानुसार ब्रिटिश संविधान वहाँ के जलवायु और लन्दन के कुहरे का परिणाम है। स्वतन्त्रता और जलवायु में गहरा संबंध है। इंगलैण्ड की ठंड ऐसी है कि वह व्यक्ति को चिड़चिड़ा बना देती है और वह निरंकुश शासन को सहन नहीं कर सकता।[3] गर्म जलवायु एशिया के देशों में निरंकुश राजाओं की संस्था को पुष्ट करता है, योरोप का शीत जलवायु यहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता, शक्ति और आत्मनिर्भरता की भावनाओं को जन्म देता है। भूतल की रचना भी राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रभावित करती है। पहाड़ों में खेती तथा विजय करना कठिन होता है, अतः यहाँ लोग स्वतन्त्रता के प्रेमी तथा पुरुषार्थी होते हैं। मैदानों को विजय करना आसान होता है, अतः यहाँ निरंकुश शासन स्थापित होते हैं। महाद्वीपों के निवासियों की अपेक्षा द्वीपवासियों में लोकतन्त्र की भावना अधिक होती है। महाद्वीपों में आक्रमणों का भय सदैव बना रहता है, अतः यहाँ निरंकुश शासन स्थापित हो जाते हैं। पहले (पृ० ४६१) यह बताया जा चुका है कि उसके मत में राज्य के आकार का शासन-प्रणाली के साथ गहरा संबंध है। प्रजातन्त्र और वैधानिक शासन छोटे राज्यों में ही संभव है। विशाल प्रदेश वाले राज्यों का शासन निरंकुश राजाओं द्वारा ही संभव है।

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४१२।

२. मांतेस्क्यू—स्पिरिट ऑफ लाज, पुस्तक १४, अध्याय २।

३. वही पुस्तक, १४, अध्याय १३।

धर्म के संबंध में मांतेस्क्यू उदारता और सहिष्णुता की नीति का पक्षपाती तथा धार्मिक अत्याचारों का विरोधी था। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की भिक्षु-प्रणाली का तथा पादरियों द्वारा शादी न करने के नियम का वह कटु आलोचक है। वह फ्रांस के चर्च में पोप की सत्ता को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करना चाहता था। मेकियावेली की भाँति वह चर्च को राज्य का एक अंग और विभाग बनाने का समर्थन करता था।

मांतेस्क्यू का समकालीन राजनीतिक विचारधारा से पृथक् होना— डनिंग ने लिखा है कि १६वीं शताब्दी के आरम्भ में मेकियावेली की भाँति, मांतेस्क्यू १८वीं सदी के मध्य में राजनीतिक सिद्धान्तों की सामान्य विचारधारा से थोड़ा-बहुत अलग खड़ा है।[1] यह उक्ति कई कारणों से सर्वथा सत्य प्रतीत होती है: (क) मांतेस्क्यू राजनीति-शास्त्र के अध्ययन को विधिशास्त्र (Jurisprudence), अर्थशास्त्र और सामान्य सामाजिक शास्त्र के साथ मिलाना चाहता था, किन्तु उसके समकालीन तथा परवर्त्ती विचारक इसके सर्वथा विपरीत राजनीतिशास्त्र को अन्य शास्त्रों से सर्वथा पृथक् करना चाहते थे। (ख) मांतेस्क्यू राजनीतिक सिद्धान्तों और सचाइयों को जानने के लिए ऐतिहासिक पद्धति पर और विभिन्न जातियों के रीति-रिवाजों के निरीक्षण पर बल देता था, विशेष घटनाओं के आधार पर सामान्य नियम बनाने की निगमनात्मक (Inductive) पद्धति का अनुयायी तथा अनुभूतिवादी (Empiricist) था। अन्य विचारक बुद्धिवादी होने के कारण पहले कुछ सर्वमान्य, सार्वभौम, सामान्य सिद्धान्तों की कल्पना कर लेते थे और पुनः इसके आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त बनाते हुए निगमनात्मक (deductive) पद्धति का अनुसरण करते थे। उदाहरणार्थ, हॉब्स और लॉक ने बुद्धिवादी तर्कों द्वारा एक प्राकृतिक दशा (State of Nature) की तथा इसका अन्त करने वाले तथा राज्य को उत्पन्न करने वाले सामाजिक अनुबन्ध या संविदा (Social Contract) की कल्पना की। किन्तु मांतेस्क्यू राज्य को व्यक्तियों के समझौते का परिणाम नहीं समझता था, वह इसे परिस्थितियों का फल मानता था। प्रकृति के नियमों ने मनुष्य को यह सिखाया कि समाज में शान्तिपूर्वक निवास करना उसके लिए हितकर और उपयोगी है, अतः उसने राज्य को बनाया। (ग) समकालीन विचार-धारा से उसका तीसरा अन्तर गैटिल के शब्दों में यह है कि उसका उद्देश्य फ्रेंच राजतन्त्र का सुधार करना था, न कि वाल्तेयर और रूसो की भाँति उस पर प्रबल आक्षेप करना।[2] उसने न्याय, स्वतन्त्रता और राज्य की कार्यक्षमता के व्यावहारिक प्रश्नों पर अधिक विचार किया, जबकि उस समय के अन्य विचारक नागरिकों के अधिकारों पर तथा राजा के विशेषाधिकारों पर अधिक बल दे रहे थे। मांतेस्क्यू ने लॉक तथा अन्य विचारकों की भाँति मनुष्य के अधिकारों का अथवा प्रभुसत्ता का प्रतिपादन नहीं किया। वह फ्रेंच भावना और फ्रेंच राजतन्त्र को सुरक्षित बनाना चाहता था। उसने इसके लिए तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रखने के लिए शक्तिपार्थक्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। समकालीन विचारधारा से पृथक् होने के कारण उसके ग्रन्थ का तत्कालीन राज-नीति पर वैसा गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा 'कानून की भावना' (Spirit of Laws) के

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३३।
२. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० २५२।

प्रकाशन के १४ वर्ष बाद छपने वाले रूसो के **सामाजिक अनुबन्ध** (Social Contract) का पड़ा।

मांतेस्क्यू की देन और प्रभाव—राजनीतिशास्त्र के तीन क्षेत्रों में मांतेस्क्यू की विशेष देन है : (१) विषय-वस्तु की दृष्टि से डनिंग के मत में उसकी तुलना प्लेटो, अरस्तू, एक्विनास, बोदें, सुआरेज़ और प्यूफेनडोर्फ से हो सकती है।[1] किन्तु इनमें से कोई भी पूर्ण रूप से उसके तुल्य नहीं है। प्लेटो तथा प्यूफेनडोर्फ द्वारा नैतिक सिद्धान्तों को दी गयी प्रधानता मांतेस्क्यू को स्वीकार नहीं है, एक्विनास और सुआरेज़ की धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रमुखता से भी वह सहमत नहीं है। अरस्तू और बोदें यद्यपि कुछ अंशों में उसके समकक्ष हैं, किन्तु उनका क्षेत्र राज्य के स्वरूप और उत्पत्ति के मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण करना है। मांतेस्क्यू उन सिद्धान्तों का अधिक वर्णन करता है, जो राज्य की समूची गतिविधियों और क्रियाकलापों का मूल प्रेरणा स्रोत हैं तथा उनका स्वरूप निश्चित करते हैं।

(२) उसकी दूसरी देन राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति है। यद्यपि इसका प्रतिपादन उससे पहले अरस्तू (पृ० १८७-८), मेकियावेली (पृ० ३५४) तथा बोदें (पृ० ३९०) ने किया था, किन्तु इसे पूर्णरूप से विकसित करने का तथा इसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत बनाने का श्रेय मांतेस्क्यू को ही है (ऊपर पृ० ४९३)।

(३) उसकी तीसरी बड़ी देन स्वतन्त्रता का और शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त है। इसके साथ ही उसकी एक बड़ी देन यह विचार भी है कि प्रत्येक देश की एक सामान्य भावना (Esprit general) होती है, इसका निर्माण वहाँ की भौतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से होता है, देश के सभी कानून इस भावना के अनुकूल बनाये जाने चाहिएँ। यही उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कानून की भावना' का मूलसूत्र है।

मैक्सी ने मांतेस्क्यू के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि वह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में प्लेटो, अरस्तू, मेकियावेली और बोदें के समान विशिष्ट महत्त्व रखता है।[2] वह यद्यपि १८वीं शती का फ्रेंच था, किन्तु उसके सिद्धान्त और अध्ययन पद्धति सार्वभौम महत्त्व रखती है। यद्यपि उसका प्रभाव १८वीं शताब्दी पर बहुत अधिक नहीं पड़ा, किन्तु फिर भी उसने अमरीकी संविधान पर और फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय बने विधान पर कुछ प्रभाव डाला। १७८९ से १८४८ ई० की सभी क्रान्तियों में नर्म, गर्म और प्रतिक्रियावादी पक्षों के नेता 'कानून की भावना' से प्रेरणा ग्रहण करते रहे। जहाँ एक ओर रूस की सम्राज्ञी कैथेराइन महान् (शासनकाल १७६२–१७९६ ई०) और प्रशिया के राजा फ्रेडरिक महान् (शा० १७४०–८६ ई०) ने अपने निरंकुश शासन के लिए इससे पाथेय ग्रहण किया, वहाँ दूसरी ओर फ्रांस के क्रान्तिकारियों को भी इससे पथ-प्रदर्शन मिला।

मांतेस्क्यू अरस्तू के साथ गहरा सादृश्य रखता है। पहले (पृ० ४८७)

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२८।

२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ३२४।

यह बतया जा चुका है कि अरस्तू की पद्धति का अनुसरण करने से उसे **अठारहवीं शताब्दी का अरस्तू** कहा जाता है। इन दोनों के प्रधान सादृश्य और समानतायें निम्न-लिखित हैं—(क) दोनों निरीक्षण (Observation) पर आधारित अनुभवमूलक (Empirical) पद्धति को अपनाने पर बल देते हैं। (ख) दोनों इस बात को मानते हैं कि भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा जलवायु शासन पद्धति पर प्रभाव डालते हैं, किसी देश की सरकार का स्वरूप वहाँ की भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है (पृ० ४९३)। (ग) दोनों शासन पद्धतियों का वर्गीकरण कानून के आधार पर करते हैं। (घ) अरस्तू को अपने गुरु प्लेटो का आदर्शवाद पसन्द नहीं है (पृ० १५२), मांतेस्क्यू ने अपने समय के जनता की प्रभुसत्ता तथा प्राकृतिक अधिकारों आदि के काल्पनिक सिद्धान्तों का परित्याग किया। (ङ) अरस्तू ने शक्तिपार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त का संकेतमात्र किया था, मांतेस्क्यू ने इसका सुस्पष्ट एवं विशद प्रतिपादन किया। (च) दोनों राजतन्त्र को सर्वोत्तम शासन प्रणाली समझते हैं। इन समानताओं के कारण मांतेस्क्यू **१८वीं शती का अरस्तू** कहलाता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

बर्क (१७२९-१७९६ ई०)

जीवनी तथा रचनायें—विलक्षण साहित्यिक प्रतिभाशाली, अद्भुत प्रभावशाली वक्ता, प्राचीन परम्पराओं और व्यवस्थाओं के लिए संरक्षणवादी (Conservative) और रूढ़िवादी होते हुए भी भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी और हेस्टिंग्ज के कुशासन के विरुद्ध तथा अमरीकी उपनिवेशों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन करने वाले, अन्याय, अनाचार और अनीति के उग्र विरोधी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और विचारक एडमण्ड बर्क का जन्म १२ जनवरी, १७२९ ई० को डबलिन में हुआ। यहाँ के ट्रिनिटी कालेज से १७४८ ई० में स्नातक होने के बाद पिता ने वकालत की शिक्षा के लिए १७५० ई० में बर्क को लन्दन भेजा, किन्तु इसमें उसकी रुचि नहीं थी। वह साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। प्लासी के युद्ध वाले वर्ष—१७५६ ई० में उसके दो निबन्ध A Vindication of Natural Society तथा Philosophical Inquiry into the Origin of our ideas on the Sublime and Beautiful छपे और उसने राजनीतिक तथा आर्थिक घटनाओं का संक्षिप्त वार्षिक विवरण देने वाले Annual Register नामक अब्दकोश का प्रकाशन आरम्भ किया। उस समय ऐसे प्रकाशन की तीव्र आवश्यकता थी, अतः इससे बर्क को आजीविका और साहित्यिक ख्याति की एकसाथ प्राप्ति हुई और वह तत्कालीन राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में आने लगा।

१७५९ ई० में आयर्लैण्ड संबंधी विषयों के मन्त्री विलियम जेरार्ड हेमिल्टन ने बर्क को अपने कार्यकर्तृमण्डल का सदस्य बनाया, वह उसके साथ कई वर्ष डबलिन में रहा और यहां उसे क्रियात्मक राजनीति का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ और उसने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। १७६५ ई० में बर्क प्रधानमंत्री राकिंघम का निजी सचिव बना। यद्यपि वह इस पद पर एक ही वर्ष रहा, किन्तु इससे उसे अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ करने का सुअवसर मिला, मन्त्रिमण्डल की कृपा से वह पार्लियामेंट का सदस्य निर्वाचित हुआ। २७ जनवरी, १७६६ को ब्रिटिश संसद् में अपने पहले भाषण से १७८४ ई० के अन्तिम विदाई भाषण तक वह तत्कालीन ह्विग (उदार) पार्टी का एक प्रसिद्ध नेता बना रहा। १७९४ ई० में अपने पुत्र की मृत्यु तथा अन्य घरेलू दुःखों के कारण उसने पार्लियामेंट की सीट छोड़ दी। अपने जीवन के शेष तीन वर्ष यद्यपि वह राजनीति से संन्यास ग्रहण करके शान्तिपूर्वक बिताना चाहता था, किन्तु फ्रेंच राज्यक्रान्ति की घटनाओं से उत्पन्न विक्षोभ के कारण वह शान्त नहीं बैठ सका और मृत्यु दिवस (८ जुलाई, १७८७) पर्यन्त उसकी लेखनी इस क्रान्ति के विरुद्ध ओजस्वी रचनाओं के प्रणयन में संलग्न रही।

राजनीतिक विचारों की दृष्टि से बर्क के जीवन को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) १७६९ से १७८९ ई० तक का बीस वर्ष का काल-इसमें बर्क ने ह्विग पार्टी की उदार सुधारवादी नीति का अनुसरण करते हुए भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के विषय में तथा अमरीकी उपनिवेशों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति में प्रबल सुधारों की माँग की। उसके इस समय के विचार प्रधान रूप से **वर्त्तमान असन्तोषों के कारणों पर विचार** (Thoughts on the causes of the Present
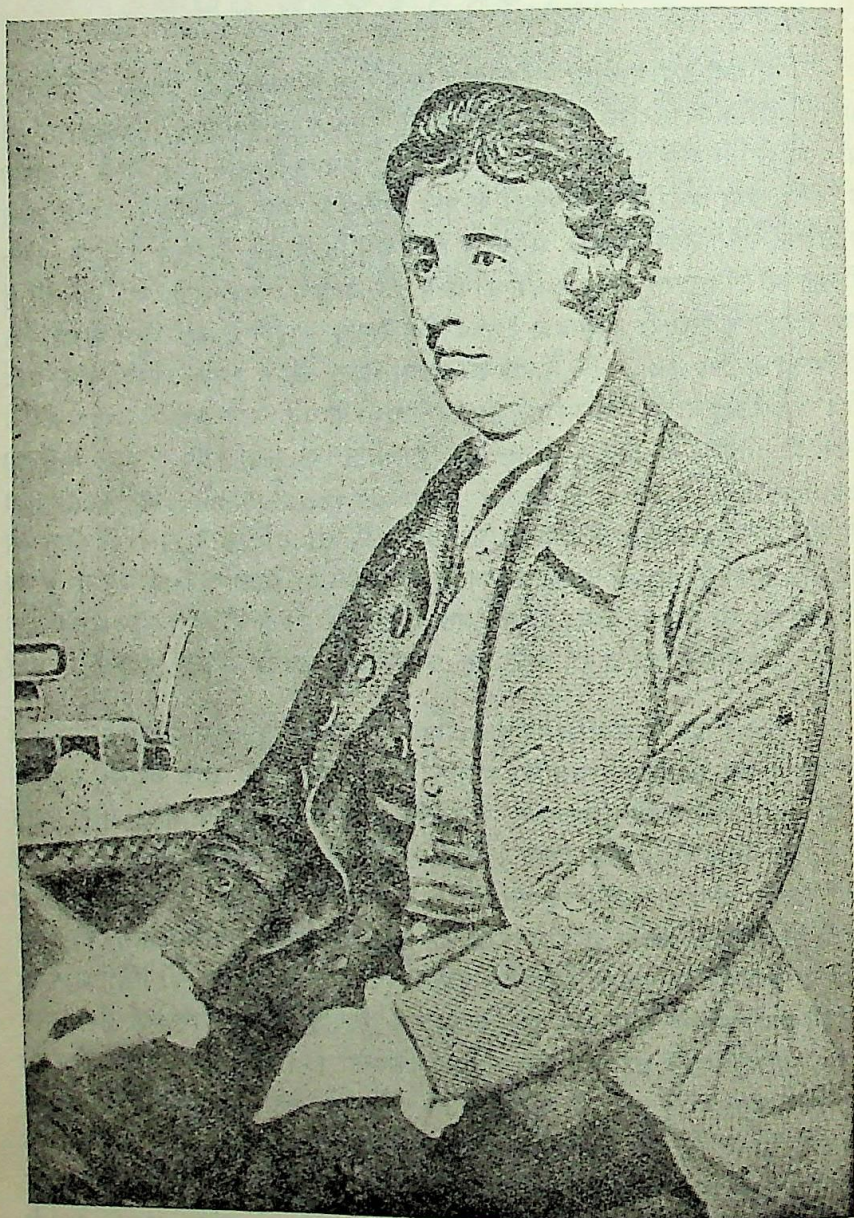
बर्क

Discontents) में मिलते हैं। (२) १७८६ से १७६७ ई० तक का काल—इस समय फ्रेंच राज्यक्रान्ति होने पर वह उसका रौद्र रूप देख कर क्रान्ति का कट्टर विरोधी हो गया। इस समय उसने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **फ्रेंच राज्यक्रान्ति पर विचार** (Reflections on the French Revolution) में पुरानी परम्पराओं और संस्थाओं के संरक्षण (Conservatism) का प्रबल समर्थन किया। उसके विचारों को समझने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—१७६० ई० में जार्ज तृतीय (शासनकाल १७६०–१८११ ई०) के राज्यारोहण के साथ ब्रिटिश राजनीति में नवयुग का श्रीगणेश होता है। १६८८ ई० की गौरवपूर्ण क्रान्ति (देखिये ऊपर पृ० ४३७-८) के बाद से पार्लियामेंट की प्रभुता का सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया था और राजा मंत्रिमण्डल के परामर्श से शासन करते थे। १७६० ई० तक वास्तविक शासनसूत्र उपर्युक्त क्रान्ति की प्रबल समर्थक ह्विग पार्टी के हाथ में रहा। १७६० ई० से इस स्थिति में परिवर्त्तन आने लगा। इसका एक कारण तो चिरकाल तक सत्ता का उपभोग करने के कारण होने वाला ह्विग पार्टी का स्वाभाविक नैतिक पतन था। बर्क ने इस बात पर दुःख प्रकट किया कि ह्विग पार्टी की नई पीढ़ी में पुरानी पीढ़ी का उच्च चरित्रबल नहीं है।[1] दूसरा कारण जार्ज की नाममात्र का नहीं, किन्तु वास्तविक शासक बनने की महत्त्वाकांक्षा थी। अतः उसने १६८८ ई० से चली आने वाली इस परम्परा को तोड़ा कि मन्त्री वही बनाए जायं, जो पार्लियामेंट को स्वीकार हों। राजा ने अपने पिट्ठुओं को मन्त्री बनाना शुरू किया और घूंसखोरी तथा पैसे के बल पर पार्लियामेंट में अपने समर्थकों का बहुमत बना लिया। एक छोटी घटना से यह स्थिति स्पष्ट हो जायगी। १७६३ ई० में संसद् के एक सदस्य विल्केस (Wilkes) ने राजा के कृपापात्र लार्ड बूट पर कुछ प्रबल आक्षेप किए। इसपर उसे पार्लियामेंट से निकाल दिया गया। १७६८ ई० के चुनाव में वह पुनः मिडलसेक्स से संसद् का सदस्य चुना गया, उसे दूसरी बार सदस्यता से निकाला गया। इस तरह तीन बार निकाला जाने के बाद चौथी बार राजा का प्रबल विरोध होने पर भी विल्केस २९६ के विरुद्ध ११४३ वोटों से जीता। इस पर राजा के अनुयायियों का बहुमत रखने वाली कामन्स सभा ने उसके चुनाव को रद्द करते हुए उससे हारे हुए विरोधी को पार्लियामेंट का सदस्य स्वीकार कर लिया।[2] इससे यह स्पष्ट है कि उस समय पार्लियामेंट राजा की कठपुतली बन गई थी।

बर्क ने ऐसी परिस्थिति में पार्लियामेंट में प्रवेश किया। उस समय एक ओर तो राजा पार्लियामेंट को प्रभावशून्य बनाने का प्रयत्न कर रहा था, दूसरी ओर विरोधी दल के नेता मताधिकार को विस्तृत करने का, पार्लियामेंट के चुनाव थोड़ी-थोड़ी अवधि के बाद कराने का और राजा द्वारा लोगों को पद दान और लाभ पहुँचाने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रबल समर्थन कर रहे थे। किन्तु बर्क का यह मत था कि यह औषधि उस बीमारी से कम घातक नहीं है, जिसे दूर करने के लिए इसका प्रतिपादन किया जा रहा है। उसका विश्वास था कि पार्लियामेंट के सदस्य लोगों की

१. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खं० २, पृ० ३३०।
२. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खं० २, पृ० ३३०।

इच्छानुसार काम करने वाले प्रतिनिधि मात्र नहीं हैं, किन्तु उन्हें अपनी इच्छानुसार जनता और देश के लिए जो बात उपयोगी जान पड़े, उसका अनुसरण करना चाहिए। राजा के पिट्ठुओं और समर्थकों से उसका विरोध इसलिए था कि ये राजा की कृपा पर जीवित होने के कारण देश के हित का ध्यान रखते हुए शासन करने में समर्थ नहीं थे। वह पार्लियामेंट के राजनीतिज्ञों का बुद्धिमत्तापूर्ण शासन केवल जनहित के लिए चाहता था।[1] राजतन्त्र और लोकतन्त्र की दोनों अतियों से बचते हुए बर्क लोकहित के लिए मध्यममार्ग का अनुसरण करने का पक्षपाती था।

बर्क के विचारों पर प्रभाव डालने वाली दूसरी घटना अमरीका के ब्रिटिश उपनिवेशों का मामला था। इंगलैण्ड अमरीका के १३ उपनिवेशों का शासन अपने हित की दृष्टि से कर रहा था। उसने उसके व्यापार को नियन्त्रित करने के लिए ऐसे नौ-कानून (Navigation laws) पास किए थे कि वहाँ से आने वाला सारा माल ब्रिटिश जहाजों में ही आए, वहाँ का सारा माल ब्रिटिश व्यापारियों को ही बेचा जाए। यह व्यवस्था इंगलैण्ड के लिए हितकर तथा उपनिवेशों के लिए अन्यायपूर्ण थी। इंगलैण्ड के स्वार्थ की दृष्टि से उपनिवेशों में आने वाले माल—खांड आदि पर चुंगी लगाने का तथा १७६५ ई० में समाचारपत्रों, कानूनी दस्तावेजों आदि पर स्टाम्प-कर लगाने का कानून पास किया गया। १७७५ ई० में असन्तोष तीव्र होने पर उपनिवेशों ने ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इसमें बर्क ने अमरीकन उपनिवेशों के पक्ष का प्रबल समर्थन किया। उसका यह समर्थन इसलिए नहीं था कि वे अपने मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए लड़ रहे थे, किन्तु इसलिए था कि वह अन्याय और अत्याचार का शत्रु था। वह अमरीका के साथ ग्रेट ब्रिटेन की नीति को अन्यायपूर्ण समझता था, अतः उसका उग्र विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझता था।

न केवल विदेश में, अपितु स्वदेश में भी वह अन्याय, अनीति और भ्रष्टाचार का प्रबल विरोधी था। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भारत के शासन में कर्मचारियों ने जो धाँधली मचाई थी, उसके विरुद्ध पार्लियामेंट में उसने जोरदार आवाज उठाई। भारत के गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ (१७७२–१७८५ ई०) के इंगलैण्ड लौटने पर बनारस के राजा चेतसिंह, नन्दकुमार और अवध की बेगमों के साथ अनैतिक और अत्याचार-पूर्ण कार्य करने के लिए १७८८ ई० में उस पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में जो अभियोग चलाया गया, उसमें सात वर्ष तक अपनी अमर ओजस्वी वक्तृताओं द्वारा बर्क ने प्रमुख भाग लिया।

बर्क पर प्रभाव डालने वाली चौथी घटना फ्रेंच राज्यक्रान्ति की थी। आरम्भ में इसके प्रति उसका दृष्टिकोण बहुत विरोधी नहीं था। यदि फ्रांस वाले अपने को नष्ट करना चाहते हैं तो उन्हें इसका पूरा अधिकार है। किन्तु जब फ्रेंच क्रान्तिकारियों ने अपने राजा-रानी की हत्या की, आतंक राज्य (Reign of Terror) स्थापित किया, पुरानी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं का समूलोन्मूलन करने का यत्न किया, क्रान्ति के विचारों को दूसरे देशों में फैलाना चाहा, इंगलैण्ड में ह्विग पार्टी के कुछ व्यक्ति क्रान्तिकारी विचारों के प्रति सहानुभूति रखने लगे तो बर्क ने अत्यन्त प्रभावशाली

---

१. वही, पृ० ३३१।

शब्दों में क्रान्ति के विचारों का प्रबल विरोध किया। उसका यह कहना था कि फ्रेंच जिस स्वतन्त्रता को प्राप्त करना चाहते हैं, वह स्वतंत्रता नहीं, किन्तु स्वच्छन्दता, उच्छृंखलता और अराजकता है। इस समय उसने ह्विग (उदार) होते हुए भी भावावेश में टोरियों से अधिक कट्टर और कठोर भाषा में अपने विचार प्रकट किए। वस्तुतः वह स्वतन्त्रता प्राप्त करने का विरोधी नहीं था, किन्तु इन्हें प्राप्त करने के लिए अपनाए जाने वाले, वर्त्तमान काल की सब परम्परागत प्राचीन सामाजिक संस्थाओं को एकदम बदलने वाले हिंसक उपायों का विरोधी था। उसके मत में समाज की सब संस्थायें सुदीर्घ ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं। व्यावहारिकताशून्य आदर्शवादियों की कल्पनामूलक योजनाओं द्वारा इनका सहसा उच्छेद या विध्वंस नहीं हो सकता। फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने इसे करना चाहा, अतः वह उसका कट्टर विरोधी था।

बर्क ने हॉब्स, रूसो या लॉक की भाँति राजनीतिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, कोरा दार्शनिक चिन्तन करना उसका स्वभाव नहीं था। उसने क्रियात्मक राजनीतिज्ञ की भाँति विभिन्न समयों पर उठने वाले राजनीतिक प्रश्नों की मीमांसा करते हुए इनमें व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों को और उच्च नैतिक आदर्शों को लागू किया। इस दृष्टि से वह ग्रेट ब्रिटेन का सबसे बड़ा तथा कुछ व्यक्तियों की सम्मति में अरस्तू के बाद सबसे बड़ा राजनीतिक विचारक है।[1] उसका सारा जीवन महान् उद्देश्यों की पूर्त्ति करने के लिए संघर्ष करते हुए बीता। उसके विचार पालियामेंट में दिए गए उसके विभिन्न भाषणों में और अनेक लेखों और रचनाओं में बिखरे हुए मिलते हैं।[2] प्रमुख राजनीतिक प्रश्नों पर उसके मन्तव्य निम्नलिखित हैं।

समाज और राज्य का स्वरूप—हॉब्स, लॉक और रूसो ने राज्य को एक सामाजिक संविदा या अनुबन्ध (Social Contract) का परिणाम माना था। बर्क इससे सहमत नहीं है। वह यद्यपि इसे संविदा कहता है, किन्तु इसका आशय उपर्युक्त लेखकों से सर्वथा भिन्न है। उसके शब्दों में "समाज वस्तुतः संविदा है।...किन्तु राज्य को ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि यह काली मिर्च या कहवे के व्यापार के लिए बनाई गई साझेदारी (वाली कम्पनी) से अधिक कुछ भी नहीं है,...यह केवल अस्थायी हितवाली वस्तु है और दोनों दलों की इच्छा से कभी भी समाप्त की जा सकती है। वस्तुतः यह (राज्य) समूचे ज्ञान, कला, प्रत्येक सद्गुण और पूर्णता की साझेदारी है।"[3] यह भूत, वर्त्तमान और भविष्यकाल की सभी पीढ़ियों का समझौता है। राज्य का प्रादुर्भाव और विकास जीवशास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा शनैः-शनैः हुआ है। यह समझौते से बनने वाला कोई संगठन (Organisation) नहीं, किन्तु सजीव प्राणी के शरीर (Organism) के तुल्य है। इसकी भाँति समय बीतने के साथ इसमें परिवर्त्तन आते रहते हैं, पुरानी संस्थाएं जीर्ण-शीर्ण होने पर नष्ट हो जाती हैं, इनका स्थान नई संस्थायें ग्रहण करती हैं। यह

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ३७४।

२. बर्क की सब रचनाओं का संग्रह १२ खंडों में Writings and Speeches of Edmund Burke (1901-6) प्रकाशित हुआ है। इसके खंड ३ तथा ४ में विशेष रूप से राजनीतिक रचनायें संगृहीत हैं। अगले उद्धरण इसी पुस्तक के हैं।

३. बर्क के लेख और भाषण, खं० ३, पृ० ३५६।

परिवर्त्तन स्वाभाविक रूप से होता है, किन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित कल्पनाओं द्वारा समाज के ढांचे में सहसा परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। यह शनैः-शनैः ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए अतीत की पृष्ठभूमि के आधार पर किया जाना चाहिए। इस विषय में बर्क का दृष्टिकोण मांतेस्क्यू से मिलता है, वह उसकी ऐतिहासिक अध्ययन की पद्धति से सब सामाजिक संस्थाओं पर विचार करने का समर्थक है।

बर्क का यह मत था कि राज्य आदि राजनीतिक संस्थाओं का अभ्युदय भले ही शासितों की सहमति से हुआ हो, किन्तु राज्य की वर्त्तमान स्थिति में यह समझौता बिल्कुल निरर्थक है। समाज में जन्म लेते ही मनुष्य उसके आधीन हो जाते हैं। वे कभी उसकी सत्ता के वशवर्त्ती होने के लिए समझौता नहीं करते, उन्हें ऐसा करने की स्वतन्त्रता नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो अराजकता मच जाएगी। सदैव मनुष्य कुछ सामाजिक बन्धनों और ऋणों को लेकर ही पैदा होता है, रूसो का यह कथन सत्य नहीं है कि वह सर्वथा स्वतन्त्र रूप में जन्म लेता है। मनुष्य इन बन्धनों से वैसे ही कभी अपने को मुक्त नहीं कर सकता, जैसे माता-पिता के प्रति दायित्वों और कर्त्तव्यों से उसका आजीवन मुक्त होना संभव नहीं है।

मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights of Man) — लॉक ने यह मत रखा था कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं (देखिए ऊपर पृ० ४४०)। रूसो तथा अन्य विचारकों ने भी समानता और स्वतन्त्रता को जन्मसिद्ध अधिकार माना। बर्क इससे सर्वथा असहमत था। वह बुद्धि या तर्क से परिकल्पित मानवीय अधिकारों की सत्ता नहीं मानता था, उसके मतानुसार व्यक्ति के केवल वे ही अधिकार माने जा सकते हैं, जो उसे समाज अपने नागरिक कानून (Civil Law) द्वारा प्रदान करे। यह कानून भगवान् के दैवी नियमों के अनुसार होना चाहिए। प्राकृतिक अधिकारों पर बल देना समाज में अराजकता उत्पन्न करना है। ये दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही सत्य हों, किन्तु नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से मिथ्या हैं। प्राकृतिक अधिकारों को अराजकता का स्रष्टा होने तथा राष्ट्र के लिए घातक होने से वह इन्हें राष्ट्रीय अनुचित कार्य या अपकृत्य (National Wrongs) कहा करता था। स्वतन्त्रता के अधिकार के बारे में उसका यह मत था कि यह राज्य द्वारा लगाये गए प्रतिबन्धों के साथ होनी चाहिए। धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति होने के कारण वह यह मानता था कि सच्ची स्वतन्त्रता तो बुरी इच्छाओं और वासनाओं का दमन करने में है; यदि ऐसा न किया जाए तो मनुष्य इनका दास हो जायगा, अपनी स्वतंत्रता खो देगा। ज़मीन्दार ह्विग पार्टी का सदस्य होने के नाते वह समानता के अधिकार में विश्वास नहीं रखता था। उसने मानवीय अधिकारों के प्रबल समर्थक रूसो की सुप्रसिद्ध कृति **सामाजिक संविदा** की आलोचना करते हुए कहा था —"यह मनुष्य के अधिकारों के बारे में चोकर, चिथड़े, कागज के छोटे और गन्दे टुकड़े मात्र हैं।" फ्रेंच राज्यक्रान्ति के मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र के संबंध में उसका कहना था कि यह एक प्रकार का अराजकता के नियमों का संग्रह और सारांश (a sort of institute and digest of anarchy) है।[1]

---

१. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७८।

फ्रेंच राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तों का खण्डन--चिरकाल से चली आने वाली राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं को इनके ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया की उपेक्षा करते हुए सहसा उन्मूलन करने का प्रयत्न बर्क की दृष्टि में बड़ा जघन्य और गर्हणीय कार्य था। उसने इसकी भर्त्सना में पहले **फ्रेंच क्रान्ति पर विचार** (Reflections on the French Revolution) लिखे तथा बाद में निम्नलिखित चार अन्य कृतियाँ भी लिखीं—Letter to a Member of the National Assembly (1791), Appeal from the New to the Old Whig (1791), Thoughts on French Affairs (1791), Letters on a Regicide Peace (1793)। उस समय इंगलैण्ड में उदार (ह्विग) पार्टी के कुछ सदस्य फ्रेंच क्रान्ति से सहानभूति रखते थे, वे इसे १६८८ ई० की क्रान्ति जैसा समझते थे। किन्तु बर्क इसे १६४६ ई० में चार्ल्स प्रथम की हत्या करने वाली क्रान्ति के तुल्य मानता था और उसका यह विचार था कि उसके साथ सहानुभूति रखने वाले अंग्रेज ग्रेट ब्रिटेन में फ्रांस जैसा भीषण विस्फोट और भयंकर तूफान लाने वाले हैं। अतः उसने अपनी पूरी शक्ति इसे रोकने के लिए अपनी लौह लेखनी इसके विरुद्ध विष वमन करने में लगा दी। उसकी 'फ्रेंच क्रान्ति पर विचार' नामक कृति इस विषय में इतनी सफल हुई कि इसके ११ संस्करण एक ही वर्ष में निकल गए और क्रान्ति की समाप्ति तक इसकी तीस हजार प्रतियाँ बिक चुकी थीं।[१]

फ्रेंच राज्यक्रान्ति के प्रमुख सिद्धान्त मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार, जनता की प्रभुसत्ता (Popular sovereignty), निरंकुश शासन के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार, बहुमत द्वारा शासन और लिखित संविधान थे। बर्क ने इन सबकी खिल्ली उड़ाई है। पहले (पृ० ५०१-२) यह बताया जा चुका है कि वह लॉक के सामाजिक समझौते तथा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को सर्वथा अस्वीकार करता है। उसके मत में कोई भी सरकार प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकार नहीं कर सकती, उसका उद्देश्य इससे सर्वथा भिन्न है, वह मनुष्यों की आवश्यकतायें पूरी करने के लिए बनाई गई है। इसमें लोगों के कोई अधिकार नहीं होते। रूसो की भाँति यह कहना भी ठीक नहीं कि प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित होती है। समाज का अर्थ बहुत से व्यक्तियों की इच्छाओं का समूह नहीं है। यह एक स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाला सजीव शरीर है, जैसे माता के गर्भ में और उसके बाद बालक का विकास होता है, वैसे ही राज्य भी क्रमिक विकास से बनता है। इसमें जन्म लेने वाले व्यक्ति के कुछ अधिकार नहीं, किन्तु कर्त्तव्य हैं, इन कर्त्तव्यों का पालन उसके लिए आवश्यक है, इनके बिना समाज का संचालन नहीं हो सकता।

बहुमत द्वारा शासन (Rule by majority) लोकतन्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त है। बर्क ने इसे बिल्कुल बेहूदा बताया। इस विषय में उसका यह तर्क था कि यदि रूसो आदि विचारकों का सामाजिक संविदा (Social Contract) द्वारा राज्य की स्थापना का सिद्धान्त मान लिया जाय तो इससे बहुमत के शासन का विचार स्वयमेव खण्डित हो जाता है, क्योंकि ऐसे समझौते से राज्य की स्थापना के लिए सर्वसम्मति आवश्यक है और जब इससे राज्य स्थापित हो जाता है तो इसमें

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ३७६।

विभिन्न व्यक्तियों की स्वतन्त्र इकाइयों का स्थान राज्य का संगठन ले लेता है, उसमें व्यक्तियों के बहुमत द्वारा शासन का विचार ही नहीं उत्पन्न हो सकता। इस विषय में यदि कोई यह तर्क करे कि बहुमत द्वारा शासन तो आरम्भिक समझौते की आवश्यक शर्त्त थी, अतः शासन में उसका पालन अवश्य होना चाहिए तो बर्क का उत्तर यह था कि राज्य में यह किसी भी प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि राज्य की प्रकृति ही कुलीन-तन्त्रात्मक (Aristocratic) है। किसी देश के शासन का कार्य तभी अच्छा चल सकता है, जब उसका नेतृत्व बुद्धिमान् और दक्ष व्यक्तियों के हाथ में हो। राज्य में कुछ व्यक्ति अपने कौलीन्य, सम्पत्ति और बुद्धि के कारण सार्वजनिक कार्यों को अधिक योग्यता के साथ सम्पन्न कर सकते हैं। इन्हें शासन का अधिकार दिया जाना चाहिए।[१] यदि इनके स्थान पर घटिया दर्जे की बुद्धि और योग्यतावाले बहुमत का शासन स्थापित किया जाए तो वह प्राकृतिक व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल होगा तथा अराजकता को लाने माला होगा।

फ्रेंच राज्यक्रान्ति की एक बड़ी देन व्यक्ति और राज्य के विभिन्न अधिकारों और कार्यों का प्रतिपादन करने वाले लिखित संविधान (Written Constitution) का विचार था। बर्क इसे सबसे बड़ी बेवकूफी समझता था।[२] उसका यह कहना था कि विधान बनाये नहीं जाते, किन्तु इनका स्वाभाविक परिस्थितियों में स्वतः विकास होता है, इसे बलपूर्वक किसी जनता पर कोई नया संविधान थोपकर बदला नहीं जा सकता। राज्य के स्वाभाविक विकास के सिद्धान्त के प्रतिकूल होने से संविधान बनाने का विचार सर्वथा अस्वाभाविक और दोषपूर्ण है। राज्य मनुष्य जाति के अनुभवों और अनुभूतियों का परिणाम है, इसे विशुद्ध तर्क पर आधारित सिद्धान्तों से नहीं बदला जा सकता। प्रत्येक देश और राष्ट्र की कुछ अपनी निजी विशेषतायें और परिस्थितियाँ होती हैं। इनमें उसकी विशिष्ट सामाजिक तथा राजकीय संस्थाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं का निर्माण होता है तथा राष्ट्रीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है। इसकी उपेक्षा करते हुए बौद्धिक सिद्धान्तों के आधार पर कोई नया संविधान नहीं बनाया जा सकता। यदि ऐसा कोई प्रयत्न किया जायगा तो वह विफल होगा; उसने यह भविष्यवाणी की थी कि फ्रांस में लोकतन्त्र जबर्दस्ती स्थापित करने का परिणाम वहाँ तानाशाही शासन होगा। उसका यह कहना था कि जब कोई व्यक्ति रोगी पड़ता है तो हम किसी दार्शनिक को नहीं, किन्तु डाक्टर को बुलाते हैं, बीमार को स्वयमेव अपने इलाज का अधिकार नहीं देते।[३] इसी प्रकार जब राज्य में कोई विकृति या दोष आ जाय तो उसे ठीक करने के लिए कोरे तर्कवादी, बुद्धिमत्तापूर्ण सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने वाले संविधान-निर्माताओं को नहीं, किन्तु राज्य की बीमारी को समझने वाले योग्य राजनीतिज्ञों को बुलाना चाहिए।

इसी प्रकार बर्क प्रजा द्वारा शासन के विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करने के अधिकार

---

१. बर्क—वर्क्स, खं० ४, पृ० १७४-५।

२. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३७८।

३. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, खं० ३, फ्राम रूसो टु मांतेस्क्यू, पृ० १७८।

(Right of Revolution) से भी सहमत नहीं था। वह यद्यपि राजा के दैवी अधिकारों में विश्वास नहीं रखता था, तथापि शासन को ईश्वरीय तथा स्वाभाविक व्यवस्था समझता था। उसके विरुद्ध कोई अन्य उपाय न रहने पर, परिस्थिति के असाध्य और अत्यन्त भीषण होने पर ही विद्रोह करना उचित समझता था।

बर्क का सुधार विषयक दृष्टिकोण—उदारवाद और अनुदारवाद का सम्मिश्रण—(क) **उदारवाद**—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बर्क राजनीतिक विचारों में संरक्षणवादी (Conservative) और अनुदार होते हुए भी उदारवाद (Liberalism) का पोषक था। ह्विग पार्टी का सदस्य होने के नाते उसमें उदारवादी दृष्टिकोण का होना सर्वथा स्वाभाविक था। अतः उसने अपनी पार्टी के साथ टोरी (अनुदार) पार्टी के समर्थक जार्ज तृतीय का विरोध किया, भारत और अमरीका के प्रति टोरी सरकार की उपनिवेशवादी, अन्यायपूर्ण नीति का प्रबल प्रतिवाद करते हुए अपने उदारवाद का परिचय दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत में कुशासन का भण्डाफोड़ किया, वारेन हेस्टिंग्ज़ द्वारा भारत में किये गये अनीतिपूर्ण कुकृत्यों के लिए पार्लियामेंट में सात वर्ष तक चलने वाले मुकद्दमे में उस पर इस दृष्टि से आरोप लगाने में प्रधान भाग लिया कि भारत के ब्रिटिश शासन में पुनः ऐसे अन्याय न हों। उसके उपनिवेशों के प्रशासन तथा पराधीन जातियों के साथ उदार व्यवहार के विचार गैटिल के शब्दों में उसके समय से आधी शताब्दी आगे के हैं।[1]

(ख) **अनुदारवाद**--उपर्युक्त विषयों में उदारवाद और सुधारों का प्रबल पक्षपाती होते हुए भी बर्क व्यवस्था और सुशासन का परम भक्त था, अतः सब सुधारों को शनैः-शनैः पुरानी व्यवस्थाओं और संस्थाओं को सुरक्षित और अक्षुण्ण रखते हुए करना चाहता था। वह १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति जैसी आमूलचूल परिवर्तन करने वाली क्रान्तियों का घोर विरोधी था। इस दृष्टि से वह घोर संरक्षणवादी तथा अनुदार (Conservative) था। उसके सुधार का दृष्टिकोण इन शब्दों से स्पष्ट है—"राजनीतिज्ञ के विषय में मेरा मानदण्ड यह है कि उसमें दो बातें एकसाथ होनी चाहिएँ—(पुरानी व्यवस्थाओं को) संरक्षण करने की प्रवृत्ति तथा सुधार करने की योग्यता।" यदि मैं न्याय (Equity) पूर्वक सुधार नहीं कर सकता तो मैं सुधार को बिल्कुल नहीं करूँगा (If I cannot reform with equity, I will not reform at all)।[2] वह अपने सब सुधार पुरानी परम्पराओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर करना चाहता था। अतः वह प्राचीन परम्परा की उपेक्षा करने वाले क्रान्तिकारी नवीन सुधारों का उग्र विरोधी था। अतः हर्नशा ने उसके संबंध में यह सत्य ही लिखा है कि "वह सदैव सुधारक था, किन्तु क्रान्तिकारी कभी नहीं था, वह सदैव संरक्षणवादी था, किन्तु (सभी सुधारों का अन्ध विरोध करने वाला) टोरी नहीं था"।[3] उसका संरक्षणवाद (Conservatism) निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

---

१. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ३०७।
२. मर्रे—दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टू दी प्रेज़ेण्ट, पृ० २९५।
३. हर्नशा—दी सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज़ ऑफ दी रिवोल्यूशनरी ईरा, पृ० ९७।

वह यह अनुभव करता था कि जार्ज तृतीय द्वारा पार्लियामेंट को अपने वश में रखने की व्यवस्था में गंभीर दोष हैं, किन्तु वह उसमें आमूलचूल परिवर्त्तन का विरोधी था। जब उसे कुछ व्यक्तियों ने यह सलाह दी कि पार्लियामेंट की दोनों सभाओं का संगठन बिल्कुल बदल दिया जाय तो उसने उन्हें चेतावनी देते हुए कहा —"मैंने एक राज्य के संरक्षण और सुधार के दोनों कार्य करने हैं। मुझे जनता को संतुष्ट करना है, किन्तु उसे भड़काना या उसका गलत पथप्रदर्शन नहीं करना है।"[1] अतः उसने ब्रिटिश संविधान में मौलिक परिवर्त्तन करने वाले ऐसे सभी प्रस्तावों का विरोध किया, जिनमें मताधिकार को व्यापक बनाने, ग्रामीण क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने, उजड़ी बस्तियों (Rotten Boroughs) से पार्लियामेंट में दो प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था को समाप्त करने पर बल दिया गया था। पार्लियामेंट में एक वक्तृता देते हुए उसने कहा था-- "न तो इस समय और न किसी अन्य समय में यह बात दूरदर्शितापूर्ण होगी कि हम अपने संविधान के मौलिक सिद्धान्तों और प्राचीनकाल से सुपरीक्षित परम्पराओं में कोई हस्तक्षेप करें। हमारे प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लगभग उतनी पूर्ण है जितनी मानवीय मामलों में आवश्यक अपूर्णता के साथ...संभव है।"[2] किन्तु मौलिक सुधारों का विरोधी होते हुए भी वह टोरी दल का यह दृष्टिकोण नहीं स्वीकार करता था कि पार्लियामेंट में प्रतिनिधित्व का सम्पूर्ण अन्तिम अधिकार केवल भूमि पर स्वामित्व रखने वाले जमीन्दारों को ही है, राजा को शासन का दैवी अधिकार है। उसने एक बार कहा था कि "कामन्स सभा का गुण, आत्मा और तत्त्व इस बात में है कि यह राष्ट्र की भावनाओं का मूर्त्त रूप है।" वह यह समझता था कि ब्रिटिश संविधान स्वाभाविक विकास का परिणाम होने से सभी लिखित संविधानों से श्रेष्ठ है, उसमें विभिन्न प्रकार के हितों का प्रतिनिधित्व है, सत्ता और स्वतन्त्रता का समन्वय है, उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होना चाहिए।

बर्क का अनुदारवाद इससे भी स्पष्ट है कि वह लोकतन्त्र का विरोधी था। लोकतन्त्र के दोषों को उससे पहले किसी अन्य विचारक ने इतने प्रभावशाली शब्दों में प्रतिपादित नहीं किया था। लोकतन्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) है। उसने इसका खण्डन करते हुए कहा कि सर्वोच्च प्रभुसत्ता रखने वाली जनता तो सब प्रकार के प्रतिनिधियों और मर्यादाओं से रहित भयावह निरंकुश शक्ति है। यह राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से कभी कोई गलती नहीं कर सकती। इसके कार्यों के लिए सभी उत्तरदायी हैं, इसका अर्थ यह है कि इनके लिए किसी भी विशेष व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। साधारण जनता राजा या कुलीन वर्ग की भाँति भयंकर अत्याचार और मूर्खतायें कर सकती है, किन्तु इनके विरुद्ध कहीं कोई सुनवाई न होने से अत्याचार बड़े भयावह हो जाते हैं। बर्क जनसाधारण को मूढ़ मानते हुए योग्य कुलीन जमीन्दारों द्वारा ऐसे शासन का पक्षपाती था जिसमें सब व्यक्तियों के साम्पत्तिक अधिकार सुरक्षित रहें। मनुष्यों को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, किन्तु वह राज्य के सुशासन और व्यवस्था के अनुरूप होनी

---

१. मर्रे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २६५।

२. वही, पृ० २६६।

चाहिए। कोरे तर्क और विशुद्ध कल्पना के आधार पर बनाये गये मौलिक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए अथवा दूसरे देशों के अनुकरण पर कोई भी सुधार करने का बर्क प्रबल विरोधी है। उसके मत में मौलिक सुधार करने वाला राज्य विनाश के पथ पर अग्रसर होता है। पुरानी इमारत में यदि कुछ परिवर्तन अपेक्षित हों तो उसे पूरी तरह गिराकर नई इमारत बनाने के स्थान पर उसमें ही उसके स्वरूप के अनुसार सुधार, संशोधन और परिवर्धन करना अधिक अच्छा है।[1] मेकन्न के मतानुसार बर्क का संरक्षणवाद या अनुदारवाद (Conservatism) दो सिद्धान्तों पर आधारित है। पहला तो यह कि मानव समाज और राज्य की पुनर्रचना किसी एक व्यक्ति या पीढ़ी का काम नहीं है और दूसरा सिद्धान्त यह है कि ऐसे प्रयत्न किये ही नहीं जाने चाहिएँ।[2] बर्क को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम अनुदारवाद के सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना की। अत: आइवर ब्राउन ने यह सत्य ही लिखा है कि बर्क ने अनुदारवादी दर्शन को संसार के सामने इतनी पूर्णता और योग्यता के साथ रखा कि ऐसा पहले कभी नहीं किया गया था। अत: उसे **आधुनिक अनुदारवाद का संस्थापक या जनक** (Father of Modern Conservatism) कहा जाता है।

लॉक और बर्क की तुलना—लॉक और बर्क दोनों ब्रिटिश विचारक थे। इनका राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में गहरा प्रभाव पड़ा है। अत: इन दोनों की सामाजिक समझौते, अधिकारों तथा क्रान्ति संबंधी विचारों की तुलना बड़ी रोचक है।

(क) **सामाजिक समझौता** – लॉक सामाजिक समझौते (Social Contract) द्वारा राज्य के निर्माण के सिद्धान्त का प्रबल पोषक है। पहले (पृ० ४४१) यह बताया जा चुका है कि उसके मतानुसार प्राकृतिक दशा (State of Nature) में तीन बड़ी असुविधायें थीं, इन असुविधाओं को दूर करने की दृष्टि से मनुष्यों ने एक सामाजिक समझौते या अनुबन्ध द्वारा राज्य का सृजन किया। सामाजिक समझौता उसके समूचे राजनीतिक विचार की आधारशिला है, वह इसका प्रबल पोषक और समर्थक है। किन्तु बर्क राज्य के प्रादुर्भाव के संबंधों में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। लॉक के मतानुसार राज्य मनुष्यों के समझौते द्वारा कृत्रिम रूप से बनाया गया संगठन है, बर्क इसे सावयव सिद्धान्त (Organic theory) के अनुसार शनैः-शनैः विकसित होने वाली संस्था समझता है (पृ० ५०१-२)। वह यद्यपि इस विषय में समझौते या अनुबन्ध के शब्द का प्रयोग करता है, तथापि इस शब्द की व्याख्या बिल्कुल निराले और ऐसे ढंग से करता है, जो लॉक के समझौते से सर्वथा भिन्न है। इस विषय में जॉन मेकन्न (John Macunn) ने सत्य ही लिखा है —"उसके मतानुसार अनुबन्ध का आशय सदैव राजनीतिक संगठन के विभिन्न सदस्यों तथा वर्गों के बीच में विद्यमान ऐसे संबंधों से है, जो धीरे-धीरे विकसित होते हैं और मनुष्यों का स्वभाव बन जाते हैं। ये संबंध मनुष्यों में तथा मानवसमाज के विभिन्न वर्गों में स्पष्ट रूप से किये गये किसी समझौते का परिणाम नहीं हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि बर्क सामाजिक समझौते के शब्द का प्रयोग लॉक

---

१. मरें—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २९७।
२. जॉन मेकन्न—दी पोलिटिकिल फिलासफी ऑफ बर्क, पृ० ५८।
३. आइवर ब्राउन—इंगलिश पोलिटिकल थियेरी, पृ० ७०

से सर्वथा भिन्न अर्थ में करता है और उसके सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को सर्वथा अस्वीकार करता है।

(ख) **अधिकार**—लॉक ने प्रत्येक मनुष्य के जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के मौलिक प्राकृतिक अधिकारों का प्रबल समर्थन किया था (पृ० ४४०)। किन्तु बर्क इस प्रकार के कोई अधिकार नहीं मानता था (पृ० ५०२)। इस विषय में उसका यह विचार था कि इस भूमण्डल पर भगवान् ने मनुष्यों को उनके संबंध पहले से ही निश्चित करके भेजा था, ये अधिकार दैवीय व्यवस्था से निर्धारित हुए हैं, किसी संविदा या समझौते से तय नहीं हुए हैं। उसने अपनी एक रचना 'नये ह्विगों की ओर से पुराने ह्विगों की अपील' (Appeal from the New to the Old Whigs) नामक रचना में इस विचार का बड़ी प्रबलता से प्रतिपादन करते हुए कहा था कि "मनुष्यों के संबंध किसी समझौते का परिणाम नहीं हैं, इसके सर्वथा विपरीत मानव समाज में विभिन्न व्यक्तियों में जो समझौते होते हैं उनका आधार (भगवान् द्वारा पहले से ही निर्धारित मानवीय संबंध) और दायित्व हैं। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्यों के अधिकार नहीं, अपितु कर्त्तव्य दैवीय कानून (Divine law) द्वारा पहले से ही इस प्रकार निश्चित कर दिये गये हैं कि इन्हें किसी भी तरह रद्द नहीं किया जा सकता।" इससे यह स्पष्ट है कि बर्क लॉक की भाँति मनुष्य के कोई स्वाभाविक या प्राकृतिक अधिकार नहीं मानता है।

(ग) **क्रान्ति विषयक विचार**—पहले (पृ० ४४७) यह बताया जा चुका है कि लॉक जनता को कुछ अवस्थाओं में क्रान्ति का अधिकार प्रदान करता है। वह अपनी पुस्तक "शासन पर दो निबन्ध" में १६८८ की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करता है (पृ० ४३८)। किन्तु बर्क क्रान्ति का प्रबल विरोधी था। उसके मतानुसार प्रजा को शासक के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का अधिकार नहीं है (पृ० ५०४)। शासन में उग्र तथा भीषण परिवर्त्तन वांछनीय नहीं है। "शनैः-शनैः होने वाला परिवर्त्तन चिरस्थायी होता है, क्योंकि इसमें विकास स्वाभाविक रूप से होता है।" पहले यह बताया जा चुका है कि उसके मत में चिरकाल से चली आने वाली राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं का क्रान्ति द्वारा उन्मूलन करना बड़ा जघन्य और निन्दनीय कार्य था। इसी लिये उसने अपनी रचनाओं में फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की उग्र भर्त्सना एवं निन्दा की है (पृ० ५०३)। इससे यह स्पष्ट है कि लॉक और बर्क के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

बर्क की देन (Contribution)—राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में बर्क की सब से बड़ी देन विद्यमान संस्थाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर तथा उनके क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए सुधार योजनाओं को क्रियान्वित करना था। हर्नशा ने उसकी देन या अनुदान को पाँच भागों में बाँटा है।[1] **पहली** देन अमूर्त्त दार्शनिक राजनीतिक चिन्तन की तथा राज्य-संबंधी क्रियात्मक मामलों के आध्यात्मिक विवेचन की निन्दा है। वह यह मानता था कि राजनीतिक समस्याओं पर विशुद्ध व्यावहारिक

---

१. हर्नशा—दी सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज़ ऑफ दी रिवोल्यूशनरी ईरा, पृ० ८६।

और क्रियात्मक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। हॉब्स, लॉक, रूसो आदि ने उसका जो बौद्धिक और वास्तविकता से परे हटा हुआ चिन्तन किया था, वह उसका घोर विरोधी था। इस विषय में डनिग ने सत्य ही लिखा है कि "बर्क की भावना एकान्त कुटिया (Closet) में चिन्तन करने वाले दार्शनिक की नहीं, किन्तु राजनीतिज्ञ की थी।"[1] उसके विचार में राज्य एक ठोस व्यावहारिक तथ्य था, न कि सूक्ष्म विचार के आधार पर बनायी जाने वाली धारणा। राजनीति में सूक्ष्म, चरमचिन्तनीय विचारों के आधार पर युक्ति करना वह तर्क, बुद्धि और विवेक के सर्वथा विरुद्ध समझता था। उसकी **दूसरी** देन अनुभूतिवाद (Empiricism) की है। वह मानव जाति के अतीत अनुभव को तथा इसे मूर्त्तरूप देने वाली राजनीतिक संस्थाओं को बहुत महत्त्व देता था, उसका यह कहना था कि राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्धारण करने के लिए इन्हें आधार एवं मूल स्रोत समझना चाहिए। "इस दृष्टि से बर्क राजनीतिशास्त्र के ऐतिहासिक सम्प्रदाय का निर्माण करने वाले महत्त्वपूर्ण विचारकों में है। इसीलिए वह मांतेस्क्यू का परम भक्त है और रूसो पर बड़े कटु एवं प्रबल आक्षेप करता है।"[2] उसकी **तीसरी** देन प्रशासन संबंधी मामलों के इतिहास तथा पुराने अनुभव को अपना पथप्रदर्शक मानना है। **चौथी** देन कोरी युक्तियों को नहीं, किन्तु उपयोगिता (Expediency) के सिद्धान्त को महत्त्व देना है। मनुष्यों के अधिकारों की समानता के कोरे बुद्धिवादी तर्क और युक्तियाँ समाज में सुधार का आधार नहीं होना चाहिए। किन्तु जब सामाजिक व्यवस्था में ऐसे गम्भीर दोष उत्पन्न हो जायं कि उनका निराकरण समाज और राज्य की व्यवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक, उपयोगी और नितान्त वांछनीय हो, तभी ये सुधार किये जाने चाहिएँ। **पाँचवीं** देन मध्यम मार्ग और संयम (Moderation) की है। सुधार करते हुए कट्टरता की और उदारता की दोनों अतियों (Extremes) से बचते हुए मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

बर्क के दोष—किन्तु मध्यममार्गी होते हुए भी बर्क का अधिक झुकाव कट्टरता और अनुदारवाद की ओर है। गैटिल के शब्दों में उसकी प्रवृत्ति वर्त्तमान पद्धति को पूज्य समझने तथा प्रगति में सहायता देने वाले विचारों का महत्त्व कम करने की है।[3] उसने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश संविधान आदि जिन संस्थाओं की वह प्रशंसा कर रहा है, वे दकियानूसी, प्रतिगामी और पुरानी पड़ गयी हैं, उनका महत्त्व कम हो गया है। उसका दृष्टिकोण इस बात में निहित है—"हम भगवान् से भय खाते हैं, राजा को श्रद्धा से, पार्लियामेंट को प्रेम से, मजिस्ट्रेटों को कर्त्तव्य की भावना से, पुरोहितों को भक्तिभाव से तथा कुलीन वर्ग को आदर की भावना से देखते हैं।" वह फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद योरोप में उत्पन्न होने वाले अनुदारवाद और प्रतिक्रियावाद का सर्वोत्तम व्याख्याता और प्रतीक है।

बर्क का महत्त्व—अनुदारवादी होने पर भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उपर्युक्त देनों के कारण (पृ० ५०८-९) बर्क का असाधारण महत्त्व है। मैक्सी के मत में

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज फ्राम रूसो टु स्पेन्सर, पृ० १८३।
२. बर्क—वर्क्स, खं० २, पृ० ४५९; खं० ४, पृ० २५, २११।
३. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० ३०८।

मौलिक विचारक न होने पर भी राजनीतिक चिन्तन रूपी गगन के तारामण्डल में वह एक भास्वर नक्षत्र है।[1] वह जब फ्रेंच राज्यक्रान्ति के विरुद्ध मैदान में आया तो राजनीतिक चिन्तन पर रूसो की मदोन्मत्त भावुकता (Maudlin Romanticism) का साम्राज्य था। मांतेस्क्यू, ह्यूम, स्पिनोज़ा, हॉब्स आदि अतीत के यथार्थवादी प्रभावहीन हो चुके थे। इतिहास को अनर्गल पाखण्ड (Bunk) समझा जाता था, तर्क से घृणा की जाती थी।...कल्पनायें और उत्तेजनापूर्ण जोशीली रचनायें (Rhapsodies) सब कुछ समझी जाती थीं।"...ऐसे समय में एडमण्ड बर्क का यह कार्य था कि उसने राजनीतिक क्षेत्र में मधुर कल्पनाओं के सपने लेने वालों पर ठंडा पानी डालकर उन्हें जगाया और यह मनवाया कि राज्य केवल कागज पर बनाया जाने वाला कोरा संविधान मात्र नहीं किन्तु एक ठोस वास्तविक सत्ता है, शताब्दियों के विकास का परिणाम है, बड़ा जटिल संगठन है, उसमें अविचारपूर्ण रीति से परिवर्त्तन करने में बहुत बड़े संकट पैदा हो जाते हैं। बर्क ने उस समय की अनेक प्रचलित धारणाओं—सामाजिक संविदा (Social Contract), मानवीय अधिकारों के विशुद्ध बौद्धिक आधार, राजाओं की दैवी सत्ता का प्रबल एवं प्रभावशाली खण्डन किया, लोकतन्त्र के दोषों, बहुमत के अत्याचारों और मूर्खताओं का सजीव चित्रण किया। वह १९वीं और २०वीं शताब्दी के अनुदार-वाद का और ऐतिहासिक सम्प्रदाय का प्रधान प्रेरणा स्रोत है। मेन, फ्रीमैन, सीली, सिजविक, लैकी, मैल्लाक, गाडविन बेल्लाक, बर्जेस, सैविग्नी, हेगल, नीटशे (Nietzshche) और ट्रीट्श्के जैसे अनुदारवादी विचारकों की रचनाओं पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है।"[2]

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ३८२।
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ३८४।

परिशिष्ट

पाश्चात्य राजनीतिक विचारों के अध्ययन में उपयोगी ग्रन्थ सूची

(क) सामान्य ग्रन्थ

William Archibald Dunning : A History of Political Theories Vol. I, Ancient and Medieval, Vol. II From Luther to Montesquieu, Vol. III, From Rousseau to Spencer. (Macmillan, New York, 1910-1920).

Carlyle, A.J. : A History of Medieval Political Theory in the West. 6 Vols. (Barnes and Noble, New York, 1927-46.)

Vaughan, C.E. : Studies in the History of Political Philosophy Before and After Rousseau (2 vols.).

Sabine, G.H. : A History of Political Theory, Third revised enlarged ed. (Harrap, London, 1961).

Hearnshaw, F.J.C. ed. : The Social and Polititical Ideas of some Great Medieval Thinkers series. 7 vols. Great Thinkers of the Renaissance and Reformation. Great Thinkers of the 16th and 17th centuries ; English Thinkers of the Augustine Age ; Great French Thinkers of the Age of Reason ; Representative Thinkers of the Age of Reaction and Reconstruction. Representative Thinkers of the Revolutionary Era ; Representative Thinkers of the Victorian Age. (Barnes and Noble, New York).

Coker, F.W. : Readings in Political Philosophy. (Macmillan, New York, 1937).

Hacker, Andrew : Political Theory, Philosophy, Ideology and Science (Macmillan, New York, 1961).

Wayper, C.L. : Political Thought (English Universities Press, London, 1954).

Doyle, Phyllis : A History of Political Thought. (Jonathan Cape, London 1949).

Vereker Charles : The Development of Political Theory. (Hutchinson University Library, London, 1957).

Maxey, Chester, C. : Political Philosophies, Revised ed. (Macmillan, New York, 1948).

Murray, R.R. : The History of Political Science From Plato to the Present (W. Heffer and Sons, Cambridge, 1929).

Gettell, R.G. : History of Political Thought (The Century Co., New York).

Bhandari, D.R. : History of European Political Philosophy (The Bangalore Printing and Publishing Co., Bangalore, 4th ed., 1952).

Catlin, George : A History of the Political Philosophers (George Allen and Unwin, London, 1950).

Bowle, John : Western Political Thought (Jonathan Cape, 1954).

Michael B. Foster : Masters of Political Thought, Vol. I Plato to Machiavelli (Harrap, 1947).

E.T. Jones : Masters of Political Thought, Vol. II, Machiavelli to Bentham (Harrap, 1947).

Charles Howard Mcllwain : The Growth of Political Thought in the West (Macmillan, New York, 1932).

Bertrand Russel : History of Western Philosophy (Allen and Unwin, London, 1946).

Bertrand Russel : Wisdom of the West (Macdonald, London, 1959).

Joseph McCabe : A Rationalist Encyclopaedia (Watts, London, 1940).

Political Thought in England : Tyndale to Hooker by Christopher Morris. Bacon to Halifax by G.P. Gooch, Locke to Bentham by Harold J. Laski. Bentham to Mill by William L. Davidson. Herbert Spencer to 1914 by Ernest Barker, (Home Uni. Library, Oxford Uni. P.)

इंगलैण्ड का राजदर्शन—गूच, डेविडसन तथा बार्कर के उपयुक्त ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद (किताब महल, इलाहाबाद, १९५८)

Clement C.J. Webb : A History of Philosophy (Home Univ. Library, Oxford Uni. P., 1949).

कन्हैयालाल वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, द्वितीय संस्करण, १९५८)

ज्योतिप्रसाद सूद : राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्राचीन तथा मध्यकालीन, दो भाग), जयप्रकाश नाथ कम्पनी, मेरठ, द्वितीय संस्करण, १९५९)

राजनारायण गुप्त, राधानाथ चतुर्वेदी : पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास (सोक्रेटीज से हिटलर और मुसोलिनी तक) (किताब महल, इलाहाबाद, १९५४)

गणेश प्रसाद : राजनीतिक विचारधारायें (ओरियण्ट लांगमैन्स, कलकत्ता) संशोधित संस्करण, १९५७।

गैटिल : राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, सत्यनारायण दुबे कृत हिन्दी अनुवाद (लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९६०)

(ख) अध्यायों के क्रम से राजनीतिक चिन्तन के विशिष्ट कालों और विचारों के क्रम में सहायक ग्रन्थ

Cbapter I. Nature of Political thought and its development in non-European Countries.

A.S. Altekar : State and Government in Ancient India. Third rev. ed. (Motilal Banarsidas, Delhi, 1960).

Beni Prasad : Theory of Government in Ancient India (Indian Press, Allahabad, 1927).

Beni Prasad : The State in Ancient India (Indian Press, Allahabad, 1928).

Kashi Prasad Jayaswal : Hindu Polity (Calcutta, 1924).

J.J. Anjaria : The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State (Longmans, 1935).

Ajit Kumar Sen : Studies in Hindu Political Thought (Chakravarti and Chatterji Co., Calcutta, 1926).

Rama Prasad Das Gupta : A Study in Hindu and European Political Systems (Dipti Printing, Calcutta, 1958).

Vishwanath Prasad Varma : Studies in Hindu Political Thought. 2nd rev. ed., 1960 (Motilal Banarasidas, Delhi).

K.V. Rangaswami Aiyangar : Some Aspects of Ancient Indian Polity (Madras, 1935).

K.V. Rangaswami Aiyangar : Rajdharma (Adyar Library, Adyar, 1941).

P.V. Kane : History of Dharmasastra, Vol. III (Bhandarkar O.R.I., Poona, 1946).

Venkatratnacharya : Kautiliyarthasastra (Oriental Research Institute, Mysore, 1960).

Narayan Chandra Bandopadhyaya : Kautilya (R. Cambray & Co., Calcutta, 1927).

योगेन्द्रनाथ वेदान्त तीर्थ : प्राचीन भारत की दण्डनीति (के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६१)

Cambridge Ancient History : 12 Vols. (Cambridge Uni. P.).

Breasted, J.H. : Development of Religion and Thought in Ancient Egypt (New york, 1912).

Breasted, James Henry : Ancient Times, 2nd rev. ed. (Ginn and Co., 1944).

Ghoshal, U.N. : A History of Indian Political Ideas (Oxford Uni. Press, 1959).

Sarkar, B.K. : Political Institutions and Theories of the Hindus (Leipzig, 1922).

Sharma, R.S. : Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India (Motilal Banarasidas, Delhi, 1959).

Suzaki, D.T. : Brief History of Ancient Chinese Philosophy (London, 1914).

W.W. Willoughby : Political Theories of the Ancient World (New York, 1903).

K.C. Wu : Ancient Chinese Political Theories (Commercial Press, Shanghai, 1928).

सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र (सरस्वती सदन, मसूरी, १९६०)

Chapters II, III and IV, Greek Political Thought.

(A) GENERAL WORKS :

Barker, Ernest : Greek Political Theory. Plato and His Predecessors (Metheun, London, 1918).

Barker, Ernest : Political Thought of Plato and Aristotle (London, 1906).

Burnet, John : Early Greek Philosophy, 4th ed. (Macmillan, London, 1930).

Cook, T.L. : A History of Political Philosophy (New York, 1946).

Zeller, Ernest : Outlines of the History of Greek Philosophy. 13th rev. ed. by W. Nestle and trans. by L.R. Palmer (Humanities Press, New York).

Diogenes Laertius : Lives of Eminent Philosophers, 2 vols. (Loeb Classical Library, Harvard Univ. Press).

Gomperz, Theoder : Greek Thinkers : A History of Ancient Philosophy 4 vols.) (Humanities Press, 1953, 4 Vols.).

Oates, Whitney and Jennings, ed. : Stoic and Epicurean Philosophers (Ramdom House, N.Y., 1940).

Smith, Thomas Vermor : Philosophers speak for Themselves, 2 vols. (University of Chicago Press, 1956).

G. Glotz : The Greek City.

Victor Ehrenberg : The Greek State (Basil Blackwell, Oxford, 1950).

Andre Bonnard : Greek Civilization. (George Allen and Unwin, 1957).

John Burnet : Greek Philosophy. Thales to Plato (Macmillan, 1960).

(B) PLATO :

Benjamin, Jowett : Dialogues of Plato (4th rev. ed. 4 vols. Oxford Univ. Press, 1953). unabridged ed. 2 vols. (Random House, New York, 1937).

Works : (LCL, Harvard Univ. Press, 12 vols.) ; sel. and ed. by Irwin Edman (Modern Library, New York, 1939), (Tudor, 1954, 4 vols.)

Republic : Trans. by Lindsay (Everyman's Library, London, 1950), trans. by B. Jowett (Modern Library, New York, 1941), Trans. by Davies and Vaughan (St. Martin's Golden Treasury), (Loeb Classical Library, Harvard Univ. Press, 2 vols), Trans. by F.M. Cornford (Oxford Univ. Press, 1945), Trans. by H.D.P. Lee (Penguin books).

आदर्श नगर व्यवस्था : भोलानाथ शर्मा द्वारा मूल ग्रीक से हिन्दी अनुवाद (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग (१९५१)

Guy Cromwell Field : The Philosophy of Plato (Home Univ. Lib., Oxford Univ. Press, 1949).

Alfred Edward Taylor : The Man and His Work (Modern Library, New York, 1956).

Stanley Harold Black : Plato's Life and Thought (Beacon Press, Boston, 1951).

Livingstone, G.L. : Selections from Plato (Oxford Univ. Press, World's Classics).

G.C. Field : Plato and His Contemporaries, 2nd ed. (Methuen, London, 1948).

Livingstone, G.F. : Plato and His Dialogues (Pelican Books, 1947).

गोपाल दामोदर तामस्कर : अफलातून की सामाजिक व्यवस्था (ज्ञान मण्डल, काशी, विक्रमी संवत् १९८४) ।

D.R. Bhandari, R.R. Sethi : Studies in Plato and Aristotle (S. Ch. & Co., Delhi).

(C) ARISTOTLE :

Aristotle : Complete Works, The Oxford Translation under the editorship of J.A. Smith and W.D. Ross, 12 vols. (Oxford Univ. Press, 1908-52), LCL ; (Harvard Univ. Press, 19 vols.), Basic Works of Aristotle ed. by R.P. Mckeon, (Random House, New York, 1941), Introduction to Aristotle by R.P. Mckeon (Modern Library, 1947).

Politics : Trans. by Sir Ernest Barker (Oxford Univ. Press, 1946) ; Trans. by W. Ellis (Everyman's Library, 1935), trans. by H. Rackham (LCL, Harvard Univ. P., Loeb Library, 1933), Trans. by B. Jowett (Oxford Univ. Press, 1923), Modern Library, 1943).

अरस्तू की राजनीति—भोलानाथ शर्मा कृत मूल ग्रीक से हिन्दी अनुवाद (प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ, १९५९)

Newman, W.L. : The Politics of Aristotle, 4 vols. (Oxford Univ. Press, 1887-1902).

William David Ross : Aristotle (Barnes and Noble, 5th rev. ed, 1953).

Alfred Edward Taylor : Aristotle, rev. ed. (Dover, 1956).

Jastin P. Kaplan : The Pocket Aristotle (Pocket Library, Pocket Books, New York, 1958).

Werner, Jaegar : Aristotle : Fundamentals of the History of His Development (Oxford Univ. Press).

Chapter VI. Roman Political Thought

Clarke, Martin Lowther : The Roman Mind : Studies in the History of Thought from Cicero to Marcus Aurelius (Harvard Univ. Press, 1956).

Cicero De Republica and De Legibus : (Harvard Univ. Press, Loeb Classical Library).

Cicero : Complete Works, 25 vols. (LCL Harvard Univ. Press).

Moses Hadaus : Basic Works of Cicero (Modern Library, 1951).

George H. Sabine and Stanley B. Smith : On the Commonwealth : Marcus Tullius Cicero (Columbus, Ohio, 1929).

Polybius : Trans. by Evelyn S. Schuckburgh, (Macmillan, London, 1889).

Chapter VII to XI. Early Christian and Medieval Political Thought.

(A) GENERAL ACCOUNTS :

Cambridge Medieval History, 8 vols. of text (Cambridge Univ. Press).

Pactow, Louis J. : Guide to the study of Medieval History for students, Rev. ed., New York, 1930.

Thompson, J W. : Reference studies in Medieval History, 3rd rev. ed., 3 vols., Chicago.

K. Latourette : History of Christianity, (Harper and Brothers, New York, 1953).

K. Latourette : A History of the Expansion of Christianity, 7 vols. (Harper and Brothers, New York, 1937-45).

S.J. Case : The Social Origins of Christianity (Chicago Univ. Press, 1923).

Thorndike, Lyn : The History of Medieval Europe, 3rd rev. ed , (Houghton Mifflin Co., 1949).

H.O. Taylor : The Medieval Mind (Harvard Univ. Press, 1949).

P.B. Artz : The Mind of the Middle Ages, A.D. 200-1500, 2nd ed. (Alfred A. Knopf, New York, 1954).

Will Durant : The Age of Faith. A History of Medieval Civilization from Constantine to Dante—A.D. 325-1300 (Simon and Shuster, New York, 1950).

R.H.C. Davis : A History of Medieval Europe (Longmans, London, 1957).

Joseph S. Brusher : Popes Through the Ages (D. Van Nostrand Co., New Jersy, 1949).

Shorter Cambridge Medieval History, 2 vols. (Cambridge Univ. Press, 1935).

(B) SPECIAL TOPICS :

Augustine, Saint : Basic Writings ed. by Whitney J. Oates, 2 vols. (Random House, New York).

Augustine, Saint : City of God., 2 vols. (Everyman's Library no. 992, 983, Dutton). Modern Library (No. G. 74).

Augustine, Saint : Confessions (Everyman's 200 A). 2 vols. (Loeb nos. 26-27, Harvard Univ. Press), (Modern Library no. 263). (Nelson Classics), (Pocket Books).

Aquinas, Saint Thomas : Basic Writings ed. and annotated with an Introd. by Anton C. Pegis (Random House, N. Lifetime Library, 2 vols. 1945).
Selected Writings, Everyman's Library, Dutton, London, 1935.
Introduction to St. Thomas Aquinas. Modern Library, New York,
Summa Theologica. Trans. by the Fathers of English Dominican Province, 3 vols. (Benziger, 1948).
Selected Political Writings. Ed. by A.P.D. Entreves, trans. by J.G. Dawson, (Macmillan).
Political Ideas of St. Thomas Aquinas. Ed. by Dino Bigongiari (Halfner, 1953).

J.N. Figgis : Political Aspects of St. Augustine's City of God (London, 1921).

Jarret, Bade : Social Theories of the Middle Ages 1200-1300.

Dickinson, John : Tr. The Statesman's Book of John of Salisbury. New York, 1929.

J. Bryce : Holy Roman Empire (Rev. ed. Macmillan).

Smith A.F. : Church and State in the Middle Ages (Oxford, 1913).

Figgis, J.N. : Divine Right of Kings (Cambridge Univ. Press, 1914).

Figgis, J.N. : Political Thought from Gerson to Grotius (Cambridge Univ. Press).

Dante : De Monarchia, trans. by F.J. Church (Macmillan, London, 1879).

St. Thomas Aquinas : Philosophical Texts sel. and trans. by Thomas Gilby (Oxford U.P.).

Chapter XII. Machiavelli

Machiavelli, Niccolo : Discourses, tr. by Leslie Walker, 2 vols. (Yale Univ. Press, 1950).

Machiavelli, N. : The Prince, Trans. and ed. by Thomas G. Bergin (Appleton, New York) ; (Dutton, Everyman's Library), Prince and Discourses (Modern Library, New York), ed. by Luigi Ricci, Oxford's World's Classics), ed. by Burtan A. Milligan (Scribner, 1953).

J.W. Allen : A History of Political Thought in the Sixteenth Century (Methuen, London). University Paper Back ed. 1960.

राधानाथ चतुर्वेदी : नरेश (प्रिन्स का हिन्दी अनुवाद, किताब महल, इलाहाबाद, १९५६)

Machiavelli : The Library Works, trans. with Intro. by J.R. Hale (Oxford Library of Italian Classics, 1961).

Chapter XIII. Reformation

Will Durant : The Reformation (Simon and Schuster, 1951).

R.H. Baintoin : The Reformation of the Sixteenth Century (Beacon, Boston, 1952).

L. Pastor : History of the Popes from the Close of the Middle Ages (Herder, St. Louis, 1923-53).

H.S. Bettenson : Documents of the Christian Church (Oxford Univ. Press, 1947).

The New Cambridge Modern History Vol. I. Renaissance ed. by G.R. Potter. Vol II. The Reformation by G.R. Elton (Cambridge Univ. Press, 1957-58).

Will Durant : The Renaissance (Simon and Schuster, New York, 1953).

Chapter XIV. Bodin

Bodin, Jean : Six Books of the Commonwealth (Macmillan, New York, 1956).

Chapter XV. Hobbes

Leviathan (Everyman's Library Dutton, 1951) ; (Liberal Arts) ; Oxford Univ. Press, ed. by Michael Oakeshott, Blackwells Political Texts, Macmillan).

J. Howard Warrender : The Political Philosophy of Hobbes (Oxford Univ. Press).

Chapter XVI. Locke

Locke, John : Two Treatises of Civil Government (Everyman's Library no. 751) ed. by Thomas Cook (Halfner Library of Classics).

लॉक : शासन पर दो निबन्ध, सरला मोहनलाल कृत हिन्दी अनुवाद (हिन्दी साहित्य समिति, लखनऊ, १९६०)

Social Contract. Lock-Hume-Rousseau. Intr. by Sir Ernest Barker (World Classics, Oxford Univ. Press, 1947).

J.W. Gough : The Social Contract. A critical study of its development. (Oxford Univ. Press, 1957).

Richard, I. Aaron : John Locke, 2nd ed. (Oxford Univ. Press).

J.W. Gough : John Lock's Political Philosophy (Oxford Univ. Press).

Chapter XVII. Rousseau

Rousseau, Jean-Jacques : Social Contract and Discourses. Tr. by G.D.H. Cole, (Everyman's Library no. 660A) ed. by Charles Frank (Halfner Library of Classics 1954) ; (Regnery, 1954).

डा० बूलचन्द : सामाजिक पाषण (रूसो के सोशल कांट्रैक्ट का हिन्दी अनुवाद, प्रकाशन ब्यूरो उत्तरप्रदेश, लखनऊ १९५६)

Rousseau, J.J. : Confessions. 2 vols. (Everyman's no. 859, 860), Modern Library no. 243, 1945, tr. by J.M. Cohen (Penguin Books).

The Political Writings of Rousseau with notes and Intro. by C.E. Vaughan, 2 vols. a photolitho reprint, 1961.

Chapter XVIII. Montesquieu

Montesquieu, Charles de : Spirit of the Laws (Halfner Library of Classics no. 9), 2 vols. in 1 tr. by Thomas Nugent, 1949.

Chapter XIX. Burke

Burke, Edmund : American speeches and writings (Everyman's Library no. 340, Dutton).

Burke : Reflections on the French Revolution (Everyman's no. 460), ed. by Russel Kirk (Regenery Chicago) ; Oxford Univ. Press, World's Classics, no. 112).

Addendum :—

Sir Ernest Barker : From Alexander to Constantine (Clarendon, Oxford Univ. Press, 1956).

Sir Ernest Barker : Social and Political Thought in Byzantium (Clarendon, Oxford University Press, 1957).

A.P.D' Entreves : Dante as a Political Thinker (Clarendon, Oxford U.P., 1951).

Charles Till Davis : Dante and the Idea of Rome (Clarendon, Oxford U.P., 1957).

Alan Gewirth : Marsilius of Padua : The Defender of Peace, 2 vols. 1951-56 (Columbia Uni. P.).

John W. Yolton : John Locke and the Way of Ideas (Oxford Uni. P., 1956).

अनुक्रमणिका

●●●

सरस्वती सदन, मसूरी के राजनीतिशास्त्र पर प्रकाशन

एम० ए० कक्षाओं के लिए

१. आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—लेखक हरिदत्त वेदालंकार, इस पुस्तक द्वारा पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन के आधुनिक काल के लिये निर्धारित प्रमुख विचारकों—बेंथम से अब तक—का पूरा प्रमाणिक और विशद परिचय दिया गया है। नया प्रकाशन।
मूल्य १६.५० रु०

२. अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] (१९१९-६७) लेखक हरिदत्त वेदालंकार,
मूल्य १३.००

३. पाश्चात्य राजनतिक चिन्तन का इतिहास—लेखक हरिदत्त वेदालंकार, इसका प्रणयन प्लेटो, अरस्तु आदि की मूल रचनाओं के तथा डनिंग, बार्कर, मैक्सी, गेटिल, कोकर, सेबाइन, फास्टर, जोन्स आदि के प्रमाणिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है।
मूल्य ११.०० रु०

४. प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र—लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार डी० लिट् (पेरिस), हिन्दू पोलिटी के संबन्ध में अब तक जो कुछ भी शोध हुई है, उस सबका समावेश इस पुस्तक में हो गया है। नया सस्करण। मूल्य १३.५० रु०

बी० ए० कक्षाओं के लिए

१. राजनीतिशास्त्र (सम्पूर्ण)—लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
मूल्य १२.०० रु०

२. राजनीतिशास्त्र (प्रथम भाग)—लेखक उपर्युक्त मूल्य ७.५० रु०

३. राजनीतिशास्त्र (द्वितीय भाग)—लेखक उपर्युक्त मूल्य ६.०० रु०

४. विदेशी राज्यों की शासन विधि—लेखक उपर्युक्त मूल्य ८.५० रु०

५. भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और नया संविधान—लेखक उपर्युक्त मूल्य ९.५० रु०

६. भारत का नया संविधान—लेखक उपर्युक्त मूल्य ६.०० रु०

इण्टरमीडियेट कक्षाओं के लिए

१. नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त—लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
मूल्य ४.०० रु०

२. भारत की शासन व्यवस्था और नागरिक जीवन—लेखक उपर्युक्त
मूल्य ४.२५ रु०